हरिशंकर परसाई चुनी हुई रचन

सम्पादकः कमला प्रसाद • प्रकाश

K

४२९
०
९६६.१

I

हरिशंकर परसाई

चुनी हुई रचनाएँ

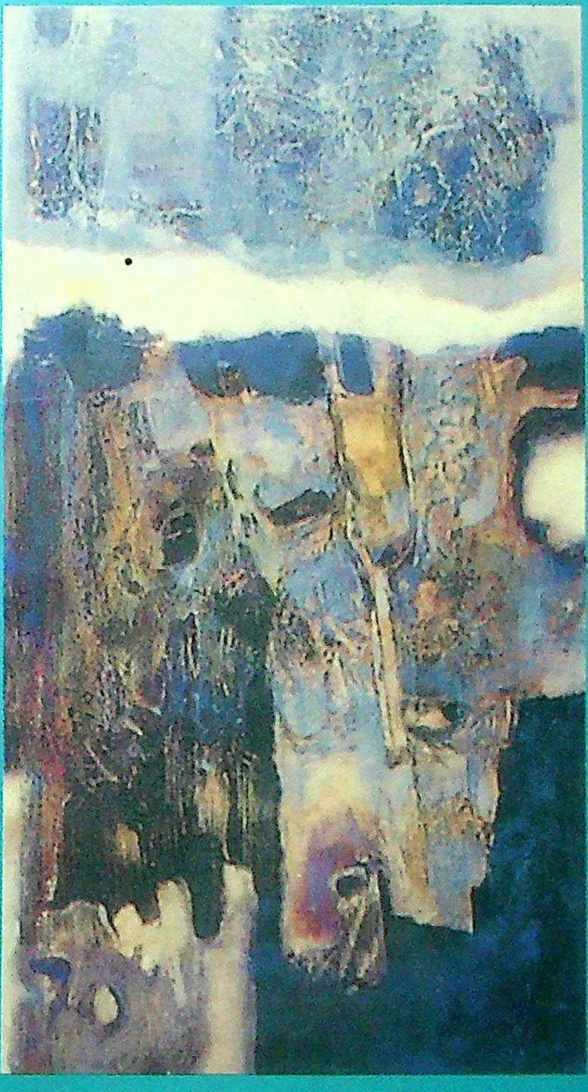

सम्पादक

कमला प्रसाद • प्रकाश दुबे

R
0ट्र1
166.9

122608

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

R
८१
१६६.१

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या............ आगत संख्या 122608

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित हैं। इस तिथि सहित ३०वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

122608

हरिशंकर परसाई : चुनी हुई रचनाएँ

(भाग-एक)

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

हरिशंकर परसाई : चुनी हुई रचनाएँ

[illegible]608

(भाग-एक)

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सम्पादक

कमला प्रसाद

प्रकाश दुबे

R
०८९
९६६.९

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 2000
© सम्पादकगण

मूल्य : 500.00

शब्द-संयोजक
विनायक कम्प्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
में मुद्रित

HARISHANKAR PARSAI :
CHUNI HUI RACHNAYAN (Part-1)
Edited

कुछ बातें

हरिशंकर परसाई का जन्म 22 अगस्त, 1924 को हुआ और मृत्यु 1995 को। बचपन में दुःख सहे और अभावों में रहे, पर उन्होंने इन बातों की चर्चा कर करुणा नहीं उपजाई। धीरे-धीरे उनकी आँख दुनिया का दुख देखने लगी। अपनी अनुभूति में जगत् के दुःख की व्याप्ति का अनुभव करने वाले भवभूति ने कहा था कि करुणरस ही सृजन का बुनियादी रस है। हरिशंकर परसाई के आत्मविस्तार में यही परम्परा विकसित होती है। भवभूति के जमाने का दुःख, शोक या आलम्बन बदल गया है। परिस्थितियाँ भिन्न हैं। आलम्बन परिस्थितियों से लड़ता है और उन्हें बदलता है। रचना-सौन्दर्य के मान वे नहीं बचे। वस्तु और दृष्टि की स्थिरता टूटी है। द्रष्टा का कोण अब वह नहीं है। ऊपर से कोई वस्तु सुन्दर है, झाँकने से कुरूप दिखती है। वस्तुओं, स्थितियों और लोगों के अनुपात बिगड़े हैं। मानवीय मूल्यों की निर्मलता शेष नहीं है। श्रद्धा अन्धी है, प्रेम व्यावसायिक है, सज्जनता निष्क्रिय है, देशप्रेम लूट-खसोट करता है, साधु और सज्जन की वेशभूषा कृत्रिम है, कुल मिलाकर सारी व्यवस्था की चूलें हिल गई हैं। जिन कोमल-मजबूत धागों से व्यवस्था का साँचा बँधा होता था, वे धागे टूट गए हैं। भूल-गलती ज़िरहबख्तर पहनकर बैठी है। भीड़ में आदमी अकेला होता गया है। प्रश्न है कि क्या ऐसे ही चलेगा ! नहीं चलेगा तो द्रष्टा तो हों। देखें तो। रचनाकार तो द्रष्टा हुए बिना कदम नहीं बढ़ा सकता। अनुपातहीन व्यवस्था में दोषियों के प्रति निर्मम होना होगा। अन्याय का प्रतिकार होगा। अन्याय के प्रति जितनी तीव्र घृणा होगी, उतनी ही आसक्ति न्याय के प्रति होगी। फौज और धन दौलत के आतंक से मुक्त होने पर होगा। हार का बदला लेना होगा।

हरिशंकर परसाई को व्यंग्य लेखक कहा जाता है। माना कि उनके लेखन की यह मुख्य वृत्ति है। देखने की बात है कि वे व्यंग्य किस पर करते हैं और क्यों करते हैं ? व्यंग्य कितना तीखा है।, यह शब्द हथियार है तो घायल होने वाला कौन है ? वह कितना तिलमिलाता है। लेखक की नीयत इस प्रक्रिया में कहाँ ठहरती है ? व्यंग्य की सकारात्मक भूमिका क्या है ?

हरिशंकर परसाई की विकास यात्रा को देखें। उन्होंने लगभग पचास वर्ष तक लिखा। आसपास से लेकर ज़माने की पहचान तक उनके लेखन का गहरा रिश्ता है लिखना शुरू किया तो लोगों का हाज़मा बिगड़ा। नंगे को नंगा कहो तो मारने दौड़ता है। कबीर के साथ भी ऐसा हुआ था, ''साँच कहो तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।'' साँचा कहने में परसाई भी पिटे थे। जबलपुर के एक छोटे अखबार 'प्रहरी' ने साहस दिखाया। उसी में इनकी रचनाएँ बेधड़क छपने लगीं। लोग बौखलाते और गरियाते। जनता का समर्थन मिलता। उसकी आवाज़ प्रकट होती। अखबारों की बिक्री में बढ़ोतरी का भरोसा हुआ तो लिखने के प्रस्ताव आने लगे। फिर क्या था, परसाई कलम के मजदूर और सिपाही दोनों हुए। मजदूरी जीविका का साधन तो होती ही है, संसार की विकास-कथा के सूत्र वहीं हैं। ढहाने और बनाने का काम मज़दूर ही करता है। कबीर धीरे-धीरे परसाई की आत्मा में आए। 'सुनो भाई साधो', 'कबिरा खड़ा बजार में', 'माटी कहे कुम्हार से' जैसे कॉलम चल पड़े। नई दुनिया, नवीन दुनिया, अमर उजाला, जनयुग में नियमित लेखन। अनेक पत्रों में अनियमित लेखन/पढ़ना, घूमना और लिखना यही स्वतन्त्र व्यवसाय ठहरा। धर्मयुग, सारिका, हिन्दुस्तान ने जबलपुर के इस निवासी को खोजा। कमलेश्वर ने सारिका से कहा, ''तुम्हारा कॉलम छपता है तो सारिका की बिक्री बढ़ जाती है। मैनेजमेंट यह नहीं देखता कि तुम क्या लिखते हो, वह देखता है कि माल बिकता है या नहीं।'' परसाई का एक लेख है 'लिटरेचर ने मारा तुम्हें'। उन्होंने कहा, मारा, (लिटरेचर ने) बिल्कुल मारा। पुस्तक लिखने वाले से पुस्तक बेचने वाला बड़ा होता है। कथा लिखने वाले से कथावाचक बड़ा होता है। सृष्टि-निर्माता से सृष्टि का लूटने वाला बड़ा होता है। लोग जानते हैं कि लिटरेचर ने परसाई को कई तरह से तंग किया। लेखकों में बहुत दिन कुजात रहे। कहा जाता कि वह कालभिष्ट है, लेखक नहीं। प्रपोगैण्डिस्ट है। अभिजात के खिलाफ जिसने लिखा, लूटने वालों की ओर उँगली उठायी, उसे भला तथाकथित मुख्यधारा कैसे अपनाएगी।

ज़माना आगे बढ़ा है। हरिशंकर परसाई के पाठकों की संख्या लगातार बढ़ी। नया पाठक समाज बना। यह वह पाठक था जिसकी आकांक्षाएँ और जिसकी सौन्दर्य दृष्टि अलग थी। जिसका सृजन-कौशल भिन्न था। यह साहित्य की लोक परम्परा थी। इसमें भाषा का अर्थ बोलने, कहने और लिखने में अलग-अलग नहीं होता। यहाँ साहित्य अभिव्यक्ति है और लेखन भी। लेखन स्वयं आज़ादी का साक्ष्य है। यह स्वतन्त्रता अवाम की है। घूँघट के रहस्यमय पट खोलने की है। यह वह साहित्य है जिससे नारे निकलते हैं, नए आप्त वाक्य निकलते हैं और नया सांस्कृतिक ढाँचा भी उभरता है। हरिशंकर परसाई के कुछ वाक्य देखें—

''निन्दकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है।

इसीलिए सन्तों ने निन्दकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।''

—निन्दारस

''फोटोग्राफर ने जब रेडी प्लीज कहा होगा, तब परम्परा के अनुसार तुमने मुस्कान लाने की कोशिश की होगी, दर्द के गहरे कुएँ के तल में कहीं-कहीं मुस्कान को धीरे-धीरे खींचकर ऊपर निकाल रहे होगे कि बीच में ही 'क्लिक' करके फोटोग्राफर ने 'थैंक्यू' कह दिया होगा। विचित्र है यह अधूरी मुस्कान। यह मुस्कान नहीं है इसमें उपहास है, व्यंग्य है।''

—प्रेमचन्द के फटे जूते

''प्रेम से चाय पिलायी जाती है, तो नफरत के कारण भी। घृणा भी आदमी को उदार बना देती है''

—एक सुपरमैन

गौर करें, इन वाक्यों में छिपी बातों का पूरा साँचा है। शिल्पकार ने अपनी दृष्टि और कल्पना से साँचा बनाया है। इसकी आत्मा में समय का यथार्थ है। यथार्थ की प्रकृति से उपजी दार्शनिक उक्तियाँ हैं। आप्त कथन हैं, कबीर का ज्ञान मार्ग इसी तरह लोकचित्त से तैयार हुआ था। वे पोथियों से निर्मित दार्शनिक न थे। उनका अद्वैतवाद या निर्गुणवाद शास्त्रोक्त न था। कबीर ने नए सामाजिक यथार्थ को स्थानापन्न बनाया था। शास्त्र ने कहा कि ब्राह्मण परमात्मा के मुख से आया है, शूद्र चरणों से। कबीर ने पूछा ब्राह्मण दूसरे रास्ते से क्यों नहीं आया। उसने साक्ष्य से बताया कि ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू, तुर्क एक ही बूँद से उपजे हैं। कबीर ने व्यवस्था की उलटबाँसियों की पोल खोलीं। तमाम सताए और शोषित लोगों को बैठाया। सत्संग की प्रणाली विकसित की। चौपालों को बैठकों में बदल दिया। लोग उलटी बातें करते, कबीर उन्हें सीधा करता। मूर्तिपूजक पत्थर को भगवान कहता, कबीर अपनी मज़दूरी को। ईमानदारी को। अपने काम को। परस्पर सेवा को। मानवीय गरिमा और सच की अभिव्यक्ति को। प्रत्ययवादियों से अलग यह नया सौन्दर्यबोध था। दूसरी परम्परा का सौन्दर्यबोध। आज की भाषा में कहें तो शोषित, पिछड़े और अछूत का सुख, उसका आनन्द, नैतिकता, उसका राग-विराग इस सौन्दर्यबोध का लक्षण है। हरिशंकर परसाई को कबीर की रचनाएँ पढ़ने के बाद पढ़ने का अभ्यास करने की ज़रूरत है।

परसाई की उक्तियाँ देखिए ''विचित्र है यह अधूरी मुस्कान या घृणा भी आदमी को उदार बना देती है।'' समूची मुस्कान पूर्ण मुस्कान, सजे-धजे और भरे पेट की मुस्कान और अभावों से घिरे आदमी की दर्द के बीच से झाँकती मुस्कान, कोशिश करके निकाली गई मुस्कान—इतनी मुस्कान—किस्मों में से एक है—'विचित्र अधूरी

मुस्कान।' यह पहचान गहरी सामाजिक समीक्षा का परिणाम है। समीक्षा की प्रक्रिया में परम्परागत भाषायी ढाँचा अर्थहीन सिद्ध हो गया है। वाक्य रचना बदल गई है। मौजूद यथार्थ को व्यक्त करने के क्रम में नयी संरचना उतरकर आती है। धन-दौलत से सम्पन्न आदमी भिखारी को एक दिन भोजन कराता है। कहते हैं वह उदार है। घृणा करते हुए नौकर मालिक की सेवा कर देता है, कहते हैं कि नौकर उदार है। दोनों की रचना प्रक्रिया एक कैसे होगी ? दो रास्ते हैं दो वाक्यों में। दो सौन्दर्य-दृष्टियाँ हैं यहाँ। भक्त की तन्मयता और निन्दक की तन्मयता के निहितार्थ अलग हैं तो सौन्दर्यदृष्टि अलग है। हास और उपहास एक नहीं है। व्यंजना और व्यंग्य भिन्न-भिन्न हैं। उपहास और व्यंग्य के द्वारा लेखक गुदगुदाता नहीं प्रहार करता है। लेखन में प्रहार शक्ति पैदा करना साधना का काम है। गालीगलौज से यह शक्ति नहीं उभरती। यह भाषा की संरचना है। यह कला का कौशल है। ऐसा कला-कौशल जो प्रहार को भी आनन्द में बदल दे। कला का यही कर्म है, जो क्रोध और बीभत्स को भी सुन्दर बना देती है। क्रोध और बीभत्स को गायब नहीं करती। उन्हें सामाजिक और जीवन में विश्वसनीय एवं स्वाभाविक बना देती है। परसाई के रेखाचित्र इस अर्थ में कमाल के हैं। वे अपने समय के भीतर से ढले आदमी के रूपाकार हैं।

परसाई निषेध के रचनाकार नहीं हैं। वे निषेध का निषेध करते हैं और उसके भीतर से एक सपने को रूपाकृति प्रदान करते हैं। यह सपना आज़ादी की लड़ाई में पैदा, त्याग-तपस्या की कोख से जन्मा, उम्मीदों और गहरी आशाओं का सपना है। सपनों के खुलने का समय आया तो जैसे सब कुछ उलटा होने लगा। परसाई ने सन् सैंतालिस के आस-पास कलम उठायी और पूत के पाँव पालने में दिखने लगे। उन्होंने मोहभंग के लिए वर्षों प्रतीक्षा नहीं की। 'प्रहरी' में छपी रचनाएँ गवाह हैं। 'अस्तभान और नागफनी' की प्रेम कहानी रचने में उन्हें देर नहीं लगी। समाजवादियों का ढोंग उनके सामने खुल गया तत्काल। लोहियावादी और प्रजावादी समाजवादी आज अधिकांशतया प्रतिगामी शक्तियों के साथ हैं। तब वे प्रत्यक्षरूप से इनके खिलाफ थे। उनकी व्यवहार प्रणाली उन्हें कहाँ ले जाएगी, उनकी सिद्धान्तहीन वाचालता का हश्र क्या होगा, यह परसाई को लोहिया के काल में दिख गया था। काँग्रेसियों की कथित सिद्धान्त प्रणाली की पोल खोलते उनका निबन्ध है, 'सज्जन, दुर्जन और काँग्रेसजन।' एक काँग्रेसी का कथन है, "मैं नियम का पंक्का हूँ। मेरे कुछ नियमित कार्यक्रम हैं। जिन्हें मैं किसी भी कीमत पर नहीं त्यागता। जैसे मैं रोज एक घण्टे शाम को छज्जे पर बैठकर जन-सम्पर्क करता हूँ। नीचे जनता गुजरती है। इसी तरह मैं नियमपूर्वक खादी जी की पूजा करता हूँ।" अब देखें—इस समय भी जनसेवा और खादी जी की पूजा इतने वर्षों में कहाँ पहुँची है ? परसाई ने राजनीतिक दलों, उनके

नेताओं और सत्ता के खेलों को निरन्तर बारीकी से देखा है और कहा है। सच को कहने के लिए उन्होंने अनेक रचनात्मक प्रणालियाँ विकसित कीं, प्रचलित गद्य रूपों को अलग तरह से ढाला, पौराणिक सन्दर्भों के भीतर नए यथार्थ को पिरोया, फंतासी रची और अपने रचनात्मक कौशल को नया अंजाम दिया। परसाई के निबन्धों के अनेक स्वरूप हैं। कहानियों का ढाँचा बदला है। लघु-कथाएँ संक्षेप में अतिप्रभावशील हैं। खिलन्दड़ी प्रवृत्ति से उनका लेखक कहाँ नहीं जाता। वह कल्पनाशील है। वह कभी कबीर होता है, नारद होता है या किसी अन्य शक्ल में प्रस्तुत। 'इण्टरव्यू' की कला को कल्पना की दुनिया में विकसित करने का इतना महारथ किसी लेखक में नहीं है। अटल बिहारी वाजपेयी, राजनारायण, मुरारजी देसाई या अन्य नेताओं से काल्पनिक इण्टरव्यू में इनकी विद्रूपता खुल जाती है। असमंजस में डालने वाले सवालों में इनका रहस्य भेदन होता है। प्रणाली यह कि एक ओर प्रश्नकर्त्ता है—कबीर आदि के वेश में और दूसरी ओर आलम्बन/शत्रु/प्रतिपक्ष/फंतासी में दूर तक फैला संवाद। परसाई की कोई रचना इकहरी नहीं है। स्थितियों के घात-प्रतिघात और उनकी नाटकीयता पूरे सन्दर्भ में प्रकट होते हैं। काल्पनिक इण्टरव्यू में अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था, "मैं राष्ट्रपति फोर्ड से यों हाथ मिलाऊँगा और कोसिजिन से यों। ऐसा हाथ न नेहरू ने मिलाया और न इन्दिरागाँधी ने।" इन शब्दों की व्यंजना आज देखिए, जब वाजपेयी प्रधानमन्त्री हैं।

परसाई का निशाना केवल राजनेता नहीं बने। धार्मिक पाखण्ड की खिल्ली उन्होंने कम नहीं उड़ायी। आचार्य रजनीश और महेश योगी के प्रपंच को समझने में उन्होंने देरी नहीं की। उन्होंने 'टॉर्च बेचने वाले' तभी लिखा, जब रजनीश भगवान होने की प्रक्रिया में थे। उनके भक्तों में तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। ऐसे अनेक निबन्ध हैं, जो इस व्यवसाय को भीतर से उघाड़ते हैं। जैसे—साधना का फौजदारी अन्त, सदाचार का तावीज, वैष्णव की फिसलन आदि।

परसाई प्रतिबद्ध लेखक थे। मार्क्सवादी विचारों में उनकी आस्था थी। विचारों को वे अपनी संवेदना में विकसित करने की कोशिश करते रहे। उन्होंने खोल नहीं ओढ़ी। बहुतेरे इस दर्शन की प्रकृति के खिलाफ मार्क्सवाद को तत्त्ववाद में बदल देते हैं। समय की हलचल से, भागते यथार्थ से और अपने जीवन कर्म से उनका रिश्ता नहीं होता। परसाई ने दर्शन को जीवन में अर्जित किया था। 'देशबन्धु' दैनिक रायपुर में एक स्तम्भ वर्षों चला, 'पूछिए परसाई से'। उसकी सामग्री क्रमबद्ध रूप से अभी अप्रकाशित है। जिसने इस स्तम्भ को पढ़ा है, वह जानता है कि वे कितने पढ़े-लिखे, बहुज्ञ, अनुभवी और विचारवान थे। परसाई का लेखन उनकी दिनचर्या का हिस्सा रहा है। उन्होंने बहुत लिखा है। ठीक ही कहा जाता है कि यह लेखन आज़ाद भारत की महागाथा है।

हरिशंकर परसाई रचनावली छपे पन्द्रह वर्ष हो रहे हैं। कई संस्करण हो गए हैं। उनका लेखन लोकप्रिय है, कलात्मक और उद्देश्यपूर्ण भी। लगातार माँग रही है कि उनकी चुनी हुई रचनाओं का प्रकाशन हो। वाणी प्रकाशन ने तत्परता दिखाई तो यह आपके सामने है। परसाई जी नहीं हैं, उनके भानजों का स्नेह है कि मैं यह काम कर रहा हूँ। सीता दीदी अपने छोटे भाई की तरह ही देखती रही हैं। मुझे याद है, परसाई रचनावली के प्रकाशन का प्रस्ताव जब उनके सामने हम लोग लाए थे, वे किसी तरह सहमत नहीं हो रहे थे। महीनों बाद उन्हें तैयार किया जा सका। आज वे नहीं हैं। पर उनकी स्मृतियाँ हमें प्रेरित करती हैं। चुनी हुई रचनाओं के प्रकाशन के अवसर पर मैं उनकी स्मृति को प्रणाम करता हूँ।

जुलाई, 1999 **कमला प्रसाद**

अनुक्रम

मनीषी जी 17
रामदास 22
असहमत 26
बुद्धिवादी 31
एक लड़की : पाँच दीवाने 36
साधना का फौजदारी अंत 50
उखड़े खम्भे 54
तटस्थ 57
सदाचार का तावीज़ 60
भेड़ें और भेड़िये 63
रिसर्च का चक्कर 68
आइल किंग 72
ठण्डा शरीफ आदमी 76
साहब महत्त्वाकांक्षी 80
मुफ्तखोर 85
धोबिन को नहिं दीन्हीं चदरिया 89
चूहा और मैं 94
वैष्णव की फिसलन 96
भोलाराम का जीव 99
लोहियावादी समाजवादी 104
सज्जन, दुर्जन और कांग्रेसजन 107
प्रजावादी समाजवादी 110
सत्य-साधक मण्डल 114
विकलांग राजनीति 118
पीढ़ियाँ और गिट्टियाँ 120
सर्वोदय-दर्शन 123
निठल्ले की डायरी 125
वाक आउट! स्लीप आउट! ईट आउट! 153
सुदामा के चावल 157
दो नाक वाले लोग 163
वे बहादुरी से बिके 167
नम्बर दो की आत्मा 171
एक के भीतर दो आदमी 175
अकाल-उत्सव 179
राग-विराग 186
बैताल की छब्बीसवीं कथा 190
बैताल की सत्ताईसवीं कथा 194
बैताल की अट्ठाईसवीं कथा 195
मेनका का तपोभंग 199
मौलाना का लड़का : पादरी की लड़की 202
जैसे उनके दिन फिरे 207
गाँधीजी का शाल 210
एक तृप्त आदमी की कहानी 213
टार्च बेचनेवाले 218
एकलव्य ने गुरु को अँगूठा दिखाया 221
इन्स्पेक्टर मातादीन चाँद पर 225
एक वैष्णव कथा 234

छोटी-सी बात 238
एक फिल्म-कथा 240
एक गोभक्त से भेंट 246
देश-भक्ति का पॉलिश 250
चमचे की दिल्ली-यात्रा 253
विकास-कथा 257
इतिहास का सबसे बड़ा जुआ 260
बेचारा 'कामनमेन' 265
पड़ोसी के बच्चे 270
भूख के स्वर 273
मैं नर्क से बोल रहा हूँ! 277
ढपोलशंख मास्टर हो गये! 280
पहला पापी 282
तीन सयाने 285
खाली मकान 290
जिंदगी और मौत 295
दुःख का ताज 301
सामाजिक की डायरी 305
गाँधीजी का ओवरकोट 307
राम का दुख और मेरा 310
कंधे श्रवणकुमार के 313
'लिटरेचर ने मारा तुम्हें! 316
निंदा-रस 319
कबिरा आप ठगाइए... 322
प्रेम की बिरादरी 325
बैरंग शुभकामना और जनतंत्र 329
साहित्य और नंबर दो का कारोबार 331
ठिठुरता हुआ गणतंत्र 335
बेईमानी की परत 339
अन्न की मौत 343
चावल से हीरे तक 345
'वो ज़रा वाइफ़ हैं न' 348
चाँद पर नहीं जा सका 351
सद्‌गुरु का कहना है 355
अपनी-अपनी बीमारी 358
माना कि रहेंगे दिल्ली 361
दो छोटी इच्छाएँ 366
प्रेम-प्रसंग में फादर 369
आँगन में बैंगन 373
पगडंडियों का जमाना 376
पहला सफेद बाल 380
गेहूँ का सुख 383
विज्ञापन में बिकती नारी 386
घायल वसंत 389
अपनी-अपनी हैसियत 393
विकलांग श्रद्धा का दौर 395
दुर्घटना-रस 398
पवित्रता का दौरा 402
तीसरे दर्जे के श्रद्धेय 404
भारत को चाहिए : जादूगर और साधु 407
एक अशुद्ध बेवकूफ 410
पिटने-पिटने में फर्क 413
फिर उसी नर्मदा मैया की जय 416
इनाम और ईमान 420
ग़ालिब की पारसाई 423
क्या भगवान भी टाँग खींचते हैं? 427
असफल कवि-सम्मेलनों का सफल अध्यक्ष 429
परमात्मा का लोटा 433
शिकायत मुझे भी है 435
डेंगू, अध्यात्म और लेखक 438
क्षणवाद का चक्कर 441
जैनेन्द्र का अदर्शन 443
देशभक्ति से गद्दारी 446
भाषा, अज्ञान और उन्माद 449
नई कहानी और धंधेवाले 452
सचेतन कहानी 455

बीमार मुक्तिबोध और हम 457
मुक्तिबोध—मौत और महानता 459
लघुता की कुंठाएँ 462
ईश्वर और रॉयल्टी 465
मृत्युकामी लेखक 468
कथा की आधुनिका 470
संवाद का मौसम 472
अपील का जादू 474
मुंशी एम. ओ. मथाई 478
निर्भय दर्शन 480
कविवर अटलबिहारी 483
लाल बुझक्कड़ 485
महान नेता : महान चिंता 487
कैकेयी कुपित है 490
प्रधानमंत्रित्व ही जीवन है 493
परछाईं-भेदन 495
संपूर्ण क्रांति की प्याऊ 498
नया महाभारत 500
फुलिशम् वल्गरम् फूहड़म् 503
कुत्ता : अंदर का और बाहर का 505
पशुपतिनाथ के लिए अफीम 507
नफरत की राजनीति 510
बेमिसाल 512
राजनीतिक गाँजा 515
तुसी हुकुम करो जी! 517
समाजवादी छवि 520
शर्म! शर्म! संस्कृति 523
हरि अनंत, हरि कथा अनंता 526
प्रेमचंद की असलियत 528
महात्मा गांधी को चिट्ठी पहुँचे 531
असिस्टेंट लोकनायक 534
हस्ती मिटती नहीं हमारी 537
इस्लाम के कोड़े 540
राजनैतिक स्लो-पॉयजनिंग 543
गांधीवादी के असत्य के प्रयोग 545
अतिक्रांतिकारी 547
ऊँची जातियों का आरक्षण 550
बॉक्सर मोहम्मद अली 553
लौह-पुरुष और मोम-पुरुष 555
एक मध्यवर्गीय कुत्ता 558

मनीषी जी

शहर के मध्य भाग में स्थित एक चाय का होटल है जो होटल से अधिक क्लब है। बाहर से बहुत भद्दा दिखनेवाले इस होटल में तीस-चालीस सदस्य रोज नियमित रूप से चाय पीते हैं। यहाँ असामान्य व्यक्ति ही मैंने देखे हैं। सीमांतों पर स्थित मनुष्यों का जमघट यहाँ होता है—याने वे जिनके मुख से निरंतर ज्ञान झरता है, और वे जिनके मुख से गालियों की अजस्र वर्षा होती है; वे जो बीड़ी तक नहीं छूते और वे जो गाँजे की चिलम फूँके बिना घर से बाहर नहीं निकलते; वे जो अखंड संयमी हैं, और वे जो वेश्या के यहाँ जाकर पड़े रहते हैं; वे जो गऊ-से सीधे हैं, और वे जो सियार-से धूर्त हैं। पंडित, ज्ञानी, नेता, लेखक, कवि, शराबी, जुआड़ी, वेश्यागामी, गुंडे—सब यहाँ आते हैं और अँधेरे कमरे की भारी-भरकम टेबिल के आसपास टूटी कुर्सियों पर बैठकर उपनिषद् की व्याख्या से लेकर 'बर्थ कंट्रोल' के विषयों पर चर्चा होती है।

मेरी असामान्यता की साधना जब पूरी हुई, तब मैं भी एक मित्र के द्वारा यहाँ लाया गया और मेरा प्रथम परिचय 'मनीषी जी' से कराया गया। प्रथम दृष्टि में ही जिस व्यक्ति को मैं ग्रहण कर सका, वह कुछ ऐसा था, अब भी ऐसा ही है—और शायद हमेशा ऐसा रहेगा।

घुटनों तक खादी की धोती, खादी की मिरजई, पाँव में फटी चप्पलें, ऐसी कि पाँवों की रक्षा कम करें, इज्जत की ज्यादा—आँखों पर चश्मा, काले धागे से जेब में लटकी घड़ी, बाएँ हाथ में छड़ी, कंधों पर खद्दर-वसना काँग्रेसी भक्तिन की साड़ी की तरह बेलबूटेदार किनारी का चद्दर।

स्वस्थ तगड़ा शरीर, रंग खूब गोरा, बड़ा सिर जिस पर लंबे-लंबे घुँघराले चिकने केश, उन्नत मस्तक, प्रशस्ट ललाट, नुकीली नाक, बड़ी-बड़ी पानीदार आँखें जिनमें एक क्षण में दार्शनिक-सी चिंता, और दूसरे क्षण मूढ़-सी शून्यता, चौड़ा चेहरा जिस पर पहाड़ी झरने-सी

निर्मल हँसी तथा बड़प्पन और सद्भावना की झलक।

उम्र, अभिनेत्री की उम्र जैसी धोखेबाज और स्थिर।

वेश और शरीर को मिलाकर यह रूप 'मनीषी' के व्यक्तित्व की किताब की रंगीन 'जैकिट' है, जिसके भीतर जासूसी उपन्यास की तरह एक के बाद एक रहस्यमय अध्याय भरे हैं, जिन्हें पढ़ते हुए मुझे दस साल हो गए, फिर भी जब अंतिम अध्याय पर पहुँचता हूँ, तो देखता हूँ कि आगे कोई परिशिष्ट जुड़ गया है।

पदवियों सहित पूरा नाम 'पंडित महादेव प्रसाद शास्त्री, साहित्य-मनीषी, भूतपूर्व संपादक—हिमाचल, आयुर्वेदाचार्य, ज्योतिषरत्न' है। 'शास्त्री', 'साहित्य-मनीषी', 'आयुर्वेदाचार्य' और 'ज्योतिषरत्न' पदवियाँ उन्होंने बिना किसी परीक्षा पास किए अपने आपको प्रदान कर ली हैं। ये 'ऑनरेरी डिगरियाँ' हैं, जैसी अरब के शाह को भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा दी गई 'डॉक्टरेट'। 'हिमाचल' साप्ताहिक के कभी मनीषी स्वयं संपादक, व्यवस्थापक, कंपोजिटर, मशीनमैन, हॉकर—सब एक साथ ही थे। यह साप्ताहिक जब उनका मन होता था, तब निकलता था। एक बार किसी अन्य पत्र के संपादक ने उनका नाम महादेव प्रसाद मनीषी की जगह 'महादेव प्रसाद मवेशी' छाप दिया। मनीषी जी को जब्त कहाँ ? दूसरे ही अंक में उस संपादक के लिए माता और भगिनी से संबंधित सब अश्लील गालियाँ छाप दीं। मुकदमा चला और वे शीघ्र ही 'भूतपूर्व संपादक' हो गए।

'ऐलोपैथी' और आयुर्वेद के वे समान रूप से पंडित हैं—कुनैन और कड़आ-चिरायता की सीमाओं को लाँघने की बदतमीजी उनके ज्ञान ने कभी नहीं की। वे अपने को गरीबों का वैद्य कहते हैं। रोगी की जाँच का दो पैसा और एक खुराक दवा का एक पैसा, जो उनका रेट है, अक्सर उधार ही रहता है।

उनके चिकित्सा-ज्ञान पर किसी ने आक्षेप किया तो उन्होंने समझाया—'देखो भाई, गरीब आदमी न तो एलोपैथी से अच्छा होता है, न होमियोपैथी से; उसे तो 'सिंपेथी' (सहानुभूति) चाहिए। मैं 'सिंपेथी' की सहस्रपुटी मात्रा देता जाता हूँ, रोगी अच्छा होता जाता है।' अपनी चिकित्सा की सफलता के संबंध में उन्होंने एक बार कहा—'सौ में पचास रोगी अपने आप अच्छे हो जाते हैं—दस डॉक्टर की दवा से अच्छे होते हैं। जो चालीस मरते हैं, उनमें पंद्रह तो जीवन-शक्ति की समाप्ति के कारण मरते हैं और पच्चीस को डॉक्टर की दवा मार डालती है। मैं इन पच्चीस लोगों को साफ बचा लेता हूँ, क्योंकि मेरी पुड़िया न अच्छा असर करती है न बुरा। पंद्रह तो धन्वंतरि के इलाज में भी मरेंगे ही। शेष को मैं अपनी 'सिंपेथी' की डोज से बचा लेता हूँ। इस तरह मेरे इलाज में पचासी फीसदी रोगी अच्छे हो जाते हैं।'

मनीषी इसी होटल के ऊपरी हिस्से में न जाने कब से रह रहे हैं, और इस इमारत के गिरने तक शायद यहाँ रहेंगे। उनका धंधा कुछ भी नहीं है। भोजन के आने का क्या जरिया है, किसी को नहीं मालूम। कपड़े कहाँ से मिल जाते हैं, और हमेशा इतने उजले कैसे रहते हैं, यह भी एक रहस्य है। परंतु इस व्यक्ति के मुख पर मैंने कभी चिंता-रेखा

नहीं देखी, कभी परेशानी की छाया नहीं देखी, कभी दुःख की मलिनता नहीं देखी, जिसके खाने का ठिकाना नहीं है, जो दो दिन भूखा पड़ा रहता है; एक फटा टाट जिसकी शय्या है, वर्षों पहले जिसके ईंट के चूल्हे पर अभी तक मिट्टी नहीं चढ़ पाई, एक मिट्टी का घड़ा, एक टीन का गिलास, एक तवा और डेगची जिसकी समस्त संपत्ति है; शरीर पर पहने हुए कपड़ों के सिवा जिसके पास एक अंगोछा और एक फटा कंबल-मात्र है—बस चिर-यौवन से कैसे लदा है? वार्धक्य इससे क्यों डरता है? केश किस भय से श्वेत नहीं होते? झुर्रियाँ चेहरे को क्यों नहीं छूतीं? चिंताओं के दैत्य इससे क्यों दूर रहते हैं? दुःख इसके पास क्यों नहीं फटकता? यह किस स्रोत से जीवन-रस खींचता है कि सदा हरा-भरा रहता है? किस अमृत-घट से इसने घूँट पी लिया है कि संसार का जहर उस पर चढ़ता ही नहीं?

एक दिन मैं होटल में बैठा था। ऊपर से बाँसुरी की आवाज आई। मैंने होटल-मालिक से पूछा, ''बाँसुरी कौन बजा रहा है।'' उन्होंने कहा, ''वही होगा, मनीषी। खाना नहीं मिला होगा, तो बाँसुरी बजा रहा है।'' उन्होंने उसे पुकारा और पूछा, ''अरे, खाना खाया कि नहीं?'' भूखे मनीषी के मुख पर मुस्कान आई, जैसी भरे पेटवाले के मुख पर भी दुर्लभ है। वह बोला, ''खाया तो था, लेकिन, परसों।'' होटल-मालिक ने उसे कुछ पैसे देकर कहा, ''जा, कुछ खा ले और यह गाना-बजाना बंद कर दे।'' बाद में मुझे मालूम हुआ कि अगर मनीषी बाँसुरी बजाता हो तो इसका यह अर्थ है कि वह भूखा है। भरपेट वह कभी बाँसुरी नहीं बजाता। एक-दो रोज का भूखा होता है, तब टाट पर पड़ा-पड़ा बाँसुरी बजाया करता है। आगामी कल की जिसे चिंता न हो ऐसा आदमी दुर्लभ है, पर मनीषी को आज की भी चिंता नहीं है। कल कहीं से रोटी मिल गई थी, तो आज भी कहीं से मिल जाएगी। आज न आई तो झक मारकर कल आएगी—ऐसा उसका विश्वास है।

उसके कमरे में एक मिट्टी का घड़ा है जिसमें ज्वार, बाजरा, गेहूँ—किसी का भी या सबका मिला हुआ आटा कभी-कभी रखा रहता है। एक छोटे-से बर्तन में नमक और मिर्च है। जब कहीं से खाना नहीं मिलता और घड़े में आटा हुआ तो मनीषी एक-दो रोटी सेंककर नमक-मिर्च से खा लेता है। यदि आटा नहीं हुआ तो पड़ा-पड़ा बाँसुरी बजाता है। भूख को इस प्रकार संगीत बनाकर आस-पास बिखेरता है। कोई सुन लेता है, और भोजन करा देता है।

अपने खाने का ठिकाना नहीं है पर उदारता में कर्ण हैं। बड़े शरणागत वत्सल हैं कोई भी आफत का मारा आ जाए, मनीषी के गज-भर टाट पर और मक्के की दो रोटी पर उसका अधिकार है। जब तक घड़े में आटा है तब तक रोटी खिलाएगा और आप खाएगा। जब आटा चुक जाएगा, तब मनीषी बाँसुरी बजाएगा और अतिथि कुढ़ता हुआ सुनेगा। जिसे कहीं जगह नहीं मिलती, उसे मनीषी के यहाँ जरूर आश्रय मिल जाएगा। जिसे सब तिरस्कृत करें, वह अगर मनीषी के यहाँ पहुँच गया तो मनीषी अपना भाई बना लेंगे। कितने ही लोग उसका आश्रय पाते हैं। घर से निकले हुए लड़के, बेकार आदमी,

तिरस्कृत नारियाँ—सब उसके औदार्य की छाया में आ बैठते हैं। कोई-कोई कृतघ्न जिस वृक्ष की छाया में बैठते हैं उसे एक-दो कुल्हाड़ी मार जाते हैं या कुछ शाखाएँ ही नोच जाते हैं। सुनते हैं ये आश्रयहीन लोग जाते वक्त उसका फटा कंबल या लोटा ही ले भागे हैं।

एक बार अनाथालय से भागी हुई तीन-चार तिरस्कृत और लांछित लड़कियाँ मनीषी के आश्रम में आईं। मनीषी ने उन्हें 'धर्मपुत्री' मान लिया। दो-चार दिनों में उनके यहाँ 'धर्मपुत्र' भी आने लगे और जब इन 'धर्मपुत्रों' ने उनकी 'धर्मपुत्रियों' को 'धर्मपत्नियाँ' बनाने का उपक्रम किया तो मुहल्लेवालों ने बड़ा हल्ला-गुल्ला मचाया। वे लड़कियाँ 'धर्मपिता' को छोड़कर भागीं। अभी भी मनीषी बड़े दर्द से धर्मपुत्रियों को याद करते हैं। कहते हैं, "न जाने बेटियाँ कहाँ हैं? किस हालत में हैं?"

ऐसा नहीं है कि उन्होंने श्रम करने का प्रयास नहीं किया हो। 'हिमालय' की संपादकी के सिवा वे अनेक कार्य करके छोड़ चुके हैं। अपने इन अनुभवों को मनीषी खाली समय में बड़े रोचक ढंग से सुनाते हैं। एक प्याले चाय में एक ही अनुभव सुनाते हैं। कहने लगे, "स्टंट पिक्चर में मुझे काम मिला। पूना में शूटिंग हो रही थी। मेरा काम था कि मैं पुल पर नाले के किनारे खड़ा रहूँ और जब 'हीरो' घोड़े पर वहाँ से निकले, तो तलवार का ऐसा वार करूँ कि तलवार उसे लगती हुई दिखे, पर लगे नहीं। मैं तैयार हो गया। 'हीरो' आया तो कम्बख्त ने मुझे ही कोड़ा घुमाकर कनपटी में मार दिया! मुझे गुस्सा आ गया। बस मैंने भोथरी तलवार का ऐसा वार किया कि बेटा नाले में गिर पड़े। हाथ की हड्डी टूट गई पर मेरी नौकरी भी उसी वक्त खत्म हो गई।"

फिल्म कंपनी के अनुभव आगे बढ़ाते हुए वे बोले, "एक और फिल्म में काम मिला। मैं बनाया गया हीरो का नौकर। चार-छह दिन बाद 'हीरोइन' एक दिन एकांत में बोली, 'मिस्टर मनीषी, आई लव यू।' मैंने कहा, 'लेडी, देन आई शैल लीव दिस प्लेस एट वन्स!' बस मैं भाग आया।"

हमने पूछा, "वह तो तुम पर मोहित थी। तुम भाग क्यों आए?"

मनीषी बड़ी समझदारी से बोले, "अरे अरे, प्यार करनेवाली स्त्री बड़ी खतरनाक होती है। न जाने कब किससे प्यार करने लगे और तुम्हें पिटवा दे। उस अभिनेत्री से डायरेक्टर खुद प्यार करता था। अगर उसे मालूम हो जाता तो मुझे कहीं मरवाकर फिंकवा देता। मनीषी की जान अभिनेत्रियों पर न्यौछावर होने के लिए नहीं है।"

फिर मनीषी ने राजनीति का व्यवसाय अपनाया। नेता हो जाना बड़ा अच्छा धंधा है! पर वे किसी भी दल के प्रति पक्षपात नहीं करते थे। वे एक साथ ही कांग्रेस, समाजवादी दल, साम्यवादी दल, जनसंघ, रामराज्य परिषद् आदि सब में थे। हर मंच से भाषण देते—घंटों बोलते और लोग ऊबते नहीं, क्योंकि वे कुछ बोलते ही नहीं हैं। एक बार वे एक सभा में बोलने खड़े हो गए। बड़े जोश में बोले, "कांग्रेसी चोर हैं। समाजवादी उचक्के हैं। साम्यवादी लुच्चे हैं।" आदि-आदि। आधा घंटे तक सब

दलों को गाली देते रहे। श्रोताओं ने हल्ला मचाया, "अपने शब्द वापस लो।" मनीषी जी ने हँसते हुए कहा, "तुम शब्द वापस लेने को कहते हो, मैं अपना पूरा भाषण वापस लेता हूँ, और फिर नया भाषण आरंभ करता हूँ। सुनो। भाइयो और बहनो!" फिर आधा घंटे तक भाषण देते रहे।

एक दिन उनके निवास-स्थान के सामने के सभास्थल में रामराज्य परिषद् की सभा हो रही थी। मनीषी बे-बुलाए पहुँच गए और सिंह की तरह मंच पर चढ़ गए। मंच पर बैठे नेता बोले, "आप कौन हैं? क्या चाहते हैं?" मनीषी ने कहा, "मैं नेता हूँ, भाषण देने आया हूँ।"

"आप किस दल के नेता हैं?"

"मैं सभी दलों का नेता हूँ।"

मंच पर के नेताओं ने उन्हें भाषण नहीं देने दिया। पर जनता मनीषी को देखकर हर्षध्वनि करने लगी। लोग चिल्लाए, "मनीषी जी को बोलने दो।"

मनीषी जी लाउडस्पीकर लेकर खड़े हुए और धुआँधार भाषण आरंभ कर दिया। आसपास के लोग निकट आ गए और सभास्थल खचाखच भर गया। भाषण क्या था—अनर्गल प्रलाप और गाली-गलौज, पर मनीषी से यही सुनकर मजा लेने की उम्मीद से लोग इकट्ठा हुए थे। बीच-बीच में ताली और हर्षध्वनि होने लगी। पूरे एक घंटे तक मनीषी बोलते रहे और वे नेता भाग खड़े हुए। मनीषी मंच से उतरे और विजयी योद्धा की तरह झूमते हुए, आसपास देखते हुए, जाकर अपने जीने पर चढ़ गए। नीचे जनसमूह इकट्ठा हुआ। चिल्लाया, "मनीषी जी की जय! मनीषी जी दर्शन दो।" भक्तों की पुकार पर मनीषी जी खिड़की पर आए। हाथ जोड़कर मुस्कराते हुए दर्शन दिए।

दो-चार भक्त ऊपर चढ़ गए और उन्हें नीचे उतार लाए। एक जुलूस बनाकर होटल में उन्हें ले गए, चाय पिलाई और छह पैसों की थैली भेंट की।

फिर मनीषी ने राजनीति का धंधा भी छोड़ दिया।

सब काम कर देखे और जब कोई नहीं बना तब मनीषी ने सोचा कि कोई काम नहीं करना ही अच्छा है।

पर हौसले उनके बहुत ऊँचे हैं। मुझसे कभी-कभी बड़ी गंभीरता से कहते हैं कि मैं शीघ्र ही 'अंतर्राष्ट्रीय पत्रकार-संघ' खोलनेवाला हूँ। एक फिल्म-कंपनी खोलने की भी उनकी योजना चल रही है, जिसमें मुझे खलनायक का काम देने का वादा वे कर चुके हैं।

नीचे वे मुझसे फिल्म-कंपनी की योजना पर चर्चा करते रहे। थोड़ी देर बाद ऊपर उठकर गए तो बाँसुरी बजाने लगे। भूखे थे।

थोड़ी देर बाद नीचे उतरे तो चेहरे पर वही मस्ती, वही हँसी थी। मैं सोचता हूँ, क्या यह हँसी विक्षिप्त की हँसी है? क्या यह निरपेक्ष जीवन का हास्य है? क्या यह उस चरम विफलता की हँसी है, जब आदमी सोच लेता है कि हमसे अब कुछ नहीं बनेगा ?

क्या यह उस उदासीन वृत्ति का हास्य है कि हमारे बनने या बिगड़ने में कोई मतलब नहीं? अथवा दर्द को कलेजे की भट्ठी में गलाकर इसने हँसी के रूप में प्रवाहित कर दिया है?

रामदास

आँधी से उड़कर एक जगह का बीज दूसरी जगह जा पड़ता है, वहीं उसमें पीका फूटता है, वह पौधा बनता है, बढ़ता है, फूलता है, फलता है। यह रामदास भी मुसीबत की आँधी से उड़कर कहीं से आ पड़ा है। लेकिन ऐसा कहाँ होता है कि हर पौधा जमीन में फले-फूले? हमारे रामदास को भी यहाँ की जमीन कुछ अनुकूल नहीं पड़ी। यहाँ वह जी रहा है—बस वैसे तो 'गाँव का जोगी जोगिया आन गाँव में सिद्ध' हो जाता है; पर यह रामदास गाँव में भी जोगिया था और वहाँ भी जोगिया ही रह गया। जोगिया से सिद्ध तक का जो रास्ता है, वह छल, कपट, प्रपंच और पाखंड के बीहड़ वन में से गुजरता है और रामदास को इस वन से बड़ा भय लगता है। इसे तो ईमानदारी की बीमारी लग गई है। तभी तो वह सूखा-सूखा, दुबला-पतला है।

बाजार के चौराहे पर, एक इमारत की दूसरी मंजिल पर एक अखबार का दफ्तर है। एक नाटे-से आदमी को हॉफ पैंट पहने आप अगर इस दफ्तर की सीढ़ियों पर चढ़ते-उतरते देखें तो समझ लीजिए कि वह रामदास है। और अगर निश्चय करना हो, तो जब वह सीढ़ियों से नीचे उतरे तो उससे पूछिए, 'आनंदजी हैं?' अगर वह 'जरा ठहरिए, सोच लेने दीजिए' कहकर अपने सिर पर एक अँगुली से ठोका मारे और नीचे देखते हुए क्षण-भर सोचकर जवाब दे, 'हाँ, ठीक है' या 'हाँ, ठीक है, नहीं है', तो यह पक्का है कि वह रामदास ही है। हर बात को इतना सोचकर बोलनेवाला इस शहर में दूसरा आदमी नहीं है।

बड़ी खुरदरी खादी की कमीज और उसी का हॉफ-पैंट, यही रामदास की पोशाक है—हर मौसम में, हर जगह, हर समय। अब यह मोटी खादी समय से रगड़ खाते-खाते छनकर कबीर की 'झीनी चदरिया-सी' हो गई है। कमीज और पैंट में जगह-जगह लटें लटकने लगी हैं, मानो गरीबी ने झालर डाल दी हो। हर दूसरे-तीसरे दिन वह दफ्तर के दरवाजे बंद करके कपड़ों को धोकर सुखा लेता है।

अभी तक 35 पतझरों को परास्त कर चुका है। यौवन की कमजोरी देखकर बुढ़ापे ने अपने गुप्तचर, सफेद बाल, इसके यौवन के राज्य में भेज दिए हैं, जो एक-एक काले बाल को फुसलाकर विद्रोह करवा रहे हैं। लंबी नुकीली नाक है। आँखें बड़ी-बड़ी, जिसमें दार्शनिक-सी गंभीरता है। चेहरा लंबा है और सुडौल, पर झुर्रियों से भरा हुआ। वर्ण कभी गोरा रहा होगा, पर अब तो उसपर मुसीबत का रंग चढ़ गया है। इसे देखकर बुलंद

R
0-c7/266.9

इमारत का खँडहर भी नहीं कह सकते। खँडहर में कुछ ऐसी बात होती है, जो इमारत की बुलंदी का संकेत कर सके। रामदास की जिंदगी की इमारत ऐसी है जिसका ईंट, गारा, चूना बीच में ही समाप्त हो और वह अधबनी ही पड़ी हो। वह उस पौधे जैसा है जो थोड़ा बढ़ते ही ढाँक दिया जाए, जिसे खुली हवा और रोशनी न मिले। वह बढ़ता तो है, पर कैसा पीला-पीला मरियल-सा, मानो उसकी खुलकर बढ़ने की उमंग पूरी न हो पाई हो।

7668

यह रामदास सोचता ही रहता है। न जाने क्या सोचता है? खाते-खाते सोचता है, चलते-चलते सोचता है, बैठे-बैठे सोचता है। बाजार की चहल-पहल के बीच भी यह अपने आस-पास से बिल्कुल बेखबर जमीन देखता हुआ विचार में डूबा चला जाता है। इतने धीरे-धीरे चलता है, इतनी सावधानी से कदम रखता है कि लगता है इसके पास यह हिसाब भी होगा कि अब तक वह कितने कदम चल चुका होगा। वह बिना सोचे-विचारे कुछ कहता ही नहीं; कुछ करता ही नहीं। मुझे कभी बाजार में मिल जाता है, और मैं कहता हूँ, 'रामदास, चाय पी लो।' वह माथा ऊँचा करके देखेगा। कहेगा, 'अयँ!' फिर क्षण-भर सोचकर बोलेगा—'अच्छा।' आप पूछिए, ''रामदास कहाँ जा रहे हो?'' तो सिर ऊँचा करके यह कहेगा—'अयँ!' इसके बाद क्षण-भर सोचकर बोलेगा, ''हाँ याद आया, पोस्ट ऑफिस जा रहा हूँ।'' वह संत की तरह हर शब्द सावधानी से सँभालकर बोलता है क्योंकि संत जानता है कि उसकी वाणी पर कितनी ही पीढ़ियों के बनने-बिगड़ने की जिम्मेदारी है।

कभी-कभी वह मुझे सदर की सूनी सड़क पर रात को दस-ग्यारह बजे घूमता मिल जाता है; निपट अकेला, धीरे-धीरे पास-पास कदम रखता हुआ। जमीन को देखता हुआ चला जाता है। न जाने कहाँ। आसपास के वृक्ष, बगीचे, बँगले सब उसके लिए जैसे निरर्थक हों। संपूर्ण प्रकृति का मानो उसके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं। वह अपने आपमें पूर्ण है। उस समय वह स्थित-प्रज्ञ-सा लगता है। मैं पूछता हूँ, ''रामदास, कहाँ चल दिए ?'' वह चौंककर ऊपर देखता है, फिर मुस्कराकर कहता है, ''मास्टर साहब, नमस्ते!'' मैं प्रश्न दुहराता हूँ तो वह जवाब देता है—''दोस्त-भाई के यहाँ जा रहा हूँ।'' और चल देता है। प्रश्नोत्तर का यही बँधा क्रम वर्षों से चल रहा है। वह इससे अधिक नहीं बोलता। उसने मुझसे आज तक नहीं पूछा कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। उसे किसी के आने-जाने से कोई मतलब नहीं। कौन उसका दोस्त-भाई है, यह मैं आज तक नहीं जान पाया। सोचकर संतोष कर लेता हूँ कि कोई प्राणी इस शहर में है जिसे वह अपना मानता है, जिससे नपी-तुली बात न करता होगा, जिसके सामने शायद हृदय खोलकर रख देता हो।

तीन सालों से जानता हूँ इस रामदास को। आनंदजी मेरे मित्र हैं। वे एक अखबार के संपादक हैं। रामदास उन्हीं के दफ्तर में काम करता है। डाक लाता-ले जाता है, दफ्तर झाड़ता है, रखवाली करता है और दूसरे छोटे-मोटे काम करता है। इसे शायद 40) माहवार मिलता है। आनंदजी का कहना है कि उन्हें वर्षों बाद यह ईमानदार आदमी मिला है। उनका ख्याल है कि ईमानदारी इसका गुण न होकर, असमर्थता है। बेईमानी के लिए आवश्यक

चतुरता उसमें है ही नहीं।

रामदास भोजन नहीं करता, याने उस अर्थ में, जिसमें हम सामान्यतः भोजन करते हैं। फिर यह जीता कैसे है? दफ्तर के नीचे एक होटल है जिसमें वह चाय पी लेता है और एक-दो आने का नमकीन खा लेता है। यही उसका भोजन है। आनंदजी के दफ्तर से किसी आगंतुक के लिए यदि चाय और नमकीन आता है, तो उसमें से भी कुछ पा जाता है। सप्ताह में एक-दो बार आनंदजी के यहाँ खाना खा लेता है। वर्षों से वह इसी तरह जी रहा है। लेकिन रामदास अपने को किसी से हीन नहीं समझता। उसके आत्म-सम्मान का झंडा कभी झुकता नहीं। मेरी दी हुई चाय पी लेता है, यह उसकी मेहरबानी है। वह मुझ पर अनुग्रह करता है, मुझे गौरवान्वित ही करता है। शहर में यदि फैला दूँ, तो इस खबर से यशवृद्धि हो सकती है कि रामदास मेरी चाय पी लेता है। वरना वह कितने लोगों को 'नहीं' कहकर टाल देता है। वह किसी की कृपा स्वीकार नहीं करता। मुझे वह बदला देना नहीं भूलता। अगर आमना-सामना हो जाए, और संयोगवश मैं उसे न देख पाऊँ, तो कभी वही कह देता है, ''मास्टर साहब, चाय पी लीजिए।'' तब यदि मैं इस उलझन में पड़ जाऊँ कि इस गरीब से दो आने क्यों खर्च कराऊँ, तो उसे बुरा लगता है। इसलिए मुझे तुरंत स्वीकार करना पड़ता है। इस स्थिति से बचने के लिए मैं दूर से ही उसे देखकर चिल्ला देता हूँ, ''रामदास, चाय पी लो।'' कोशिश करता हूँ कि मैं ही उसे पहले देखूँ। वह मुझे पहले न देख पाए।

हम सब लोगों को वह अपनी बराबरी का मानता है, अपने से बड़ा नहीं। अपने मालिक आनंदजी से भी बराबरी का व्यवहार करता है। हँसी की बात पर वह आनंदजी के हाथ-पर-हाथ मारकर अट्टहास भी करता है।

पर रामदास अपने विचारों में ही इतना डूबा रहता है कि बाकी बहुत कुछ भूल-सा जाता है। कभी आनंदजी मोहन बाबू को बुलाने भेजते हैं, तो वह सोहन बाबू को बुला लाता है और जब उसे भूल बतलाई जाती है, तो वह एकदम आँखें बंद करके कहता है, ''ठहरिए, जरा सोच लेने दीजिए।'' फिर अँगुली से सिर पर ठोका मारकर सोचेगा, तब कहेगा, ''हाँ याद आया, गलती हो गई, खैर!'' और तुरंत मोहन बाबू को बुलाने चल देगा। कई बार वह बाजार से आलू के बदले करेला, पान के बदले सिगरेट, और लौंग के बदले इलायची ले आया है। एक दिन आनंदजी ने उसे कुछ लिफाफे टिकिट लगाकर, डाक में छोड़कर आने के लिए दिए। वापस आया तो आनंदजी ने देखा कि रुपए में पैसे कुछ अधिक बच गए हैं। वे बोले, ''कम टिकट लगा आए रामदास।'' दरवाजे पर खड़े होकर उसने सिर पर ठोका मारकर विचार को जाग्रत किया। थोड़ी देर बाद सोचकर बोला, ''नहीं, ठीक है। पहले समझ लीजिए।'' उसके मुख पर निश्चयात्मक दृढ़ता आ गई थी। फिर वह समझाने लगा कि किस लिफाफे पर कितनी टिकटें लगाई थीं। समझाते-समझाते जब उसे खुद समझ में आ गया कि उसी की भूल है, तो झट बोला, ''हाँ, याद आया। गलती हो गई। खैर।'' बस यह लंबी 'खैर' उसकी हर गलती

की क्षमा-याचना है। इससे अधिक वह कुछ नहीं कहता।

रामदास कहाँ से आया है? उसके बाल-बच्चे हैं या नहीं? वह अभी तक क्या करता था? कहाँ रहा? ये सब बातें बहुत कम लोग जानते हैं। वह अपनी जिंदगी की किताब को बड़ी सावधानी से बंद करके रखता है कि कहीं कोई पृष्ठ उलट न जाए और कोई पढ़ न ले।

एक दिन मैंने पूछा, "रामदास, तुम कहाँ के रहनेवाले हो?" उसने उत्तर दिया, "कानपुर का।" मैंने पूछा, "तुम्हारे बाल-बच्चे हैं?" उसने जवाब दिया, "हाँ, हैं। स्त्री है, तीन बच्चे हैं।" मैंने देखा उसकी आँखों की वेदना कुछ गहरी होती जाती थी। उसका मुख कुछ अधिक लटक गया था। गला भी उसका कुछ भर्रा गया। पर मेरी उत्सुकता का अंत नहीं था। मैंने फिर उसकी पीड़ा को कुरेदा। पूछा, "उनकी गुजर कैसे होती होगी? किसके पास रहते हैं वे?" उसने उसी गंभीर वेदना के साथ कहा, "पास तो कोई नहीं है। कुछ रुपए भेज देता हूँ, कुछ वहीं हो जाता है।"

मुझे लगा कि यह बड़ा अप्रिय प्रसंग छिड़ गया। वह एक अभाव-जनित पीड़ा को कहीं हृदय के किसी कोने में छिपाए था, वह अब उभर आई थी। वह अन्यमनस्क हो गया था। एक क्षण में ही जैसे वह वहाँ नहीं रहा, कानपुर चला गया। पर मुझ जैसे बकवादी लोग कहीं किसी को शांत रहने देते हैं! मैंने पूछा, "उन्हें यहाँ नहीं ले आओगे ?" उसका मुख आशा की दीप्ति से चमक उठा। वह उस समय दस वर्ष छोटा लगा। आँखों में अधिक उल्लास भरकर वह बोला, "अच्छा-सा मकान मिल जाय तो ले आऊँ।" पर यह वाक्य कहते ही उसके मुख पर उसी गंभीर वेदना का रंग आ गया। मैं बहुधा उससे पूछ बैठता—"रामदास, अब बच्चों को कब लाओगे?" और वह उसी प्रकार आशा से जगमगाकर बोलता, "अच्छा-सा मकान मिल जाय तो ले आऊँ।" वाक्य समाप्त करते ही वह फिर उदास हो जाता, जैसे उसका मिला-मिलाया मकान छूट गया हो।

तीन साल से यही पूछ रहा हूँ, और वह यही उत्तर दे रहा है। अच्छे से मकान तो शहर में बहुत हैं, पर इसके योग्य शायद उनमें कोई नहीं है और यदि उन स्त्री-बच्चों को वह ले भी आवे, तो खिलाएगा क्या। पर आशा के छोर को वह खूब कसकर पकड़े है। नए काम ढूँढ़ता है, आमदनी के नए जरिए खोजता है, पर हर जगह उसकी ईमानदारी और दार्शनिक बेखबरी बाधा देती है। तीन-चार सालों से वह घर नहीं गया है। उसके वे स्त्री-बच्चे समस्त अभावों और विपदाओं के बीच जिंदगी को इसलिए घसीट रहे होंगे कि कभी परदेशी आवेगा, और बहुत-से पैसे लावेगा। गरीबी के विस्तार का पार नहीं। रामदास और उसके स्त्री-बच्चों के बीच जैसे गरीबी की गहरी नदी बह रही है और वे मिल नहीं सकते। स्त्री-बच्चों का इतने दिनों का बिछोह क्या होता है, यह स्वानुभव से नहीं जानता। पर मुझे ठीक याद है कि बचपन में जब छुट्टियों में माता-पिता के पास गाँव रहकर शहर पढ़ने आने लगता, तो माता-पिता की आँखों से आँसू झरने लगते। मैं साल में तीन बार घर हो आता था। यह चार साल में एक बार भी नहीं गया। कैसी मजबूरी है कि पिता बच्चों से न मिल

सके, पत्नी पति से नहीं मिल सके। कुछ होते हैं जो दुःख भी सुविधा से मानते हैं, जिनका बिछोह भी अजब रंगीनियों से भरा होता है, जिनका दुःख भी एक त्योहार हो जाता है। पर जैसा यह गरीब, वैसा इस गरीब का दुःख।

एक दिन वह मुझे बहुत उदास दिखा। मैंने पूछा, "रामदास, आज बहुत उदास दिख रहे हो? घर पर तो सब ठीक है न?" उसने एक गहरी साँस छोड़ी और बोला, "बड़ा लड़का नहीं रहा। घर से चिट्ठी आई है।" वह आसमान की ओर शून्य में देखने लगा। हृदय की वेदना मुख से चीख बनकर न निकल पड़े, इसलिए उसने ओठों को दाँतों से दबा लिया। पर पलकों में यह सामर्थ्य कहाँ कि आँसुओं को रोक सकें! उसकी आँखों से आँसू झरकर नाक को भिगोते हुए ओठ तक बहने लगे और उसकी साँस जोरों से चलने लगी।

मैं बड़ी देर तक स्तब्ध बैठा रहा। मुझे उस समय लगा कि दुःख जाहिर करने के जितने उत्तम तरीके हैं, जितने सुंदर वाक्य और शब्द हैं, वे झूठे हैं। वे सब दुःख के उत्सव के काम आनेवाले हैं। इस गरीब के सच्चे दुःख के सामने मेरी परिष्कृत समृद्ध वाणी व्यर्थ है। चुप नहीं रहा गया तो मैंने कहा, "तुम घर जाओगे न?" उसने आँसू पोंछते-पोंछते बड़े तटस्थ भाव से कहा, "अब जाने से क्या फायदा?" मैं समझ गया कि वह जानता है कि जाने से क्या फायदा है। वह जानता है जिस स्त्री का बेटा मर गया है, उसे पति का सहारा चाहिए। वह जानता है कि उसकी बिलखती पत्नी और चीखते बच्चों के बीच उसे होना चाहिए। पर वह मजबूर था।

मैं उठा। उठने से पहले कुछ और कहना जरूरी मालूम हुआ। मेरे पास तो अब कुल वही पूँजी बची थी। "तो बच्चों को ले आओ न रामदास?" उसका मुख एक क्षण में जैसे विद्युत-प्रभाव से चमक उठा। आँखों में आशा की किरण फूट पड़ी। वह उसी प्रकार विश्वास से बोला, "अच्छा-सा मकान मिल जाय तो ले आऊँ।" पर उसे कभी अच्छा-सा मकान नहीं मिलेगा। और वह यहीं बैठा-बैठा कानपुर से चिट्ठियाँ पाता रहेगा कि अब दूसरा लड़का नहीं रहा, अब लड़की भी नहीं रही, और अब स्त्री भी नहीं रही।

◆

असहमत

यह सिर्फ दो आदमियों की बातचीत है :

"भारतीय सेना लाहौर की तरफ बढ़ गई—अंतर्राष्ट्रीय सीमा पार करके।"

"हाँ, सुना तो। छम्ब में पाकिस्तानी सेना को रोकने के लिए यह जरूरी है।"

"खाक जरूरी है! जहाँ वे लड़ें, वहाँ लड़ना चाहिए या हर कहीं घुसना चाहिए?"

"हाँ, उधर नहीं बढ़ना था।"

"मगर मैं कहता हूँ, क्यों नहीं बढ़ना था? उधर से दबाव पड़ेगा तो इधर तुम्हारे बाप

रोक सकते हैं उन्हें?''

''फिर तो उधर बढ़ना ठीक ही हुआ।''

''ठीक हुआ! ठीक हुआ! कुछ समझते भी हो! इसका मतलब क्या होता है ? इसका मतलब होता है—टोटल वार! पूर्ण युद्ध! हमला!''

''हाँ जी, यह तो हमला जैसा ही हो गया।''

''मगर मैं कहता हूँ, जो इसे हमला कहता है, वह बेवकूफ है। हम तो हमले का मुकाबला करने के लिए बढ़े हैं।''

''इस दृष्टि से तो हमारा बढ़ना सुरक्षात्मक कार्रवाई हुआ।''

''मगर सुरक्षात्मक कार्रवाई कहकर तुम दुनिया की नजरों में धूल नहीं झोंक सकते ! जो हुआ है, वह सबको दिख रहा है।''

''हाँ, विल्सन ने तो ऐसा कुछ कहा भी है।''

''तुम विल्सन के कहने की परवाह क्यों करते हो? जो तुम्हें सही दिखे, करो।''

''बिल्कुल ठीक है। जो देश के हित में हो, वही हमें करना चाहिए।''

''देश-हित की बात करते हो! देश-हित कोई समझता भी है? सिर्फ देश-हित देखोगे या अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया का भी ख्याल रखोगे?''

''ठीक कहते हो। आज की दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया देखना भी जरूरी है।''

''मगर मैं कहता हूँ, अंतर्राष्ट्रीय रुख ही देखते रहोगे या देश के भले की भी कुछ सोचोगे? अंतर्राष्ट्रीयता की धुन में ही तो तुम लोगों ने देश को गारत कर रखा है!''

इस बातचीत में जो लगातार सहमत होने की कोशिश करता रहा, वह मैं हूँ। मैं उससे बहस नहीं करता, मतभेद जाहिर नहीं करता, सिर्फ सहमत होना चाहता हूँ। पर वह सहमत नहीं होने देता। वह कभी किसी को सहमत नहीं होने देता। अगर कोई सहमत होने लगता है तो वह झट असहमति पर पहुँच जाता है। सहमति से भी वह नाराज होता है और असहमति से भी। पर असहमति का विस्फोट बड़ा भयंकर होता है। इसलिए मैं सहमत होते-होते निकल जाता हूँ, जैसे आँधी आने पर आदमी जमीन पर लेट जाए।

उसने मेरी तरफ देखा। मैं कुछ नहीं बोला। दूसरी तरफ देखने लगा। वह खिसियाया—कैसे बेवकूफ से पाला पड़ा है! खीजा—कैसे बेईमान लोग हैं। क्रोधित हुआ—सबको देखूँगा! तना—मैं किसी की परवाह नहीं करता! ढीला हुआ—कैसा दुर्भाग्य है! दुखी हुआ—ऐसों की चलती है, मेरी नहीं चलती! मन में फिर तनाव आया। वह अँगुलियों के कटाव गिनता हुआ जल्दी-जल्दी चला गया।

सारी दुनिया गलत है। सिर्फ मैं सही हूँ, यह अहसास बहुत दुःख देता है। इस अहसास में आगे अपेक्षा होती है कि मुझे सही होने का श्रेय मिले, मान्यता मिले, कीमत भी मिले। दुनिया को इतनी फुरसत होती नहीं है कि वह किसी कोने में बैठे उस आदमी को मान्यता देती जाय जो सिर्फ अपने को हमेशा सही मानता है। उसकी अवहेलना होती है। अब सही आदमी क्या करे। वह सबसे नफरत करता है। खीजा रहता है। दुःख-भरे तनाव

में दिन गुजारता है।

इसकी दुनिया से इसी तरह की लड़ाई है। पर वह मुझसे ही क्यों उलझता है ? हर बार मुझे गलत सिद्ध क्यों करता है? बात यह है कि पूरी दुनिया से एक साथ नहीं लड़ा जा सकता। दुनिया के हजारों मोर्चे हैं और करोड़ों लड़नेवाले हैं। मगर दो देशों की लड़ाई में पूरे देश आपस में नहीं लड़ते। सिपाही-से-सिपाही लड़ता है। लड़ने के मामले में सिपाही देश का प्रतिनिधि होता है। उन कुछ लोगों को, जिनसे उसकी अक्सर भेंट होती है, उसने दुनिया का प्रतिनिधि मान लिया है। इनमें भी सबसे ज्यादा मुलाकात मुझसे होती है, इसलिए इन कुछ का प्रतिनिधि मैं हुआ। इस तरह दुनिया का प्रतिनिधि मैं बन गया। मुझे गलत बताता है तो दुनिया गलत होती है। मुझे गाली देता है तो दुनिया को गाली लगती है। मुझ पर नाराज होता है तो दुनिया पर नाराजगी जाहिर होती है। मैं दबता हूँ तो दुनिया को दबा देने का सुख उसे मिलता है। सारी दुनिया की तरफ से इस मोर्चे पर मैं खड़ा हूँ और पिट रहा हूँ। वह मुझसे नफरत करता है। मगर मुझे ढूँढ़ता है। कुछ दिन नहीं मिलूँ, तो वह परेशान होता है। जिससे नफरत है, उससे मिलने की इतनी ललक प्रेम-संबंध में भी नहीं होती। मुझसे मिलकर मुझे गलत बताकर, मुझ पर खीजकर और मुझे दबाकर जो सुख उसे मिलता है, उसके लिए वह मुझे तलाशता है। विश्व-विजय के गौरव और संतोष के लिए योद्धा दुनिया-भर की खाक छानते थे। वह कुल चार-पाँच मील सड़कों पर मुझे खोजता है तो दुनिया को जीतने के लिए कोई ज्यादा नहीं चलता।

अगर सारी दुनिया गलत और वह सही है तो मैं गलत हूँ और वह सही है। मैं पहले उससे असहमत भी हो जाता था। तब वह भयंकर रूप से फूट पड़ता था। उसे गलत माने जाने पर गुस्सा आता है। वह लड़ बैठता था। गाली-गलौज पर आ जाता था। मैंने सहमत होने की नीति अपनाई। मैं सहमत होता हूँ तो वह सोचता है, यह कैसे हो सकता है कि मैं और दुनिया, दोनों सही हों। दुनिया सही हो ही नहीं सकती। वह झट ठीक उल्टी बात कहकर असहमत हो जाता है। तब वह एकमात्र सही आदमी और दुनिया गलत हो जाती है। मैं फिर सहमत हो जाता हूँ तो वह फिर उस बात पर आ जाता है जिसे खुद काट चुका है।

''बहुत भ्रष्टाचार फैला है।''

''हाँ, बहुत फैला है।''

''लोग हल्ला ज्यादा मचाते हैं। इतना भ्रष्टाचार नहीं है। यहाँ तो सब सियार हैं। एक ने कहा, भ्रष्टाचार तो सब कोरस में चिल्लाने लगे भ्रष्टाचार!''

''मुझे भी लगता है, लोग भ्रष्टाचार का हल्ला ज्यादा उड़ाते हैं।''

''मगर बिना कारण लोग हल्ला क्यों मचाएँगे जी? होगा तभी तो हल्ला करते हैं। लोग पागल थोड़े ही हैं।''

''हाँ, सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट तो हैं।''

''सरकारी कर्मचारी को क्यों दोष देते हो? उन्हें तो हम-तुम ही भ्रष्ट करते हैं।''

''हाँ, जनता खुद घूस देती है तो वे लेते हैं।''

''जनता क्या जबरदस्ती उनके गले में नोट ठूँसती है? वे भ्रष्ट न हों तो जनता क्यों दे?''

कोई घटना होती है तो वह उसके बारे में एक दृष्टिकोण बना लेता है और उससे उसका उल्टा दृष्टिकोण पहले ही मन में हमारे ऊपर मढ़ देता है। फिर वह हमसे उस आरोपित दृष्टिकोण के लिए नफरत करता है। नफरत इतनी इकट्ठी हो जाती है कि वह उस घटना के लिए जिम्मेदार भी हमें मान लेता है। चीन ने भारत को तीन दिन का अल्टीमेटम दिया तो उसे लगा, जैसे अल्टीमेटम हमने दिया हो। बस्तर में आदिवासियों पर गोली हमने ही चलाई। रोडेशिया में गोरी तानाशाही कायम हो गई तो उसे लगा, जैसे हमने ही इयान स्मिथ की सरकार बनवा दी हो। वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी फिर शुरू हो गई तो उसने मान लिया कि हमने ही बम-वर्षा का हुक्म दिया है। कुछ दिन वह खूब भन्नाता रहा। मिला नहीं। एक दिन वह मिल गया। ऐसे मिला, जैसे युद्ध-अपराधियों से मिल रहा हो। मिलते ही फूट पड़ा :

''तुम्हारे अमेरिका ने फिर बम बरसाना शुरू कर दिया।''

उसने ऐसे देखा, जैसे पुलिस हत्यारे को देखती है।

हमने कहा, ''यह बहुत बुरा किया। इससे क्रांति की आशा फिर नष्ट हो गई।''

वह एक क्षण को सहम गया। वह कई दिनों से हमें बमबारी का समर्थक मान कर हमसे नफरत कर रहा था। मगर हम तो बमबारी की निंदा कर रहे थे। अब वह क्या रुख अपनाए! उसे सँभलने में ज्यादा देर नहीं लगी। खीजकर बोला, ''शांति? वॉट डु यू मीन बाइ शांति? यह शब्द झूठा है। सब साले शांति की बात करते हैं और लड़ाई की तैयारी करते हैं!''

हम चुप। उसे संतोष नहीं हुआ। उसने साफ रुख अपना लिया, ''कह दिया, बुरा किया! क्या बुरा किया? उत्तर से दक्षिण में फौज आती है, चीनी हथियार आते हैं। उसके ठिकानों पर बम गिराए बिना कैसे काम चलेगा?''

''इस दृष्टि से तो बमबारी ठीक मालूम होती है।''

''क्यों ठीक है? नागरिक क्षेत्रों पर बम बरसाना ठीक है, यह कहते शर्म आनी चाहिए !''

''हाँ, नागरिक क्षेत्र पर अलबत्ता बम नहीं गिराना चाहिए।''

''मैं कहता हूँ, कहीं भी क्यों गिराना चाहिए? अमेरिका को क्या हक है इधर आने का? यह उसके राज्य का हिस्सा नहीं है।''

''ठीक कहते हो। एशिया में अमेरिका को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।''

''मगर बहुत-से बेवकूफ इस नारे को बिना समझे लगाते हैं। वे भूल जाते हैं कि इधर चीन बैठा है जो सबको निगल जाएगा।''

हम चुप हो गए। वह कुछ भुनभुनाता रहा। फिर झटके से उठा और अँगुलियों के

कटाव गिनता हुआ फुरती से चला गया।

गोरे और सुडौल इस जवान के कपाल पर तीन रेखाएँ खिंची रहती हैं। हमेशा तनाव में रहता है। नौकरी उसकी साधारण है। एक कॉलेज में पढ़ाता है। कॉलेज से नफरत करता है। लौटता है तो जैसे पाप करके लौट रहा हो। प्रिंसिपल से, साथियों से, विद्यार्थियों से नफरत करता है। बगीचे के खिले फूलों से भी उसे नफरत है। मकान मालिक से इसलिए नाराज है कि मकान उसका है। नगरपालिका से सड़क के लिए नाराज है। नाले से मच्छरों के लिए नाराज है। दुनिया से क्यों नाराज है, यह ठीक वही जानता होगा। मैं अंदाज ही लगा सकता हूँ।

शुरू में ही उसने दुनिया से कुछ ज्यादा उम्मीद कर ली होगी। बहुत-से नौजवान मौजूदा हालातों के संदर्भ में महत्त्वाकांक्षा नहीं बनाते। वह अनुपात से ज्यादा हो जाती है। बहुत से तो अपने पिता के जमाने के संदर्भ में महत्त्वाकांक्षा बना लेते हैं—पिता के जमाने में हर एम.ए. पास प्रोफेसर हो जाता था, अब नहीं होता। मगर उस संदर्भ में जो एम.ए. होकर प्रोफेसर बनने का तय कर लेता है, वह अक्सर निराश होता है। महत्त्वाकांक्षा के कारण वह स्कूल की नौकरी भी नहीं करता, बेकार रहता है। घुटता है। इस आदमी ने भी जवानी के शुरू में तय कर लिया होगा कि मुझे दुनिया से इतना मिलना चाहिए, यह मेरा हक है। इस हिसाब में कहीं वह गड़बड़ कर गया। उसने योग्यता के हिसाब से महत्त्वाकांक्षा नहीं बनाई। अपने मूल्य-निर्धारण में वह ज्यादा उदार हो गया। उसने शुरू में ही विशिष्टता से अपने को मंडित कर लिया। साधारण से विशिष्ट बनने की जरूरत उसने नहीं समझी। उसने मौजूदा जमाने की स्पर्धा, पक्षपात और चतुरता को भी नजरअंदाज कर दिया। कॉलेज में पढ़ाना चाहता था तब उसे स्कूल मास्टरी करनी पड़ी। विश्वविद्यालय में जाना चाहता था तब इस घटिया कॉलेज में नौकरी मिली। उसने मान लिया कि दुनिया ने उसकी कीमत नहीं दी। उसके साथ अन्याय किया और सिर्फ उसी के साथ। वह आसपास आगे बढ़ते हुए तुच्छ लोगों की भीड़ देखता है और सबसे नफरत करता है। उसका व्यक्तित्व टूटता है, वह उसे जैसे-तैसे समेटकर दुनिया के सामने चुनौती देकर खड़ा होता है। स्थायी असहमति उसका अपने-आपको जोड़ने का प्रयत्न है। इससे वह विशिष्ट बने रहने की कोशिश करता है क्योंकि विशिष्ट हुए बिना वह जी नहीं सकता।

एक बार ही मैंने उसे सहमत होते पाया है। उसने केंद्रीय सरकार में किसी बड़ी नौकरी के लिए आवेदन किया था। वह उसे नहीं मिली। मुझे मिला तो मैंने पूछा।

उसने कहा, ''नहीं मिली।''

मैं डर रहा था कि कहीं इसने इसके लिए मुझे ही जिम्मेदार न मान लिया हो। पर उसकी आँखों में ऐसा आरोप-भाव नहीं था। मेरी हिम्मत बढ़ी। मैंने कहा, ''आजकल पक्षपात बहुत चलता है।''

वह सहमत हो गया। बोला, ''ठीक कहते हो। ऊपर के लोग अपनों को अच्छी जगहों पर फिट करते हैं।''

''और योग्य आदमियों की अवहेलना होती है।''

''हाँ, और नालायक ऊँचे पदों पर बिठाए जाते हैं।''

''तभी तो सब जगह स्तर गिर रहा है।''

''अरे भाई, स्तर तो कुछ रहा नहीं!''

''पता नहीं कब तक यह अंधेर चलेगा!''

''मैं भी यही सोचता हूँ कि आखिर ऐसा कब तक!''

सहमति के इस दुर्लभ क्षण को मैं बिगड़ने नहीं देना चाहता था। इसलिए इसके पहले कि वह किसी बात पर असहमत हो उठे, मैं चल दिया। वह भी मुड़ा। मगर वह अँगुलियों के कटाव नहीं गिन रहा था।

बुद्धिवादी

आशीर्वादों से बनी जिंदगी है।

बचपन में एक बूढ़े अंधे भिखारी को हाथ पकड़कर सड़क पार करा दिया था। अंधे भिखारी ने आशीर्वाद दिया बेटा, मेरे जैसा हो जाना। अंधे भिखारी का मतलब लंबी उम्र से रहा होगा पर उन्होंने दूसरा मतलब निकाला और अध्यापक हो गए।

अध्यापक थे, तब एक टिटहरी की प्राण-रक्षा की थी। टिटहरी ने आशीर्वाद दिया—भैया, मेरे जैसा होना। टिटहरी का चाहे जो मतलब रहा हो, पर वे 'इंटलेक्चुअल' बुद्धिवादी हो गए। हवा में उड़ते हैं, पर जब जमीन पर सोते हैं तो टाँगें ऊपर करके…इस विश्वास और दंभ के साथ कि आसमान गिरेगा तो पाँवों पर थाम लूँगा।

आशीर्वादों से बनी जिंदगी का अब यह हाल है कि बँधी आमदनी दो-ढाई हजार की है। बँगला है, कार है। दोनों लड़के अच्छी नौकरी पा गए हैं। लड़की रिसर्च कर रही है। ऐसे में शरीफ से शरीफ आदमी इंटलेक्चुअल हो जाएगा—वे कोई खास शरीफ भी नहीं हैं। वे होने में ऐसे ही लेट हो गए।

दो साल विदेशों में रहकर वे लौटे तो परिचितों में हल्ला हो गया कि वे बुद्धिवादी हो गए हैं। तमाशा-प्रेमी लोग उन्हें देखने जाते और बताते कि वे सचमुच बुद्धिवादी हो गए। एक ने उन्हें खिड़की से झाँककर देखा और हमें बताया—वह तो सचमुच बुद्धिवादी हो गया। कमरे में बैठा छत को ऐसे देख रहा था जैसे यह हिसाब लगा रहा हो कि छत कितने सालों में गिर जाएगी। एक ने उन्हें बगीचे में घूमते देख लिया। कहने लगा—जब वह फूल की तरफ़ देखता, तो फूल काँपने लगता। वह भयंकर बुद्धिवादी हो गया है।

एक दिन हम उनसे मिलने पहुँचे—मैं और मेरा एक मित्र। फोन पर उन्होंने आधे घंटे बाद आने को कहा था। हम उन दिनों पूर्वी बंगाल के तूफान-पीड़ितों के लिए चंदा

इकट्ठा कर रहे थे। सोचा, बुद्धिवादी को देख भी लेंगे और कुछ चंदा भी ले लेंगे।

उनके कमरे में हम घुसे। सचमुच वे बदल गए थे। काली फ्रेम का चश्मा निकल गया था। उसकी जगह पतली सुनहरी फ्रेम का चश्मा वे लगाए थे। आँखों की चमक और फ्रेम की चमक एक-दूसरी को प्रतिबिंबित करके चकाचौंध पैदा कर रही थीं। मुद्रा में स्थायी खिन्नता। खिन्नता दुखदायी होती है। मगर उनके चेहरे पर सुखदायी खिन्नता थी। खिन्नता दुनिया की दुर्दशा पर थी। उसमें सुख का भाव इस गर्व से मिला दिया था कि मैंने इस दुर्दशा को देख लिया। बायीं तरफ का नीचे का होंठ कान की तरफ थोड़ा खिंच गया था, जिससे दोनों होंठों के बीच थोड़ी जगह हो गयी थी। स्थायी खिन्नता व लगातार चिन्तन से ऐसा हो गया था। पूरे मुँह में वह ही एक छोटी-सी सेंध थी जिसमें से उनकी वाणी निकलती थी। बाकी मुँह बन्द रहता था। हम पूरे मुँह से बोलते हैं, मगर बुद्धिवादी मुँह के बायें कोने को ज़रा-सा खोलकर गिनकर शब्द बाहर निकालता है। हम पूरा मुँह खोलकर हँसते हैं, बुद्धिवादी बायीं तरफ के होंठों को थोड़ा खींचकर नाक की तरफ ले जाता है। होंठ के पास के नथुने में थोड़ी हलचल पैदा होती है और हम पर कृपा के साथ यह संकेत मिलता है कि—आई एम एम्यूज्ड! तुम हँस रहे हो, मगर मैं सिर्फ थोड़ा मनोरंजन अनुभव कर रहा हूँ। गँवार हँसता है, बुद्धिवादी सिर्फ रंजित हो जाता है।

टेबिल पर 5-6 किताबें खुली हुई उलटी इस तरह पड़ी हैं जैसे पढ़ते-पढ़ते लापरवाही से डाल दी हों। पर वे लापरवाही से ऐसे छोड़ी गयी हैं कि हर किताब का नाम साफ दिख रहा है। किताबों की समझदारी पर मैं न्यौछावर हो गया। लापरवाही से एक-दूसरी पर गिरेंगी तो भी इस सावधानी से कि हर किताब का नाम न दबे। मैं समझ गया कि वे किताबों को पढ़ नहीं रहे थे। हमें आधा घंटा बाद उन्होंने बुलाया था। इस आधे घंटे में उन्होंने बड़ी मेहनत से इन किताबों की बेतरतीबी साधी होगी। बुद्धिजीवी बार-बार किताबों की तरफ हमारा ध्यान खींचने की कोशिश करता है। वह चाहता है, हम चकित हों और कहें—कितनी तरह की पुस्तकें पढ़ते हैं आप! इनके तो हमने नाम भी नहीं सुने। हम चकित होने में देर कर रहे हैं। बुद्धिवादी थोड़ा बेचैन होता है।

उन्होंने हमें इस तरह बिठाया है कि हमारी तरफ देखने में उन्हें सिर को 35 डिग्री घुमाना पड़े। 35 डिग्री सिर घुमाकर, सोफे पर कुहनी टिकाकर, हथेली पर ठुड्डी को साधकर वे जब भर-नजर हमें देखते हैं तो हम उनके बौद्धिक आतंक से दब जाते हैं। हम अपने को बहुत छोटा महसूस करते हैं। उनकी मुद्रा और दृष्टि में जादू पैदा हो जाता है। जब इस कोण से हमें देखकर वे पेट में से निकलती-सी धीमी गंभीर आवाज में कहते हैं—टु माई माइंड—तो हमें लगता है, यह आवाज ऊपर बादलों से आ रही है। पर आसमान तो साफ है। बड़ी कोशिश से हम यह जान पाते कि यह आवाज बुद्धिवादी के होंठों के बाएँ बाजू की पतली सेंध में से निकली है। जब वे 'टु माई माइंड' कहते हैं, तब मुझे लगता है, मेरे पास दिमाग नहीं है। दुनिया में सिर्फ एक दिमाग है और वह इनके पास है। जब वे 35 डिग्री सिर को नहीं घुमाए होते और हथेली पर ठुड्डी नहीं होती, तब वे बहुत मामूली आदमी

लगते हैं। कोण से बुद्धिवाद साधने की कला सीखने में कितना अभ्यास लगा होगा उनको।

बुद्धिवादी में लय है। सिर घुमाने में लय है, हथेली जमाने में लय है, उठने में लय है, कदम उठाने में लय है, अलमारी खोलने में लय है, किताब निकालने में लय है, किताब के पन्ने पलटने में लय है। हर हलचल धीमी है। हल्का व्यक्तित्व हड़बड़ाता है। इनका व्यक्तित्व बुद्धि के बोझ से इतना भारी हो गया है कि विशेष हरकत नहीं कर सकता। उनका बुद्धिवाद मुझे एक थुलथुल मोटे आदमी की तरह लगा जो भारी कदम से धीरे-धीरे चलता है।

वे बोले, ''मुझे यूरोप जाकर समझ में आया कि हम लोग बहुत पतित हैं।''

मैंने कहा, ''अपने पतन को जानने के लिए आपको इतनी दूर जाना पड़ा?''

बुद्धिवादी ने जवाब दिया, ''जो गिरनेवाला है वह नहीं देख सकता कि वह गिर रहा है। दूर से देखनेवाला ही उसके गिरने को देख सकता है।''

उस वक्त हमें लगा कि हम एक गड्ढे में गिरे हुए हैं और यह गड्ढे के ऊपर से हमें बता रहा है कि हम गिर गए हैं। उसने हमारा गिरना देख लिया है, इसलिए वह गिरनेवालों में नहीं है।

मेरे मित्र ने पूछा, ''हमारे पतन का कारण क्या है?''

बुद्धिजीवी ने आँखें बंद करके सोचा। फिर हमारी तरफ देखकर कहा, ''टु माई माइंड, हममें करेक्टर नहीं है।''

अपने पतन की बात उन्होंने इस ढंग से कही कि लगा, उन्हें हमारे पतन से संतोष है। अगर हम पतित न होते तो उन्हें यह जानने और कहने का सुयोग कैसे मिलता कि हम गिरे हुए हैं और हमारा गिरना वे साफ देख रहे हैं।

साथी ने अब मुद्दे की बात कहना जरूरी समझा। बोला, ''पूर्वी बंगाल में तूफान से बड़ी तबाही हो गई है।''

उसने मृत्यु, बीमारी, भुखमरी की करुण गाथा सुना डाली।

बुद्धिवादी सुनता रहा। हम दोनों असर का इंतजार कर रहे हैं। असर हुआ। बुद्धिवादी ने मुँह के कोने से शब्द निकाले, ''हाँ, मैंने अखबार में पढ़ा है।''

उस वक्त हमें लगा कि पूर्वी बंगाल के लोग कृतार्थ हो गए कि उनकी दुर्दशा के बारे में इन्होंने पढ़ लिया। तूफान सार्थक हो गया। बीमारी और भुखमरी पर उन्होंने बड़ा अहसान कर डाला।

मैंने कहा, ''हम लोग उन पीड़ितों के लिए धन-संग्रह करने निकले हैं।''

हम चंदा लेने आए थे। वे समझे, हम ज्ञान लेने आए हैं।

उन्होंने हथेली पर ठुड्डी रखी और उसी मेघ-गंभीर आवाज में बोले, ''टु माई माइंड—प्रकृति संतुलन करती चलती है। पूर्वी बंगालस्तान की आबादी बहुत बढ़ गई थी। उसे संतुलित करने के लिए प्रकृति ने तूफान भेजा था।''

इसी बीच पूर्वी बंगाल में उनकी सहायता के अभाव में एक आदमी और मर गया

होगा।

अगर कोई आदमी डूब रहा हो, तो वे उसे बचाएँगे नहीं, बल्कि सापेक्षिक घनत्व के बारे में सोचेंगे।

कोई भूखा मर रहा हो, तो बुद्धिवादी उसे रोटी नहीं देगा। वह विभिन्न देशों के अन्न उत्पादन आँकड़े बताने लगेगा।

बीमार आदमी को देखकर वह दवा का इंतजाम नहीं करेगा। वह विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट उसे पढ़कर सुनाएगा।

कोई उसे अभी आकर खबर दे कि तुम्हारे पिताजी की मृत्यु हो गई, तो बुद्धिवादी दुःखी नहीं होगा। वह वंश-विज्ञान के बारे में बताने लगेगा।

हमने चंदे की उम्मीद छोड़ दी। अगर हमने बुद्धिवादी से चंदा माँगा, तो वह दुनिया की अर्थव्यवस्था बताने लगेगा।

अब हमने अपने-आपको बुद्धिवादी को सौंप दिया।

वह सोच रहा था, सोच रहा था। सोचकर बड़ी गहराई से वह खोजकर लाया वह सत्य, जिसे आज तक कोई नहीं पा सका था। बोला, ''टु माई माइंड, अवर ग्रेटेस्ट एनिमी इज़ पावर्टी।'' (मेरे विचार में, हमारा सबसे बड़ा शत्रु गरीबी है।)

एक वाक्य सूत्र रूप में कहकर बुद्धिवादी ने हमें सोचने के लिए वक्त दे दिया। हमने सोचा, खूब सोचा। मगर गरीबी की समस्या के हल के लिए फिर बुद्धिवादी की तरफ लौटना पड़ा। मैंने पूछा, ''गरीबी दुनिया से कैसे मिट सकती है?''

बुद्धिवादी ने कहा, ''मैंने सोचा है। पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों मनुष्य-विरोधी हैं। ये दोनों गरीबी नहीं मिटा सकते। हमें आधुनिक तकनीकी साधनों का प्रयोग करके खूब उत्पादन बढ़ाना चाहिए।''

मैंने पूछा, ''मगर वितरण के लिए क्या व्यवस्था होगी?''

बुद्धिवादी ने कहा, ''वही मैं आजकल सोच रहा हूँ। एक थ्योरी बनाने में लगा हूँ।''

मनुंष्य जाति की तरफ आशा की एक किरण बढ़ाकर बुद्धिवादी चुप हो गया।

मेरे साथी ने कहा, ''हमें समाज का नव-निर्माण करना पड़ेगा।''

बुद्धिवादी ने फिर हम बौनों को घूरकर देखा। बोला, ''समाज का पहला फर्ज़ यह है कि वह अपने को नष्ट कर ले। सोसाइटी मस्ट डेस्ट्राय इटसैल्फ! यह जाति, वर्ण और रंग और ऊँच-नीच के भेदों से जर्जर समाज पहले मिटे, तब नया बने।''

सोचा, पूछूँ—सारा समाज नष्ट हो जाएगा तो प्रकृति को मनुष्य बनाने में कितने लाख साल लग जाएँगे? मैंने पूछा नहीं। यह सोचकर संतोष कर लिया कि सिर्फ मैं समझता हूँ, यह अहसास आदमी को नासमझ बना देता है।

बुद्धिवादी मार्क्सवाद की बात कर लेता है। फ्रॉयड और आइन्सटीन की बात कर लेता है। विवेकानंद और कन्फ्यूसियस की बात कर लेता है। हर बात कहकर हमें उसे समझने और पचाने का मौका देता है। वह जानता है, ये बातें हम पहली बार सुन रहे हैं।

हम पूछते हैं—फिर दुनिया की बीमारी के बारे में आपने क्या सोचा है? किस तरह यह बीमारी मिटेगी?

वह आँख बंद कर लेता है। सोचता है! हम बड़ी बात सुनने के लिए तैयार हो जाते हैं। बुद्धिवादी कहता है—अल्टीमेटली आई हेव टु रिटर्न टु गेंडी। (आखिर मुझे गांधी की तरफ लौटना पड़ता है।) 'लव्ह'—प्रेम।

बुद्धिवादी अब क्रांतिकारिता पर आ गया है। कहता है—स्टुडेंट पावर! यूथ पावर ! हमें अपने समाज के युवा वर्ग को आजादी देनी चाहिए। वही पलटेंगे इस दुनिया को। वही बदलेंगे। जो कौम अपने युवा वर्ग को दबाती है, वह कभी ऊपर नहीं उठ सकती। यह किताब देखिए प्रोफेसर मार्क्यूज़ की। यह कोहेन बेंडी की किताब!

बुद्धिवादी गंभीर हो गया। उसने अंतिम सत्य कह दिया।

हम उठने की तैयारी करने लगे। इसी वक्त नौकर ने एक लिफाफा लाकर उन्हें दिया।

बुद्धिवादी चिट्ठी पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते उसमें परिवर्तन होने लगे। 35 डिग्री का कोण धीरे-धीरे कम होने लगा। बुद्धिवादी सीधा बैठ गया। होंठ की मरोड़ मिट गई। आँखों में बैठी बुद्धि गायब हो गई। उसकी जगह परेशानी आ गई। चेहरा सपाट हो गया। साँस ज़ोर से चलने लगी। बुद्धिवादी निहायत बौड़म लगने लगा।

बुद्धिवादी ने चिट्ठी को मुट्ठी में कस लिया। चश्मा उतार लिया। हम नंगी आँखें देख रहे थे। वे बुझ गई थीं। चमक चश्मे के साथ ही चली गई थी। दंभ शायद मुट्ठी में चिट्ठी के साथ दब गया था।

मैंने कहा, "आप परेशान हो गए। सब खैर तो है।"

बुद्धिवादी हतप्रभ था। वह हमारे सामने अब उस असहाय बच्चे की तरह हो गया जिसका खिलौना बाल्टी में गिर गया हो।

गहरी साँस लेकर बुद्धिवादी ने कहा, "यह जमाना आ गया!"

मैंने पूछा, "क्या हो गया?"

बुद्धिवादी ने कहा, "लड़की अपनी मौसी के घर लखनऊ गई थी। वहीं उसने शादी कर ली। हमें पता तक नहीं।"

मैंने पूछा, "लड़का क्या करता है?"

बोले, "इंजीनियर है।"

मैंने कहा, "फिर तो अच्छा है।"

बुद्धिवादी उखड़ पड़ा, "क्या अच्छा है? मैं उसे जेल भिजवाकर रहूँगा।"

हमारे सामने एक महान क्षण उपस्थित था। मनुष्य जाति के आंतरिक संबंधों के बारे में कोई महान सत्य निकलनेवाला है उनके मुख से। अब उनका मुँह पूरा खुलने लगा है। चश्मा लगाए वे तब होंठों की सम्पुट के कोने से गुरु-गंभीर आवाज निकालते थे। अब पूरा मुँह खोलकर बोलते हैं।

बुद्धिवादी इस स्थिति का क्या विश्लेषण देता है। यूथ पावर? स्त्री-पुरुष-संबंधों की बुनियाद? विवाह की स्वतन्त्रता?

हम उनके मुँह की तरफ देखते हैं। उनकी परेशानी बढ़ती जाती है। चिट्ठी को वे लगातार भींच रहे हैं। वे शायद पत्नी को यह खबर बताने को आतुर हैं। पर हम यह जानने को आतुर हैं कि इतनी अच्छी शादी को लेकर ये परेशान क्यों हैं? जरूर इसमें कोई महान दार्शनिक तथ्य निहित है, जो सिर्फ बुद्धिवादी समझता है।

मैंने कहा, ''लड़का-लड़की बड़े हैं। शादी मौसी के यहाँ हुई। वर अच्छा है। फिर आप दुःखी और परेशान क्यों हैं? हम जिज्ञासुओं को वह रहस्य बताइए ताकि हम जीवन के प्रति बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपना सकें।''

उन्होंने नंगी-बुझी आँखों से हमारी तरफ देखा। फिर अत्यन्त भारी आवाज में कहा, ''वह लड़का कायस्थ है न!''

◆

एक लड़की : पाँच दीवाने

गोर्की की कहानी है, '26 आदमी और एक लड़की'। इस लड़की की कहानी लिखते मुझे वह कहानी याद आ गई। रोटी के एक पिंजड़ानुमा कारखाने में 26 मजदूर सुअर से भी बदतर हालत में रहते और काम करते हैं। मालिक की जवान लड़की जब निकलती है, वे सब सींखचों से उसे देखते हैं। जीवन के रेगिस्तान में थोड़ी हरियाली आती है। वे उसे देवी जैसी पूजते हैं। अलग-अलग और इकट्ठे उससे प्रेम करते हैं। एक दिन जब वह अपने उच्चवर्गीय प्रेमी के साथ बाहर निकलती है, वे आदतन उसे झाँकते हैं। लड़की कहती है—सुअर कहीं के! और प्रेमी के साथ चली जाती है।

पर जिस लड़की की कहानी मैं लिख रहा हूँ, वह बड़े आदमी की लड़की नहीं, गरीब मध्यवर्गीय परिवार की बड़ी लड़की है, पिता सरकारी नौकर है। पत्नी बच्चे पैदा करने में गांधारी की स्पर्धा करती है। गांधारी ने अंधे पति से 100 बेटे पैदा कर दिए थे, इस औरत ने जवानी में ही आँखोंवाले पति से 4 पैदा कर लिए हैं। पाँचवें का शिलान्यास हो गया है। मरियल है। पूरा खाने को नहीं मिलता। शरीर में खून नहीं। हड्डी-ही-हड्डी है।

बड़ी लड़की विशेष दुर्बल नहीं है। वही खाना बनाती है। माँ तो लगातार प्रसूती ही रहती है। लगता है, लड़की खाना बनाते-बनाते एकाध रोटी ज्यादा निगल लेती होगी। रोटी बड़े-बड़े क्रांतिकारियों को कमजोर बनाती है। चे गुएवारा ने डायरी में लिखा है कि एक बहादुर गुरिल्ला साथी एक दिन चोरी से डबलरोटी के दो टुकड़े खा गया। दूसरे दिन उसे दंड में नाश्ता नहीं दिया गया।

लड़की छरहरी है। सुंदरी है। और गरीब की लड़की है।

मोहल्ला ऐसा है कि लोग 12-13 साल की बच्ची को घूर-घूरकर जवान बना देते हैं। वह समझने लगती है कि कहाँ घूरा जा रहा है। वह उन अंगों पर ध्यान देने लगती है। ब्लाउज को ऊँचा करने लगती है। नीचे कपड़ा रख लेती है। कटाक्ष का अभ्यास करने लगती है। पल्लू कब खसकाना और कैसे खसकाना—यह अभ्यास करने लगती है। घूरने से शरीर बढ़ता है।

आँखें बड़ी ताकतवर होती हैं।

रहीम ने कहा है :

रहिमन मन महाराज के, दृग सों नहीं दिवान।
जाहि देख रीझे नयन, मन तेहि हाथ बिकान।।

मन के दीवानजी होते हैं, नयन। नयनों के उपयोग के ज्ञानी उनका असर जानते हैं। अगर आँखों का असर भीतर पड़ रहा है, तो स्त्री लॉकेट हाथ में लेकर उसे हिलाने लगती है। लॉकेट न हो तो साड़ी के पल्ले को अँगुली पर लपेटने लगती है। थोड़ी कठिनाई उसके साथ होती है, जो स्वेटर बुन रही है। पर ध्यान से देखो तो वह भी दो-चार खाने गलत बुन देती है और उन्हें उकेलकर फिर बुनने लगती है। बाकी चलतू साफ ही कह देती हैं—आज तो आपसे ही आइसक्रीम खाएँगे। चलिए।

लड़की को बाकी घूरनेवाले अब हताश होकर कहीं और घूर रहे हैं। अब कुल पाँच दीवाने बचे हैं, जो सामने बैठते या चक्कर लगाते हैं। चक्कर लगाता प्रेमी बैठे प्रेमी से सवाया पड़ता है, क्योंकि वह मेहनत करता है। फिर परंपरा से कूचे की खाक छानता चला आ रहा है। लड़की अठारह साल की हो रही है। उभार पर है। छज्जे पर आकर देखने लगती है, तो उपस्थित दीवाना समझता है कि मेरे ही लिए खड़ी है और मुझी को देख रही है। पाँचों दीवाने एक साथ सिर्फ शाम को होते हैं, क्योंकि वे दिन में काम पर जाते हैं। दिन में जो हाजिर होता है, वह छज्जा देखता रहता है, आँखें मिलाता है, हावभाव करता है।

सामने एक अधेड़ जनरल मर्चेंट की दूकान है। नीचे क्रॉकरी की। क्रॉकरीवाला जवान है, मगर उसकी मुसीबत यह है कि छज्जा सिर के ऊपर पड़ता है। जनरल मर्चेंट के बगल में किताबों की दूकान है, जिसका मालिक 40 साल का खूबसूरत आदमी है। ठीक सामने के दो कमरे के मकान में एक जवान आदमी रहता है, जो बीमा कंपनी में काम करता है और 5-6 सौ से ऊपर ही कमा लेता है। यह 3-4 घंटे ही बाहर रहता है। बाकी समय घर में काटता है। क्वाँरा है। घर के सामने एक हलवाई की दूकान है। 50 पर पहुँचता होगा पर वह भी दीवाना है।

दीवाना नंबर-1

इसे कुल 3-4 घंटे का काम है। माल यहाँ से वहाँ सप्लाई करके बरी हो जाता है और जनरल मर्चेंट की दूकान पर आकर बैठ जाता है। आर्थिक कठिनाई में रहता है। इसने दाढ़ी बढ़ा ली है। दाढ़ी अलग-अलग तरह की होती है—प्रेमी की दाढ़ी अलग, मुल्ला की अलग और

मुफलिस की अलग। इसने प्रेमी की दाढ़ी बढ़ा ली है। 'ट्रिम' करवाता है। दाढ़ी दीन भी होती है और रोबदार भी। यह दाढ़ीवाले के व्यक्तित्व और आँखों के भाव से मालूम हो जाता है। कुछ दाढ़ियाँ क्षमा-याचना करती मालूम होती हैं। इस प्रेमी का विश्वास है कि दाढ़ी बढ़ाकर आँखों में भिखारीपन लेकर औरत का सामना करो तो वह आकर्षित हो जाती है। यह दाढ़ी और दीनता लिए कभी दूकान पर बैठकर छज्जा देखता रहता है या फिर सामने की सड़क पर टहलता है।

यह सही है कि कुछ औरतों को दाढ़ी पसंद होती है। मैंने सुना है, कुछ औरतें पति की दाढ़ी को इतना पसंद करती हैं कि सुबह दाढ़ी में टूथपेस्ट लगाकर उसी से ब्रश कर लेती हैं।

यह प्रेमी सिर्फ देखता है। वह छज्जे पर ऑक्सीजन लेने आती है तो दाढ़ीवाला समझता है कि वह उसी को देखने आई है और दीन हो जाता है। वह करुणा में से प्रेम निकालना चाहता है। करुणा में से प्रेम निकलता भी है। गाँव की चलतू औरत कहती है—इत्ते बड़े-बड़े आदमी के लड़के और मेरे गोड़ (पाँव) पड़ें। मेरा तो जी पसीज जाए है। नहीं करते नहीं बनै।

दाढ़ीवाले को कभी-कभी लड़की का सामीप्य प्राप्त होता है। नीचे के नल से लड़की का भाई बाल्टियाँ भरकर ऊपर ले जाता है। कभी वह नहीं होता, लड़की पानी भरने आती है। तब दाढ़ीवाला प्रेमी पानी की बाल्टियाँ उठाकर दरवाजे तक रख आता है। वह कहती है—बड़ी तकलीफ की तुमने भैया! दाढ़ीवाला 'भैया' संबोधन से बहुत डरता है। कहीं यह राखी न बाँधने लगे! दाढ़ीवाले प्रेमी को 7-8 घंटे जनरल मर्चेंट की दूकान पर बैठने के लिए बहाना चाहिए। वह कहता है—बड़े भैया, मैं तो फुरसत में रहता हूँ। कुछ काम हो, तो बता दिया करिए। दूकानदार उसे पार्सल छुड़ाने और माल सप्लाई करने भेज देता है। सेठ ने बाहर का काम करनेवाले नौकर को निकाल दिया है।

दीवाना नंबर-2

यह 30 साल के लगभग है। गोरा और साधारणतः देखने में अच्छा है। इसे दूसरों से कुछ ज्यादा सुभीते भी हैं और कुछ असुविधाएँ भी। सुभीता यह है कि वह रुपए उधार दे देता है, पर उधार लेने लड़की का बाप आता है। वह चाहता है, लड़की आए। कहता है—तुम क्यों तकलीफ करते हो? बच्चों को भेज दिया करो। पर बाप खुद ही उधार लेने आता है, या लड़की की माँ आ जाती है। असुविधा इस दीवाने की यह है कि लड़की ऊपर रहती है। वह उसे देख नहीं सकता। पीछे की तरफ जाता है, तो वहाँ ऊपर लकड़ी की जाली लगी है। लड़की उसे दिखती नहीं है। मजबूरी में वह पुस्तक-प्रेमी हो गया है। वह सामने की किताब की दूकान पर बैठता है एकाध घंटे और मुआवजे के रूप में गुलशन नंदा की कोई किताब खरीद लाता है।

इधर एक तरीका उसने और निकाला। सब्जी का ठेलेवाला थोड़ी दूर पर, जहाँ रोज

काफी सब्जी खरीदनेवाले परिवार रहते हैं, खड़ा होता है। क्रॉकरीवाले ने सोचा कि ठेलेवाला यहाँ भी खड़ा हो, तो वह सब्जी खरीदने नीचे आया करेगी। उसने ठेलेवाले से कहा—इधर भी खड़े रहा करो। उसने उम्मीद की कि भाव-ताव को लेकर बात होगी। कभी उसके पास पैसे न होंगे, तो मैं उधार में दिला दूँगा और बाद में चुकारा कर दूँगा।

ठेलेवाले ने कहा—यहाँ, भाई साब, खरीदनेवाले ही नहीं हैं।

दीवाने ने कहा—हैं क्यों नहीं? एक-दो रोज देखो।

ठेलेवाला दरवाजे के पास खड़ा होकर आवाज लगाने लगा। लड़की ऊपर से आई। उसने पूछा—आलू क्या भाव दिए?

इतने में दीवाना क्रॉकरी के ग्राहक को छोड़कर ठेले के पास आ गया। प्रेम में बड़ा त्याग करना पड़ता है। ग्राहक खोना पड़ता है।

ठेलेवाले से कहा—ठीक भाव से देना। और लड़की से आँखें मिलाने लगा।

लड़की ने कहा—पाव किलो आलू दे दो। सब्जीवाला निराश हुआ। क्रॉकरीवाला नैतिक संकट में आ गया।

उसने कहा—ए, एक किलो दे दो। बाकी पैसे कल ले जाना।

सब्जीवाले ने भरोसा कर लिया। उसने एक किलो तौल दिए। पर सब्जीवाले को रोज वहाँ रोकने के लिए इतनी खरीद काफी नहीं थी। क्रॉकरीवाले ने लड़की के बाकी पैसे दिए और घर के लिए दो-तीन किलो सब्जी और खरीद ली। उसे भरोसा हो गया कि सब्जीवाला अब रोज यहाँ खड़ा होगा और मेल-जोल बढ़ेगा।

पर प्रेम का रास्ता काँटों का रास्ता है। पता नहीं, इस सनातन मार्ग पर कब कांक्रीट की सड़कें बनेंगी। अभी भी प्रेम में काँटों भरी पगडंडी पर से चलना पड़ता है। योजना आयोग को अगली योजना में प्रेम की कांक्रीट की सड़कों का प्रावधान करना चाहिए।

बात यह हुई कि जब क्रॉकरीवाला जवान दोपहर को सब्जी लेकर घर पहुँचा और उसके पिता ने सब्जी देखी, तो डाँटा—तुझसे किसने कहा था कि सब्जी ला? यह कचरा उठा लाया।

बात यह है कि पिता रिटायर्ड बेकार आदमी हैं। वह सुबह झोला लेकर सब्जी-बाजार चल देते हैं। दस दूकानें देखते हैं और बढ़िया सब्जी खरीदते हैं।

नतीजा प्रेमी के लिए बुरा हुआ। दूसरे दिन से उसने सब्जी खरीदना बंद कर दिया और ठेलेवाले ने वहाँ रुकना बंद कर दिया। अब ऊपर के परिवार को सब्जी चाहिए, तो छोटी लड़की दूर खड़े ठेले से पाव किलो आलू खरीद लाती है। अब इस दीवाने को कुल इतना सहारा है कि सामने की किताब की दूकान पर बैठे, देखे और नजर बचाकर हल्का-सा इशारा कर दे।

दीवाने अपने बरताव से लड़की को चतुर बनाए दे रहे हैं। भोली लड़की सुविधा की होती है। उसे पटाना आसान होता है। पर ये दीवाने उसे काइयाँ बना रहे हैं। यह इन्हीं के हित के विरुद्ध जा रहा है। अब वह लड़की आसान नहीं रही।

दीवाना नंबर-3

यह सामनेवाला हलवाई है। निहायत गंदी चड्डी और मैल से काली बनियान पहनकर भट्टी के सामने सवेरे बैठ जाता है। दाढ़ी खिचड़ी है और कई दिन बनाता नहीं है। दाँत पीले हैं, नाक को नाक नहीं, आलू-बंडा कहा जा सकता है। जलेबी के बाद वह आलू-बंडे और ···और भजिए बनाता है।

यह विकट दीवाना है। छज्जे की तरफ देखते हुए कड़ाही में चमचा चलाता है। जलेबी जल भी जाती है। कभी कच्चे-कच्चे आलू-बंडे निकाल लेता है। तेल खाली जलता रहता है और वह छज्जे पर लड़की को देखता रहता है। फिर उसे जलेबी दिखाकर अपने पीले दाँतों से हँसता है। समझता है, गरीब की लड़की है, आकर जलेबी ले जाएगी। पर वह नहीं आती। एक दिन छोटी लड़की को उसने जलेबी दे दी थी। कहने लगा—सब लोग बाँटकर खाना। उसका मतलब था, वह मेहबूबा भी खा ले। पर मेहबूबा ने छोटी को डाँट दिया—फिर उससे जलेबी लेगी, तो पिट जाएगी। इधर यह दीवाना पीले दाँत निकाले और नथुने फैलाए छज्जे की तरफ देख रहा था कि वह अब आई, अब आई, पर वह नहीं आई। तब दीवाना दूकान के इस कोने, उस कोने खड़ा होकर देखने लगा कि भीतर ही दिख जाए। लड़की सब कुछ भीतर से देख रही थी। आखिर वह बाहर छज्जे पर आकर खड़ी हो गई और हलवाई की तरफ देख लिया। वह कृतार्थ हो गया। उस वक्त वह आकर कहती कि मैं तुम्हारा तला हुआ हाथ खाऊँगी, तो वह पंजा तलकर उसे खिला देता।

लोग उससे पूछते—तुम्हारी उम्र कितनी है? 50 के पार तो होगी? वह कहता है—30 से ऊपर नहीं है। पाँच साल से भट्टी के सामने बैठ रहा हूँ, इसलिए उमर ज्यादा लगती है। पाँच साल पहले देखते। अच्छे-अच्छे घरों की मरती थीं। दो-तीन तो जलकर मर गई थीं मेरे प्रेम में।

जब वह छज्जे पर आती है, हलवाई पीले दाँत निकालकर, थुथने फैलाकर साँड की तरह दूर से सूँघता है कि तैयार हुई कि नहीं।

दीवाना नंबर-4

यह खिलाड़ी है। कई जगह खेलता है। पैसेवाले का लड़का है। चेन सावधानी से कुरते के बाहर रखता है। यह अक्सर शाम को आता है। इसका विश्वास है, ट्यूबलाइट में आदमी ज्यादा खूबसूरत लगता है। इसका आना किसी को पसंद नहीं—इसके अच्छे कपड़ों और चेन के कारण। पर तब लड़की चूल्हा फूँकती रहती है। आसपास के ट्यूबलाइट बेकार चले जाते हैं। एक-दो बार वह लड़की छज्जे पर आकर पसीना पोंछने लगती है। यह दीवाना समझता है कि चेन उसे दिख गई। यह सोने की चेन से बाँधकर उसे खींचना चाहता है। यह प्रेमी बड़े जोर-जोर से शेखियाँ बघारता है, ठहाका लगाता है···वह सुन ले कि कोई मस्ताना उसके लिए बेताब है। पर लड़की तब भीतर चूल्हा फूँकती होती है। दीवाना वहाँ लोगों को चाय पिलाता है···वह देख ले कि मैं इतना उदार हूँ। पर वह चूल्हा फूँकती है। जोर से कहता

है—अरे, हजारों रुपए फूँक दिए हैं, यहाँ तो पैसे को मिट्टी समझते हैं। जरूरतमंद हो और माँगे, तो हजार-दो हजार दे देते हैं। और भूल जाते हैं।

पर लड़की इसकी यह दैवी उदारता सुन नहीं पाती, क्योंकि रोटी बनाती होती है।

इस दीवाने ने समय गलत चुना। इसे शाम के पहले, सवेरे या दोपहर को आना चाहिए।

पर इसकी भी मजबूरी है। इसके चेहरे पर चेचक के हल्के दाग हैं, इसलिए इसे ट्यूबलाइट में ही आना पड़ता है।

यह भी किताब की दूकान पर थोड़ी देर बैठता है। वहाँ से रसोई बनाने का कोना दिख जाता है। फिर यह याद लिये हुए घर चला जाता है।

दीवाना नंबर-5

इसे सबके बाद इसलिए ले रहा हूँ कि यह 100 फीसदी दीवाना है। एकमात्र गंभीर और समर्पित दीवाना। गोरा आदमी है। अकेले जिंदगी काट रहा है। हर स्त्री पर मोहित हो जाता है। पर जबसे उस लड़की पर इसकी नजर पड़ी है, यह बिल्कुल उसी का हो गया है। रात-दिन उसी की याद में लिप्त रहता है। काम में मन नहीं लगता। लोगों से बात करता है, तो या तो उसी की बात करता है, या गुमसुम उसके बारे में सोचता रहता है। ठीक सामने रहने के कारण भीतर से भी उसे बैठकर या लेटे हुए देखता रहता है।

यों 'सेक्स' यहाँ-वहाँ जमाता रहा है। इसे हर 6 महीने में मकान बदलना पड़ता है।

एक दोपहर को घबराया मेरे पास आया, कहने लगा—मोहल्ले में पिटने की नौबत आ गई है।

मैंने पूछा, तो उसने बताया—मकान मालकिन गरीब है। उसने एक कमरा मुझे किराए पर दे रखा है। वह खुद एक से फँसी है। लड़की को मैंने पटा लिया था। एक लड़का भी है, जो मैट्रिक की परीक्षा में बैठनेवाला है। आज दोपहर को लड़की आ गई, माँ ऊपर सो रही थी। हम दोनों बिस्तरे में थे कि माँ आ गई। देखा तो चिल्लाई—अरे इसे क्या चकला घर समझ रखा है? भले आदमियों के मोहल्ले में ये कारनामे? मेरी लड़की को बिगाड़ रहे हो! मैं अभी मोहल्लेवालों को पुकारती हूँ और तुम्हारी बोटी-बोटी करवाती हूँ!

मैंने पूछा—फिर तुमने क्या किया?

उसने कहा—मैंने उसके पाँव पकड़ लिए और कहा, मुझे माफ कर दो।

मैंने पूछा—लड़की से उसने क्या किया?

कहने लगा—कुछ खास नहीं। एक हल्का-सा चाँटा मारा और कहा—चल, हरामजादी, ऊपर! लफंगों के चक्कर में फँसती है! मैं इस बदमाश को अभी पिटवाती हूँ। मैंने फौरन साइकिल उठाई और आपके पास भागा चला आ रहा हूँ। क्या करूँ? मेरा वहाँ सामान पड़ा है। एक पेटी में काफी रुपया भी है। मैं लौटने में डरता हूँ। क्या सचमुच वह मुझे पिटवा देगी?

मैंने कहा—हाँ।

उसने कहा—पर मोहल्लेवालों को क्या मतलब? वे जानते हैं, वह औरत एक से फँसी है। क्या वे लोग मेरी बात नहीं मानेंगे?

मैंने कहा—बिल्कुल नहीं मानेंगे। उसी की बात मानेंगे, हंगामा करेंगे। तुम्हें पीटेंगे। ऐसे हंगामे मोहल्ले की नीरसता भंग करते हैं। महीने में एकाध लड़की भगाई न जाए, या कोई बलात्कार न हो, तो मोहल्ले के निवासी बहुत बोर होते हैं।

वह काफी घबराया हुआ था।

मैंने पूछा—आज या कल लड़की की माँ से तुम्हारी कुछ बात हुई थी?

उसने कहा—हाँ, रात को और सवेरे मेरे पास बैठी रही। पैसे की तकलीफ बताती रही। कह रही थी—परसों मुन्ना की 50 रुपए परीक्षा-फीस भरनी है। बड़ी परेशानी है। कुछ समझ में नहीं आता। सुबह भी वही चिंता बताती रही कि मुन्ना की फीस भरनी है।

मैं मामला समझ गया। मैंने कहा—फौरन घर जाओ, पेटी से पचास रुपए निकालो, ऊपर उसके पास जाकर उसे रुपए दो और कहो—लो, मुन्ना की फीस भर दो। जैसा तुम्हारा लड़का, वैसा मेरा भाई। पैसा तो आता-जाता रहता है। लड़के का साल बर्बाद नहीं होना चाहिए। इसके सिवा कोई और रास्ता पिटने से बचने का नहीं है।

यों ही उन्हें पसीना आ रहा था। पचास की बात सुनकर उन्होंने पीने को पानी माँगा।

कहने लगे—पर उसने पीटनेवाले इकट्ठे कर रखे हों, तो?

मैंने कहा—मैं निश्चित कहता हूँ, उसने अभी तक किसी से कुछ भी नहीं कहा होगा। वह तुम्हारी राह देख रही होगी।

वह बोले—पचास तो बहुत होते हैं। मेरा काम तो आधा भी नहीं हुआ था।

मैंने कहा—पचास दे दोगे, तो पिटने से तो बचोगे ही, रात को वह तुम्हारा पूरा काम करवा देगी। इस तरह डेवढ़ा काम हो जाएगा।

वह बड़ी घबराहट में गए।

दूसरे दिन मिले, तो मैंने पूछा—पिटे तो नहीं?

उन्होंने कहा—नहीं।

मैंने पूछा—उसने रुपए ले लिए?

वह बोले—हाँ, कहने लगी कि अरे भैया, तुम तो घर के ही हो। मुसीबत में तुम काम नहीं आओगे तो कौन आएगा!

मैंने पूछा—और रात को उसने पूरा काम तुम्हारा करवा दिया न?

वह बोले—हाँ, करवा दिया, आपने ठीक कहा था कि डेवढ़ा हो जाएगा।

मैंने कहा—अब उस मकान को फौरन छोड़ो और बहुत ही तकलीफ 'उस' मामले में हो, सुभीते का मामला न जमे, तो गांधीजी की शिक्षा के अनुसार चलो।

उन्होंने पूछा—गांधीजी ने इस 'सेक्स' के मामले में क्या सिखाया है, सिवा ब्रह्मचर्य के?

मैंने कहा—नहीं, उन्होंने अछूतोद्धार भी सिखाया है। 1-2 रुपयों में अछूतोद्धार कर लिया करो।

वह गांधीभक्त हो गए।

अछूतोद्धार पर अधिक ध्यान देने लगे।

ब्राह्मण 500-600 रुपए कमानेवाला, देखने में अच्छा—फिर भी शादी न हो, यह एक सवाल बहुत लोगों के मन में उठता है। परदेशी है यहाँ। एक समस्या तो यही है कि लड़कीवालों के सामने कौन सिद्ध करे कि यह ब्राह्मण ही है? उसकी वंशावली कौन बताए? परिवार के कोई बुजुर्ग दिलचस्पी लेते दिखते नहीं हैं।

ऐसा नहीं है कि लड़कीवाले आते नहीं हैं। वह खुद भी तलाश करके लड़कीवालों के यहाँ जाता है।

पर सुना है, एक विशेषता है उसमें। वह लड़की की अपेक्षा उसकी माँ पर ज्यादा ध्यान देने लगता है। इससे एक तो लड़की बिचकती है, दूसरे माँ उसे कुछ 'यों ही' समझने लगती है। कुछ लोगों ने समझाया कि माँ को जरूर खुश करो, पर उसे माँ समझकर खुश करो। वह जवाब देता है—मैं क्या करूँ? जिस परिवार में जाता हूँ, वहाँ माँ और लड़की दोनों मेरे ऊपर मरने लगती हैं?

यह समस्या बड़ी टेढ़ी है। माँ पर ध्यान देता है, तो लड़की बिचकती है और माँ लफंगा समझने लगती है, जहाँ माँ अनुकूल होने लगे, वहाँ वह लड़की को काटती है—तेरा यहाँ क्या काम है? जाकर पढ़ती क्यों नहीं? माँ और बेटी दोनों प्र एक साथ डोरे डालना खतरनाक होता है। कुछ पुरुष सोचते हैं कि लड़की नहीं तो माँ ही हाथ लग जाए। लड़की से तो शादी भी करनी पड़ सकती है। पर इधर यह प्रेमी लोगों से कहता जरूर है कि माँ मेरे पीछे पड़ी है। उस आदमी की बड़ी आफत है, जिसे दुनिया की हर स्त्री अच्छी लगती है और जो यह समझता है कि दुनिया की हर स्त्री मुझ पर जान देती है। ऐसे में एक भी स्त्री हाथ नहीं पड़ती।

यह प्रेमी नंबर 5 लड़की के पीछे दीवाना है। वह उससे शादी करना चाहता है। बिल्कुल डूबा है। लड़की भी अनुकूल लगती है। वह इसी की तरफ ज्यादा ध्यान देती है।

दीवानों ने खुद एक सीधी लड़की को जो सहज ही फँसती, काँइयाँ बना दिया है और अपना ही नुकसान कर लिया है।

प्रेमी रोज एक-दो प्रेम-कविताएँ लिखता है। प्रेमानुभूति प्रसार माँगती है। वह लोगों को सुनाता भी है। कविताएँ अच्छी होती हैं। सीधी भी होती हैं—मेरे पास आओ तो—बैठो तो, मैं तुम्हारा हाथ सहलाऊँ और चूम लूँ—वगैरह।

देखा-देखी तो बहुत हो चुकी। निकटता कैसे हो? प्रेमी बड़ा आविष्कारक होता है। लड़की का बाप शराब-प्रेमी है। इतवार की एक शाम उसने उसे बुलाया—मिसिरजी, आइए न। यहीं बैठें। मिसिरजी आकर बैठ गए।

प्रेमी ने ठर्रे का अद्धा खोल लिया और चालू हो गया। मिसिरजी जब आधी से ज्यादा

पी गए तो प्रेमी ने कहा—आपको लड़की की शादी भी तो करना है। मिसिरजी ने झोंकते हुए कहा—मुझे क्या चिंता? तुम जैसा दामाद किस···वाले को मिलेगा? तुम तो मेरे दामाद ही हो गए। दुनिया कुछ भी कहे। सबकी माँ की···

उसने प्रेमी को गले लगा लिया।

प्रेमी को रात-भर नींद नहीं आई।

सुबह मिसिरजी घर से निकले तो प्रेमी ने पुकारा—मिसिरजी, ज़रा सुनिए तो।

मिसिरजी ने चलते-चलते कहा—ड्यूटी का टाइम हो रहा है, फिर मिलूँगा। उनका नशा उतर गया था।

एक नैतिकतावादी

यह सीधा, खूबसूरत पुस्तक विक्रेता है। तीन बच्चे हैं। अच्छी पत्नी है। इसके लिए दुनिया में दूसरी और कोई औरत नहीं है।

मैं कभी-कभी उनके पास बैठता हूँ। वे पीड़ित हैं। कहते हैं—यह क्या चला है मोहल्ले में? बड़ी खराब बात है। तमाम हल्ला फैला हुआ है। यह बंद होना चाहिए।

फिर कहने लगे—हमारी भी बदनामी हो रही है। वे तीन दीवाने हमारी दूकान पर आकर उससे आँखें लड़ाते हैं और इशारे करते हैं। इससे हमारे धंधे पर असर पड़ेगा। मैंने उनमें से दो से तो साफ कह दिया कि यहाँ न बैठा करो।

मैंने थोड़े हल्के 'मूड' में कहा—तुम तो हो बुद्धू! मैंने देखा है कि वह लड़की तुम्हारी तरफ बहुत देखती है। वह तुमसे बहुत आकर्षित है। तुम एकाध बार उसकी तरफ देख तो लिया करो।

उन्होंने कहा-फालतू बात मत करो। हम इन झंझटों में नहीं पड़ते। हमारी 'वाइफ' है।

मैंने कहा—यार, एकमात्र 'वाइफ' से काम नहीं चलता। तुम बहुत अरसिक हो। ऐसी-ऐसी खूबसूरत लड़कियाँ किताबें खरीदने आती हैं और तुम उनसे 5-10 पैसे कमीशन के लिए झिकझिक करते हो। कल यह जो पी-एच.डी. वाली आई थी, कैसे प्रेम से बातें कर रही थी। कहती थी—हम तो फर्स्ट इयर से आपके पास आ रही हैं। कहीं और जाती ही नहीं हैं और तुम उससे कहते थे, पाँच पैसे से ऊपर कमीशन हम नहीं देंगे। बेचारी कितनी निराश हुई! तुम्हें तो उसे किताबें यों ही दे देना था कि लो, ले जाओ, पढ़ो।

उनका जवाब था—जी हाँ, खूबसूरत औरतों को किताबें यों ही देता जाऊँ, तो तीन बच्चे मैंने पैदा कर रखे हैं, उनका पालन क्या वह पी-एच.डी. वाली करेगी?

फिर वे नैतिकता, सदाचार, एक-पत्नीव्रत और पतिव्रत धर्म की बातें करने लगे।

मैंने कहा—धर्मग्रंथ इस मामले में बहुत छूट देते हैं। देखो, पत्नीव्रत से पतिव्रत धर्म बड़ा होता है। पर तुलसीदास ने कहा है, उत्तम नारी के बारे में :

उत्तम कर अस बस मन माहीं,
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।

अर्थात् उत्तम स्त्री वह है जिसके लिए सपने में भी कोई पुरुष पराया नहीं है—सब अपने ही हैं।

इस पर उनका रिमार्क था—तुम्हारा दिमाग विकृत है! तुम उलटे और गलत अर्थ निकालते हो। अच्छा हुआ, जो तुमने पढ़ाने का धंधा छोड़ दिया। हम इस सब को पसंद नहीं करते। मैं उस तीसरे प्रेमी का भी आना बंद करा दूँगा।

और वे मुहल्ले की अनैतिकता पर और ग़मगीन हो गए।

फिर प्रेमी नंबर-5

इस प्रेमी की बात मैंने बीच में छोड़ दी थी। यह आदर्श प्रेमी है। जो होनेवाले ससुर को पहले से ही दारू पिलाए, वह आदर्श प्रेमी होता है। पर सुबह नशा उतरने के बाद वह यह जरूर सोचता होगा कि संभावित आदर्श दामाद शराब पीता है। रात को लगभग डेढ़ पौआ पीकर जो गले लगाकर दामाद बना लेता है, वह सुबह यह कहकर बरका जाता है कि ड्यूटी पर जाना है। टाइम हो रहा है। दिन में उससे पक्की बात ही नहीं होती। घर में जाने का सिलसिला ही शुरू नहीं हो रहा।

लड़की की माँ चतुर है। वह सब समझ रही है।

एक दिन लड़की के घर में आटा नहीं था। चूल्हा ठंडा पड़ा था। माँ ने छोटी लड़की को प्रेमी के पास भेजा। बोली—सामनेवाले बाबूजी से कहना कि हमें थोड़ा आटा दे दें। हमारे घर आने पर लौटा देंगे। लड़की गई।

प्रेमी प्रेम में सिर से पाँव तक डूबा है।

कहता है—मैं उसके लिए प्राण भी दे सकता हूँ, प्रेमिका भूखी बैठी है!

प्रेमी ने झट से लगभग दो किलो आटा लड़की को दे दिया।

मगर उसके जाने के बाद डायरी निकालकर उसके नाम दो किलो आटा और उसकी कीमत लिख ली।

मुझे ऐसे आदर्श प्रेमी बड़े अच्छे लगते हैं जो प्राण देने को तैयार हैं, मगर भूखी प्रेमिका को जो आटा देते हैं, उसकी कीमत उसके खाते में लिख लेते हैं। प्राण की कोई कीमत है? बाजार में कौन खरीदता है प्राण? आटा फिर भी एक किलो डेढ़ रुपए का होता है। हिसाब प्रेम में जरूर होता है। कहीं प्रेम में फल नहीं आए या शादी न हुई तो कम-से-कम हिसाब तो रिकार्ड में रहेगा।

लड़की कभी दाल भी ले जाती है और प्रेमी उसकी कीमत प्रेमिका के खाते में डाल लेता है।

मिसिरजी कहते हैं—तिवारीजी, 'एरीअर्स' मिलनेवाले हैं। मिलते ही सब चुकता कर दूँगा।

पर प्रेमी सोचता है, आटा, दाल और नकद के 'एरीअर्स' छोड़ो। प्रेम के जो 'एरीअर्स' हो गए हैं, वे तो जल्दी चुक जाएँ।

आखिर एक दिन छोटी लड़की ने सुबह आकर कहा—भैया, अम्मा ने कहा है कि भोजन दोपहर को हमारे यहाँ करना।

प्रेमी थोड़ी देर तो सन्न बैठा रहा।

फिर विचलित हुआ। आखिर घर में जाने का सिलसिला बँधा।

दोपहर के खाने को तीन घंटे थे। इतना समय कैसे काटे? क्या सिनेमा का मेटिनी शो देख आए? खुशी से अर्द्धविक्षिप्त हो गया। मन को लगाए रखने के लिए सामान सँभालने लगा। उसमें भी मन नहीं लगा। सड़क पर निकल पड़ा। चौराहे तक गया। बगल की दूकान से पान खाया। लौटा तो फिर पान खाया। फिर दूसरे चौराहे तक गया। इस बार इधर के पानवाले से पान खाया। फिर दूसरे चौराहे की तरफ गया और फिर पान खाया। पानवालों ने कहा—आज तिवारीजी, पंद्रह-पंद्रह मिनट में पान खा रहे हैं। क्या बात है? वह दोनों चौराहों तक छः बार जा चुका था और 24 पान खा चुका था। पता नहीं पानों का हिसाब उसने प्रेमिका के खाते में लिखा या नहीं। फिर थककर बैठ गया और 'बच्चन' के गीत पढ़ने लगा—'आज न सोऊँगा, न सोने दूँगा तुमको हे मनभीने!' कई बार गाया।

फिर स्नान किया। झक-झक धोती और कुरता पहना। चेहरे पर स्नो लगाया और बिना आसपास देखे चोर की तरह सीढ़ियाँ चढ़ गया।

बड़े प्रेम से उन लोगों ने खाना खिलाया। खाने के बाद लड़की की माँ ने कहा—भैया, काहे को हाथ से रोटी बनाते हो? यहीं खा लिया करो।

सुनकर प्रेमी को थोड़ी देर तो होश नहीं रहा। फिर होश में आया तो बोला—आप लोगों की इच्छा है, तो खा लिया करूँगा। पर आप लोगों के भी खर्चे लगे हैं। आपको साठ रुपए हर महीने लेने पड़ेंगे।

माँ ने कहा—आपस में पैसे की क्या बात है? आप तो शाम से ही खाना शुरू कर दो।

छः-सात आदमी का खाना वैसे ही बनता है। दाल में थोड़ा पानी ज्यादा डाल दो और सब्जी में भी, तो सिर्फ चार-पाँच रोटियों की ही जरूरत तो है। साठ रुपए गरीब परिवार को बहुत मदद है।

शाम को प्रेमी खाने गया तो पहले साठ रुपए माँ के हाथ में रखे।

इधर बाकी दीवानों की दुनिया में तहलका मच गया—साले ने वहाँ रोटी खाना शुरू कर दिया। इसे पीटकर मोहल्ले से भगाना पड़ेगा।

प्रेमी दोनों टाइम आसपास बिना देखे सीढ़ियाँ चढ़ जाता है।

एक दिन हलवाई कहने लगा—भैया, कोई दिन हमारी जलेबी भी चखा दो।

पहले खाना माँ और छोटी लड़की परोसती थी, फिर बड़ी परोसने लगी। वह खाना कम और हाव-भाव ज्यादा परोसती थी।

सब दीवानों ने मिलकर सीधी लड़की को चतुर बना दिया है।

पंद्रह-बीस दिन बाद एक दोस्त ने कहा—तिवारीजी, कुछ दुबले लग रहे हो। भोजन

तो वहाँ अच्छा मिलता है न?

प्रेमी ने कहा—भोजन तो अच्छा मिलता है, पर ज़रा भूख ही कम हो गई है।

मित्र ने कहा—हाँ, भावातिरेक में खाया नहीं जाता।

प्रेमी ने कहा—हाँ, ऐसा ही है।

मित्र ने कहा—कुछ संकेत से आइडिया देती है।

प्रेमी ने कहा—हाँ, माँ की नजर बचाकर पल्ला लापरवाही से खिसकाकर ऊपर की चीज क्षण-भर को दिखा देती है।

और वह ध्यानमग्न हो गए।

मित्र सच्चा है। प्रेमी से सहानुभूति है। चाहता है, इसकी शादी उससे हो ही जाए।

पर माँ-बाप जाँच रहे हैं। भरोसा कर लेना चाहते हैं। इधर प्रेमी ने उस ऊपरवाली चीज को क्षण-भर कभी दिखा देने के उपलक्ष्य में साठ रुपए के सत्तर रुपए कर दिए।

तीन महीने भोजन का सिलसिला चला, फिर एक दिन वह बंद हो गया।

मित्र ने पूछा, तो बोला—वहाँ अब खाना नहीं खाऊँगा। होटल में खाऊँगा।

फिर उसने हिसाब की किताब निकाली और दाल-चावल, नकद का टोटल करके बोला—ढाई सौ रुपए खर्च हो गए। अब तो चाहे जो हो, मैं उसे लेकर भाग जाऊँगा। चाहे नौकरी चली जाए, चाहे भूखा मर जाऊँ, मैं उसके बिना रह नहीं सकता।

दोस्त ने पूछा—क्या वह भागने को तैयार है और कानूनी हिसाब से बालिग हो गई है?

प्रेमी ने कहा—भागेगी क्यों नहीं? जरूर भागेगी। बालिग-फालिग की मैं परवाह नहीं करता। मैं उसके लिए जेल जा सकता हूँ, प्राण दे सकता हूँ।

फिर उसने हिसाब की कापी देखी और कहा—ढाई सौ रुपए चले गए।

दोस्त ने पूछा—पर संबंध खराब कैसे हो गए?

प्रेमी ने कहा—अरे, वे आदमी और औरत ऐसे ही हैं।

दोस्त ने अंदाज लगाया कि इसकी तुनकमिजाजी के कारण शायद संबंध बिगड़े हों, या यह उतावली में कुछ आगे बढ़ने लगा हो।

प्रेमी अब उस घर की तरफ देखता नहीं है।

बाकी दीवाने रिमार्क करते हैं उसे सुनाकर—कट गई पत्ती! कट गई!

एक दिन प्रेमी अपने दोस्त से कहने लगा—लड़की के माँ-बाप अब मुझसे डरने लगे हैं। जानते हैं कि लड़की मुझ पर मोहित है। कहीं मैं कुछ कर न बैठूँ। उसे लेकर भाग न जाऊँ।

दोस्त ने कहा—लड़की पहले चाहे जो कहे, अक्सर भागने के वक्त पीछे हट जाती है। कहती है—हृदय से तो मैं तुम्हारी हूँ और हमेशा रहूँगी। लड़कियों को ये मुहावरे रटे रहते हैं।

प्रेमी ने कहा—वह ऐसी नहीं है। साहसी है। इसी वक्त उसे घर से निकाल सकते हैं।

फिर कहने लगा—वे लोग चाहते हैं कि मैं यह मकान छोड़ दूँ। छोड़ूँगा, तो पैसे लेकर छोड़ूँगा। यों ही नहीं छोड़ दूँगा। कहूँगा—पचास रुपए दो, तो मकान छोड़ देता हूँ।

आदर्श प्रेमी के यही लक्षण होते हैं।

वह उदास रहता है। चिढ़ता है। हर आदमी को अपना शत्रु समझता है।

दोस्त ने सलाह दी—पुराने खयालात के आदमी हैं। घर से किसी बुजुर्ग को बुला लो। वे बाकायदा संबंध की बात कर लेंगे।

प्रेमी ने कहा—बुजुर्गों की ऐसी की तैसी! जब सालों ने इस उम्र तक परवाह नहीं की, तो अब मैं उन्हें नहीं बुलाऊँगा। जो करना होगा, मैं करूँगा। मैं क्रांतिकारी आदमी हूँ।

लड़की

गरीब आदमी की है। घर का सब काम करती है—रोटी बनाना, घर साफ करना, कपड़े धोना। सीधी, भोली लड़की। थोड़ी देर पढ़ने चली जाती थी। अभी-अभी उसने किसी तरह मैट्रिक पास किया है। उसे लगता था, यही उसकी जिंदगी है।

पर दीवानों ने अपनी हरकतों से उसे भान करा दिया कि उसके पास रोटी बनाने, कपड़े धोने और घर साफ करने के सिवा कुछ और भी है, जो घर के नहीं, बाहरवालों के काम का है। यों उम्र पाकर हर लड़की को यह बोध हो ही जाता है, पर इसे थोड़ा पहले ही दीवानों ने करा दिया। इसीलिए वह छज्जे पर बार-बार आकर घर के दमघोंट वातावरण से मुक्ति पाती रही और लगातार समझती रही कि वह क्या है, जो घर के नहीं, बाहर के काम का है।

17 साल तक पहुँचते-पहुँचते वह समझ गई कि गरीबी के कारण उसकी शादी होना कठिन है। उसका दम यहीं घुट जाएगा। या किसी ऐसे के गले मढ़ दी जाएगी, जहाँ वह यहाँ से भी ज्यादा घुटे।

वह सोचने लगी कि प्रेमी नंबर पाँच से ही शादी हो जाए, तो ठीक हो, बाकी दीवानों को वह जानने लगी थी। शादी करने का इच्छुक वही सिर्फ दीवाना नंबर पाँच था। 18 पार कर रही थी। चाहती थी कि सस्ती मैली साड़ी, हलके ब्लाउज और खोपरे के तेल सँवारे बाल किसी को गंभीरता से अच्छे लगें। प्रेमी नंबर पाँच उसकी इस सादी सुंदरता पर मुग्ध होता, तो उसे अच्छा लगता कि गरीबी और भुखमरी के बाद भी मुझमें कुछ है, जो इसे अच्छा लगता है।

मगर लड़की को दीवानों ने खुद ही चतुर बना दिया था। तीन महीने घर में वह भोजन करने आता, तो माँ-बाप तो उसे जाँचते ही थे, लड़की भी जाँच रही थी।

सबको यह विश्वास हो गया था कि इसे दहेज वगैरह की चाह नहीं है। शादी सस्ते में निपट जाएगी।

पर सबको तीन महीने के अनुभव से यह समझ में आ गया था कि यह आदमी तुनकमिजाज, अस्थिर और कुछ भी कर उठनेवाला है। यह बारात में से भी लौट जा सकता है।

वे उसके प्रति ठंडे होने लगे, पर लड़की उष्णता का अहसास उसे देती रही। यह उष्णता जो वापस लौटे, उसकी भी जरूरत थी।

लड़की को फुरसत ही नहीं मिलती कि वह कहीं जाए।

चार-पाँच मकान आगे एक परिवार रहता है। गृह-मालकिन अच्छी है। उसे वह 'मौसी' कहती है। लड़की कभी-कभी मौसी के घर जाती है। एक-दो घंटे बैठती है। उसे वहाँ अच्छा लगता है। मौसी भी उसे चाहती है। सोचती है, कैसी सुंदर लड़की, सुशील और भली। पर गरीबी तेरा बुरा हो। इसकी शादी नहीं हो रही है। जिस घर में भी पहुँच जाएगी, उजाला कर देगी।

नैतिकतावादी पुस्तक-विक्रेता कहता है—हम तो जानते थे कि एक दिन ऐसा.होगा।

हम जानते थे

मोहल्ले के लोग कहते हैं—जो छज्जे पर खड़ी मर्दों को देखती है, वह ऐसा ही तो करेगी !

कुछ कहते हैं—ठीक ही हुआ।

दीवाने कहते हैं—साली छिनाल निकल गई!

औरतें कहती हैं—किसे पता था कि यह लड़की ऐसा करेगी।

क्या हुआ? पेट बढ़ गया? गर्भ गिरा दिया गया?

नहीं।

एक दिन लड़की ने माँ से कहा—माँ, मेरा मैट्रिक का सर्टिफिकेट पेटी में से निकाल दे। लड़कियों के स्कूल में नौकरी मिल जाएगी।

माँ खुश हुई। सौ-सवा सौ और घर में आएँगे।

फिर वह एकाएक हलवाई के पास गई और बोली—चाचाजी, आज तो जलेबी खायेंगे।

'चाचाजी' सुनकर हलवाई खिन्न तो हुआ, पर पीले दाँत निकालकर कहा—जितनी चाहो, खाओ, तुम्हारी ही तो दूकान है।

उसने एक पुड़े में जलेबी बाँध दी। लड़की घर ले आई।

माँ ने कहा—ये क्यों ले आई?

लड़की ने कहा—माँ, आज मुझे नौकरी मिलेगी न, उसी खुशी में।

फिर दाढ़ीवाले प्रेमी को दो बाल्टियाँ देकर कहा—भैया, जरा ये भरकर ऊपर रख देना। मेरी तबीयत ठीक नहीं है।

फिर क्रॉकरीवाले से कहा—मैं ज़रा एक काम से जा रही हूँ। भैया, ज़रा एक किलो आलू ऊपर भिजवा देना। अभी लौटकर पैसे दे दूँगी।

फिर प्रेमी नंबर पाँच के पास गई और बोली—मुझे पचास रुपए फौरन दे दो। बड़ी मुसीबत आ गई है।

प्रेमी गद्गद हो गया। पहली बार घर आई थी। उसने पचास रुपए फौरन दिए और उसका हाथ पकड़कर भीतर खींचते हुए बोला—एक बार तो पास आ जाओ।

लड़की ने कहा—नहीं, ये रुपए मैं माँ को देकर जल्दी आती हूँ। कहीं जाना मत। यहीं रहना।

वह घर गई, प्रेमी नंबर पाँच के दिए हुए साड़ी-ब्लाउज पहने। माँ से कहा—मौसी के घर जा रही हूँ। मौसियाजी के मारफत ही नौकरी लगनेवाली है।

मौसी का परिवार बड़ा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली। उन लोगों ने एक लड़का तय कर रखा था। माँ विधवा थी। लड़का बैंक में काम करता था। लड़की उसे पसंद थी। दिन तय कर रखा था। मैट्रिक का सर्टिफिकेट वह उम्र के सबूत के लिए ले गई थी।

वैदिक रीति से विवाह घंटे-भर में हो गया।

4 घंटे बाद लड़की लौटी, तो बढ़िया साड़ी और गहने पहने थी। पीछे दो रिक्शों में सामान था। लड़की के साथ लड़का बैठा था। सास-ससुर के पाँव छूने आया था।

वे दोनों ऊपर गए। पिता ड्यूटी पर था। उसने लड़की की माँ के पाँव पर सिर रखा।

अचरज यह कि माँ को अचरज नहीं हुआ। लड़का लौट गया। विदाई बाद में होने की थी।

लड़की छज्जे पर आई, इतना लंबा-चौड़ा और गहरा सिंदूर माँग में भरा था कि मील-भर से दिखता था।

घर के सामने भीड़-सी लग गई।

राहगीर पूछते—क्या बात है? कोई मौत हो गई क्या?

दूसरे राहगीर ने कहा—हाँ, लगता है, कोई मौत हो गई है।

तभी मोहल्ले के एक मसखरे ने कहा—एक नहीं, चार-पाँच मौतें हो गई हैं।

साधना का फौजदारी अंत

पहले वह ठीक था। अपर डिविज़न क्लर्क है। बीवी है, दो बच्चे हैं। कविता वगैरह का शौक है। तीसरा बच्चा होने तक यू.डी.सी. का काव्य-प्रेम बराबर रहता है। इसके बाद वह भजन पर आ जाता है—दया करो हे दयालु भगवन! और दयालु भगवन दया करके उसे परिवार-नियोजन केंद्र को भेज देते हैं, जहाँ लाल तिकोन में उसे ईश्वर की छवि दिखती है।

वह मेरे पास कभी-कभी आता। कविता सुनाता। कोई पुस्तक पढ़ने को ले जाता,

जिसे नहीं लौटाता।

दो-तीन महीने वह लगातार नहीं आया। फिर एक दिन टपक पड़ा। पहले जिज्ञासु की तरह आता था। अब कुछ इस ठाठ से आया जैसे जिज्ञासा शांत करने आया हो। उसका कुर्सी पर बैठना, देखना, बोलना सब बदल गया था। उसने कविता की बात नहीं की। सुबह के अखबार की खबरों की बात भी नहीं की।

बड़ी देर तो चुप ही बैठा रहा। फिर गंभीर स्वर में बोला, "मैं जीवन के सत्य की खोज कर रहा हूँ।"

मैं चौंका। सत्य की खोज करने वालों से मैं छटकता हूँ। वे अक्सर सत्य की ही तरफ पीठ करके उसे खोजते रहते हैं।

मुझे उस पर सचमुच दया आई। इन गरीब क्लर्कों को सत्य की खोज करने के लिए कौन बहकाता है? सत्य की खोज कई लोगों के लिए ऐयाशी है। यह गरीब आदमी की हैसियत के बाहर है।

मैं कुछ नहीं बोला। वही बोला, "जीवन-भर मैं जीवन के सत्य की खोज करूँगा। यही मेरा व्रत है।"

मैंने कहा, "रात-भर खटमल मारते रहोगे, तो सोओगे कब!"

वह समझा नहीं। पूछा, "क्या मतलब?"

मैंने कहा, "मतलब यह कि जीवन-भर जीवन के सत्य की खोज करते रहोगे, जिओगे क्या मरने के बाद?"

उसने कहा, "जीना? जीना कैसा? पहले जीवन के उद्देश्य को तो मनुष्य जाने।"

उसे रटाया गया था। मैंने फिर उसे पटरी पर लाने की कोशिश की। कहा, "देख भाई, बहुत-से बेवकूफ जीवन का उद्देश्य खोजते हुए निरुद्देश्य जीवन जीते रहते हैं। तू क्या उन्हीं में शामिल होना चाहता है?"

उसे कुछ बुरा लगा। कहने लगा, "आप हमेशा इसी तरह की बातें करते हैं। फिर भी मैं आपके पास आता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप भी सत्य की खोज करते हैं। आप जो लिखते हैं, उससे यही मालूम होता है।"

मैंने कहा, "यह तुम्हारा खयाल गलत है। मैं तो हमेशा झूठ की तलाश में रहता हूँ। कोने-कोने में झूठ को ढूँढ़ता फिरता हूँ। झूठ मिल जाता है, तो बहुत खुश होता हूँ।"

न वह समझा, न उसे विश्वास हुआ। वह मुझे अपनी तरह ही सत्यान्वेषी समझता रहा।

मैंने पूछा, "तुम एकदम से सत्यान्वेषी कैसे हो गए? क्या दफ्तर में पैसों का कोई गोलमाल किया है?"

उसने कहा, "नहीं, मुझे गुरु मिल गए हैं। उन्होंने मुझे सत्य की खोज में लगाया है।"

मैंने पूछा, "कौन गुरु हैं वे?"

उसने नाम बताया। मैं उन्हें जानता था।

यू.डी.सी. बोला, ''गुरुदेव की वाणी में अमृत है। हृदय तक उनकी बात पहुँच जाती है।''

मैंने पूछा, ''दिमाग तक बात पहुँचती है या नहीं?''

उन्होंने कहा, ''दिमाग! दिमाग को तो पलट देती है।''

इसका नमूना तो वह खुद था।

वह मेरे पास कभी-कभी आता। उसकी साधना लगातार बढ़ रही थी। एक दिन आते ही पूछने लगा, ''बताइए, मैं कौन हूँ?''

मैंने कहा, ''तुम बिहारीलाल हो, यू.डी.सी।''

उसने कहा, ''नहीं, यह भ्रम है। बिहारीलाल तो इस स्थूल चोले का नाम है। मैं शुद्ध-बुद्ध आत्मा हूँ।''

मैंने कहा, ''यार, महीने-भर पहले ही तेरे यहाँ बच्चा हुआ है। क्या आत्मा बच्चा पैदा कर सकती है?''

उसने कहा, ''आपका यह तर्क गलत है। गुरुदेव ने कहा है, ऐसे प्रश्नों का उत्तर मत दिया करो। कोई भी मेरे इस प्रश्न का ठीक जवाब नहीं देता। पत्नी से मैंने पूछा—मैं कौन हूँ? तो वह कहती है—तुम मेरे पति हो। बड़े लड़के से मैंने पूछा—मैं कौन हूँ ? तो वह कहता है—तुम हमारे पापा हो। दफ्तर के साहब से पूछा—सर, मैं कौन हूँ? तो उन्होंने जवाब दिया—तुम पागल हो। पर मैं निराश नहीं होता। गुरुदेव ने कहा है, लगातार इस प्रश्न का उच्चारण किया करो—'मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ?' एक दिन तुम इसका उत्तर पा जाओगे और अपने को जान जाओगे।''

वह दो-तीन महीने नहीं आया। उसके साथियों ने बताया कि वह पार्क में शाम को 'मैं कौन हूँ?' 'मैं कौन हूँ?' कहता हुआ नाचता रहता है। दफ्तर में भी दिनभर कहता रहता है—'मैं कौन हूँ?' फाइलों पर लिख देता है—'मैं कौन हूँ?' जहाँ उसे दस्तखत करने होते हैं वहाँ लिख देता है—'मैं कौन हूँ?'

एक दिन वह फिर आया। वही जीवन के सत्य की बातें करता रहा। गुरुदेव के गुणगान जब कर चुका तब मैंने उससे पूछा, ''तुम्हारे गुरु ने सत्य को पा लिया?''

उसने कहा, ''बहुत पहले।''

मैंने पूछा, ''वे कहाँ रहते हैं?''

उसने कहा, ''उनका आलीशान आश्रम है, एयरकण्डीशन है पूरा।''

मैंने पूछा, ''क्या गुरु की आत्मा को गर्मी लगती है।''

उसने कहा, ''गुरुदेव ने ऐसे प्रश्नों का जवाब देने से मना किया है।''

मैंने पूछा, ''तुम्हारे गुरुदेव के पास बढ़िया कार है न।''

उसने कहा, ''हाँ, है।''

फिर पूछा, ''वे बढ़िया भोजन भी करते होंगे?''

उसने कहा, ''हाँ, करते हैं।''

मैंने पूछा, ''क्या आत्मा को पकवानों की इतनी भूख लगती है?''

उसने कहा, ''गुरुदेव ने ऐसे प्रश्नों का जवाब देने से मना किया है।''

तब मैंने उससे कहा, ''तुम्हारे गुरु ने जीवन के सत्य को पा लिया है। इधर एअरकण्डीशण्ड मकान और कार वगैरह भी पा लिये हैं। उनके पास पैसा भी है। उन्होंने पैसा भी पा लिया है। यानि गुरु की दृष्टि में सत्य वह है, जो अपने को बंगला, कार और पैसे के रूप में प्रकट करता है। अच्छा, यह तो बताओ कि तुम्हारे गुरु को इतना पैसा कहाँ से मिलता है?''

उसने कहा, ''गुरुदेव के बारे में यह प्रश्न उठता ही नहीं है। वे अलौकिक पुरुष हैं। वे तो भगवान की कोटि में आने वाले हैं।''

मैंने उससे पूछा, ''तुम यूनियन में हो?''

उसने कहा, ''नहीं, गुरुदेव का आदेश है कि भौतिक लाभ के इन संघर्षों में साधक को नहीं पड़ना चाहिए।''

मैंने कहा, ''तो फिर गुरु का सत्य अलग है और तुम्हारा सत्य अलग है। दोनों के सत्य एक नहीं हैं। गुरु का सत्य वह है जिससे बंगला, कार और रुपया जैसी भौतिक प्राप्ति होती है। और तुम्हारे लिए वे कहते हैं कि भौतिक लाभ के संघर्ष में मत पड़ो। यह तुम्हारा सत्य है। इनमें कौन-सा सत्य अच्छा है? तुम्हारा या गुरु का ?''

वह मुश्किल में पड़ गया। जवाब उसे सूझा नहीं तो चिढ़ गया। कहने लगा, ''आप अश्रद्धालु हैं। ऊटपटाँग बातें करते हैं। मैं आपके पास नहीं आऊँगा।''

वह नहीं आया। मगर मुझे समाचार मिलते रहते थे कि साधना उसकी लगातार बढ़ रही है। वह दफ्तर के काम में गफलत करता है। फाइलों पर नोट की जगह लिख देता है—'मैं कौन हूँ?' साहब उसे बुलाते हैं तो चपरासी से कह देता है—मैं बिहारीलाल नहीं हूँ। मैं नहीं जानता, मैं कौन हूँ। मैं अपने को खोज रहा हूँ।

और एक दिन मुझे खबर मिली कि सस्पेण्ड कर दिया गया है।

एक दिन उसका एक साथी मुझे मिला। मैंने उसके बारे में पूछा तो उसने बताया कि अब वह गुमसुम रहता है और कुछ सोचता रहता है।

मैंने पूछा, '' 'मैं कौन हूँ?' प्रश्न करता है या नहीं?''

उसने बताया, ''अब 'मैं कौन हूँ?' प्रश्न नहीं करता। शायद उसे उत्तर मिल गया है। साधना का मामला है।''

काफी दिन बीत गये।

एक दिन वह अचानक आया। वह बदल गया था। दुखी था पर उसमें एक खास किस्म की दृढ़ता भी आ गयी थी। उसने सस्पेण्ड होने और व्यक्तिगत मुसीबतों की बातें बतायीं। सत्य-चर्चा उसने बिल्कुल नहीं की।

उसने कहा, ''मैं आपके पास इसलिए आया था कि कोई अच्छा फौजदारी वकील

करा दीजिए। आप तो बहुत वकीलों को जानते हैं।''

मैंने कहा, ''मामला क्या है?''

उसने कहा, ''मैंने फौजदारी की है। केस चलेगा।''

मैंने पूछा, ''कैसी फौजदारी?''

उसने तब मुझे बताया, ''आप तो मुझे साल-भर से देख ही रहे हैं। मैं सत्य की खोज में लगा था। 'मैं कौन हूँ?' के सिवा और कोई धुन मुझे नहीं थी। मैं इसमें बरबाद हो गया! जिन गुरुदेव ने मुझे इस रास्ते पर लगाया था, उनके पास मैं परसों गया। वे बोले—'आओ साधक, बैठो!' उस समय दो स्त्रियाँ उनके शरीर की मालिश कर रही थीं। मालिश निबटने के बाद उन्होंने मुझे अपनी पवित्र आँखों से देखा। पूछने लगे—'साधना कैसी चल रही है?' मैंने कहा—'गुरुदेव, साधना तो सफल हो गयी।' ''

''वे चौंके। पूछा, 'मैं कौन हूँ?' इस प्रश्न का उत्तर मिल गया? मैंने कहा—'नहीं, पर इस प्रश्न का ठीक उत्तर मिल गया कि तुम कौन हो।' ''

''और साहब, मैं गुरु पर टूट पड़ा। खूब पिटाई की। अब मुझे एक अच्छा वकील दिला दीजिए।''

उखड़े खम्भे

एक दिन राजा ने खीझकर घोषणा कर दी कि मुनाफाखोरों को बिजली के खम्भे से लटका दिया जाएगा।*

सुबह होते ही लोग बिजली के खम्भों के पास जमा हो गए। उन्होंने खम्भों की पूजा की, आरती उतारी और उन्हें तिलक किया।

शाम तक वे इंतजार करते रहे कि अब मुनाफाखोर टाँगे जाएँगे—और अब। पर कोई नहीं टाँगा गया।

लोग जुलूस बनाकर राजा के पास गए और कहा, ''महाराज, आपने तो कहा था कि मुनाफाखोर बिजली के खम्भे से लटकाये जाएँगे, पर खम्भे तो वैसे ही खड़े हैं और मुनाफाखोर स्वस्थ और सानंद हैं।''

राजा ने कहा, ''कहा है तो उन्हें खम्भों से टाँगा ही जाएगा। थोड़ा समय लगेगा। टाँगने के लिए फन्दे चाहिए। मैंने फन्दे बनाने का ऑर्डर दे दिया है। उनके मिलते ही, सब मुनाफाखोरों को बिजली के खम्भों से टाँग दूँगा।''

भीड़ में से एक आदमी बोल उठा, ''पर फन्दे बनाने का ठेका भी तो एक मुनाफाखोर ने ही ले लिया है।''

---

* सन्दर्भ : भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय पण्डित नेहरू की मशहूर घोषणा।

राजा ने कहा, ''तो क्या हुआ? उसे उसके ही फन्दे से टाँगा जाएगा।''

तभी दूसरा बोला, ''पर वह तो कह रहा था कि फाँसी लटकाने का ठेका भी मैं ही ले लूँगा।''

राजा ने जवाब दिया, ''नहीं, ऐसा नहीं होगा। फाँसी देना निजी क्षेत्र का उद्योग अभी नहीं हुआ है।''

लोगों ने पूछा, ''तो कितने दिन बाद वे लटकाये जाएँगे?''

राजा ने कहा, ''आज से ठीक सोलहवें दिन वे तुम्हें बिजली के खम्भों से लटके दीखेंगे।''

लोग दिन गिनने लगे।

सोलहवें दिन सुबह उठकर लोगों ने देखा कि बिजली के सारे खम्भे उखड़े पड़े हैं। वे हैरान कि रात को न आँधी आयी न भूकम्प आया, फिर ये खम्भे कैसे उखड़ गये!

उन्हें एक खम्भे के पास एक मजदूर खड़ा मिला। उसने बतलाया कि मजदूरों से रात को ये खम्भे उखड़वाये गये हैं। लोग उसे पकड़कर राजा के पास ले गये।

उन्होंने शिकायत की, ''महाराज, आप आज मुनाफाखोरों को बिजली के खम्भों से लटकाने वाले थे, पर रात में सब खम्भे उखाड़ दिये गये। हम इस मजदूर को पकड़ लाये हैं। यह कहता है कि रात को सब खम्भे उखड़वाये गये हैं।''

राजा ने मजदूर से पूछा, ''क्यों रे, किसके हुक्म से तुम लोगों ने खम्भे उखाड़े?''

उसने कहा, ''सरकार, ओवरसियर साहब ने हुक्म दिया था।''

तब ओवरसियर बुलाया गया।

उससे राजा ने कहा, ''क्यों जी, तुम्हें मालूम है, मैंने आज मुनाफाखोरों को बिजली के खम्भों से लटकाने की घोषणा की थी?''

उसने कहा, ''जी सरकार!''

''फिर तुमने रातों-रात खम्भे क्यों उखड़वा दिये?''

''सरकार, इंजीनियर साहब ने कल शाम को हुक्म दिया था कि रात में खम्भे उखाड़ दिये जायें।''

अब इंजीनियर बुलाया गया। उसने कहा कि उसे बिजली इंजीनियर ने आदेश दिया था कि रात में सारे खम्भे उखाड़ देना चाहिए।

बिजली इंजीनियर से कैफियत तलब की गयी, तो उसने हाथ जोड़कर कहा, ''सेक्रेटरी साहब का हुक्म मिला था।''

विभागीय सेक्रेटरी से राजा ने पूछा, ''खम्भे उखाड़ने का हुक्म तुमने दिया था ?''

सेक्रेटरी ने स्वीकार किया, ''जी सरकार!''

राजा ने कहा, ''यह जानते हुए भी कि आज मैं इन खम्भों का उपयोग मुनाफाखोरों को लटकाने के लिए करने वाला हूँ, तुमने ऐसा दुस्साहस क्यों किया?''

सेक्रेटरी ने कहा, ''साहब, पूरे शहर की सुरक्षा का सवाल था। अगर रात को खम्भे

न हटा लिए जाते, तो आज सारा शहर नष्ट हो जाता।''

राजा ने पूछा, ''यह तुमने कैसे जाना? किसने बताया तुम्हें?''

सेक्रेटरी ने कहा, ''मुझे विशेषज्ञ ने सलाह दी थी कि यदि शहर को बचाना चाहते हो तो सुबह होने के पहले खम्भों को उखड़वा दो।''

राजा ने पूछा, ''कौन है यह विशेषज्ञ? भरोसे का आदमी है?''

सेक्रेटरी ने कहा, ''बिल्कुल भरोसे का आदमी है सरकार! घर का ही आदमी है। मेरा साला होता है। मैं उसे हुजूर के सामने पेश करता हूँ।''

विशेषज्ञ ने निवेदन किया, ''सरकार, मैं विशेषज्ञ हूँ और भूमि तथा वातावरण की हलचल का अध्ययन करता हूँ। मैंने परीक्षण के द्वारा पता लगाया कि जमीन के नीचे एक भयंकर विद्युत-प्रवाह घूम रहा है। मुझे यह भी मालूम हुआ कि आज वह बिजली हमारे शहर के नीचे से निकलेगी। आपको मालूम नहीं हो रहा है, पर मैं जानता हूँ कि इस वक्त हमारे नीचे से भयंकर बिजली प्रवाहित हो रही है। यदि हमारे बिजली के खम्भे जमीन में गड़े रहते तो वह बिजली खम्भों के द्वारा ऊपर आती और उसकी टक्कर अपने पावरहाउस की बिजली से होती। तब भयंकर विस्फोट होता। शहर पर हजारों बिजलियाँ एक साथ गिरतीं। तब न एक प्राणी जीवित बचता, न एक इमारत खड़ी रहती। मैंने तुरन्त सेक्रेटरी साहब को यह बात बतायी और उन्होंने ठीक समय पर उचित कदम उठाकर शहर को बचा लिया।''

लोग बड़ी देर तक सकते में खड़े रहे। वे मुनाफाखोरों को बिल्कुल भूल गये। वे सब उस संकट से अभिभूत थे, जिसकी कल्पना उन्हें दी गयी थी। जान बच जाने की अनुभूति से वे दबे हुए थे। चुपचाप लौट गये।

उसी सप्ताह बैंक में इन नामों से ये रकमें जमा हुई—

सेक्रेटरी की पत्नी के नाम पर—2 लाख रुपये
श्रीमती बिजली इंजीनियर— 1 लाख
श्रीमती इंजीनियर—1 लाख
श्रीमती विशेषज्ञ —25 हजार
श्रीमती ओवरसियर—5 हजार

उसी सप्ताह 'मुनाफाखोर संघ' के हिसाब में नीचे लिखी रकमें 'धर्मादा' खाते में डाली गयीं—

कोढ़ियों की सहायता के लिए दान— 2 लाख रुपये
विधवाश्रम को—1 लाख
क्षय रोग के अस्पताल को—1 लाख
पागलखाने को—25 हजार
अनाथालय को—5 हजार।...

तटस्थ

कुल छः साल जेल में रहे थे। तब नारा लगता–गुलामी के घी से आजादी की घास अच्छी है। इस नारे पर बहुत लोग जेल जाते थे। वे भी चले गये थे। सन् '47 के बाद भी लोग जेल जाते रहे। वे नहीं गये। अब कुछ समझ में नहीं आता। देश में क्या हो रहा है, क्या होना चाहिए, क्या करना चाहिए–कुछ समझ में नहीं आता। अब आजादी की घास खाते हैं और किनारे बैठे हैं।

मोटे चश्मे में से वे मुझे देखते हैं। फिर दीवार को देखते हैं। दोनों देखने में कोई भेद नहीं है। खिड़की पर उड़कर बैठी चिड़िया को भी उसी तरह देखते हैं। देखते हैं, यह भी पक्का नहीं है। चेहरा घुमाकर आँखें किसी की तरफ कर देते हैं, इसी से लगता है कि देख रहे हैं वरना आँखों में देखने जैसा कुछ नहीं होता।

मेरे हाथ में अखबार है। वे पूछते हैं, ''कौन-सा पेपर है?''

मैं नाम बताता हूँ। वे कहते हैं, ''अच्छा!''

कोई और नाम बताता तो वे कहते–अच्छा!

वे पूछते हैं, ''कहाँ से निकलता है?''

मैं कहता हूँ, ''बम्बई से।''

वे कहते हैं, ''बम्बई से भी बहुत पेपर निकलने लगे।''

मैं कहता कि दिल्ली से निकलता है, तो भी वे कहते–दिल्ली से भी बहुत पेपर निकलने लगे।

उन्होंने अखबार मेरे हाथ से ले लिया।

जोर से खबरें पढ़ते हैं और टिप्पणी करते जाते हैं।

–जबलपुर में छात्रों की हड़ताल!

''लड़के भी आजकल बड़ी ऊधम करने लगे हैं।''

–विजयवाड़ा के पास दो रेलगाड़ियों की टक्कर। पन्द्रह आदमी मारे गये।

''जिसकी आ गयी वह तो जाएगा ही।''

–इन्दौर में साम्प्रदायिक दंगा। आठ आदमी मारे गये। कई घायल। कई मकान जला दिये गये।

''दंगे भी आजकल बहुत होने लगे। लो आठ और मर गये।''

–बंगाल में नक्सलपंथियों द्वारा उपद्रव।

''ये नक्सलपंथी भी नये पैदा हो गये हैं।''

–पति ने पत्नी की नाक काटी।

''काट लो। तुम्हारी पत्नी है।''

–इस वर्ष देश अन्न में आत्मनिर्भर हो जायेगा–जगजीवनराम।

''हो जाये। अपने को दो रोटी तब भी मिलती थीं। दो आगे भी मिलेंगी।''

—लो छोड़ दिया चीन ने सेटेलाइट!

इस खबर पर वे कोई टिप्पणी नहीं करते।

—कलकत्ता में हड़ताली मजदूरों पर गोली चली।

''मजदूर भी खूब हड़ताल करने लगे हैं और पुलिस भी खूब गोली चलाती है।''

—तीसरा वेतन-आयोग बैठ गया।

''आयोग तो बैठते ही रहते हैं।''

—अमेरिका ने कम्बोडिया में फौज भेजी।

''यह पट्ठा अमेरिका भी चाहे जहाँ फौज भेजता रहता है।''

—अमेरिकी छात्रों द्वारा विरोध-प्रदर्शन।

''अच्छा, यह हवा उधर भी फैल गयी।''

—देश के धन को कुछ हाथों में नहीं रहने दिया जायेगा—इंदिरा गाँधी।

''मत रहने दो। सब अपने ही हाथों में ले लो।''—

पटना में दो आदमियों का खून।

''अच्छा फिर हत्या हो गयी।''

वे पन्ने पलटते जाते हैं। खबर का शीर्षक पढ़ते हैं और टिप्पणी करते हैं। हम सुन रहे हैं। बीच-बीच में आँखें हमारी तरफ कर देते हैं और हम समझते हैं, वे हमें देख रहे हैं। देख नहीं रहे हैं, तो भी उन्हें हमारे वहाँ हाजिर होने का एहसास तो है।

वे आखिरी पृष्ठ पर आ गये हैं।

''हुँ, प्लाजा टाकीज में 'प्रेम पुजारी।'···फिल्में भी आजकल बहुत बनने लगी हैं।''

—ओकासा मर्दों की जरूरतें पूरी करता है।

''कैसी-कैसी दवाइयाँ निकली हैं।''

अखबार वे पढ़ चुके। एक लम्बी जम्हाई लेते हैं। फिर हमारी तरफ देखते हैं। हमें जम्हाई नहीं आती। वे कुछ नाखुश होते हैं। मैं बनावटी जम्हाई लेता हूँ। वे खुश होते हैं।

पूछते हैं, ''कब आये?''

''आज ही।''

''अच्छा।''

मैं कहता—पन्द्रह दिन पहले आया, तब भी वे कहते—अच्छा!

पूछते हैं, ''कब वापस जाओगे?''

''कल।''

''अच्छा।''

मैं कहता कि अभी वापस नहीं जाऊँगा तो भी वे कहते—अच्छा!

पूछते हैं, ''उधर के क्या हाल हैं?''

''सब ठीक हैं।''

''अच्छा।''

मैं कहता कि उधर महामारी में सब मर गये, तब भी वे कहते–अच्छा!

पूछते हैं, ''सेवकजी कैसे हैं?''

''अच्छे हैं।''

''अच्छा।''

मैं कहता, सेवकजी को लकवा लग गया, तब भी वे कहते–अच्छा!

पूछते हैं, ''उधर भी मच्छर बहुत होंगे।''

मैं हैरत में हूँ कि अपने पुराने संग्राम-साथी सेवकजी से एकदम मच्छर पर ये कैसे आ गये!

कहता हूँ, ''इस मौसम में सभी जगह मच्छर बहुत हैं।''

वे फिर दीवार को देखते हैं। उसी तरह हमें देखते हैं।

एकाएक उन्हें लगता है कि सक्रिय हो जाना चाहिए। वे झोला में से तकली और पोनी निकाल लेते हैं और सूत कातने लगते हैं। कातते हैं और लपेटे में लपेटते हैं। कभी हमारी तरफ देख लेते हैं।

कातते-कातते बोलते जाते हैं, ''लोग मेरे से पूछते हैं कि तुम सिण्डिकेट में कि इण्डिकेट में? अरे बाबा, क्या सिण्डिकेट और क्या इण्डिकेट? सिण्डिकेट में होने से क्या इण्डिकेट का नहीं रह जाऊँगा? और इण्डिकेट में होने से क्या सिण्डिकेट का नहीं रहूँगा। बताओ ?''

हम कहते हैं, ''जी हाँ।''

'जी हाँ' उन्हें ठीक जवाब लगता है। वे कातने लगते हैं।

कहते हैं, ''क्या कम्युनिस्ट, क्या सोशलिस्ट और क्या कैपिटलिस्ट? अरे बाबा, ये सब राजनीति के चोचले हैं। मेरे पास आओ न। मैं राजनीति बताता हूँ।''

वे कातते और लपेटते हैं।

कहते हैं, ''लोग कहते हैं कि एटम बम बनाओ। बना लो। मैं क्या रोकता हूँ। पर एटम बनाने से भी क्या फायदा और नहीं बनाने से भी क्या फायदा।''

वे काफी कात चुके हैं। लपेट रहे हैं।

बोलते हैं, ''लोग मेरे पास आते हैं। कहते हैं–क्रांति करेंगे। तो करो न क्रांति। मैं क्या रोकता हूँ। पर क्रांति कर लोगे, तो भी क्या होने वाला है।''

एकाएक वे कातना बन्द कर देते हैं। कहते हैं, ''चालीस साल हमें सूत कातते हो गये। पर सूत कातने से भी क्या होता है।''

वे थके-से तकली और पोनी झोले में रख देते हैं और दीवार को देखने लगते हैं। फिर हमारी तरफ देखते हैं और हमें लगता है, हम दीवार हो गये हैं।

सदाचार का ताबीज़

एक राज्य में हल्ला मचा कि भ्रष्टाचार बहुत फैल गया है।

राजा ने एक दिन दरबारियों से कहा, ''प्रजा बहुत हल्ला मचा रही है कि सब जगह भ्रष्टाचार फैला हुआ है। हमें तो आज तक कहीं नहीं दिखा। तुम लोगों को कहीं दिखा हो तो बताओ।''

दरबारियों ने कहा, ''जब हुज़ूर को नहीं दिखा तो हमें कैसे दिख सकता है?''

राजा ने कहा, ''नहीं, ऐसा नहीं है। कभी-कभी जो मुझे नहीं दिखता, वह तुम्हें दिखता होगा। जैसे मुझे बुरे सपने कभी नहीं दिखते पर तुम्हें तो दिखते होंगे!''

दरबारियों ने कहा, ''जी, दिखते हैं। पर वह सपनों की बात है।''

राजा ने कहा, ''फिर भी तुम लोग सारे राज्य में ढूँढ़कर देखो कि कहीं भ्रष्टाचार तो नहीं है। अगर कहीं मिल जाये तो हमारे देखने के लिए नमूना लेते आना। हम भी देखें कि कैसा होता है।''

एक दरबारी ने कहा, ''हुज़ूर, वह हमें नहीं दिखेगा। सुना है, वह बहुत बारीक होता है। हमारी आँखें आपकी विराटता देखने की इतनी आदी हो गयी हैं कि हमें बारीक चीज नहीं दिखती। हमें भ्रष्टाचार दिखा भी तो उसमें हमें आपकी ही छवि दिखेगी, क्योंकि हमारी आँखों में तो आपकी ही सूरत बसी है। पर अपने राज्य में एक जाति रहती है जिसे 'विशेषज्ञ' कहते हैं। इस जाति के पास कुछ ऐसा अंजन होता है कि उसे आँखों में आँजकर वे बारीक चीज भी देख लेते हैं। मेरा निवेदन है कि इन विशेषज्ञों को ही हुज़ूर भ्रष्टाचार ढूँढ़ने का काम सौंपें।''

राजा ने 'विशेषज्ञ' जाति के पाँच आदमी बुलाये और कहा, ''सुना है, हमारे राज्य में भ्रष्टाचार है। पर वह कहाँ है, यह पता नहीं चलता। तुम लोग उसका पता लगाओ। अगर मिल जाये तो पकड़कर हमारे पास ले आना। अगर बहुत हो तो नमूने के लिए थोड़ा-सा ले आना।''

विशेषज्ञों ने उसी दिन से छान-बीन शुरू कर दी।

दो महीने बाद वे फिर दरबार में हाजिर हुए।

राजा ने पूछा, ''विशेषज्ञो, तुम्हारी जाँच पूरी हो गयी?''

''जी, सरकार।''

''क्या तुम्हें भ्रष्टाचार मिला?''

''जी, बहुत-सा मिला।''

राजा ने हाथ बढ़ाया, ''लाओ, मुझे बताओ। देखूँ, कैसा होता है।''

विशेषज्ञों ने कहा, ''हुज़ूर, वह हाथ की पकड़ में नहीं आता। वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म है, अगोचर है। पर वह सर्वत्र व्याप्त है। उसे देखा नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है।''

राजा सोच में पड़ गये। बोले, ''विशेषज्ञो, तुम कहते हो कि वह सूक्ष्म है, अगोचर है और सर्वव्यापी है। ये गुण तो ईश्वर के हैं। तो क्या भ्रष्टाचार ईश्वर है?''

विशेषज्ञों ने कहा, ''हाँ, महाराज, अब भ्रष्टाचार ईश्वर हो गया है।''

एक दरबारी ने पूछा, ''पर वह है कहाँ? कैसे अनुभव होता है?''

विशेषज्ञों ने जवाब दिया, ''वह सर्वत्र है। वह इस भवन में है। वह महाराज के सिंहासन में है।''

''सिंहासन में है''... कहकर राजा साहब उछलकर दूर खड़े हो गये।

विशेषज्ञों ने कहा, ''हाँ, सरकार, सिंहासन में है। पिछले माह इस सिंहासन पर रंग करने के जिस बिल का भुगतान किया गया है, वह बिल झूठा है। वह वास्तव से दुगने दाम का है। आधा पैसा बीच वाले खा गये। आपके पूरे शासन में भ्रष्टाचार है और वह मुख्यतः घूस के रूप में है।''

विशेषज्ञों की बात सुनकर राजा चिंतित हुए और दरबारियों के कान खड़े हुए।

राजा ने कहा, ''यह तो बड़ी चिन्ता की बात है। हम भ्रष्टाचार बिल्कुल मिटाना चाहते हैं। विशेषज्ञो, तुम बता सकते हो कि वह कैसे मिट सकता है?''

विशेषज्ञों ने कहा, ''हाँ महाराज, हमने उसकी भी योजना तैयार की है। भ्रष्टाचार मिटाने के लिए महाराज को व्यवस्था में बहुत परिवर्तन करने होंगे। एक तो भ्रष्टाचार के मौके मिटाने होंगे। जैसे ठेका है तो ठेकेदार है। और ठेकेदार है तो अधिकारियों को घूस है। ठेका मिट जाये तो उसकी घूस मिट जाये। इसी तरह और बहुत-सी चीजें हैं। किन कारणों से आदमी घूस लेता है, यह विचारणीय है।''

राजा ने कहा, ''अच्छा, तुम अपनी पूरी योजना रख जाओ। हम और हमारा दरबार उस पर विचार करेंगे।''

विशेषज्ञ चले गये।

राजा और दरबारियों ने भ्रष्टाचार मिटाने की योजना को पढ़ा। उस पर विचार किया।

विचार करते दिन बीतने लगे और राजा का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। एक दिन एक दरबारी ने कहा, ''महाराज, चिन्ता के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है। उन विशेषज्ञों ने आपको झंझट में डाल दिया।''

राजा ने कहा, ''हाँ, मुझे रात को नींद नहीं आती।''

दूसरा दरबारी बोला, ''ऐसी रिपोर्ट को आग के हवाले कर देना चाहिए जिससे महाराज की नींद में खलल पड़े।''

राजा ने कहा, ''पर करें क्या? तुम लोगों ने भी भ्रष्टाचार मिटाने की योजना का अध्ययन किया है। तुम्हारा क्या मत है? क्या उसे काम में लाना चाहिए?''

दरबारियों ने कहा, ''महाराज, वह योजना क्या है, एक मुसीबत है। उसके अनुसार कितने उलट-फेर करने पड़ेंगे! कितनी परेशानी होगी! सारी व्यवस्था उलट-पलट हो जाएगी। जो चला आ रहा है, उसे बदलने से नयी-नयी कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं। हमें तो कोई

ऐसी तरकीब चाहिए जिससे बिना कुछ उलट-फेर किये भ्रष्टाचार मिट जाये।''

राजा साहब बोले, ''मैं भी यही चाहता हूँ। पर यह हो कैसे? हमारे प्रपितामह को तो जादू आता था; हमें वह भी नहीं आता। तुम लोग ही कोई उपाय खोजो।''

एक दिन दरबारियों ने राजा के सामने एक साधु को पेश किया और कहा, ''महाराज, एक कन्दरा में तपस्या करते हुए इन महान् साधक को हम ले आये हैं। इन्होंने सदाचार का तावीज़ बनाया है। वह मन्त्रों से सिद्ध है और उसके बाँधने से आदमी एकदम सदाचारी हो जाता है।''

साधु ने अपने झोले में से एक तावीज़ निकालकर राजा को दिया। राजा ने उसे देखा। बोले, ''हे साधु, इस तावीज़ के विषय में मुझे विस्तार से बताओ। इससे आदमी सदाचारी कैसे हो जाता है?''

साधु ने समझाया, ''महाराज, भ्रष्टाचार और सदाचार मनुष्य की आत्मा में होता है; बाहर से नहीं होता। विधाता जब मनुष्य को बनाता है तब किसी की आत्मा में ईमान की कल फिट कर देता है और किसी की आत्मा में बेईमानी की। इस कल में से ईमान या बेईमानी के स्वर निकलते हैं, जिन्हें 'आत्मा की पुकार' कहते हैं। आत्मा की पुकार के अनुसार ही आदमी काम करता है। प्रश्न यह है कि जिनकी आत्मा से बेईमानी के स्वर निकलते हैं, उन्हें दबाकर ईमान के स्वर कैसे निकाले जायें? मैं कई वर्षों से इसी के चिन्तन में लगा हूँ। अभी मैंने यह सदाचार का तावीज़ बनाया है। जिस आदमी की भुजा पर यह बँधा होगा, वह सदाचारी हो जायेगा। मैंने कुत्ते पर भी प्रयोग किया है। यह तावीज़ गले में बाँध देने से कुत्ता भी रोटी नहीं चुराता। बात यह है कि इस तावीज़ में से भी सदाचार के स्वर निकलते हैं। जब किसी की आत्मा बेईमानी के स्वर निकालने लगती है तब इस तावीज़ की शक्ति आत्मा का गला घोंट देती है और आदमी को तावीज़ के ईमान के स्वर सुनायी पड़ते हैं। वह इन स्वरों को आत्मा की पुकार समझकर सदाचार की ओर प्रेरित होता है। यही इस तावीज़ का गुण है, महाराज!''

दरबार में हलचल मच गयी। दरबारी उठ-उठकर तावीज़ को देखने लगे।

राजा ने खुश होकर कहा, ''मुझे नहीं मालूम था कि मेरे राज्य में ऐसे चमत्कारी साधु भी हैं। महात्मन्, हम आपके बहुत आभारी हैं। आपने हमारा संकट हर लिया। हम सर्वव्यापी भ्रष्टाचार से बहुत परेशान थे। मगर हमें लाखों नहीं, करोड़ों तावीज़ चाहिए। हम राज्य की ओर से तावीज़ों का एक कारखाना खोल देते हैं। आप उसके जनरल मैनेजर बन जायें और अपनी देख-रेख में बढ़िया तावीज़ बनवायें।''

एक मन्त्री ने कहा, ''महाराज, राज्य क्यों इस संकट में पड़े? मेरा तो निवेदन है कि साधु बाबा को ठेका दे दिया जाये। वे अपनी मण्डली से तावीज़ बनवाकर राज्य को सप्लाई कर देंगे।''

राजा को यह सुझाव पसन्द आया। साधु को तावीज़ बनाने का ठेका दे दिया गया। उसी समय उन्हें पाँच करोड़ रुपये कारखाना खोलने के लिए पेशगी मिल गये।

राज्य के अखबारों में खबरें छपीं—'सदाचार के तावीज़ की खोज!' 'तावीज़ बनाने का कारखाना खुला!'

लाखों तावीज़ बन गये। सरकार के हुक्म से हर सरकारी कर्मचारी की भुजा पर एक-एक तावीज़ बाँध दिया गया।

भ्रष्टाचार की समस्या का ऐसा सरल हल निकल आने से राजा और दरबारी सब खुश थे।

एक दिन राजा की उत्सुकता जागी। सोचा—'देखें तो कि यह तावीज़ कैसे काम करता है !'

वह वेश बदलकर एक कार्यालय गये। उस दिन 2 तारीख थी। एक दिन पहले ही तनख्वाह मिली थी।

वह एक कर्मचारी के पास गये और कई काम बताकर उसे पाँच रुपये का नोट देने लगे।

कर्मचारी ने उन्हें डाँटा, "भाग जाओ यहाँ से! घूस लेना पाप है!"

राजा बहुत खुश हुए। तावीज़ ने कर्मचारी को ईमानदार बना दिया था।

कुछ दिन बाद वह फिर वेश बदलकर उसी कर्मचारी के पास गये। उस दिन इकतीस तारीख थी—महीने का आखिरी दिन।

राजा ने फिर उसे पाँच का नोट दिखाया और उसने लेकर जेब में रख लिया।

राजा ने उसका हाथ पकड़ लिया। बोले, "मैं तुम्हारा राजा हूँ। क्या तुम आज सदाचार का तावीज़ बाँधकर नहीं आये?"

"बाँधा है, सरकार, यह देखिए!"

उसने आस्तीन चढ़ाकर तावीज़ दिखा दिया।

राजा असमंजस में पड़ गये। फिर ऐसा कैसे हो गया?

उन्होंने तावीज़ पर कान लगाकर सुना। तावीज़ में से स्वर निकल रहे थे—"अरे, आज इकतीस है। आज तो ले ले!"

◆

भेड़ें और भेड़िये

एक बार एक वन के पशुओं को ऐसा लगा कि वे सभ्यता के उस स्तर पर पहुँच गये हैं, जहाँ उन्हें एक अच्छी शासन-व्यवस्था अपनानी चाहिए।

और, एक मत से यह तय हो गया कि वन-प्रदेश में प्रजातंत्र की स्थापना हो।

शीघ्र ही एक समिति बैठी, शीघ्र ही विधान बन गया और शीघ्र ही एक पंचायत के निर्माण की घोषणा हो गयी, जिसमें वन के तमाम पशुओं के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि हों

और जो वन-प्रदेश के लिए कानून बनाये और शासन करे।

पशु-समाज में इस 'क्रांतिकारी' परिवर्तन से हर्ष की लहर दौड़ गयी कि सुख, समृद्धि और सुरक्षा का स्वर्ण-युग अब आया और वह आया।

जिस वन-प्रदेश में हमारी कहानी ने चरण धरे हैं, उसमें भेड़ें बहुत थीं—निहायत नेक, ईमानदार, कोमल, विनयी, दयालु, निर्दोष पशु, जो घास तक को फूँक-फूँककर खाता है।

भेड़ों ने सोचा कि अब हमारा भय दूर हो जाएगा। हम अपने प्रतिनिधियों से कानून बनवायेंगे कि कोई जीवधारी किसी को न सताये, न मारे। सब जियें और जीने दें। शान्ति, स्नेह, बंधुत्व और सहयोग पर समाज आधारित हो।

और, इधर भेड़ियों ने सोचा कि हमारा अब संकटकाल आया। भेड़ों की संख्या इतनी अधिक है कि पंचायत में उनका ही बहुमत होगा। और अगर उन्होंने कानून बना दिया कि कोई पशु किसी को न मारे, तो हम खायेंगे क्या? क्या हमें घास चबाना पड़ेगा?

ज्यों-ज्यों चुनाव समीप आता, भेड़ों का उल्लास बढ़ता जाता।

एक दिन बूढ़े सियार ने भेड़िये से कहा—मालिक, आजकल आप बड़े उदास रहते हो।

हर भेड़िये के आसपास दो-चार सियार रहते ही हैं। जब भेड़िया अपना शिकार खा लेता है, तब ये सियार हड्डियों में लगे मांस को कुतर खाते हैं, और हड्डियाँ चूसते रहते हैं। ये भेड़िये के आसपास दुम हिलाते चलते हैं, उसकी सेवा करते हैं, और मौके-बेमौके 'हुआ-हुआ' चिल्लाकर उसकी जय बोलते हैं।

बूढ़े सियार ने बड़ी गंभीरता से पूछा—महाराज, आपके मुखचन्द्र पर चिन्ता के मेघ क्यों छाये हैं? वह सियार कुछ कविता भी करना जानता होगा या शायद दूसरे की उक्ति को अपनी बनाकर कहता हो।

खैर, भेड़िये ने कहा—तुझे क्या मालूम नहीं है कि वन-प्रदेश में नयी सरकार बनने वाली है? हमारा राज तो अब चला।

सियार ने दाँत निपोरकर कहा—हम क्या जानें महाराज! हमारे तो आप ही 'माई बाप' हो। हम तो कोई और सरकार नहीं जानते। आपका दिया खाते हैं, आपके गुन गाते हैं।

भेड़िये ने कहा—मगर अब समय ऐसा आ रहा है कि सूखी हड्डियाँ भी चबाने को नहीं मिलेंगी।

सियार सब जानता था मगर जानकर भी न जानने का नाट्य करना न आता, तो सियार शेर न हो गया होता!

आखिर भेड़िये ने वन-प्रदेश के पंचायत के चुनाव की बात बूढ़े सियार को समझायी और बड़े गिरे मन से कहा—चुनाव अब पास आता जा रहा है। अब यहाँ से भागने के सिवा कोई चारा नहीं है। पर जायें भी कहाँ?

सियार ने कहा—मालिक, सरकस में भरती हो जाइए।

भेड़िये ने कहा—अरे, वहाँ भी शेर और रीछ को तो ले लेते हैं, पर हम इतने बदनाम

हैं कि हमें वहाँ भी कोई नहीं पूछता।

'तो', सियार ने खूब सोचकर कहा—अजायबघर में चले जाइए।

भेड़िये ने कहा—अरे, वहाँ भी जगह नहीं है। सुना है वहाँ तो आदमी रखे जाने लगे हैं।

बूढ़ा सियार अब ध्यानमग्न हो गया। उसने एक आँख बंद की, नीचे के होंठ को ऊपर के दाँत से दबाया और एकटक आकाश की तरफ देखने लगा जैसे विश्वात्मा से कनेक्शन जोड़ रहा हो। फिर बोला—बस सब समझ में आ गया। मालिक, अगर पंचायत में आपकी भेड़िया-जाति का बहुमत हो जाय तो?

भेड़िया चिढ़कर बोला—कहाँ की आसमानी बात करता है? अरे, हमारी जाति कुल दस फीसदी है, और भेड़ें तथा अन्य छोटे पशु नब्बे फीसदी। भला वे हमें काहे को चुनेंगे ? कहीं जिन्दगी अपने को मौत के हाथ सौंप सकती है? मगर हाँ, ऐसा हो सकता, तो क्या बात थी!

बूढ़ा सियार बोला—आप खिन्न मत होइए सरकार, एक दिन का समय दीजिए। कल तक कोई योजना बन ही जायेगी। मगर एक बात है। आपको मेरे कहे अनुसार कार्य करना पड़ेगा!

मुसीबत में फँसे भेड़िये ने आखिर सियार को अपना गुरु माना और आज्ञापालन की शपथ ली।

दूसरे दिन बूढ़ा सियार अपने साथ तीन सियारों को लेकर आया। उसमें से उसने एक को पीले रंग में रँग दिया था, दूसरे को नीले में और तीसरे को हरे में।

भेड़िये ने देखा और पूछा—अरे, ये कौन हैं?

बूढ़ा सियार बोला—ये भी सियार हैं, सरकार—रँगेसियार हैं। आपकी सेवा करेंगे। आपके चुनाव का प्रचार करेंगे।

भेड़िये ने शंका की—मगर इनकी बात मानेगा कौन? ये तो वैसे ही छल-कपट के लिए बदनाम हैं।

सियार ने भेड़िये का हाथ चूमकर कहा—बड़े भोले हैं आप, सरकार! अरे मालिक, रूप-रंग बदल देने से तो सुना है, आदमी तक बदल जाते हैं। फिर ये तो सियार हैं।

और, तब बूढ़े सियार ने भेड़िये का रूप बदला। मस्तक पर तिलक लगाया, गले में कण्ठी पहनाई और मुँह में घास के तिनके खोंस दिये। बोला—अब आप पूरे सन्त हो गये। अब भेड़ों की सभा में चलेंगे। मगर तीन बातों का खयाल रखना—अपनी हिंसक आँखों को ऊपर मत उठाना, हमेशा जमीन की ओर देखना। और कुछ बोलना मत, नहीं तो सब पोल खुल जायेगी। और वहाँ बहुत-सी भेड़ें आयेंगी, सुन्दर-सुन्दर, मुलायम-मुलायम। तो कहीं किसी को तोड़ मत खाना।

भेड़िये ने पूछा—लेकिन ये रँगे सियार क्या करेंगे? किस काम आयेंगे?

बूढ़ा सियार बोला—ये बड़े काम के हैं। आपका सारा प्रचार तो ये ही करेंगे। इन्हीं

के बल पर आप चुनाव लड़ेंगे। यह पीलावाला बड़ा विद्वान है, विचारक है, कवि भी है, लेखक भी। यह नीला सियार नेता और पत्रकार है। और यह हरा धर्मगुरु है। बस अब चलो।

—जरा ठहरो! भेड़िये ने बूढ़े सियार को रोका—कवि, लेखक, नेता, विचारक—ये तो सुना है बड़े अच्छे लोग होते हैं। और ये तीनों...

बात काटकर सियार बोला—ये तीनों सच्चे नहीं हैं, रँगे हुए हैं, महाराज! अब चलिए देर मत करिए।

और वे चले। आगे बूढ़ा सियार था, उसके पीछे रँगे सियारों के बीच भेड़िया चल रहा था—मस्तक पर तिलक, गले में कण्ठी, मुख में घास के तिनके। धीरे-धीरे चल रहा था, अत्यन्त गंभीरतापूर्वक, सिर झुकाये विनय की मूर्ति!

उधर एक स्थान पर सहस्रों भेड़ें इकट्ठी हो गयी थीं, उस सन्त के दर्शन के लिए जिसकी चर्चा बूढ़े सियार ने फैला रखी थी।

चारों सियार भेड़िये की जय बोलते हुए भेड़ों के झुण्ड के पास आये।

बूढ़े सियार ने एक बार जोर से सन्त भेड़िये की जय बोली! भेड़ों में पहले से ही यहाँ-वहाँ बैठे सियारों ने भी जय-ध्वनि की।

भेड़ों ने देखा तो बोलीं—अरे भागो, यह तो भेड़िया है।

तुरंत बूढ़े सियार ने उन्हें रोककर कहा—भाइयो और बहनो! अब भय मत करो। भेड़िया राजा सन्त हो गये हैं। उन्होंने हिंसा बिलकुल छोड़ दी है। उनका 'हृदय-परिवर्तन' हो गया है। वे आज सात दिनों से घास खा रहे हैं। रात-दिन भगवान के भजन और परोपकार में लगे रहते हैं। उन्होंने अपना जीवन जीव-मात्र की सेवा के लिए अर्पित कर दिया है। अब वे किसी का दिल नहीं दुखाते; किसी का रोम तक नहीं छूते। भेड़ों से उन्हें विशेष प्रेम है। इस जाति ने जो कष्ट सहे हैं, उनकी याद करके अभी भी भेड़िया सन्त की आँखों में आँसू आ जाते हैं। उनकी अपनी भेड़िया जाति ने जो अत्याचार आप पर किये हैं उनके कारण भेड़िया सन्त का माथा लज्जा से जो झुका है, सो झुका ही हुआ है। परन्तु अब वे शेष जीवन आपकी सेवा में लगाकर तमाम पापों का प्रायश्चित्त करेंगे। आज सवेरे की ही बात है कि एक मासूम भेड़ के बच्चे के पाँव में काँटा लग गया, तो भेड़िया सन्त ने उसे दाँतों से निकाला; दाँतों से! पर जब वह बेचारा कष्ट से चल बसा, तो भेड़िया सन्त ने सम्मानपूर्वक उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की! उनके घर के पास जो हड्डियों का ढेर लगा है, उसके दान की घोषणा उन्होंने आज ही सवेरे की है। अब तो वे सर्वस्व त्याग चुके हैं। अब आप उनसे भय मत करो। उन्हें अपना भाई समझो। बोलो सब मिलकर—सन्त भेड़ियाजी की जय!

भेड़ियाजी अभी तक उसी तरह गर्दन डाले विनय की मूर्ति बने बैठे थे। बीच में कभी-कभी सामने की ओर इकट्ठी भेड़ों को देख लेते और टपकती हुई लार को गुटक जाते।

बूढ़ा सियार फिर बोला—भाइयो और बहनो, मैं भेड़िया सन्त से अपने मुखारविन्द

से आपको प्रेम और दया का सन्देश देने की प्रार्थना करता, पर प्रेम-वश उनका हृदय भर आया है, वे गद्‍गद हो गए हैं, और भावातिरेक से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। वे बोल नहीं सकते। अब आप इन तीनों रंगीन प्राणियों को देखिए। आप इन्हें न पहचान पाये होंगे। पहचानें भी कैसे? ये इस लोक के जीव तो हैं नहीं। ये तो स्वर्ग के देवता है जो हमें सदुपदेश देने के लिए पृथ्वी पर उतरते हैं। ये पीले विचारक हैं, कवि हैं, लेखक हैं। नीले नेता हैं और स्वर्ग के पत्रकार हैं। और हरेवाले धर्मगुरु हैं। अब कविराज आपको स्वर्ग-संगीत सुनायेंगे। हाँ, कवि जी···

पीले सियार को 'हुआ-हुआ' के सिवा कुछ और तो आता नहीं था, 'हुआ-हुआ' चिल्ला दिया। शेष सियार भी 'हुआ-हुआ' बोल पड़े। बूढ़े सियार ने आँख के इशारे से शेष सियारों को मना किया और चतुराई से बात को यों कहकर सँभाला—भाई कविजी तो कोरस में गीत गाते हैं। पर कुछ समझे आप लोग? कैसे समझ सकते हैं? अरे, कवि की बात सबकी समझ में आ जाए तो वह कवि काहे का? उनकी कविता में से शाश्वत के स्वर फूट रहे हैं। वे कह रहे हैं कि जैसे स्वर्ग में परमात्मा, वैसे ही पृथ्वी पर भेड़िया। हे भेड़ियाजी, हे महान्! आप सर्वत्र व्याप्त हैं, सर्वशक्तिमान हैं। प्रातःकाल सन्ध्या आपके मस्तक पर तिलक करती है, साँझ को उषा आपका मुख चूमती है, पवन आपकी अग्नि पर पंखा करती है, और रात्रि को आपकी ही ज्योति लक्ष-लक्ष खण्ड होकर आकाश में तारे बनकर चमकती है। हे विराट! आपके चरणों में इस क्षुद्र का प्रणाम है।

फिर नीले रंग के सियार ने कहा—निर्बलों की रक्षा बलवान ही कर सकते हैं। भेड़ें कोमल हैं, निर्बल हैं, अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं। भेड़िया बलवान है, इसलिए उसके हाथ में अपने हितों को छोड़ निश्चिंत हो जाओ। वह भी तुम्हारा भाई है। आप एक ही जाति के हो। तुम भेड़, वह भेड़िया। कितना कम अन्तर है! और बेचारा भेड़िया व्यर्थ ही बदनाम कर दिया गया है कि वह भेड़ों को खाता है। अरे, खाते और हैं, हड्डी उसके द्वार पर फेंक जाते हैं। ये व्यर्थ बदनाम होते हैं। तुम लोग तो पंचायत में बोल भी नहीं पाओगे। भेड़िया बलवान है। यदि तुम पर कोई अन्याय होगा, तो डटकर लड़ेगा। इसलिए अपनी हित-रक्षा के लिए भेड़ियों को चुनकर पंचायत में भेजो। बोलो सब भेड़िया की जय!

फिर हरे रंग के धर्मगुरु ने उपदेश दिया—जो यहाँ त्याग करेगा, वह उस लोक में पायेगा। जो यहाँ दुःख भोगेगा, वह वहाँ सुख पायेगा। जो यहाँ राजा बनायेगा, वह वहाँ राजा बनेगा। जो यहाँ वोट देगा, वह वहाँ 'वोट' पायेगा। इसलिए सब मिलकर भेड़िया को वोट दो। वे दानी हैं, परोपकारी हैं, सन्त हैं। मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

यह एक भेड़िये की कथा नहीं है, यह सब भेड़ियों की कथा है। सब जगह इस प्रकार प्रचार हो गया और भेड़ों को विश्वास हो गया कि भेड़िये से बड़ा उनका कोई हित-चिन्तक और हित-रक्षक नहीं है।

और अब पंचायत का चुनाव हुआ तो भेड़ों ने अपनी हित-रक्षा के लिए भेड़ियों को चुना।

और पंचायत में भेड़ों के हितों की रक्षा के लिए भेड़िये प्रतिनिधि बनकर गये।

और पंचायत में भेड़ियों ने भेड़ों की भलाई के लिए पहला कानून यह बनाया—

हर भेड़िये को सवेरे नाश्ते के लिए भेड़ का एक मुलायम बच्चा दिया जाय, दोपहर के भोजन में एक पूरी भेड़ तथा शाम को स्वास्थ्य के खयाल से कम खाना चाहिए, इसलिए आधी भेड़ दी जाय।

रिसर्च का चक्कर

मैं काका की सलाह मानकर फजीहत में पड़ गया।

एक दिन वे कहने लगे, ''आयुष्मान्, कोई लेबिल अपने ऊपर चिपका लो, वरना किसी दिन जेल चले आओगे। तुम्हें बेकार घूमते देखकर किसी दिन कोई पुलिसवाला पूछेगा—क्या नाम है तेरा? बाप का नाम क्या है? कहाँ नौकरी करता है? तुम अपना और बाप का नाम तो बता दोगे, पर तीसरे सवाल के जवाब में कहोगे—नौकरी कहीं नहीं करता। यह सुनकर पुलिसवाला कहेगा—नौकरी नहीं करता? तब कोई चोर-उचक्का है तू। वह तुम्हें पकड़कर ले जायेगा। इस देश में जो किसी की नौकरी नहीं करता, वह चोर समझा जाता है। गुलामी के सिवा शराफत की कोई पहचान हम जानते ही नहीं हैं।''

मैंने कहा, ''काका, तो फिर?''

''विश्वविद्यालय में 'रिसर्च' करने लगो। वह नौकरी नहीं है, फिर भी इज्जत देती है। बहुत-से लोग पुलिस के डर से रिसर्च करते हैं। एम.ए. करने से नौकरी मिलने तक जो काम किया जाता है, उसे रिसर्च कहते हैं। वह दफ्तर जाने से पहले किया गया हरि-स्मरण है। इसीलिए अधिकांश शोध-प्रबंध विष्णुसहस्रनाम हैं—यानी उनमें एक ही बात हजार तरह से कही जाती है।''

काका की बात से मेरी एक दबी हुई इच्छा जाग उठी। कुछ साल पहले एम.ए.करने के बाद रिसर्च करने की मेरी इच्छा थी। पर मेरे विभागाध्यक्ष तब मुझसे नाराज थे, क्योंकि मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध पहला दर्जा ले आया था। बात यह थी कि मेरा एक सहपाठी गुरुदेव को घर तक पहुँचाता था, और उनका बिस्तर लगाकर उन्हें लोरी गाकर सुलाता था। मैं उन्हें सिर्फ चौराहे तक पहुँचाता था—क्योंकि मुझे लोरी नहीं आती थी। उन्होंने उस सहपाठी को प्रथम श्रेणी कर वर दिया था और मुझे द्वितीय श्रेणी का शाप। पर किसी कारण से शाप और वर बदल गये। गुरु बहुत नाराज हुए और उन्होंने मुझे रिसर्च नहीं करने दी। अब वे नहीं थे। उनके विरोधी सिंह गुट ने उन्हें अपने दल समेत निकलवा दिया था। अब उनकी जगह डॉक्टर सक्सेना आ गये थे। मेरी वह दमित इच्छा जाग उठी। और मुझे काका की बात पट गयी।

मैं दूसरे दिन डॉक्टर सक्सेना के बँगले पर पहुँचा। वे अपने अध्ययन-कक्ष में तीन-चार शोध-छात्रों के साथ बैठे थे। मैंने आचार्य को नमस्कार किया और अपना परिचय देने ही वाला था कि वे छात्र उठे और मुझे पकड़कर जबरन आचार्य के चरणों पर पटक दिया। एक ने उनके चरणों की धूल मेरे मस्तक पर लगा दी। मैने अकबकाकर कहा, ''अरे, क्या करते हो?''

एक छात्र ने समझाया, ''हम आपको नियम सिखा रहे हैं। इस कमरे में आचार्य जी सिर्फ छात्रों को प्रवेश देते हैं। बगल के कमरे में वे दूसरे लोगों से मिलते हैं–जैसे विश्वविद्यालय के अधिकारियों से, कार्यकारिणी के सदस्यों से, नेताओं से। इस कमरे में जो भी आता है, उसे आचार्य जी को साष्टांग दण्डवत प्रणाम करना पड़ता है और उनके चरणों की रज माथे पर लगानी पड़ती है। तुम देखते नहीं हो, भक्तों के लिए चरणरज हमेशा तैयार रखते हैं।''

मैंने कहा, ''और उस कमरे में क्या होता है? वहाँ का क्या नियम है?''

छात्र बोला, ''उस कमरे के बारे में जिज्ञासा से भी पाप लगता है। उस कमरे में गुरुदेव अपने हाथ धोकर जाते हैं।''

मैंने आचार्य के गन्दे पाँवों और साफ हाथों की तरफ देखा और वह छवि मेरे हृदय में हमेशा के लिए बस गयी।

मुझे अब बैठने की अनुमति मिल गयी। मैंने कहा, ''गुरुदेव, मैं रिसर्च करना चाहता हूँ।''

उन्होंने पूछा, ''क्यों?''

मैंने प्रभाव डालने के इरादे से कहा, ''मुझमें ज्ञान की पिपासा है। मैं किसी विषय का गम्भीर और सर्वांग अध्ययन करना चाहता हूँ।''

आचार्यजी बोले, ''तुम्हारी उम्र कम नहीं है, पर तुममें अभी भी स्कूली बच्चों की तरह ज्ञान के प्रति उत्साह है। यह प्रौढ़ मानस का लक्षण नहीं है। अच्छा, पहले यह बताओ, तुम कौन जात हो?''

मैं इस सवाल से अचानक चकरा गया। जातिसूचक उपमान मैंने वर्षों पहले छोड़ दिया था। मुझे लगा कि मैंने संविधान पर जरूरत से ज्यादा विश्वास कर लिया।

मेरी उलझन देखकर आचार्य ने पूछा, ''ब्राह्मण कि कायस्थ?''

मैंने कहा, ''दोनों नहीं।''

उन्होंने पूछा, ''मगर तुम्हें कौन अच्छा लगता है–ब्राह्मण कि कायस्थ? यहाँ 'बम्हनों' ने अपना गुट बना रखा है, जिसके नेता हैं डॉ. शर्मा। हमने भी अपना गुट बना रखा है–कायस्थ गुट। उसके नेतृत्व का भार मुझ अकिंचन पर है। तुम अगर ब्राह्मण गुट के प्रति निष्ठावान हो, तो डॉ. शर्मा के पास जाओ। वे तुम्हारा प्रबंध करेंगे। अगर…''

मैंने पूछा, ''गुरुदेव, क्या कोई ब्राह्मण कायस्थ गुट में शामिल नहीं हो सकता?''

उन्होंने कहा, ''हो सकता है। स्वार्थ जाति और धर्म से ऊपर की निष्ठा है।''

मैंने पूछा, ''उपकुलपतिजी किस गुट की तरफ हैं?''

आचार्यजी ने कहा, ''उनकी माँ कायस्थ थीं और पिता ब्राह्मण थे। इसलिए वे कभी इस तरफ झुकते हैं और कभी उस तरफ। तुम अपना तय करो।''

मैंने कहा, ''गुरुदेव, मैं तय करके ही आया हूँ। मैंने अपने सारे नाते तोड़कर सिर्फ आपसे संबंध रखा है। 'नाते सकल राम ते मनियत'—एकनिष्ठ भक्ति का यह सूत्र मैं जानता हूँ।''

डॉक्टर साहब प्रसन्न हुए। कहने लगे, ''तुम्हारी निष्ठा से हम प्रसन्न हैं। हम तुम्हें डॉक्टरेट दिलवायेंगे। तुम रिसर्च शुरू करो। पर पहले 'रिसर्च' का अर्थ समझ लो। इसका अर्थ है—फिर से खोजना यानी जो पहले ही खोजा जा चुका है, उसे फिर से खोजना 'रिसर्च' कहलाता है। जो हमारे ग्रन्थों में है उसे तुम्हें फिर से खोजना है। भारत के विश्वविद्यालयों में जो प्रोफेसरान हमारे विरोधी हैं उनके ग्रंथों और निष्कर्षों को तुम्हें नहीं देखना है, क्योंकि तब तुम्हारा काम रिसर्च न होकर 'सर्च' हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि विश्वविद्यालय ज्ञान का विशाल कुण्ड है। इसमें जितना ज्ञान भर सकता है उतना भरा हुआ है। लबालब भरा है यह कुण्ड। अगर बाहर से ज्ञान लाकर भरा जायेगा तो यह कुण्ड फूट जायेगा। तुम जानते हो, धाँसा बाँध टूटने से दिल्ली के आसपास कितना विनाश हुआ था। हर अध्यापक और हर छात्र का यह कर्तव्य है कि इस कुण्ड में बाहर से ज्ञान-जल न आने दे, वरना बाँध टूटेगा और विनाश फैलेगा। ऐसे हर छेद पर अँगुली रखे रहो, जहाँ से ज्ञान भीतर घुस रहा हो।''

मैं नतमस्तक उनके उपदेश सुनता रहा। उन्होंने विस्तार से मुझे अपने कर्तव्य समझाये। बीच-बीच में उन छात्रों की तरफ देखकर कहते, ''क्यों, झूठ कहता हूँ?''

वे कोरस में बोलते, ''नहीं, सच कहते हैं।''

अब आचार्य ने कहा, ''अब तुम थोड़ी देर बैठकर सुनो, ये छात्र क्या शोध करके लाये हैं। हाँ, तुम लोग एक के बाद एक अपना शोध-पत्र पढ़ो।''

पहले छात्र ने पढ़ा, जिसका सार यह कि परसों डॉक्टर शर्मा कहीं कार पर घूमने गये थे। साथ में उनकी पत्नी और बच्चे थे। यहाँ से चौथे मील पर कार का पेट्रोल खत्म हो गया। तब वे सब लोग पैदल वहाँ तक आये। फिर रात को डॉक्टर शर्मा नौकर के साथ पेट्रोल लेकर गये और तब कार लेकर आये। डिपार्टमेण्ट में सब छिपकर हँस रहे थे।

यह सुनकर आचार्य खूब जोर-जोर से हँसने लगे। बीच में कहते—सब पैदल आये। ही-ही-ही! फिर पेट्रोल लेकर गये—ही-ही-ही।

उन्हें हँसते देखकर वे छात्र भी ठहाके लगाने लगे।

मुझे हँसी नहीं आ रही थी। एक छात्र ने कहा, ''आप हँसते क्यों नहीं हैं? शुरू से ही अनुशासन भंग कर रहे हैं। आगे क्या होगा?''

मैंने इस अवसर पर अपनी प्रतिभा दिखायी। कहा, ''मैं सोच रहा हूँ कि एक महत्त्वपूर्ण विषय पर आप जैसे पारंगत शोधकर्ताओं का ध्यान क्यों नहीं गया?''

''किस विषय पर?'' उन्होंने पूछा।

मैंने कहा, ''इस पर कि कार में वह जो स्त्री थी, वह डॉक्टर शर्मा की पत्नी ही थी या कोई और?''

वे सब चकित रह गये। आचार्य ने तो खुशी से मुझे अपने गले से लगा लिया। कहने लगे, ''वाह, इसे कहते हैं शोध-प्रतिभा। मैं इतने सालों से रिसर्च करवा रहा हूँ, पर यह बात मेरी दृष्टि से भी ओझल हो गयी। यंगमैन, तुम असाधारण हो। तुम्हें शोध कराकर मुझे गौरव मिलेगा।''

मेरा रंग जम गया।

दूसरे छात्र ने जो रिसर्च-पेपर पढ़ा, उसका सार यह था कि डॉक्टर शर्मा के गुट का एक अध्यापक, कार्यकारिणी के एक ठेकेदार सदस्य के घर गया और उसे लेकर उपकुलपति के बँगले पर गया। वहाँ वे लोग लगभग एक घण्टा रहे। इसके बाद वे बाहर निकले और पाँच मिनट हँसते हुए बातें करते रहे।

इसी तरह बाकी ने भी अपने-अपने शोध-निबंध पढ़े।

आचार्यजी ने हम लोगों से कहा, ''अब तुम लोगों को मैं विशेष विषय पर काम दे रहा हूँ। तुम जानते हो, अभी इसी राज्य में मुख्यमंत्री बदला है। तुम्हें एक सप्ताह में शोध करना है कि इसका विश्वविद्यालय पर क्या असर पड़ेगा। पूरी तरह पता लगाओ कि किस अध्यापक के उनसे कैसे संबंध हैं? कौन लोग अपने को उनका 'आदमी' कहते हैं? कौन अभी तक अपने को पुराने मुख्यमंत्री का आदमी कहते हैं? उपकुलपति उनके कृपापात्र हैं या नहीं? और वे किन बातों से खुश होते हैं? देखो, इस विषय पर बहुत ध्यान से काम करो क्योंकि इसी पर तुम्हारे थीसिस की योग्यता निर्भर है।''

आचार्य ने जो नया विषय शोध के लिए दिया था उस पर अच्छा काम मैंने ही किया। जब मैंने वह शोध-पत्र आचार्य के सामने पढ़ा तो वे खुशी से उछल पड़े। कहने लगे, ''नियम यदि बाधक न होते, तो मैं तुम्हें इसी वक्त डी.लिट्. दिला देता।''

पर एक दिन आचार्य ने थोड़ी नाराजी जाहिर की थी। उनके पास रिपोर्ट पहुँची थी कि मैं चौराहे पर विरोधी गुट के एक अध्यापक के साथ खाना खा रहा था। मैंने कैफियत दी कि वह सिर्फ संयोग की बात थी।

वे बोले, ''मगर तुम उसके साथ हँस भी तो रहे थे यह गलत है। एकनिष्ठता के बिना शोध नहीं होती। तुम्हें उस तरफ के लोगों की छाया से भी दूर रहना चाहिए।''

उस दिन से मैंने बड़ी सावधानी बरती।

लेकिन डॉक्टर होना मेरी किस्मत में नहीं था।

एक शाम को आचार्यजी ने मुझे बुलाया। कमरे के सब दरवाजे बन्द करके बोले, ''देखो, डीन की फिर नियुक्ति होने वाली है। वह शर्मा का बच्चा फिर कोशिश कर रहा है। वह मेरा एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी है। जैसा मैं कहता हूँ वैसा तुम करो तो वह रास्ते से हट जायेगा और मैं डीन हो जाऊँगा।''

उन्होंने जेब से एक थैली निकालकर मेरे हाथ में दी और कहा, ''इसमें गाँजा है। इसे डॉक्टर शर्मा के घर में चुपचाप डाल देना और फिर किसी पब्लिक फोन से बिना अपना नाम बताये, पुलिस को खबर कर देना।''

मैं एक क्षण तो खड़ा रहा। फिर गाँजा टेबिल पर फेंककर और दरवाजा खोलकर जो भागा, तो आज तक नहीं गया।

◆

आइल किंग

हम लोगों ने एक संस्था आरम्भ की थी—आर्थिक साधनों से हीन। 'आरम्भ' शीघ्र ही 'अन्त' में न बदला जाये, इसलिए उसे कुछ अर्थ के इन्जेक्शन देने का इरादा किया। गरीबों को तो खैराती अस्पताल का ही सहारा होता है हम भी खैराती बटोरने निकल पड़े।

एक शहर पहुँचे तो एक व्यक्ति की गुण-गाथा सुनने को मिली। सहायकों ने कहा, ''वह इस इलाके का 'आइल किंग' है।'' हमने ताश में 'चिड़ी किंग' तो देखा था, मगर 'आइल किंग' देखने को नहीं मिला था।

हमारी उत्सुकता बढ़ी। स्थानीय मित्रों ने कहा, ''गाँव-गाँव में दुकानों हैं उसकी। गाँव-गाँव मुनीम, कारिन्दे! गाँव-गाँव लेन-देन ! अगर उसे आपकी बात जम गयी तो निहाल कर देगा। फिर कहीं जाने की जरूरत नहीं। हजार दे दे, दो हजार दे दे ! दस हजार दे दे—और कुछ भी न दे! सब उसके 'मूड' पर निर्भर है। अच्छे 'मूड' में चले जाओ, तो मुँह-माँगा दे दे, और नहीं तो फूटी कौड़ी भी नहीं।''

दूसरा दिन हमने उसका ठीक 'मूड' पकड़ने की कोशिश में बिताया। दो-चार स्थानीय मित्र दिन-भर उसकी कोठी के चक्कर लगाते रहे कि ठीक 'मूड' का संकेत मिलते ही हमें फोन कर दें। हमें उस दिन समझ में आया कि पुराने जमाने से शुभ कार्यों में अच्छा मुहूर्त देखने की जो परिपाटी है, वह देवताओं का ठीक 'मूड' जानने के लिए ही होगी। हजारों सालों से जो देवता मानकर पूजे जा रहे हैं, वे कभी इसी तरह के 'आइल किंग', 'बीड़ी किंग', 'मेंगनीज किंग', 'टेक्सटाइल किंग' या 'लेदर किंग' होंगे। कभी कोई हम जैसा आदमी किसी 'किंग' के यहाँ पहुँच गया होगा और उसे उसने मुँह माँगा दान कर दिया होगा। बस, उस लोलुप विप्र ने बात फैलायी होगी—''आहा! वह तो अवढरदानी है! उसकी पूजा करो। वह देवता है।''

दिन-भर हमारे दूत फोन करते रहे—''अभी 'मूड' ठीक नहीं—मैनेजर पर नाराज हो गये थे।…अभी-अभी 'मूड' अच्छा था और अब खराब हो गया; चाय में मक्खी गिर गयी।… अभी 'मूड' गड़बड़ है, इनकम टैक्स अफसर से झड़प हो गयी।'' शाम तक हम अच्छे 'मूड' के इन्तजार में बैठे रहे, जैसे मछुवा तालाब में 'काँटा' डाले बैठा रहता है कि मछली काँटे

को छुए और वह एक झटके में उसे फँसा ले।

शाम को हमने मित्रों से कहा, ''अब तो शाम हो गयी, दिन-भर का काम खत्म हो गया होगा और वह फुरसत में होगा। चलो चलें।'' एक साथ दो-तीन मित्र ऐसी फुर्ती से बोले मानो हम कुएँ में गिर रहे हों और वे झपटकर पकड़ रहे हों, ''अरे नहीं नहीं! इस वक्त नहीं। यह तो उनके 'सन्ध्यावन्दन' का समय है।'' मैंने कहा, ''अच्छा, बड़े धार्मिक वृत्ति के आदमी हैं।'' इस पर वे लोग हँस पड़े और एक ने समझाया, ''भाई साहब, 'सन्ध्यावन्दन' का तात्पर्य 'ईश्वर-वन्दना' से नहीं है। वे सन्ध्या समय शैतान की वन्दना करते हैं, याने दास्तों के साथ बोतलों के कार्क खोलते हैं।''

दूसरे दिन लगभग 10 बजे सुबह हमें अपने दूत ने फोन किया, ''फौरन चले आओ—बढ़िया 'मूड' है—लड़का बी.ए. पास हो गया है।'' हम ऐसे उछले जैसे बचपन में अपने स्कूल की हाकी-टीम के गोल करने पर उछलते थे। फौरन कपड़े ठीक किये, बाल सँवारे, चेहरे पर हाथ फेरा और चल दिये। राज-दरबार में भाट होते थे, जो आगन्तुक का परिचय राजा से कराते थे। हमारे साथ भी एक सज्जन थे जिनका परिचय राज-पक्ष और याचक-पक्ष दोनों से था। हम लगभग भाग रहे थे—36 घण्टों में यह क्षण पकड़ में आया था; कहीं 'मूड' फिर खराब हो जाय तो न जाने कब तक इंतजार करना पड़े। हमारा हृदय धक्-धक् कर रहा था। 'आइल किंग' की इतनी लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधी गयी थी, उनके अस्थिर और विचित्र 'मूड' की इतनी चर्चा सुनी थी, उनकी दानशीलता की गीता का इतना पाठ हो चुका था कि हमारे मन में एक भय व्याप्त हो गया। न जाने कैसी बात करता है? न जाने कैसा 'मूड' है? न जाने कितना देता है? न जाने कुछ देता भी है या नहीं ?

बड़ा भारी कम्पाउण्ड था, जिसके बीच में बड़ी अट्टालिका! बड़ा फाटक जिसके दोनों ओर दो गुरखे फौजी ढंग पर सिविलियन बनावट की खाकी वर्दी पहने खड़े थे। इन बहादुरों का उपयोग न जाने कब तक दूसरों के माल की रक्षा करने के लिए होता रहेगा। बेचारे कब से 'जॉन-बुल' की साम्राज्यवादी लूट की तिजोड़ी की रक्षा कर रहे हैं। हमारे साथ हमारे मध्यस्थ ही हमारे विजा (Visa) थे, इसलिए उस राज्य में हमें निर्विरोध प्रवेश मिल गया।

तीन-चार कमरे पार करके हम 'आइल किंग' के निजी कमरे के सामने पहुँचे। मध्यस्थ महोदय भीतर पहुँचे और थोड़ी देर के बाद परदे में से झाँककर कहा, ''आ जाइए।'' हमारे दिल की हालत का ठीक बयान करने के लिए 19 वीं शताब्दी का उर्दू शायर हमारे साथ होना चाहिए था—माशूक का पैगाम पाकर आशिक के दिल की जो हालत होती है, वैसी ही कुछ हालत थी। हमने भीतर प्रवेश किया और एक भारी तथा फटी-सी आवाज सुनी—''आइए!'' रात के सन्नाटे में दूर से रेल के नये कुरूप केनेडियन एंजिन के भोंपू की आवाज जैसी सुन पड़ती है, वैसी ही यह आवाज लगी। निगाह डाली इस आवाज के मालिक पर। काली और स्थूल एक काया चौड़ी कुर्सी पर ऐसी जमी थी, जैसे पेंच से कस दी गयी हो। छोटी-छोटी आँखें जिनके आसपास मांस फड़कता था—बल्ब के आसपास के रिफलेक्टर की तरह। बड़ी नाक, काफी चौड़ा मुख। पूरा व्यक्तित्व बड़ा रोबदार था—या

शायद देनेवाला व्यक्तित्व लेने वाले को हमेशा रोबदार लगता हो। अंगुलियाँ लम्बी और मोटी। ये हमें इसलिए एकदम दिख गयीं कि 'आइल किंग' बिना पंजे से संकेत और हाव-भाव किये कुछ बोलते ही नहीं थे। उधर मुँह चला और इधर हाथ चला। हाथ इस तरह घूमते थे मानो वे सारी सृष्टि का संचालन यहीं बैठे-बैठे संकेत मात्र से कर रहे हों।

टेबिल पर दो फोन रखे थे, एक काला और एक सफेद। दीवारों पर गाँधी और जवाहर की तस्वीरें थीं और गोलवलकर की तथा करपात्री की भी—राम को भी प्रणाम, रावण को भी प्रणाम! दीवार का रंग बहुत सुन्दर था पर बीचोंबीच तेल में घुले सिंदूर में अँगुली डुबाकर लिखे गये ये भद्दे अक्षर उछल रहे थे—'श्री महालक्ष्मी सदा प्रसन्न!' लक्ष्मी का नाम बिना भद्देपन के लिखा नहीं जा सका था।

मुझसे बोले, "मैंने आपका नाम सुना है। बड़ा अच्छा लिखते हैं आप।" यह सुनकर मैं निराश हो गया। मैंने सोचा, इसे देना नहीं है तभी प्रशंसा करके टाल रहा है। ऐसी प्रशंसा का मैं अभ्यस्त हो गया था। अनेक प्रशंसकों ने कहा था, "आपके लिए जान हाजिर है।" पर जब मैंने उनकी जान उन्हीं के पास रहने देकर बदले में दो-चार रुपये माँगे, तब उन्होंने मुँह फेर लिया। शायद प्राण के बदले में उन्हें यह कीमत ज्यादा लगी हो। मुझे यह आशंका हुई कि यह कहीं अपनी जान 'ऑफर' न करने लगे। वे चिकनी बातें करते रहे और मैं घबराता रहा। चिकनी बात पर आदमी का पाँव फिसला, कि वह गया रसातल को। पर माँगने आये हैं, यह एकदम कहते तो बनता नहीं था, इसीलिए पहले यहाँ-वहाँ की बातें ही होती रहीं। वे खुलकर बोलते थे, निःसंकोच चर्चा करते थे, अपनी बात को एकमात्र स्थिर सत्य मानकर जोर से कहते थे, अपने मन में सर्वमान्यता का आग्रह प्रकट करते थे। एक क्षण में उन्होंने हम सबको निर्बोध शिशु मान लिया और दुनिया की तमाम चीजें समझाने लगे। गलत भाषा, गलत विचार, गलत ढंग से आत्मविश्वास के साथ इतने जोर से बोलने वाले मैंने कम आदमी देखे हैं। किसी जाति विशेष की बात निकली तो वे बोले, "इन लोगों में तो शराब पीने का 'तख़ल्लुस' ही है।" तख़ल्लुस का प्रयोग उन्होंने सहूलियत के लिए 'रिवाज' के अर्थ में कर लिया था।

विश्वविद्यालय के हाल ही में हुए चुनाव पर बात चली। हाल ही में एक नये वाइसचांसलर चुने गये थे, जिनकी विजय के लिए राज्य सरकार ने चतुरंगिणी सेना लेकर विश्वविद्यालय पर चढ़ाई की थी—मन्त्रिमण्डल, अफसर, सेठ-साहूकार और राजनेतागण—चतुरंगिणी। आइल किंग बोले, "वे तो पिछली बार ही जीत जाते; लेकिन मैंने ही 11 वोट उनके खिलाफ दिला दिये थे। बात यह थी कि मैं था उस वक्त जनसंघ में और वे थे प्रजा समाजवादी दल में। मैंने कहा कि तुम कुछ भी करो, तुम्हें जीतने नहीं दूँगा। मैंने 11 मेम्बरों से कह दिया कि चाहे 'न्यूटरल' (तटस्थ) रह जाना पर इन्हें वोट मत देना। वे लोग मेरे ही यहाँ तो ठहरे थे। अब इस बार तो मैं भी कांग्रेस में आ गया और वे भी। वे मुझसे पहले ही आकर मिल लिये। मैंने कहा, 'हाँ, इस बार तुमको जिता दूँगा; अब तो पार्टी का सवाल है।' इस बार तो मैंने सब मेम्बरों को अपने ही यहाँ ठहरा लिया था। दो

दिन इधर ऐसा लगता था जैसे उनकी बारात ठहरी हो।'' वे अपने इस मजाक पर बहुत जोर से हँसे। हमें पहले तो हँसी नहीं आयी, पर यह सोचकर कि हमारे न हँसने का कुपरिणाम कहीं चन्दे की रकम पर न पड़े, हम सबमें एक मौन अकथ समझौता-सा हो गया और हम सब भी एक साथ जोर से हँस दिये। वे आगे बढ़े, ''आखिर इस बार वे जीत ही गये। मैंने तो साफ कह दिया कि भाई जो कुछ करो, जरा पूछ लिया करो। अब तो दस-पाँच दिन में आकर मिल जाते हैं।''

उनकी आँखों में चमक आ गयी और उन्होंने इस प्रकार गर्व से हमारी ओर देखा जैसे विश्वविद्यालय के उपकुलपति को पुरानी कथाओं के जादूगर की तरह इन्होंने मक्खी बनाकर दीवार पर चिपका दिया हो।

बात का रुख बदला। पत्रकारिता पर बातें होने लगीं। वे बोले, ''वह दीक्षित है न ? वही 'आँधी' साप्ताहिक का सम्पादक। बेचारा भूखा मरता था। मैंने उसे प्रेस खरीद दिया। अच्छा चलता है अब 'आँधी'! जब भी आता है, कुछ दे ही देता हूँ। कह दिया, 'जा, विज्ञापन ही छापा कर।' उसका पेट भर जाता है, अपना एक अखबार बना रहता है। वैसे तो मैं अपनी पार्टी के सभी पत्रों को विज्ञापन दे देता हूँ। अरे भाई, बिना अपने अखबार के, राजनीति में आना बड़ी गलती है।''

फिर एक बार उन्होंने हमारी ओर देखा। विशेष बात यह थी कि वे यह सब बहुत स्वाभाविक रीति से बिना किसी बनावट से कह रहे थे जैसे माल की खरीद-बिक्री कर रहे हों।

बात बढ़ते-बढ़ते मन्त्रिमण्डल पर पहुँची। वे बोले, ''वह उपमन्त्री है न—दिगन्त; उसके घर में भूजी भाँग नहीं थी पिछले चुनाव में। बेचारा गरीब आदमी है। मेरे पास आया तो मैंने 4-6 हजार रुपये दे दिये, दो-एक मोटरें भी प्रचार के लिए दे दीं। वह जीत गया। अब तो वह 'बेटा' उपमन्त्री हो गया। लेकिन अभी भी मुझे मानता बहुत है। अभी उस दिन यहाँ के असिस्टेण्ट इन्कमटेक्स अफसर का तबादला हो गया। हम उसका तबादला नहीं चाहते थे। अरे भाई, सब अपना सुभीता देखते हैं। मैंने ट्रंक-काल किया दिगन्त को। मैंने कहा, 'क्यों बच्चा, अब तो तुम्हारे पंख निकलने लगे। अब देखता हूँ, तुम कैसे जीतते हो, उस क्षेत्र से। उसका ट्रांसफर केंसल कराते हो, कि मैं मुख्यमंत्री को फोन करूँ?' बस वह घिघियाने लगा, 'अरे, अरे दादा, ऐसी क्या बात है? भला मैं आपकी बात कैसे नहीं मानूँगा ? अभी मामला ठीक किये देता हूँ।' इसके दूसरे दिन तबादला केंसिल होने का तार आ गया।''

सरकार भी निपट गयी। अब विधान-सभा की बारी आयी। बोले, ''मेरे दो मुनीम खुद एम.एल.ए. हैं। पिछले चुनाव में मैंने कांग्रेसवालों से कहा कि अगर इन्हें टिकट देते हो तो खर्च मैं बरदाश्त करूँगा। कांग्रेस को तो जरूरत ही थी, पैसे वाले उम्मीदवारों की। उन्हें टिकट दे दिये और वे जीत गये।'' वे हँसे और फिर नीची निगाह कर बड़े सकुचाते-लजाते बोले, ''अब मुख्यमंत्री पीछे ही पड़े हैं कि इस बार पार्लियामेण्ट में चले जाओ। मैंने कहा कि भाई मुझे तो मेरे ही काम से फुरसत नहीं है।'' इसे भी बड़ा विकट

विनोद समझकर वे ठहाका मारकर हँसे। हमने भी चन्दे की रकम के परिमाण में वृद्धि के ख्याल से एकदम उनका साथ दिया।

इसके बाद वे रुके। चाय आ गयी थी।

चाय पीकर उन्होंने किसी बात पर जोर देने के लिए टेबिल पर घूँसा पटका। मैं चौंका। उनकी मुट्ठी की ओर देखा और उस क्षण मुझे लगा कि इस मुट्ठी की पहली अँगुली से वे शिक्षा-व्यवस्था को दबाये हैं, दूसरी से पत्रकारिता को, तीसरी से मन्त्रिमण्डल को और चौथी से विधान-सभा को। और चारों के ऊपर जो यह उठा हुआ अँगूठा दिखा रहे हैं, वह अँगूठा सारे देश को दिखा रहे हैं।

ठण्डा शरीफ आदमी

मेरा और उसका रास्ता एक है—वह जिधर से आता है; मैं उधर जाता हूँ। कई सालों से आमना-सामना हो रहा है। पहले वह चलते-चलते पूछता था, 'सब ठीक है?' मैं अगर सवाल के साथ ही जवाब न फेंक देता, तो वह आगे निकल जाता और जवाब उसकी साइकिल के पिछले पहिये से टकराकर रह जाता। मैं सावधानी बरतने लगा। उसे देखते ही जवाब उछाल देता, 'सब ठीक है।' यह उसके सवाल से टकरा जाता।

फिर उसने सोचा होगा कि पूरे सवाल में बहुत वक्त लग जाता है। उसने सिर्फ एक शब्द ले लिया। वह पूछता, 'ठीक?' मैं जल्दी जवाब देता, 'ठीक।' तब तक वह आगे बढ़ गया होता।

फिर उसने सोचा कि 'ठीक' में जो दीर्घ मात्रा है, वह ज्यादा वक्त लेती है। उसने उसे ह्रस्व कर लिया। वह पूछता, 'ठिक?' मैं कहता, 'ठिक।' मैं कभी उसे देख नहीं पाता, मगर कान में आवाज पड़ती, 'ठिक?' मैं फौरन बिना देखे जल्दी के ख्याल से 'ठिक' कह देता।

आगे उसने 'ठिक' को भी व्यर्थ समझा। हमारे सवाल-जवाब इतने निश्चित हो गये थे कि इशारे से काम चल सकता था। अब वह मुझे देख कर किंचित् मुसकराता है, एक हाथ खोलकर झटके से कन्धे तक ले जाता है और पंजे को जरा-सा हिलाता है। इस इशारे में 'नमस्ते' भी है और 'सब ठीक है' भी।

इसका यह मतलब नहीं है कि वह बहुत फुरती में होता है। नहीं वह धीरे-धीरे चलता है। मगर उसे फुरसत नहीं होती। समय की कमी है, ऐसा भी नहीं है। वह घर से किसी जगह जाने के लिए निकला है। उसे लगता है, वह जगह मेरे आगे-आगे चल रही है। मुझे उसे पकड़ना है, मगर आहट भी नहीं करना है। वह भाग जायेगी। उस पर नजर रखना है, इसलिए रास्ते में कहीं अटकना नहीं है। धुन बाँध वह चला जाता है। ओठों के पास

कान लगाओ, तो 'सर-सर' सुनायी पड़ेगा। कुछ भक्त 'राम-राम' बुदबुदाता चलते हैं, क्योंकि उसके 'सर' राम होते हैं। एकाग्रता से वह उन बातों को बुदबुदाता चलता है, जो उसे किसी से कहनी हैं। आसपास क्या हो रहा है, इससे उसे कोई सरोकार नहीं है। मेरा उसके लिए तत्काल कोई उपयोग नहीं है, तो वह मेरे लिए रुकेगा नहीं। सड़क पर दुर्घटना हो गयी और कोई आदमी कुचला पड़ा है, तो वह बिना ध्यान दिये किनारे से निकल जायेगा। उसे अहसास है कि कुचला हुआ आदमी मैं नहीं हूँ। जुलूस निकल रहा है, तो उसे यह जानने की इच्छा ही नहीं होती कि किनका जुलूस है और क्यों निकला है? वह खुद जुलूस में नहीं है, तो उसे क्या मतलब! चौराहे पर नाच हो रहा है, तो वह ध्यान नहीं देगा। न वह नाचनेवाला है, न दर्शक। दो आदमियों में मार-पीट हो रही है तो भी उसे मतलब नहीं। दोनों में से कोई भी वह नहीं है।

दुनिया में जो कुछ भी है, उसे उसने दो हिस्सों में बाँट लिया है—अपने मतलब का और अपने मतलब का नहीं। जिससे उसे लाभ-हानि नहीं, उसका उसके लिए कोई अर्थ नहीं। एक दिन हम लोग वियतनाम पर बमबारी की चर्चा कर रहे थे। सब चिन्तित और उत्तेजित थे। वह किसी काम से आया था, इसलिए बैठा था। मगर वह कुछ सुन नहीं रहा था। बैठा हुआ कुछ हिसाब-सा लगा रहा था। वियतनाम की बात निकलते ही उसने सोच लिया होगा कि मेरे ऊपर तो बम गिर नहीं रहे हैं, फिर फिजूल माथापच्ची क्यों की जाये? एक दिन बिहार के अकाल-ग्रस्त लोगों के लिए हम पैसा इकट्ठा कर रहे थे। उससे कहा, तो उसने जवाब दिया, "क्या मजाक करते हो! अकाल तो बिहार में पड़ा है और पैसा यहाँ इकट्ठा कर रहे हो!" उसे मालूम था कि वह खुद बिहार में नहीं है और भूखा नहीं मर रहा है। फिर उसे मतलब कि कहाँ कोई भूखा मर रहा है ! हम बात कर रहे हैं कि सीमा पर पाकिस्तानी फौजें घुसपैठ कर रही हैं और किसी भी क्षण युद्ध छिड़ सकता है। वह चुप बैठा है। कुछ और सोच रहा है। एकाएक उसे लगता है कि वह बड़ी देर से चुप बैठा है। कुछ बोलना कर्तव्य है। वह बोलता है, "कल हमारे इधर सर्कुलर आया है कि जिनका बीमा नहीं हुआ है, वे जल्दी करा लें।" उसने भारत और पाकिस्तान की फौजों के बीच अपना संर्कुलर घुसेड़कर फौरन युद्ध बन्दी करवा दी।

यों यह बोलता बहुत कम है। घण्टे-भर पास बैठा रहेगा, पर उसकी उपस्थिति का आभास तभी होगा, जब वह उठकर जाने लगेगा। बहुत लोग बिना आहट की जिन्दगी गुजार देते हैं। वे आसपास होंगे, पर उनकी आहट नहीं होगी। यह आदमी चलता है, तो पाँवों की आहट नहीं होती। साइकिल पर सवारी करता है, तो ऐसे जैसे मछली तैर रही है। बात बहुत धीमे करता है। कोई बात हँसने लायक होती है, तो वह इतने होंठ खोल देता है कि दो-तीन दाँत दिख जायें।

ऐसे सब प्रसंग टालता है, जिनसे आहट हो। क्रोध से आहट होती है, तो वह क्रोध नहीं करता। एक दिन मैंने कहा, "श्रीधर तुम्हारी बहुत बुराई करता है।" उसने कहा, "करने दो। हम तो एडजस्ट करके चलते हैं।" उसके बॉस उसके व्यवहार से असंतुष्ट थे।

मगर वह कहता, ''सब ठीक है। हम तो एडजस्ट करके चलते हैं।'' कोई सामने उसका अपमान कर दे, तो वह पीठ फेरकर एडजस्ट कर लेता है। कभी कोई उसे खबर दे कि अनुक आदमी तुम्हारी बीवी को भगा ले गया, तो वह धीरे से कह देगा, 'ले जाने दो। हम तो एडजस्ट करके चलते हैं।'

आहट नहीं होती, पर सफलता उसे मिलती जाती है। एक के बाद एक प्राप्ति उसे होती जाती है। उसकी बात सोचता हूँ, तो मुझे बिल्ली की याद आती है। कमरे में बिल्ली घण्टों बिना आहट के दबी बैठी रहती है। उसकी उपस्थिति का अहसास तभी होता है, जब वह झपट्टा मारकर चूहे को पकड़ लेती है। चावल का परमिट लेने के लिए हजारों दरख्वास्तें दफ्तर में जमा हैं। लोग हफ्तों चक्कर लगाते हैं। न जाने कैसे इसकी दरख्वास्त सरककर ऊपर आ जाती है और इसे परमिट मिल जाता है। एक समिति की सदस्यता के लिए नामजदगी होती है। बड़े नामों का चर्चा हो रहा है और बड़ी हलचल है। इस आदमी की कोई आहट नहीं है। मगर एक दिन सुनते हैं कि यह नामजद हो गया। पुरस्कार-पर-पुरस्कार मिलते हैं। अच्छे-से-अच्छे ग्रन्थों की चर्चा हो रही है। पुरस्कारों की घोषणा होती है, तो उसमें इसका नाम होता है।

बिना आहट के वह चूहे पकड़ता जाता है और इसके बाद फिर इस तरह सिकुड़कर बैठ जाता है कि किसी को अहसास नहीं होता कि वह भी इस दुनिया में कहीं है। जब कोई नयी सफलता उसे मिलती है, तब वह हाथ का इशारा करके भाग नहीं जाता। वह रुक जाता है। मैं समझ जाता हूँ कि या तो इसे मुझसे कोई काम कराना है या किसी नयी सफलता की सूचना देना है। अगर उसके चेहरे पर जरा ज्यादा मुसकान है, तो उसने जरूर कोई चूहा पकड़ लिया है। उसकी मुस्कान बहुत ठण्डी होती है। पूरा व्यक्तित्व ही बर्फ से बना है। मुझे लगता है, चारों तरफ से मुझे बर्फ घेर रही है। मैं भागना चाहता हूँ, पर वह मुझे पकड़ लेता है।

''क्या हाल-चाल हैं?'' वह पूछता है।

यह सवाल जवाब नहीं माँगता। उसे किसी के हाल से मतलब नहीं। मैं अगर उससे कह भी दूँ कि मुझे हाल में दिल का दौरा पड़ा था, तो वह कहेगा, 'अच्छा!' या कह दूँ कि मुझे नोबल पुरस्कार मिल गया है, तो भी कहेगा, 'अच्छा?' मेरी इन दोनों स्थितियों को वह सिर्फ 'अच्छा' कहकर टाल देगा। वह जानता है, न उसे दिल का दौरा पड़ा, न नोबल पुरस्कार मिला। वह तो अपनी किसी नयी उपलब्धि के बारे में बताने को रुका है। वह घर से तय करके चला होगा कि आज इन-इन आदमियों को बताना है। किसी की जिन्दगी में दिलचस्पी लेकर वह पथभ्रष्ट नहीं होता। उतने आदमियों की बात कर वह घर लौट जायेगा।

'क्या हाल-चाल हैं?'—कहकर वह कुछ ज्यादा मुसकरायेगा। फिर कहेगा, ''उस कमेटी में अपनी नामजदगी हो गयी। बहुत लोग कोशिश में थे।''

मैं कहूँगा, ''बड़ी खुशी हुई सुनकर। सम्मान की बात है।''

वह कहेगा, ''अपन तो इस तरह सोचते हैं कि कमेटी में दस बड़े-बड़े लोगों से

मेल-जोल होगा। इससे कुछ फायदा हो जायेगा।''

फायदा बताकर वह कहेगा, ''अच्छा चलूँ? और सब ठीक है न!''

अपने को भावनात्मक रूप से किसी भी व्यक्ति से बिना जोड़े सब निभाता जाता है। जो उसके लिए उतना ही निर्जीव है जितना पत्थर, उससे रोज घर जाकर मिलेगा, अगर वह उसे कोई फायदा पहुँचा सकता है। ठण्डी औपचारिकता में जब वह भावना की गर्मी भरने का नाट्य करता है, तब बहुत घृणास्पद हो जाता है। तब उसे सहा नहीं जा सकता।

मेरे एक मित्र से उसे कोई काम कराना था। वे एक दिन अचानक बीमार पड़ गये। इसे मालूम हुआ, तो इसने सोचा होगा कि जिस आदमी को खुश रखना है, उसकी बीमारी में रोज़ उससे मिलने जाना चाहिए। वह रोज शाम को मिलने जाने लगा। मैं भी शाम को वहाँ होता और मैं रोज उस आदमी का बर्ताव देखता। ऐसा लगता कि उसने बीमार के प्रति कर्तव्य को सूत्रों पर उतार लिया है—चिन्ता प्रकट करना, अपनी दुखद प्रतिक्रिया बताना, वर्तमान हालत पूछना और कुछ सलाह देना।

इन चारों स्थितियों में से वह रोज सफाई से गुजर जाता। कमरे में चिन्ता धारण करके घुसता और कुछ देर उसी तरह मुँह लटकाये बैठा रहता, जैसे बीमार मरने ही वाला है।

इसके बाद बँधे-बँधाये सवालों में हालचाल पूछता :

''अब बुखार कैसा है?''

''पेट का दर्द बन्द हुआ?''

''रात को नींद तो ठीक आई थी न?''

फिर चुप।

मेरी तरफ देखकर कहता, ''मुझे तो सक्सेना साहब ने बताया कि अचानक आपकी तबीयत खराब हो गयी। मैं घबरा उठा। मैंने कहा, कल ही तो मैं मिला था। तब तो बहुत अच्छे थे। चार घण्टों में उन्हें क्या हो गया? मैंने फौरन साइकिल उठायी और बंगले पर आया। देखा, तो आप बेहोश पड़े थे। शरीर जैसे आग हो गया था। मैं तो देखकर खुद बहुत नर्वस हो गया।''

फिर ज़रा देर चुप।

इसके बाद सलाह देगा, ''आप सिगरेट पीना छोड़ दीजिए। यह बहुत नुकसान करती है। छोड़ नहीं सकते, तो बहुत कम कर दीजिए।''

फिर चुप बैठा रहता। थोड़ी देर बाद घड़ी देखकर उठता। कहता, ''अब आज्ञा दीजिए। मेरे योग्य कोई सेवा।''

रोज इतना बँधा-बँधाया रोल वह अदा कर जाता। उसे देखते ही मेरे बीमार मित्र परेशान हो जाते। वह मेरी तरफ बड़ी कातर दृष्टि से देखते। मैं खुद परेशान होता। मगर हम कुछ नहीं कर सकते थे। वह बेहिचक अपना रोल शुरू करता। वही मुद्रा, वही प्रश्न, वही शब्द रोज दुहराता। कोई दरवाजे के बाहर से सुनता, तो यही समझता कि इस कमरे

में हर शाम को यही रिकार्ड बजाया जाता है।

अगर मेरी बीमारी में वह रोज मुझे देखने आये, तो मुझे डर है, मैं कभी अच्छा न होऊँ।

सोचता हूँ, किस साधना से आदमी ऐसा ठण्डा हो जाता है? जिन्दगी में इतनी तरह की आग हैं, कहीं कोई गर्मी इसे महसूस क्यों नहीं होती? जिन्दगी की जटिलता को सुलझाकर इसने किस तरह सीधा और सपाट कर लिया है?

वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ता। मेरे प्रति उसके मन में कोई दुर्भावना नहीं है —कोई भावना नहीं है। वह किसी का कोई नुकसान नहीं करता। निहायत शरीफ आदमी है पर उसे देखकर मैं परेशान हो जाता हूँ। लगता है, बर्फ की चट्टान मेरी तरफ लुढ़कती हुई आ रही है।

◆

साहब महत्त्वाकांक्षी

उस क्लब में देश की दुर्दशा पर भाषण देने के लिए हम चार लोगों को बुलाया गया था।

यों विषय था—'देश की वर्तमान दशा', मगर सारे वक्ता और श्रोता जानते हैं कि वर्तमान दशा का मतलब हमेशा 'दुर्दशा' होता है।

हम पहुँचे, तो 10 मिनट तक हाथ मिलाते रहे और यह होता रहा—ग्लेड टू मीट यू! दी प्लेजर इज माइन! (आपसे मिलकर प्रसन्न हुआ। सुख तो मेरा ही है)।

देश की दुर्दशा सुनने के लिए लोग कितने बढ़िया कपड़े पहनकर आये थे।

मेरा एक दोस्त भी क्लब का सदस्य है। उसने भी खास अदा से कहा, "ग्लेड टू मीट यू। इट्स ए प्लेजर एण्ड ए प्रिविलेज।"

मैंने उसे अलग ले जाकर कहा, "बाहर तो तू इस तरह मिलता नहीं है। यहाँ क्या हो गया?"

उसने जवाब दिया, "रामलीला का रावण क्या बाहर भी सीताहरण करता है?"

उनमें से एक ने मेरा विशेष ध्यान खींचा। उसकी किस्मत में कहानी का पात्र होना लिखा था। उनमें सबसे अच्छे कपड़े उसी के थे। मुस्कान का अभ्यास उसने औरों से ज्यादा किया था। मुस्कुराहट के सच्ची होने का धोखा हो जाता था। वह अपनी अधकटी मूँछ के किनारे के एक बाल को पकड़कर खींचने की लगातार कोशिश कर रहा था। परेशान था, जैसे वह बाल ओठ को छेदकर जबड़े में घुसा जा रहा हो।

हम लोगों ने जमकर देश की दुर्दशा का वर्णन किया। जब-जब दुर्दशा ज्यादा मार्मिक हो जाती, वे लोग ताली बजाते। उनका कार्यक्रम सफल हो रहा था। देश की दुर्दशा अगर जरा कम होती, तो कार्यक्रम इतना सफल न होता। मैंने सोचा—मेरे देश, तू कितना विचित्र

और महान है। कुछ लोगों के कार्यक्रमों की सफलता के लिए तू अपनी कितनी दुर्दशा करवा रहा है !

वे सब खुश थे। मगर खुश होने का भी उनका अलग ढंग था। वे साधारण आदमी की तरह खुश नहीं थे। ज्यादा खुश हो जाना गँवारूपन है और ऐसे मौके पर खुश न होना अशिष्टता है। वे नापकर खुशी जाहिर कर रहे थे। हमारे लिए खुशी की मुस्कान में दो दाँत दिखना काफी था; ढाई भी हो सकते हैं। मुख्यमंत्री आयें, तब चार दाँतों के लायक खुशी होगी। उनमें हर एक-दो या ढाई दाँत की मुस्कान लेकर हाथ मिलाता और कहता—इट वाज वण्डरफुल! मोस्ट इण्टरेस्टिंग!

वह आदमी बाल उखाड़ता हुआ बढ़ा और हम चारों से हाथ मिलाकर बोलता गया—मोस्ट इण्टरेस्टिंग! शार्ट एण्ड स्वीट!

उन्होंने आपस में भी एक-दूसरे से कहा कि कार्यक्रम अच्छा रहा।

भोज पर बैठे, तो बातें देश की ही होती रहीं। वे लोग अत्यन्त भावुक हो उठे थे। कहते—रीयली, दी कण्ट्री इज गोइंग टु डाग्ज। दूसरा कहता—आई से, वी आर दी मोस्ट फालन पीपुल। तीसरा कहता—रीयली, दी होल कण्ट्री इज स्टारविंग।[1]

मुझे पहली बार मालूम हुआ कि तली मछली और सलाद के साथ देश की दुर्दशा इतनी स्वादिष्ट लगती है।

विदा के वक्त उन्होंने फिर कहा, ''इट वाज वण्डरफुल। मोस्ट इण्टरेस्टिंग!''

वह आदमी अभी भी बाल से उलझा था। शायद 20-25 सालों से उस बाल को खींचने की कोशिश कर रहा था। इतनी मेहनत से तो अकेला ही एक नहर खोद सकता था। उसने हम लोगों से कहा, ''मोस्ट इण्टरेस्टिंग! शार्ट एण्ड स्वीट!''

आगे हम कभी वहाँ किसी शोक-समारोह में भी जायेंगे, मार्मिक शोक-भाषण देंगे, तब भी वे लोग कहेंगे—मोस्ट इण्टरेस्टिंग ! शार्ट एण्ड स्वीट !

लगभग महीने भर बाद वह आदमी मुझे फिर कॉफी हाउस में मिल गया। बाल खींचने में अभी तक सफल नहीं हुआ था। कोशिश बराबर जारी थी।

वह बड़े उत्साह से मिला। कहने लगा, ''परसों रेडियो पर आपकी कविता सुनी ! बहुत अच्छी थी।''

मैंने कहा, ''वह कहानी थी।''

उसने कहा, ''कहानी थी? तब तो और भी बढ़िया थी, शार्ट एण्ड स्वीट !''

यहाँ-वहाँ की कुछ बातों के बाद, जब उसका विषयों का 'स्टॉक' खत्म होने लगा, तो उसने कहा, ''और क्या हाल है?''

मैंने भी 'स्टाक' खत्म होने की घोषणा कर दी, ''सब ठीक है। आप सुनाइए।''

उसने कहा, ''क्या कहें साहब! देश की हालत इस वक्त बड़ी नाजुक है।''

---

[1] सचमुच देश बरबाद हो रहा है। हम बहुत गिरे लोग हैं। सारा देश भूखा मर रहा है।

देश के बारे में उसने मुझे मार दिया। मैं 'सब ठीक' समझ रहा था, मगर उसे देश की नाजुक हालत का अहसास था।

मैं डरा भी! जो देश की हालत से बात शुरू करे, वह भयानक 'चिपकू' होता है। दुनिया की हालतवाला तो और खतरनाक होता है। दो साल पहले वियतनाम की बात करता एक आदमी मुझे मिला था। अब वह सिवा अपने और किसी की बात नहीं करता।

मैंने तय किया—एक तो इससे बचूँगा। दूसरे इसे गम्भीर नहीं होने दूँगा। इसकी बातें मजाक में टालूँगा।

वह न जाने क्यों, एकाएक सामाजिक हो गया। अकसर मिल जाता और वही बात कहता—इस वक्त देश की हालत बहुत नाजुक है।

बहुत हो गया, तो मैंने नक्शा फैलाकर उसका 'देश' ढूँढ़ने की कोशिश की। कहीं नहीं मिला। मेरी भूगोल की पढ़ाई बेकार गयी। आखिर इसका देश है कहाँ? किस देश की चिन्ता कर रहा है ? घर और क्लब मिलाकर जिसकी दुनिया बनती है, उसका देश क्या बाथरूम है या बार है ? अगर उसका वही देश है, जो हम सबका, तो इस देश पर नया संकट क्या आ गया ? क्या बाजार में स्कॉच व्हिस्की नहीं मिलती या इसका रसोइया छुट्टी पर चला गया?

वह पहले एक सरकारी प्रतिष्ठान का मैनेजर था। 2-3 साल पहले उसे 'कम्पलसरी रिटायरमेण्ट' मिल गया। बड़े भ्रष्टाचारी को बाइज्जत अलग कर देने की विधि को 'कम्पलसरी रिटायरमेण्ट' कहते हैं। चपरासी या बाबू का भ्रष्टाचार पकड़ा जाय, तो वह 'डिसमिस' होता है। जेल भी भेजा जा सकता है, क्योंकि वह सिर्फ 5-10 रुपये खाता है; मगर बड़ा अफसर जब 5-10 लाख दबा लेता है और सरकार उस पर ध्यान देने के लिए मजबूर हो जाती है, तब उससे हाथ जोड़कर कहती है—हुजूर, आशा है, आप अब तक काफी खा चुके हैं। अब अगर आप उचित समझें तो बाकी जिन्दगी चैन से गुजारें।

वह सरकार के प्रति करुणा से भरकर 'कम्पलसरी रिटायरमेण्ट' ले लेता है और बाइज्जत बाकी उम्र काटता है।

जब चपरासी भी लाख रुपये खाने लगेगा, तब वह भी बर्खास्त नहीं होगा। 'कम्पलसरी रिटायरमेण्ट' पर बैठेगा।

यह आदमी बड़े ठाठ से और बाइज्जत जिन्दगी गुजार रहा था। बँगले, कारें और बेहिसाब रुपया। शौक उसके कई थे मगर इधर उसे यह देश का नया शौक लग गया था। देश की लत भी बुरी होती है। एक बार लग जाय, तो छूटती नहीं।

मैंने सुना, वह बहुत लोगों से मिलने लगा है और सबसे देश की नाजुक हालत की बात करता है। जो उसे जानते थे, वे कहते थे, या तो उसका दिमाग खराब हो गया है, या देश के सचमुच बुरे दिन आ गये हैं।

एक सुबह वह मेरे घर आ गया। कार से उतरा, तो पहचानने में देर लगी। वह बदल गया था। कोट, पैण्ट, टाई छूट गये थे। कुरता, पायजामा, जाकिट पहने हुए था।

मैंने पूछा, "यह क्या हुआ?"

उसने जरा झेंपते हुए कहा, "मैं अब बदल गया हूँ। बिल्कुल राष्ट्रीय हो गया हूँ।"

15 अगस्त 1947 को ऐसा सामूहिक रूप से हुआ था। ज्योंही तिरंगा झण्डा ऊपर गया था, बहुत लोगों के पैण्ट नीचे खिसक गये थे। उनकी जगह धोती आ गयी थी। 20 साल बाद फिर यह पैण्ट खिसका। राष्ट्रीय होने का फैशन अभी गया नहीं है।

वह बोला, "देश को परिवर्तन चाहिए।"

मैंने कहा, "कैसा परिवर्तन? जैसे कपड़े बदलना?"

वह गम्भीर था। कहने लगा, "मजाक छोड़िए। देश की हालत इस वक्त बड़ी नाजुक है।"

मैंने कहा, "सो तो देख रहा हूँ, और नाजुक हो जाएगी, तब क्या एकदम नंगे हो जायेंगे?"

वह बोला, "आपकी हमेशा मजाक करने की यह आदत मुझे पसन्द नहीं है। मैं गंभीर बात करने आया हूँ।"

मैंने कहा, "तो एक बार साफ कह दीजिए। अपने सारे पत्ते खोल दीजिए। क्या है आपका इरादा?"

उसने कहा, "देखिए, देश की···"

मैंने काटा, "देश को फिलहाल बिल्कुल छोड़ दीजिए। अपनी बात कहिए।"

उसने कहा, "मैंने संसद का चुनाव लड़ने का निश्चय कर लिया है।"

अब मैं समझा कि पिछले दो-तीन महीनों से देश की हालत क्यों नाजुक है।

मैंने पूछा, "आपने ऐसा क्यों तय कर लिया?"

उसने कहा, "देश परिवर्तन माँगता है। वह हमसे कुछ अपेक्षा करता है। हम भी तो भारत माता की सन्तान हैं।"

मेरे मुँह से फिर निकल गया, "मुझे तो मालूम ही नहीं था।"

वह चौका! बोला, "मजाक नहीं। मैं बहुत 'सीरियस' हूँ। मैं एकदम 'पब्लिक लाइफ' में आना चाहता हूँ।"

मैंने कहा, "मगर आप उलटा कर रहे हैं। लोग 'पब्लिक लाइफ' में पहले आते हैं, चुनाव बाद में लड़ते हैं। आप चुनाव पहले लड़ेंगे, पब्लिक लाइफ में बाद में आयेंगे।"

उसके पास जवाब था। बोला, "देश इस वक्त बड़ी जल्दी में है।"

मेरे लिए बड़ी समस्या थी। इसने ऐसा निर्णय कैसे ले लिया? बहुत सोचने पर मैंने कल्पना की कि ऐसा हुआ होगा—

एक दोपहर को 'लंच' टेबिल पर इसकी पत्नी से बातें हो रही होंगी।

पत्नी ने कहा होगा—अपने पास बँगले हैं, कारें हैं, गहने हैं, पैसा है। अब कोई और बढ़िया चीज लाओ।

इसने पूछा होगा—क्या ले आऊँ?

पत्नी बोली होगी—कोई ऐसी चीज, जिससे इज्जत बढ़े। पैसा तो बहुत है।

इसने सोचकर कहा होगा—अच्छा, इस बार 'लोक-सभा' घर में ले आऊँगा।

पत्नी ने उत्साह से कहा होगा—हाँ, जरूर ले आओ। हम उसे 'फ्रिज' में रख देंगे। मिसेज चोपड़ा का घमण्ड भी टूट जायेगा। मैं उससे कहूँगी—चोपड़ा साहब से कहकर विधान-सभा ही बुलवा लें। क्यों? कितने में आ जायेगी लोक सभा?

इसने कहा होगा—लेना है तो दाम की क्या चिन्ता? पहले सस्ती आती थी। अब कुछ कीमत बढ़ गयी है।

पत्नी ने कहा होगा—जैसे भी मिले, ले जरूर आओ।

इसके बाद ही इसे महसूस हुआ होगा कि देश की हालत बड़ी नाजुक है।

मैंने उसे समझाया, ''आपकी कोई सार्वजनिक सेवा नहीं है। बहुत लोग आपको नहीं जानते हैं। आप कैसे जीतने की उम्मीद करते हैं।''

वह मुझसे ज्यादा समझा हुआ था। कहने लगा, ''वह सब मैंने समझ लिया है। अपने देश का चुनाव तो एक नाटक है। हमारा गँवारों का देश है। सच पूछा जाय, तो हम प्रजातन्त्र के लायक ही नहीं हैं। यहाँ वोट पाने के कई तरीके हैं। मैं सब जानता हूँ। सारा प्रबंध कर लिया है।''

आखिरी बात कहते-कहते उसने एक आँख बन्द करके इशारा किया।

मैंने कहा, ''फिर जीतने के लिए लगभग दो लाख वोट चाहिए।''

वह बोला, ''हाँ-हाँ, मैं बतलाता हूँ। देखिए 6 लाख का क्षेत्र है यह। इसमें से लगभग 4 लाख का मतदान होगा। इन चार लाख मतदाताओं में करीब 50 हजार ऐसे होंगे, जो घबड़ाते हुए मतदान केन्द्र में घुसेंगे और घबड़कार कहीं सील लगा देंगे। वे हर दफ्तर को पुलिस थाना समझते हैं। अवर्स इज ए बैकवर्ड कण्ट्री। इनमें से लगभग 30 हजार तो घबड़ाकर अपने निशान पर सील लगा ही देंगे। 30 हजार तो वे हुए। अब आगे चलिए—''

मैंने रोका, ''आगे बिल्कुल मत चलिए, आपने प्रजातन्त्र की नस पकड़ ली है। घबड़ाते हुए मतदाता पर जो निर्भर है, उसकी जीत पक्की है।''

वह खुश हुआ। और ध्यान से उस बाल को खींचने की कोशिश करने लगा।

बोला, ''बस, सारा प्रबन्ध तो कर लिया है। प्रचार का जिम्मा आप ले लीजिए।''

जिम्मा मैंने ले लिया। पर कर नहीं सका।

हुआ यह कि वह पर्चे में लिखवाना चाहता था—'जनता के जाने-माने सेवक' मगर मेरे हाथ से लिखा गया—'जनता के जाने-माने भ्रष्टाचारी।' मैंने उसे बताया नहीं, पर आगे प्रचार-कार्य का खतरा मोल नहीं लिया।

वह लड़ा। जमानत उसकी जब्त हो गयी।

मिला, तो मैंने पूछा, ''यह कैसे हो गया? आपका हिसाब तो पक्का था।''

उसने कहा, ''जनता ने धोखा दिया।''

मैंने कहा, ''याने वह इस बार घबड़ायी नहीं।''

उसने कहा, "हाँ, ऐसा ही मालूम होता है। आपने उस दिन क्लब में ठीक कहा था—वी ऑर ए मोस्ट फॉलन पीपुल। दी कण्ट्री इज गोइंग टू डाग्ज! बड़े गिरे हुए लोग हैं!"

वह गुस्से से उस बाल को खींचने लग गया।

मुफ्तखोर

उसकी कल्पना करता हूँ तो वह मुझे ऐसा भोजन लगता है, जिसमें मक्खी पड़ी हुई है। पेट की माँग पूरी करने के लिए आदमी मक्खी को निकालकर खाना खाने लगता है, मगर एक घिन उसके मन में बनी रहती है। मितली के साथ ही खाते जाना एक कष्टकर अनुभव है, पर तृप्तिकर भी।

वह जब आता है, तब मुझे मितली आती है, पर मैं चाहता हूँ कि वह आये। उससे मुझे पैसे मिलते हैं। पैसे मुझे चाहिए। मैं मक्खी को निकालकर खाना खाने लगता हूँ।

पाठ्यपुस्तकों के बहुत बड़े प्रकाशक का बेटा है। कभी कुछ अध्याय लिखवाता है, कभी किसी पाण्डुलिपि को ठीक करवाता है और कभी सम्पादन करवा लेता है। उम्र में वह मुझसे आधा है, पर चतुराई में 'मेरे पिता के बड़े भाई' के बराबर। वह बड़ी आसानी से, जब चाहता है, मेरा दादा हो जाता है।

मैं खिड़की से उसे आता देख लेता हूँ। सामने मैदान है। मैदान में घुसते ही उसकी चाल और अदा से मैं समझ जाता हूँ कि यह आज वाजिब पैसे देगा, कम पैसे देगा या मुफ्त में काम करवायेगा। हर स्थिति में वह अलग ढंग से मेरे पास आता है।

आज मैदान में घुसते ही वह झुक गया है। उसकी जवानी गायब हो गयी है। चाल में बुढ़ापा है। चेहरे पर हजार वर्षों की चिन्ता है। वह पोर्टफोलियो को हिलने नहीं दे रहा है। नीचे देखते हुए धीरे-धीरे इतने हल्के चल रहा है कि मेरे मैदान की घास को कष्ट न हो।

आज वह मुफ्त में कोई काम कराने आ रहा है। पैसे देकर काम कराने आता है, तब मेरे घास के दर्द का इतना ख्याल नहीं रखता। आज की थाली में एक नहीं पचीसों मक्खियाँ पड़ी हैं। मुझे मितली आती है।

वह चला आ रहा है। लगता है, जाली नोटों की गड्डी सरकती आ रही है।

वह दरवाजे पर आता है।

'मैं!' वह रुकता है। आर्त्त बकरी की तरह उसकी 'मैं' है। उसके 'मैं' में संगीत होता है। एक लय। लगता है, वह कोई रागिनी छेड़नेवाला है। 'मैं' के बाद वह हमेशा रुकता है। उसके बाद कहता है, 'आ सकता हूँ।' 'मैं' के बाद वह कितना रुकता है, इससे मैं अन्दाजा लगा लेता हूँ कि वह वाजिब पैसे देगा, कम देगा या मुफ्त में काम करवायेगा।

आज वह 'मैं' के बाद इतना रुकता है कि लगता है, दरवाजे पर दो आदमी हैं। एक सिर्फ 'मैं' कहता है और दूसरा कहता है, 'आ सकता हूँ।'

निश्चित है कि मुफ्त में काम कराने आया है।

वह धीरे से पर्दा हटाकर कमरे में घुसता है। धीमे-धीमे सरकता है। या तो वह नंगे पाँव है या उसके जूतों में एड़ी नहीं है। आहटहीन व्यक्तित्व हो गया। वह धीमे से कुर्सी पर बैठ जाता है। इतने हल्के से बैठता है कि कुर्सी को तकलीफ न हो। कम-से-कम वजन कुर्सी पर डाल रहा है। कुर्सी पर पीछे पीठ को टिकाता नहीं है। इससे कुर्सी को दर्द होगा। यों उसे दुःख है कि बेचारी कुर्सी पर उसका इतना भी बोझ पड़ रहा है।

बिल्कुल पक्का हो गया कि मुफ्त में काम कराने आया है। पैसे देकर काम कराने आता है तब मेरी कुर्सी की तकलीफ का इतना ख्याल नहीं करता। मैं उसका चेहरा देखता हूँ। वहाँ भयानक भक्ति-भाव है। मेरे चेहरे पर की नफरत उससे छिपी नहीं है। जो नफरत करता है, उसके प्रति भक्तिभाव धारण कर लेना, बड़ी लम्बी साधना में आता होगा—'आपको मैंने डिस्टर्ब तो नहीं किया?'

मैं पत्रिका पलटने लगता हूँ। वह उसी तरह बैठा है। शांत। उसे जरा अहसास नहीं है कि मैं उसकी अवहेलना कर रहा हूँ। मैं उसकी तरफ देख नहीं रहा हूँ, पर मुझे अनुभव हो रहा है कि उसकी आँखों में से लंबे-लंबे काँटे निकल आये हैं और मुझे जगह-जगह छेद रहे हैं।

मैं पत्रिका फेंककर सीधा उसकी तरफ देखता हूँ। फौरन फैसला कर लेना चाहता हूँ—मार-काटकर एकदम मामला तय हो जाय।

मैं पूछता हूँ, "कैसे आये?"

वह कहता है, "यों ही, दर्शन करने चला आया।"

यह नम्रता मुझे काट जाती है। मुनाफे के आदिम देवता के सामने काटने से पहले वह बकरे की आरती कर रहा है। मैं तय करता हूँ—इसका काम हरगिज नहीं करूँगा।

वह कहने की तैयारी कर रहा है।

सिपाहियों को संगीन-चार्ज का अभ्यास कराने के लिए सामने रेत के बोरे टाँग दिये जाते हैं। सिपाही बोरे में संगीन घुसेड़कर अभ्यास करता है। मुझे एकदम लगता है, मैं आदमी नहीं, रेत का बोरा हूँ। इसके बाप ने संगीन लगी बन्दूक हाथ में देकर कहा होगा—'नेपियर टाउन में तेरे लिए एक रेत का बोरा टँगा है। जा, उसे छेदकर आ।'

मेरी छोटी भानजी कमरे में से निकली। वह मुसकराता है—'बूढ़े' की तरह वात्सल्य से। कहता है—'बेबी, क्या नाम है तुम्हारा?'

वह वातावरण बना रहा है।

वह पचीसों बार वातावरण बनाने के लिए बेबी से नाम पूछ चुका है और वह बता चुकी है। अब वह जवाब ही नहीं देती।

एक बार उसे कुछ ज्यादा वातावरण बनाने की जरूरत पड़ी थी। कानवेण्ट में पढ़नेवाला पड़ोस का बच्चा पैण्ट, टाई से लेस मेरे कमरे में खड़ा था। इसने उससे

कहा—'हलो डैडी, हाउ आर यू?' मैं हँसा, तब भी वह नहीं समझा कि उसने बच्चे को डैडी कह दिया है। उसे तो वातावरण बनाने से मतलब था।

आज उसने फिर अतिरिक्त वातावरण बनाया। बोला, ''बेबी बहुत होशियार है।''

मैं खुश नहीं हुआ। पर वह भी निराश नहीं हुआ।

मैं और सँभल जाता हूँ। इसका काम हरगिज नहीं करूँगा।

दीवार पर प्रेमचन्द के चित्र को देखकर वह पूछता है, ''यह क्या आपके पिताजी का चित्र है?''

कहता हूँ, ''मुंशी प्रेमचन्द का है।''

वह कहता है, ''आपके जैसा ही चेहरा है। क्यों न हो? वह भी साधक थे, आप भी साधक हैं।''

मुझे फिर 'साधक' पर गुस्सा आया। मैं उससे बहुत नफरत करने लगा हूँ। वह प्रेमचन्द पर से ही शायद मेरे ऊपर वार करना चाहता है।

''प्रेमचन्द तो महान लेखक थे, पर बड़ी तकलीफ भोगते रहे। अपने देश में लेखकों की कद्र नहीं होती।''

मैं थोड़े जोर से कहता हूँ, ''होती है।''

वह थोड़ा निराश हो जाता है। उसका वातावरण बिगड़ रहा है। पूछता है, ''आप कहते हैं, लेखक की कद्र होती है?''

मैं कहता हूँ, ''हाँ, देखो, तुम्हीं दर्शन करने इतनी दूर से आये हो!''

इसे मेरा मजाक समझकर उसने तय किया कि हँसना उसका कर्तव्य है। वह जरूरत से ज्यादा हँस दिया।

हँसी के वातावरण में उसने मुझ पर वार करना ठीक समझा। टाइप किया हुआ कागज निकाला और मेरे सामने फैलाकर बोला, ''सर, थोड़ा-सा कष्ट दे रहा हूँ। इस पर यहाँ दस्तखत कर दीजिए। राजस्थान शिक्षा-बोर्ड को ये किताबें भेजनी हैं।''

मैं सँभलकर पूछता हूँ, ''कोर्स में लग जायेंगी, तो खूब बिकेंगी?''

''खूब तो क्या, थोड़ी ही बिकेंगी।''

''तुम्हारी कमाई में से मुझे क्या मिलेगा?''

वह चिन्तित होता है। वार गड़बड़ हो रहा है। कहता है, ''सर, आपको तो बस जरा दस्तखत कर देना है, बस।''

मैं कहता हूँ, ''मगर मेरे दस्तखत के बिना किताबें मंजूर नहीं होंगी न?''

वह चुप हो जाता है। सोच रहा है। मैं कहता हूँ, ''अपने एग्रीमेंट में यह नहीं लिखा है कि तुम जहाँ चाहोगे, वहाँ मुझे दस्तखत भी करना पड़ेगा। मैं दस्तखत तभी करूँगा, जब तुम मुझे रुपये दोगे।'' उसके चेहरे पर विषाद आ गया है। लगता है, मातमपुर्सी के लिए आया है। मानो अभी कहकर निपटा है 'सर, मालूम हुआ, आपके पिताजी की मृत्यु हो गयी। बहुत अफसोस हुआ।'

वह वैसा ही बैठा है। धीरे-धीरे वह विषाद को हटाता है। उसका चेहरा फिर पहले जैसा हो गया है। वह पूछता है, ''सर, आपकी वह पत्रिका क्यों बन्द हो गयी?''

वह मेरी सारी कमजोरियाँ जानता है। पत्रिका बन्द होने की कसक मेरे मन में है। वह इस कसक का फायदा उठाना चाहता है। जिसका लड़का वर्षों पहले मर गया है, उसे उसकी याद दिलाओ। लड़के की तारीफ करो—'अहा, बड़ा अच्छा लड़का था सुरेश।' और फिर उठते-उठते धीरे से कहो—'भैयाजी, 25 रुपये हों तो दे दीजिए।'

वह यही करना चाहता है। मैं उसे यह नहीं करने दूँगा।

मैं जवाब देता हूँ, ''पैसे की कमी के कारण पत्रिका बन्द हो गयी।''

वह उदास हो जाता है। ऐसा मुँह बनाता है, जैसे पैसे न होने से उसकी बीमार लड़की मर गयी हो। कहता है, ''हमारे देश का यही दुर्भाग्य है।''

मेरी बायीं कनपटी की नस अब खूब दर्द करने लगी है। मेरा दम घुटने-सा लगा है। मैं उसके मुँह से अच्छी बातें बर्दाश्त नहीं कर सकता। वह साधना की बात कर चुका है, लेखकों की गरीबी पर दुखी है, पत्रिका के बन्द होने पर उसे चिन्ता है और अब देश के दुर्भाग्य की बात कर रहा है। मैं सह नहीं सकता। मैं चाहता हूँ वह भद्दी बातें करे, गाली बके, बदतमीजी करे। अगर वह इस क्षण कोई फूहड़पन कर जाये तो मेरा तनाव एकदम खत्म हो जायेगा।

वह फिर कोशिश करता है, ''सर, इसे अभी डाक से भेजना है। जरा दस्तखत कर दीजिए न!''

मैं कहता हूँ, ''कह दिया न, दस्तखत नहीं करूँगा। पैसा लाओ।''

एक विषाद फिर उसके चेहरे पर घिर आया है। इस बार मेरे पिताजी की मृत्यु पर मातमपुर्सी का भाव नहीं है। ऐसा विषाद है, जैसे उसके पिताजी की मृत्यु हो गयी है और वह अभी कहकर निपटा है—'सर, हमारे पिताजी नहीं रहे। हम अनाथ हो गये। अब आपका ही सहारा है।' विषाद सच्चा है। पैसा इसका पिता है और मैं उसकी मृत्यु की घोषणा बार-बार कर रहा हूँ।

वह नीचा सिर किये बैठा है। मैं चाहता हूँ, यह उठे। एक क्षण के लिए मेरे मन में दया आती है। दुःख इसका सच्चा है। शेर की पकड़ से अगर जानवर निकल जाये तो क्या शेर का दुःख झूठा है? शेर क्रूर है, वह जानवर के प्राण ले रहा था—यह सब ठीक है। मगर उसका दुःख तो सच्चा है।

वह धीरे-धीरे फिर उबरता है। विषाद उड़ जाता है। उसके सामने आज का अखबार है। बड़े अक्षरों में उस पर फ्रांस के विद्यार्थी और मजदूर आन्दोलन का समाचार है। उसकी नजर समाचार पर पड़ती है। वह कहता है, ''सर, अपने देश में क्रान्ति क्यों नहीं होती?''

वह मेरी सारी कमजोरियाँ जानता है। जानता है, क्रान्ति की बात मुझे अच्छी लगती है।

पर कनपटी की नस जोर से फड़कने लगती है। मेरा दम घुटने लगता है। उसकी

उपस्थिति का अहसास मेरी साँस बन्द कर रहा है। उसके 'क्रान्ति' शब्द से मेरे सिर में दर्द होने लगता है। मैं चाहता हूँ, यह नंगा होकर नाचने लगे। यह कपड़ों पर थूकने लगे। उठकर मुझे एक तमाचा मार दे, गालियाँ बके। मेरे सारे कागज फाड़ डाले। मैं इसका अहसान मानूँगा। बस, अच्छी बातें न करे, पर वह मानता नहीं है। अपने सवाल का जवाब खुद देता है, ''बात यह है सर, कि अपने देश का आदमी पैसे से बिक जाता है।''

अब हद हो गयी है। अब मैं सह नहीं सकता। अगर यह नहीं जाता, तो आगामी दो मिनटों में या तो मैं दीवार पर अपना सिर दे मारूँगा या इसका गला घोंट दूँगा।

पर वह जायेगा कैसे! अगर मैं उससे बाहर निकल जाने के लिए कहूँ, तो भी नहीं जायेगा। अच्छी बातें करके मिन्नतें करेगा। अब इसकी एक भी अच्छी बात मुझे मार डालेगी। मुझे अब सिर्फ अपनी रक्षा करनी है। मैं एक झटके से वह कागज लेता हूँ, जैसे नाग से बचने के लिए आदमी फुर्ती से हटता है। दस्तखत करके उसे दे देता हूँ।

आँखें बन्द करके कुर्सी पर सिर एक तरफ टिका देता हूँ, मैं बेहद थक गया हूँ। मेरी सारी शक्ति चली गयी है। आँखें खोलता हूँ। वह एकदम जवान हो गया है।

कहता है, ''धन्यवाद। अब मैं चलता हूँ।''

वह ऐसे झटके से उठता है कि कुर्सी फर्श पर रगड़ खा जाती है।

उसके जूतों में एड़ी लग गयी है। वे खर-खर आवाज कर रहे हैं।

एक झटके से पर्दे को हटाता है।

सीढ़ियों पर से कूदता हुआ उतरता है।

वह मैदान पार कर रहा है। पोर्ट फोलियो जोर से हिलाता हुआ घास को रौंदता हुआ चला जा रहा है।

◆

धोबिन को नहिं दीन्हीं चदरिया

पता नहीं, क्यों भक्तों की चादर मैली होती है! जितना बड़ा भक्त, उतनी ही मैली चादर। शायद कबीरदास की तरह 'जतन' से ओढ़कर चदरिया को 'जस की तस' धर देते हैं—

दास कबीर जतन से ओढ़ी
धोबिन को नहिं दीन्हीं चदरिया!

अभी जो भक्त किस्म के वयोवृद्ध मेरे पास आये थे, उनकी चादर भी बेहद मैली थी। उनसे मेरा दो-चार बार का परिचय था। अचानक वे आ गये। मुझे अटपटा लगा—ये मेरे पास क्यों आ गये?

मुझे उनके परिचितों ने बताया था कि ये पहले सरकारी नौकरी में थे। ड्यूटी पर दुर्घटना में इनको चोट पहुँची। विभाग ने इलाज करवाया और छह हजार रुपया हरजाना

दिया। अब ये रिटायर हो गये हैं। लाख रुपये से कम सम्पत्ति नहीं है। जमीन भी है। मकान है। एक किराये पर है। पेंशन भी मिलती है। घर में दो प्राणी हैं—पति-पत्नी। कोई कष्ट नहीं है। भजन-पूजन में लगे रहते हैं। भगवान से लौ लगी है। आदमी तुच्छ हैं। पड़ोस में कोई मर रहा हो तो देखने भी नहीं जायेंगे। बड़े शान्तिमय, निर्मल आदमी हैं, क्योंकि लौ दुनिया से नहीं, परमेश्वर से लगी है।

घर में खाने-पीने का सुभीता हो, जिम्मेदारी न हो, तो सन्त और भक्त होने में सुभीता होता है। अभी साईं बाबा की मृत्यु की वर्षगाँठ पर सात दिनों तक यहाँ समारोह हुआ। दिन-रात चौबीसों घण्टे लगातार लाउडस्पीकर पर ऊँचे स्वर पर भजन और 'जै' होती रही थी। मोहल्ले के छात्र-छात्राएँ पीड़ित। बीमार लोग मौत का इन्तजार करते थे। दिन-रात कोलाहल। पढ़ें कब? नींद कब आये?

साईं बाबा मानव-कल्याण के आकांक्षी थे। उनकी आत्मा स्वर्ग में बहुत तड़प रही होगी।

हजारों—याने पचास-साठ हजार तो खर्च हुए ही होंगे। ये आये कहाँ से, पूछना फालतू है। अन्तिम दिन भण्डारे में ही तीन हजार लोगों ने भोजन किया होगा। यह सब चन्दे का पैसा! एक भजन बार-बार बजता—

दर्शन दे दे अम्बे मैया
जियरा दर्शन को तड़पे।

मैंने सोचा, इसे ऐसा भी गा सकते हैं—

दर्शन दे दे चन्दा मैया
जियरा खाने को तड़पे।

मैं एक दिन गया, यह देखने कि इस पतित समाज में ऐसे भक्त कौन हो गये हैं। पर मुझे जो कुछ प्रमुख 'साईं भक्त' मिले, वे महान थे। किसी पर गबन का मुकदमा चल रहा है। कोई सस्पेण्ड अफसर है। किसी की विभागीय जाँच हो रही है। मुनाफाखोर, मिलावटी। आदमी का खून उसके 'कल्याण' के लिए चूसने वाले। अफसरों को घूस खिलाने का धन्धा करने वाले पीले पत्रकार। राजनीति में वनवास भोगने वाले आधुनिक 'राम' जो दशरथ की आज्ञा से नहीं, जनता के खदेड़ देने से वनवास भुगत रहे हैं। फिर वे लोग जिनका धन्धा ही है चन्दा उगाहना किसी बहाने से और उसे पेट में डाल लेना।

मैंने सोचा—एक मैं पापी और इतने ये भक्त! मैं भक्तों के सामने से झेंपकर भाग आया।

फिर सोचा—साईं बाबा जीवित होते और ये उनके पास जाते। वे सन्त थे, ज्ञानी थे, अन्तर के रहस्य को, चरित्र को समझ लेते थे। वे इन्हें समझ लेते। यह आशीर्वाद माँगते, तो साईं बाबा कहते, 'परम पापी, देह के लिए बहुत कर चुके। अब देह-त्याग करो और नर्क के लिए बिस्तर बाँधो। वहाँ रिजर्वेशन मैं करा देता हूँ।'

तो मुझे भक्त से बड़ा डर लगता है। पर ये भक्त घर में आ गये। कबीर की 'धोबिन को नहिं दीन्हीं चदरिया' की गन्ध लेकर।

बैठते ही 'रामधुन' गाने लगे। फिर कहने लगे, "आप तो स्वयं ज्ञानी हैं। ब्रह्म ही सत्य है। जगत् मिथ्या है। माया शत्रु है। किसी को माया के जाल में नहीं फँसाना चाहिए। मैंने माया त्याग दी है। अब बस प्रभु हैं और मैं हूँ। लोभ, मोह, स्वार्थ—सबसे मुक्त।"

फिर वे 'हरे राम, हरे कृष्ण' गाने लगे।

मुझे परेशानी तो हुई, पर अच्छा भी लगा कि एक विरागी भक्त की चरण-रज मेरे घर में पड़ रही है।

मैंने उन्हें भोजन कराया। बड़ी रुचि से उन्होंने इस असार देह में काफी भोजन डाला।

फिर सो गये।

शाम को बात शुरू हुई।

भजन और हरि-स्मरण स्थगित हो गया। बीच-बीच में वे 'हे राम' कह लेते थे।

कहने लगे, 'ड्यूटी पर घायल होने का मुआवजा मुझे सिर्फ छह हजार रुपये दिया गया।"

मैं चौंका—माया सन्त के भीतर से कैसे निकल पड़ी! कहाँ छिपी थी? दिन-भर ये माया को कोसते रहे और अब छह हजार के मुआवजे की बात कर रहे हैं। माया सचमुच बड़ी ठगनी होती है।

फिर बोले, "मैंने पन्द्रह हजार का मुकदमा दायर किया था। पर अभी मैं हाई कोर्ट से केस हार गया।"

फिर उन्होंने एक कागज निकाला। बोले, "यह मैंने राष्ट्रपति को पत्र लिखा है। इसे देखिए।"

मैंने पत्र पढ़ा। तमाम अनर्गल बातें थीं। मुख्य बात जो लिखी थी, वह यह थी, "मैं ईश्वरभक्त हूँ। मनुष्य मेरे साथ न्याय नहीं कर सकता। मैं पन्द्रह हजार रुपये चाहता था। पर हाई कोर्ट ने मेरी माँग नामंजूर कर दी। जज लोग भी मनुष्य होते हैं। राष्ट्रपति महोदय, मेरा बयान ब्रह्मा, विष्णु, महेश के सामने होगा। अब इसका प्रबन्ध कीजिए।"

मैंने कहा, "जब माया आपने त्याग दी है, तो इतनी माया आप और क्यों चाहते हैं?"

उनका जवाब था, "मैंने माया त्याग दी, पर माया मुझे फँसाये है। वह कहती है—पन्द्रह हजार लो।"

मैंने कहा, "आप खुद माया के फन्दे में पड़ रहे हैं। इसे काट डालो निर्लोभ के चाकू से।"

वे कहने लगे, "कुछ भी हो, मैं राष्ट्रपति से न्याय करवाऊँगा। ब्रह्मा, विष्णु, महेश न्यायाधीश होंगे। तीनों को राष्ट्रपति बुलायें। मैं अपना केस इनके सामने ही रखूँगा।"

मैंने कहा, "पृथ्वी और स्वर्ग में डाक-तार संबंध अभी नहीं है। राष्ट्रपति ब्रह्मा, विष्णु, महेश को 'सम्मन' कैसे भेजेंगे? वे देव यहाँ नहीं आ सकते। एक ही रास्ता है।"

वे बोले, "क्या?"

मैंने कहा, ''आपको साथ लेकर राष्ट्रपति स्वर्ग जायें और ब्रह्मा, विष्णु, महेश के सामने आपका केस रखें।''

वे बोले, ''मुझे भी जाना पड़ेगा?''

मैंने कहा, ''हाँ। फिर वहाँ से कोई वापस नहीं लौटता। फिर पन्द्रह हजार का 'क्लेम' मान भी लिया गया तो 'पेमेण्ट' पृथ्वी पर होगा या वहाँ होगा? पुनर्जन्म अगर होता हो तो कोई कुत्ता, कोई सूअर बना दिया जाता है। कोई ठिकाना है, आप क्या बना दिये जायें। तब वे पन्द्रह हजार किस काम के?''

वे कहने लगे, ''याने मुझे भी जाना पड़ेगा?'' (घबराहट)

मैंने कहा, ''हाँ, वरना बयान कौन देगा? फिर स्वर्ग में सुख-ही-सुख है। आप तो विरागी हैं! वहीं रहिए।''

वे चिन्तित हुए। भजन बन्द हो गये। 'हरे राम, हरे कृष्ण' बन्द। कहने लगे, ''बात यह है कि इस पृथ्वी पर कुछ साल रहना है। कुछ काम भी करने हैं। देह छोड़ने की इच्छा नहीं है।''

मैंने कहा, ''बहुत रह लिये। देह तो पाप की खान है। पाप छूट जाय तो क्या हर्ज है? पर एक बात है।''

उन्होंने पूछा, ''क्या?''

मैंने कहा, ''राष्ट्रपति आपके साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के पास नहीं जायेंगे। मैं भी नहीं चाहता। कोई भी नहीं चाहता। आपको अकेले ही जाना होगा। राष्ट्रपति चिट्ठी शायद लिख दें।''

वे बोले, ''मेरा खयाल था कि मेरी इस चिट्ठी से राष्ट्रपति का दिल पिघल जायेगा और वे बाकी नौ हजार मुझे दिलवा देंगे। मेरा आग्रह यह नहीं है कि वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश के पास जायें। बस, नौ हजार और दिलवा दें।''

मैंने कहा, ''इस चिट्ठी को राष्ट्रपति का सचिव फाड़कर फेंक देगा और कलेक्टर को सूचित करेगा कि इस आदमी का दिमाग खराब हो गया है। इस पर निगरानी रखी जाय। कहीं कोई अपराध न कर बैठे।''

वे घबराये। कहने लगे, ''अरे बाप रे, ऐसा होगा? मेरे पीछे पुलिस पड़ जायेगी ?''

मैंने कहा, ''ऐसा ही होता है। कानून है।''

भक्ति उतर गयी। परमेश्वर उनके अपरिचित हो गये। ब्रह्मा, विष्णु, महेश कोई हैं, यह वे भूल चुके थे।

मेरा खयाल था, ये अध्यात्म में चले गये हैं और इनका दिमाग भी गड़बड़ हो गया है। पर मेरा अन्दाज गलत था। वे सामान्य ही थे।

उन्होंने कहा, ''तो यह पत्र राष्ट्रपति को न भेजूँ?''

मैंने कहा, ''कतई नहीं।''

वे बोले, ''आप कहते हैं, तो न भेजूँगा। पर आपसे बात करना है। बहुत प्राइवेट

है।''

भजन बन्द। राम, कृष्ण कोई नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश को वे भूल चुके थे। नर्क में भी हों तो कोई मतलब नहीं। मैंने कहा, ''कमरे में मैं और आप दोनों हैं। जो बात करनी है, बेखटके करें।''

अब उनका ईश्वर कहीं खो गया था। मिल नहीं रहा था। नौ हजार चेतना में ईश्वर की खाली 'सीट' पर बैठ गया था।

वे भक्त जरूर रहे, पर चादर में से बदबू कम आने लगी थी।

कहने लगे, ''अब तो यह मामला दिल्ली में ही तय होगा। आप दिल्ली जाते ही रहते हैं। कई संसद सदस्यों से आपके अच्छे संबंध है। सुना है, मंत्रियों से भी आपके संबंध हैं। आप कोशिश करें तो मामला तय हो सकता है। मुझे बाकी नौ हजार मिल सकते हैं।''

मैंने कहा, ''मैं कोशिश करूँगा, जरूर कहूँगा कि आपका नौ हजार, जिसे आप अपना 'क्लेम' कहते हैं, आपको मिल जाये।''

वे कहने लगे, ''बस मुझे सिर्फ आपका भरोसा है। इसीलिए मैं आया था। मैं ईश्वर को और आपको—दो को मानता हूँ। आप भी करुणासागर हैं।''

चादर की बदबू और कम हो गयी थी।

मैंने कहा, ''मगर आपके परम हितैषी ब्रह्मा, विष्णु, महेश कुछ नहीं कर पायेंगे नौ हजार दिलवाने में?''

वे बोले, ''उसे छोड़िए। आप ही मेरे ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। आप ही यह काम करवाइए।''

चन्दन पुँछ गया था।

जो हर क्षण ईश्वर का नाम लेते थे, वे अब एक बार भी ईश्वर की याद नहीं कर रहे थे।

कहने लगे, ''बस, मामला मैंने आप पर छोड़ दिया। आपके बड़े-बड़े 'सोर्स' हैं। आप यह काम करवा ही देंगे। अब मेरी गाड़ी का समय हो रहा है। मैं चलता हूँ।''

मैंने पूछा, ''भोजन?''

वे बोले, ''भोजन तो मैं स्वास्थ्य के खयाल से एक ही बार करता हूँ।''

मैंने भानजे से कहा, ''इनके लिए स्टेशन तक का रिक्शा करा दो। रिक्शेवाले को किराया तुम ही दे देना।''

वे बोले, ''अरे, आप कैसी बात करते हैं? आप रिक्शे का किराया देंगे?''

मैंने कहा, ''हाँ, आप मेरे घर आये। कृपा की। आप मेरे मेहमान हैं। मेरा कर्तव्य है यह।''

रिक्शे में बैठे वे। भानजे से कहा, ''बेटा, तुम जरा यहाँ से चले जाओ।''

भानजा चला गया।

तब उन्होंने मेरे कान में कहा, ''अगर आपने नौ हजार दिलवा दिये, तो तीन हजार

मैं आपको दे दूँगा। वन थर्ड।''

मुझे बिजली का झटका लगा। इनके मन में मेरी क्या छवि है!

भक्ति, सन्तत्व, निर्लोभ, मायाहीनता, विराग, मिथ्या जीवन से हम कहाँ तक आ गये थे।

मैंने उन्हें जवाब नहीं दिया।

रिक्शेवाले से कहा, ''तुम्हें किराया मिल गया। गाड़ी का टाइम हो रहा है। फौरन स्टेशन पहुँचाओ।''

मैंने उनकी 'नमस्कार' का जवाब भी नहीं दिया। मुझे होश नहीं था। फिर कमरे में बैठकर सोचता रहा कि ये भक्त, सन्त मुझे कैसा समझते हैं।

ये मुझे नहीं, जमाने के चरित्र को समझते हैं।

चदरिया गन्दी ओढ़ते हैं।

जस-की-तस रखना चाहते हैं। जीवन-भर वही चदरिया, उसी ढंग से ओढ़ गये। पर जाते वक्त बदबू काफी कम थी :

दास कबीर जतन से ओढ़ी
धोबिन को नहिं दीन्हीं चदरिया!

चूहा और मैं

यह कहानी स्टीन बेक के लघु उपन्यास 'ऑफ मेन एण्ड माउस' से अलग है।

चाहता तो लेख का शीर्षक 'मैं और चूहा' रख सकता था। पर मेरा अहंकार इस चूहे ने नीचे कर दिया है। जो मैं नहीं कर सकता, वह यह मेरे घर का चूहा कर लेता है। जो इस देश का सामान्य आदमी नहीं कर पाता, वह इस चूहे ने मेरे साथ करके बता दिया।

इस घर में एक मोटा चूहा है। जब छोटे भाई की पत्नी थी, तब घर में खाना बनता था। इस बीच पारिवारिक दुर्घटनाओं—बहनोई की मृत्यु आदि—के कारण हम लोग बाहर रहे।

इस चूहे ने अपना यह अधिकार मान लिया था कि मुझे खाने को इसी घर में मिलेगा। ऐसा अधिकार आदमी भी अभी तक नहीं मान पाया। चूहे ने मान लिया है।

लगभग पैंतालिस दिन घर बन्द रहा। मैं जब अकेला लौटा, घर खोला, तो देखा कि चूहे ने काफी 'क्रॉकरी' फर्श पर गिराकर फोड़ डाली है। वह खाने की तलाश में भड़भड़ाता होगा। क्रॉकरी और डिब्बों में खाना तलाशता होगा। उसे खाना नहीं मिलता होगा, तो वह पड़ोस में कहीं कुछ खा लेता होगा और जीवित रहता होगा। पर घर उसने नहीं छोड़ा। उसने इसी घर को अपना घर मान लिया था।

जब मैं घर में घुसा, बिजली जलायी, तो मैंने देखा कि वह खुशी से चहकता हुआ यहाँ से वहाँ दौड़ रहा है। वह शायद समझ गया कि अब इस घर में खाना बनेगा, डब्बे खुलेंगे और उसकी खुराक उसे मिलेगी।

दिन-भर वह आनन्द से सारे घर में घूमता रहा। मैं देख रहा था। उसके उल्लास से मुझे अच्छा ही लगा।

पर घर में खाना बनना शुरू नहीं हुआ। मैं अकेला था। बहन के यहाँ, जो पास में ही रहती है, दोपहर को भोजन कर लेता। रात को देर से खाता हूँ, तो बहन डब्बा भेज देती रही। खाकर मैं डब्बा बन्द करके रख देता। चूहाराम निराश हो रहे थे। सोचते होंगे—यह कैसा घर है। आदमी आ गया है। रोशनी भी है। पर खाना नहीं बनता। खाना बनता तो कुछ बिखरे दाने या रोटी के टुकड़े उसे मिल जाते।

मुझे एक नया अनुभव हुआ। रात को चूहा बार-बार आता और सिर की तरफ मच्छरदानी पर चढ़कर कुलबुलाता। रात में कई बार मेरी नींद टूटती। मैं उसे भगाता। पर थोड़ी देर बाद वह फिर आ जाता और मेरे सिर के पास हलचल करने लगता।

वह भूखा था। मगर उसे सिर और पाँव की समझ कैसे आयी? वह मेरे पाँवों की तरफ गड़बड़ नहीं करता था। सीधे सिर की तरफ आता और हलचल करने लगता। एक दिन वह मच्छरदानी में घुस गया।

मैं बड़ा परेशान। क्या करूँ? इसे मारूँ और यह किसी आलमारी के नीचे मर गया, तो सड़ेगा और सारा घर दुर्गन्ध से भर जायेगा। फिर भारी आलमारी हटाकर इसे निकालना पड़ेगा।

चूहा दिन-भर भड़भड़ाता और रात को मुझे तंग करता। मुझे नींद आती, मगर चूहाराम फिर मेरे सिर के पास भड़भड़ाने लगते।

आखिर एक दिन मुझे समझ में आया कि चूहे को खाना चाहिए। उसने इस घर को अपना घर मान लिया है। वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। वह रात को मेरे सिरहाने आकर शायद यह कहता है—क्यों बे, तू आ गया है। भर-पेट खा रहा है, मगर मैं भूखा मर रहा हूँ। मैं इस घर का सदस्य हूँ। मेरा भी हक है। मैं तेरी नींद हराम कर दूँगा। तब मैंने उसकी माँग पूरी करने की तरकीब निकाली।

रात को मैंने भोजन का डब्बा खोला, तो पापड़ के कुछ टुकड़े यहाँ-वहाँ डाल दिये। चूहा कहीं से निकला और एक टुकड़ा उठाकर आलमारी के नीचे बैठकर खाने लगा। भोजन पूरा करने के बाद मैंने रोटी के कुछ टुकड़े फर्श पर बिखरा दिये। सुबह देखा कि वह सब खा गया है।

एक दिन बहन ने चावल के पापड़ भेजे। मैंने तीन-चार टुकड़े फर्श पर डाल दिये। चूहा आया, सूँघा और लौट गया। उसे चावल के पापड़ पसन्द नहीं। मैं चूहे की पसन्द से चमत्कृत रह गया। मैंने रोटी के कुछ टुकड़े डाल दिये। वह एक के बाद एक टुकड़ा लेकर जाने लगा।

अब यह रोजमर्रा का काम हो गया। मैं डब्बा खोलता, तो चूहा निकलकर देखने लगता। मैं एक-दो टुकड़े डाल देता। वह उठाकर ले जाता। पर इतने से उसकी भूख शान्त नहीं होती थी। मैं भोजन करके रोटी के टुकड़े फर्श पर डाल देता। वह रात को उन्हें खा लेता और सो जाता।

इधर मैं भी चैन की नींद सोता। चूहा मेरे सिर के पास गड़बड़ नहीं करता।

फिर वह कहीं से अपने एक भाई को ले आया। कहा होगा—'चल रे, मेरे साथ उस घर में। मैंने उस रोटीवाले को तंग करके, डराके, खाना निकलवा लिया है। चल, दोनों खायेंगे। उसका बाप हमें खाने को देगा। वरना हम उसकी नींद हराम कर देंगे। हमारा हक है।'

अब दोनों चूहाराम मजे में खा रहे हैं।

मगर मैं सोचता हूँ—आदमी क्या चूहे से भी बदतर हो गया है ? चूहा तो अपनी रोटी के हक के लिए मेरे सिर पर चढ़ जाता है, मेरी नींद हराम कर देता है ? इस देश का आदमी कब चूहे की तरह आचरण करेगा ?

वैष्णव की फिसलन

वैष्णव करोड़पति है। भगवान विष्णु का मन्दिर। जायदाद लगी है। भगवान सूदखोरी करते हैं। ब्याज से कर्ज देते हैं। वैष्णव दो घण्टे भगवान विष्णु की पूजा करते हैं, फिर गादी-तकियेवाली बैठक में आकर धर्म को धन्धे से जोड़ते हैं। धर्म धन्धे से जुड़ जाय, इसी को 'योग' कहते हैं। कर्ज लेने वाले आते हैं। विष्णु भगवान के वे मुनीम हो जाते हैं। कर्ज लेने वाले से दस्तावेज लिखवाते हैं—

'दस्तावेज लिख दी रामलाल वल्द श्यामलाल ने भगवान विष्णु वल्द नामालूम को ऐसा जो कि—'

वैष्णव बहुत दिनों से विष्णु के पिता के नाम की तलाश में है, पर वह मिल नहीं रहा। मिल जाय तो वल्दियत ठीक हो जाय।

वैष्णव के नम्बर दो का बहुत पैसा हो गया है। कई एजेंसियाँ ले रखी हैं। स्टाकिस्ट हैं। जब चाहे माल दबाकर 'ब्लेक' करने लगते हैं। मगर दो घण्टे विष्णु पूजा में कभी नागा नहीं करते। सब प्रभु की कृपा से हो रहा है। उनके प्रभु भी शायद दो नम्बरी हैं। एक नम्बरी होते, तो ऐसा नहीं करने देते।

वैष्णव सोचता है—अपार नम्बर दो का पैसा इकट्ठा हो गया है। इसका क्या किया जाय? बढ़ता ही जाता है। प्रभु की लीला है। वही आदेश देंगे कि क्या किया जाय।

वैष्णव एक दिन प्रभु की पूजा के बाद हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा, ''प्रभु, आपके ही आशीर्वाद से मेरे पास इतना सारा दो नम्बर का धन इकट्ठा हो गया है। अब मैं इसका

क्या करूँ? आप ही रास्ता बताइए। मैं इसका क्या करूँ? प्रभु, कष्ट हरो सबका!''

तभी वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज उठी, 'अधम, माया जोड़ी है, तो माया का उपयोग भी सीख! तू एक बड़ा होटल खोल। आजकल होटल बहुत चल रहे हैं।'

वैष्णव ने प्रभु का आदेश मानकर एक विशाल होटल बनवाया। बहुत अच्छे कमरे। खूबसूरत बाथरूम। नीचे लाण्ड्री। नाई की दुकान। टैक्सियाँ। बाहर बढ़िया लॉन। ऊपर टैरेस गार्डन।

और वैष्णव ने खूब विज्ञापन करवाया।

कमरे का किराया तीस रुपया रखा।

फिर वैष्णव के सामने धर्म-संकट आया। भोजन कैसा होगा? उसने सलाहकारों से कहा, ''मैं वैष्णव हूँ। शुद्ध शाकाहारी भोजन कराऊँगा। शुद्ध घी की सब्जी, फल, दाल, रायता, पापड़ वगैरह।''

बड़े होटल का नाम सुनकर बड़े लोग आने लगे। बड़ी-बड़ी कम्पनियों के एक्जीक्यूटिव, बड़े अफसर और बड़े सेठ।

वैष्णव सन्तुष्ट हुआ।

पर फिर वैष्णव ने देखा कि होटल में ठहरने वाले कुछ असन्तुष्ट हैं।

एक दिन एक कम्पनी का एक्जीक्यूटिव बड़े तैश में वैष्णव के पास आया। कहने लगा, ''इतने महँगे होटल में हम क्या यह घासपत्ती खाने के लिए ठहरते हैं? यहाँ 'नानवेज' का इन्तजाम क्यों नहीं है?''

वैष्णव ने जवाब दिया, ''मैं वैष्णव हूँ। मैं गोश्त का इन्तजाम अपने होटल में कैसे कर सकता हूँ?''

उस आदमी ने कहा, ''वैष्णव हो, तो ढाबा खोलो। आधुनिक होटल क्यों खोलते हो? तुम्हारे यहाँ आगे कोई नहीं ठहरेगा।''

वैष्णव ने कहा, ''यह धर्म-संकट की बात है। मैं प्रभु से पूछूँगा।''

उस आदमी ने कहा, ''हम भी बिजनेस में हैं। हम कोई धर्मात्मा नहीं हैं—न आप, न मैं।''

वैष्णव ने कहा, ''पर मुझे तो यह सब प्रभु विष्णु ने दिया है। मैं वैष्णव धर्म के प्रतिकूल कैसे जा सकता हूँ? मैं प्रभु के सामने नतमस्तक होकर उनका आदेश लूँगा।''

दूसरे दिन वैष्णव साष्टांग विष्णु के सामने लेट गया। कहने लगा, ''प्रभु, यह होटल बैठ जायगा। ठहरने वाले कहते हैं कि हमें यहाँ बहुत तकलीफ होती है। मैंने तो प्रभु, वैष्णव भोजन का प्रबन्ध किया है। पर वे मांस माँगते हैं। अब मैं क्या करूँ?''

वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज आयी, 'मूर्ख, गाँधीजी से बड़ा वैष्णव इस युग में कौन हुआ है? गाँधी का भजन है—वैष्णव जन तो तेणे कहिये, जे पीर परायी जाणे रे। तू इन होटल में रहने वालों की पीर क्यों नहीं जानता? उन्हें इच्छानुसार खाना नहीं मिलता। इनकी पीर तू समझ और उस पीर को दूर कर।'

वैष्णव समझ गया।

उसने जल्दी ही गोश्त, मुर्गा, मछली का इंतजाम करवा दिया।

होटल के ग्राहक बढ़ने लगे।

मगर एक दिन फिर वही एक्जीक्यूटिव आया।

कहने लगा, ''हाँ, अब ठीक है। मांसाहार अच्छा मिलने लगा। पर एक बात है।''

वैष्णव ने पूछा, ''क्या?''

उसने जवाब दिया, ''गोश्त के पचने की दवाई भी तो चाहिए।''

वैष्णव ने कहा, ''लवणभास्कर चूर्ण का इन्तजाम करवा दूँ?''

एक्जीक्यूटिव ने माथा ठोंका।

कहने लगा, ''आप कुछ नहीं समझते। मेरा मतलब है—शराब। यहाँ बार खोलिए।''

वैष्णव सन्न रह गया। शराब यहाँ कैसे पी जायेगी? मैं प्रभु के चरणामृत का प्रबन्ध तो कर सकता हूँ। पर मदिरा! हे राम!

दूसरे दिन वैष्णव ने फिर प्रभु से कहा, ''प्रभु, वे लोग मदिरा माँगते हैं। मैं आपका भक्त मदिरा कैसे पिला सकता हूँ?''

वैष्णव की पवित्र आत्मा से आवाज आयी, 'मूर्ख, तू क्या होटल बिठाना चाहता है ? देवता सोमरस पीते थे। वही सोमरस यह मदिरा है। इसमें तेरा वैष्णव-धर्म कहाँ भंग होता है। सामवेद में 63 श्लोक सोमरस अर्थात् मदिरा की स्तुति में हैं। तुझे धर्म की समझ है या नहीं?'

वैष्णव समझ गया।

उसने होटल में 'बार' खोल दिया।

अब होटल ठाठ से चलने लगा। वैष्णव खुश था।

फिर एक दिन एक आदमी आया। कहने लगा, ''अब होटल ठीक है। शराब भी है। गोश्त भी है। मगर मरा हुआ गोश्त है। हमें जिन्दा गोश्त भी चाहिए।''

वैष्णव ने पूछा, ''यह जिन्दा गोश्त कैसा होता है?''

उसने कहा, ''कैबरे—जिसमें औरत नंगी होकर नाचती है।''

वैष्णव ने कहा, ''अरे, बाप रे!''

उस आदमी ने कहा, ''इसमें 'अरे बाप रे' की कोई बात नहीं। सब बड़े होटलों में चलता है। यह शुरू कर दो तो कमरों का किराया बढ़ा सकते हो।''

वैष्णव ने कहा, ''मैं कट्टर वैष्णव हूँ। मैं प्रभु से पूछूँगा।''

दूसरे दिन फिर वैष्णव प्रभु के चरणों में था। कहने लगा, ''प्रभु, वे लोग कहते हैं कि होटल में नाच भी होना चाहिए। आधा नंगा या पूरा नंगा।''

वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज आयी, 'मूर्ख, कृष्णावतार में मैंने गोपियों को नचाया था! चीर-हरण तक किया था। तुझे क्या संकोच है?'

प्रभु की आज्ञा से वैष्णव ने 'कैबरे' भी चालू कर दिया।

अब कमरे भरे रहते थे—शराब, गोश्त और कैबरे।

वैष्णव बहुत खुश था। प्रभु की कृपा से होटल भरा रहता था।

कुछ दिनों बाद एक ग्राहक ने 'बेयरा' से कहा, "इधर कुछ और भी मिलता है ?"

बेयरा ने पूछा, "और क्या साब?"

ग्राहक ने कहा, "अरे यही मन बहलाने को कुछ। कोई ऊँचे किस्म का माल मिले तो लाओ।"

बेयरा ने कहा, "नहीं साब, इस होटल में यह नहीं चलता।"

ग्राहक वैष्णव के पास गया। बोला, "इस होटल में कौन ठहरेगा? इधर रात को मन बहलाने का कोई इन्तजाम नहीं है।"

वैष्णव ने कहा, "कैबरे तो है साहब!"

ग्राहक ने कहा, "कैबरे तो दूर का होता है। बिल्कुल पास का चाहिए, गर्म माल, कमरे में।"

वैष्णव फिर धर्म-संकट में पड़ गया।

दूसरे दिन वैष्णव फिर प्रभु की सेवा में गया। प्रार्थना की, "कृपानिधान, ग्राहक लोग नारी माँगते हैं—पाप की खान! मैं तो इस पाप की खान से जहाँ तक बनता है, दूर रहता हूँ। अब मैं क्या करूँ?"

वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज आयी, 'मूर्ख, यह तो प्रकृति और पुरुष का संयोग है। इसमें क्या पाप और पुण्य! चलने दे।'

वैष्णव ने बेयरों से कहा, "चुपचाप इन्तजाम कर दिया करो। ज़रा पुलिस से बचकर। 25 फीसदी भगवान की भेंट ले लिया करो।"

अब वैष्णव का होटल खूब चलने लगा।

शराब, गोश्त, कैबरे और औरत।

वैष्णव धर्म बराबर निभ रहा है।

इधर यह भी चल रहा है।

वैष्णव ने धर्म को धन्धे से खूब जोड़ा है।

◆

भोलाराम का जीव

ऐसा कभी नहीं हुआ था।

धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफारिश के आधार पर स्वर्ग या नरक में निवास-स्थान 'अलाट' करते आ रहे थे। पर ऐसा कभी नहीं हुआ था।

सामने बैठे चित्रगुप्त बार-बार चश्मा पोंछ, बार-बार थूक से पन्ने पलट, रजिस्टर पर

रजिस्टर देख रहे थे। गलती पकड़ में ही नहीं आ रही थी। आखिर उन्होंने खोजकर रजिस्टर इतने जोर से बन्द किया कि मक्खी चपेट में आ गयी। उसे निकालते हुए वे बोले, ''महाराज रिकार्ड सब ठीक है। भोलाराम के जीव ने पाँच दिन पहले देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए रवाना भी हुआ, पर यहाँ अभी तक नहीं पहुँचा।''

धर्मराज ने पूछा, ''और वह दूत कहाँ है?''

''महाराज, वह भी लापता है।''

इसी समय द्वार खुले और एक यमदूत बड़ा बदहवास वहाँ आया। उसका मौलिक कुरूप चेहरा परिश्रम, परेशानी और भय के कारण और भी विकृत हो गया था। उसे देखते ही चित्रगुप्त चिल्ला उठे, ''अरे, तू कहाँ रहा इतने दिन? भोलाराम का जीव कहाँ है?''

यमदूत हाथ जोड़कर बोला, ''दयानिधान, मैं कैसे बतलाऊँ कि क्या हो गया। आज तक मैंने धोखा नहीं खाया था, पर भोलाराम का जीव मुझे चकमा दे गया। पाँच दिन पहले जब जीव ने भोलाराम की देह को त्यागा, तब मैंने उसे पकड़ा और इस लोक की यात्रा आरम्भ की। नगर के बाहर ज्योंही मैं उसे लेकर एक तीव्र वायु-तरंग पर सवार हुआ त्योंही वह मेरे चंगुल से छूटकर न जाने कहाँ गायब हो गया। इन पाँच दिनों में मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर उसका कहीं पता नहीं चला।''

धर्मराज क्रोध से बोले, ''मूर्ख! जीवों को लाते-लाते बूढ़ा हो गया, फिर भी एक मामूली बूढ़े आदमी के जीव ने तुझे चकमा दे दिया।''

दूत ने सिर झुकाकर कहा, ''महाराज, मेरी सावधानी में बिल्कुल कसर नहीं थी। मेरे इन अभ्यस्त हाथों से, अच्छे-अच्छे वकील भी नहीं छूट सके। पर इस बार तो कोई इन्द्रजाल ही हो गया।''

चित्रगुप्त ने कहा, ''महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को कुछ चीज भेजते हैं और उसे रास्ते में ही रेलवेवाले उड़ा लेते हैं। हौजरी के पार्सलों के मोजे रेलवे अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डब्बे-के-डब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही है। राजनीतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर बन्द कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को भी तो किसी विरोधी ने मरने के बाद दुर्गति करने के लिए नहीं उड़ा दिया?''

धर्मराज ने व्यंग्य से चित्रगुप्त की ओर देखते हुए कहा, ''तुम्हारी भी रिटायर होने की उम्र आ गयी। भला भोलाराम जैसे नगण्य, दीन आदमी से किसी को क्या लेना-देना ?''

इसी समय कहीं से घूमते-घामते नारद मुनि वहाँ आ गये। धर्मराज को गुमसुम बैठे देख बोले, ''क्यों धर्मराज, कैसे चिन्तित बैठे हैं? क्या नरक में निवास स्थान की समस्या अभी हल नहीं हुई?''

धर्मराज ने कहा, ''वह समस्या तो कभी की हल हो गयी। नरक में पिछले सालों में बड़े गुणी कारीगर आ गये हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनायीं। बड़े-बड़े इंजीनियर भी आ गये हैं, जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर पंचवर्षीय

योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मजदूरों की हाजिरी भरकर पैसा हड़पा, जो कभी काम पर गये ही नहीं। इन्होंने बहुत जल्दी नरक में कई इमारतें तान दी हैं। वह समस्या तो हल हो गयी, पर एक बड़ी विकट उलझन आ गयी है। भोलाराम नाम के एक आदमी की पाँच दिन पहले मृत्यु हुई। उसके जीव को यह दूत यहाँ ला रहा था, कि जीव इसे रास्ते में चकमा देकर भाग गया। इसने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर वह कहीं नहीं मिला। अगर ऐसा होने लगा, तो पाप-पुण्य का भेद ही मिट जायेगा।''

नारद ने पूछा, ''उस पर इनकमटैक्स तो बकाया नहीं था? हो सकता है, उन लोगों ने रोक लिया हो।''

चित्रगुप्त ने कहा, ''इनकम होती तो टैक्स होता। भुखमरा था।''

नारद बोले, ''मामला बड़ा दिलचस्प है। अच्छा मुझे उसका नाम, पता तो बताओ। मैं पृथ्वी पर जाता हूँ।''

चित्रगुप्त ने रजिस्टर देखकर बताया, ''भोलाराम नाम था उसका। जबलपुर शहर में घमापुर मोहल्ले में नाले के किनारे एक-डेढ़ कमरे के टूटे-फूटे मकान में वह परिवार समेत रहता था। उसकी एक स्त्री थी, दो लड़के और एक लड़की। उम्र लगभग साठ साल। सरकारी नौकर था। पाँच साल पहले रिटायर हो गया था। मकान का किराया उसने एक साल से नहीं दिया, इसलिए मकान-मालिक उसे निकालना चाहता था। इतने में भोलाराम ने संसार ही छोड़ दिया। आज पाँचवाँ दिन है। बहुत सम्भव है कि अगर मकान मालिक वास्तविक मकान मालिक है, तो उसने भोलाराम के मरते ही, उसके परिवार को निकाल दिया होगा। इसलिए आपको परिवार की तलाश में काफी घूमना पड़ेगा।''

माँ-बेटी के सम्मिलित क्रन्दन से ही नारद भोलाराम का मकान पहचान गये।

द्वार पर जाकर उन्होंने आवाज लगायी, ''नारायन! नारायन!'' लड़की ने देखकर कहा, ''आगे जाओ महाराज!''

नारद ने कहा, ''मुझे भिक्षा नहीं चाहिए; मुझे भोलाराम के बारे में कुछ पूछताछ करनी है। अपनी माँ को जरा बाहर भेजो, बेटी!''

भोलाराम की पत्नी बाहर आयी। नारद ने कहा, ''माता, भोलाराम को क्या बीमारी थी ?''

''क्या बताऊँ? गरीबी की बीमारी थी। पाँच साल हो गये, पेंशन पर बैठे, पर पेंशन अभी तक नहीं मिली। हर दस-पन्द्रह दिन में एक दरख्वास्त देते थे, पर वहाँ से या तो जवाब आता ही नहीं था और आता, तो यही की तुम्हारी पेंशन के मामले पर विचार हो रहा है। इन पाँच सालों में सब गहने बेचकर हम लोग खा गये। फिर बरतन बिके। अब कुछ नहीं बचा था। फाके होने लगे थे। चिन्ता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।''

नारद ने कहा, ''क्या करोगी माँ? उनकी इतनी ही उम्र थी।''

''ऐसा तो मत कहो, महाराज! उम्र तो बहुत थी। पचास-साठ रुपया महीना पेंशन मिलती तो कुछ और काम कहीं करके गुजारा हो जाता। पर क्या करें? पाँच साल नौकरी से बैठे हो गये और अभी तक एक कौड़ी नहीं मिली।''

दुःख की कथा सुनने की फुरसत नारद को थी नहीं। वे अपने मुद्दे पर आये, ''माँ, यह तो बताओ कि यहाँ किसी से उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उनका जी लगा हो ?''

पत्नी बोली, ''लगाव तो महाराज, बाल-बच्चों से ही होता है।''

''नहीं, परिवार के बाहर भी हो सकता है। मेरा मतलब है, किसी स्त्री–''

स्त्री ने गुर्राकर नारद की ओर देखा। बोली, ''हर कुछ मत बको महाराज! तुम साधु हो, उचक्के नहीं हो। जिन्दगी-भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री को आँख उठाकर नहीं देखा।''

नारद हँसकर बोले, ''हाँ, तुम्हारा यह सोचना ठीक ही है। यही हर अच्छी गृहस्थी का आधार है। अच्छा, माता मैं चला।''

स्त्री ने कहा, ''महाराज, आप तो साधु हैं, सिद्ध पुरुष हैं। कुछ ऐसा नहीं कर सकते कि उनकी रुकी हुई पेंशन मिल जाये। इन बच्चों का पेट कुछ दिन भर जाये।''

नारद को दया आ गयी थी। वे कहने लगे, ''साधुओं की बात कौन मानता है ? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं। फिर भी मैं सरकारी दफ्तर में जाऊँगा और कोशिश करूँगा।''

वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफ्तर में पहुँचे। वहाँ पहले ही कमरे में बैठे बाबू से उन्होंने भोलाराम के केस के बारे में बातें कीं। उस बाबू ने उन्हें ध्यानपूर्वक देखा और बोला, ''भोलाराम ने दरख्वास्तें तो भेजी थीं, पर उन पर वजन नहीं रखा था, इसलिए कहीं उड़ गयी होंगी।''

नारद ने कहा, ''भई, ये बहुत-से 'पेपर-वेट' तो रखे हैं। इन्हें क्यों नहीं रख दिया ?''

बाबू हँसा–''आप साधु हैं, आपको दुनियादारी समझ में नहीं आती। दरख्वास्तें 'पेपर-वेट' से नहीं दबतीं। खैर, आप उस कमरे में बैठे बाबू से मिलिए।''

नारद उस बाबू के पास गये। उसने तीसरे के पास भेजा, तीसरे ने चौथे के पास, चौथे ने पाँचवें के पास। जब नारद पचीस-तीस बाबुओं और अफसरों के पास घूम आये तब एक चपरासी ने कहा, ''महाराज, आप क्यों इस झंझट में पड़ गये। आप अगर साल-भर भी यहाँ चक्कर लगाते रहें, तो भी काम नहीं होगा। आप तो सीधे बड़े साहब से गिलिए। उन्हें खुश कर लिया, तो अभी काम हो जायेगा।''

नारद बड़े साहब के कमरे में पहुँचे। बाहर चपरासी ऊँघ रहा था, इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। बिना 'विजिटिंग कार्ड' के आया देख, साहब बड़े नाराज हुए। बोले, ''इसे कोई मन्दिर-वन्दिर समझ लिया है क्या? धड़धड़ाते चले आये। चिट क्यों नहीं भेजी?''

नारद ने कहा, ''कैसे भेजता? चपरासी सो रहा है।''

''क्या काम है?'' साहब ने रोब से पूछा।

नारद ने भोलाराम का पेंशन-केस बतलाया।

साहब बोले, ''आप हैं वैरागी। दफ्तरों के रीति-रिवाज नहीं जानते। असल में

भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी एक मन्दिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरख्वास्तें उड़ रही हैं, उन पर वजन रखिए।''

नारद ने सोचा कि फिर यहाँ वजन की समस्या खड़ी हो गयी। साहब बोले, ''भई, सरकारी पैसे का मामला है। पेंशन का केस बीसों दफ्तरों में जाता है। देर लग ही जाती है। बीसों बार एक ही बात को बीस जगह लिखना पड़ता है, तब पक्की होती है। जितनी पेंशन मिलती है, उतने ही स्टेशनरी लग जाती है। हाँ, जल्दी भी हो सकता है, मगर—'' साहब रुके।

नारद ने कहा, ''मगर क्या?''

साहब ने कुटिल मुसकान के साथ कहा, ''मगर वजन चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आपकी यह सुन्दर वीणा है, इसका भी वजन भोलाराम की दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा। साधु-सन्तों की वीणा से तो और अच्छे स्वर निकलते हैं।''

नारद अपनी वीणा छिनते देख जरा घबड़ाये। पर फिर सँभलकर उन्होंने वीणा टेबिल पर रखकर कहा, ''यह लीजिए। अब जरा जल्दी उसकी पेंशन का आर्डर निकाल दीजिए।''

साहब ने प्रसन्नता से उन्हें कुरसी दी, वीणा को एक कोने में रखा और घण्टी बजायी। चपरासी हाजिर हुआ।

साहब ने हुक्म दिया, ''बड़े बाबू से भोलाराम के केस की फाइल लाओ।''

थोड़ी देर बाद चपरासी भोलाराम की सौ-डेढ़ सौ दरख्वास्तों से भरी फाइल लेकर आया। उसमें पेंशन के कागजात भी थे। साहब ने फाइल पर का नाम देखा और निश्चित करने के लिए पूछा, ''क्या नाम बताया साधुजी आपने?''

नारद समझे कि साहब कुछ ऊँचा सुनता है। इसलिए जोर से बोले, ''भोलाराम !''

सहसा फाइल में से आवाज आयी, ''कौन पुकार रहा है मुझे? पोस्टमैन है? क्या पेंशन का ऑर्डर आ गया?''

नारद चौंके। पर दूसरे ही क्षण बात समझ गये। बोले, ''भोलाराम! तुम क्या भोलाराम के जीव हो?''

''हाँ,'' आवाज आयी।

नारद ने कहा, ''मैं नारद हूँ। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, स्वर्ग में तुम्हारा इन्तजार हो रहा है।''

आवाज आयी, ''मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तों में अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरख्वास्तें छोड़कर नहीं जा सकता।''

◆

लोहियावादी समाजवादी

पिछले विधानसभा अधिवेशन में अध्यक्ष ने समाजवादी विधायक क्रांतिनादजी को पुलिस के द्वारा उठवाकर सदन से बाहर करवाया था। उसी रात क्रान्तिनादजी विधानसभा भवन की खिड़की तोड़कर घुस गये थे और अध्यक्ष की कुर्सी पर रात भर बैठे रहे थे। तभी से उनसे मिलने की मेरी तीव्र इच्छा थी।

उस दिन अचानक मैं उनके घर पहुँच गया। वे तख्त पर बैठे हुए कुछ हिसाब जोड़ रहे थे–'तीन और चार सात–सात–सात–सात और पाँच बारह–बारह के दो हाथ का लगा एक...'

उन्होंने सिर उठाया। मैंने नमस्कार किया। उन्होंने जवाब नहीं दिया।

वे मुझे घूरते रहे। फिर पूछ बैठे, "कौन-से आसमान से टपके हो?"

मैं तो इस सवाल से अचकचा उठा। 'कौन-से आसमान से टपके हो?' किसी से इस तरह भी बातचीत शुरू की जाती है!

मुझे चुप देख उन्होंने फिर सवाल मारा, "क्या और जगह झख मारने नहीं जा सकते थे?"

मैंने अब मुँह खोला, "क्रान्तिनादजी, मैं तो यों ही आपसे कुछ चर्चा करने चला आया था। पर आप जिस तरह की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं और जैसा व्यवहार कर रहे हैं, उससे मालूम होता है कि आप बहुत अशिष्ट हैं।"

इस पर वे हँस पड़े। कहने लगे, "बुरा मत मानिए। इस तरह की भाषा का प्रयोग करना हम में से हर एक को सीखना पड़ता है। पार्टी ने कई स्कूल खोल रखे हैं, जहाँ अटपटी बात बोलना और अशिष्ट भाषा का प्रयोग करना सिखाया जाता है। इससे पार्टी-सदस्य का व्यक्तित्व बनता है और उसकी जबान से सब डरते हैं। एक मोर्चा तो हम इसी से फतह कर लेते हैं।"

मैं कुछ आश्वस्त हुआ। मैंने पूछा, "आप क्या हिसाब जोड़ रहे थे?"

वे बोले, "मैं इस राज्य के शिक्षा-मन्त्री के खर्च का हिसाब जोड़ रहा हूँ।"

मैंने पूछा, "इसकी क्या आपको तनख्वाह मिलती है?"

क्रान्तिनादजी कहने लगे, "नहीं भाई, यह तो हमारी पार्टी का प्रोग्राम है। हमने तय कर लिया है कि जिसे जो बनना है, वह उसके दैनिक खर्च का हिसाब जोड़े। लोहियाजी को प्रधानमन्त्री बनना है, तो उन्होंने वर्तमान प्रधानमन्त्री के दैनिक खर्च का हिसाब जोड़ लिया है। मुझे शिक्षा-मन्त्री बनना है, सो मैं वर्तमान शिक्षा-मन्त्री का हिसाब जोड़ रहा हूँ। हमारी पार्टी का हर नेता किसी-न-किसी का हिसाब जोड़ रहा है। जिस दिन सब हिसाब बन जायेंगे, उस दिन हम सरकार पर कब्जा कर लेंगे।"

मैंने पूछा, "यह कैसे सम्भव होगा?"

वे बोले, "क्रान्ति का यही सबसे ताजा तरीका है। इसे 'हिसाब की क्रान्ति' कहते

हैं। भारत में पहली बार हम इसका प्रयोग कर रहे हैं। जिस दिन हम सफल हो जायेंगे, उस दिन दुनिया मार्क्स, लेनिन और गाँधी का रास्ता छोड़े देगी। फिर तो दुनिया में बिना संघर्ष के, सिर्फ हिसाब जोड़ने से क्रान्ति होगी। बिना चुनाव के सरकारें बदलेंगी। जिस दिन विल्सन ने मैकमिलन के दैनिक खर्च का हिसाब जोड़कर ठीक-ठीक बताया कि मैकमिलन गद्दी छोड़ देंगे।''

मैंने और खुलासा करने की गरज से पूछा, ''भारत में कब तक ऐसी क्रान्ति आप लोग कर देंगे?''

वे बोले, ''बस कुछ महीने की देर है। सब मंत्रियों के हिसाब बन कर लगभग तैयार हैं। हम उनके पोस्टर बना रहे हैं। एक दिन हम देश के तमाम सचिवालयों के सामने जाकर पोस्टर लगायेंगे और लाउडस्पीकर से चिल्लायेंगे। बस, उसी वक्त मन्त्रिमण्डल इस्तीफा दे देंगे।''

सहसा वे उचककर टेबल पर चढ़ गये और वहाँ से धम्म से कूद पड़े। फिर वे टेबल के नीचे लेटकर बकरे की बोली बोलने लगे। वहाँ से निकलकर फर्श पर कूदते हुए तरह-तरह की आवाजें करने लगे। यह कार्यक्रम लगभग पाँच मिनट चलता रहा।

जब वे स्थिर हुए, तब मैंने कहा, ''क्रान्तिनादजी, आप किसी अच्छे डाक्टर से जाँच कराइए न!''

वे बोले, ''कैसी जाँच! मैं क्या बीमार हूँ?''

मैंने कहा, ''फिर आप अभी यह सब क्या कर रहे थे? आपकी तबीयत ठीक नहीं है। आपको दौरा आता है। कुछ मिरगी या पाग…''

वे हँसे। कहने लगे, ''आप भी गजब करते हैं। अरे मैं तो संसदीय व्यवहार का अभ्यास कर रहा था। यह भी पार्टी-स्कूल में सिखाया जाता है। संसद और विधानसभाओं में हमें ऐसा करना पड़ता है न! इसलिए मैं किसी के सामने रोज इसका अभ्यास करता हूँ।''

मैंने कमरे में चारों तरफ नजर घुमायी। दीवारों पर डॉ. लोहिया की तसवीरें मढ़ी हुई थीं। एक बड़ी तसवीर के एक कोने में एक छोटी-सी अशोक मेहता की तसवीर भी चिपकी थी। सामने की दीवार पर पं. नेहरू का एक बड़ा चित्र उलटा टँगा था। मैं बड़ी देर तक सोचता रहा कि यह भूल है या किसी ऐसे 'फ़िट' में यह तसवीर टाँगी गई है, जैसा अभी आया था। 'फ़िट' में उलटी तसवीर टाँग भी दी गयी हो तो 'फ़िट' हमेशा तो रहता नहीं है। या तो यह तसवीर किसी प्रयोजन से उलटी टाँगी गयी है या इन पर स्थायी 'फ़िट' रहता है। यों दोनों चीजें एक ही हैं।

मैंने पूछा, ''नादजी, नेहरूजी की फोटो उलटी क्यों टँगी है?''

वे बोले, ''टँगी नहीं है, टाँगी गयी है। और यह उलटी नहीं है, सीधी ही है। आपका उसे देखने का ढंग गलत है। उसे यों देखा जाता है।''

वे तसवीर के सामने शीर्षासन की स्थिति में आ गये। कहने लगे, ''यों देखना चाहिए। जवाहरलाल को हम लोग शीर्षासन करके देखते हैं। सीधी स्थिति में उस आदमी

को देखा ही नहीं जा सकता। आइए, आप भी देखिए। शीर्षासन से देखिए, तब वह आदमी आपकी समझ में आयेगा।''

मुझे शीर्षासन करना नहीं आता। नादजी ने कहा भी कि डरो मत, मैं टाँग पकड़ लूँगा। पर अपनी टाँगें उन्हें सौंपना मुझे खतरे से खाली नहीं लगा।

फिर कुछ अन्य राजनीतिक दलों और उनके नेताओं के बारे में चर्चा हुई। क्रान्तिनादजी ने बहुत संक्षेप में उनका विश्लेषण करके अपना मत जाहिर किया, जैसे–लुच्चा है! बदमाश है! सब चोर हैं! हरामजादा है! बेवकूफ है!

मैंने अब सिद्धान्त और कार्यक्रम पर चर्चा की। कहा, ''नादजी, अब मैं आपसे कुछ सिद्धान्तों और नीतियों के सम्बन्ध में बात करना चाहता हूँ।''

उन्होंने कहा, ''सिद्धान्त तो समाजवाद ही है।''

मैंने कहा, ''पर समाजवाद तो कांग्रेस का भी है और प्रजा समाजवादियों का भी।''

जवाब मिला, ''तीनों में बड़ा अन्तर है, क्योंकि नेहरू, अशोक मेहता और लोहिया में अन्तर है। और सही पूछो तो हर रोज सवेरे अखबार में पढ़ लेते हैं कि कल लोहियाजी ने क्या कहा। उसके मुताबिक दिन-भर काम करते हैं। इस तरह रोज एक कदम आगे बढ़ते हैं। ऐसा न करें तो उलझन में पड़ जायें। कई बार पड़े हैं। चीनी हमले के बाद सबकी तरह हम भी कम्युनिस्टों को 'गद्दार' कह रहे थे कि एक दिन लोहियाजी ने वक्तव्य दे दिया कि समाजवादी दल का समझौता साम्यवादीदल से होगा–मगर वह चीन समर्थक दल से होगा! बतलाइए भला! है न उलझन में डालनेवाली बात! इसलिए हम पहले से कोई लाइन बनाकर नहीं रखते।''

मैंने कहा, ''फिर भी समाजवादी क्रान्ति के लिए कोई कार्यक्रम तो आपका होगा ही। कोई संगठित अभियान की योजना होगी।''

उन्होंने कहा, ''हाँ, है। एक बात तो यह समझ लीजिए कि मजबूत संगठन बनाना और आन्दोलन करना, क्रान्ति को टालना है। यह तरीका भी पुराना है। नया तरीका एक तो हिसाब का मैंने अभी बताया। दूसरा यह कि अगर हर भारतवासी के हाथ में तलवार दे दी जाये और कह दिया जाये कि जो मिले उसी को मारो, तो एक दिन में समाजवादी क्रान्ति हो जाये। तीसरा तरीका यह है कि संसद में ऐसा हुल्लड़ करो कि मन्त्रिमण्डल भाग खड़ा हो और हम सरकार पर कब्जा कर लें। इसी तरह विधानसभाओं में करें। हम तीनों तरीकों से काम कर रहे हैं। और आप देख ही रहे हैं कि 'क्रान्ति कोने पर है' यानी 'राउण्ड द कॉर्नर' है–अगर आप अंग्रेजी मुहावरे में ही समझना चाहते हैं।''

न जाने कैसे मेरे मुँह से अशोक मेहता का नाम निकल गया। वे गुस्से से उठे और मेहता की तसवीर को घूँसा दिखाने लगे।

फिर वे नेहरू के चित्र के सामने शीर्षासन करने लगे।

मैं उन्हें इसी स्थिति में छोड़कर बाहर आ गया।

सज्जन, दुर्जन और कांग्रेसजन

[आदमी तीन तरह के होते हैं—सज्जन, दुर्जन और कांग्रेसजन। हार के वक्त सज्जन अपने को देखता है, दुर्जन दूसरे को और कांग्रेसजन कभी अपने को और कभी दूसरे को। तीसरा भी उसे देखता है, इस बात का कांग्रेसजन को स्मरण दिलाते हुए एक नेता कोटि के कांग्रेसजन का यह इण्टरव्यू प्रकाशित करा रहा हूँ—लेखक]

गद्दे पर तकिये के सहारे वे लुढ़के थे। सामने तश्तरी में पान रखे थे। दोनों गालों में पान भरे थे और वे आँखें बन्द किये पान चबा रहे थे। मैं चुपचाप एक कोने में बैठ गया। दसेक मिनट बाद उन्होंने पान खाने के लिए आँखें खोलीं और देखकर मुस्कराये। दो-तीन पान मुँह में ठूँसकर, अवरुद्ध मुँह से बोले, ''कैसे कष्ट किया?'' मैंने कहा, ''भैया सा'ब, मैं आपसे इण्टरव्यू लेने आया हूँ। कुछ प्रश्न करूँगा।''

उन्होंने तश्तरी के पान गिने और कहा, ''आपको लगभग दो घंटे रुकना पड़ेगा। बारह पान बचे हैं। मैं नियमपूर्वक दोपहर को लेटे-लेटे बीस पाना खाता हूँ। यह रचनात्मक कार्यक्रम है। इसमें विघ्न नहीं पड़ सकता। ये बारह पान मैं दो घण्टे में खा लूँगा। आपके लिए डेढ़ घण्टे में भी खा सकता हूँ। तब तक आप चुपचाप बैठें।''

वे आँखें बन्द करके लेट गये। मैं उनके चलते मुँह को देखता रहा और आठ-दस मिनट बाद वे आँखें सिर्फ इतनी खोलते कि पान दिख जाये और हाथ इतना हिलाते कि पान पकड़ में आ जाये।

लगभग दो घण्टे बाद वे उठकर बैठे, कहने लगे, ''माफ कीजिए, आपको बैठना पड़ा। बात यह है कि मैं नियम का पक्का हूँ। मेरे कुछ नियमित कार्यक्रम हैं जिन्हें मैं किसी कीमत पर नहीं त्यागता। जैसे मैं रोज एक घण्टे शाम को मेज पर बैठकर जन-सम्पर्क करता हूँ। नीचे जनता गुजरती रहती है। इसी तरह नियमपूर्वक खादीजी की पूजा रकता हूँ।''

''खादीजी की पूजा? मैं समझा नहीं।'' मैंने कहा।

उन्होंने उँगली से एक कोने की तरफ इशारा करते हुए कहा, ''वह है।''

कोने में एक सिंहासन पर खादी का थान रखा था। उस पर अक्षत, कलम और फूल चढ़े थे। सामने आरती की थाली रखी थी।

भैया सा'ब बोले, ''पुराना गाँधीवादी हूँ न। धर्म नहीं छोड़ा मैंने औरों की तरह, अभी भी खादीजी की पूजा करता हूँ। मेरे घर में तकलीजी और चरखाजी भी हैं।''

मैंने पूछा, ''भैया सा'ब, आप स्वीकार करेंगे कि कांग्रेस के भीतर जो बड़ा मतभेद हैं, दलबन्दी है। आप किस दल में हैं? यानी आप किसके सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं?''

उन्होंने जवाब दिया, ''मैं दलबन्दी में नहीं पड़ता। मैं तो पण्डित नेहरू का अनुयायी हूँ। उन्हीं के सिद्धान्तों पर चलता हूँ।''

मैंने बात आगे बढ़ाई, ''पण्डितजी के कौन-से सिद्धान्त हैं, जिन्हें आप मानते हैं ?''

वे उठे। खूँटी पर टँगी शेरवानी निकालकर पहनी और उसके चौड़े बटन होल में गुलाब के फूलों का एक गुलदस्ता खोंस लिया। मुस्कराते हुए बोले, ''इससे बड़ा सबूत आपको क्या चाहिए कि मैं पंडित नेहरू के सिद्धान्तों पर चलता हूँ। पण्डितजी को गुलाब पसन्द है। वे एक कली शेरवानी में लगाते हैं, तो मैं एक गुलदस्ता खोंसता हूँ। भई, हम तो पण्डितजी की नीतियों में विश्वास रखते हैं।''

मैंने कहा, ''भैया सा'ब, हर चुनाव के मौके पर जो यह आवाज उठती है कि नये खून को जगह देनी चाहिए, इसके सम्बन्ध में आपकी क्या राय है?''

भैया सा'ब ने अपनी सफेद मूँछों को उमेठा और जवाब दिया, ''जवानों को धीरज नहीं है। अरे, उनके सामने तो पद-ग्रहण करने के लिए जिन्दगी पड़ी है। उन्हें क्या जल्दी है? हमारे पास तो मुश्किल से पाँच-दस साल होंगे।''

वे गम्भीर हो गये। सोचते रहे। बोले, ''पुराना चावल अच्छा होता है। मैं तो वह दिन देखना चाहता हूँ जब विधानमण्डलों और सचिवालयों के सामने एम्बुलेंस गाड़ियाँ खड़ी हों और उनमें से स्ट्रेचर पर उठाकर सदस्य और मन्त्री भीतर ले जाये जायें। कांग्रेस के विरोध का मूल कारण यह है कि कुछ वृद्ध कांग्रेसी बेकारी की समस्या से पीड़ित हैं, जैसे राजाजी। आप ही बताइए, आज राजाजी अगर नौकरी से लगे होते तो क्या वे इतना ऊधम मचाते? एक मामूली एम.एल.ए. का दामाद जहाँ अच्छी नौकरी पा जाता है, वहाँ गाँधीजी का समधी बेकारी से पीड़ित है, धिक्कार है।''

वे उद्विग्न हो गये। मुख पर पवित्र ग्लानि आ गयी। फिर संयत होकर बोले, ''पुराने लोगों के रिटायर होने से जनता का बड़ा नुकसान होगा। मान लो, जनता के कुछ लोग जुआ खेलते हुए पुलिस द्वारा पकड़ लिये गये। अब उन्हें क्या नया नेता छुड़वा सकता है? हरगिज नहीं। यह काम पुराना आदमी ही कर सकता है, उसके अफसरों से पुराने ताल्लुकात हैं?''

मेरा दूसरा प्रश्न था, ''जनसंघ के सम्प्रदायवाद से संघर्ष करने के लिए आपके पास क्या प्रोग्राम है?''

इस प्रश्न से वे खिल उठे। बड़े आत्मविश्वास से बोले, ''इस समस्या की पकड़ जितनी ठीक मुझे है, उतनी पण्डितजी को भी नहीं है। सम्प्रदायवाद का उतार है, जातिवाद। अपने परगने में मैंने इस नीति से जनसंघ का पानी उतार दिया। तुम हिन्दूवाद चलाओगे, तो मैं ब्राह्मणवाद चलाऊँगा। तुम डाल-डाल, तो मैं पात-पात! मुझसे नहीं जीत सकते।'' वे ठहाका मारकर खुली हँसी हँसे।

उनके विश्वास से मैं प्रभावित हुआ। वे मुझे विश्वास में लेकर बोले, ''भाई, कह कुछ भी लो, मगर जात और धर्म सनातन हैं। ये नहीं मिट सकते। पर पण्डितजी कहते हैं कि सब एक हैं तो ठीक है—हम भी कह देंगे।''

भैया सा'ब के सुलझे विचारों का परिचय पाकर मैंने उनसे कुछ गहरे सवाल किये। मैंने कहा, ''भैया सा'ब, विरोधी लोग आपकी पार्टी और सरकार की कई मुद्दों पर

आलोचना करते हैं। जैसे वे…''

बात काटकर उन्होंने घूँसा तानते हुए कहा, ''मैं विरोधियों को मुँह तोड़ उत्तर दे सकता हूँ और देता हूँ। क्या कहते हैं वे?''

मैंने कहा, ''जैसे वे कहते हैं कि तटस्थ विदेश नीति असफल रही है और हमें इसे त्याग देना चाहिए। आप बताइए कि हमने तटस्थ विदेश नीति क्यों अपनायी और उससे हमें कौन-से फायदे हुए?''

भैया सा'ब नीचा सिर करके बड़ी गंभीरता से सोचने लगे।

मैं जवाब के लिए उनकी तरफ देखने लगा, ''आपने जवाब नहीं दिया?''

उन्होंने सिर उठाते हुए कहा, ''देता हूँ।''

वे झटके से उठे और तकिये पर खड़े हो गये। दोनों भुजाएँ उठाकर बड़े जोर से चिल्लाये, ''महात्मा गाँधी की जय! पण्डित नेहरू की जय!''

मैं तो अचकचा गया। पर वे फिर शान्त भाव से बैठ गये और बोले, ''दूसरा सवाल पूछिए।''

मैं दुविधा में पड़ा। पूछूँ कि न पूछूँ?

पर वे अपने जवाब से इतने सन्तुष्ट लगे कि मैंने उनकी खुशी के लिए ही सवालों का क्रम जारी रखा।

मेरा दूसरा सवाल था, ''भैया सा'ब, विरोधी लोग सार्वजनिक क्षेत्र की बहुत आलोचना करते हैं। क्या आप जनता का समाधान करेंगे कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का राष्ट्र के विकास में क्या महत्त्व है और उनकी अब तक की उपलब्धियाँ और भविष्य की आशाएँ क्या हैं?''

वे फिर सोचने लगे। सोचते-सोचते उठे और कूदकर टेबिल पर चढ़ गये। हाथ ऊँचे करके फिर आवाज लगायी, ''पण्डित नेहरू जिन्दाबाद!''

वे उतरकर गद्दे पर बैठ गये और बोले, ''आगे सवाल करिए।''

मैंने कहा, ''आप अपनी चीन-सम्बन्धी नीति को क्या स्पष्ट करेंगे? और क्या यह भी बतलायेंगे कि चीन के हमले के बावजूद रूस से मित्रता के सम्बन्ध राष्ट्रहित में क्यों आवश्यक हैं?''

भैया सा'ब विचारमग्न हो गये। फिर उठकर इस बार कुर्सी पर खड़े हो गये और भुजाएँ उठाकर चिल्लाये, ''पण्डित नेहरू के हाथ मजबूत करो।''

वे फिर गद्दे पर बैठ गये। शान्त भाव से कहा, ''हाँ, पूछते जाइए। नीति और सिद्धान्त-सम्बन्धी चर्चा में मुझे बड़ी दिलचस्पी है। विरोधियों के तर्कों को मैं घास की तरह काट देता हूँ।''

मैंने कहा, ''भैया सा'ब समाजवादी रचना का जो आपका ध्येय है, उसकी रूपरेखा पिछली तीन योजनाओं के सन्दर्भ में समझाने की कृपा करेंगे?''

भैया सा'ब इस बार सोफे पर चढ़ गये और चिल्लाये, ''चाचा नेहरू जिन्दाबाद !

जवाहर चाचा जिन्दाबाद!''

उन्होंने गद्दे पर आसन ग्रहण करके कहा, ''और पूछो।''

मैंने कमरे में एक नजर घुमायी और मेरी हिम्मत पस्त हो गयी। वे प्रश्न पूछने के लिए जोर देने लगे और मेरा मन काँपने लगा। आखिर मैंने कहा, ''अब सवाल पूछने की हिम्मत नहीं हो रही है।''

उन्होंने बड़े स्नेह से कहा, ''क्यों, डरते क्यों हो? पूछो। मैं बुरा नहीं मानता।''

मैंने कहा, ''डरता इसलिए हूँ कि कमरे में आपके चढ़ने के लिए सिर्फ दो चीजें बची हैं—आलमारी और यह आपका दास। आलमारी जरा ऊँची पड़ती है। डरता हूँ कि मैंने सवाल किया और आप जवाब देने के लिए मेरे सिर पर…''

वे खिलखिलाकर हँस पड़े।

मैंने उनकी प्रसन्नता का फायदा उठाया और वहाँ से चुपचाप चल दिया।

प्रजावादी समाजवादी

साथी तेजराम 'आग' प्रजा समाजवादी दल के पुराने और प्रतिष्ठित नेता हैं। वे पहले प्रायः टोपी भी लगाते थे, पर एक दिन डॉ. लोहिया ने कह मारा कि यह बड़ी बेवकूफी की बात है। 'आग' ने उसी दिन से प्रायः टोपी उतार दी। अब वह नंगे सिर ही रह रहे हैं।

मैं उनके कमरे में चुपके से चला गया। वे बाबू जयप्रकाश नारायण के एक बड़े चित्र के सामने खड़े-खड़े रो रहे थे और कहते जाते थे—''साथी अब लौट आओ। बहुत साल हो गये। संन्यास तो तुमने लिया, पर वनवास हमें हो गया। साथी, पन्द्रह साल हो गये, जब तुमने हमसे कहा था कि 1952 में अपनी सरकार बनेगी। मगर यह '63 पूरा होने को आया। इन सालों में मैंने संसद से लेकर नगरपालिका तक का हर चुनाव और उपचुनाव लड़ा, पर आज तक कहीं का मेम्बर नहीं हुआ। हम तो सन् '47 में तुम्हारे ही भरोसे कांग्रेस से निकल आये थे। साथी! हम हजारों युवक पूरे देश में निकल-निकल कर तुम्हारे पीछे हो गये थे। आज उनमें से अधिकांश की राजनीतिक मृत्यु हो चुकी है। तुमने ऐसा क्यों किया ? हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था? हम तो तुम्हारे भरोसे नाव में बैठ गये और तुम मझदार में हमें छोड़ पतवार लेकर डुबकी लगा गये। साथी, अब हम बूढ़े हो गये हैं मगर बुढ़ापा भी हमारे किसी काम नहीं आया। कांग्रेस में ही रहते तो हम आज भी 'वयोवृद्ध कांग्रेसी' कहलाते और कहीं सरकार में होते। मगर इस पार्टी में होने के कारण हमारी कोई इज्जत नहीं है। एक मामूली पुलिस इंस्पेक्टर तक हमारे कहने से किसी को नहीं छोड़ता। साथी, अभी भी आ जाओ। अब तो 'नेहरू के बाद कौन?' प्रश्न पर दो-तीन कांग्रेसी नेताओं की ही चर्चा होती है, तुम्हारे बार-बार कहने पर भी जब नेहरू पद नहीं छोड़ता तो कोई और उपाय करो,

साथी। अब तो लौट ही आओ। तुम तो हजारीबाग जेल की दीवार फाँदकर भाग आये थे। क्या तुमसे सर्वोदय आश्रम से भागते नहीं बनता? जरा हमारी तरफ भी तो देखो। तुमने हमारा क्या हाल कर दिया है, साथी!''

वे फूट-फूटकर रोने लगे। मुझसे भी वह दुख देखा नहीं गया। मेरी भी आँखें गीली हो गयीं।

मैंने धीरे-से पुकारा, ''आगजी!''

वे डूबे थे। बिना मुड़े ही बोले, ''यहाँ कोई आगजी नहीं है। कई साल पहले थे। अब तो यहाँ राखजी रहते हैं।''

उन्हें मेरी उपस्थिति का अभी तक कोई आभास नहीं था। मैं जोर से खाँसा। वे अचकचाकर मुड़े। झट आँसू पोंछ डाले। बोले, ''आप यहाँ कब से खड़े हैं?''

मुझसे झूठ नहीं बोला गया, ''काफी देर हो गयी।''

वे परेशान हो गये। पूछा, ''तो क्या आपने रोना देख लिया?''

''रोना नहीं, विलाप!'' मैंने कहा।

''हाँ, विलाप ही सही। पर क्या आपने देख लिया?''

''जी हाँ, और सुन भी लिया।''

वे चिन्ता में पड़ गये। कहा, ''देखिए, आप किसी से कहिए नहीं।''

मैंने कहा, ''मगर आगजी, कल शाम को तो आप सभा में सरकार से इस्तीफा माँग रहे थे, संघर्ष की धमकी दे रहे थे। और इधर आप...''

आगजी ने कहा, ''वह सार्वजनिक मामला था, यह प्राइवेट है। बाहर वीर रस होता है, भीतर करुण-रस!''

मैंने पूछा, ''यह कार्यक्रम क्या रोज चलता है?''

उन्होंने कहा, ''हाँ, लेकिन आधार बदलता रहता है।''

''क्या मतलब?'' मैंने कहा। उन्होंने समझाया, ''यही कि कभी-कभी मैं राजाजी के सामने और गुरु गोलवलकर के सामने भी रो लेता हूँ कि तुम्हीं कुछ करो हमारे लिए।''

उनके कमरे में लगभग सब देशों के नेताओं की तसवीरें टँगी थीं। पण्डित नेहरू की भी एक बड़ी तसवीर थी।

मैंने पूछा, ''आगजी, कभी नेहरू भी आपके विलाप के आधार होते हैं?''

वे बोले, ''हाँ, उन्होंने और जयप्रकाश ने मिलकर ही हमारा यह हाल किया है। दोनों ने हमारे साथ धोखा किया। जयप्रकाश ने जो किया, सो तो आपने अभी सुन ही लिया। नेहरू ने 1956 में अवाड़ी कांग्रेस में हमारे साथ महान धोखा किया। उन्होंने हमारा 'समाजवाद' का नारा ही छीन लिया। अरे, ऐसा 1947 में ही कह देते, तो हम क्यों और समाजवाद के चक्कर में पड़ते? हम कोई और पार्टी देखते। जनसंघ में ही चले जाते।''

उनके अंतिम वाक्य से मैं चौंका। मैंने कहा, ''आगजी, जनसंघ और समाजवादी पार्टियों में कोई अन्तर आप नहीं मानते? इसमें नहीं तो उसमें आना-जाना सहज ही हो

जाता है ?''

आगजी के चेहरे पर अब राजनीतिक ज्ञान की चमक आ गयी, बोले, ''कोई अन्तर नहीं है। वे भी विरोधी हैं, हम भी विरोधी हैं। विरोधी-विरोधी सब एक होते हैं।''

उनका आत्मविश्वास लौट आया था। वे सपने में डूबते हुए कहने लगे, ''सब विरोधी मिलकर इस सरकार को निकाल देंगे। तब हमारी सरकार बनेगी। यही हमारी योजना है।''

मैंने कहा, ''मगर आगजी, आप समाजवादी हैं, स्वतन्त्रपार्टी पूंजीवादी, जनसंघ सम्प्रदायवादी, द्रविण मुनेत्र कड़गम पृथकतावादी। यदि सबके मेल से यह सरकार निकल भी गयी, तो आप लोग, जिनके परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं, काम कैसे करेंगे? समाजवादी का स्वतन्त्री कट्टर दुश्मन होगा। अखण्ड भारत वाले जनसंघ की दुश्मनी डी.एम.के. से होगी तो जब भारत आपके कब्जे में आ जायेगा, तब आपस में कशमकश नहीं मचेगी ?''

मेरी शंकाओं पर उन्हें हँसी आयी। जैसे शिक्षक बच्चे को समझाता है, वैसे मुझे समझाने लगे, ''देखो, साथ काम करने के लिए हर एक को कुछ छोड़ना पड़ता है। हमने हिसाब लगा लिया है। हम दक्षिण भारत तो डी.एम.के. को दे देंगे कि लो भाई तुम अपना हिस्सा सँभालो। स्वतन्त्र पार्टी के सन्तोष के लिए हम राजा-रानियों को उनके रजवाड़े वापस कर देंगे और भिलाई जैसे सार्वजनिक उद्योग प्राइवेट कम्पनियों को दे देंगे। जनसंघ के सन्तोष के लिए हम कहेंगे कि भाई तुम दक्षिण अफ्रीका जैसे कानून बना लो और हिन्दू को वही दर्जा दे दो, जो दक्षिण अफ्रीका में गोरे को दिया है। पंजाब हम मास्टर तारासिंह को सौंप देंगे। अब जितना हिस्सा देश का बचेगा, उसमें सब ठीक चलेगा।''

मैंने पूछा, ''आगजी, योजना तो अच्छी है। मगर इसमें आपका समाजवाद कहाँ रहेगा ?''

आगजी ने जवाब दिया, ''समाजवाद को गोली मारो। वे शब्द पुराने पड़ गये। पार्टी का कोई नाम तो होना चाहिए, इसलिए हमने 'समाजवादी' नाम रख लिया। मूल मन्तव्य है, सत्ता हासिल करना।''

मैंने कहा, ''विरोधी दलों के इस अभियान में कम्युनिस्ट पार्टी भी तो शामिल होगी।''

सुनकर आगजी उठ खड़े हुए और धूपबत्ती जला दी। कहने लगे, ''कमरा गन्दा हो गया। उसे शुद्ध हो जाने दो। क्या नाम ले दिया आपने? कम्युनिस्ट! कम्युनिस्ट हमारे साथ क्यों होंगे ?''

''वह भी विरोधी दल है न!'' मैंने कहा।

वे बोले, ''कम्युनिस्ट विरोधी दल नहीं है। वह विरोधी नहीं होता। वह कम्युनिस्ट होता है। हर हालत में वह कम्युनिस्ट होता है। वह भिलाई किसी प्राइवेट कम्पनी को देने देगा?''

आगजी ने भारत के राजनीतिक भविष्य का नक्शा मेरे सामने खोलकर रख दिया था। मुझे उनके और उनकी पार्टी के बारे में थोड़ी जानकारी और चाहिए थी। मैंने पूछा,

''आगजी, आपने कांग्रेस क्यों छोड़ी?''

वे बोले, ''सैद्धान्तिक मतभेद के कारण। मैं सिद्धान्त का पक्का आदमी हूँ। सिद्धान्त को त्यागकर मैं किसी दल में नहीं रह सकता।''

मैंने कहा, ''सैद्धान्तिक मतभेद को जरा और स्पष्ट करके समझाइए।''

उन्होंने बताया, ''सन् 1952 की बात है। पहला आम चुनाव होने वाला था। उस समय कांग्रेस का टिकट मुझे न देकर मेरे प्रतिस्पर्धी मोहनलाल को दे दिया गया। बस, मेरा सैद्धान्तिक मतभेद हो गया और मैंने कांग्रेस छोड़ दी। सिद्धान्त का पक्का हूँ मैं। तभी समाजवाद के नेताओं ने कहा कि हम 1952 में सरकार बनायेंगे, जिसे आना हो आ जाओ। मैं उनकी पार्टी में चला गया। भई, जो सरकार बनाने वाला हो, उसके साथ रहना चाहिए। इसके बाद का दुर्भाग्य आपको मालूम ही है।''

मैंने अब कार्य और नीति पर चर्चा शुरू की। कहा, ''आगजी, आपका कोई कार्यक्रम है? किन नीतियों पर आप चलते हैं?''

आगजी ने फरमाया, ''हम विरोधी दल हैं। हमारी नीति है, स्वस्थ विरोध करना। आप जानते ही हैं कि प्रजातन्त्र में स्वस्थ विरोध की बड़ी आवश्यकता है।''

मैंने पूछा, ''स्वस्थ विरोध का क्या अर्थ है? और अस्वस्थ विरोध कैसा होता है ?''

आगजी ने समझाया, ''इसका भी नियम है। जिस पार्टी के नेता कमजोर और बीमार रहते हैं, उस पार्टी का विरोध स्वस्थ विरोध कहलाता है। हमारे नेता थे दादा कृपलानी, जो कमजोर हैं। अशोक भाई का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। इसलिए हमारी पार्टी का विरोध स्वस्थ है। उधर देखिए—जनसंघ में सब सण्डे-मुस्टण्डे भरे हैं, लोहिया भी गबरू जवान है, इसलिए इन पार्टियों का विरोध अस्वस्थ विरोध है। स्वस्थ विरोध का एक और लक्षण यह है कि वह हर मुद्दे पर और हर स्थिति में होता है।''

''जैसे?'' मैंने उकसाया।

वे बोलते गये, ''जैसे यही कि कांग्रेस ने समाजवाद अपना लिया, तब भी हम खुद समाजवादी होकर उसके समाजवाद का विरोध करेंगे। हम स्वस्थ विरोधी दल हैं न? चीनी हमले के पहले हमने बजट में सैनिक खर्च का विरोध किया। फिर इस बात पर विरोध किया कि तैयारी क्यों नहीं की। और अब सरकार तैयारी के लिए पैसा वसूल करती है, तो हम उसका भी विरोध करते हैं। सरकार मेकमोहन रेखा को भारत की सीमा मानती है, तो हम आगे बढ़कर तिब्बत तक मानते हैं। कल अगर सरकार तिब्बत तक सीमा मानने लगे, तो हम मेकमोहन रेखा तक आ जायेंगे।''

मैंने कहा, ''यह स्वस्थ विरोध कब तक होगा?''

वे तपाक से बोले, ''आज ही खत्म हो सकता है। कांग्रेस सन् '67 के चुनाव के लिए मोहनलाल के बदले हमें टिकट दे दे। हम विरोध समाप्त कर देंगे। हमें पागल कुत्ते ने थोड़े काटा है! आप जरा उन लोगों से हमारे बारे में बात कीजिए न।''

मैंने आखिरी प्रश्न किया, ''लोहिया समाजवादी पार्टी और आपकी पार्टी में किस बात

पर मतभेद है? दोनों पार्टियाँ एक क्यों नहीं हो रही हैं?''

आगजी ने कहा, ''भैया, सो तो लोहिया और अशोक भाई जानें। हमने तो यही सुना है कि डाक्टर साहब को दाढ़ी पसन्द नहीं है और अशोक भाई को नाटापन पसन्द नहीं है। सो एक ने कहा—दाढ़ी मुंड़ाओ, तो दूसरे ने कहा—कद बढ़ाओ। न ये दाढ़ी मुंड़ाने को तैयार, न वे ऊँचे होने को। बस, मतभेद हो गया। हमारा कहना यह है कि कद बढ़ाना तो बहुत मुश्किल है, मगर दाढ़ी तो मुंड़ाई जा सकती है। अशोक भाई को बात मान लेनी थी।''

मैं अब उठने को हुआ। मैंने कहा, ''आगजी, आपके विचार जानकर बहुत खुशी हुई। मुझे विश्वास है कि संयुक्त विरोध को लेकर आप जल्दी ही भारत पर कब्जा कर लेंगे।''

आगजी ने कहा, ''यार, कर तो लें हम कब्जा आज। पर हमारे पास नेता नहीं है। कोई अच्छा-सा तुम्हारी नज़र में हो तो बताना। जयप्रकाश बाबू तो धोखा दे गये भैया।'' उन्होंने जयप्रकाश नारायण की तसवीर की तरफ देखा और कहा, ''साथी, हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था?''

आगजी रुआँसे हो गये। कहने लगे, ''बन्धु, मेरा विलाप करने का जी हो रहा है। अगर तुम बाहर बात न फैलाओ, तो कर लूँ।''

मेरा हृदय फटा जा रहा था। मैं उस दुःख को दुबारा नहीं देख सकता था। मैंने कहा, ''आगजी, मुझे कोई एतराज नहीं है। मैं अब चलता हूँ। आप बेखटके विलाप करें।''

और मैं बाहर आ गया।

◆

सत्य-साधक मण्डल

इधर हमारा एक 'सत्य-साधक मण्डल' चलता था। हम कुछ लोग शनिवार की शाम को एक जगह बैठकर सत्य, ईश्वर, धर्म आदि पर चर्चा करते थे। धर्म-ग्रन्थों से पाठ होता। भजन होता।

हम सब सादा लोग हैं और हमारे इस कार्यक्रम में कोई टीमटाम नहीं थी। सत्य की टीमटाम हो तो लोग पूछने लगते हैं कि इसके लिए खर्च कौन-सा असत्य दे रहा है? अब यह सवाल खड़ा होता ही है कि सारे भारतवासी 'ध्यान' में खो जायें, इसके प्रचार के लिए कौन-से चोर धन दे रहे हैं।

हम हर तरह के सन्देह से परे थे। कुल 15-20 लोग आते थे। ज्यादा प्रचार नहीं था। प्रचार हो जाता तो हमारे सत्य को कोई बड़ी पार्टी झपट लेती।

मैं इसलिए चला जाता था कि मेरे घर से यह साधना कक्ष दस कदम पर है। सत्य

पास ही मिलता है तो मैं उसे ग्रहण कर लेता हूँ। दूर नहीं जाता सत्य के लिए। उसमें रिक्शा-किराया लग जाता है।

दो-तीन रिटायर्ड लोग आते थे। इनके लिए सत्य-शोधन बैठे से बेगार भली जैसा था।

एक प्राइवेट कॉलेज के तीन अध्यापक आते थे, जहाँ छः-छः महीने वेतन नहीं मिलता था। जिसे छः-छः महीने वेतन न मिले, वह वैसे ही आध्यात्मिक हो जाता है। कहते हैं जनक 'विदेह' थे। याने देह की सुधबुध नहीं रहती थी। यह तपस्या का परिणाम नहीं था। जिसके घर में चार लड़कियाँ बिन ब्याही बैठी हों, वह विदेह हो ही जायेगा।

कॉलेज की एक युवा सुन्दरी अध्यापिका मिस सक्सेना आती थीं। पर उनका तबादला हो गया और वे अपने सामान के साथ हमारे चार साधकों का सत्य बाँधकर ले गयीं। चारों ने आना छोड़ दिया।

हमने मुहल्ले में रहने वाले आयकर अधिकारी को लाने की कोशिश की। सोचा, व्यापारी उनकी देखादेखी आने लगेंगे। पर वे नहीं आये, क्योंकि आयकर की सत्य-साधना एकान्त में होती है।

फिर चोपड़ा साहब हमारे मण्डल में आने लगे। वे इमारतों के ठेकेदार थे। उनके शामिल होने से हमारे सत्य में थोड़ी बुलन्दी आयी। चोपड़ा साहब निहायत भले इन्सान थे। बड़े सरल और बड़े निष्ठावान। वे पहले ही दिन जब आये तो प्रसाद साथ ले आये थे। पेड़े और बरफी।

हमारी सत्य-साधना में उन्होंने मिठाई का प्रवेश करा दिया। इससे सत्य में कुछ कटुता रही हो, तो वह चली गयी। भजन के बाद फौरन चोपड़ा साहब उठे और 'लीजिए जी परसाद' कहकर सबको मिठाई बाँटी। इसके बाद आँखें बन्द किये जरा देर खड़े रहे और बड़ी गम्भीरता से बोलने लगे, "स्वाल है जी कि सत्य क्या है, ईश्वर क्या है? ह्वाट इज ट्रुथ? ह्वाट इज गॉड? बड़े-बड़े साधु-महात्मा, ऋषि, मुनि सोचते रहे, मगर जवाब किसी को नहीं मिला। भगवान कृष्ण ने कहा कि मैं ही सबकुछ हूँ। हे अर्जुन, तू सब धर्म छोड़कर मेरी शरण में आ जा। मंसूर ने कहा, 'अनलहक' याने मैं ही ईश्वर हूँ। उसे सूली पर चढ़ा दिया गया। कहा है—

किया दावा अनलहक का
हुआ सरदार आलम का
अगर चढ़ता न सूली पर
तो वह मंसूर क्यों होता।

"मूसा तूर पर ईश्वर का दर्शन करने गये थे। वहाँ ऐसी रोशनी हुई कि मूसा को गश आ गया। वे कुछ नहीं देख सके। कहा है—देखना आपका तसलीम मगर क्या देखा ? कबीर कहते हैं—हमारा यार है हममें हुमन को इन्तजारी क्या। तो जी, सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। वह हमारे अपने अन्दर है। मगर हम उसे देख नहीं सकते। स्वाल

है—क्यों देख नहीं सकते? बताइए, क्यों नहीं देख सकते सत्य को और ईश्वर को? इसमें रुकावट है—हमारा अहम्, हमारा मैं, हमारा सेल्फ, हमारा ईगो। हमने मेरा-तेरा लगा रखा है। हमारा 'मैं' सबसे ऊँचा होता है। तो दोस्तो, जब तक हम इस अहम् को, मैं को, सेल्फ को, ईगो को नहीं गलायेंगे, तब तक सत्य और ईश्वर को नहीं पा सकते। तो आइए, हम इस अहम् को, मैं को, सेल्फ को, ईगो को गलायें। खत्म कर दें इसे।''

मैंने बहुत संक्षेप में उनके प्रवचन का सार ही दिया है। वे लगभग आधा घण्टा बोले होंगे।

बोलकर सन्तुष्ट भाव से बैठ गये और थोड़ी देर ध्यान-मग्न ही रहे।

अगले शनिवार भजन के बाद चोपड़ा साहब फिर उठे और 'लीजिए जी परसाद' कहकर बर्फी बाँटी। फिर थोड़ी देर आँखें बन्द करके खड़े रहे।

फिर बोलने लगे, ''स्वाल है जी कि सत्य क्या है, ईश्वर क्या है? ह्वाट इज ट्रुथ ? ह्वाट इज गॉड?...''

फिर अन्त किया,... ''तो आइये, हम इस अहम् को, मैं को, सेल्फ को, ईगो को गलायें, खत्म कर दें इसे।''

हर बार चोपड़ा साहब यह करने लगे। भजन के बाद उठते, आँखें बन्द करके ध्यान करते और प्रवचन शुरू कर देते।

प्रसाद-वितरण और प्रवचन एक-दूसरे से इस कदर जुड़े थे कि दोनों के बीच में विसर्जन की गुंजाइश नहीं थी। परेशान हम लोग सब थे। पर बड़ी गंभीरता से ध्यान से हम प्रवचन सुनते रहते।

चोपड़ा साहब हम सब पर चौकस नजर रखते हुए बोलते। हम कुल 12-15 तो होते ही थे। हम अगल-बगल भी नहीं देख सकते थे। एक-दूसरे के कान में रिमार्क भी नहीं डाल सकते थे। मुस्कराकर हल्के भी नहीं हो सकते थे। इस मामले में पक्का गाने वाले कितने दयालु होते हैं जो आँखें बन्द करके गाते हैं। श्रोता हँसकर, फुसफुसाकर, रिमार्क करके हल्के हो जाते हैं। जो चाहें खिसक सकते हैं। गायक का स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

एक बहुत वृद्ध पक्के गायक ने आँखें बन्द करके दो घण्टे गाया। मैं सोचने लगा, इनकी इतनी लम्बी उम्र और ऐसे अच्छे स्वास्थ्य का कारण क्या है? समझ में आया, वे आँखें बन्द करके गाते हैं। अगर आँखें खोलकर गाते तो अपने श्रोताओं का हाल देखकर जवानी में ही वे हाय खाकर मर जाते।

चोपड़ा साहब के चले जाने के बाद अब उनकी आलोचना होने लगी।

सत्य-साधक पीठ पीछे आलोचना करते हैं।

मिश्रजी कहते, ''चोपड़ा साहब अच्छे आदमी हैं। पर परेशान करते हैं। आधा पौन घण्टा वही-वही प्रवचन हर बार करते हैं।''

शुक्लजी ने कहा, ''हाँ भई, बैठना मुश्किल हो जाता है। उन्हें खुद इतना समझना चाहिए कि लोगों को परेशानी होती है। हर बार वही—'स्वाल है जी कि सत्य क्या है, ईश्वर

क्या है?' और अन्त में—'तो आइए इस अहम् को, मैं को, सेल्फ को, ईगो को गला डालें। आखिर वे क्या अपने को सबसे ज्ञानी समझते हैं?''

मिश्रजी ने कहा, ''वे प्रसाद लाते हैं। आप तो कोई नहीं लाते। जो प्रसाद लायेगा, वह प्रवचन करेगा ही। और आपको सुनना होगा क्योंकि आप प्रसाद खाते हैं।''

हम कुड़मुड़ाते थे और सहते थे। चोपड़ा साहब का स्वास्थ्य अच्छा था। वे किसी शनिवार को बीमार नहीं पड़े।

शुक्लजी ने एक दिन कहा, ''हर बार चोपड़ा साहब ही प्रसाद लाते हैं। अच्छा नहीं लगता। कभी हमें भी ले चलना चाहिए। क्या खयाल है?''

मैंने कहा, ''आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। मैं भी ऐसा ही कुछ सोच रहा था।''

शुक्लजी ने कहा, ''तो इस शनिवार को मैं प्रसाद ले चलूँगा।''

शनिवार की शाम को हम एकत्र हुए। शुक्लजी प्रसाद का डिब्बा बगल में रखकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद चोपड़ा साहब भी आये और अपनी जगह पर बैठ गये।

साधना हुई। भजन हुआ। चोपड़ा साहब तो इत्मीनान से प्रसाद लेकर उठते थे। उन्हें कोई जल्दी तो थी नहीं। यह उनका नियमित कार्यक्रम ही था। पर शुक्लजी पहली बार प्रसाद लाये थे। वे उत्तेजित थे और हड़बड़ी में थे। वे भजन खत्म होते-होते ही उठ खड़े हुए और प्रसाद बाँटने लगे। उत्साह में वे ज्यादा प्रसाद ले आये थे। बरफी के दो-दो टुकड़े बाँट रहे थे।

मैंने देखा, चोपड़ा साहब कुछ परेशान थे। वे कड़ी नजर से शुक्लजी को देख रहे थे। उनके सौम्य मुख पर तनाव आ गया था। उन्होंने चेहरे का पसीना भी पोंछा। वे बहुत बेचैन लग रहे थे।

शुक्लजी ने चोपड़ा साहब को भी प्रसाद दिया। चोपड़ा साहब की आँखों में अब तक क्रोध आ चुका था। उन्होंने सिर्फ एक टुकड़ा लिया। उसे भी खाया नहीं, अखबार पर रख दिया। किसी ने कहा, तब उन्होंने कड़वी दवा की तरह बरफी खायी।

चोपड़ा साहब के बगल में प्रसाद का डिब्बा रखा था। हम आशा कर रहे थे कि अब वे उठेंगे और प्रसाद बाँटेंगे। पर वे नहीं उठे।

मैंने कहा, ''चोपड़ा साहब, आप भी तो प्रसाद देंगे।''

चोपड़ा साहब ने भन्नाकर कहा, ''ये रखा है। ले लीजिए।''

चोपड़ा साहब की तबीयत एकाएक खराब हुई लगती थी।

हममें से एक ने प्रसाद बाँटा। मैंने कहा, ''चोपड़ा साहब, अब आपका प्रवचन हो जाये।''

चोपड़ा साहब ने लाल आँखों से देखा और कहा, ''मैं कोई प्रवचन नहीं करूँगा।''

फिर उन्होंने शुक्लजी की तरफ तनी हुई आँखों से देखा और कहा, ''आप प्रवचन करिए साहब! अब प्रवचन भी करिए।''

शुक्लजी सकपका गये। उन्होंने कहा, ''नहीं, मैं इस योग्य नहीं हूँ।''

चोपड़ा साहब ने कहा, ''हें क्यों नहीं साहब! करिए, प्रवचन करिए।''

हम सब चुप थे। जरूर चोपड़ा साहब की तबीयत खराब हो गयी।

वे एकाएक उठे। बोले, ''मैं अब चलूँगा।''

वे फुर्ती से चले गये।

हम बातें करते रहे कि चोपड़ा साहब आये तो प्रसन्न थे। यहीं अचानक उनकी तबीयत खराब हो गई।

चोपड़ा साहब अगले शनिवार को नहीं आये। उसके बाद भी कभी नहीं आये। वे अपने अहम् को, मैं को, सेल्फ को, ईगो को गलाने में लग गये होंगे।

विकलांग राजनीति

चुनाव के समय हर चीज का महत्त्व बढ़ जाता है। मेरी टाँग की भी कीमत बढ़ी।

मुझे यह मुगालता है कि मेरी टाँग में फ्रेक्चर हो गया था, यह खबर सारे विश्व में फैल चुकी है। मुझे यह सुखद भ्रम नहीं होता तो मेरी टाँग इतनी जल्दी ठीक न होती। यश की खुशफहमी का प्लास्टर ऊपर से चढ़ा लिया था मैंने।

चुनाव-प्रचार जब गर्मी पर था, तब मैं सहारे से लँगड़ाकर चलने लगा था। मैं दुखी था कि टूटी टाँग के कारण मैं जनतन्त्र को भावी रूप नहीं दे पा रहा हूँ।

पर एक दिन दो-तीन राजनीति के लोग मेरे पास आये। वे जनता पार्टी के थे। पहले उन्होंने बड़ी चिन्ता से मेरी तबीयत का हाल पूछा। मैंने बताया, तब उन्होंने कहा, ''जरा चार कदम चलकर बतावेंगे।''

मैंने लँगड़ाते हुए चलकर बताया।

उन लोगों ने एक-दूसरे की तरफ देखा।

एक ने कहा, ''वेरी गुड। इतने से काम चल जायेगा।''

दूसरे ने कहा, ''लेकिन टाँग के बाहर कुछ चोट के निशान भी दिखने चाहिए।''

तीसरे ने कहा, ''कोई मुश्किल नहीं है। हम हल्के से कुछ घाव बना देंगे। परसाई जी को तकलीफ भी नहीं होगी। ऊपर से पट्टी बाँध देंगे।''

मैंने कहा, ''आप लोगों की बात मेरी समझ में नहीं आ रही।''

उन्होंने कहा, ''हम आपसे एक प्रार्थना करने आये हैं। आप प्रबुद्ध आदमी हैं। आप जानते ही हैं कि यह ऐतिहासिक चुनाव है। तानाशाही और जनतन्त्र में संघर्ष है। इस सरकार ने नागरिक अधिकार छीन लिये हैं। वाणी की स्वतन्त्रता छीन ली है। हजारों नागरिकों को बेकसूर जेल में रखा। न्यायपालिका के अधिकार नष्ट किये। जनता पार्टी इस तानाशाही को खत्म करके जनतन्त्र की पुनःस्थापना करने के लिए चुनाव लड़ रही है। इस पवित्र कार्य

में आपका सहयोग चाहिए।''

मैंने पूछा, ''मैं कैसे सहयोग कर सकता हूँ?''

वे बोले, ''हमारा मतलब है, आपकी टाँग का सहयोग चाहिए।''

मैंने आश्चर्य से कहा, ''मेरी टाँग? अरे भाई, मैं हूँ तो मेरी टाँग है।''

उन्होंने कहा, ''नहीं, टाँग टूटने से उसका अलग व्यक्तित्व हो गया है। बल्कि टूटी टाँग ने राष्ट्रीय जीवन में आपको महत्त्वपूर्ण बना दिया है। हमें अनुमति दीजिए कि हम प्रचार कर दें कि कांग्रेसियों ने आपकी टाँग तोड़ दी। इससे सारे देश में कांग्रेस के विरुद्ध वातावरण बनेगा।''

मैंने जवाब दिया, ''मैं ये झूठा प्रचार नहीं करना चाहता।''

एक ने कहा, ''जरा सोचिए—देश के लिए, जनतन्त्र के लिए।''

दूसरे ने कहा, ''मानव-अधिकारों के हेतु। मानव-गरिमा के लिए। आखिर आप समाज-चेता लेखक हैं।''

मैंने उनकी बात नहीं मानी। मुझे मेरी टाँग की चिन्ता थी। मैं किसी को शब्द से भी टाँग छूने देना नहीं चाहता था।

शाम को कांग्रेस के दो-तीन लोग आ गये। उन्होंने भी मेरी टाँग की जाँच की और कहा, ''इससे अपना काम बन जायेगा।''

मैंने पूछा, ''बात क्या है?''

उन्होंने कहा, ''आपको क्या समझाना। आप स्वयं प्रबुद्ध हैं। इस समय देश का भविष्य संकट में है। यदि जनता पार्टी जीत गयी तो देश खण्ड-खण्ड हो जायेगा। विकास कार्य रुक जावेंगे। जनता पार्टी में शामिल दल घोर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी हैं। वे सार्वजनिक क्षेत्र को खत्म कर देंगे। वे इस देश को अमेरिका के पास गिरवी रख देंगे।''

मैंने पूछा, ''तो मैं क्या करूँ?''

उन्होंने कहा, ''आपको कुछ नहीं करना है। करना हमें ही है। कांग्रेस खुद ही सब करती है। तीस सालों से, यहाँ तक कि हम हारते भी हैं तो दूसरे से नहीं—कांग्रेस ही कांग्रेस को हराती है। आप हमें इतनी छूट दे दें कि हम यह प्रचार कर सकें कि जनता पार्टी के लोगों ने आपकी टाँग तोड़ दी है। इससे जनता इस पार्टी के खिलाफ हो जायेगी।''

मैंने उनसे भी कहा, ''मैं अपनी टाँग के बारे में यह झूठा प्रचार नहीं होने दूँगा।''

एक ने कहा, ''इस देश के लिए।''

दूसरे ने कहा, ''सशक्त केन्द्र के लिए।''

तीसरे ने कहा, ''प्रगतिशील नीतियों के लिए।''

मैं राजी नहीं हुआ।

दूसरे दिन जनता पार्टी वाले फिर आ गये।

उन्होंने छूटते ही पूछा, ''आखिर आपका 'रेट' क्या है?''

मैंने क्रोध से कहा, ''मैं क्या रण्डी हूँ कि मेरा रेट होगा।''

उन्होंने कहा, ''हमारा मतलब है कि अपनी टूटी टाँग के उपयोग के लिए आप क्या लेंगे। पाँच सौ काफी होंगे?''

मैंने उन्हें डाँटा। वे जाते-जाते कहते गये, ''आपको हमसे असहयोग का फल भोगना पड़ेगा। आपको इस सरकार ने इलाज के लिए रुपये दिये थे। हमारी सरकार बनने पर हम इसकी जाँच करवायेंगे और सारा पैसा आपसे वसूल किया जायेगा।''

थोड़ी देर बाद कांग्रेसी फिर आ गये।

कहने लगे, ''बड़े शर्म की बात है। आप प्रगतिशील बनते हैं मगर पाँच सौ रुपयों में अपने को प्रतिक्रियावादियों को बेच दिया। पैसा ही चाहिए तो हमसे हजार ले लीजिए। अभी हमारी सरकार ने आपको काफी रुपये इलाज के लिए दिये। मगर आप इतने अहसान-फरामोश हैं कि हमारे ही खिलाफ हो गये?''

मैंने कहा, ''मैं नहीं बिका। मैंने जनता पार्टी की बात नहीं मानी। मैं आपकी बात भी नहीं मानूँगा। मेरी टाँग किसी का चुनाव पोस्टर नहीं बन सकती।''

इतने में जनता पार्टी वाले फिर आ गये। उन्हें देख कांग्रेसी चिल्लाये, ''आ गये आप लोग परसाईजी को पाँच सौ रुपये में खरीदने के लिए।''

जनता वालों ने कहा, ''पाँच सौ? इस दो कौड़ी के लेखक को हम पाँच सौ देंगे। तुम्हीं उसे हजार में खरीदने आये हो।''

कांग्रेसियों ने कहा, ''अरे, हजार रुपये हम इस कूड़ा लेखक को देंगे?''

अब दोनों पार्टी वालों में लड़ाई शुरू हो गयी।

पहले वे एक-दूसरे के 'साले' बने। इस रिश्ते के कायम होने से मुझे विश्वास हो गया कि देश में मिली-जुली स्थायी सरकार बन जावेगी।

फिर कुछ 'मादर' वगैरह हुआ। इससे लैंगिक नैतिकता में एक मानदण्ड स्थापित हुआ।

फिर मार-पीट हुई।

मैंने कहा, ''आप दोनों का काम बिना पैसे खर्च किये हो गया। अब मेरी टाँग की जरूरत आपको नहीं है। आपके अपने सिर फूटे हैं और नाक में से खून बह रहा है। अब प्रचार कीजिए जनतन्त्र के लिए, देश के लिए। मैं गवाह बनने को तैयार हूँ।''

☯

पीढ़ियाँ और गिट्टियाँ

साहित्य के वयोवृद्ध थकित हुए।
वे लाठी टेकते हुए सड़क पर चलते।
मोटा चश्मा लगाकर चाँद देखते।

निमोनिया की दवा जेब में रखकर बगीचे में घूमते।

कान में ऊँचा सुनने का यन्त्र लगाकर संगीत-सभा में बैठते।

भोजन से अधिक मात्रा में पाचन का चूरन खाते।

... एक दिन तरुणों ने उनसे कहा, ''प्रातः स्मरणीयो, सुनामधन्यो! आप अब वृद्ध हुए—वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और कलावृद्ध हुए। आप अब देवता हो गये। हम चाहते हैं कि आप लोगों को मन्दिर में स्थापित कर दें। वहाँ आप आराम से रहें और हमें आशीर्वाद दें।''

देवता थोड़ी देर तक विचार करते रहे। फिर बोले, ''प्रस्ताव कोई बुरा नहीं है। पर हमारे यश का क्या होगा?''

''हम आपकी जय बोलेंगे।'' तरुणों ने कहा।

''और हमारे झण्डों का क्या होगा?''

''हम आपके झण्डों को मन्दिर के सामने के पीपल पर टाँग देंगे। वे वहाँ ऊँचे फहरायेंगे।''

''और हमारे भोग का क्या होगा?''

''हम आपके भोग का भी प्रबन्ध करेंगे। रोज हम पकवानों के थाल लेकर आयेंगे।''

''हमें श्रद्धा भी तो चाहिए। उसका क्या प्रबन्ध होगा?''

''हम रोज आपकी आरती करेंगे और आपके चरणों पर मस्तक रखेंगे।''

''हमारे अर्थ का क्या होगा?''

''आपकी रॉयल्टी हम मन्दिर में ही पहुँचा दिया करेंगे। आपको हम हर पाठ्य-पुस्तक में रखवायेंगे, और जो प्रकाशक धन देने में आनाकानी करेगा, उसे ठीक करेंगे।''

''पर हम कर्म के बिना कैसे जीवित रहेंगे?'' वयोवृद्ध ने कहा।

तरुणों ने समाधान किया, ''जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, आप लोगों की संस्मरण की अवस्था है। आप लोग आपस में संस्मरण सुनायेंगे ही। उनका रिकार्डिंग होता जायेगा। और हम उनकी पुस्तकें छपवा देंगे।''

सयानों ने आपस में सलाह की और एकमत से कहा, ''हमें मंजूर है। बनाओ हमें देवता।''

युवकों ने एक दिन समारोहपूर्वक वयोवृद्धों को देवता बनाकर मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया। उनके झण्डे पीपल पर चढ़ा दिये। उनकी आरती की, उनके चरण छुए और भोग लगाकर काम पर चले गये।

देवता जब अकेले छूट गये, तब उनका ध्यान तरुणों पर गया।

एक ने बात उठायी, ''लड़के इस समय न जाने क्या कर रहे होंगे!''

''सड़कों पर घूम रहे होंगे'', दूसरे ने कहा।

तीसरा बोला, ''कोई खा रहा होगा, पी रहा होगा।''

चौथे ने कहा, ''कोई खेल रहा होगा।''

पाँचवें ने कहा, ''कोई नाटक देख रहा होगा, कोई फिल्म देख रहा होगा।''

छठा बोला, ''कोई प्रेम कर रहा होगा।''

सातवें ने कहा, ''कोई बढ़िया कपड़े पहने लोगों को लुभाता घूम रहा होगा।''

आठवें ने कहा, ''कोई कविता सुना रहा होगा और 'वाह-वाह' लूट रहा होगा।''

वे उदास हो गये। कहने लगे, ''लड़के बाहर ऐसा आनन्द कर रहे हैं; जीवन को इस तरह भोग रहे हैं! और देवता बने हम इस मन्दिर की कारा में बैठे हैं।''

तभी एक देवता, जो अब तक चुप था, बोला, ''खाने-खेलने दो लड़कों को। हम तो न चल सकते, न खेल सकते, न दौड़ सकते। ज्यादा खा लेंगे, तो अजीर्ण हो जाएगा। ज्यादा बोलेंगे, तो साँस फूल उठेगी। प्रेम करने की भी अवस्था नहीं रही। भोगने दो जवानों को जीवन। वे हमारी जय तो बोलते हैं, हमारे झण्डे तो फहराते हैं, हमारी आरती तो करते हैं! और क्या चाहिए हमें!''

लेकिन बाकी देवताओं को उसकी बात अच्छी नहीं लगी। वे बोले, ''तुम बिल्कुल निःसत्व हो। तुम्हें इस बात का कोई बुरा नहीं लगता कि जहाँ-जहाँ हम थे, वहाँ-वहाँ वे जम गये हैं। जो हमारा था, वह सब उन्होंने ग्रहण कर लिया है, और हमें प्रतिमा बनाकर यहाँ चिपका दिया है।''

वह उठकर मन्दिर के दूसरे हिस्से में चला गया।

देवताओं में सलाह होती रही। फिर उनमें हलचल हुई।

शाम को युवक जब थालियों में मिष्टान्न सजाकर देवताओं की जय बोलते हुए मन्दिर के पास पहुँचे, तो देखा कि सब देवता चबूतरे पर खड़े हैं। उनके पास पत्थरों का ढेर है, और वे हाथों में भी पत्थर लिये हैं।

जवान आगे बढ़े, तो देवताओं ने उन पर पत्थर बरसाना शुरू कर दिया।

तरुण रुक गये। चिल्लाये, ''देवताओ, पत्थर क्यों मार रहे हो?''

देवता बोले, ''वहीं रुको और हमारी बात सुनो। तुमने हमें वंचित किया है।''

''किससे वंचित किया है?'' तरुणों ने पूछा।

''उस सबसे, जो हमारा था।'' देवता उधर से चिल्लाये।

तरुणों ने जवाब दिया, ''हमने तुम्हें वंचित नहीं किया। तुमने अपने आपको वंचित किया है। तुम्हारी थकान ने, तुम्हारी उम्र ने, तुम्हारी चेतना-दुर्बलता ने, तुम्हारी शक्ति-हीनता ने तुम्हें वंचित किया है। हम तो तुम्हें पूज रहे हैं और तुम देवता होकर पत्थर मारते हो !''

देवताओं ने कहा, ''हमें ऐसी पूजा नहीं चाहिए। हम भी तुम्हें वंचित करेंगे।''

एक देवता बोला, ''तुम उन सड़कों पर नहीं चलोगे, जिन पर हम चले। वे मात्र हमारी हैं।''

दूसरा देवता चिल्लाया, ''जो हमने खाया, वह तुम नहीं खाओगे, क्योंकि वह मात्र हमारा भोज्य था।''

तीसरा बोला, "जो हमने भोगा, वह तुम नहीं भोगोगे, वह मात्र हमारा भोग्य था।"

चौथा चिल्लाया, "तो हमने किया, वह तुम नहीं करोगे, क्योंकि वह केवल हमारा कर्म था।"

पाँचवाँ बोला, "तुम अपने झण्डे नहीं फहराओगे। झण्डे सिर्फ हमारे होंगे। हमारे बाद किसी का कोई झण्डा नहीं होगा।"

तरुणों ने कहा, "आप लोग देवता हैं, दरोगा नहीं। देवोचित व्यवहार करिए। आप जिये, इसलिए क्या जीवन पर सिर्फ आपका अधिकार हो गया, और कोई दूसरा जी भी नहीं सकता! हमें यह सब स्वीकार नहीं है।"

"नहीं है तो लो"—कहकर देवताओं ने पत्थर बरसाना शुरू कर दिया।

उन जवानों ने भी पास ही पड़े मिट्टी के ढेर से पत्थर उठाकर उन देवताओं पर फेंकने शुरू कर दिये।

एक युवक पीपल पर चढ़ गया और देवताओं के झण्डे फाड़कर फेंक दिये।

दोनों तरफ से पथराव हो रहा था, दोनों तरफ से गाली-गलौज हो रही थी।

एक राहगीर से दूसरे ने पूछा, "यह क्या मामला है?"

राहगीर ने जवाब दिया, "दो पीढ़ियों की कलागत मूल्यों पर बहस चल रही है।"

सर्वोदय-दर्शन

दौरा करता हुआ, मैं इस नगर में आ पहुँचा हूँ, जहाँ सर्वोदय-शिविर का आयोजन किया गया है। यहाँ इस समय नाना प्रकार के सर्वोदयी दूर-दूर से आकर एकत्रित हो गये हैं।

शिविर का प्रबन्ध एक नागरिक-समिति कर रही है। मैं समिति के मन्त्री से मिला और बधाई देते हुए मैंने कहा, "आपने बड़े साहस का काम किया है। दुनिया का सबसे कठिन काम है—सर्वोदय-शिविर का आयोजन। हनुमान समुद्र लाँघ गये थे, पर उनसे कहीं राम कह देते कि एक सर्वोदय-शिविर का आयोजन करो, तो वे फिस्स बोल जाते। पर आप तो परमवीर हैं!"

मन्त्री ने सर्वोदयी संकोच से प्रशंसा स्वीकार करते हुए कहा, "मैं तो निमित्त मात्र हूँ। ईश्वर की कृपा से सब प्रबन्ध हुआ जा रहा है। सर्वोदयी के लिए भोजन की व्यवस्था करना ही सबसे कठिन काम है। ये दुर्लभ वस्तुएँ ग्रहण करते हैं। हमने पन्द्रह-बीस स्त्रियों को चक्कियों पर बैठा दिया है और वे रात-दिन पीसा करती हैं। तीस-चालीस पीपे तिल का तेल शिविर में रखवा दिया है। ये लोग तेल पीते हैं न! शहद लाने के लिए हमने आठ आदमी जंगल में भेजे थे। उनमें से चार को मधुमक्खियों ने ऐसा काटा कि वे अस्पताल में पड़े हैं, बाकी चार अभी लौटे नहीं हैं। कल एक सर्वोदयी बोले कि मैं हर अमावस्या को

'गुलजमार' खाता हूँ। हम बड़े परेशान हुए कि यह क्या चीज है और कहाँ मिलती है ? हमने एक प्रोफेसर को इसकी खोज करने के लिए लगाया। उसने आज बतलाया कि यह एक फूल है, जिसका उल्लेख किस्सा हातिमताई में आता है और यह कहीं भूमध्यसागर के पास मिलेगा। हमने हवाई जहाज से दो आदमी 'गुलजमार' लेने के लिए भेजे हैं।''

मन्त्री से मिलकर मैं शिविर के पास गया। वहाँ एक बड़े सर्वोदयी नेता स्वामी दीनबन्धुजी बैठे थे। उनके आसपास सैकड़ों सर्वोदयी थे और स्वामीजी उनकी शंकाओं का समाधान कर रहे थे। प्रश्नोत्तर चल रहे थे :

सर्वोदयी—स्वामीजी, यदि हम सिनेमा का पोस्टर उखाड़ रहे हों और उसी समय मैनेजर आकर कहे कि चलो, तुम्हें सिनेमा दिखाता हूँ, तो सर्वोदयी का क्या कर्तव्य है ?

स्वामीजी—सर्वोदयी का कर्तव्य होगा कि वह पोस्टर लगा रहने दे और सिनेमा देख ले।

सर्वोदयी—सर्वोदयी के लिए झूठ बोलना कब-कब क्षम्य है?

स्वामीजी—अपनी सेवाओं का उल्लेख करते समय।

सर्वोदयी—क्या आप बतायेंगे कि सर्वोदय में शामिल होने की ठीक अवस्था क्या है ?

स्वामीजी—यह अवस्था पर नहीं, बल्कि परिस्थितियों पर निर्भर है। साधारणतः दो चुनाव हारने के बाद सर्वोदयी हो जाना चाहिए। विशेष स्थिति में चुनाव टिकट न मिलने पर भी आदमी को सर्वोदय में आ जाना चाहिए।

स्वामीजी ने पास ही एक सर्वोदयी को ध्यान से देखा और अप्रसन्नता से कहा—सेवकजी, दाढ़ी बढ़ा ली, सो तो ठीक किया, पर इसमें तेल क्यों चुपड़ते हो? तेल दाढ़ी में चुपड़ने के लिए है कि पीने के लिए?

सेवकजी लज्जित हुए। कहने लगे—भूल हुई। अब तेल नहीं चुपड़ूँगा।

स्वामीजी ने दूसरे सर्वोदयी से कहा—दुखी जी, तुम्हें कितना समझाया कि सर्वोदयी को धोती ऊँची पहनना चाहिए, पर तुम्हारी धोती अभी भी घुटनों से नीचे आती है। इतनी नीची धोती से समाज पर नैतिक प्रभाव कैसे पड़ सकता है!

इसी समय एक जत्था आया। जत्थे के मुखिया ने स्वामी जी को प्रणाम करके कहा—हम बहुत दूर से आये हैं हमें विनोबाजी से मार्गदर्शन चाहिए।

स्वामीजी ने कहा—विनोबाजी इस समय दौरे पर हैं। मुझे बताओ, तुम्हारी समस्या क्या है?

सर्वोदयी ने कहा—स्वामीजी, हमारे शहर में बड़ा भीषण साम्प्रदायिक संघर्ष हो रहा है। मानवता मर रही है। हमें प्रकाश चाहिए। हम क्या करें? ऐसी स्थिति में हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिए?

स्वामीजी ने कहा—जब वहाँ संघर्ष चल रहा है, तब तुमने अच्छा किया जो यहाँ आ गये। यहाँ कोई डर नहीं है, आराम से रहो। तुम कब चले थे?

—कल शाम को। सर्वोदयी ने जवाब दिया।

स्वामीजी ने पूछा—फिर इतनी जल्दी यहाँ कैसे आ पहुँचे?

सर्वोदयी ने कहा—क्यों? हम लोग रेलगाड़ी से ही आये हैं।

स्वामीजी बहुत असन्तुष्ट हो उठे। बोले—जब मूल सिद्धान्त की ही अवहेलना करोगे, तो काम क्या होगा? कितनी बार समझाया कि सर्वोदयी को हमेशा पैदल चलना चाहिए। इससे नैतिक प्रभाव पड़ता है और समस्याएँ अपने आप हल होती हैं। अगर तुम पैदल आते, तो तुम्हारे लौटने तक वहाँ शान्ति हो ही जाती और तुम कुछ करने से बच जाते। खैर, अब तुम लौटकर सिनेमा के पोस्टर उखाड़ो। इससे समाज की नैतिकता सुधरेगी और अपने आप बन्धुत्व की भावना का संचार होगा।

सर्वोदयी ने हाथ जोड़कर कहा—पर हमारी मजबूरी यह है कि हमें कुछ करना ही पड़ेगा। हम वहाँ कह आये हैं कि हम नुस्खा पूछने जा रहे हैं।

स्वामीजी ने कुछ देर विचार किया। फिर कुटिया में गये और एक जड़ी हाथ में लेकर आये। बोले—लो, यह जड़ी ले जाओ। इसकी विधिपूर्वक पूजा करके इसे जमीन में गाड़ देना। दिन-रात सात दिन तक इसके पास रामधुन लगाना। आठवें दिन इसे निकालकर लोबान की धूनी देना। बस, समाज का हृदय परिवर्तन हो जायेगा।

सर्वोदयी ने जड़ी लेकर झोले में डाल ली।

चलते-चलते सर्वोदयी ने कहा—एक प्रार्थना और है। राष्ट्रपति ने डाकुओं को नष्ट करने के मेडिल पुलिस अफसरों को दे दिये। मेडिल तो हमें मिलने चाहिए थे। डाकुओं का हृदय-परिवर्तन करके हमने उनका नाश किया है।

स्वामीजी ने कहा—तुम्हारी शिकायत ठीक है। हम राष्ट्रपति से प्रार्थना करेंगे और तुम्हें मेडिल दिलवायेंगे। यदि राष्ट्रपति ने मेडिल नहीं दिये, तो डाकुओं से दिलवायेंगे।

इसके बाद सर्वोदयियों का दतौन तोड़ने का समय हो गया। सब उठकर दतौन तोड़ने चले गये।

◆

निठल्ले की डायरी

1. निठल्लेपन का दर्शन

निठल्ला भी कहीं डायरी लिखने का काम करेगा!

असम्भव।

उसी तरह अविश्वसनीय जैसे यह कि तुलसीदास 'रामचरितमानस' की पाण्डुलिपि टाइप करते पाये गये।

या यह कि तुकाराम पियानो पर अपने अभंग गाते थे।

मगर निठल्ले-निठल्ले में फर्क है—

जैसे इनकमटैक्स-विभाग के ईमानदार और शिक्षा-विभाग के ईमानदार में फर्क होता है—गो ईमानदार दोनों हैं।

यह निठल्ला कुछ भिन्न किस्म का था। पूरी डायरी पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि वह 'निठल्ला' के नाम से इसलिए बदनाम था कि वह लगातार कोई काम नहीं करता था। अगर वह लगातार चौराहे पर खड़े होकर लोगों को मुँह चिढ़ाने का काम करता रहता, तो भी लोग उसे निठल्ला नहीं कहते। कहते—वह जी लगाकर मुँह चिढ़ाने का काम करता है।

जब घण्टों भगवान की स्तुति करना काम माना जाता है, तब मुँह चिढ़ाना काम क्यों नहीं है?

दूसरा कारण यह है कि वह ऐसा कुछ नहीं करता था, जिससे उसका अपना फायदा हो। अगर वह गैर-कानूनी शराब उतारकर बेचता और हवेली खड़ी कर लेता, तो बड़े-बड़े कर्मयोगी उसे गुरु मानते।

वह शायद घूमता रहता था और जहाँ-तहाँ घुस जाता था।

नियम उसकी जिन्दगी में नहीं था।

नियम के कारण ही एक कुलटा कहलाती है और दूसरी पतिव्रता। कुलटा का कुल मिलाकर पुरुष-सम्पर्क पतिव्रता से कम होता है, तो भी।

निठल्ले की डायरी के पहले के पन्नों में कुछ फुटकर बातें लिखी पायी गयीं, जिनसे मालूम होता है कि 'नियमित कर्म' के प्रति उसकी विरक्ति कैसे होती गयी।

डायरी प्रकाशित करने के पहले ये कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

श्रीमद्भगवद्गीता की रचना किसने की?

क्या कृष्ण ने सचमुच रणभूमि में अर्जुन से यह सब कहा, जिसे व्यास ने लिखा?

इस सारे उपदेश का नतीजा क्या हुआ? अर्जुन ज्ञानी हो गया और लड़ने लगा। यानी ज्ञानी वह जो हमेशा लड़ने को तैयार रहे।

पर दुर्योधन तो पहले से लड़ने को तैयार था।

यानी दुर्योधन अर्जुन से ज्यादा ज्ञानी था।

यानी बुरा आदमी अच्छे आदमी से ज्यादा ज्ञानी होता है।

यह बात मेरे गले नहीं उतरती।

गीता न कृष्ण ने कही, न व्यास ने लिखी।

गीता को 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज' के अध्यक्ष ने लिखा है या पैसा देकर लिखवाया है।

प्रमाण मुझे मिल गया है।

गीता में लिखा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।'—अर्थात् तुम्हारे अधिकार में सिर्फ काम करना है; तुम फल की इच्छा मत करो।

हे मजदूरो, भगवान का आदेश है कि काम करते जाओ; तनख्वाह मत माँगो।

यह उपदेश मजदूरों की हड़ताल तोड़ने के काम आ सकता है।

भगवान ऐसा उपदेश नहीं दे सकते कि काम करो, पर पैसा मत माँगो।

सिद्ध हुआ कि गीता या तो 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज' के अध्यक्ष ने लिखी है या किसी से लिखवाई है।

इसीलिए राजगोपालाचारी को गीता विशेष प्रिय है।

इस शोध के बाद मुझे कर्म से अरुचि हो गयी।

पुराने जमाने की बात है।

भारत के किसी जामुन के पेड़ के नीचे तीन आदमी मुँह खोले लेटे थे और कह रहे थे—आ जामुन, मेरे मुँह में गिर!

जामुन गिरने ही वाली थी कि वहाँ एक घुड़सवार आया।

वह घोड़े पर बैठकर घूमने को बड़ा काम मानता था जैसे आजकल सरकारी जीप पर बैठने को काम माना जाता है। उसने उन तीनों को हण्टर मारकर भगा दिया।

कई साल बाद पश्चिम में एक लड़का एक सेब के पेड़ के नीचे बैठा था।

वह भी कह रहा था—आ सेब, मेरे मुँह में गिर!

सेब जामुन से बहुत बड़ा होता है। निष्कर्ष निकला कि जहाँ तक खाने का सम्बन्ध है, पश्चिम का मुँह पूर्व से बड़ा होता है। बीते साम्राज्य और सेब इसके गवाह हैं।

उस समय वहाँ कोई घुड़सवार नहीं आया, क्योंकि यूरोप के सारे घुड़सवार संकट में फँसी सुन्दरियों की रक्षा खोज-खोजकर कर रहे थे।

सेब गिरा और लड़के ने 'ग्रेविटेशन' (गुरुत्वाकर्षण) का सिद्धान्त खोज लिया।

अगर वह घुड़सवार वहाँ न जाता और एक जामुन भी उनमें से किसी के मुँह में गिर पड़ती, तो उस सिद्धान्त की खोज का श्रेय भारत को मिल जाता! भारत में अनुसंधान को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। अनुसंधान करने के लिए बैठे मनीषी को अलाल कहा जाता है। उन्हें पहले घुड़सवार छेड़ता था और अब जीप सवार छेड़ता है।

सारा देश अब पछताता है कि अगर हमारे वे तीन जामुन के नीचे के मनीषी छेड़े न जाते, तो हमें एक महान् खोज का श्रेय मिल जाता।

ऐसी ही भूल तब हुई थी जब लक्ष्मण ने मरणासन्न रावण से दुनिया-भर की नीति की बातें तो पूछीं, पर यह नहीं पूछा कि गुरु, उस गोली का फार्मूला तो बता जाओ, जिसे खाकर आपके मरहूम भाईजान कुम्भकर्ण छः महीने सोते रहते थे।

पश्चिम विज्ञान के क्षेत्र में इतना आगे क्यों बढ़ा है?

क्योंकि वहाँ अलालों को सब तरह के सुभीते दिये जाते हैं। हमारे यहाँ वे निरादर के पात्र हैं।

कहते हैं उसकी मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।

तो उसकी मर्जी के बिना चोरी भी नहीं होती होगी।

वही चोरी करता है और वही पुलिसमैन से गश्त दिलवाता है।

तो करणीय क्या? और अकरणीय क्या?

अभी तो यही निश्चित नहीं है कि वह जेब काटने को बुरा मानता है। आखिर जेब कटवाता तो वही है।

मैं कुछ कामों को अच्छा मानकर जिन्दगी-भर करता जाऊँ, और बाद में मालूम हो कि इन कामों को वह बुरा मानता है, तो मैं नर्क में चला जाऊँगा।

मैं जीवन-रक्षा को अच्छा मानकर करूँ, बाद में मालूम हो कि वह आबादी घटाने के लिए लोगों को मरवाना चाहता था। ऐसी हालत में मेरा सारा पुण्य पाप हो जायेगा।

तब बुरे डॉक्टर स्वर्ग का सुख भोगेंगे और अच्छे डॉक्टर नर्क में सड़ेंगे।

निर्णय होने तक कि क्या बुरा है और क्या अच्छा, अकर्म ही चलने दो।

गली के मोड़ पर चबूतरे पर जगन्नाथ काका पालथी मारे बैठे रहते हैं।

बैठे हैं, और देख रहे हैं।

मैं पूछता हूँ—काका, क्या कर रहे हैं?

जवाब देते हैं—बैठे हैं।

सुबह पूछता हूँ, तो बैठे हैं। दोपहर को पूछता हूँ, तो बैठे हैं। शाम को पूछता हूँ, तो बैठे हैं।

—और काका, क्या हाल हैं?

—कुछ नहीं, बैठे हैं।

आज मैंने सवाल बदला—

—कहिए काका, बैठे हैं क्या?

वे बोले—भैया और क्या करें?

मैं क्या बताता कि और क्या करें।

मैंने कहा—आप ही सोचिए कि क्या करें।

उन्होंने जवाब दिया—सब सोच लिया। कुछ करो, तो आधे अच्छे काम होते हैं और आधे बुरे। कुछ नहीं करने से कोई बुरा काम नहीं होता। बुरा करने से यही अच्छा है कि बैठे-बैठे अच्छा सोचा करो।

26 तारीख की रात को 11 बजे पण्डित नेहरू ने कहा—मैंने सब फाइलें निपटा दीं। मेरा सब काम पूरा हो गया।

दूसरे दिन पण्डितजी की मृत्यु हो गयी।

इससे देशवासियों को क्या शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए?

—यह कि अपना काम पूरा करना खतरनाक है।

जिसकी सब फाइलें पूरी हो जायें, उसकी मृत्यु हो जाती है।

जिसे जीवित रहना है और देश की सेवा करनी है, वह फाइलें कभी पूरी नहीं करेगा।

जिसकी टेबिल पर फाइलों का जितना बड़ा ढेर होगा, वह उतना ही दीर्घायु होगा और उतना ही बड़ा देशसेवक होगा।

शासन में मन्त्री से लेकर क्लर्क तक वे मेरी श्रद्धा के पात्र हैं, जो कभी काम पूरा नहीं करते।

वे देश के लिए जीवित रहना चाहते हैं।

केन्द्रीय सरकार को सहज हिदायत देनी चाहिए कि जो अपना काम पूरा कर देगा, उसे नौकरी से निकाल दिया जायेगा। वह मरकर अपनी सेवा से वंचित करना चाहता है।

डायरी में निठल्ले के चिन्तन और अनुभव के ऐसे अंश और भी बहुत हैं।

आगे एक जगह लिखा है—

—अब मैं ऊब गया। मैंने दुनिया के बारे में बहुत कुछ अच्छा सोच डाला है। मैंने आसमान से रोटियाँ बरसवा दी हैं और चाँद से दाल उँड़ेली है। मैंने सारे बमों को बोरों में भरकर समुद्र में डलवा दिया है। सारे कारखाने मैं मजदूरों को दे चुका। जगह-जगह मैंने कल्प-वृक्ष के बगीचे लगवा दिये हैं, जिनके नीचे बैठकर लोग इच्छाएँ पूरी कर रहे हैं। सारी सुन्दरियों को मैंने उनके प्रेमी उपलब्ध करा दिये हैं, और कोई विरहिणी नहीं बची है। सारे कवि मुझे गाली दे रहे हैं और जच्चा के गीत लिख रहे हैं।

अब मेरे लिए कुछ सोचने को नहीं बचा।

अब मैं कुछ दिन घूम-घूमकर दूसरों के काम में दखल दूँगा।

कल से यह मेरा दखल-अभियान शुरू होगा। मैं काम नहीं करूँगा, सिर्फ दूसरे के काम में दखल दूँगा।

आगे के पन्नों में निठल्ले के अनुभव लिखे हैं, जो जैसे के तैसे प्रकाशित किये जा रहे हैं।

2. शिवशंकर का केस

सुबह उठा तो कल का संकल्प याद आया।

खुद चाहे कुछ न करूँ, पर दूसरों के काम में दखल जरूर दूँगा।

लोग अपने काम में दखल नहीं देने देते, जब तक आप उनका भला न करने लगें।

दखल देने के लिए भला करना जरूरी है। मैं भला करने के लिए व्याकुल हो उठा।

बाहर निकला तो चबूतरे पर काका पालथी मारे बैठे दिखे। वे एक आँख बन्द करके बड़ी एकाग्रता से मूँछ के सफेद बाल उखाड़ने की कोशिश कर रहे थे।

एक झटका बाल को देकर उन्होंने चुटकी देखी और बोले—हस्साला बच गया!

वे फिर एक आँख बन्द करके चुटकी में बाल को पकड़ रहे थे कि सड़क की तरफ

उनकी नजर गयी और वे दूसरे काम में लग गये—ए लड़के, कुत्ते को पत्थर क्यों मारता है ? वह काट खायेगा न!

—अरे, इधर साइकिल क्यों टिकाते हो? यह चबूतरा है कि साइकिल स्टैण्ड?

मेरी तरफ देखा। बोले, "कहाँ चल दिये?"

मैंने कहा, "काका, मैंने तय किया है कि दूसरों का भला करूँगा।"

काका बोले, "और अपना भला कब करोगे? अरे, जो अपना ही भला नहीं कर सकता वह दूसरे का भला क्या करेगा? वह जानता ही नहीं है कि भला क्या होता है? देखता नहीं है, जितने जनता के सेवक हैं, सबके घर भरे हुए हैं? क्यों? क्यों माल को बटोर रखा है उन्होंने? इसीलिए कि अपने पास धन होगा, तभी यह समझ में आयेगा कि धन का क्या महत्त्व है और तभी निर्धन जनता की हालत सुधारने की स्फूर्ति पैदा होगी।"

मैंने कहा, "मगर मैंने तो सुना है कि अपना सर्वत्र त्यागकर दूसरों का भला किया जाता है।"

काका बोले, "गलत सुना है। तूने सुना होगा, पर मैंने तो देखा है। सेवकजी को जानता है—जिनकी चौक में तिमंजिली इमारत बनी हुई है। आजादी की लड़ाई के जमाने के नेता हैं वे। तब वे गरीब किसानों और मजदूरों के जुलूस निकाला करते थे और नारे लगवाते थे—'इन्किलाब जिन्दाबाद। उजड़े घर होंगे आबाद!' अभी एक दिन किसान-मजदूरों ने उन्हें घेर लिया और कहा—सेवकजी, आप हमसे नारा लगवाते थे 'इन्किलाब जिन्दाबाद, उजड़े घर होंगे आबाद!' तो इन्किलाब हो गया, मगर हमारे घर तो वैसे-के-वैसे ही हैं। वैसे ही गन्दे झोंपड़े और कमरों में हम अभी भी रहते हैं। सेवकजी ने शान्ति से बात सुनी और कहा—अरे, तुम लोगों को बड़ी गलतफहमी हो गयी। वह नारा तो मैंने अपने घर के बारे में लगवाया था। और तुम देख ही रहे हो कि मेरा वह तिमंजिला मकान खड़ा हो गया है। तुम क्या यह समझे कि वह नारा तुम्हारे घरों के बारे में था? तो हातिम साहब, पहले अपना, बाद में दूसरे का। भगवान् ने अपने लिए पहले गरुड़ का इन्तजाम कर लिया, तब मनुष्य की सवारी के लिए घोड़ा बनाया तब कहीं अभी हाल में चालीस साल पहले आदमी को हवाई जहाज बनाने दिया। तुम शायद यह विश्वास करते हो कि कबीर महात्मा थे, त्यागी थे। वे खुद भूखे रह जाते थे, पर दूसरों को खिला देते थे, तुम उन्हें समझे ही नहीं। वे इतने बुद्धू नहीं थे, जितना तुम उन्हें समझते हो। उनका दोहा है—

साईं इतना दीजियो, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधू न भूखा जाय।

ज़रा गौर करो—कितनी चालाकी से भरा दोहा है यह। पहले तो उन्होंने कुटुम्ब का इन्तजाम कर लिया, फिर अपना, 'मैं भी भूखा न रहूँ' और इसके बाद बचे तो 'साधू न भूखा जाय।' अपने और परिवार के बाद उन्हें साधु की याद आयी। और तुम कहते हो वे खुद भूखा रहकर दूसरों को खिलाते थे।

काका ने फिर एक आँख बन्द की और सफेद बाल को चुटकी में पकड़ा। मैंने उनकी व्यस्तता का फायदा उठाया और खिसक लिया।

सोचा, इस मुहल्ले में सबसे असहाय वह मौसी है, जो बूढ़ी है, बीमार है और अकेली है। उसका भला करना चाहिए।

मैं मौसी के घर पहुँचा।

पुकारा, "मौसी!"

मौसी कड़कड़ाई, "कौन है रे?"

मौसी ज्यों-ज्यों बूढ़ी और बीमार होती गयी है, त्यों-त्यों निर्मम और कर्कश होती गयी है। ममता भी शक्ति के साथ चलती है। निर्बल का क्या प्रेम, क्या ममता और क्या सहानुभूति।

मैंने कहा, "चल, तुझे डॉक्टर के पास ले चलता हूँ।"

उसने कहा, "अरे, अब क्या डॉक्टर के पास जाऊँ? अब तो भगवान् के पास ही जाऊँगी, बेटा।"

मैंने कहा, "मौसी, क्या तू जीने से बिल्कुल ऊब गयी?"

मौसी ने कहा, "हाँ रे, अब तो जल्दी मौत आ जाये, तो ठीक रहे।"

मैंने कहा, "तो मौसी, ला, मैं तेरा गला घोंट देता हूँ।"

मौसी भन्ना उठी, "तेरे मुँह में आग क्यों नहीं लगती रे!"

मैंने कहा, "नाराज न हो, मौसी। मैं तो तेरा भला करना चाहता हूँ। घुटवाने में तकलीफ हो तो जहर ला देता हूँ।"

अब मौसी मुझे गाली देने लगी।

मैंने कहा, "मौसी, न तू जीना चाहती है, न मरना। न दवा खाती है, न जहर। आखिर मैं तेरा भला किस तरह करूँ!"

मौसी टर्रायी, "मैं ही मिली हूँ तुझे भला करने को! इतने लोग पड़े हैं, उनका भला क्यों नहीं करता?"

मैंने मौसी को छोड़ा।

गणेश बाबू के पास पहुँचा।

"गणेशबाबू, आप कह रहे थे कि आपकी तरक्की रुकी हुई है। चलिए, सेक्रेटरी से कहकर करवा दूँ।"

"तरक्की तो पिछले महीने हो चुकी। सत्यनारायण-कथा भी हो गयी।"

"तो एक तरक्की और दिला देता हूँ।"

"इतनी जल्दी-जल्दी तरक्की नहीं होती।"

वाजपेयीजी के पास पहुँचा।

''वाजपेयीजी, आपके बच्चों को स्कूल में भरती करा दूँ?''

''आप किस दुनिया में रहते हैं! भरती तो जुलाई में हो चुकी। यह अगस्त का चौथा हफ्ता है।''

कोई ऐंसा नहीं मिला, जिसका भला मैं कर सकूँ। घर लौट आया। अब मुझे समझ में आया कि लोग स्वार्थी क्यों हो जाते हैं। वे दूसरों का भला करना चाहते हैं, पर कोई उनसे भला कराने को तैयार नहीं होता। निराश होकर वे अपना भला करने लगते हैं। लोग उनकी निन्दा करते हैं, पर वे दया के पात्र हैं। वे मजबूरी में स्वार्थी हो गये हैं।

मुहल्ले में शायद खबर फैल गयी थी। दोपहर को एक आदमी आया और बोला, ''सुना है, आप किसी का भला करने के लिए सवेरे से विकल हैं, पर कोई फँस नहीं रहा है। मैं अपना भला कराये लेता हूँ। कितने रुपये देंगे?''

मैंने कहा, ''रुपये तो मेरे पास हैं नहीं। तुम चाहो तो भला कराकर मुझे पाँच जूते मार लेना।''

उससे सौदा नहीं पटा।

आखिर तीसरे पहर शिवशंकर बाबू आये उनका विकास शहर में दीखता है। एक से तीन मकान हो चुके हैं। मिसेज शिवशंकर का भी खूब विकास हुआ है। कपड़े छोटे पड़-पड़ जाते हैं। जायदाद की जाँच होती है तो शिवशंकर कह देते हैं—ससुराल की तरफ से मिली है। न जाने ऐसे ससुर किस कोने में रहते हैं, जो जिन्दगीभर किस्तों में दहेज देते हैं। और वे हमेशा सरकार के कुछ महकमों के अफसरों को ही बेटी क्यों ब्याह देते हैं?

शिवशंकर बाबू ने कहा, ''आप भला करना चाहते हैं न? तो मेरा भला कीजिए। मेरा तबादला एक बहुत खराब जगह हो गया है। मुझे किसी अच्छी जगह भिजवाइए।''

मैं बहुत खुश हुआ और शाम को बड़े साहब के बंगले पर पहुँच गया।

वे लॉन में खड़े थे। दोनों हाथ पतलून की जेब में डाले थे।

मैंने पूछा, ''आप लोग पतलून की जेब में हाथ डाले क्यों रहते हैं?''

साहब ने कहा, ''हाथ इतने गन्दे होते हैं कि उन्हें छिपाये रहते हैं।''

वे डूबते सूरज को इस तरह देख रहे थे जैसे वह उनका चपरासी हो। उन्होंने आसमान को ऐसे देखा जैसे वह उनके सामने क्लर्की का इण्टरव्यू देने आया हो।

मैंने कहा, ''आप खुलकर फूल क्यों नहीं तोड़ते...? खुलकर उसे क्यों नहीं सूँघते ?''

साहब ने जवाब दिया, ''कई सालों का ऐसा अभ्यास पड़ गया है कि अपने ही बगीचे का फूल तोड़ते जी धड़कता है।''

''कैसा लगता है?''

''ऐसा लगता है, जैसे पौधे से घूस ले रहे हैं।'' उनके मुख पर चौकस मुसकान

आ गयी।

''कहिए, क्या काम है?''

''मुझे आपने पहचाना नहीं?''

''नो, आई डोण्ट रिमेम्बर।''

''पिछले साल आपका एक 'स्केण्डल' अखबार में छपने आया था, जिसे मैंने रुकवाया था।''

''कैसा स्केण्डल? मुझे तो कुछ मालूम नहीं।''

पिछले साल मेरी गली के कुत्तों ने आपको देखकर भौंकना बन्द कर दिया था। वे फोटो और चिट्ठियाँ अभी भी मेरे पास रखी हैं।

अब उन्होंने मुझे एकदम पहचान लिया।

फिर चेहरे पर मीठी मुसकान आ गयी।

उपदेश—अगर चाहते हो कि कोई तुम्हें हमेशा याद रखे, तो उसके दिल में प्यार पैदा करने का झंझट न उठाओ। उसका कोई स्केण्डल मुट्ठी में रखो। वह सपने में भी प्रेमिका के बाद तुम्हारा चेहरा देखेगा।

उन्होंने हाथ मिलाया। मेरा नाम बताया। अपने पास कुर्सी पर बैठा लिया।

चेहरे पर फिर मुसकान। चौकस। एक बटे सौवें मिलीमीटर का भी फर्क नहीं। चश्मे की तरह पहनी हुई।

मैंने पूछा, ''यह किस दुकान पर मिलती है?''

1[illegible]608

''क्या?''

''यही मुसकान? चश्मे की दुकान पर मिलती है कि जनरल स्टोर में?''

''यह तो हम लोगों को सरकार की तरफ से सप्लाई होती है। दस-बारह तरह की होती है। पहली मुसकान जो मैंने आपको दी थी, 'माइनस वन' नम्बर की है। वह टालने के काम आती है।''

''दो-चार मुझे मिल सकती हैं?''

''हाँ-हाँ, जितनी चाहिए, स्टोर से निकलवा दूँगा।''

''क्या दाम लगेंगे?''

''कुछ नहीं। मेरे हैडक्लर्क के बच्चे भी तो आखिर दफ्तर के फार्मों पर स्कूल का कच्चा काम करते हैं।''

''फिर भी आपको मुसकानों का हिसाब तो रखना पड़ता होगा?''

''तो क्या हुआ? राइट ऑफ कर दूँगा। लिखा दूँगा—छः मुसकानें सड़ गयीं।''

मुझे शिवशंकर के तबादले की बात करनी थी। एकदम से यह बात छेड़ देना ठीक नहीं। पहले कुछ यहाँ-वहाँ की बातें करके फिर धीरे से शिवशंकर की बात भी कर लूँगा।

मैंने कहा, ''ये जो समाजवादी विकास-योजनाएँ चल रही हैं, सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग चल रहे हैं, इनसे देश की हालत में कितना परिवर्तन हो रहा है?''

साहब बोले, "देश में भारी परिवर्तन हो रहा है साहब। देखिए न, कपूर फाइनेंस में चला गया, केरला का होम में तबादला हो गया, शर्मा एजूकेशन में चला गया, रस्तोगी डिस्ट्रिक्ट में चला गया, वर्मा फिर एक्साइज में लौट आया..."

मैंने कहा, "मेरा मतलब है, देश की हालत में कुछ खास परिवर्तन हुए हों तो..."

साहब बोले, "हाँ-हाँ, खास-खास ही बता रहा हूँ—राय 'लीव' पर चला गया, श्रीवास्तव की इनक्वायरी हो रही है, भगत अभी फॉरेस्ट में गया है, बन्दोवस्तकर को स्पेशल ड्यूटी पर भेज दिया, सेंगर डेवलपमेण्ट में चला गया, पी.के. ट्रांसपोर्ट में गया, रेवेन्यू में कश्यप फिर आ गया, शंकर जी.ए.डी. में चला गया।"

"मैंने और निश्चित सवाल किया, "इस बीच देश की हालत में कुछ सुधार हुआ है?"

साहब बोले, "सुधार! अरे, हालत बिगड़ी है। आपको मालूम नहीं, सक्सेना मुझे सुपरसीड कर गया।"

साहब उदास हो गये।

अपने पपीते के पौधों को देखकर बोले, "यह पपीता बाद में लगाया था, पर यह पहले वाले को सुपरसीड कर गया।"

मैंने कोशिश की कि इनका ध्यान इस दुःखद प्रसंग से हटाऊँ। मैंने कहा, "यह बताइए कि देश की इस साल की सबसे बड़ी घटना कौन-सी है?"

वे बोले, "यही, सक्सेना मुझे सुपरसीड कर गया।"

उन्हें सुख देना मेरे वश के बाहर की बात थी। आखिर मैंने शिवशंकर के तबादले की बात की।

साहब ने कहा, "कहाँ तबादला कर रहे हैं? फलाँ जगह सी.एम. का भानजा है, फलाँ जगह ई. एम. का साला है..."

मैंने पूछा, "कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ किसी का कोई नहीं हो?"

साहब बोले, "हाँ एक जगह है और वहीं तो यह शिवशंकर है।"

मैं घर लौट आया। शिवशंकर का भला भी मेरे हाथों नहीं हो सका।

3. रामभरोसे का इलाज

काका यथास्थान बैठे थे।

मुझे देखा तो पूछा, "क्यों हातिम साहब, करा दिया उस भ्रष्ट शिवशंकर का तबादला ?"

मैंने कहा, "काका, वह हो ही नहीं सका।"

काका बोले "मैं जानता था, तुमसे किसी का भला नहीं हो सकता। अरे, पहले तबादले के सिद्धान्त समझो, तब उसमें हाथ डालो। देखो, साहब जब खुद तबादला करता है, तब वह दण्ड होता है। और जब किसी की प्रार्थना पर करता है, तब वह कृपा होती

है। कृपा करने का कोई नियम शासन में नहीं है, पर सजा देने की छूट है। तुम कोशिश करके शिवशंकर को सजा दिलवाओ, तो तबादला हो जायेगा।''

''सजा क्यों दिलवाऊँगा?''

''सजा उसके भले के लिए दिलवाओ। उससे कहो कि वह आज से लगातार तीन दिन साहब के बँगले के सामने खड़ा होकर उन्हें गालियाँ दे। जब साहब उसे डाँटने आयें, तब अपना नाम और पद बता दे। साहब गुस्से से कहेगा—बदमाश, मैं तेरा ट्रांसफर कर दूँगा। दूसरे दिन शिवशंकर का तबादला हो जायेगा।''

''मगर काका, कहीं साहब...''

''और कुछ नहीं करेगा। कर ही नहीं सकता। ये बड़े-बड़े अफसर बेचारे बहुत कमजोर होते हैं। ये तबादले से ज्यादा कुछ कर ही नहीं सकते। अगर ये कहें कि मैं तुम्हें मार डालूँगा, तो समझो कि ये तबादला करेंगे।''

''पर काका, शिवशंकर गाली देने की हिम्मत नहीं कर सकता।''

''सो मैं जानता हूँ। वह पैसा खाता है न! गाली वही दे सकता है, जो रोटी खाता है। पैसा खानेवाला सबसे डरता है। जो सरकारी कर्मचारी जितना नम्र होता है, वह उतने ही पैसे खाता है। शिवशंकर को कुत्ता काट खाये, तो उसे भी गाली नहीं देगा। कहेगा—श्वानश्रेष्ठ! काट लिया तो कोई बात नहीं, पर मेरी रिपोर्ट मत कर देना। अच्छा, तबादले का दूसरा सिद्धान्त है, जो जहाँ ठीक काम कर रहा है, उसे वहाँ से हटाना। अंग्रेजों के जमाने से जनता और सरकार में दुश्मनी का सम्बन्ध चला आ रहा है न! ज्योंही ऊपर के अधिकारियों को मालूम होता है कि कर्मचारी अच्छा काम कर रहा है और उससे जनता को फायदा है, त्योंही उसका तबादला करा दिया जायेगा। तुम शिवशंकर की तारीफ किसी अखबार में छपा दो। उसका ट्रांसफर हो जायेगा।''

काका ने एक आँख बन्द करके मूँछ का एक सफेद बाल पकड़ा और झटका दिया। आँखों में आँसू आ गये, पर बाल न उखड़ा।

गमछे से आँसू पोंछते हुए बोले, ''बुढ़ापे का एक-एक बाल रुलाता है।''

मैंने कहा, ''इसे तो अच्छा है उस्तरा,फिरवा लें।''

वे बोले, ''नहीं, मूँछों से चेहरा रोबदार होता है। रोब से आदमी बड़ा होता है। अगर रवीन्द्रनाथ वैसा सुंदर रेशमी चोगा न पहनते, तो क्या इतने बड़े कवि माने जाते? शरत्चन्द्र ने मामूली धोती-कुरता पहना, तो नतीजा भी भुगता। बंगाल के बाहर अपनी जिन्दगी में तो जा नहीं पाये। खैर, छोड़ो इस रूपक-रहस्य को। तुम्हें काम बताता हूँ। वह जो रामभरोसे खोमचेवाला है न, वह सख्त बीमार है। रात से बेहोश है। दो तीन आदमी उसे लेकर डॉक्टर के पास गये हैं। मगर उन लोगों का भरोसा नहीं। उन पर उसकी उधारी है। वे तभी तक उसके साथ हैं, जब तक वह बेहोश है। उसे होश आते ही वे छोड़ भागेंगे। तुम पर अगर उसकी उधारी नहीं हो, तो तुम उसके इलाज का प्रबंध करा दो।''

मैं अन्दाज से अस्पताल पहुँच गया। बरामदे में दो-तीन पड़ोसी भरोसे को फर्श पर लिटाकर बैठे थे। मैंने उसे हिलाया। वह बोला नहीं। फिर पुकारा—भरोसे, जरा होश में तो आओ। देखो, कौन आये हैं! सब उधारीवाले तुम्हारे आसपास इकट्ठे हैं।

फिर भी उसने आँखें नहीं खोलीं।

सामने से मुझे हरिराम मास्टर आते दीखे। मगर हरिराम तो चार-पाँच साल पहले मर चुके थे।

मास्टर मेरे पास आ गये। बोले, "पहचाना?"

"हाँ-आँ, कुछ-कुछ···मगर···"

"हाँ, मैं वही हूँ! हरिराम मास्टर! इधर फाटक पर बिना इलाज के मर गया था। अब प्रेत बनकर इलाज कराने आया हूँ।"

"मगर ये लोग प्रेत का इलाज करते भी हैं?"

"करते हैं। इनके हिसाब में देखो—कई नाम लिखे रहते हैं, जिनके लिए दवा स्टोर से निकल जाती है। वे वास्तविक आदमी नहीं होते, प्रेत होते हैं। मेरे मरने के बाद इन लोगों ने मेरा नाम रजिस्टर पर चढ़ा लिया और खर्च बताने लगे। अब मैं खुद आ गया।"

मास्टर ने कहा, "इस भरोसे के मरने में कितनी देर है?"

"क्या पता? इसे तो अच्छा कराने लाये हैं।"

"तो दौड़-धूप करो। डॉक्टरों के पीछे पड़ो। ऐसे तो यह सृष्टि के अन्त तक पड़ा रहेगा। देखो, फाटक के बाहर वे मरीज हफ्ते से पड़े हैं, अभी तक उनकी जाँच नहीं हुई।"

मैं सामने सुपरिण्टेण्डेण्ट के कमरे में घुस गया। बिना पूछे घुस जाने से वह समझा कि यह ऐसा आदमी है, जिसे यह हक है। वह नम्र हो गया। बोला, "कहिए, क्या आज्ञा है?"

मैंने कहा, "एक तो शिकायत है। फाटक पर कई दिनों से मरीज पड़े हैं, मगर उनकी जाँच नहीं हो रही है।"

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने चश्मा निकालकर रख दिया और मुझे नंगी आँखों से देखा। वे अन्दाज लगा रहे थे कि मैं कमरे से बाहर फेंक देने के काबिल हूँ या जवाब के काबिल। मैं जवाब के काबिल निकला। वे मुझे समझाने लगे, "देखिए, आपका ख्याल गलत है। उनकी जाँच तो हो रही है। इसे हम 'प्राथमिक जाँच' यानी प्राइमरी इनवेस्टिगेशन कहते हैं। यह जरा टेकनिकल चीज है। बाहर मरीजों को पड़े रहने देकर हम उनके रोग की जाँच करते हैं और उन मरीजों को छाँटते हैं जो इलाज के लायक हैं। इनमें जो ज्यादा बीमार हैं, वे तो मर ही जायेंगे। उनकी चिकित्सा में जनता का पैसा क्यों बरबाद किया जाये? जो कम बीमार हैं, वे ऊबकर घर लौट जायेंगे। जिन्हें इस अस्पताल में घुसने की गुप्त सुरंगें मालूम हैं, वे उनसे भीतर घुस आयेंगे। अब जो बचेंगे, वे सच्चे मरीज होंगे। उनका इलाज होगा।"

मैंने कहा, "यह वैज्ञानिक पद्धति मुझे मालूम नहीं थी। आम लोगों को नहीं मालूम।

लोग अज्ञानवश शिकायत करते हैं। मगर एक बात तो बताइए—अस्पताल में घुसने के लिए सुरंगें भी हैं?"

"हाँ-हाँ, कई सुरंगें हैं। पर वे गुप्त हैं। उनमें फाटक लगे हैं, जिनमें ताले जड़े हैं।"

"तो उनमें कैसे घुसा जाता है?"

"यह रहस्य है। यहाँ बताने का हुक्म डॉक्टरों को नहीं है। घर पर बताया जाता है।"

मैंने कहा, "एक मरीज मैं भी लाया हूँ। उसकी हालत खराब है। उसे यहीं बरामदे में मरने दूँ या घर में?"

"जहाँ आपकी इच्छा हो। दोनों जगह सुभीते हैं।"

मैंने उसे भर्ती करने पर जोर दिया, तो डॉक्टर ने मुझे एक फार्म दिया। कहा, "इसे भर दीजिए।"

फार्म में कई बातें पूछी गयी थीं। कुछ प्रश्न ये थे—

1. मरीज क्यों अच्छा होना चाहता है?
2. उसे इलाज कराने का क्या हक है?
3. मरीज से या उसके सहायकों से कौन-कौन डॉक्टर डरते हैं और क्यों डरते हैं ?
4. मरीज की चिकित्सा ठीक करने से डॉक्टरों का क्या फायदा होगा? न करने से क्या नुकसान होगा?
5. ऐसे पाँच बड़े आदमियों के नाम लिखो, जो चाहते हैं कि मरीज स्वस्थ हो जाये।
6. मरीज का पॉलिटिक्स क्या है?

और प्रश्नों के जवाब तो जैसे-तैसे मैंने लिख दिये, पर आखिरी सवाल पर अटक गया। भरोसे का क्या पॉलिटिक्स लिखूँ?

मैंने डॉक्टर से कहा, "यह आदमी खोमचा लगाता है। उसका क्या पॉलिटिक्स?"

डॉक्टर ने कहा, "होता है। कीड़े और चींटे तक का पॉलिटिक्स होता है।"

"पर वह तो बेहोश है। उससे तो पूछा नहीं जा सकता।"

"तो अपना पॉलिटिक्स लिख दीजिए। अस्पताल में 'एम' और 'डी' दल हैं। आप किस दल के हैं?"

"इन दलों के राजनीतिक सिद्धान्त क्या है?"

"एक-दूसरे को उखाड़ना।"

"ये दल किस महापुरुष ने बनाये थे?"

"सरकार ने ही बनवाये हैं। मन्त्रिमण्डल ने अपनी एक विशेष बैठक में तय किया था कि जैसे हमारे बीच दो गुट हैं, वैसे ही शासन के सब विभागों में हो जाना चाहिए। हर सरकारी कर्मचारी से फार्म भरवाया है कि वह किस गुट का है।"

मैंने पूछा, "आप किस गुट में हैं?"

डॉक्टर ने जवाब दिया, "मैं तो 'एम' गुट में हूँ। तभी तो 'डी' गुट ने पिछले महीने मेरा तबादला करा दिया था। मैं दो-तीन स्टेशन ही पहुँचा था कि 'एम' गुट ने मेरा तबादला

कैंसिल करा दिया। मुझे रेलगाड़ी में ऑर्डर मिला और मैं दूसरी गाड़ी से लौट आया। यहाँ स्टेशन पर उतरा, तब तक 'डी' वालों ने फिर तबादला करा दिया था। मैं फिर गाड़ी पर चढ़ गया। तीसरे स्टेशन पहुँचते ही फिर कैंसिल होने का ऑर्डर मिल गया और मैं लौट पड़ा। इस तरह लगभग एक हफ्ते तक मैं यहाँ से तीसरे स्टेशन तक जाता और लौटता रहा। तब तक 'एम' गुट जोरदार हो गया था और मैं यहीं रह गया।

मैंने कहा, ''डॉक्टर साहब, मैं तो न 'एम' का हूँ और न 'डी' का। पर रामभरोसे को एम गुट में होना चाहिए। वही लिख देता हूँ।''

फार्म भरकर मैं दूसरे कमरे में गया। वहाँ एक डॉक्टर ने फार्म देखा और कहा, ''अच्छा, 'एम' वाला है। इसका डॉक्टर तय करिए। पैसा उछालिए। चित 'एम', पट 'डी'।''

मैंने पैसा उछाला। 'डी' निकला।

डॉक्टर ने कहा, ''मरीज 'एम' गुट का है। डॉक्टर 'डी' गुट का है। बोलिए, इलाज कराना है या नहीं?''

मैं डॉक्टर का इशारा समझ गया। पर कोई दूसरा रास्ता नहीं था। मैंने उसे एक वार्ड में भरती करा दिया।

मैंने देखा, वार्ड के आसपास मरीजों के रिश्तेदार डण्डे लेकर पहरा दे रहे हैं।

एक डण्डाधारी से पूछा, ''डण्डा लिये क्यों खड़े हो?''

''हमारा साला यहाँ इलाज करवा रहा है। उसकी रखवाली कर रहे हैं।''

''उसे किससे डर है?''

''डाक्टरों से। यह वार्ड 'डी' वालों का है। अगर इधर कोई 'एम' वाला डॉक्टर आ गया और उसकी छाया भी किसी मरीज पर पड़ गयी, तो 'एम' वाले डॉक्टर उसे मर जाने देंगे। इसीलिए जब कोई 'एम' वाला डॉक्टर इधर आता दीखता है, हम लट्ठ घुमाने लगते हैं और वह भाग जाता है।''

मैंने उससे कहा, ''भाई, सात नम्बर में एक गरीब आदमी पड़ा है। उसकी तरफ से लट्ठ उठाने वाला कोई नहीं है। तुम उसे भी डॉक्टरों से बचाना।''

लट्ठधारी बोला, ''आप बेफिक्र रहिए। उसका कोई डॉक्टर बाल बाँका नहीं कर सकता।''

तीन-चार दिन बीत गये। भरोसे की हालत बिगड़ती ही गयी। वह कराहता तो उसे डाँट पड़ जाती—ए बुड्ढे, क्यों हल्ला करता है? वह चुप हो जाता। इसे डॉक्टर 'सुधार' कहते थे।

पाँचवें दिन मैंने डॉक्टर से कहा, ''इसकी हालत अब कैसी है?''

''सुधार हुआ है।''

''मुझे तो और बिगड़ी नजर आती है।''

''बिगड़ना भी तो सुधार है। जैसी हालत में आया था, वैसी तो नहीं है। यही

सुधार है।''

''पर यह सुधार तो मौत की तरफ जा रहा है।''

डॉक्टर दार्शनिक हो गया। बोला, ''मौत तो जीवधारी का सबसे बड़ा सत्य है। देह नाशवान है। आत्मा अमर है। आत्मा को टाइफायड नहीं होता। अगर यह शुद्ध आत्मा हो जायेगा, तो कभी इसे रोग नहीं होगा।''

मैंने कहा, ''सुना है, यहाँ डॉक्टर सिन्हा इस रोग के विशेषज्ञ हैं। उन्हें मरीज को दिखा दीजिए न!''

डॉक्टर ने कहा, ''नहीं, नहीं, यह तो नीति-विरुद्ध होगा। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा—स्वधर्म मरणं श्रेय परधर्म भयावह! अपने डॉक्टर के हाथ से मरना अच्छा, पर दूसरे डॉक्टर के हाथ से बचना भी अच्छा नहीं। नहीं भई, मुझसे धर्म विरुद्ध काम नहीं होगा।''

मैंने कहा, ''पर यहाँ भी तो उसका इलाज ठीक ढंग से नहीं हो रहा है। कोई उस पर ध्यान नहीं देता।''

डॉक्टर ने समझाया, ''खोमचेवाले का इलाज तो खोमचेवाले सरीखा ही होगा, कोई मिनिस्टर या रईस तो है नहीं।''

डॉक्टर के तर्क अकाट्य थे। भरोसे ने बीमार पड़कर गलती की—यह तो सही है। उसके पास बताने के लिए सिर्फ गरीबी थी। इस गरीबी से आखिर कितना इलाज होता? एक डॉक्टर के बारे में सुना था कि वह बड़ा ईश्वर भक्त है। सुबह-शाम पूजा करता है। वह शायद रामभरोसे पर ध्यान दे, यह सोचकर मैं उसके बँगले पर पहुँचा।

वह पूजा कर रहा था। सोचा, पूजा के ठीक बाद, जब उसका मन पवित्र होगा, मैं रामभरोसे के लिए दया माँगूँगा।

पूजा का कमरा पास ही था और मैं उसकी स्तुति सुन रहा था—दीनबन्धु कृपालु भगवन हरण भव भय दारुणं!

फिर मेरे कानों में ये शब्द पड़े—हे भगवान् करुणानिधान, तू सब भक्तों पर कृपा करता है। मुझ क्षुद्र भक्त की भी एक प्रार्थना सुन लो। हे दीनबन्धु, तू वार्ड तीन के सातवें नम्बर के मरीज को इस दुनिया से उठा ले।

मैंने सुना तो सन्न रह गया। यही तो रामभरोसे के 'बेड' का नम्बर था।

डॉक्टर बाहर आया तो मैंने कहा, ''आप उस मरीज को क्यों मारना चाहते हैं ?''

डॉक्टर ने जवाब दिया, ''मैं 'एम' गुट का हूँ और वह 'डी' गुटवाले डॉक्टरों के चार्ज में है। अगर वह मर गया तो 'डी' वाले बदनाम होंगे और मैं उनकी 'इन्क्वायरी' कराऊँगा।''

मैंने बँगले के बाहर आकर सोचा, ''अस्पताल जाऊँ या नहीं जाऊँ? रामभरोसे को वहाँ से बाहर निकाल लूँ या पड़ा रहने दूँ?''

मैंने तय किया कि मुझे घर लौट जाना चाहिए। रामभरोसे को उसके भगवान् के सुपुर्द कर देना चाहिए। आदमी उसके लिए कुछ नहीं कर सकता।

4. युग की पीड़ा का सामना

मैंने एक अखबार में शिवशंकर की तारीफ छपवा दी थी। सुबह अखबार निकला था। लगभग दस बजे मैं शिवशंकर के घर की तरफ चल पड़ा।

जगन्नाथ काका अपनी जगह पर बैठे थे। पूछा, "कहाँ जा रहे हो?"

मैंने कहा, "शिवशंकर से मिलने।"

वह बोले, "वह इस दुनिया में अब नहीं मिलेगा। उससे मिलने दूसरी दुनिया में जाने की तुम्हारी तैयारी मुझे नहीं दीखती।"

मैंने कहा, "तो क्या शिवशंकर…"

"हाँ, वह अभी घण्टे-भर पहले मर गया।"

"कैसे? कैसे मर गया?"

"तुमने जो उसकी तारीफ आज के अख़बार में छपायी है, उसने उसके प्राण ले लिये। मैं अगर सरकार में कहीं कुछ होता, तो तुम्हें हत्या के जुर्म में अभी गिरफ्तार कर लेता।"

मैंने कहा, "काका, मुझे आपकी बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। आखिर तारीफ से आदमी कैसे मर जायेगा?"

काका ने बताया, "देखो, हुआ ऐसा कि उसके पड़ोसी ने सुबह अखबार में उसकी तारीफ़ पढ़ी। वह शिवशंकर के पास गया और बोला—शिवशंकर बाबू, आज अख़बार में आपके बारे में छपा है। यह सुनते ही शिवशंकर घबराकर चिल्लाया—'अरे बाप रे! छप गया !' और वहीं गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद उसके प्राण निकल गये!"

मैंने कहा, "पर छपी तो उसकी तारीफ़ थी!"

काका ने कहा, "उसे क्या मालूम? तुमने उसे पहले बताया तो होगा नहीं। वह समझा कि जिस बात के छपने से वह डर रहा था, वह छप गयी। देखो, जमाना इतना खराब आ गया है कि बिना पहले सूचित किये, किसी की तारीफ़ भी नहीं करनी चाहिए। किसी पर दया करनी है तो बताकर करो। उपकार कर रहे हो, तो पहले बता दो कि मैं तुम्हारा उपकार कर रहा हूँ।"

मुझे दुःख हुआ—उसके बीवी-बच्चों का अब क्या होगा?

मैंने अपनी चिन्ता प्रकट की तो काका हँसे। कहने लगे, "तुम बड़े भोले हो। बीवी-बच्चों के तो शुभ दिन अब आये हैं। वह शिवशंकर घूस और सरकारी पैसा खाकर काफी बड़ी जायदाद और नक़द छोड़ गया है। बीवी-बच्चे अब बेखटके उसका उपयोग कर सकते हैं। अगर वह जिन्दा रहता, तो हमेशा डर बना रहता कि न जाने कब पकड़ा जाये और सम्पत्ति ज़ब्त हो जाये। मरे आदमी की कोई जाँच नहीं करता। भ्रष्टाचारी अगर जल्दी मर-जाये, तो परिवार को बड़ी सुविधा होती है।"

तीसरे पहर शिवशंकर की अन्त्येष्टि से लौटा। मन खिन्न था। एक पत्रिका पलटी, तो उसमें सत्येन्द्र की एक कविता मिला। उसे पढ़ा तो मन और बैठ गया। सत्येन्द्र हमारा

बड़ा प्रतिष्ठित कवि है। उसकी कविताओं और कहानियों में बड़ी पीड़ा है। हर कविता और कहानी में वह कहता है कि जिन्दगी की कमर टूट गयी है, दर्द ने हमें दबा रखा है, जीवन अर्थहीन बोझ है और हम मरना चाहते हैं। मुझे उसके बारे में चिन्ता होने लगी है। कहीं वह कुछ कर न बैठे! सोचा, कॉफी-हाउस में वह मिल जायेगा। उससे उसकी तकलीफ़ पूछूँ और उसे बचाने की कोशिश करूँ।

चौराहे पर आया, तो सामने से त्रिवेदी आते दिखे। मुझे डर लगा कि ये दो-तीन घण्टे मुझे रोक लेंगे। मगर उनके साफ कपड़े देखकर मेरा भय जाता रहा। त्रिवेदी जब साफ़ कपड़े पहने होते हैं तब किसी सेक्रेटरी या मन्त्री से मिलने जाते होते हैं। तब वह औपचारिक दुआ-सलाम करके छोड़ देते हैं। मगर गंदे कपड़ों में त्रिवेदी फुरसत में होते हैं, और दो-तीन घण्टे रोककर बातें करते हैं। कभी मैंने सोचा था कि इनके कपड़े मैं धो दिया करूँ, जिससे यह हमेशा बड़ों से मिलने जाया करें और हमारा वक्त न लें। पर डर यह है कि जब मैं कपड़े धोने इनके घर जाऊँगा, तब तो यह गन्दे कपड़ों में होंगे और पकड़कर बिठा लेंगे।

त्रिवेदी साहित्य के 'लिफ्ट' में चढ़कर, बटन दबाकर सरकारी नौकरी की ऊँची मंजिल पर पहुँच गये हैं। साहित्य उनसे छूट गया है, क्योंकि साहित्य का काम अच्छी दूकान या अच्छी नौकरी लगने तक ही होता है। पर पिछले दस सालों से मैं उनकी ग्लानि का साक्षी हूँ। उन्हें बराबर लगता रहा है कि उनकी जिन्दगी बरबाद हो रही है। वह जब मुझे मिलते हैं, जिन्दगी बरबाद होने का रोना रोते हैं। आज समय कम था, इसलिए संक्षेप में अपना दुखड़ा रोने लगे, ''यार, हमारी तो 'लाइफ़' ही बरबाद हो गयी। सरकारी नौकरी ने सारी प्रतिभा खा ली। साहित्य-सेवा की क्या-क्या उमंगें मन में थीं, पर धरी रह गयीं। जब हमने 'तरंग के प्रति' कविता लिखी थी, तब रचनात्मक शक्ति चरम बिन्दु पर थी। पर फिर इस कोल्हू में जुत गये। हिन्दी ने हमसे क्या-क्या उम्मीदें की थीं। ऐसी आत्मग्लानि होती है कि मर जाने को जी चाहता है। मगर अब तय कर लिया है बस, सिर्फ एक साल नौकरी और करूँगा, फिर सब छोड़कर साहित्य-साधना करूँगा—चाहे भूखा रह लूँ। बस, मुझे एक साल और दो।''

मैंने उसे एक साल और दिया। दस सालों से एक-एक साल दे रहा हूँ। हर साल वह नौकरी छोड़ने की घोषणा करते हैं।

मैंने कहा, ''त्रिवेदीजी, साहित्य-रचना चाहे आप न करते हों, पर लोग आपको भूले नहीं हैं। आपके मातहत कर्मचारी आपकी प्रतिभा पर लेख लिखते ही रहते हैं। और अभी आपके महकमे के 'क्लास फोर' कर्मचारियों ने जो साहित्य-समिति बनायी है, उसका उद्घाटन भी आपसे ही कराया था।''

त्रिवेदी खुश हुए। बोले, ''अरे भाई, हिन्दी माता बड़ी उदार है। अपने नालायक बेटे को भी नहीं भूलती।''

उन्होंने कॉलर ठीक किया।

मैंने पूछा, ''इस वक्त कहाँ जा रहे हैं?''

जवाब दिया, "सेक्रेटरी से मिलने जा रहा हूँ। तीन महीने से 'प्रमोशन' रुका पड़ा है।"

मैंने कहा, "अभी तो आप कह रहे थे कि नौकरी में जिन्दगी बरबाद हो रही है, और अब तरक्की की कोशिश करने जा रहे हैं।"

वह बोले, "अरे यार, जब जिन्दगी बरबाद ही होनी है, तो उसे प्रमोशन पर बरबाद क्यों न किया जाय।"

वह प्रमोशन पर ज़िन्दगी बरबाद करने चल दिये और मैं सत्येन्द्र की खोज में कॉफी हाउस पहुँचा।

कॉफी हाउस में घुसते ही सामने की टेबिल पर जो देखा, उससे थोड़ी देर तो मैं चकरा गया। हमारे वयोवृद्ध आदरणीय लेखक आचार्य हेमन्तजी बैठे थे। वह कॉफी हाउस में कभी नहीं आये थे। वह इसे अभारतीय मानते रहे हैं। ठण्डाई की दूकान में जाते थे। यह भारतीय है। उनके कॉफी हाउस में होने से ज्यादा अचरज में डालनेवाली उनकी सज्जा थी। वह अपने पोते का निकर पहने थे, ऊपर रंग-बिरंगी तसवीरोंवाली कमीज। हाथ में उनके एक झुनझुना था और वह एक चॉकलेट चूस रहे थे। मेरे होश लौटे तो मैंने कहा, "अरे आचार्यजी, आप यहाँ और ऐसे!"

मैं उनके चरण छूने आगे झुका। चरण-स्पर्श करवाना उनका खास शौक था। ठण्ड में वह पूरा शरीर कम्बल से ढँक लेते थे, पर पैर बाहर रखे बैठे रहते थे, जिससे भक्तों को सुभीता हो।

उन्होंने मुझे रोका, "अरे-अरे, यह क्या करते हो? मैं प्रौढ़ नहीं हूँ। बच्चा हूँ। मुझे आशीर्वाद दो। मैं तो उदीयमान हूँ।"

उन्होंने झुनझुना बजाया और कहा, "हमें चॉकलेट खिलाओ।"

मुझे लगा कि आचार्यजी पागल हो गये हैं। मैंने कहा, "मगर यह क्या हो गया है आपको? किसी नये लेखक ने कुछ खिला तो नहीं दिया?"

वह बोले, "नहीं, मैं अपनी मर्जी से ही बालक हो गया हूँ। देखता हूँ कि इस जमाने में नये का बोलबाला है। तो मैं भी नया बन गया। तुमसे भी छोटा बन गया। मैं झुनझुना बजाता हूँ और चॉकलेट खाता हूँ—यानी नये से भी नया हूँ। और 'मॉडर्न' भी हो गया हूँ—यह शर्ट देखो, नंगी औरतों की तसवीरें छपी हैं और लिखा है—'लव मी, लव मी, लव मी।' "

मैं उन्हें हैरत से देखने लगा। वह बच्चे की तरह बोले, "अंकल, हमें चॉकलेट खिलाओ न!"

मैंने कहा, "आचार्यजी, यह तो ठीक है, पर लिखने के बारे में क्या कर रहे हैं?"

उन्होंने कहा, "लिख भी नया रहा हूँ। जो लिख चुका हूँ, उसे फिर से लिख रहा हूँ, मगर हिज्जे और वाक्य-विन्यास की गलतियाँ करता जाता हूँ। वह नया हो जाता है।"

थोड़ी देर उनके पास बैठकर मैं कोने की टेबिल पर बैठे सत्येन्द्र के पास पहुँचा।

मैंने कहा, "वह जो एक वयोवृद्ध कवि हेमन्तजी बैठे हैं, उन्हें जानते हो न?"

सत्येन्द्र ने कहा, ''कौन कवि? कवि तो पहले कोई नहीं हुआ। कविता तो मुझसे आरम्भ होती है।''

मैंने कहा, ''पहले कोई कवि नहीं हुआ? तुलसीदास? सूरदास? कालिदास? ये भी नहीं?''

सत्येन्द्र बोला, ''ये कवि कहाँ थे। जब मुझसे पहले कविता लिखी ही नहीं गयी, तो कवि कैसे हो जायेंगे?''

उसने कॉफी का आखिरी घूँट लिया और प्याला सरका दिया। मुझसे कहा, ''क्या आप मुझे कॉफी पिलाने आये हैं?''

मैंने कहा, ''आया तो किसी और कारण से था, पर कॉफी तुम्हें पिला दूँगा।''

मैंने कॉफी का आर्डर दिया।

मैंने कहा, ''आपकी रचनाएँ मैं पढ़ता रहता हूँ। उनमें बड़ी पीड़ा है। लगता है आपके मन में दर्द जमकर बैठ गया है। क्या तकलीफ है आपको?''

उसमें चैतन्य आ गया। सिगरेट फेंककर बोला, ''वह युग की पीड़ा है। अपने जमाने का सारा दर्द हम पी रहे हैं। वही जहर बनकर हमारी रचना में आता है।''

मैंने पूछा, ''युग की पीड़ा की शिकायत आपको कब से है?''

उसने कहा, ''यों पन्द्रह-सोलह साल की उम्र से है। मेरे पेट में तब बड़ा दर्द रहता था। यह तीन-चार साल चला। फिर इलाज से अच्छा हो गया।''

मैंने कहा, ''यानी उस वक्त युग तुम्हारे पेट में था?''

वह बोला, ''हाँ, मगर उसके बाद युग की पीड़ा मेरे भीतर फैलने लगी। आत्मा में आ गयी। अँगुलियों के पोरों तक पहुँच गयी। फिर बैंक एकाउण्ट में फैली, फिर फर्नीचर में, कपड़ों में और बेडरूम में। अब जीवन अर्थहीन है। संसार ही अर्थहीन हो गया है। किसी चीज में कोई अर्थ नहीं रह गया।''

मैंने कहा, ''तो क्या मर जाने की तबीयत होती है?''

वह बोला, ''हाँ, लेकिन मृत्यु भी तो अर्थहीन है। इसलिए उसे भी नहीं स्वीकारा जाता। हम कुछ स्वीकार नहीं कर सकते।''

इसी समय दो खूबसूरत बच्चों को लेकर एक दम्पति भीतर आया और एक टेबिल पर जाकर बैठ गया। माता-पिता बच्चों को प्यार करने लगे।

सत्येन्द्र उन्हें देखता रहा और उसके चेहरे पर घृणा आ गयी। कहने लगा, ''देखो, कितने उल्लू हैं! अपने बच्चों को प्यार करते हैं, बेवकूफ!''

वह उन्हें देखता रहा। बड़े दर्द से बोला, ''मैं निपट अकेला हूँ।''

मैंने पूछा, ''अकेले क्यों हो?''

उसने कहा, ''क्योंकि मैं किसी से मिलता-जुलता नहीं हूँ। सबको मेरे पास आना चाहिए। वे नहीं आते हैं, तो अकेला हूँ।''

कॉफी आ गयी। हम कॉफी पीते हुए बातें करने लगे।

मैंने कहा, ''भाई सत्येन्द्रजी, मुझे अभी आपकी पीड़ा का रहस्य समझ में नहीं आया।''

उसने खीझकर मेरी तरफ देखा। बोला, ''तुम्हें क्या पीड़ा नहीं दीखती? क्या इस युग के संकट से तुम अनभिज्ञ हो?''

मैंने कहा, ''मुझे कुछ पीड़ा और संकट तो दीखते हैं। सत्रह साल बाद भी देश भूखा और नंगा है। छोटे-छोटे बच्चे होटलों में काम करते हैं। नाबालिग लड़कियाँ पेट भरने को चकलों में बैठ जाती हैं। दहेज के कारण लड़कियाँ बिन ब्याही सूख जाती हैं, हर तरफ लूट-खसोट है। साधारण आदमी का कई तरफ से खून चूसा जा रहा है और कोई बचाव का रास्ता नजर नहीं आता। उधर युद्ध का संकट है। यह सब तो मेरी समझ में भी आता है। यही क्या युग की पीड़ा है? यही तुम्हारे दर्द और संकट की अनुभूति का उत्स है?''

सत्येन्द्र ने मेरी तरफ ऐसे देखा जैसे मैं कोई बच्चा हूँ। बोला, ''आप बहुत नासमझ हैं। युग की पीड़ा अपने भीतर से उपजती है। जमाने का मेरे प्रति जो कर्तव्य है वह जब नहीं करता, तब घोर पीड़ा होती है। देखो, सुबह से मुझे तीन कप कॉफी अपने पैसे से पीनी पड़ी है। मुझे पीड़ा नहीं होगी? मुझे कुल 800 रु. तनख्वाह मिलती है और उस नरेन को 1000 रु., प्रथमेश के अभी-अभी 1200 रु. हुए हैं! मुझे रात-भर इस पीड़ा से नींद नहीं आती है। सुरेश के पास कार हो गयी, मालूम है आपको? और मैं टैक्सी लेता हूँ! मैं इतना बड़ा लेखक हूँ। यहाँ तीन गर्ल्स कॉलेज हैं। उनकी सारी लड़कियों को मेरे इर्द-गिर्द होना चाहिए कि नहीं? मगर कोई नहीं आती। इस असंस्कृत समाज में दम घुटता है मेरा और आप पूछते हैं, यह पीड़ा कहाँ से आती है? हम इस सारे जहर को पीते जाते हैं। दुनिया अर्थहीन हो गयी है। और लोग हैं कि खाते-पीते हैं, शादी-ब्याह रचाते हैं, बच्चे पैदा करते हैं और बच्चों को प्यार करते हैं! सब-के-सब गँवार, जड़ और संवेदनहीन हैं।''

सत्येन्द्र बहुत क्रोध में आ गया था। उसने एक घूँट में सारी कॉफी निगल ली और कप जोर से पटक दिया। उसके 'मूड' को देखकर ऐसा लगता था, जैसे वह अभी जाकर रेलगाड़ी के सामने गिर जायेगा।

मैंने उसे शान्त करने की कोशिश की। कहा, ''बन्धु, ज्यादा मत घुटो। कहीं पेट का दर्द फिर न उभर आये। मुझे बताओ, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ।''

वह बोला, ''आप मेरे लिए कुछ नहीं कर सकते। आप जाइए। मुझे अकेला छोड़ दीजिए। मैं आपसे घृणा करता हूँ।''

मैं उठ दिया। आचार्य हेमन्त के पास से निकला, तो उन्होंने पूछा, ''क्यों साहब, हमारे उन अंकल को क्या हो गया?''

मैंने कहा, ''वह युग की पीड़ा से त्रस्त है।''

हेमन्त जी ने कहा, ''हमारे जमाने में यह बीमारी नहीं थी। बड़ा प्राण-लेवा रोग है। दूसरे महायुद्ध के बाद दुनिया में फैला है।''

हेमन्तजी फुग्गा फुलाने लगे और मैं कॉफी-हाउस से बाहर आ गया।

5. राष्ट्र का नया बोध

एक रात मैंने विचित्र सपना देखा।

शहर के मैदान में केन्द्र और राज्य के मन्त्री फौजी पोशाक पहने हाथों में तलवार लिये खड़े हैं। वर्दी शुद्ध खादी की है। उनके सामने मुनाफाखोर, काला बाजारी और अनाज दबाने वाले लाये जा रहे हैं और वे तलवार से उनका सिर काटते जाते हैं। बीच-बीच में लाउडस्पीकर पर घोषणा हो रही है—'जाओ, जनता को भूखा मारने वालो, जनता के और दुश्मनों को हमारे सामने लाओ। हम उनका सिर काट लेंगे। जल्दी करो, हमें फिर दूसरे शहर जाना है।'

जनता जय बोल रही है। स्त्रियाँ आरती लिए खड़ी हैं कि ये सिर काटने से निपट जायें, तो इनकी आरती उतारें।

मन्त्रियों के चेहरे पर न घृणा थी, न क्रोध था। आँखों से प्रेम टपक रहा था। पचासों सालों की अहिंसा और प्रेम की ट्रेनिंग से यह अनुशासन आया था।

सुबह मैंने काका से इसका जिक्र किया। उन्होंने थोड़ी देर सोचा। फिर कहा, "सपने का कारण तो साफ है। तुम रोज अखबारों में मन्त्रियों के धमकी-भरे वक्तव्य पढ़ते हो, इसीलिए ऐसा सपना आया। मगर लक्षण अच्छे नहीं हैं।"

मैंने कहा, "क्यों काका, इसमें क्या बुरा है। सपना यही तो संकेत करता है कि सरकार जनता के दुश्मनों का नाश करने के लिए कटिबद्ध है।"

काका जोर से हँसे। बोले, "वाह, कटिबद्ध! बढ़िया शब्द तुमने कहा। सारी मुसीबत इसी शब्द की लायी हुई है। यही कुछ नहीं करने देता। मन्त्रियों के वक्तव्य होते हैं कि हम ऐसा करने को 'कटिबद्ध' हैं। जानते हो, इसके बाद वे क्या करते हैं? धोती को कस लेते हैं और सन्तुष्ट होते हैं कि जो कहा था, वह कर दिखाया। कमर कसने का वादा किया था, सो कस ली। बहुत लोग इसी वादे को निभाने के लिए ढीली धोती पहनते हैं और 'कटिबद्ध' का वक्तव्य देकर कस लेते हैं। कमर कसने वालों से हम परेशान हैं, मन कसने वाले चाहिए।"

मैंने कहा, "पर आप सपने का फलितार्थ बता रहे थे न!"

वे बोले, "हाँ, देखो आयुष्मान्, चुने हुए आदमी का फौजी पोशाक पहनना अशुभ संकेत है। और फिर जब मन्त्री खुद अपराधी का सिर काटे, तो मतलब हुआ कि शासन फेल हो गया। समझे? तुम ऐसे अशुभ सपने मत देखा करो। आदमी चाहे सोये नहीं, पर उसे अपने सपने नहीं बिगाड़ने चाहिए।"

मैं चुप हो गया।

काका बोले, "सुन्न मत पड़ो। कुछ करो। देखो यह अखबार। इसमें फिर प्रधानमंत्री से लेकर राज्य-मन्त्रियों तक के वक्तव्य हैं कि किसी भी भ्रष्टाचारी को माफ नहीं किया जायेगा। कड़े से कड़ा दण्ड दिया जायेगा। जाओ, कुछ मुनाफाखोरों को शासन के सुपुर्द

कर आओ। ये लोग रोज जनता का सहयोग माँग रहे हैं।''

शर्मा मास्टर ट्यूशन पढ़ाकर लौटते हुए खड़े हो गये थे। बोले, ''दो व्यापारियों को तो मैं जानता हूँ जिनके पास अनाज दबा है। एक के पास लगभग पाँच हजार बोरे और दूसरे के पास पाँच सौ।''

मैंने कहा, ''तो चलो अधिकारियों के पास। उन्हें अभी पकड़वा देते हैं।''

शर्मा मास्टर ने आधे दिन की छुट्टी ली और मेरे साथ हो लिये।

चौराहे पर आये तो देखा कि पुलिस बहुत है और सवारियों को नियन्त्रित कर रही है। हम चौराहा पार करने लगे तो एक पुलिस इन्स्पेक्टर चिल्लाया—ए श्रीमानजी, अन्धे हो क्या ? दिखता नहीं है, रास्ता बन्द है?

हम रुक गये। मैंने मास्टर से पूछा, ''आज ये लोग 'श्रीमानजी' क्यों बोल रहे हैं ? सुनो, सबसे 'श्रीमानजी' कह रहे हैं।''

मास्टर ने कहा, ''पुलिस का 'शिष्टाचार-सप्ताह' चल रहा है। इस सप्ताह वे नागरिकों से बड़ा नम्र व्यवहार करते हैं। उन्हें सिखाया गया है कि हर आदमी को 'श्रीमानजी' कहना चाहिए।''

एक राहगीर को पुलिस ने रोका और कहा, ''क्यों वे श्रीमानजी के बच्चे, देखता नहीं है तेरे बाप यहाँ खड़े हैं?''

एक आदमी सड़क के बीच से चलने लगा। पुलिसवाला चिल्लाया—जरा किनारे से चल, साले श्रीमानजी! पूरी सड़क श्रीमानजी के बाप की नहीं है।

हमारा रास्ता खुला, हम सीधे कलेक्टर के पास पहुँचे।

हमने कहा, ''सरकार ने जनता का सहयोग माँगा है। हम सहयोग देने आये हैं। ये मास्टर साहब दो व्यापारियों के पास अनाज दबा हुआ देख आये हैं। उन्हें फौरन पकड़िए और अनाज जब्त कर लीजिए।''

कलेक्टर ने हमारा बड़ा आभार माना। कहने लगे, ''आप लोग जागरूक नागरिक हैं। आगे इतिहास में आपका नाम सोने के अक्षरों में लिखा जायेगा।''

मैंने कहा, ''अपने इतिहास का भी ध्यान रखिए और सख्त कार्रवाई करिए।''

साहब ने कहा, ''जरूर, जरूर, मैं अभी जाँच का आदेश देता हूँ।''

मैंने कहा, ''इसमें जाँच की क्या जरूरत है? ये अभी देखकर आ रहे हैं।''

साहब ने कहा, ''फिर भी जाँच तो करनी ही पड़ेगी।''

मैंने कहा, ''सामने गोदाम भरा पड़ा हो, तब भी जाँच की जायेगी?''

वे बोले, ''हाँ, जाँच किये बिना कोई कदम कैसे उठाया जायेगा। आप बेफिक्र रहिए। फौरन जाँच होगी और सख्त कदम उठाया जायेगा। आपको उसकी सूचना हमारी तरफ से मिलती रहेगी।''

दूसरे दिन हमने इस उम्मीद से अखबार उठाया कि उसमें उन व्यापारियों की गिरफ्तारी का समाचार छपा होगा। समाचार नहीं था। सारा नगर-पृष्ठ एक अपढ़ नेता के

भाषण से भरा था, जिसमें उसने कहा था कि कालिदास को मैं भी अब बड़ा कवि मानने लगा हूँ।

तीसरे दिन हमें एक पत्र की नकल मिली, जो शासन ने उन व्यापारियों को लिखा था। मजमून यह था–

श्री सेठ अमुकजी,

शासन को कुछ लोगों ने सूचना दी है कि आपके पास अनाज का स्टॉक दबा है, जिसे आप कालाबाजार में बेच रहे हैं। वे आप पर कार्यवाही करने के लिए सरकार पर दबाव डाल रहे हैं। आपको सूचित किया जाता है कि हम आगामी एक सप्ताह तक जाँच करेंगे। इस सात दिनों में आप बचाव के लिए जो करना चाहें करें। पीछे शासन को दोष न दिया जाय कि आपको पहले बताया नहीं। एक सप्ताह बाद हम अचानक छापा मारेंगे।

मैं साहब के पास पहुँचा। उनसे कहा, ''यह क्या किया जा रहा है? उन्हें शासन ने बचने का वक्त क्यों दे दिया?''

साहब बोले, ''यह सरकार की नीति ही है। सरकार कायर नहीं है कि धोखे से किसी को जाकर पकड़ ले। सरकार बहादुर है। वह होशियार करके पकड़ती है। हमारा पुलिसमैन भी चोर को पकड़ने जाता है, तो सीटी बजाता हुआ जाता है। वह चोर को चेतावनी देता है कि चोरी कर ली हो और बुजदिल हो, तो भाग जा। बहादुर हो तो सामने आ जा।''

मैंने कहा, ''लेकिन हुजूर, सरकार की बहादुरी चाहे इससे सिद्ध हो जाय, पर वे स्टॉक तो यहाँ वहाँ कर देंगे। फिर क्या आप उनका खाली गोदाम गिरफ्तार करेंगे?''

साहब ने कहा, ''देखते जाइए, क्या होता है। यह उचक्कों का काम थोड़े ही है कि चाहे जहाँ उचककर पहुँच गये। एक गंभीर, प्रतिष्ठित सरकार का काम है।''

मैंने पूछा, ''तो अब मैं क्या करूँ?''

साहब ने आश्वस्त किया, ''आपको कुछ नहीं करना है। अभी तो हमें भी कुछ नहीं करना है। जो करना है, वह उन व्यापारियों को ही करना है।''

दो दिन बाद मुझे उन व्यापारियों की कैफियत की नकल मिली। पाँच हजार बोरे वाले ने लिखा था–

'हमारी फर्म पर यह आरोप कुछ समाज-विरोधी तत्त्वों ने लगाया है। यह इल्जाम कि हमारे पास अनाज का स्टॉक दबा है और हम कालाबाजारी कर रहे हैं, सरासर झूठ है। हमारे कथन की सत्यता नीचे लिखे प्रमाणों से सिद्ध होती है–

1. नगरपालिका में इस समय सात सदस्य हमारे हैं। अगर हम नाराज हो गये, तो सातों सरकारी गुट के विरोध में हो जायेंगे। तब नगरपालिका सरकारी गुट के हाथ से निकल जायेगी।

2. एम.एल.ए. बाँके बाबू पहले हमारे ससुर की दूकान पर मुनीम थे। आज कल उनकी सरकार में अच्छी चल रही है। बाँके बाबू के गुट में पन्द्रह एम.एल.ए. हैं। इन्हीं के समर्थन से सरकारी पार्टी का यह गुट मन्त्रिमण्डल बना सका है। अगर बाँके बाबू नाराज हो जायँ, तो

इस गुट की सत्ता छिन जायेगी। उनका चुनाव खर्च हम देते हैं और जात-बिरादरी के वोट भी दिलाते हैं। बाँके बाबू ने फोन पर राजधानी में हमारी बात कह दी है।

3. हम पार्टी-फण्ड में और हर चुनाव-फण्ड में भरपूर चन्दा देते हैं।

4. जब खाद्यमन्त्री आये थे, तब हमने उनके सम्मान में दावत दी थी।

इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि मेरे पास अनाज का एक दाना भी दबा हुआ नहीं है। यदि फिर भी हम पर शक हो तो राजधानी से पूछ लिया जाय।'

पाँच-सौ बोरे वाले ने कैफियत दी—

'हम छोटे व्यापारी हैं फिर भी हम नियमों का पूरी तरह पालन करते हैं। सरकार ने अफसरों से लेकर चपरासी तक के जो 'रेट' निश्चित किये हैं, वे हम बराबर देते रहते हैं। चन्दा भी हम हैसियत के मुताबिक देते हैं और भी जो हुक्म होगा, हम करने को तैयार हैं। जब हम कानून का इस हद तक पालन करते हैं, तब हमारे पास अनाज दबा रह ही नहीं सकता। हम पर झूठा इल्जाम लगाया जा रहा है।'

आठवें दिन मैं फिर साहब के पास पहुँचा, "साहब, जाँच पूरी हो गयी?"

वे बोले, "हाँ, पूरी कर ली है। मालूम हुआ है कि दोनों के पास स्टॉक नहीं है।"

मैंने पूछा, "जाँच किसने की?"

उन्होंने कहा, "यह बात उनकी कैफियतों से सिद्ध होती है।"

मैंने कहा, "जनाब, यह बात झूठ है। पाँच-सौ वाले ने तो स्टॉक यहाँ-वहाँ कर दिया है। पर पाँच हजार वाले का गोदाम भरा है। आप अभी चलकर जब्त कर सकते हैं।"

साहब ने कहा, "जब कुछ है नहीं, तो जब्त क्या किया जायेगा? मुझे तो राजधानी से भी खबर मिली है कि उसके पास कुछ नहीं है। यहाँ की खबर जब राजधानी से आती है, तब वही सच होती है। हमारी सब खबरें उससे कट जाती हैं। राजधानी की एक आँख हमारी लाख आँखों से तेज होती है। जब वह खुलती है, हमारी चौंधिया जाती हैं।"

मैं निराश होकर लौट आया।

दूसरे दिन साहब ने मुझे बुलाया। बड़े प्रेम से समझाया, "देखो भाई, बुरा मत मानो। शासन ने तुम्हारी इच्छा पूरी कर दी है। तुम तो दो व्यापारियों को गिरफ्तार करवाना चाहते थे; हमने तुम्हारे लिए आज तीन व्यापारी गिरफ्तार कर लिए हैं। एक के पास आधा बोरा चावल का जंगी स्टॉक दबा था, दूसरे के पास बीस किलो और तीसरे के पास पन्द्रह किलो। अब तो तुम्हें सन्तोष हो गया होगा।"

दो-तीन दिन बाद शर्मा मास्टर रोते हुए आये। कहने लगे, "आपने मुझे फँसा दिया। मेरी नौकरी अब जानेवाली है।"

उन्होंने एक कागज मुझे दिया। स्कूल के मैनेजर की शर्मा मास्टर के नाम चेतावनी थी कि आजकल आप स्कूल का काम छोड़कर राजनीति में भाग ले रहे हैं। यदि आपने अपने को नहीं सुधारा, तो नौकरी से निकाल दिये जायेंगे।

मेरे पीछे सरकार के गुप्तचर-विभाग का एक आदमी लग गया। मैं उसे पहचानता

था। पूछा, ''क्यों भाई, मेरे पीछे क्यों वक्त बरबाद कर रहे हो?''

उसने कहा, ''आप पर नजर रखने का हुक्म हुआ है।''

मैंने पूछा, ''मगर मैंने ऐसा क्या किया है?''

उसने जवाब दिया, ''सरकार को खबर मिली है कि आप राष्ट्र-विरोधी काम करते हैं।''

मेरे मुँह से निकला, ''राष्ट्र-विरोधी! तो क्या वे लोग ही राष्ट्र हैं?''

उसने पूछा, ''कौन लोग?''

मैं चुप हो गया। इसे क्या मालूम?

6. प्रेमी के साथ एक सफर

जगन्नाथ काका के साथ मैं एक बारात से लौट रहा था। एक डिब्बे पर बारातियों ने कब्जा कर लिया था। काका ने मुझसे कहा, ''अगर अपना भला चाहते हो, तो दूसरे डिब्बे में बैठो। बाराती से ज्यादा बर्बर जानवर कोई नहीं होता। ऐसे जानवरों से हमेशा दूर रहना चाहिए। लौटती बारात बहुत खतरनाक होती है। उसकी दाढ़ में लड़कीवाले का खून लग जाता है और वह रास्ते में जिस-तिस पर झपटती है। कहीं झगड़ा हो गया, तो हम दोनों भी उनके साथ पिटेंगे।''

हमने सोने के डिब्बे में बैठने की जगह ले ली।

सामने की वेंच पर एक वृद्धा, एक जवान लड़की और एक जवान आदमी बैठे थे। काका उन तीनों को ध्यान से देख रहे थे।

मैंने बात शुरू करने के लिए कहा, ''काका, अमेरिका उत्तरी वियतनाम पर बमबारी बन्द नहीं कर रहा।''

काका ने ध्यान नहीं दिया।

थोड़ी देर बाद मैंने फिर कहा, ''मद्रास में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र हो गया।''

वे बोले, ''जरा चुप रहो।''

वे उन तीनों मुसाफिरों को ध्यान से देख रहे थे। कुछ मिनट बाद बोले, ''आयुष्मान्, तुम मुझे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय समस्याओं में फँसा रहे थे। मेरे सामने जो समस्या है, उसे तो पहले सुलझाओ। बताओ यह युवक बुढ़िया का कौन है?''

मैंने कहा, ''लड़का मालूम होता है। बड़ी सेवा कर रहा है तब से।''

काका बोले, ''नहीं, यह लड़का नहीं हो सकता। यह सेवा तो बुढ़िया की करता है पर सेवा की मान्यता का 'रिकार्ड' लड़की की आँखों में खोजता है। यह लड़की का प्रेमी है। ठीक प्रेमी भी नहीं है, प्रेमी होने की राह पर है। प्रेमी हो जाने पर प्रेमिका की अम्मा की सेवा में कोई वक्त बरबाद नहीं करता। फिर तो दरवाजे पर सिर्फ पूछ लेता है—'अम्मा, अच्छी तो हो?' और फिर 'सुषमा की पढ़ाई कैसी चल रही है?' कहता हुआ लड़की के

कमरे में घुस जाता है।''

काका फिर उधर देखने लगे। एकाएक बोले, ''हाय-हाय, इस देश में लड़की के दिल में जाना हो तो, माँ-बाप के दिल की राह से जाना होता है। माँ-बाप की सेवा करने में ही प्रेमी के अंजर-पंजर ढीले हो जाते हैं? शीरीं के बाप ने कह दिया कि पहाड़ में से नहर खोद लाओ, तो वह उल्लू का पट्ठा फरहाद कुदाली उठाकर खोदने ही लगा।''

मैंने कहा, ''मगर काका, मामला अगर पक्का न हो गया होता, तो ये इस तरह सफर क्यों करते? पहले से कुछ तय मालूम होता है।''

काका ने कहा, ''नहीं, इस जवान की गहरी पहचान इनसे पहले से है। कभी-कभार आना-जाना होता होगा। बुढ़िया इससे बाजार से सामान मँगवाती होगी और लड़की भी ऊन का नमूना देकर बाजार से भाव पुछवा लेती होगी। बस, अभी बेचारा प्रभाव डालने की स्थिति में ही है। सोचा होगा, इस सफर में काम पूरा कर डालूँगा। रेल में दस-बारह घण्टे लड़की का साथ रहे, तो दस साल का काम पूरा होता है। एक दिन का सफर एक जिन्दगी के बराबर होता है। जिन्दगी में रोज-रोज पड़ने वाले सारे काम सफर में होते हैं और उम्मीदवार अपनी पूरी योग्यता जता सकता है।''

काका की बात सही थी। वह तब से जता रहा था। उसने खिड़की ठीक खोल दी थी। पंखे का रुख वृद्धा की तरफ कर दिया था। दो बर्थों पर बिस्तर खोलकर बिछा दिये थे। पानी भरकर ले आया था।

उसने कुली को पैसे दिये थे, तो ऊपर से दस पैसे और दे दिये थे। कहा था—''ले, दस पैसे और ले जा। गरीब आदमी है।'' उसने शायद लड़की को यह बताया कि मैं बड़ा उदार हूँ।

वह दो-तीन पत्रिकाएँ ले आया। सबके ऊपर फिल्मी पत्रिका रखकर लड़की को पुलिन्दा दे दिया। फिल्मी पत्रिका के कवर पर एक जोड़े का चित्र था—प्रेमी प्रेमिका का हाथ अपने हाथ में लिये था। लड़की ने पत्रिकाएँ ले लीं और उन्हें पलटने लगी।

काका ने मेरे कान में कहा, ''देखा, वह फिल्मी पत्रिका और वह चित्र। वह उसे सुझा रहा है कि अपना भी ऐसा ही हो जाये, तो अच्छा रहेगा, है न?''

मैं उन लोगों की तरफ देखने लगा। काका ने कहा, ''आयुष्मान्, तुम उन लोगों को इस तरह लगातार मत देखो। यह बुरा मान जायेगा। मुझे ही देखने दो। बुजुर्ग का खास 'प्रिवलेज' (विशेष हक) है कि किसी भी औरत को घूर सकता है और कोई बुरा नहीं मानता। सफेदी की आड़ में हम बूढ़े वह सब कर सकते हैं, जिसे करने की तुम जवानों की भी हिम्मत नहीं होती।''

प्रेमी पान ले आया था। उसने पान का पत्ता बुढ़िया की तरफ बढ़ाया। बुढ़िया ने दो पान ले लिये। उसने पत्ता लड़की की तरफ बढ़ाया। उसने भी एक पान ले लिया। वह आशावान हो गया।

वृद्धा के लिए वह तमाखू लाना भूल गया था। वह डिब्बे से उतरा और पान वाले

से तमाखू लेकर चलती गाड़ी में चढ़ गया।

वृद्धा को तमाखू दी तो उसने चिन्ता बतायी, ''भाड़ में जाती तमाखू! तू चलती गाड़ी में चढ़ा, तो मुझे बड़ा डर लग रहा था।''

उसने जवाब दिया, ''तो क्या हुआ? आगे न जाने कहाँ तमाखू मिलती!''

वृद्धा ने कहा, ''हाँ बेटा, बिना तमाखू मेरा चलता ही नहीं है। पान पत्ते जैसा बेस्वाद लगता है। पर तू इस तरह चलती गाड़ी में मत चढ़ा कर।''

लड़के ने लड़की की तरफ देखा।

काका ने कान में कहा, ''देखो, वह उससे कह रहा है कि तुम्हारे लिए मैं खूब तेज गाड़ी से उतरकर चढ़ सकता हूँ। मैं बहादुर हूँ और प्राणों को हमेशा हथेली पर लेकर चलता हूँ।''

इतने में डिब्बे का कण्डक्टर आया और वह उससे अंग्रेजी में अपनी 'बर्थ' के लिए बहस करने लगा—बट आई टोल्ड यू...

काका ने कहा, ''देखो, अंग्रेजी में उसे डाँट रहा था। अभी भी इस देश के नौजवानों का यह खयाल है कि लड़कियाँ अंग्रेजी बोलने वाले से प्यार करती हैं। क्यों आयुष्मान्, अगर यह उस वक्त गाड़ी के नीचे आ जाता तो?''

मैंने कहा, ''तो क्या? प्रेम में बलिदान तो होता ही है।''

काका ने कहा, ''पर यह प्रेम पर बलिदान कहाँ होता? वह तो बुढ़िया की तमाखू के लिए जान दे देता! इस देश के युवकों को प्रेम पर मरना भी तो नहीं आता। प्रेम में मरेंगे, तो घिनापन से। मरते किसी और कारण से हैं, मगर सोचते हैं कि प्रेम पर मर रहे हैं। अच्छा, बताओ अब यह क्या करेगा?''

मैंने कहा ''अब यह चेन खींचकर बतायेगा। बुढ़िया का शाल खिड़की से फेंक देगा और चेन खींच देगा।''

काका ने कहा, ''नहीं, और सोचो।''

मैंने कहा, ''तो सब मुसाफिरों को पैसे बाँटेगा।''

काका ने कहा, ''नहीं। उदारता तो वह कुली को दस पैसे देकर जता चुका।''

मैंने और सोचकर कहा, ''तो वह गाना गाकर बतायेगा।''

काका हँसे। कहने लगे, ''नहीं, गानेवाला 'टाइप' नहीं है यह। तुम्हें प्रेमियों के बारे में कुछ नहीं मालूम। मैं तो चेहरा देखकर बता सकता हूँ कि वह कब से प्रेम कर रहा है, किस 'स्टेज' पर है और आगे क्या करने वाला है।''

मैंने कहा, ''तो आप ही बताइए, वह क्या करेगा?''

काका ने कहा, ''अब यह किसी से लड़ बैठेगा। कोमलता जता चुका, अब कठोरता जतोयगा। जब तक पुरुष नारी को यह न बता दे कि मैं जंगली जानवर भी हूँ, तब तक वह समझता है कि मेरी पूरी शख्सियत नहीं उभरी। यह अब किसी ऐसे मुसाफिर की तलाश करेगा, जो इससे कमजोर हो। उससे किसी बहाने लड़ पड़ेगा। होशियार हो जाओ, इसके

शिकार हम भी हो सकते हैं।''

मैंने कहा, ''अगर वह हम पर हाथ उठायेगा, तो हम भी उसे...''

काका ने कहा, ''नहीं, उसे पलटकर मारने से वह लड़की की नजर से गिर जायेगा। प्रेम-भंग करना बड़ा पाप है।''

मैंने कहा, ''मगर अजनबी के हाथ से पिट जाना क्या अच्छा है?''

काका ने कहा, ''मेरा खयाल है, ऐसी सूरत में हम पिटे जैसे तो लगें, मगर चोट न आये—ऐसी कोशिश करनी चाहिए। उसके प्रेम के लिए हमें थोड़ी तकलीफ हो ले, थोड़ी बेइज्जती हो जाये, तो बरदाश्त कर लेना चाहिए। यों एक-दूसरे को बचाने की कोशिश करना चाहिए।''

हम सँभलकर बैठ गये। प्रेमी अपनी आस्तीन सँभालता हुआ चारों तरफ देख रहा था।

एक खूबसूरत नौजवान हाथ में अटेची लेकर स्टेशन से चढ़ा। प्रेमी ने उसे जाँचा। वह उसके पास से निकला, तो अटेची उसे छू गयी। प्रेमी भनभनाकर खड़ा हो गया। उसका कॉलर पकड़ा, गाली दी, एक चाँटा मारा और उसे ढकेलकर गिरा दिया। हम उठे और मामला वहीं रोक दिया। हमने लड़के को समझाकर बिठा दिया। वह खिड़की के पास की अलग सीट पर बैठ गया। क्रोध और शर्म से उसका चेहरा लाल हो गया था।

प्रेमी ने लड़की की तरफ देखा। वह खिड़की के बाहर देख रही थी। प्रेमी जोर से शेखी बघारने लगा। बुढ़िया से बोला, ''लोग बीच में न आते तो उसे अधमरा कर देता।''

लड़की ने मुँह फेरा। नफरत से उसकी तरफ देखा और फिर एक नजर उस लड़के की तरफ फेंकी।

काका ने कहा, ''आयुष्मान्, अब नाटक गहरा होता जा रहा है, अभी इसमें तीन कोने निकले आते हैं।''

प्रेमी परेशान होने लगा। लड़की बार-बार उस पिटे हुए लड़के की तरफ देखने लगी।

प्रेमी ने बुढ़िया की तरफ पान बढ़ाये। उसे झपकी लग गयी थी। उसने लड़की की तरफ पान बढ़ाया। लड़की ने बेरुखी से 'नहीं' कह दिया। उसने नफरत से भरकर उसकी तरफ देखा।

लड़की खिड़की के बाहर देखती और फिर नजर घुमाकर लड़के की तरफ देख लेती। लड़का भी खिड़की के बाहर देखता और फिर नजर घुमाकर लड़की की तरफ देख लेता। आगे चलकर लड़का लड़की की खिड़की से बाहर का दृश्य देखता और लड़की लड़के की खिड़की से देखती।

काका ने कहा, ''दे दिया! दे दिया!''

मैंने पूछा, ''क्या दे दिया, काका? किसने दे दिया?''

काका ने कहा, ''स्त्री ने अपने को कमजोर को दे दिया। औरत भी बड़ी विचित्र होती है। जो पिटा बैठा है, उसे अपने को दे देती है। हरे, हरे, तिरिया चरित्र वगैरह ! सब

हो गया।''

प्रेमी की हालत अब खराब हो गयी थी। वह पछता रहा था। सुनाकर कह रहा था, ''मुझे खुद अफसोस है कि मैंने उसे मार दिया।''

काका ने कहा, ''आयुष्मान्, यह अपनी बहादुरी के कारण मारा गया। इस वक्त वह यह चाह रहा है कि कोई उसे मारे। वह पिटना चाहता है। तुम हमेशा दूसरों का भला करते रहते हो। उठकर इस प्रेमी को दो चाँटे जमा दो। वह तुम्हारा बड़ा उपकार मानेगा।''

मैंने कहा, ''ऐसा कैसे हो सकता है, काका? बिना कारण, बिना क्रोध के मैं उसे कैसे मार दूँ?''

काका ने कहा, ''उसके भले के लिए। जैसे डॉक्टर बिना क्रोध के शरीर पर छुरी चलाता है। वह बेचारा बड़ी कातरता से देख रहा है कि मुझे कोई पीट दे, तो मैं भी उस नारी की करुणा का अधिकारी बन जाऊँ। उसे पिटनेवाले से स्पर्धा करनी पड़ रही है न।''

मैंने कहा, ''आप ही उसे मार दीजिए न!''

काका बोले, ''बूढ़े से पिटने से उसका काम नहीं बनेगा। वह किसी जवान आदमी से पिटना चाहता है और फिर दूसरों का भला करने का बीड़ा तुमने उठाया है कि मैंने!''

इतना कहकर काका उठे और उससे कंहने लगे, ''भाई प्रेमी, अगर किसी के हाथ पिटने से तेरा बिगड़ा काम बनता हो, तो मैं अपने इस साथी से तेरी मदद करवाऊँ।''

सुनते ही लड़की जोर से हँसी। लड़का भी हँसने लगा।

काका निराश होकर बैठ गये।

◆

वाक आउट ! स्लीप आउट ! ईट आउट !

जरा देर पहले ही आँख लगी थी।

क्या देखता हूँ कि मैं विधानसभा भवन में खड़ा हूँ।

बायीं तरफ मुझे एक बड़ा हाल दीखा और मैं उसमें घुस गया। वहाँ आधे हिस्से में मुलायम सोफे रखे थे और बाकी आधे में तख्त बिछे थे, जिन पर मोटे गद्दे और गोल तकिये पड़े थे। सोफों पर पैर फैलाकर कई आदमी लुढ़के थे। तख्तों पर कई आदमी सो रहे थे।

मैंने एक कर्मचारी से पूछा, ''क्या यही विधान-सभा है?''

उसने कहा, ''विधान-सभा तो पूरी इमारत में फैली है।''

मैंने कहा, ''मेरा मतलब है कि क्या विधान-सभा की बैठक यहीं हो रही है?''

उसने कहा, ''नहीं! बैठक तो भीतर सभा-भवन में हो रही है। यह तो विश्रामकक्ष है। यहाँ बैठक नहीं, 'लेटक' होती है।''

एक तख्त खाली देखकर मुझे आलस्य सताने लगा। मैं उस पर लेटने ही वाला था कि उस कर्मचारी ने मेरा हाथ पकड़ लिया। बोला, ''ठहरो-ठहरो, यह क्या कर रहे हो?''

मैंने कहा, ''सोना चाहता हूँ।''

उसने कहा, ''तुम यहाँ नहीं सो सकते। यहाँ वही सो सकते हैं, जिन्हें यहाँ से तनख्वाह मिलती है। ऐसा नियम है। यह नियम पूरे देश में लागू है कि जिसे जहाँ से तनख्वाह मिलती है, वह वहाँ सो सकता है। ये विधायक लोग भी तभी सो सकते हैं, जब विधान-सभा चल रही हो। रात को ये यहाँ सोना चाहें, तो इन्हें भी नहीं सोने दिया जायेगा।''

वह एक नोट-बुक में विधायकों के नाम और सोने का समय लिखने लगा।

मैंने पूछा, ''यह क्यों लिख रहे हो?''

उसने कहा, ''हिसाब रखना पड़ता है कि कौन विधायक कितना सोता है। जैसे भीतर सरकारी दल और विरोधी दलों में बहस होती है, वैसे ही यहाँ सोने में स्पर्धा होती है। जिस दिन विरोधी पक्ष के विधायकों के सोने के घण्टे सरकारी पक्ष के सोने के घण्टों से बढ़ जायेंगे, उस दिन सरकार को इस्तीफा देना होगा। जैसे ही भीतर खबर पहुँचती है कि विरोधी पक्ष के सदस्य ज्यादा सो रहे हैं, त्योंही सरकारी दल का सचेतक (व्हिप) कुछ सदस्यों को यहाँ सोने भेज देता है।''

मैंने पूछा, ''क्या कभी ऐसा हुआ है कि विरोधी पक्ष के सोने के घण्टे बढ़ गये हों और सरकार ने इस्तीफा दिया हो?''

उसने कहा, ''नहीं, ऐसा आज तक तो नहीं हुआ, पर प्रयत्न चल रहे हैं। बात यह है कि सरकारी दल बहुत चतुर है। वह कुछ ऐसे सदस्य ले आया है जिन्हें यहाँ पैर रखते ही नींद आने लगती है। वे दस्तखत करके जो सोते हैं, तो शाम को ही उठते हैं। इन्हीं लोगों के दम पर सरकार टिकी है।''

इसी समय कोई सदस्य भागता हुआ आया और कुछ सदस्यों को जगाकर बोला, ''जल्दी चलो भीतर! 'वाक आउट' करना है।''

वे सदस्य आँखें मलते हुए भीतर गये और पाँच मिनट बाद फिर लौट आये।

मैंने उनमें से एक से कहा, ''आप अभी गये थे और अभी लौट आये!''

उसने कहा, ''विरोधियों की यही मुसीबत है। हमें हर पन्द्रह-बीस मिनट में 'वाक आउट' करना पड़ता है। आँख लगी नहीं कि कोई सदस्य आता है और 'वाक आउट' के लिए भीतर ले जाता है। हम भीतर जाते हैं और नेता के पीछे फिर बाहर आ जाते है।''

मैंने कहा, ''मगर मैं देख रहा हूँ कि कुछ सदस्य तो बड़ी देर से सो रहे हैं।''

उसने समझाया, ''उनका काम अलग है। वे 'वाक आउट' नहीं करते, 'स्लीप आउट' करते हैं। इनमें सरकारी और विरोधी, दोनों पक्षों के लोग हैं। इसी तरह तुम देखोगे कि कुछ सदस्य दिन-भर कैण्टीन में बैठे खाया करते हैं। ये 'ईट आउट' करते हैं।''

मैंने पूछा, ''इन तीन तरह के 'आउटों' में प्रभावशाली और उपयोगी 'आउट' कौन-सा है?''

सदस्य ने जवाब दिया, 'वाक आउट' करना तो साधारण बात है। कोई भी कर लेता है। 'ईट आउट' जरा मुश्किल है, क्योंकि इसमें बार-बार खिलाने-वाला ढूँढ़ना पड़ता है। लेकिन सबसे उत्तम 'स्लीप आउट' है। पर 'स्लीप आउट' करने वाले से भी बड़ा वह है जो 'ईट आउट' और 'स्लीप आउट' की संयुक्त कार्यवाही करता है। वह कैण्टीन में खाकर फौरन सो जाता है। बीच में नींद खुलती है, तो फिर खा लेता है और फिर सो जाता है। ऐसा सदस्य जिस दिन चाहेगा, देश का कायापलट कर देगा।''

उस सदस्य ने बताया कि इन तख्तों पर इस समय बीस सदस्य सरकार के समर्थन में सो रहे हैं और सात उसके विरोध में सो रहे हैं। उधर कैण्टीन में भी कुछ सदस्य सरकार के समर्थन में खा रहे हैं और कुछ सरकार की धाँधलियों के विरोध में खा रहे हैं।

इतना कहते-कहते उस सदस्य की आँखें झपकने लगीं और मेरे देखते-देखते वह 'स्लीप आउट' कर गया।

अब मैं भीतर सभा-भवन में जाता हूँ। वहाँ एक कुत्ते की मौत पर बहस चल रही है।

एक विरोधी सदस्य बड़ी भावुकता से कह रहा था—''अध्यक्ष महोदय! यह साधारण बात नहीं है, कुत्ते की मौत का मामला है। कुत्ता! यह वह पशु है जिसने युधिष्ठिर का साथ उन बर्फीली घाटियों में दिया था, जहाँ उनके सगे भाई और पत्नी तक उन्हें छोड़ गये थे। कुत्ता अपने मालिक के प्रति जितनी भक्ति रखता है, उतनी तो हम अपने पार्टी नेता के प्रति भी नहीं रखते। ऐसा एक कुत्ता सरकारी बस से कुचलकर मर गया है। उस कुत्ते का खून इस सरकार के सिर पर है। यातायात-मन्त्री हत्यारा है! उसे इस्तीफा देना चाहिए। ऐसी सरकार को एक दिन भी पद पर रहने का हक नहीं है।''

कुछ और विरोधी पक्ष के सदस्यों ने सरकार से इस मुद्दे पर इस्तीफे की माँग की।

एक सरकारी पक्ष के सदस्य ने जवाब में कहा—''अध्यक्ष महोदय! वह कुत्ता गलत साइड से चल रहा था। मेरे पास इसके सबूत हैं कि कुत्ता सड़क की दाहिनी तरफ से चल रहा था और बस पास आने पर सड़क पार करने लगा था।''

एक विरोधी—''झूठ है, सरासर झूठ है। कुत्ता बायीं तरफ से चल रहा था।''

दूसरा विरोधी—''कुत्ता बायीं तरफ से चले, ऐसा नियम सरकार ने कभी नहीं बनाया। इसलिए वह कहीं भी चलने को स्वतंत्र है। इसलिए उसके लिए सड़क की दोनों बाजू सही हैं। इस दुर्घटना में कुत्ते का कोई कसूर नहीं है।''

इसी समय पीछे से एक सदस्य ने उठकर कहा—''अध्यक्ष महोदय! मैं आपका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि कुछ गाँवों में ओले गिरने से सारी फसल चौपट हो गयी है। उन गाँवों के किसान बरबाद हो गये हैं। वे भूखे मर रहे हैं और उनके मवेशी भी मर रहे हैं। हजारों किसान विधान-सभा के फाटक पर अपनी फरियाद लेकर हाजिर हैं। उनके विषय में सदन में विचार होना चाहिए।''

बाहर किसान नारे लगा रहे थे, पर अभी कुत्ते की मौत की बहस खूब जोर पर थी।

आखिर मन्त्री ने जवाब दिया—"विरोधी सदस्यों के सब आरोप झूठे हैं। हमने उस कुत्ते का पोस्टमार्टम कराया है। बस के पहिये की भी रासायनिक जाँच करायी है। रासायनिक जाँच की रिपोर्ट है कि कुत्ता बस से कुचलकर नहीं मरा। पहिये पर जो खून लगा था, उसके सम्बन्ध में रासायनिज्ञ का मत है कि वह कुत्ते का खून नहीं है।"

एक सदस्य—"तो वह किसका खून है?"

मन्त्री—"वह आदमी का खून है।"

इस पर सदन में थोड़ी देर भुनभुनाहट होती रही। विरोधी पक्ष निराश हो गया था।

मन्त्री ने विजय के गर्व से कहा—"तथ्य यही है! वह खून आदमी का था, कुत्ते का नहीं—जैसा कि सदस्यों का आरोप है। इसलिए मेरे इस्तीफा देने का कोई प्रश्न नहीं उठता।"

बाहर किसानों के नारे लग रहे थे।

एक सदस्य ने कहा—"किसानों की हालत पर सदन में विचार होना चाहिए! वे लगान की माफी माँगते हैं, खाने को अन्न माँगते हैं, मवेशियों के लिए भूसा माँगते हैं, बोने के लिए बीज माँगते हैं। मन्त्री महोदय सदन को बतायें कि वे इन किसानों के लिए क्या करना चाहते हैं।"

मन्त्री ने कहा—"हमने जाँच करायी है, जिससे मालूम हुआ है कि वहाँ ओले नहीं गिरे।"

कई सदस्य—"गिरे हैं!"

मन्त्री—"अगर गिरे भी हैं तो फसल बरबाद नहीं हुई है।"

कई सदस्य—"हुई है, हुई है!"

मन्त्री—"अगर फसल बरबाद भी हुई है, तो मुझे मालूम है कि वहाँ किसान नहीं रहते।"

कई सदस्य—"तो फिर फसल कैसे हुई?"

मन्त्री—"अगर किसान भी वहाँ रहते हैं और फसल भी वहाँ हुई और ओले भी गिरे, तो नुकसान नहीं हुआ।"

इस पर सदन में हो-हल्ला हुआ।

मन्त्री ने जवाब दिया—"मैं जानता हूँ, इन किसानों को कम्युनिस्टों ने भड़काया है !"

कई सदस्य—"पर उनकी समस्या तो हल कीजिए।"

मन्त्री—"मेरे पास इस समस्या का यही हल है।"

सदन में फिर हो-हल्ला हुआ।

अध्यक्ष ने कहा—"सदन यह जानना चाहता है कि इन बरबाद किसानों की समस्या को शासन कैसे हल करेगा?"

मन्त्री ने वक्तव्य दिया—"अध्यक्ष महोदय! ऐसी समस्याओं को हल करने का यही एकमात्र और अचूक तरीका हमारे पास है। जब भी कोई हमारे पास शिकायत लेकर आता है, हम कह देते हैं कि तुम्हें कम्युनिस्टों ने भड़काया है। इससे समस्या हल हो जाती है।

अध्यक्ष महोदय, मैंने इस नुस्खे को अपने बच्चे पर आजमाकर देख लिया है। कल उसकी माँ बाहर गयी हुई थी। लड़के को भूख लगी और वह रोने लगा। मैंने उससे कहा–'क्यों रोता है? मालूम होता है, तुझे कम्युनिस्टों ने भड़काया है!' अध्यक्ष महोदय, इतना सुनते ही लड़का चुप हो गया और उसे दूध पिलाने की जरूरत ही नहीं पड़ी। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि तुम्हें कम्युनिस्टों ने भड़काया है, तब इन किसानों को समझ लेना चाहिए कि उनकी समस्या हल हो चुकी है।''

अब मैं बाहर निकला। उसी समय विरोधी पक्ष से एक सदस्य बाहर निकला। उसकी लम्बी दाढ़ी थी, बड़े बाल थे। वह बगलबन्दी और ऊँची धोती पहने थे। पाँवों में खड़ाऊँ और सिर पर काली टोपी थी।

मैंने पूछा, ''महाशय, क्या आपको मालूम है कि देश में टेक्सटाइल उद्योग काफी विकास कर गया है?''

उसने घूरकर मुझे देखा। बोला, ''प्रश्न पूछना और विचार करना हमारे यहाँ अनुशासन के विरुद्ध माना जाता है।''

मैंने कहा, ''मैं यही जानना चाहता था कि आप ठीक कपड़े क्यों नहीं पहनते?''

उसने कहा, ''ठीक कपड़े पहनना अराष्ट्रीय कर्म है। अगली बार तो मैं वल्कल पहनकर आऊँगा?''

मैंने पूछा, ''इस विधान-सभा के बारे में आपका क्या मत है?''

उसने जवाब दिया, ''चुनकर आ गये हैं, तो बैठते हैं। प्रजातन्त्र वाले स्वयं प्रजातान्त्रिक संस्था का उपहास करते हैं, तो मैं क्या करूँ? मैं तो देख रहा हूँ। हमारी संस्कृति में जनता से कभी कुछ पूछने की परम्परा ही नहीं है। प्रजातन्त्र तो विदेशी विचार है। अपने कू जमता ही नहीं। समझे?''

मैं समझ गया और डर के मारे मेरी नींद खुल गई!

सुदामा के चावल

[कृष्ण से मनमानी सम्पत्ति प्राप्त करके विप्र सुदामा अपने भवन में आराम से रहने लगे। उन्हें कोई काम तो करना नहीं पड़ता था, इसलिए पण्डितानी से लड़ने और जम्हाई लेने के बाद भी जो समय बचता उसमें कुछ लिख-पढ़ लेते, उसमें से संस्मरण और डायरी के कुछ भाग अब मिल गये हैं। उसमें से कृष्ण से भेंटवाला प्रसंग यहाँ उद्धृत किया जाता है। –लेखक]

... लोगों की टीका-टिप्पणी से मैं तंग आ गया। लोग मुझे चैन क्यों नहीं लेने देते? कहते हैं कि कृष्ण ने प्रजा के कोष का धन उठाकर अपने मित्र को दे दिया। कृष्ण ने ऐसा क्या

अनुचित किया, जो मुझे थोड़ा धन दे दिया। राज-पद पाकर कौन अपने भाई-भतीजों और मित्रों का भला नहीं करता? कुछ लोग तो मुझे ही मूर्ख कहते हैं। कहते हैं कि कृष्ण ने मेरे दो मुट्ठी चावल खाकर मुझे दो लोक दे दिये थे, पर मैंने मूर्खतावश वापस कर दिये। कल प्रातःकाल मैं भवन के बाहर मैदान में दातौन चबाता घूम रहा था—मुझे एक प्रहर तक दातौन करने की आदत है, क्योंकि किसी तरह समय तो काटना है। सामने से ब्राह्मण देवदत्त अपने किसी परदेशी बन्धु के साथ निकला और मेरी ओर संकेत करके उससे कहने लगा, 'यह वही मूर्ख सुदामा है, जिसे कृष्ण ने दो लोक दे दिये थे, पर इसने वापस कर दिये।' सुनकर मेरे अंग-अंग में आग लग गयी, पर मैं क्रोध पी गया। क्या करता? मैंने ही तो यह बात फैलायी थी। मनुष्यों की बुद्धि को इस युग में क्या हो गया है! किसी ने यह नहीं कहा कि हे मिथ्यावादी सुदामा, यदि कृष्ण हर मिलने वाले को एक-दो लोक दान में देते हों, तो प्रतिदिन हजारों लोक बाँटते होंगे। पर लोक तो तीन ही हैं और मथुरा तीन लोकों से न्यारी है। और हे मिथ्यावादी ब्राह्मण, तू यदि यह कहे कि केवल तू ही उनसे मिलने गया, तो यह भी झूठ है। जब कोई राजधानी जाता है, तब ऊँचे पदों पर बैठे अपने पूर्व-परिचित से मिल आता है। फिर कृष्ण तो बहुत हँसमुख और मिलनसार है; उसे नृत्य-संगीत नाट्य का शौक है और उसके आसपास कलावन्त सुन्दरियों का जमघट रहता है। जिस राजनेता के आसपास सुन्दरियों का गुच्छा होता है, उसे मिलने वालों का टोटा नहीं पड़ता।

किसी ने ऐसी शंका नहीं की। और युगों तक यह बात मानी जायेगी कि कृष्ण ने मेरे दो मुट्ठी चावल खाकर मुझे दो लोक दे दिये, पर मैंने बाद में उन्हें लौटा दिया, पर आज मैं सत्य बात लिख देना चाहता हूँ, जिससे 'निरवधि काल और विपुला पृथ्वी' में कोई कभी इन पृष्ठों के आधार पर विश्व से कह सकेगा कि दो मुट्ठी चावल और दो लोकवाली बात झूठ है; सुदामा ने कृष्ण से दान नहीं लिया; उसने परस्पर सुभीते के लिए सौदा किया था।

मैं जब द्वारिका के लिए चला, तब ब्राह्मणी ने पड़ोसिन से एक पाव चावल उधार लेकर मेरे गमछे में बाँध दिये। वह जानती थी कि राजपुरुष बिना भेंट लिये किसी का काम नहीं करते। मेरे घर में एक पाव चावल भी न हों, ऐसी बात नहीं थी; पर ब्राह्मणी जानती थी कि राजपुरुष उधारी या चोरी के माल से बहुत प्रसन्न होते हैं।

कृष्ण ने मुझे बड़े स्नेह से पास बिठाया और मेरी काँख में दबे गमछे को खींचा, उलट-पलटकर देखा। उसमें चावल का एक दाना भी नहीं था। कृष्ण ने मेरी ओर बड़े अचरज और खीझ से देखा और कहा, "कहाँ गये चावल? तुमने फिर कपट किया। मैंने अपनी दिव्य-दृष्टि से देख लिया था कि भाभी ने मेरे लिए गमछे में चावल बाँध दिये थे।"

मेरा मन हुआ कि कह दूँ कि हे मेरे राजमित्र, जिस दृष्टि से तुम मित्रों की पत्नियों को पति के गमछे में चावल बाँधते देखते रहते हो, उससे लोगों की गरीबी और भुखमरी क्यों नहीं देखते? पर कुछ सोचकर मैं चुप रहा।

कृष्ण चावल खाने के लिए बहुत उत्सुक था। उसका आग्रह प्रेम के कारण कम था, इस कारण अधिक था कि आसपास चित्रकार लोग चावल खाते हुए महाराज का चित्र खींचने

के लिए तैयार खड़े थे। चित्र खींचकर उसके नीचे लिखा जाता, 'दीनबन्धु एक दीन के चावल खाते हुए।'

उसने बनावटी रोष से पूछा, "क्या तुम चावल भी खा गये?"

"नहीं।" मैंने कहा।

"तो फिर कहाँ गये?" उसने हठ किया।

मैंने कहा, "नहीं बताऊँगा। मैं वचनबद्ध हूँ।"

"किससे वचनबद्ध हो?"

"तुम्हारे रक्षक-विभाग के अधिकारी से। उसने कहा है कि यदि तुम यह सब मामला महाराज को बताओगे, तो तुम्हारी ब्राह्मणी विधवा हो जायेगी।"

कृष्ण हँसा। पूछा, "कैसा मामला? मित्र, तुम मुझे बताओ तो। मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ। मैं तुम्हें अपने व्यक्तिगत रथ में घर सकुशल पहुँचाऊँगा।"

आश्वासन पाकर मैंने कहा, "अच्छा, बतलाता हूँ। पर पहले राज्य-शासन में मैं तुम्हारी परीक्षा लेता हूँ। बतलाओ, खुरचन किसे कहते हैं और अच्छे शासन में इसका क्या महत्त्व है?"

कृष्ण मेरी ओर मूढ़ की तरह देखने लगा। बोला, "मैंने तो यह शब्द ही नहीं सुना।"

मैंने कहा, "आश्चर्य है। शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण नीति को नहीं जानते और राज्य करते हो।"

कृष्ण ने उतावली से कहा, "पर तुम पहले चावल की बात तो बताओ।"

तब मैंने पूरी घटना सिलसिलेवार सुनाई, जिसे यहाँ लिखता हूँ—

माँगते-खाते मैं द्वारिका नगरी पहुँचा। नगरी का वैभव देखकर चकित रह गया। सारा धन सिमटकर द्वारिका में आ गया था और सारी विद्या इकट्ठी हो गयी थी। बड़े-बड़े कलावन्त, पण्डित, कवि और गायक राजधानी में आकर बस गये थे क्योंकि यहाँ राज-पुरस्कार खूब बँटते थे। इनमें मुझ दीन ब्राह्मण को कौन पूछता? मैंने नगरी के बाहर ही, बिना नहाये, मस्तक पर चन्दन लगा लिया था, इसलिए नागरिक पूछने पर कम-से-कम मार्ग बता देते थे।

पूछते-पूछते मैं कृष्ण के महल के सामने पहुँच गया। वहाँ एक कर्मचारी से मैंने कहा, "भाई, मुझे महाराज से मिलना है।" उसने मुझे ध्यान से देखा और सम्भवतः टालने के लिए कहा, "उस बायें बाजूवाले कार्यालय में जाओ। वहाँ पूछताछ के पश्चात् जब अनुमति मिलेगी, तब जा सकोगे।"

कुछ सोचकर उसने पुनः कहा, "तुम भाई क्यों कहते हो?"

मैंने उत्तर दिया, "मनुष्य मनुष्य को भाई ही तो कहेगा।"

उसने मुझे समझाया, "बहुत भोले हो। आगे किसी राज-कर्मचारी को भाई मत कहना। वह मनुष्य होने में अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। उसे 'देवता' कहना चाहिए।"

मैंने उसकी बात की गाँठ बाँध ली और उस विशाल कार्यालय के द्वार पर पहुँचा।

वहाँ कितने ही कर्मचारी बैठे थे जिनमें से अधिकांश गपशप कर रहे थे। वे अपने स्थान से उठते और पास के जलपान-गृह में जाकर बैठ जाते। मैं समझा कि इन सबको यही करने के लिए ही राज्य से वेतन मिलता है।

मैं बड़ी देर तक खड़ा रहा। फिर साहस बटोर भीतर घुसा। एक कर्मचारी ने बड़े कड़े स्वर में कहा, ''ऐ कहाँ घुसा आता है? यह धर्मशाला नहीं है। उधर जाओ, वहाँ धर्मशाला है और सदावर्त्त बँटता है।'' उसने अँगुली से दक्षिण दिशा की ओर संकेत किया।

मैंने कहा, ''देवता, मुझे महाराज से मिलना है।''

कर्मचारी हैरत से मुझे देखता ही रहा। फिर ठहाका मारकर हँसा और बोला, ''विप्रदेव, तुम गलत जगह आ गये। यह पागलखाना नहीं है।''

मैंने कहा, ''भगवन्, मेरे कृश शरीर और फटे वस्त्रों पर मत जाओ। मेरे होश-हवास दुरुस्त हैं। मैं विक्षिप्त नहीं हूँ। मुझे वास्तव में महाराज कृष्ण से मिलना है।''

इतने में कई कर्मचारी आकर मुझे घेरकर खड़े हो गये। उनमें से एक कहने लगा, ''बड़ी ऊँची आकांक्षाएँ हैं आपकी विप्रदेव! क्या काम है आपको महाराज से?''

मैंने कहा, ''वे मेरे मित्र हैं, सहपाठी हैं।'' इस पर वे सब एक साथ हँस पड़े।

एक बोला, ''वाह, महाराज को आप ही साथ पढ़ने के लिए मिले!''

दूसरा कहने लगा, ''विप्रदेव, आप भाँग-वाँग छानते हैं क्या?''

तीसरा बोला, ''आप किस देश के नरेश हैं?''

मेरे संकट के मारे शरीर और दरिद्रता से छिन्न वस्त्रों को देख-देखकर वे उपहास करते रहे। मैं ग्लानि से मरा जा रहा था। चाहता था कि पृथ्वी फट जाये और मैं उसमें समा जाऊँ। दीनबन्धु के सेवकों का कैसा व्यवहार था, एक दीन के प्रति।

इसी समय कार्यालय के दूसरे छोर से एक दबंग कर्मचारी चिल्लाया, ''अरे कुछ 'खुरचन' का सिलसिला भी है या यों ही मिलने चला आया है।'' चारों ओर से 'खुरचन-खुरचन' की आवाजें लगने लगीं।

'खुरचन' मेरे लिए नया शब्द था। मैंने कहा, ''भाई, खुरचन मैं नहीं जानता। शब्दकोष में तो यह शब्द नहीं है। किसी काव्य और दर्शन में भी यह नहीं आया। यह सम्भवतः शासन का कोई विशेष शब्द है। मैं जानता हूँ कि अच्छे शासन कुछ शब्दों और आँकड़ों के बल पर चलते हैं।''

उनमें से एक, जो सयाना था, कहने लगा, ''ब्राह्मण देवता, राजदरबार में आये हो, और शासन की नीति नहीं जानते? तुम तो 'खुरचन' तक नहीं समझते।''

मैंने बड़ी नम्रता से कहा, ''बन्धु, मैं तो ग्रामवासी हूँ। शासन हमारे पास केवल कर वसूल करने पहुँचता है। भला राजधानी की रीति-नीति मैं कैसे जान सकता हूँ? हमारे ग्रामों में तो दूध उबाल लेने के बाद जो मलाई कढ़ाई में चिपकी रहती है, उसे खुरच लेते हैं और उसी को 'खुरचन' कहते हैं।''

वह बोला, ''ठीक इसी तरह से शासन की कड़ाही में जो मलाई चिपकी रहती है

उसे हम खुरचते हैं और उसे हम भी 'खुरचन' कहते हैं।"

मैं तब भी नहीं समझा। उन सबको मेरे ऊपर दया-सी आयी।

सयाना बोला, "तुम समझे नहीं विप्रदेव! हमारा मतलब है, यह भी एक मन्दिर है। कुछ भेंट वगैरह तो लाये ही होंगे। महाराज से क्या बिना भेंट के मिलोगे? हमारा भी तो कुछ हिस्सा होगा।"

मैं अड़चन में पड़ गया। मुझे चुप देख एक कर्मचारी कहने लगा, "तुम्हारी काँख में दबी उस पोटली में क्या है ब्राह्मण देवता? स्वर्ण है?"

मैंने चावल की पोटली और कसकर दबा ली।

सयाना कर्मचारी बोला, "क्या है उसमें? खोलो उसे!"

मैं घबराया। यदि चावल इनके सामने खुल गये, तो ये मेरा बड़ा उपहास करेंगे। मैं जड़ हो गया।

तभी वह रक्षक-विभाग का अधिकारी आगे बढ़ा। उसका बलिष्ठ शरीर, कठोर मुख और बिच्छू के डंक जैसी मूँछें देखकर मैं काँप गया। उसने कर्कश स्वर में कहा, "अरे, दो धप्प लगाओ, अभी बता देगा यह ब्राह्मण का बच्चा।"

मैं काँप उठा। मैंने झट पोटली खोल दी। चावल देखकर वे सब हैरत में पड़ गये। एक-दूसरे की ओर देखने लगे। एक बोला, "यह ब्राह्मण पागल है। भला कोई चावल लेकर महाराज से मिलने जायेगा?"

अब तक वह दबंग कर्मचारी आ गया था। उसने कहा, "भई, इसमें कुछ भेद है। ये साधारण नहीं मालूम होते। भला कोई महाराज के लिए साधारण चावल लायेगा ? ये ब्राह्मण लोग बड़े रहस्यमय होते हैं। कई तरह के तन्त्र-मन्त्र करते रहते हैं। ये चावल मन्त्रों से सिद्ध किये मालूम होते हैं, जो महाराज को देने जा रहा है।"

मैंने सोचा कि इस भ्रम की बाँह पकड़कर कृष्ण के पास पहुँच सकता हूँ। मैंने कहा, "ग्यारह रात्रि और दिन निरन्तर मन्त्रोच्चार करके चावल सिद्ध किये हैं।"

"क्या गुण हैं इनमें?"

"मन-वांछित फल-धन प्राप्ति, स्त्री-सुख, स्वास्थ्य, पुत्रलाभ, शत्रु-नाश!"

इतना सुनते ही वे सब चावलों पर टूट पड़े। प्रत्येक की कुछ इच्छा थी। कार्यालय में काम बन्द हो गया। सब कर्मचारी वहीं एकत्र हो गये। जो आता, वह एक चुटकी चावल खा जाता।

जब आधी मुट्ठी चावल बचे, तो मैं उन्हें लपेटते हुए बोला, "अब इतने महाराज के लिए रहने दो।" इसी समय एक बड़ा अधिकारी वहाँ आया और डपटकर बोला, "कहाँ ले चले? मुझे भी खाना है। महाराज को दूसरे चक्कर में ला देना।"

उसने शेष चावल मुँह में डाल लिये।

मैंने खाली अँगोछा झटककर लपेटा और काँख में दबा लिया।

बड़ी-बड़ी मूँछों वाले उस भयावह रक्षक-विभाग के अधिकारी ने एक सेवक को

बुलाया और उसे आदेश दिया, ''इन्हें महाराज के पास पहुँचा दे।''

मैं सेवक के पीछे चला। चार कदम ही बढ़ा था कि वह मूँछों वाला आया और मेरा हाथ पकड़कर बोला, ''देख बे ब्राह्मण के बच्चे, यदि तूने महाराज को यह चावलवाला मामला बताया, तो तेरी ब्राह्मणी विधवा हो जायेगी।''

उसने हाथ छोड़ा, तो मैं जल्दी-जल्दी महल में चला गया।

यह घटना मैंने कृष्ण को सुनायी। वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया।

मैंने कहा, ''तुम राज करते हो या सोते हो? कैसी धाँधली मची है। तुम्हारे राज-कर्मचारी चावल तक छीन खाते हैं।''

कृष्ण ने कहा, ''मुझे वास्तव में यह नहीं मालूम था। मैं आज ही जाँच समिति नियुक्त करता हूँ। पर बाहर यह बात तुम किसी को मत बताना। राज्य की बड़ी बदनामी होगी।''

मैं अकड़ गया। मैंने कहा, ''मैं ब्राह्मण हूँ—सत्यवादी। प्राण चाहे चले जायें, सत्य नहीं त्याग सकता। मैं डंके की चोट पर कहूँगा कि राज्य में ऐसा अंधेर मचा है।''

कृष्ण की हालत बड़ी दयनीय हो गयी। कहने लगा, ''देखो, तुम मेरे मित्र हो। क्या मित्र के लिए थोड़ा झूठ भी नहीं बोलोगे?''

मैंने व्यंग्य से कहा, ''अब तुम्हें मित्रता याद आने लगी। पहले नहीं सोचा कि मेरा एक मित्र सुदामा दरिद्रता में दिन काट रहा है।''

कृष्ण ने कहा, ''मेरी स्थिति को तुम क्या समझो। मैं यही नहीं समझ पाता कि कौन मेरा है और कौन पराया। जब से मुझे यह राजपद मिला है, असंख्य आदमी मेरे आत्मीय बनकर मेरे पास सहायता के लिए आ चुके। अभी तक बीस सहस्र चाचा, पन्द्रह सहस्र काका, पचीस सहस्र भतीजे, दस सहस्र मौसियाँ और आठ सहस्र चाचियाँ आ चुकीं। अब बताओ, मैं किस-किसका काम करूँ? और सच पूछो तो मुझे अभी भी विश्वास नहीं है कि तुम वही सुदामा हो, जो मेरा सहपाठी था, क्योंकि आठवें सुदामा तो कल ही आये थे जिन्हें मैंने बाहर से ही लौटा दिया था। तुम न जाने कैसे भीतर घुस आये। आ गये तो कोई बात नहीं, पर मित्रता इत्यादि की बात मत करो; क्योंकि मैं क्या जानूँ कि तुम कौन हो। मैं तुमसे सौदा कर सकता हूँ। तुम्हारे पास राज्य का एक रहस्य है, जिसे प्रकट करने से शासन कलंकित होगा। बोलो, इस रहस्य को गुप्त रखने का क्या लोगे? यहाँ इसी तरह दे-लेकर मुँह बन्द कर दिया जाता है।''

मैं सोचने लगा। जब मित्रता से सौदे पर बात आ गयी है, तो संकोच त्यागना चाहिए।

मैंने कहा, ''अच्छा, ऐसा ही सही। क्या दोगे?''

''दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ।'' वह बोला।

मैंने बनावटी रोष से कहा, ''क्या तुमने मेरा ईमान सस्ता समझा है?''

''तो एक लाख स्वर्ण-मुद्रा, एक भवन और एक ग्राम ले लो।''

इस कीमत पर मैंने ईमान बेच दिया।

कृष्ण ने मुझे अपने रथ पर वापस पहुँचाया। लौटकर मैंने दो मुट्ठी चावल और दो लोकवाली बात बनाकर फैला दी। लोग इसी पर विश्वास करते जायेंगे।

कभी जब ये पृष्ठ प्रकाश में आयेंगे तब यह सत्य प्रकट होगा कि चावल का एक दाना भी कृष्ण को नहीं मिला। चावल तो कर्मचारियों की 'खुरचन' हो गये। यह भी लोग जानेंगे कि मैंने कृष्ण से दान नहीं लिया, सौदा किया था, कुछ काल के लिए ईमान गिरवी रखा था।

◆

दो नाक वाले लोग

मैं उन्हें समझा रहा था कि लड़की की शादी में टीमटाम में व्यर्थ खर्च मत करो।

पर वे बुजुर्ग कह रहे थे, ''आप ठीक कहते हैं, मगर रिश्तेदारों में नाक कट जायेगी।''

नाक उनकी काफी लम्बी थी। मेरा खयाल है, नाक की हिफाजत सबसे ज्यादा इसी देश में होती है। और या तो नाक बहुत नर्म होती है या छुरा तेज, जिससे छोटी-सी बात से भी नाक कट जाती है। छोटे आदमी की नाक बहुत नाजुक होती है। यह छोटा आदमी नाक को छिपाकर क्यों नहीं रखता?

कुछ बड़े आदमी, जिनकी हैसियत है, इस्पात की नाक लगवा लेते हैं और चमड़े का रंग चढ़वा लेते हैं। कालाबाजार में जेल हो आये हैं, औरत खुलेआम दूसरे के साथ 'बाक्स' में सिनेमा देखती है, लड़की का सार्वजनिक गर्भपात हो चुका है। लोग उस्तरा लिये नाक काटने को घूम रहे हैं। मगर काटें कैसे? नाक तो स्टील की है। चेहरे पर पहले जैसी ही फिट है और शोभा बढ़ा रही है।

स्मगलिंग में पकड़े गये हैं। हथकड़ी पड़ी है। बाजार में से ले जाये जा रहे हैं। लोग नाक काटने को उत्सुक हैं। पर वे नाक को तिजोड़ी में रखकर स्मगलिंग करने गये थे। पुलिस को खिला-पिलाकर बरी होकर लौटेंगे और नाक फिर पहन लेंगे।

जो बहुत होशियार हैं, वे नाक को तलवे में रखते हैं। तुम सारे शरीर में ढूँढ़ो, नाक ही नहीं मिलती। नातिन की उम्र की दो लड़कियों से बलात्कार कर चुके हैं। जालसाजी और बैंक को धोखा देने में पकड़े जा चुके हैं। लोग नाक काटने को उतावले हैं, पर नाक मिलती ही नहीं। वह तो तलवे में है। कोई जीवशास्त्री अगर नाक की तलाश भी कर दे तो तलवे की नाक काटने से क्या होता है? नाक तो चेहरे पर की कटे, तो कुछ मतलब होता है।

और जो नाक रखते ही नहीं हैं, उन्हें तो कोई डर ही नहीं है। दो छेद हैं, जिनसे साँस ले लेते हैं।

कुछ नाकें गुलाब के पौधे की तरह होती हैं। कलम कर दो तो और अच्छी शाखा बढ़ती है और फूल भी बढ़िया लगते हैं। मैंने ऐसी फूलवाली खुशबूदार नाकें बहुत देखी हैं।

जब खुशबू कम होने लगती है, ये फिर कलम करा लेते हैं, जैसे किसी औरत को छेड़ दिया और जूते खा गये।

'जूते खा गये'—अजब मुहावरा है। जूते तो मारे जाते हैं। वे खाये कैसे जाते हैं ? मगर भारतवासी इतना भुखमरा है कि जूते भी खा जाता है।

नाक और तरह से भी बढ़ती है। एक दिन एक सज्जन आये। वे बड़े दुखी थे। कहने लगे, ''हमारी तो नाक कट गयी। लड़की ने भागकर एक विजातीय लड़के से शादी कर ली। हम ब्राह्मण और लड़का कलाल! नाक कट गयी।''

मैंने उन्हें समझाया कि कटी नहीं है, कलम हुई है। तीन-चार महीनों में और लम्बी बढ़ जायेगी।

तीन-चार महीने बाद वे मिले तो खुश थे। नाक भी पहले से लम्बी हो गयी थी। मैंने कहा, ''नाक तो पहले से लम्बी मालूम होती है।''

वे बोले, ''हाँ, कुछ बढ़ गयी है। काफी लोग कहते हैं—आपने बड़ा क्रान्तिकारी काम किया। कुछ बिरादरीवाले भी कहते हैं। इसीलिए नाक बढ़ गयी है।''

कुछ लोग मैंने देखे हैं, जो कई साल अपने शहर की नाक रहे हैं। उनकी नाक अगर कट जाय, तो सारे शहर की नाक कट जाती है। अगर उन्हें संसद का टिकट न मिले, तो सारा शहर नकटा हो जाता है। पर अभी मैं एक शहर गया तो लोगों से पूछा, ''फलाँ साहब के क्या हाल हैं? वे इस शहर की नाक हैं।'' तभी एक मसखरे ने कहा, ''हाँ साहब, वे अभी भी शहर की नाक हैं, मगर 'छिनकी हुई'।'' (यह बीभत्स रस है। रस-सिद्धान्त प्रेमियों को अच्छा लगेगा।)

मगर बात मैं उन सज्जन की कर रहा था, जो मेरे सामने बैठे थे और लड़की की शादी पुराने ठाठ से ही करना चाहते थे। पहले वे रईस थे—याने मध्यम हैसियत के रईस। अब गरीब थे। बिगड़ा रईस और बिगड़ा घोड़ा एक तरह के होते हैं—दोनों बौखला जाते हैं। किससे उधार लेकर खा जायें, ठिकाना नहीं। उधर बिगड़ा घोड़ा किसे कुचल दे, ठिकाना नहीं। आदमी को बिगड़े रईस और बिगड़े घोड़े, दोनों से दूर रहना चाहिए। मैं भरसक कोशिश करता हूँ। मैं तो मस्ती से डोलते आते साँड को देखकर भी सड़क के किनारे की इमारत के बरामदे में चढ़ जाता हूँ, 'बड़े भाई साहब आ रहे हैं। इनका आदर करना चाहिए!'

तो जो भूतपूर्व सम्पन्न बुजुर्ग मेरे सामने बैठे थे, वे प्रगतिशील थे। लड़की का अन्तरजातीय विवाह कर रहे थे। वे खत्री और लड़का शुद्ध कान्यकुब्ज। वे खुशी से शादी कर रहे थे। पर उनमें विरोधाभास यह था कि शादी ठाठ से करना चाहते थे। बहुत लोग एक परम्परा से छुटकारा पा लेते हैं, पर दूसरी से बँधे रहते हैं। रात को शराब की पार्टी से किसी ईसाई दोस्त के घर से आ रहे हैं, मगर रास्ते में हनुमान का मन्दिर दिख जाय, तो थोड़ा तिलक भी सिन्दूर का लगा लेंगे। मेरा एक घोर नास्तिक मित्र था। हम घूमने निकलते तो रास्ते में राम-मंदिर देखकर वे कह उठते—'हरे राम !' बाद में पछताते भी थे।

तो मैं उन बुजुर्ग को समझा रहा था, ''आपके पास रुपये हैं नहीं। आप कर्ज लेकर

शादी का ठाठ बनायेंगे। पर कर्ज चुकायेंगे कहाँ से? जब आपने इतना नया कदम उठाया है कि अन्तरजातीय विवाह कर रहे हैं, तो विवाह भी नये ढंग से कीजिए। लड़का कान्यकुब्ज का है। बिरादरी में शादी करता तो कई हजार उसे मिलते। लड़के शादी के बाजार में मवेशी की तरह बिकते हैं। अच्छा मालवी बैल और हरयाणा की भैंस ऊँची कीमत पर बिकती है। लड़का इतना त्याग तो लड़की के प्रेम के लिए कर चुका। फिर भी वह कहता है—अदालत जाकर शादी कर लेते हैं। बाद में एक पार्टी कर देंगे। आप आर्य समाजी हैं। घण्टे-भर में रास्ते में आर्य समाज मन्दिर में वैदिक रीति से शादी कर डालिए। फिर तीन-चार सौ रुपयों की एक पार्टी दे डालिए। लड़के को एक पैसा भी नहीं चाहिए। लड़की के कपड़े-वगैरह मिलाकर शादी हजार में हो जायेगी।''

वे कहने लगे, ''बात आप ठीक कहते हैं। मगर रिश्तेदारों को तो बुलाना ही पड़ेगा। फिर जब वे आयेंगे तो इज्जत के खयाल से सजावट, खाना, भेंट वगैरह देनी होगी।''

मैंने कहा, ''आपका यहाँ तो कोई रिश्तेदार है नहीं। वे हैं कहाँ?''

उन्होंने जवाब दिया, ''वे पंजाब में हैं। पटियाला में ही तीन करीबी रिश्तेदार हैं। कुछ दिल्ली में हैं। आगरा में हैं।''

मैंने कहा, ''जब पटियालावाले के पास आपका निमन्त्रण पत्र पहुँचेगा, तो पहले तो वह आपको दस गालियाँ देगा—मई का यह मौसम, इतनी गर्मी। लोग तड़ातड़ लू से मर रहे हैं। ऐसे में इतना खर्च लगाकर जबलपुर जाओ। कोई बीमार हो जाय तो और मुसीबत। पटियाला या दिल्लीवाला आपका निमन्त्रण पाकर खुश नहीं, दुखी होगा। निमन्त्रण-पत्र न मिला तो वह खुश होगा और बाद में बात बनायेगा। कहेगा—'आजकल जी, डाक की इतनी गड़बड़ी हो गयी है कि निमन्त्रण पत्र ही नहीं मिला। वरना ऐसा हो सकता था कि हम न आते'!''

मैंने फिर कहा, ''मैं आपसे कहता हूँ कि दूर के रिश्तेदार का निमन्त्रण-पत्र मुझे मिलता है, तो मैं घबरा उठता हूँ।''

सोचता हूँ—जो ब्राह्मण ग्यारह रुपये में शनि को उतार दे, पच्चीस रुपयों में सगोत्र विवाह करा दे, मंगली लड़की का मंगल पन्द्रह रुपयों में उठाकर शुक्र के दायरे में फेंक दे, वह लग्न सितम्बर से लेकर मार्च तक सीमित क्यों नहीं कर देता? मई और जून की भयंकर गर्मी की लग्नें गोल क्यों नहीं कर देता? वह कर सकता है। और फिर ईसाई और मुसलमानों में जब बिना लग्न शादी होती है, तो क्या वर-वधू मर जाते हैं? आठ प्रकार के विवाहों में जो 'गान्धर्व विवाह' है, वह क्या है? वह यही शादी है जो आज होने लगी है, कि लड़का-लड़की भागकर कहीं शादी कर लेते हैं। इधर लड़की का बाप गुस्से में पुलिस में रिपोर्ट करता है कि अमुक लड़का हमारी 'नाबालिग' लड़की को भगा ले गया है। मगर कुछ नहीं होता; क्योंकि लड़की मैट्रिक का सर्टिफिकेट साथ ले जाती है जिसमें जन्म-तारीख होती है।

वे कहने लगे, ''नहीं जी, रिश्तेदारों में नाक कट जायेगी।''

मैंने कहा, "पटियाला से इतना किराया लगाकर नाक काटने इधर कोई नहीं आयेगा। फिर पटियाला में कटी नाक को इधर कौन देखेगा? काट लें पटियाला में।"

वे थोड़ी देर गुमसुम बैठे रहे।

मैंने कहा, "देखिए जी, आप चाहें तो मैं पुरोहित हो जाता हूँ और घण्टे-भर में शादी करा देता हूँ।"

वे चौंके। कहने लगे, "आपको शादी कराने की विधि आती है?"

मैंने कहा, "हाँ, ब्राह्मण का बेटा हूँ। बुजुर्गों ने सोचा होगा कि लड़का नालायक निकल जाय और किसी काम-धन्धे के लायक न रहे, तो इसे कम-से-कम सत्य नारायण की कथा और विवाह-विधि सिखा दो। ये मैं बचपन में ही सीख गया था।"

मैंने आगे कहा, "और बात यह है कि आजकल कौन संस्कृत समझता है? और पण्डित क्या कह रहा है, इसे भी कौन सुनता है? वे तो 'अम' और 'अह' इतना ही जानते हैं। मैं इस तरह मंगल-श्लोक पढ़ दूँ तो भी कोई ध्यान नहीं देगा—ओम् जेक एण्ड विल वेंट अप दी हिल टु फेच् ए पेल आफ वाटरम्, ओम् जेक फैल डाउन एण्ड ब्रोक हिज क्राउन एण्ड जिल केम ट्रम्बलिंग आफ्टरम् कुर्यात् सदा मंगलम्...इसे लोग वैदिकमन्त्र समझेंगे।"

वे हँसने लगे।

मैंने कहा, "लड़का उत्तर प्रदेश का कान्यकुब्ज और आप पंजाब के खत्री—एक-दूसरे के रिश्तेदारों को कोई नहीं जानता। आप एक सलाह मेरी मानिए। इससे कम में भी निपट जायेगा और नाक भी कटने से बच जायेगी। लड़के के पिता की मृत्यु हो चुकी है। आप घण्टे भर में शादी करवा दीजिए। फिर रिश्तेदारों को चिट्ठियाँ लिखिए—'इधर लड़के के पिता को दिल का तेज दौरा पड़ा। डाक्टरों ने उम्मीद छोड़ दी थी। दो-तीन घण्टे वे किसी तरह जी सकते थे। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मृत्यु के पहले लड़के की शादी हो जाय तो मेरी आत्मा को शान्ति मिल जायेगी। लिहाजा उनकी भावना को देखते हुए हमने फौरन शादी कर दी। लड़का-लड़की वर-वधू के रूप में उनके सामने आये। उनके चरणों पर सिर रखे। उन्होंने इतना ही कहा—सुखी रहो। और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। आप माफ करेंगे कि इसी मजबूरी के कारण हम आपको शादी में नहीं बुला सके।' कौन जानता है आपके रिश्तेदारों में कि लड़के के पिता की मृत्यु कब हुई?"

उन्होंने सोचा। फिर बोले, "तरकीब ठीक है जी! पर इस तरह की धोखाधड़ी मुझे पसन्द नहीं।"

खैर, मैं उन्हें काम का आदमी लगा नहीं।

दूसरे दिन मुझे बाहर जाना पड़ा। दो-तीन महीने बाद लौटा तो लोगों ने बताया कि उन्होंने सामान और नकद लेकर शादी कर डाली।

तीन-चार दिन बाद से ही साहूकार सवेरे से तकादा करने आने लगे।

रोज उनकी नाक थोड़ी-थोड़ी कटने लगी।

मैंने पूछा, "अब क्या हाल है?"

लोग बोले, ''अब साहूकार आते हैं, तो यह देखकर निराश लौट जाते हैं कि काटने को नाक ही नहीं बची।''

मैंने मजाक में कहा, ''साहूकारों से कह दो कि इनकी दूसरी नाक पटियाला में पूरी रखी है। वहाँ जाकर काट लो।''

वे बहादुरी से बिके

आ—ओ।

उन्होंने कहा। आ और ओ के बीच में 30 सेकण्ड का अन्तर।

बै—ठो।

बै और ठो में 30 सेकण्ड का अन्तर। मैं बैठ गया।

उन्होंने अँगड़ाई ली और जमुहाई ली। बहुत कलात्मक—जैसे नाचते-नाचते बिरजू महाराज को जमुहाई आ जाये तो वे उसे भी अपनी नृत्य-मुद्रा में शामिल कर लें।

हूँ— उन्होंने उच्चरित किया और बड़ी देर तक इसकी अनुगूँज सुनते रहे। बहुत बड़े लेखक हैं। बहुत पैसेवाले हैं। बहुत प्रतिष्ठावाले हैं। किसी दिलचस्प बात पर या किसी पर खुश होकर ओठों के बायें कोने पर 1/15 सेण्टीमीटर की मुस्कान लाकर कृतार्थ कर देते हैं। पूरे व्यक्तित्व में सामन्ती रोब है।

ड्राइंग-रूम मैंने एक से एक अच्छे देखे हैं मगर इस ड्राइंग-रूम में मैं आतंकित हो जाता हूँ। मुझे लगता है, कार्पेट पर कीलें लगी हैं जो मेरे जूतों को छेदकर पैरों में चुभती हैं। सोफा मेरी पीठ पर लद गया है। दीवान मेरे सिर पर बैठा है। पर्दा मेरी गर्दन में फाँसी लगाता है। उनका हर रोम जैसे एक तीर है जो 'मैं-मैं' की ध्वनि निकालता हुआ मेरी तरफ लपकता है और मेरे शरीर में घुस जाता है। मुझे लगता है चारों दीवारें मेरी तरफ बढ़ रही हैं और मुझे दबोच लेंगी।

कहने लगे, ''तुम्हारी स्टेट में यह क्या गड़बड़ मची है?''

मैंने कहा, ''हाँ, दो जगह वहाँ साम्प्रदायिक दंगे हो गये। पहले अकाल का डर था अवर्षा से। फिर खूब पानी बरसा तो अब बाढ़ का संकट आ गया। अकाल की आशंका से लाखों छोटे किसान और खेत-मजदूर दूर-दूर प्रदेशों में रोटी कमाने चले गये थे। वर्षा होने पर उनमें से आधे ही समय पर लौट पाये। बाकी आधों के खेत बिना बोये पड़े हैं।''

वे बोले, ''मैं यह सब नहीं पूछ रहा हूँ। मैं पूछता हूँ, सरकार जो थोक पुस्तकें खरीदती है, उसमें यह क्या धाँधली मची हुई है।''

मैंने कहा, ''हाँ, इस मामले में कुछ विवाद है।''

उन्होंने कहा, ''तुम्हारी पुस्तकें खरीदी गयी हैं?''

मैंने जवाब दिया, ''मेरी दो पुस्तकों की हजार-हजार प्रतियाँ खरीदी गयी हैं।'' उनके मुख पर धिक्कार का भाव आया। मुझे उस धिक्कार भाव से ही मर जाना चाहिए था। वे बोले, ''तुम लोग बड़ी जल्दी और आसानी से बिक जाते हो।''

मैंने पूछा, ''देर से और मुश्किल से बिकने के क्या फायदे हैं? किताबें बिकी हैं। मैं तो आपके सामने बैठा हूँ, किसी सरकारी लाइब्रेरी की अलमारी में नहीं हूँ।''

उन्होंने कहा, ''तुम लोग लेखक के सम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकते।''

मैंने निवेदन किया, ''हम छोटे लोग हैं, गरीब लोग हैं। मगर ग्राहक को माल नहीं बेचने से सम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा कैसे हो जाती है? मैं अगर प्रकाशक के सामने शर्त रखूँ कि मेरी पुस्तक वह सरकार को न बेचे, तो वह कहेगा—इस पाण्डुलिपि का अचार डाल लेना। मसाले के पैसे मुझसे लेते जाओ। फिर 150 पृष्ठों की पुस्तक की कीमत आजकल पच्चीस रुपये होती है। उसे कौन पाठक खरीदेगा। साधारण आदमी पुस्तकें इन्हीं सरकारी लाइब्रेरियों से पढ़ते हैं। अपनी पुस्तक पाठक तक न पहुँचने देना कौन-सी लेखकीय नैतिकता है।''

उन्होंने कहा, ''तुम नहीं समझते। सरकार इस बहाने लेखक को खरीदती है। मैं नहीं बेचता अपनी किताबें तुम्हारी सरकार को। आई डोण्ट सेल मीसेल्फ। तुम्हारा यह सेक्रेटरी गड़बड़ आदमी है।''

मैंने कहा, 'सेक्रेटरी बदल जाये, तो क्या किताबें बेच देंगे?''

उन्होंने डाँटा, ''नो हाइपोथेटिकल क्वश्चन। आई हैव सेल्फ रिसपेक्ट! मैं सरकार का मोहताज नहीं हूँ।''

उन्होंने लय में अँगड़ाई ली। फिर उन्होंने आँखें बन्द कीं और चिन्तन मुद्रा में हो गये। मैं समझ गया कि आँखें खुलते ही ये दार्शनिक या अन्तर्राष्ट्रीय हो जायेंगे।

आँखें खुलीं। बोले, ''यह चिरन्तन प्रश्न है—राजसत्ता और लेखक के सम्बन्ध का। दुनिया-भर में यह समस्या है। पिछले साल जब मैं पैरिस में था, तब मेरे मित्र ज्यां पाल सार्त्र से मेरी इसी बात पर चर्चा हुई। मैंने पूछा—सार्त्र, फ्रेंच सरकार तो लोकतान्त्रिक है। फिर तुम्हारा झगड़ा उससे क्यों चलता रहता है?''

मैंने कहा, ''सार्त्र को मरे तो 4 साल हो गये। पिछले साल वे आपको कहाँ मिले होंगे।''

उन्होंने कहा, ''आई एम सॉरी। वह सार्त्र नहीं आन्द्रे मोलराँ था।''

मैंने कहा, ''आन्द्रे मोलराँ को मरे भी 6 साल हो गये।''

वे बेहिचक बोले, ''मेरी 'मेमारी' को क्या हो गया। नाऊ आई एम डेफिनिट। पाब्लो नेरूदा से मेरी बात पिछले साल हुई थी।''

मैंने नहीं कहा कि नेरूदा तो 1974 में मर गये थे। कहता तो वे कहते—पिछले साल लन्दन में मैं शैक्सपियर से मिला था।

अब यहाँ 'स्टेटुटरी वार्निंग' देना जरूरी हो गया है जैसा सिगरेट के पैकेट पर छपा रहता है– इसे किसी लेखक विशेष के बारे में कहानी मानना गलत और खतरनाक होगा। साहित्य के क्षेत्र के लोग अन्दाज न लगायें कि यह अमुक या तमुक के बारे में है। यह इन दिनों चल रहे विवाद की प्रवृत्ति की कहानी है।

उन्होंने कहा, ''मैं तो किसी सरकार की परवाह नहीं करता। मगर तुम्हारा यह सेक्रेटरी मुझसे क्यों नाराज है?''

मैंने कहा, ''आपने कैसे जाना कि वह आपसे नाराज है?''

उन्होंने कहा, ''वह मेरी पुस्तकें नहीं खरीदता।''

मैंने कहा, ''मगर आप पुस्तकें बेचना ही नहीं चाहते। आप पुस्तकों का बिकना लेखक का बिकना मानते हैं।''

उन्होंने पूछा, ''तुम क्या अपने को स्वतन्त्र मानते हो?''

मैंने कहा, ''बिल्कुल स्वतन्त्र हूँ। सरकार की चापलूसी तो करता नहीं हूँ। डटकर सरकार की आलोचना करता हूँ। आप देखते नहीं, मैं कितना लिखता हूँ सरकार के खिलाफ।''

उन्होंने कहा, ''तुम्हारा चल जाता है। मैं एक शब्द भी बोलूँ तो उसका असर होता है।''

मैंने कहा, ''सो तो है ही। आप कुछ बोलें और तूफान खड़ा हो जाये तो उसे सभाँलेगा कौन? जवाहरलाल नेहरू तो रहे नहीं कि सँभाल लें।''

उन्हें सन्तोष हुआ।

कहने लगे, ''मैं...तो परवाह नहीं करता। मगर यह तुम्हारा सेक्रेटरी है, कुछ गड़बड़ आदमी है। मुझसे न जाने क्यों नाराज है।''

मैंने कहा, ''नाराज होकर आपका क्या बिगाड़ लेगा? रहे नाराज। आप भी उससे नाराज रहिए।''

उन्होंने कहा, ''सो तो ठीक है। मगर एक बिहार का सेक्रेटरी भी तो है। उसने मेरी चार किताबों की तीन-तीन हजार प्रतियाँ खरीदीं।''

मैंने कहा, ''जी हाँ, मुझे मालूम है। मैंने सुना है कि आपने उसे कुछ 'गिफ्ट' भी दिया था।''

वे थोड़ा सकपकाये, ''व्हाट नानसेंस! गिफ्ट और किताबों की खरीद का क्या सम्बन्ध ! मेरे उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध हैं। मित्रता है। हम लोग आपस में 'गिफ्ट' देते रहते हैं।''

मैंने कहा, ''यह बहुत अच्छी बात है। मगर सेक्रेटरियों से 'गिफ्ट' वाली मित्रता का सीजन कब होता है। यह एक मार्च से इकतीस मार्च तक होता है, जब सरकार थोक खरीद करती है।''

उन्होंने कहा, ''छोड़ो इस बात को। लीव इट एट दैट!''

मैंने कहा, ''एक बात मुझे समझाइए। किसी स्टेट सरकार को किताबें बेचना तो लेखक का बिकना हो गया, मगर दूसरी स्टेट सरकार को किताबें बेचना लेखक का बिकना नहीं हुआ? दोनों एक ही पार्टी की सरकारें हैं।''

चाय-नाश्ता आ गया। कटलेट और पॉट में चाय।

नाश्ता करते-करते वे बोले, ''मैं तो कभी-कभी नाश्ते में भुने हुए चने और लाई ले लेता हूँ। मैं इस मामले में बहुत फक्कड़ हूँ। एक बार मैं और डॉक्टर लोहिया बैठे-बैठे चने खाते रहे।''

मैंने कहा, ''आपकी बात निराली है। आपको शोभा देता है। हमें कोई चना खाते देख ले तो कहेगा—यह भुक्खड़ लेखक चने खाकर दिन काट रहा है। डॉक्टर लोहिया से आपकी अच्छी दोस्ती थी न!''

उन्होंने कहा, ''हाँ, वह हमारा दोस्त था। पर मैं उसकी पार्टी में नहीं रहा। मैंने 1951 में समाजवादी पार्टी छोड़ दी थी।''

मैंने कहा, ''इसके बाद पार्टी सँभली ही नहीं। टुकड़े होते गये। आप होते तो पार्टी को सँभालते।''

उन्होंने कहा, ''हम जहाँ होते हैं अपनी शर्त पर होते हैं।''

मैंने कहा, ''आप पार्टी के मोहताज नहीं हैं, पार्टी आपकी मोहताज है।''

वे खुश हुए। मैंने उन्हें खुश रहने दिया। उन्होंने फिर जम्हाई ली।

मैं उठने लगा। वे मुझे बिठाना चाहते थे, मैं दुविधा में था। उनके पास बैठने में दिक्कत यह है कि उनकी ही बातें सुननी पड़ती हैं। खुद कुछ बोलो तो वह भी उन्हीं के बारे में होना चाहिए।

मैंने उन्हीं के बारे में आखिरी बात उठायी, ''मैं अभी राजधानी से आ रहा हूँ। मुझे सेक्रेटरी ने बताया कि इस बार आपकी तीन पुस्तकें खरीदी जा रही हैं।''

वे उठकर खड़े हो गये। बोले, ''पक्का है? किसने बताया तुम्हें?'' मैंने कहा, ''खुद सेक्रेटरी ने। हजार-हजार प्रतियाँ खरीदी जायेंगी। अगले महीने आर्डर आ जायेगा।''

वे उठ खड़े हुए। चेहरा खिल उठा। बोले, ''हजार-हजार क्यों? तीन-तीन हजार खरीदना चाहिए। सेक्रेटरी से कहना।''

मैंने कहा, ''सेक्रेटरी बहुत गड़बड़ आदमी है। सब सेक्रेटरी एक-से होते हैं। एक ही शासकीय मशीन के पुर्जे हैं। इनका अहसान क्यों लेना।''

वे बोले, ''तुम जल्दबाजी में राय बनाते हो। यह सेक्रेटरी जरा अलग किस्म का है। भला है। इसके पिता से मेरे अच्छे सम्बन्ध रहे हैं।''

मैंने कहा, ''मैं तो आपसे यह कहने आया था कि आप किताबें मत बेचिए। आर्डर आये तो मना कर दीजिए। आप हमारी नाक हैं। हमारे गौरव हैं। हम तो मजबूरी में बिकते हैं। आपको कोई मजबूरी नहीं है। आप हम लेखकों की लाज रख लीजिए।''

वे उत्तेजित हो गये, ''कैसी बात करते हो! हम किताबें क्यों नहीं बेचेंगे? हम क्या

डरते हैं? तुम उस सेक्रेटरी के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त हो।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा, "मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप किताबें सरकार को मत बेचिए। आप मत बिकिए। आप हमारी शान हैं।"

उन्होंने कहा, "हम बेचेंगे, बेचेंगे, बेचेंगे। हम डरते नहीं हैं। आखिर इस गरीब देश की जनता तक पुस्तकें पहुँचाना भी तो हमारा कर्तव्य है।"

मैंने कहा, "तो मैं चलूँ।"

उन्होंने कहा, "हाँ, ठीक है। फिर आना मगर भूलना मत। सेक्रेटरी पर दबाव डालना कि तीन-तीन हजार किताबें खरीदे। तीन नहीं तो कम-से-कम दो हजार तो खरीदना ही चाहिए। उसके फादर से मेरे अच्छे सम्बन्ध थे।"

शेष शुभ। मैं लौटा तो लग रहा था जैसे क्रान्तिकारिता की समाधि पर फूलों के बदले फटे-पुराने जूते चढ़ाकर जा रहा हूँ।

नम्बर दो की आत्मा

कम्बख्त टैक्सी बेचकर साधु और योगी हो गया है। एक ही तो यह टैक्सीवाला था जिसका मीटर ठीक रहता था। वह अच्छी बातें भी करता था। कहता—सा'ब, मीटर भी आदमी को पहचान लेता है। टैक्सी के मीटर अक्सर आदमी को देखकर ठीक होते और बिगड़ते रहते हैं। इसका मीटर मेरा आत्मीय हो गया था। मुझे देख लेता तो होश में रहता था। मैं अक्सर उसी की टैक्सी लेता था।

एक दिन मैंने उससे कहा, "चलो भई, ज़रा यूनिवर्सिटी पहुँचा दो।"

टैक्सीवाले ने कहा, "साहब, माफ करना। पन्द्रह दिन खिदमत नहीं कर पाऊँगा। जयपुर से एक पार्टी आ गयी है, जिसकी खिदमत में लगा हूँ।"

मैंने पूछा, "कैसी पार्टी है यह, और क्यों आई है?"

उसने कहा, "बड़े सेठ हैं। इधर एक कोई साधु आये हैं जो दो-तीन घण्टों में आदमी को अपने से भुलाकर दूसरी दुनिया में ले जाते हैं। उनका यहाँ पर 'आत्मशान्ति आश्रम' चल रहा है। बड़े-बड़े लोग आये हैं आत्मा की शान्ति के लिए।"

मैंने उससे पूछा, "क्या तुम्हें आत्मा की शान्ति नहीं चाहिए?"

उसने कहा, "साहब, किसे नहीं चाहिए। पर अपना तो यह है कि दिन-भर मेहनत की, शाम को बीवी-बच्चों के साथ खाना खाया और सो गये। सवेरे से फिर आप लोगों की खिदमत में।"

मैंने पूछा, "फिर यह जो तुम्हारी पार्टी है, वह ऐसा क्यों नहीं कर सकती?"

उसने कहा, "पता नहीं साहब क्या बात है? बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली फोन

करता रहता है। सौदा करता है और दो-तीन घण्टे के लिए आत्मा की शान्ति के लिए और अपने को भूलने के लिए साधु-आश्रम में जाता है। लौटकर फिर हिसाब और फोन करने लगता है।''

मैंने कहा, ''शायद उसकी आत्मा अपने से अलग किस्म की हो।''

उसने कहा, ''हाँ सा'ब, हो सकता है। आत्मा का भी इस जमाने में क्या ठिकाना है, सा'ब सुना है, नम्बर दो की आत्मा भी होने लगी है।''

मैंने दूसरी टैक्सी ले ली।

तीन-चार दिन बाद वह फिर मिला।

मैंने पूछा, ''कैसा चल रहा है धन्धा?''

उसने कहा, ''सा'ब, चाँदी कट रही है। मैं तो चाहता हूँ कि इस देश में सब लोग नम्बर दो की आत्मा के हो जायें तो हम लोगों का बड़ा फायदा हो।''

मैंने पूछा, ''सेठ को कोई और शौक है? दारू का या औरत का?''

उसने कहा, ''नहीं सा'ब, भला आदमी है। न दारू, न औरत। रोज सवेरे पूजा करता है और किसी दन्द-फन्द में नहीं है। बड़ा धार्मिक आदमी है। पर आत्मा की शान्ति के लिए और अपने को भूलने के लिए रोज सैकड़ों रुपये खर्च करता है। बड़ा भला आदमी है। गुरु उसे दो-तीन घण्टे में दूसरा आदमी बना देते हैं।''

दो दिन बाद टैक्सीवाला मुझे फिर मिला।

मैंने पूछा, ''आश्रम में क्या होता है? आत्मा को शान्ति कैसे मिलती है? आदमी अपने को कैसे भूलता है?''

उसने कहा, ''मैंने खिड़की से झाँककर देखा है। वह साधु घण्टे-भर तो भक्तों को आँखें बन्द करके बैठने को कहता है। फिर कहता है—तुम तुम नहीं हो। तुम कोई और हो। तुम्हारा कोई नाम नहीं, तुम राधेश्याम नहीं हो। बोलो राधेश्याम, तुम क्या राधेश्याम हो? मेरा सेठ कहता है—मैं राधेश्याम नहीं हूँ। मैं कोई नहीं हूँ। इसके बाद साहब, न जाने क्या जादू वह गुरु करता है कि लोग नाचने लगते हैं। बकने लगते हैं और यहाँ-वहाँ लुढ़क जाते हैं। तब मैं टैक्सी में सेठ को लेकर होटल आता हूँ।''

''मैं पूछता हूँ—'सेठजी, आपका नाम क्या है?' तो वे कहते हैं—'मेरा नाम राधेश्याम है।' सा'ब, दो-तीन घण्टे भूलने के लिए ये लोग इतना रुपया खर्च करते हैं और तपस्या करते हैं। यह भी बड़े आदमी का एक शौक ही है। हम गरीब लोग भी और तरीके से अपने को दो-तीन घण्टे भूल जाते हैं। आप जानते हैं पर अपना काम सस्ते का है।''

मैंने उससे पूछा, ''तुम क्या आत्मा को जानते हो? वह कैसी होती है? तिकोन होती है या चौकोन होती है?''

उसने कहा, ''सा'ब, हम यह सब कुछ नहीं जानते। ये बड़े आदमियों के चोचले हैं। हम तो दिन-भर मेहनत करते हैं। रात को रोटी खाते हैं, सो जाते हैं और सवेरे से फिर आप लोगों की खिदमत में हाजिर हो जाते हैं। आत्मा ठीक रहती है।''

मैंने पूछा, ''जब यह तुम्हारा सेठ गुरु के आश्रम में कहता है कि मैं राधेश्याम नहीं हूँ तो फिर राधेश्याम के नाम से बम्बई और कलकत्ता सौदे के लिए ट्रंक क्यों करता है?''

उसने कहा, ''पता नहीं साहब कि यह मामला क्या है। हम तो खास पढ़े आदमी भी नहीं हैं। हम क्या समझें कि दो घण्टे पहले कोई आदमी, आदमी न होकर, ईश्वर हो जाता है। और बाद में बम्बई और कलकत्ता से सौदे के लिए फोन करता है?''

मैंने कहा, ''क्या तुम्हें यह नहीं लगता कि आत्मा और माया के बीच में सौदा हो गया है? याने स्वार्थ और परमार्थ ने हाथ मिला लिये हैं—या ईश्वर बिजनेसमैन हो गया है।''

उसने कहा, ''सा'ब, हम ये बातें क्या जानें? हम तो न पढ़े-लिखे, न ज्ञानी। हम तो टैक्सी चलाते हैं, मेहनत करते हैं और बाल-बच्चों को पालते हैं। आत्मा तो बड़े लोगों का शौक है।''

मैंने पूछा, ''तुम्हारी तरह वह सेठ भी मेहनत करके बच्चे पालता है या वह योगी साधु भी रोटी के लिए कोई काम करता है?''

उसने कहा, ''सा'ब, हम तो गरीब आदमी हैं। हम इन बातों को क्या जानें। इतना जानते हैं कि साधु कुछ काम नहीं करता और रईस की तरह रहता है और हमारी यह पार्टी—यह सेठ भी दो-तीन घण्टे साधु रहने के बाद बम्बई और कलकत्ता सौदे के लिए फोन करता है। बस इतना काम ये लोग करते हैं।''

मुझे यह मामला बड़ा दिलचस्प लगा। कोई करोड़पति दो-तीन घण्टे अपने को, जगत् को और माया को भूलने के लिए इतनी दूर आये और इतने रुपये खर्च करे ! मुझे ऐसे लोगों पर दया भी आती है। मैं जानता हूँ, अध्यात्म भी धन्धा है। अमोह भी धन्धा है। निर्लोभ भी धन्धा है। अपरिग्रह भी धन्धा है।

अहिंसा तक धन्धा हो गया है।

एक दिन टैक्सीवाले से मैंने पूछा, ''क्या दो-तीन घण्टे अपने को भुलाकर जैसा इनसे वह साधु करवाता है, वैसा क्या तुम नहीं करा सकते? यह बेचारा सेठ दो-तीन घण्टे कसरत करता है, तब कहता है कि मैं राधेश्याम नहीं हूँ। मेरा कोई नाम नहीं है। मैं तो शुद्ध आत्मा हूँ। तुम क्या इससे आसान तरीके से यह नहीं करा सकते?''

टैक्सीवाला बेवकूफ नहीं है। बहुत समझदार है। वह मामला समझ गया। उसने कहा, ''साहब, मैं 'टिराई', करता हूँ। परसों आपको बताऊँगा। ऐसा हो सकता है—और बिना गुरु के हो सकता है।''

तीसरे दिन वह मुझे मिला। कहने लगा, ''आपने ठीक सलाह दी थी। मैंने सेठ से कहा—सेठजी, आप दो-तीन घंटे सेठ नहीं रहने के लिए सैकड़ों रुपया खर्च करते हैं। फिर आप सेठ हो जाते हैं। इतना पैसा आप इतने छोटे काम के लिए क्यों खर्च करते हैं? हमारे ऋषि-मुनियों ने इस बात पर बहुत सोचा है और उन्होंने एक तत्त्व तैयार किया है जिसे 'आत्म विस्मृति रसायन' कहते हैं। यह आध्यात्मिक तत्त्व है। इसे आप आज लीजिए। बड़ी

मुश्किल से किसी योगी के पास वह मिलता है। इधर आपके पाँच सौ रुपये रोज लग रहे हैं। मैं कोशिश करूँगा कि ईश्वर की कृपा से आपको वह पचास रुपये में मिल जाय। सेठ ने कहा—यह मुझे मालूम ही नहीं था कि भारत में ऐसे-ऐसे योगी पड़े हैं। तुम लाओ ऋषियों का वह तत्त्व।''

टैक्सीवाला बोला, ''सा'ब, मैं पचास रुपये उनसे लेकर गया। बीस रुपये की दारू खरीदी। द्राक्षासव की शीशी में पाँच-छह पैग भरा। इत्र डाला, लौंग डाली, इलायची डाली। शीशी का लेबिल निकालकर उस पर लिखा 'आत्म विस्मृति तत्त्व'। नीचे नाम लिखा 'मुनि आत्म ज्ञानी'।''

मैंने कहा, ''तुम बड़े होशियार आदमी हो।''

उसने कहा, ''सा'ब, दुनिया होशियार है। इसमें जो होशियार न हो, वह तो मार डाला जाएगा।''

मेरी जिज्ञासा बढ़ी। मैंने कहा, ''फिर क्या हुआ?'' उसने कहा, ''मैंने सेठ को गिलास में लगभग दो पैग डालकर दिये और कहा, परमपिता परमेश्वर का नाम लेकर इसे बिना साँस लिये पी जाइए।''

दारू सुगन्धित और स्वादिष्ट थी। सेठजी उसे पी गये। पन्द्रह मिनिट बाद मैंने पूछा—''सेठजी, आत्मा कैसी है?''

वे बोले—''आत्मा आनन्द में है। मैं तो अब आत्मा में ही रह गया हूँ।''

मैंने पूछा—''बिजनेस का कुछ खयाल है?''

वे बोले—''कौन-सा बिजनेस? मैं तो बिजनेस नहीं करता।'' मैंने उन्हें एक पैग और दे दी। पाँच मिनिट बाद पूछा—''सेठजी, क्या आप बम्बई के सेठ राधेश्यामजी हैं?''

वे बोले—''बम्बई में कोई सेठ राधेश्याम नहीं है। एक था पर अब वह नहीं है।''

मैंने पूछा—''माया-मोह का क्या हाल-चाल है?''

जवाब दिया—''न माया, न मोह। हम शुद्ध आत्मा हैं।''

मैंने पूछा—''आपका नाम क्या है?''

उन्होंने कहा—''अब मैं हूँ ही नहीं तो मेरा नाम क्या होगा? मैं तो बस ईश्वर हूँ। और वह ठीक वह हरकतें करने लगा जैसे गुरु के सामने करता था।

टैक्सीवाला बयान कर रहा था, ''सेठ बोले—वह साला योगी हजारों रुपये खर्च करवाता है। दो-तीन घण्टे कसरत करवाता है। तुमने हमें पन्द्रह मिनिट में मनुष्य से ईश्वर बना दिया। आज से तुम टैक्सी ड्राइवर नहीं, मेरे गुरु हुए। हजारों रुपयों का काम तुमने पचास रुपयों में करवा दिया।''

मैंने पूछा, ''फिर क्या हुआ?''

टैक्सी ड्राइवर बोला, ''फिर यह हुआ कि सेठ ने अपना बस्ता खोला और नोटों के बण्डल मेरे चरणों पर रख दिए।''

मैंने कहा—''यह सब आप क्यों मुझे दे रहे हैं? मैं तो आपका सेवक हूँ।''

सेठ ने कहा—''नहीं, तुम मेरे गुरु हो। वह साला योगी गुरु हजारों रुपये लेकर भी हमारी आत्मा का हमसे साक्षात्कार नहीं करवा सकता। पर तुमने सिर्फ पचास रुपये में हमें ईश्वर बना दिया।''

कई दिनों बाद वह टैक्सीवाला मुझे मिला।

उसने दाढ़ी बढ़ा ली थी। गेरुआ वस्त्र धारण किये थे।

मैंने पूछा, ''यह तुम्हें क्या हो गया? क्या टैक्सी नहीं चलाते? क्या संन्यासी हो गये ?''

उसने कहा, ''नहीं सा'ब। आपसे क्या छिपाऊँ? अभी भी मैं टैक्सी ही चलाता हूँ—पर अब मेरी टैक्सी यहाँ से सिर्फ परमात्मा के पास जाती है। सुना है, उस गुरु का बिजनेस मेरे कारण ढीला हो गया है। देखिए सा'ब, यह तो बिजनेस का मामला है—जहाँ तक टैक्सी जायेगी वहाँ तक का किराया मिलेगा। उस गुरु की टैक्सी आत्मा तक जाती थी, पर मेरी टैक्सी परमात्मा तक जाती है। आखिर दूर के मुसाफिर मेरे ही पास आयेंगे न। और मेरा चार्ज भी कितना कम है!''

मैंने पूछा, ''अब आगे क्या प्रोग्राम है?''

उसने कहा, ''सा'ब, बिजनेस जम गया है। पर एक बार अमेरिका हो आना चाहता हूँ। अमेरिका हो आने से ईश्वर खुद ही पास सरक आता है, और ईश्वर पास सरक आये तो बिजनेस ही बिजनेस है।''

एक के भीतर दो आदमी

वे मेरे मित्र हैं, परम मित्र। वे यह कहानी पढ़ेंगे और मैं विश्वास से कह सकता हूँ कि वे इसे पढ़कर नाखुश नहीं, बहुत खुश होंगे। यात्रा में मैं उनके साथ जाता हूँ, तो होटल का सारा बिल वही चुकाते हैं। मैं देने लगता हूँ, तो हाथ पकड़ लेते हैं—'खबरदार, ऐसी गुस्ताखी कभी मत करना।' वे सैकड़ों रुपये मेरे ऊपर खर्च कर देते हैं। पर मैं कभी उनसे दस रुपये माँगूँ तो कहते हैं—'कहाँ रखे हैं यार पैसे। हमारे लिए तो दवा के लिए पैसे नहीं जुट पा रहे हैं, तुम्हें कहाँ से दस रुपये दे दें?'

यों मैं घण्टे-भर उनके पीछे पड़कर दस रुपये उनसे ले लेता हूँ। मैं उठकर कहता हूँ—'ठीक है। अब किसी और शहर में जाकर रहना पड़ेगा। यहाँ हमें कोई दस रुपये देनेवाला भी नहीं है।'

तो जेब से नोट निकालकर वे कहते हैं—'क्या फालतू बात करते हो यार! लो।'

मैं हर बार सोचता रह जाता हूँ कि ये ऐसे क्यों हैं। सैकड़ों रुपये मेरे ऊपर खर्च कर देंगे, पर थोड़े-से पैसे के लिए मना कर देंगे। सुना है, बनिया मन्दिर में भगवान का

मुकुट बनवा देगा, पर किसी को नकद एक पैसा भी नहीं देगा। मगर वे बनिये भी नहीं हैं। साधारण सम्पन्न, सुसंस्कृत आदमी हैं। पर यह मामला क्या है? यह किस तरह का चरित्र है?

वे और हम दो मित्र उनकी कार में लम्बी यात्रा पर जा रहे थे। कार उनकी, पेट्रोल उनका। रास्ता मजे में कट रहा था। खूब हँसी-मजाक चल रहे थे। एक-दूसरे को 'छील' रहे थे। कुछ गैरहाजिर बड़ों को नंगा कर रहे थे।

रास्ते में एक-दो अच्छे होटल पड़े तो सोचा नाश्ता कर लिया जाय। ड्राइवर समेत हम चार आदमी थे। आमलेट, टोस्ट, कॉफी– खूब खाया। बिल लगभग दस रुपये हुआ। होटल मालिक से बिना कुछ जिरह के उन्होंने दस रुपये दे दिये।

अब पान खाने की बारी आयी। पान के ठेले पर गये तो वे पूछने लगे–'सिंगल पान कितने का देते हो?' पानवाले ने कहा–'सात पैसे का।' वे बोले–'वाह, हमारे शहर में तो छः पैसे का मिलता है। अजब धाँधली मचा रखी है, तुम लोगों ने।'

मैं बड़े पसोपेश में पड़ा। अभी उन्होंने बिना भाव-ताव के दस रुपये होटलवाले को दे दिये थे और अब एक पैसे के लिए पानवाले से बहस कर रहे थे। वह भी क्या सोचता होगा कि साहब फिएट कार में चल रहे हैं, आमलेट खाते हैं, मगर पान के मामले में एक पैसा बचाना चाहते हैं।

मैंने कहा–'भाई सा'ब, ले लेते हैं पान। कौन बड़ा फर्क पड़ता है?'

मैंने पानवाले से कहा–'लगाओ भाई चार अच्छे पान।'

पर भाई साहब रुष्ट हो गये। कहने लगे–'तुम्हें साथ रखेंगे तो लुट ही जायेंगे। रहने दो जी। मत लगाओ पान। दूसरे ठेले पर खायेंगे।'

आखिर वे हमें पास के ठेले पर ले गये। उसने छः पैसे के हिसाब से घटिया पान खिला दिये। भाई साहब के दस रुपये के नाश्ते के बाद चार पैसे बच गये और वे सन्तुष्ट हुए।

मैंने समझा, भाई साहब के भीतर दो आदमी एक साथ हैं। एक वह आदमी था जिसने बिना एतराज के होटलवाले को दस रुपये दे दिये। और एक यह आदमी है जो पानवाले से एक पैसे का मोल-भाव करता है। जब वह आदमी इस आदमी को दबा देता है या दोनों आदमियों में समझौता हो जाता है, तब ये सौ का नोट भी बिना हिचक के दे देते हैं। पर जब यह आदमी हावी हो जाता है, तब ये एक पैसे पर भी लड़ लेते हैं। भीतरी दोनों आदमियों में कभी तालमेल बैठ भी जाता है और कभी नहीं भी।

चले थे तब उन्होंने पेट्रोल-टैंक पूरा भरा लिया था। रास्ते में पेट्रोल खत्म होने लगा, तो ड्राइवर ने कहा–'बाबूजी, पेट्रोल खत्म हो रहा है। गाड़ी अब रिजर्व पर आ जायेगी। इस पम्प से पेट्रोल भरवा लें।'

भाई साहब ने कहा–'भरवा लो।'

ड्राइवर साहब ने कहा–'पूरा ही भरवा लेते हैं।'

भाई साहब ने कहा—'पूरा क्यों भरवाते हो? पाँच लिटर डलवा लो। आगे शहर आयेगा, तब भरवा लेंगे।'

ड्राइवर ने कहा—'बाबूजी, भरवाना तो पड़ेगा ही। यहीं भरवा लेते हैं।'

हमारे दूसरे मित्र ने भी कहा—'ड्राइवर ठीक कह रहा है। भरवा ही लो।'

भाई साहब ने नाराज होकर कहा—'तुम लोगों को पैसे की कुछ कीमत तो है नहीं। कह दिया—पूरा भरवा लो। आगे क्या पेट्रोल नहीं मिलेगा? नहीं जी, सिर्फ पाँच लिटर डलवाओ।'

मैं समझ गया—बहस करना व्यर्थ है। वह दूसरा आदमी हावी हो गया।

पेट्रोल सिर्फ पाँच लिटर डाला गया।

आगे चलकर जब शहर के बाहर उन्हें पेट्रोल-टैंक दिखा तो वे ड्राइवर से बोले—'इतने से पेट्रोल से क्या होगा? क्या हम लोगों को जंगल में डाले रहोगे? रोको गाड़ी और पूरी टंकी भरवा लो। एक डब्बा ऊपर से रख लो। लम्बे सफर का मामला है। कहीं पेट्रोल खत्म हो जाय तो क्या करेंगे?'

मैं समझ गया, वह पहलावाला आदमी हावी हो गया है। पेट्रोल की पूरी टंकी भरी गयी। ऊपर से एक डिब्बा पेट्रोल और रखा गया और गाड़ी आगे चली।

दोपहर के भोजन का वक्त हो गया। एक अच्छा होटल दिखा तो भाई साहब ने कहा—'चलो, यहीं खाना खा लेते हैं।' हम लोग खाना खाने बैठे तो भाई साहब ने पूछा—'क्या खाओगे?' हमने कहा, 'सादा खाना खा लेते है।' वे बोले—'नहीं, अच्छा खाना खाओ। यह होटल अच्छा मालूम होता है।'

उन्होंने होटल मालिक से पूछा—'सरदारजी, यह जो फ्रिज रखा है, इसमें कुछ है ?'

सरदारजी समझ गये। बोले—'हाँ, है जी। क्या पेश करूँ?'

भाई साहब ने कहा—'3-4 बोतलें बीअर की निकाल दीजिए। और यह तो बताइए कि यह जो बड़े हर्फों में आपने बोर्ड लगा रखा है—यहाँ चाय हर वक्त तैयार मिलती है—इसका क्या मतलब है? चाय तो किसी ठेले पर भी तैयार मिलती है।' सरदारजी ने हँसकर कहा—'आप तो समझ ही गये होंगे जी। आपकी इसी फ्रिजवाली खिदमत के लिए बोर्ड लगाया है। यहाँ ठर्रेवाले भी तो आते हैं जी।' वे 'चाय' का मतलब समझ जाते हैं।

भाई साहब पर इस वक्त वह पहलावाला भीतरी आदमी सवार था। हम डर रहे थे कि कहीं इसी बीच वह दूसरा भीतरी आदमी सवार हो गया, तो ये हमें दाल-रोटी खिला देंगे। पर वह पहला आदमी उन्हें छोड़ नहीं रहा था। उन्होंने हम दोनों के लिए चिकन-करी का आर्डर दिया। उम्दा सलाद बुलाया। ड्राइवर को मटन देने को कहा।

पर खुद अपने लिए? कोई आर्डर नहीं दिया। कहने लगे—'भई, हमारा पेट ठीक रहता नहीं है। हम तो हल्का खायेंगे। सरदारजी, फिश का एक पीस कितने का होता है ?'

मैं समझ गया कि वह दूसरावाला भीतरी आदमी इनके व्यक्तित्व पर हावी हो गया है ?

सरदारजी ने कहा—'एक पीस तो जी साठ पैसे का होता है।'

भाई साहब ने कहा—'बड़ा महँगा है। अच्छा एक पीस फिश, आलू की सब्जी और रोटी हमारे लिए ले आओ।'

हम चिकनकरी और न जाने क्या-क्या उड़ा रहे थे। पर भाईसाहब पर वह दूसरा आदमीं हावी हो गया था, इसलिए वे मोल-भाव करके मछली का एक टुकड़ा और आलू की सब्जी खा रहे थे।

भोजन के बाद उन्होंने बड़े बिल का पेमेंट किया।

पर जब पान खाने पहुँचे तो वह दूसरा आदमी ऊपर आ गया था और वे पान के ठेलेवाले से पान का मोल-भाव करने लगे।

रास्ते में कुछ ऐसा हुआ कि गाड़ी खराब हो गई। गनीमत यह कि शहर में खराब हुई। वहाँ हमारे एक परिचित थे, जिनकी कई गाड़ियाँ थीं। उनसे कहा तो उन्होंने अपने हैड मैकेनिक से कहा कि गाड़ी को बहुत जल्दी ठीक करो।

हैड मैकेनिक ने लगभग तीन घण्टों में गाड़ी बिल्कुल ठीक कर दी। भाई साहब बहुत खुश हुए। कहने लगे—'इसे कुछ इनाम दिया जाय।'

मैंने कहा—'शायद वह लेगा नहीं। फिर भी उसे दस का नोट देकर देखो। किसी वर्कशाप में मरम्मत कराते तो कम-से-कम पचास लग जाते। उसने पूरी गाड़ी 'ओवरहाल' कर दी है।'

भाई साहब ने गुस्से से मेरी तरफ देखा। मैं समझ गया, वह दूसरा आदमी उन पर हावी हो गया है। बड़ी मुश्किल से वे तीन रुपये देने पर राजी हुए, तो मेरे इशारा कर देने से मैकेनिक ने ले लिये।

पर इसके बाद ही वह पहला आदमी उन पर हावी हो गया। वे मैकेनिक से बोले—'आपने बड़ा काम किया हमारा। आप न होते तो हम बड़ी मुसीबत में पड़ जाते। अब आप हमारे साथ ही खाना खाइए।'

और जिस मैकेनिक को वे दो रुपये देने में आनाकानी कर रहे थे, उसे तीन रुपये का बढ़िया खाना खिला दिया।

तब उनके भीतर का वह पहला आदमी ऊपर आ गया था।

लौटते में एक जगह हम चाय पी रहे थे कि एक आदमी आया। बोला—'मेरी बस चूक गयी है। मुझे आप गाड़ी में ले चलिए। सवा रुपया किराया लगता है, वह मैं आपको दे दूँगा।'

भाई साहब बोले—'दो रुपये लगेंगे।'

दूसरा भीतरी आदमी उन पर हावी हो गया था।

मैंने अलग ले जाकर कहा—'भाई साहब, यह डाकुओं का एजेंट मालूम होता है। रास्ते में आपको डाकू पकड़कर ले जायेंगे और तब छोड़ने के लिए पचास हजार आपके लड़कों से माँगेंगे। लड़के सोचेंगे—धन्धा जम ही गया है। पिताजी किसी काम के रहे नहीं। तो वे

जवाब दे देंगे कि हमारा तो कोई बाप ही नहीं था।'

भाई साहब मेरी बात समझ गये और उसे नहीं बिठाया।

जब हम अपने शहर से लगभग अस्सी मील दूर थे, एक पुलिस का ट्रक खड़ा मिला।

सार्जेण्ट आया। कहने लगा—'शहर में दंगे के अन्देशे के कारण यह फोर्स बुलाया गया था। पर हमारा ट्रक खराब हो गया। आप मेहरबानी करके मुझे गाड़ी में ले चलें। मैं शहर कोतवाली से दूसरा ट्रक भिजवा दूँगा।'

भाई साहब ने उसे बिठा लिया।

रास्ते में सार्जेण्ट को अच्छा नाश्ता कराया।

कार भाई साहब के घर पहुँची। मेरा घर तो चार कदम पर था। कोतवाली आधा मील दूर थी।

भाई साहब उतरे। मैं उतरा। सार्जेण्ट सोच रहा था कि गाड़ी उसे कोतवाली पहुँचा देगी।

पर भाई साहब उस सार्जेण्ट से, जिसे अस्सी मील से ला रहे थे, बोले—'अब आप यहाँ से रिक्शे में चले जाइए।'

सार्जेण्ट को बड़ा अजीब लगा। उसका चेहरा बहुत दीन और अपमानित था।

मैंने भाई साहब से कान में कहा—'इसे अस्सी मील से लाये हैं। आधा मील में क्या फर्क पड़ता है? ड्राइवर से कहिए, छोड़ आयेगा।'

भाई साहब ने कहा—'तुम्हारा क्या है? हमारा तो एक मील का पेट्रोल फुँक जायेगा।'

वह दूसरा भीतरी आदमी उन पर सवार हो गया था।

पर वह जल्दी ही उतर गया और उन्होंने सार्जेण्ट को कोतवाली कार में भिजवा दिया।

अकाल-उत्सव

दरारोंवाली सपाट सूखी भूमि नपुंसक पति की संतानेच्छु पत्नी की तरह बेकल नंगी पड़ी है।

अकाल पड़ा है।

पास ही एक गाय अकाल के समाचारवाले अखबार को खाकर पेट भर रही है। कोई 'सर्वेवाला' अफसर छोड़ गया होगा। आदमी इस मामले में गाय-बैल से भी गया-बीता है। गाय तो इस अखबार को भी खा लेती है, मगर आदमी उस अखबार को भी नहीं खा सकता जिसमें छपा है कि अमेरिका से अनाज के जहाज चल चुके हैं। एक बार मैं खा गया था। एक कालम का 6 पंक्तियों का समाचार था। मैंने उसे काटा और पानी के साथ निगल गया। दिन-भर भूख नहीं लगी। आजकल अखबारों में आधे पृष्ठों पर सिर्फ अकाल और भुखमरी के समाचार छपते हैं। अगर अकालग्रस्त आदमी सड़क पर पड़ा अखबार उठाकर

उतने पन्ने खा ले, तो महीने भर भूख नहीं लगे। पर इस देश का आदमी मूर्ख है। अन्न खाना चाहता है। भुखमरी के समाचार नहीं खाना चाहता।

हर साल वसन्त आता है। हर साल मंगलवर्षा आती है। हर साल शारदोत्सव आता है।

हर साल अकाल आता है, जैसे हर साल स्वाधीनता दिवस और गणतन्त्र दिवस आते हैं। ये मंगल-उत्सव अपने आप आते हैं। शरद में कोई चाँद की प्रार्थना नहीं करता कि हे अमृतघट, उत्सव के लिए अमृत बरसा।

मगर अकाल के लिए बड़ी प्रार्थनाएँ, बड़े अनुष्ठान करते हैं। अकाल के लिए इन्द्र-पूजा होती है। पहले इन्द्र-पूजा वर्षा के लिए होती थी। मगर अब अवर्षा के लिए इन्द्र-पूजा होती है। कृष्ण का गोवर्द्धन पर्वत कुछ दिनों में धूल होकर बिखर जायेगा। इन्द्र का कोप अब भीषण वर्षा में नहीं, अवर्षा में प्रकट होता है। गोवर्द्धन को तस्करी यूरोप में बेच डालेंगे।

बड़ी प्रार्थना होती है। जमाखोर और मुनाफाखोर साल-भर अनुष्ठान कराते हैं। स्मगलर महाकाल को नरमुण्ड भेंट करता है। इंजीनियर की पत्नी भजन गाती है—'प्रभु, कष्ट हरो सबका।' भगवन्, पिछले साल अकाल पड़ा था तब सक्सेना और राठौर को आपने राहत कार्य दिलवा दिया था। प्रभो, इस साल भी इधर अकाल कर दो और 'इनको' राहत कार्य का इंचार्ज बना दो। तहसीलदारिन, नायबिन, ओवरसीअरन सब प्रार्थना करती हैं। सुना है विधायक-भार्या और मन्त्री प्रिया भी अनुष्ठान कराती हैं। जाँच कमीशन के बावजूद मैं ऐसा पापमय विचार नहीं रखता। इतने अनुष्ठानों के बाद इन्द्रदेव प्रसन्न होते हैं और इलाके के तरफ से नल का कनेक्शन काट देते हैं।

हर साल वसन्त!
हर साल शरद!
हर साल अकाल!

फिर अकाल-उत्सव क्यों न हो जाय? इसे मनाने की एक निश्चित विधि होती है, जैसे दूसरे उत्सवों की होती है। गणतन्त्र दिवस पर परेड होती है। अकाल में सस्ते गल्ले की राशन-दुकान पर भी परेड होती है और ज्यादा जोश से होती है। गणतन्त्र परेड कुछ घण्टे होती है, अकाल-परेड महीने में हर रोज होती है। राशन-दुकान पर खाली झोला लिये खड़ी फौज में उन फौजियों से ज्यादा जोश होता है।

साल में 10 महीने पहलवान ऐलान करता है—इस साल वो रियाज किया है कि कोई अखाड़े में मुकाबले में नहीं उतर सकता। चुनौती देता हूँ—कोई अप्रैल मई में लड़ ले। मगर पहलवान को अप्रैल में टाइफाइड हो जाता है और वह कहता है—अब मैं लाचार हूँ। टाइफाइड ने सारी बादाम उतार दी।

मन्त्री लोग ऐसे ही पहलवान हैं—नौ महीने ताल ठोंकते हैं—अन्न का अभाव सामने आने की हिम्मत नहीं कर सकता। इतने लाख क्विण्टल का स्टाक होगा। 'लेव्ही' ली

जायेगी। लड़ ले कोई जमाखोर—पछाड़ दिया जायेगा।

मगर मई आते ही उसे भी टाइफाइड हो जाता है। कहता है—क्या करूँ? जमाखोरी का 'टाइफाइड' सरकार को हो गया। विरोधी तो विरोधी, अपनी पार्टी के लोग भी रोग के कीटाणु लिये हैं। दवा लेने अमेरिका भेजा है आदमी। मई में वीर मन्त्रियों की भी बादाम उतर जाती है।

इधर मैंने देखा, उलटी 'लेव्ही' ली जाने लगी है। एक शहर में भारतीय खाद्य निगम के गोदाम से गलत नम्बर प्लेट के ट्रक में लदकर 150 बोरे गेहूँ जा रहा था कि फाटक पर चौकीदार ने पकड़ लिया। उसने पूछा—यह 'लेव्ही' का गेहूँ कहाँ जा रहा है? विभाग के आदमी ने कहा—तुम्हें नया कानून नहीं मालूम? नये कानून के मुताबिक खाद्य निगम खुद लेव्ही देगा। वही लेव्ही है यह, जो जमाखोर को दी जा रही है। नये आर्डर पूछ लिया करो।

मैं एक विधायक से पूछता हूँ—अकाल की स्थिति कैसी है?

वह चिन्तित होता है। मैं समझता हूँ, यह अकाल से चिन्तित है। मुझे बड़ा सन्तोष होता है।

वह जवाब देता है—हाँ, अकाल तो है पर ज्यादा नहीं है। कोशिश करने से जीता जा सकता है। सिर्फ 11 विधायक हमारी तरफ आ जायें, तो हमारी मिनिस्ट्री बन सकती है।

हर आदमी का अपना अकाल होता है। इनका अकाल दूसरा है। इन्हें सिर्फ 11 'क्विण्टल' विधायक मिल जायें, तो अकाल समस्या हल हो जाये—सत्ता की। दिन में यह सब सोचता हूँ और रात को मुझे विचित्र सपने आते हैं।

एक रात सपना आया—राष्ट्र ने अकाल-उत्सव मनाना तय कर लिया है। कई क्षेत्रों में हो रहा है। एक क्षेत्र में अकाल-उत्सव मैंने सपने में देखा।

आसपास के 4-5 गाँवों के किसान, स्त्रियाँ, बच्चे इकट्ठे थे।

पण्डाल सजाया गया था। मन्त्री अकाल समारोह का उद्घाटन करने आने वाले थे। पटवारी ने भूखों से चन्दा करके गुलाबों की मालाएँ कस्बे से बुलवा ली थीं।

स्त्रियाँ खाली मंगल-घटों में सूखे नाले के किनारे की घास रखकर कतार में चल रही थीं। वे गा रही थीं—

'अबके बरस मेघा फिर से न बरसो, मंगल पड़े अकाल रे।'

ओवरसीयर और मेट उनमें से अपने लिए छाँट रहे थे—

—सा'ब, उसे देखो कैसी मटकती है।

—अरे, मगर इस सामनेवाली को तो देख! दो बार पूरी रोटी खा ले तो परी हो जाय।

—मगर सा'ब, सुना है, तहसीलदार सा'ब भी तबीयत फेंक देते हैं।

—अरे, तो 'थ्रू प्रापर चेनल'! सरकारी नियम हम थोड़े ही तोड़ेंगे।

हड्डी ही हड्डी। पता नहीं किस गोंद से इन हड्डियों को जोड़कर आदमी के पुतले बनाकर खड़े कर दिये गये हैं।

यह जीवित रहने की इच्छा की गोंद है। यह हड्डी जोड़ देती है। आँतें जोड़ देती है।

सिर मील-भर दूर पड़ा हो तो जुड़ जाता है।

जीने की इच्छा की गोंद बड़ी ताकतवर होती है।

पर सोचता हूँ, ये जीवित क्यों हैं।

ये मरने की इच्छा को खाकर जीवित हैं। ये रोज कहते हैं—इससे तो मौत आ जाय तो अच्छा!

पर मरने की इच्छा को खा जाते हैं। मरने की इच्छा में पोषक तत्त्व होते हैं। जीने की इच्छा गोंद होती है जो शरीर जोड़े रखती है।

मरने की इच्छा में पोषक तत्त्व होते हैं।

अकाल-उत्सव शुरू हुआ।

उत्सव में कवि जरूरी होते हैं। वह उत्सव का 'मूड' बनाते हैं। वहाँ दो कवि भी थे जो समयानुकूल कविता बना लाये थे।

विधायक ने संक्षिप्त भाषण दिया—'बड़े सौभाग्य का विषय है कि मन्त्री महोदय हमारे बीच पधारे हैं। उन्हें कई उत्सवों का निमन्त्रण था, पर इस क्षेत्र के अकाल से उन्हें विशेष प्रेम है, इसलिए वे यहीं पधारे। हम उनका स्वागत करते हैं।'

माला पड़ी और तालियाँ पिटीं।

सबसे खूबसूरत तालियाँ पीटीं मन्त्री जी के आसपास बैठे जमाखोरों, मुनाफाखोरों, चोरबाजारियों और इनके सरकारी मौसेरे भाइयों ने। तब मन्त्रीजी ने भाषण दिया—

'मैं आपका आभारी हूँ कि इस अकाल-उत्सव के उद्घाटन के लिए आपने मुझे आमंत्रित किया। अकाल भारत की पुरानी परम्परा है। आप जानते हैं कि भगवान राम के राज्य में भी अकाल पड़ा था। हमारे राज में भी अकाल पड़ता है। हम गाँधीजी के आदेश के अनुसार राम-राज ला रहे हैं। अकाल राम-राज का आधार है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम-राज का स्वर्ग नहीं ला सकते थे, यदि अकाल न पड़ता। इसलिए अकाल का स्वागत करना चाहिए। अकाल के बिना राम-राज नहीं आ सकता। मेरे विपक्षी मित्र जो भारतीय संस्कृति के पूजक हैं, मुझसे सहमत होंगे कि अकाल हमारी महान् भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख तत्त्व है। द्रोणाचार्य जैसे वीर तक भूखे मरते थे।

'मेरी इच्छा है, आप खूब खुशी के साथ अकाल-उत्सव मनायें। हम घोर संकट में भी प्रसन्न रहते हैं। आप जानते हैं, प्रियजन की मौत के बाद हम श्राद्ध करते हैं तब हाथ पर मलकर शुद्ध घी की परीक्षा करते हैं और उसका लड्डू खाते हैं।

'मैं अधिक समय नहीं लूँगा, क्योंकि रेस्ट हाउस में मेरा मुर्गा पक गया होगा। मेरी

कामना है कि उत्सव सफल हो।'

वे बैठ गये।

इसके बाद दो कविताएँ हुईं—एक गम्भीर और दूसरी हास्य रस की। गम्भीर कवि ने पढ़ —

स्वागत अकाल! स्वागत अकाल!
भारत के गौरव के प्रतीक,
गाँधी के सपने के प्रतीक
गोदामों में रखी सुरक्षित
हरित क्रान्ति के प्रिय प्रतीक
मनु भी करते बैठे जुगाल!
स्वागत अकाल! स्वागत अकाल!

फिर हास्य रस की कविता कवि 'मामा' ने पढ़ी—

मामी बोली मामा से देखो
रोटी तो बिल्ली निगल गयी
मामा बोले रोटी वापस लेने को
तुम निगलो बिल्ली को तुरन्त!

इसके बाद थोड़ी और औपचारिकता के बाद समारोह समाप्त हुआ क्योंकि रेस्ट हाउस में मुर्गे पककर बाँग देने लगे थे! दूसरे दिन से राहत कार्य शुरू हो गये।

मुझे सपने बहुत आते हैं।

मैं देखता हूँ—भूखे बिलबिला रहे हैं। मजदूरी पूरी नहीं मिलती। मिलती है तो दाना नहीं मिलता। मिलता है तो महँगा मिलता है, महँगा मिलता है तो उसमें न जाने क्या-क्या कचरा मिला रहता है।

भूखे और अधमरे चिल्लाते हैं—रोटी नहीं तो उत्सव काहे का! उत्सव फेल हो गया।

मुझे एक सपना और आता है। कुछ दूसरी पार्टियों के लोग सेठों, जमाखोरों, सूदखोरों, मुनाफाखोरों को लेकर जाते हैं और लोगों से कहते हैं—

तुम्हें रोटी नहीं मिलती। रोटी नहीं मिलती क्योंकि गल्ला नहीं मिलता। गल्ला क्यों नहीं मिलता, क्योंकि ये लोग जो आये हैं, इनका गल्ला सरकार ने दबा लिया है। जबरदस्ती दबा लिया है।

आप लोग बताओ—पीढ़ियों से गल्ला तुम किन्हें बेचते थे?

लोग बोले—इन आपके साथ के लोगों को। मगर ये लोग—

नेता लोग बोले—'मगर' बन्द करो अब। इस सरकार ने इनका खरीदना बन्द कर दिया है। फिर बताओ—गल्ला तुम कौन से लेते थे?

लोग बोले—इन्हीं से। मगर—

नेता बोले—पर सरकार ने इनका बेचना भी बन्द कर दिया है।

लोगों ने कहा—तो हम लोग क्या करें? किसके ईमान पर भरोसा करें।

नेता बोले—अब हमारी बात मानो। इस सरकार का अकाल-उत्सव तुम लोग भुगत चुके। इस सरकार को बदलो। अब हमें वोट दो। हमें विधान सभा और संसद में भेजो। हमारी सरकार बनवाओ। तुम देखोगे कि तुम सब सुखी हो जाओगे। खरीदने वाले खरीदेंगे और बेचने वाले बेचेंगे। यही आदिकाल से चला आ रहा है। यही सनातन धर्म है। हमारे अकाल-उत्सव से तुम्हें कोई शिकायत नहीं होगी।

लोग बोले—मगर…

नेता बोले—तुम बार-बार 'मगर' क्यों बोलते हो?

'मगरमच्छ' बोलो न!

मुझे फिर सपना आता है। मैं सपनों से परेशान हूँ। वे कितने सुखी हैं, जिन्हें सपने नहीं आते। मुझे लगने लगा है कि वही सुख की गहरी नींद सोता है, जिसे सपने नहीं आते। मेरा पहले खयाल था कि सूअर और कुत्ता ऐसे प्राणी हैं जिन्हें सपने नहीं आते। पर अब अन्न का दाना न मिलने से चूहे को भी सपने आते हैं।

सपने में देखता हूँ कि भूखे लोग तरह-तरह की सरकारें बनाते हैं। अकाल-उत्सव भी मनाते हैं। बड़ा आनन्द है। पर रोटी नहीं मिलती। अन्न नहीं मिलता।

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा!' मैं दार्शनिक हो जाता हूँ। ऋषि शिष्य से ब्रह्म के रूप के बारे में चिन्तन करने को कहता है। जिज्ञासु शिष्य उपवास करके चिन्तन करता है और भूखा ब्रह्मचारी आकर कहता है गुरु, अन्नं ब्रह्म। अन्न ही ब्रह्म है, गुरु! अन्न! अन्न! इसके बाद ही 'आनन्द ब्रह्म' है।

इधर हलचल बढ़ रही है।

न जाने कौन इन लोगों को समझाते हैं कि जो सरकार अकाल को उत्सव मानेगी, रोटी नहीं देगी।

मगर लोगों को उत्सव मनाने की आदत पड़ गयी है।

उत्सव का रूप चाहे बदले, उत्सव मनायेंगे।

मुझे भयंकर सपना आता है।

देखता हूँ कि अकाल-उत्सव के मूड में ढोलक बजाकर नाचते-गाते भूखे, अधमरे राजधानी में आ गये हैं और बड़ा भयकारी दृश्य मुझे दिखता है।

एक विधायक पहचान का मिलता है। उसका एक हाथ ही नहीं है। आस्तीन से खून टपक रहा है।

मैं पूछता हूँ—यह क्या हो गया?

वह कहता है—वही अकाल-उत्सववाले लोग मेरा हाथ खा गये।

किसी विधायक की टाँग खा ली गयी है। किसी मन्त्री की नाक चबा ली गयी है, किसी का कान!

भीड़ बढ़ती जाती है।

विधायक और मन्त्रीगण भाग रहे हैं।

एकाएक सैकड़ों जमाखोरों और मुनाफाखोरों को लोग पकड़ लाते हैं और उन्हें भून रहे हैं। कहते हैं— तुम्हारी भूख इतनी विकट है कि अपना ही भुना गोश्त खाये बिना तुम्हारा पेट नहीं भरेगा।

हमें खाओगे तो भूखे रह जाओगे। हम में खाने लायक कितना कम है।

अब वे पुलिस और रायफल की राह देख रहे हैं।

सारे विधान भवनों में सन्नाटा!

संसद और उसके अहाते में सन्नाटा!

अब ये भूखे क्या खायें? भाग्य-विधाताओं और जीवन के थोक ठेकेदारों की नाक खा गये, कान खा गये, हाथ खा गये, टाँग खा गये। वे सब भाग गये। अब क्या खायें?

अब क्या खायें? आखिर वे विधान-सभा और संसद की इमारतों के पत्थर और ईंटें काट-काटकर खाने लगे।

भयंकर सपना! मेरी नींद टूट गयी। मैं पसीने से लथपथ हो जाता हूँ। घबड़ाहट होती है। क्या करूँ? सपना ही तो है—यह सोचकर शान्त होना चाहता हूँ।

मगर चैन नहीं मिलता। मानस चतुश्शती वर्ष है, इसलिए मैं 'रामचरितमानस' श्रद्धापूर्वक फिर से पढ़ रहा हूँ। मैं 'रामचरितमानस' उठा लेता हूँ। इससे शान्ति मिलेगी।

यों ही कोई पृष्ठ खोल लेता हूँ।

संयोग से 'लंका काण्ड' निकल पड़ता है।

मैं पढ़ता हूँ। अशोक वाटिका में त्रिजटा सीताजी को धीरज बँधाती है—त्रिजटा को भी मेरी तरह सपना आया था।

त्रिजटा मुझसे अधिक देखती और समझती थी। उसे बहुत आगे दिखता था। वह कहती है—

> यह सपना मैं कहौं विचारी।
> हुइहै सत्य गये दिन चारी।।

राग-विराग

मई की दोहपरी। 'बस-स्टैण्ड' पर बस खड़ी है। मुसाफिर आ रहे हैं और बैठते जा रहे हैं। उच्च श्रेणी में दो-दो मुसाफिरों के बैठने के लिए एक के पीछे एक कई सीटें हैं। हर मुसाफिर की टिकट पर सीट का नम्बर होता है। पर यह एक अजब लोभ है कि बस में घुसते ही कई मुसाफिरों के मन में यह आता है कि किसी दूसरी सीट पर बैठ जायें। उस दिन चौराहे पर तीन-चार पुलिस के सिपाही पान वाले से दस सेर गाँजा पकड़ने की ऐतिहासिक घटना का सगर्व वर्णन कर रहे थे। एक सिपाही बड़े सहज भाव से बोला, "भैया, उस मामले में कम-से-कम पाँच सौ रुपये मिलते, और किसी को कानों-कान खबर नहीं होती। पर इस बलभद्दर ने कोतवाली ले जाकर सब मटियामेट कर दिया।" दूसरे की जगह बैठने का इरादा और गाँजा पकड़कर पाँच सौ रुपये घूस लेने का इरादा—दोनों एक ही प्रकार के लोभ हैं—हमारे सामूहिक मन का प्रतिनिधि लोभ।

बस कण्डक्टर ने मुसाफिरों को उठा-उठाकर उनकी ठीक जगह पर बैठाना आरम्भ कर दिया है। लोग शहीदाना गर्व के साथ अपनी जगह पर बैठ रहे हैं, दूसरों की जगह पर जम जाने का उनका अधिकार जो छिन गया।

एक व्यापारी थलथलाते हुए आ रहे हैं, दुर्भाग्य से मेरे परिचित। कभी किसी का मिलना सौभाग्य बन आता है, पर कभी, उन्हीं का मिलना दुर्भाग्य। निमोनिया में मुरब्बा प्राणघातक है। वैसे मुरब्बा बहुत अच्छी चीज है। सफर में 'बोर' व्यापारी निमोनिया में मुरब्बे की तरह ही है। वे तो दुकान पर ही भले लगते हैं।

पर मुझे देखकर वे खिल उठे, "अच्छा आप भी चल रहे हैं?" कहकर मेरी बगल की खाली जगह पर आ बैठे। बस ड्राइवर को देखकर गद्गद हो बोले, "अच्छा, वजीर मियाँ, आप चल रहे हैं आज?" वजीर मियाँ शायद उन्हें पहचानते नहीं हैं, पर वे इस विश्वास और आत्मीयता से वजीर मियाँ को गले लगा लेना चाहते हैं कि अगर बस कहीं किसी झाड़ से टकरा गयी तो वजीर मियाँ सबको मर जाने देंगे, सिर्फ उन्हें बचा लेंगे।

वे मेरी ओर मुड़े और अपने भतीजे के लिए किसी स्कूल से झूठा सर्टिफिकेट प्राप्त करने की योजना पर विचार करने लगे। एक आँख बन्द करके अँगूठे पर पहली उँगली से चोट करके बोले, "कुछ खर्च करना पड़े तो पीछे नहीं हटेंगे।" उनके उद्देश्य की 'शुचिता' के साधन रूप में अपना मेल होते देख मैं तनिक अकुलाया। पर इसी समय कण्डक्टर मेरा 'मसीहा' बन गया। उसने उन्हें उठाकर मुझसे काफी दूर उनकी ठीक जगह पर, बैठा दिया।

अब मेरे पास एक युवक आकर बैठ गया है। हाथ में एक फिल्मी पत्रिका है। अब मैं बिल्कुल सुरक्षित हूँ। जिसके हाथ में फिल्मी पत्रिका है, वह बगल में बैठे भगवान से भी बात नहीं करेगा।

सीटें लगभग भर चुकी हैं। सिर्फ मेरे पीछे की एक सीट पर एक जगह खाली है। अभी केवल एक संन्यासी बैठे हैं, चालीस-पचास साल के होंगे, वैसे वे अपने को अस्सी-नब्बे

साल का बताते हैं। पुराना चावल और पुराना संन्यासी—दोनों कीमती होते हैं। तभी 'वेश्या बरस घटावहिं, जोगी बरस बढ़ाहिं।' अच्छे सुडौल हैं। ताजे कटे लान की तरह उनकी खोपड़ी और दाढ़ी! माथे पर तिलक, गले में कण्ठी। गेरुआ रंग अब सफेद होने लगा है।

संन्यासी को देखकर लोगों के मन में एक कुतूहलमय सम्मान जागता है। अगर संन्यासी ऊँचे क्लास में सफर कर रहा हो तब तो और सम्मान पाता है और अगर अंग्रेजी भी बोल लेता हो, तब तो लोग न्योछावर होते हैं। पर बेचारे संन्यासी के मुख पर मैंने अक्सर परेशानी, निराशा, ग्लानि और असन्तोष देखा है। लोगों की नजरों में वह चाहे पूज्य हो पर अपनी नजरों में वह केवल दयनीय ही होता है। संसारियों पर घृणा की दृष्टि डालकर वह इस दयनीयता को अपनी ही नजरों से छिपाने की कोशिश करता है। पर उसकी आँखों में तो वह खिड़की खोलकर बैठी रहती है।

संन्यासी गीता पढ़ रहे हैं :

> "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत..."

और मेरे बगल में बैठा युवक अभिनेत्री सुरैया का नवीनतम चित्र देख रहा है। दोनों एक ही अप्राप्य काल्पनिक आनंद में लीन हैं। दोनों एक मृग-तृष्णा के शिकार! जैसी इसकी सुरैया, वैसे उसके भगवान्! दोनों दूर बहुत दूर, स्वप्नवत् अलभ्य, बे-जाने-पहचाने!

संन्यासी ने आगे झुककर नवयुवक की फिल्मी पत्रिका को देखा और घृणा से मुँह फेर लिया।

नवयुवक संन्यासी के श्लोकों से परेशान होकर खीझ से बुदबुदाया : "ह्वाट ऐ न्यूसेन्स—कैसी परेशानी है?"

बस अब चलने ही वाली है। मेरे परिचित व्यापारी ने पीछे की सीट से एक पान के अष्टमांश हिस्से का बीड़ा बनाकर मेरी ओर बढ़ाया, मानो चेतावनी दे रहा है कि किसी भी क्षण आक्रमण कर दूँगा।

एक रिक्शा आकर रुका और उसमें से एक महिला फुर्ती से निकली। शरीर कीमती साड़ी में लिपटा, हाथ में बैग। यौवन का ज्वार, अब भाटा हो रहा है, यही पैंतीस वर्ष के आसपास होगी। सुडौल मुख, पानीदार आँखें, मुद्रा में संकोचहीनता, चाल में स्वाभाविक सत्ता की दृढ़ता। वह बस में घुसी और कण्डक्टर से पूछा, "मेरी सीट? नम्बर 8 की टिकट है।" कण्डक्टर ने संन्यासी के बगल की खाली सीट की ओर संकेत कर दिया। सारी बस में वही सीट खाली थी।

स्त्री बढ़ी और संन्यासी के बगल में बैठने का उपक्रम करने लगी। इधर संन्यासी पर जैसे बिजली गिर पड़ी। हाथ जोड़कर बोले, "नहीं-नहीं देवी! यहाँ पर मत बैठो, कहीं और बैठ जाओ।" स्त्री ठिठक गयी। उसने कण्डक्टर की ओर देखा। कण्डक्टर ने कहा, "महाराजजी, और सीट तो खाली नहीं है। वे कहाँ बैठेंगी? वह सीट तो उन्हीं की है।"

संन्यासी ने अत्यन्त दीन नयनों से उसकी ओर देखा। कहा, "नहीं-नहीं भैया, मैं स्त्री के पास नहीं बैठ सकता। स्त्री का संग मुझे वर्जित है। मैं संन्यासी ठहरा।"

मुसाफिरों का ध्यान संन्यासी की ओर खिंच गया। सबके नयनों में उत्सुकता है। गरमी और बस की नीरसता में मन बहलाव का एक जरिया तो मिला। स्त्री कहीं और भी बैठ सकती है, किसी अन्य मुसाफिर को वहाँ बैठा दिया जा सकता है। और कितने लोग उम्मीद लगाये बैठे होंगे कि ऐसे सीट-विनिमय में, हमें ही स्त्री का सामीप्य लाभ हो जाये। पुरुषों से भरी बस में स्त्री! जैसे विस्तृत रेगिस्तान में एक झरना। पर संन्यासी की कातरता और दीनता का मजा सभी ले रहे थे। वह स्त्री भी वहीं अड़ी रही। कण्डक्टर भी हठ करने लगा। और हम लोग आँखें फाड़े ही थे। विश्वामित्र-मेनका! शुक-रम्भा !

पर स्त्री बड़ी प्रगल्भा निकली। संकोच जैसे वह जानती ही नहीं है। वह कहने लगी, ''महाराज, आप तो पिता-तुल्य हैं। मैं एक किनारे बैठ जाऊँगी। संन्यासी के ही पास तो हम निर्भय और निःसंकोच बैठ सकती हैं।'' हम सब चकित हैं। कैसी वाचाल है!

संन्यासी बोले, ''नहीं, नहीं देवी, मुझे संकट में न डालो। मेरे गुरु की आज्ञा है। माता और पुत्री का संग भी हमारे लिए निषिद्ध है। धर्म का आदेश है।''

स्त्री अब तमतमा गयी है। उसने बड़े रोष और घृणा से कहा, ''महाराजजी, जो धर्म माता और पुत्री से डरने के लिए कहता है, वह धर्म नहीं हो सकता। वह पाखण्ड है।''

संन्यासी अब हत-तेज हो गये हैं। उन्हें उत्तर नहीं सूझ रहा। इसी समय मैंने कह दिया, ''संन्यासीजी, बैठ जाने दीजिए न! आप तो वीतराग हैं।''

इसी समय पुलिस के सिपाही ने ड्राइवर से कहा, ''वजीर मियाँ, चलो स्टार्ट करो। पाँच मिनट लेट हो गयी है।''

भीतर से मुसाफिर चिल्लाये, ''अरे भाई, गरमी में यहीं मार डालोगे क्या, स्टार्ट करो गाड़ी।''

ड्राइवर ने बटन दबाया। घरघराहट हुई और बस खिसकी। इस गड़बड़ में वह स्त्री संन्यासी के बगल की उसी सीट पर बैठ गयी। संन्यासी एकदम बस दीवार से सटकर, दुबककर बैठ गये। उन्होंने बड़े कातर नेत्रों से हम लोगों की ओर देखा। वह नारी बड़ी बेफ़िक्री से बैठी थी।

बस अब चलने लगी है। संन्यासी वैसे ही दुबके, भयभीत एक कोने में बैठे हैं, जैसे बगल में सिंहनी सो रही है, जो यदि जाग गयी तो प्राण ले लेगी। उन्होंने जोर-जोर से गीता पढ़ना आरम्भ कर दिया :

''कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्...।''

बचपन की याद मुझे आ गयी। शाम को खेलकर घर लौटता तो 'भुतही इमली' के नीचे से निकलना पड़ता था। भूत से बचने के लिए मैं खूब जोर से गाना गाता था। मेरे गाने से भूत भागता था या नहीं, यह तो नहीं जानता, पर मेरे मन का भय जरूर भाग जाता था। संन्यासी जोर-जोर से गीता पाठ कर रहे हैं, मुझे अपने उसी 'भूत भगाऊ' गाने की याद आ गयी।

वे गीता पढ़ रहे हैं। सोचता हूँ, जो किसी पुस्तक को बार-बार पढ़ता है, वह समझकर

तो ऐसा नहीं कर सकता। अच्छे-से-अच्छे ग्रन्थ को कोई समझकर पढ़े तो दो-चार बार पढ़ सकता है। पर जो बार-बार उसे पढ़ता है, रोज एकबार पाठ कर जाता है, वह जरूर बिना समझे ही पढ़ता है। जिन्दगी-भर से संन्यासी जी गीता पढ़ रहे हैं, जैसे हलवाई जिन्दगी भर मिठाई बनाता और बेचता है। पर मिठाई देखकर कभी हलवाई की जीभ में तो पानी नहीं आता। संन्यासी भी गीता से बिल्कुल निर्लिप्त रहकर गीता पढ़ लेते हैं, जैसे ग्रामोफोन का रिकार्ड आरती गाता है। उनका स्वर काफी तेज हो गया है। ज्यों-ज्यों 'भुतही इमली' नजदीक आती जाती, मैं भी अपने गाने का स्वर बढ़ाता जाता था।

संन्यासी ने मेरी पुस्तक की ओर देखा। पूछा, "धार्मिक पुस्तक है?" मैंने कहा, "नहीं कहानी की है।" संन्यासी ने घृणा से मुँह फेर लिया।

अब मुसाफिरों का ध्यान संन्यासी की ओर नहीं है। कुछ पढ़ रहे हैं, कुछ ऊँघ रहे हैं, कुछ जाली के उस पार बैठी तरुणियों पर आँखें लगाये हैं, और जिन्हें कुछ नहीं मिलता वे बेचारे गर्दिश के मारे इस निर्भय प्रौढ़ा की ओर देख लेते हैं।

रास्ते में एक कुआँ दिखा तो संन्यासी ने बस रुकवाई। कमण्डलु लेकर कुएँ पर पहुँचे, पानी पिया और भरते लाये। उस स्त्री से पूछा, "देवी, पानी पियेंगी?" स्त्री ने अनिच्छा से एक गिलास पानी पी लिया। हम लोगों को संन्यासी पर अब बड़ी दया आने लगी है।

पचीसों मील निकल गये। संन्यासी माला फेर रहे हैं। एकदम चौंककर दीन वाणी में बोले, "देवी क्षमा!" शायद माला फेरते-फेरते हाथ लग गया होगा संन्यासी का।

मील पर मील निकलते जा रहे हैं। संन्यासी का पाठ जारी है। स्त्री भी एक किताब पढ़ रही है। बीच-बीच में एकदम किताब बन्द कर देती है। बड़ी परेशानी से आसपास देखती है। वह खीझकर बोली, "महाराज, जरा ठीक से बैठो।" संन्यासी ने हाथ जोड़कर कातर वाणी में कहा, "देवी क्षमा करना, ध्यान में डूब गया था।"

फिर पचीसों मील निकल गये। संन्यासी ने अब स्थिति के साथ समझौता कर लिया है, पर स्त्री परेशान हो गयी है। ज्यों-ज्यों संन्यासी परिस्थिति के साथ समझौता करते जाते हैं, त्यों-त्यों स्त्री की परेशानी बढ़ती जाती है।

संन्यासी अब एक ही श्लोक को बार-बार कह रहे हैं। एक बार, दो बार, तीन बार, आठ बार। उनका स्वर टूटा है, उच्चारण में अटपटापन है, गले में खरखराहट! मैंने पीछे देखा कि कहीं संन्यासी ऊँघ तो नहीं रहे हैं। नहीं, वे तो खूब आँखें फाड़े बैठे हैं। मुझसे आँखें मिलीं तो एकदम चौंककर श्लोक बदला। बड़ी फुर्ती से दो-तीन आगे के श्लोक पढ़ गये।

अब फिर एक श्लोक बार-बार कह रहे हैं। स्वर टूटता हुआ, उच्चारण अटपटा, गले में खरखराहट। निःश्वास की गति बहुत तीव्र है। गीता अँगुलियों में फिसलकर लगभग उलटी हो गयी है।

बस चली जा रही है। जोगी और भोगी को एक गति से ले जा रही है। धुँधलका होने लगा है। बस में मन्द प्रकाश में पढ़ना सम्भव नहीं है। मैंने किताब बन्द कर दी है।

सफर में अँधेरा होते ही नींद आने लगती है। लोग ऊँघने लगे हैं। मेरा पड़ोसी युवक अब भी किसी अभिनेत्री का चित्र देखने में मशगूल है। संन्यासीजी का अटपटा पाठ चल रहा है। कभी चौथे अध्याय का श्लोक बोल देते हैं, कभी दूसरे का। उनका सिलसिला टूट गया है। उस ओर मेरे परिचित सेठ हथेली पर सिर रखे ऊँघ रहे हैं। वजीर मियाँ वैसे ही मुस्तैदी से बैठे हैं। उस सीट पर के वृद्ध सज्जन ने ड्राइवर की सीट तक टाँगें फैला ली हैं। सब शान्त हैं। सब ऊबे हैं। बाहर की प्रकृति भी बड़ी ऊबी-ऊबी-सी लगती है। घरघराहट और संन्यासी का गीता पाठ इन दोनों में ही होड़ है।

स्त्री बहुत परेशान है। वह एकदम अपनी सीट से उठी। चिल्लायी, "गाड़ी रोको।" वजीर मियाँ ने गाड़ी रोक दी। "क्यों, क्या बात है बाई?" उसने पूछा।

संन्यासी ने कहा, "क्यों, क्यों? देवी बैठ जाओ?"

स्त्री ने संन्यासी को एक चाँटा मारा और बोली, "लुच्चा बदमाश कहीं का!" फिर कण्डक्टर से बोली, "मुझे और कहीं बिठा दो भैया।"

बैताल की छब्बीसवीं कथा

बैताल ने विक्रम से कहा, "हे विक्रम, मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए तुझे एक कथा और सुनाता हूँ। सुन–

एक समय की बात है। एक नगर में शिवदत्त नामक एक वेदपाठी धार्मिक ब्राह्मण रहता था। उसके घर एक पुत्र ने जन्म लिया, जिसका नाम देवदत्त रखा गया। देवदत्त बड़ा सुन्दर लड़का था। वह चन्द्रमा की कला की भाँति बढ़ने लगा। जब उसके दूध के दाँत आये, तो उसके माता-पिता ने देखा कि लड़के के सामने के दो दाँत बहुत बड़े हैं। एक दिन शिवदत्त ब्राह्मणी से कह रहा था, 'कोई चिन्ता की बात नहीं। ये तो दूध के दाँत हैं। इनके टूटने पर सुडौल दाँत आ जायेंगे।' बालक देवदत्त यह सुनकर बड़े जोर से रोने लगा और 'ऊँ हूँ! ऊँ हूँ!' चिल्लाने लगा। माता-पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह अबोध बालक उनकी बात कैसे समझा और क्यों रोया ! जब कभी दाँतों की बात निकलती और उन बड़े बेडौल दाँतों की बुराई होती, देवदत्त चीखने-चिल्लाने लगता।

देवदत्त बड़ा हुआ। उसके दूध के दाँत टूटे और नये दाँत आये। पर माता-पिता की आशा व्यर्थ गयी। नये दाँत पहले से भी बड़े और बाहर निकले हुए थे। एक दिन उसकी माँ अपने पति से कह रही थी, 'लड़के का मुँह तो सुडौल है, पर इन दाँतों ने उसका चेहरा बिगाड़ दिया है।' शिवदत्त ने कहा, 'हम डॉक्टर से इसके ये दाँत निकलवाकर नये छोटे दाँत लगवा देंगे।' देवदत्त ने, जो वहीं खेल रहा था, यह बात सुन ली। वह कहने लगा, 'मैं ये दाँत नहीं निकलवाऊँगा।' शिवदत्त ने उसे समझाया, तो वह रोने लगा और बोला,

'नहीं, चाहे कुछ हो, मैं ये दाँत नहीं निकलवाऊँगा।' माता-पिता ने यह सोचकर धीरज रखा कि यह अभी नादान है, बड़ा होने पर हठ नहीं करेगा।

हे विक्रम, देवदत्त पाठशाला जाने लगा। वहाँ उसके सहपाठी उसे चिढ़ाते थे। कोई कहता, 'इसने घर के खपड़े लगा रखे हैं।' कोई कहता, 'ये हल के फल हैं, जिनसे आगे चलकर यह खेती करेगा।' कोई कहता, 'भगवान का वाराह अवतार हुआ है।' पर देवदत्त पर कोई प्रभाव न पड़ता। वह हँसता ही रहता। वह जब कॉलेज में पहुँचा, तो उसके सहपाठियों ने उसे 'डेण्टिस्ट' नाम दे दिया। इस नाम से भी देवदत्त बिल्कुल नहीं चिढ़ता। वह सन्त-जैसा शान्त रहता, हँसता रहता।

उसकी पढ़ाई समाप्त हुई। अब शिवदत्त अपने पुत्र के विवाह की चिन्ता करने लगा। कई जगह विवाह की बात आयी गयी, पर सम्बन्ध कहीं भी तय नहीं हो सका। लड़कीवाले आते और देवदत्त के दाँत देखकर लौट जाते। तब एकदिन शिवदत्त उसे पुनः समझाने लगा, 'बेटा, हठ छोड़ दे। इन दाँतों को निकलवाकर दूसरे दाँत लगवा। किसी अच्छे घर में विवाह हो जायेगा।' यह सुनकर देवदत्त बोला, 'पिताजी, चाहे मैं क्वाँरा रह जाऊँ, पर इन दाँतों को नहीं निकलवाऊँगा। ये मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं।' शिवदत्त बेटे की हठ के सामने हार गया। उसने एक दरिद्र घर में साधारण लड़की से उसकी शादी कर दी।

हे राजन्, अब देवदत्त नौकरी करने लगा। वह अपने दाँतों को शोभा की तरह गर्व से धारण करता। उसने दोनों दाँतों में सोने की एक-एक कील ठुकवा ली जिससे वे दमकने लगे।

देवदत्त का एक मित्र था, जिसका नाम विष्णुदत्त था। विष्णुदत्त ने एक दिन उससे कहा, 'बन्धु, इन बेडौल दाँतों से तुम्हारा इतना मोह क्यों है। वे तुम्हारे सुन्दर मुख को विकृत कर देते हैं, फिर भी तुम इन्हें क्यों इतना चाहते हो?' देवदत्त ने कहा, 'बन्धु, तुम नहीं जानते, कोई नहीं जानता कि इन दाँतों का मेरे लिए क्या मूल्य है। ये अत्यन्त पवित्र दाँत हैं, मेरे पूर्व जन्म के पुण्य के फल हैं। ये मुझे वरदान में मिले हैं। मुझे वह दृश्य अब तक याद है, धर्मराज ने अपने सहायकों को मुझे बड़े दाँत देने का आदेश दिया था।'

यह सुनकर विष्णुदत्त बड़े आश्चर्य में पड़ा। उसने कहा, 'बन्धु, क्या तुम्हें पूर्व जन्म का वृत्तान्त मालूम है? मुझे बतलाओ कि तुमने उस जन्म में कौन से पुण्य किये थे, जिनके फलस्वरूप तुम्हें ये दाँत मिले।'

हे विक्रम, मित्र की जिज्ञासा देख और उसे अधिकारी समझकर देवदत्त ने कहा, 'बन्धु, मैं तुझे अपने पूर्व-जन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ, जो मैंने किसी को नहीं सुनाया। ध्यान देकर सुन :

पिछले जन्म में मैं एक प्राइवेट कॉलेज में लेक्चरर था। उस संस्था का प्रबन्ध करने के लिए एक समिति थी जिसके अध्यक्ष बाबू मिठाईलाल थे, जिनकी चौक में मिठाई की बड़ी दुकान थी। बन्धु बाबू मिठाईलाल ही हमारे कॉलेज के कर्त्ता-धर्ता थे, उन्हीं की इच्छा से नियुक्ति होती थी और उन्हीं की अप्रसन्नता से नौकरी समाप्त होती थी। हम सब

लेक्चरर-प्रोफेसर लोग बाबू मिठाईलाल की दुकान पर रोज जाते थे। प्रातःकाल जब हमें पढ़ाने के लिए अध्ययन करना चाहिए, हम बाबूजी की दुकान पर बैठकर उनकी प्रशंसा करते या उनके बच्चों को खिलाते थे। बन्धु, मैंने जलेबी बनाना सीख लिया था और कई बार उनकी दुकान पर जब मेरे साथी न होते, मैंने जलेबी भी बनायी थी। इससे बाबूजी बहुत प्रसन्न हुए थे।

बन्धु, एक बार उस कॉलेज में, असिस्टेण्ट प्रोफेसर की एक जगह खाली हुई। यह ऊँचा पद था और वेतन भी ड्योढ़ा था। मुझसे दो सीनियर लेक्चरर थे। मेरा नम्बर तीसरा था। इसलिए, सबको विश्वास था कि वह पद उन दो में से किसी को मिलेगा। पर मैं निराश नहीं हुआ। मैंने भी प्रयत्न किये। मैं बाबू मिठाईलाल की दुकान पर अधिक बैठने लगा। मैंने बड़ी लगन से इमरती बनाना भी सीख लिया और जब एक दिन मैंने इमरती बनाकर दिखायी तब तो बाबूजी बहुत प्रसन्न हुए। कहने लगे, 'वाह, मुझे नहीं मालूम था कि इतिहास का प्रोफेसर इतनी अच्छी इमरती बना सकता है।' मैंने कहा, 'बाबूजी, सब आपकी कृपा है।'

बन्धु विष्णुदत्त, मेरे वे दोनों प्रतिद्वन्द्वी भी बाबूजी के पास अब अधिक बैठने लगे थे। मुझे मालूम हो गया था कि वे चुपके-चुपके जलेबी बनाना सीख रहे हैं। पर तब तक मैं इमरती बनाना सीख चुका था और वे पिछड़ गये थे।

एक दिन जब मैं बाबूजी की दुकान पर पहुँचा, तो वे उदास दिखे। मैंने कहा, 'बाबूजी, आप आज कुछ उदास दिख रहे हैं। सब कुशल तो है न?' वे दार्शनिक की तरह बोले, 'अरे भाई, दुनिया में सुख-दुख तो लगे ही हैं। जब तक देह है तब तक दुख है।' मैंने कहा, 'फिर भी यदि आपत्ति न हो तो अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताइए। शायद मैं कुछ कर सकूँ।' बाबूजी कहने लगे, 'बात यह है कि अपना नया मकान जहाँ बन रहा है, वहाँ एक आदमी ने कई साल पहले आत्महत्या की थी। उसका प्रेत वहाँ रहता है। पण्डितजी ने बताया है कि वह मकान में रहने वालों को परेशान करेगा।' मैंने कहा, 'प्रेत की शान्ति का उपाय भी तो होता है।' वे बोले, 'हाँ, वही बता रहा हूँ। पण्डितजी ने कहा है कि विधिपूर्वक शुभ मुहूर्त में पूजा करके आदमी का एक दाँत नींव में गाड़ देने से प्रेत शान्त हो जायेगा। चिन्ता का विषय यह है कि दाँत कैसे मिले।' यह सुनकर मैंने कहा, 'इसमें क्या कठिनाई है? कितने ही लोगों के दाँत गिरते रहते हैं। मैं ही एकाध ला दूँगा।' बाबूजी हँसे। कहने लगे, 'तुम समझे नहीं। अपने-आप उखड़ा हुआ दाँत नहीं चलेगा। इस कार्य के लिए ताजा उखाड़ा हुआ दाँत चाहिए।' बन्धु, मैं विचार में पड़ गया। मैंने सोचा कि स्वामी पर संकट आया है। मुझे इनके हित के लिए त्याग करना चाहिए। मैंने कहा, 'बाबूजी, मेरा एक दाँत जरा हिलता है। अगर आप कहें तो ...' बाबूजी बीच में ही बोल पड़े, 'अरे तुम जवान आदमी हो। तुम्हारा दाँत क्यों हिलेगा ?' मैंने कहा, 'नहीं बाबूजी, मैं सच कहता हूँ। एक थोड़ा-थोड़ा हिलता है। मैं इसे उखड़वाकर आपको दे दूँगा।' बाबूजी सन्तुष्ट हुए। फिर भी संकोच से बोले, 'सोच लो। तुम्हारा सुडौल चेहरा थोड़ा बिगड़ जायेगा।' मैंने कहा, 'बाबूजी, क्या मैं

और क्या मेरा चेहरा? आपके लिए तो मैं पूरी बत्तीसी उखड़वा दूँ।' बाबूजी बोले, 'तो ठीक है। कल दोपहर बारह बजे का मुहूर्त है। तुम सुबह डेण्टिस्ट वर्मा के यहाँ चले जाना। वे उखाड़ देंगे।'

बन्धु, रात्रि को मैंने पत्नी से कहा, 'प्रिये, मेरी तरक्की असिस्टेण्ट प्रोफेसर के पद पर हो जायेगी।' उसने कहा, 'लेकिन तुमसे दो आदमी सीनियर हैं।' मैंने उसे बाबूजी से हुई बात बतलायी। सुनकर वह बहुत बिगड़ी। कहने लगी, 'हमें नहीं चाहिए, ऐसी तरक्की। हम भूखे रह लेंगे, पर ऐसी नौकरी नहीं करेंगे, जहाँ दाँत देना पड़े।' मैंने समझाया, 'मूर्खे, दाँत देने में कोई हरज नहीं। लोग तो नाक और कान देकर तरक्की पा रहे हैं। नाक एक होती है और कान दो, पर दाँत तो बत्तीस होते हैं। एक चला गया, तो क्या हुआ?' स्त्री ने हठ पकड़ ली। बोली, 'नहीं, मैं तुम्हारा दाँत नहीं जाने दूँगी। तुम्हारा ऐसा सुन्दर चेहरा बिगड़ जायेगा। तुम साफ कह दो कि मुझे दाँत नहीं देना।'

बन्धु, स्त्री के हठ के सामने बड़े-बड़े वीर नहीं टिक सके। मैं तो साधारण आदमी था। प्रातःकाल मैं बाबूजी के पास पहुँचा और बड़ी कातरता से बोला, 'बाबूजी, एक धर्म-संकट आ गया है। घर में पत्नी को एतराज है।' यह सुनकर बाबूजी जोर से हँसे। कहने लगे, 'अरे तुम-जैसा आदमी भी औरत के बहलावे में आ गया। औरत में अकल भी होती है, जाओ, सीधे डॉक्टर वर्मा के पास चले जाओ। घर मत जाना।'

मेरा मन फिर मजबूत हो गया और मैं डॉक्टर वर्मा के पास गया। दाँत उखड़वाया और कागज में लपेटकर बाबूजी को सौंप दिया।

बन्धु, कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरी नियुक्ति उस पद पर हो गयी। मैंने शेष जीवन सुख से बिताया। समय आने पर देह त्यागकर उस लोक गया। वहाँ धर्मराज के सामने उपस्थित किया गया। मेरे पाप-पुण्य का लेखाजोखा पेश किया गया। धर्मराज ने कहा, 'इस मनुष्य ने अपने स्वामी के लिए दाँत दिया था, इसने एक दाँत देकर अपनी उन्नति का रास्ता बनाया था। इसे इस पुण्य का फल मिलना चाहिए। इसे अगले जन्म में बड़े दाँत मिलना चाहिए। इसे हाथी या जंगली सुअर की योनि में पृथ्वी पर जन्म दिया जाये।' यह सुनकर सचिव ने कहा, 'महाराज, इसका पुण्य इस कोटि का नहीं है कि इसे हाथी या सुअर बनाया जाये।' तब कुछ सोचकर धर्मराज ने आदेश दिया, 'अच्छा, तो इसे मनुष्य ही बनाओ, पर एक के बदले दो बड़े-बड़े दाँत का।'

बन्धु विष्णुदत्त, यही मेरे पिछले जन्म का वृत्तान्त है। ये दाँत वरदान के हैं और लोग कहते हैं कि इन्हें उखड़वा दो।'

...कथा सुनाकर बैताल बोला, 'हे विक्रम, यह कथा देवदत्त ने विष्णुदत्त को सुनायी। तूने भी सुनी। अब तू बता कि कथा सुनकर विष्णुदत्त हँसा होगा या रोया होगा?'

विक्रम ने एकदम कहा, 'रोया होगा।'

यह सुनते ही बैताल उड़ा और जाकर उसी वृक्ष पर फिर लटक गया।''

बैताल की सत्ताईसवीं कथा

तब बैताल ने विक्रम से कहा, ''हे विक्रम, तू मुझे फिर वृक्ष पर से उतार लाया। तेरे परिश्रम से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए तेरा मन बहलाने को एक कथा कहता हूँ। सुन—

बहुत पहले की बात है। एक इलाके में डाकू बहुत हो गये थे। उनकी लूट-मार से उस इलाके के लोग जब हाहाकार करने लगे, तब सरकार ने कहा कि घबराओ मत, हम पुलिस भेजकर सब डाकुओं को मरवा डालेंगे। वहाँ पुलिस आयी और कई साल उसकी डाकुओं से लड़ाई होती रही; पर डाकू नहीं मरे। सरकार के पास कुछ सयाने रहते थे। उन्होंने सरकार से कहा, 'ये डाकू तुम से नहीं मर सकते। और सच पूछो तो डाकुओं को मारने की जरूरत ही नहीं है। ये शरीर से डाकू नहीं हैं; हृदय से डाकू हैं। हृदय भी तरह-तरह के होते हैं, जिसे जैसा हृदय मिल जाता है, वह वैसे ही काम करने लगता है। यदि इन डाकुओं के हृदय बदल दिये जायें, तो ये डाके डालना छोड़ दें। अपने देश में एक सन्त हैं, जो जादू से लोगों के हृदय बदलते हुए घूम रहे हैं। उन्हें यहाँ बुलाया जाये और उनसे डाकुओं का हृदय-परिवर्तन करवा लिया जाये।' सरकार को यह सलाह पसन्द आ गयी। उसने सयानों को सन्त के पास भेजा और अपनी पुलिस से कहा कि तुम हट जाओ, हमें डाकुओं को मारना नहीं है, उनका हृदय-परिवर्तन करना है।

हे विक्रम, एक दिन सन्त अपने दल-बल समेत डाकुओं के इलाके में आ गये। उनके आते ही डाकुओं में भगदड़ मच गयी। वे बहुत घबराये। वे पुलिस का सामना कर सकते थे, पर सन्त का सामना करने की हिम्मत उनमें नहीं थी। डाकुओं के हृदय पर इतना बड़ा संकट कभी नहीं आया था। वे अपना-अपना हृदय सँभाले जहाँ-तहाँ भागने लगे। जंगल में चीख-पुकार मच गयी, 'अरे भागो! सन्त आ रहे हैं। अगर पकड़ लिया तो हृदय बदल देंगे !'

हे विक्रम, डाकुओं की हालत बड़ी दयनीय हो गयी। जहाँ छिपते, वहीं सन्त के भक्त आ जाते और कहते, 'चलो हृदय-परिवर्तन करवाओ।' डाकू, सन्त के डर से उसी तरह भागकर छिप रहे थे, जिस तरह पहले गाँवों में हैजे का टीका लगाने वाले डॉक्टर से गाँववाले भागते थे।

एक डाकू सरदार जालिम सिंह एक वृक्ष के नीचे बन्दूक के कुन्दे पर सिर रखकर चिन्ता में बैठा था। सोच रहा था, इस हृदय को लेकर कहाँ जाऊँ? इसे कैसे बचाऊँ ? एकाएक उसे खयाल आया कि पास के कस्बे में भैया सा'ब रहते हैं जो कभी-कभी मेरे सहायक भी हुए हैं। भैया सा'ब बड़े प्रसिद्ध नेता थे और वे मन्त्री बनने की कोशिश कर रहे थे। देश के आजाद होने से उन्हें बड़ा फायदा हुआ था। उनकी तीन इमारतें बन गयी थीं और व्यापार भी अच्छा चलने लगा था।

जालिम सिंह भैया सा'ब के पास पहुँचे। उसे देखते ही भैया सा'ब बोले, 'क्यों जालिम सिंह! आज कैसे आये?' जालिम सिंह ने कहा, 'भैया सा'ब, बड़ा संकट आया है। एक सन्त आये हैं, जो डाकुओं को पकड़-पकड़कर उनका हृदय बदल रहे हैं। भला बताइए, अगर हृदय

ही चला गया, तो हमारे पास क्या रहेगा? आप मेरी मदद करें। मेरे हृदय को कुछ दिन आप अपने पास रख लें। फिर मैं ले जाऊँगा।'

भैया सा'ब दुविधा में पड़ गये। बोले, 'रख तो लूँ, पर बड़े जोखिम का काम है। आजकल हृदय के हजार दुश्मन पैदा हो गये हैं। कहीं कुछ गड़बड़ हो गयी, तो तू मुझे दोष देगा।'

जालिम सिंह ने कहा, 'भैया सा'ब, आपके पास हृदय बिल्कुल सुरक्षित रहेगा। हृदय की रक्षा के लिए आपके पास तरह-तरह के मन्त्र हैं, दर्शन है, धर्म है, नीति है; अच्छे-अच्छे प्रस्ताव हैं, अच्छे-अच्छे नारे हैं। इनके कारण किसी सन्त का जादू आप पर नहीं चल सकता। आप तो रख लीजिए।'

भैया सा'ब आखिर राजी हो गये। जालिम सिंह ने हृदय निकाला और भैया सा'ब के हाथ में दे दिया। उन्होंने अपना हृदय निकालकर एक कपड़े में बाँधकर नाबदान में छिपा दिया और जालिम सिंह का हृदय उस खाली स्थान में रख दिया। जालिम सिंह जंगल में लौट गया।

सन्त का जादू चल गया था। उन्होंने कई हृदय बदल दिये थे। उनके भक्तों ने हृदय परिवर्तन के गीत बनाकर गाये। कुछ दिन वहाँ रहकर एक दिन सन्त अपने दल के साथ हृदय-परिवर्तन के गीत गाते हुए चले गये।

जालिम सिंह की जान में जान आयी। वह भैया सा'ब के पास गया और बोला, 'भैया सा'ब, मैं आपका एहसान जीवन-भर नहीं भूलूँगा। आपने इतने घोर संकट में मेरे हृदय की रक्षा की। लाइये, अब मेरा हृदय मुझे वापस कर दीजिए।'

यह सुनते ही भैया सा'ब तपाक से बोले, 'हट, अब नहीं देते।' और उसे अँगूठा बता दिया। जालिम सिंह उनके मुँह की ओर देखने लगा। वह कुछ कर भी नहीं सकता था, क्योंकि अपना हृदय खो चुका था। आखिर वह रोता हुआ कहीं चला गया। उसके बाद जालिम सिंह डाकू इलाके में कहीं दिखा ही नहीं। उसने एक सेठ के घर बच्चे खिलाने की नौकरी कर ली।

और सब ओर हल्ला हो गया कि भैया सा'ब ने जालिम सिंह का हृदय परिवर्तन कर दिया। हे विक्रम, तू बता कि किसका हृदय-परिवर्तन हुआ, और किसने किया?

विक्रम ने उत्तर दिया, 'भैया स'ाब का हृदय-परिवर्तन हुआ और जालिम सिंह ने किया।' यह सुनकर बैताल फिर उड़ा और उसी वृक्ष से लटक गया।''

◆

बैताल की अट्ठाईसवीं कथा

तब बैताल ने कहा, ''हे विक्रम, तू मुझे फिर वृक्ष पर से उतार लाया। मैं तेरी लगन देखकर

बहुत सन्तुष्ट हूँ। तेरे मनोरंजन के लिए एक कथा और सुनाता हूँ, सो सुन–

किसी समय एक नगर में कपड़े का एक व्यापारी रहता था, जिसका नाम धरमचन्द था। सेठ धरमचन्द नाम के अनुरूप ही धर्मात्मा आदमी था। वह सुबह-शाम मन्दिर जाता था और लगभग एक घण्टा प्रार्थना करता था। मन की एकाग्रता में कभी-कभी उसे सट्टे के अंक भी सूझ जाते थे। उसकी दूकान पर धर्म-पेटी रखी थी। वह बड़ा मिलनसार और मधुर स्वभाव का व्यक्ति था। जाग्रत अवस्था के अट्ठारहों घण्टे उसके मुख पर चौड़ी मुसकान खेला करती और इस लम्बी कसरत से उसका मुँह कानों तक फट गया था। दाँत बाहर हो गये थे और उसे बिना प्रयत्न दीनता प्रकट करने की सुविधा मिल गयी थी। जब वह किसी से बोलता, तो उसके मुख पर ऐसी मीठी मुसकान खेलती, दाँत ऐसी दीनता बताते और आँखों में ऐसी लाचारी होती कि सामनेवाले से वह यदि उसका सिर भी माँग लेता, तो वह एकाएक न नहीं कर सकता था। धरमचन्द बहुत ईमानदार था, क्योंकि ग्राहक से बात करते हुए वह 'ईमान से' कहता जाता था। वह सच्चा आदमी था, क्योंकि वह कपड़े की दर और उधारी का हिसाब 'भगवान् की कसम' खाकर बताता था।

हे विक्रम, धर्मात्मा आदमी की परीक्षा ईश्वर बार-बार लिया करता है। धरमचन्द पर भी मामले-मुकदमे चलते रहते थे। कभी वह किसी पर मुकदमा चलाता था और कभी कोई उस पर। ऐसा ही एक मुकदमा उस पर चल रहा था कि उस साहब का तबादला हो गया, जिसके सामने वह मुकदमा था। मामला बड़ा कमजोर था और धरमचन्द की हार निश्चित थी पर वह निराश नहीं हुआ।

नये साहब एक दिन कपड़ा खरीदने बाजार आये और संयोग से धरमचन्द की दूकान में घुस पड़े। देखते ही धमरचन्द ने पहचान लिया कि इन्हीं साहब के सामने मामला है। उसने कपड़ा नापना छोड़ दिया और हाथ जोड़कर सीढ़ी पर खड़ा हो गया 'पधारिये साहब।' साहब को कुर्सी पर बिठाकर उसने पान की तश्तरी आगे की और कहा, 'बड़ी किरपा की, साहब! क्या सेवा करूँ?' साहब ने कहा, 'कोई कमीज का अच्छा-सा कपड़ा दिखाओ।'

धरमचन्द अच्छे-अच्छे कपड़ों के थान खोलकर साहब के सामने फैलाने लगा। ऐसे प्रेम-विभोर होकर कपड़े फैला रहा था, जैसे भक्त भगवान को भोग लगाता है। साहब ने एक कपड़ा पसन्द किया और पूछा, 'क्या भाव है इसका?' धरमचन्द ने हाथ जोड़कर कहा, 'हमको क्यों लज्जित करते हैं? दूकान आपकी है। कितने कमीजों का काट दूँ ?' साहब का मुख कठोर हो गया। वे बोले, 'नहीं, मैं ऐसे नहीं लेता। कभी नहीं लिया। दाम बताओ।' हे विक्रम, साहब भी ईमानदार थे। इस समय दो ईमानदारों की टक्कर हो रही थी। धरमचन्द थोड़ी देर चुप बैठा रहा। फिर उसने हार मान ली और बड़े दुःखी स्वर में कहा, 'चार रुपये सात आने।' साहब ने सुना। उनके चेहरे पर से कठोरता एकदम गायब हो गयी और उसका स्थान पीड़ा ने ले लिया। साहब बहुत परेशान हो गये। धरमचन्द बड़े ध्यान से साहब के चेहरे को देख रहा था और उनकी पीड़ा से उसका कोमल हृदय फटा जा रहा था। साहब ने अटकते हुए स्वर में कहा, 'नहीं, भई, इतना महँगा नहीं पहिन सकित।' वे उठकर चलने

लगे। धरमचन्द ने उनके मुख को देखा और वह स्वयं रुआँसा हो गया। उसने विनती की, 'साहब, कीमत की कोई बात नहीं। आप ले तो जाइए।' यह सुनकर न जाने क्यों साहब को क्रोध आ गया। वे धरमचन्द को रास्ते से हटाकर दूकान से बाहर निकल गये। जब तक वे आँखों से ओझल नहीं हो गये, धरमचन्द उन्हें देखता रहा। फिर मन मसोसकर काम में लग गया। हे विक्रम, दो ईमानदारों की टक्कर में बेचारा धरमचन्द परास्त हो गया।

हे विक्रम, उस शाम को जब धरमचन्द भगवान के सामने प्रार्थना करने बैठा, तो उसके निर्मल हृदय से स्वर उठा, 'हे धरमचन्द, तूने साहब का वह दुखी मुख देखा? उनकी आँखों में कितनी विवशता थी, कितनी निराशा थी। कितने लालच से उन्होंने वह कपड़ा पसन्द किया था और कीमत सुनकर चेहरा कैसा उतर गया था। सोचते होंगे—हाय, हम अफसर कहलाते हैं, पर मन का कपड़ा भी नहीं पहन सकते। धरमचन्द, तू तो अफसरों की हालत भली-भाँति जानता है। तू बड़ा दयालु मनुष्य है। क्या तुझे साहब पर दया नहीं आती? क्या तू उस दुखी की इतनी-सी इच्छा पूरी नहीं कर सकता ? धिक्कार है, तेरे पूजन-वन्दन को। अरे मूर्ख, दया धरम का मूल है...' धरमचन्द ने आत्मा की आवाज सुनी। उसका हृदय भर आया। उसकी नजरों में साहब का चेहरा झूल गया और आँसुओं की धारा बहने लगी। धोती से आँसू पोंछकर उसने हाथ जोड़े और कहा, 'हे भगवन्, मुझसे बड़ी भूल हुई। दयानिधान, वस्त्र के मामले में मैं आपकी उदारता जानता हूँ। जब आप द्रौपदी को एक-के-बाद-एक सैकड़ों साड़ियाँ देते गये, तो मैं आपका भक्त क्या साहब को कमीज नहीं पहना सकता? हे प्रभु, ये साहब लोग ही आज की द्रौपदी हैं, महँगाई के दुःशासन ने जिनके कपड़े छीन लिये हैं। हे प्रभु, मुझे शक्ति दो, बल दो। मुझे आशीष दो कि मैं उस दुखी का दुःख हर सकूँ। प्रभु, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से एक महीने के भीतर साहब को उस कपड़े का कमीज पहनाकर रहूँगा।' प्रतिज्ञा करने से धरमचन्द का मन हल्का हो गया।

आठ दिन बीत गये। नवें दिन प्रातःकाल धरमचन्द ने स्नान किया, तिलक लगाया और दूकान पर आया। उसने उस थान में-से चार कमीजों का कपड़ा फाड़ा और कागज में लपेटकर बगल में दबाया। मन-ही-मन ईश्वर का ध्यान किया और साहब के घर पहुँच गया। साहब ने उसे पहचान लिया। पूछा, 'क्यों सेठजी, कैसे आये?' सेठ ने सकुचाते हुए धीरे-धीरे कपड़ा खोला और कहा, 'हुजूर, अभी बम्बई गया था। वहाँ एक कटपीस की दूकान में यह कपड़ा बड़ा सस्ता मिल गया। आप विश्वास नहीं करेंगे, यह सात आने गज पड़ गया। मैं सब-का-सब ले आया। छह कमीजों का था। दो कमीजों का मैंने अपने लिए रख लिया और यह चार का हुजूर के लिए ले आया।' उसने कपड़ा साहब के हाथ में दे दिया। साहब ने कपड़ा देखा, फिर सेठ की तरफ देखा, फिर खिड़की से बाहर देखा, फिर जमीन की तरफ देखते हुए कहा, 'बड़ा सस्ता मिल गया। अच्छा किया जो आप ले आये।' धरमचन्द ने कहा, 'हम तो साहब, सेवा करने को हमेशा तैयार रहते हैं। धन-दौलत साथ नहीं जाती। सेवा ही साथ जाती है।' साहब ने सात आने गज के हिसाब से कीमत दी,

जो धरमचन्द ने सहर्ष ले ली। चलते-चलते वह बोला, 'साहब यहाँ के दर्जी बड़े बदमाश हैं। आप नये ही आये हैं। मैं अपना विश्वासी दर्जी भेजूँगा।'

शाम को धरमचन्द का विश्वासी दर्जी गया और साहब का नाप तथा कपड़ा ले आया। इधर रात को धरमचन्द भगवान् के सामने बैठा और हाथ जोड़कर विनती करने लगा, 'प्रभु, मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। साहब अब अवश्य ही उस कपड़े को पहन सकेंगे। यह सब आपकी ही इच्छा से हुआ है। अब मेरी लाज आपके हाथ है।'

हे विक्रम, कमीजें बन गयीं, पट्टियाँ लग गयीं, इस्तरी हो गयी। उठाकर पहनने लायक हो गयीं। जिस दिन साहब के सामने मामला पेश होना था, उसी दिन सुबह धरमचन्द तैयार कमीज लेकर साहब के पास पहुँच गया। साहब तैयार कमीजों को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने धरमचन्द को पुनः धन्यवाद दिया।

हे विक्रम, ऐसा कौन साहब होगा जो ऐसी अच्छी कमीज पहनने में देर करे? अर्थात् कोई नहीं। ये साहब भी उनमें से एक कमीज पहनकर दफ्तर गये।

साहब के सामने मामला पेश हुआ। उन्होंने पक्ष-विपक्ष समझा। इसी समय धरमचन्द सामने से साहब की ओर देखता निकल गया। दोनों मुसकरा उठे। हे विक्रम, उस छवि का वर्णन तो शारदा भी नहीं कर सकती।

साहब ने फैसला लिखने के लिए कलम उठायी। इसी समय किसी अन्तःप्रेरणा से उनकी नज़र अपनी कमीज पर पड़ी। सहसा एक चमत्कार हुआ—एक क्षण में वह कपड़ा फौलाद में परिवर्तित हो गया। उस फौलादी कमीज के वजन से साहब की रीढ़ झुक गयी। कमीज धीरे-धीरे सिकुड़ने लगी और साहब के अंग-अंग कसने लगे। आस्तीन सिकुड़कर हाथों को कसने लगी। कालर ने सिकुड़कर गला घोंट दिया। साहब कराह उठे। कमीज सिकुड़ती ही जा रही थी। घबराकर साहब ने फुर्ती से धरमचन्द के पक्ष में निर्णय लिख दिया। एक क्षण में कमीज फिर कपड़े की हो गयी। कैसा चमत्कार हुआ।

धरमचन्द के जीतने की खबर फैल गयी। सबको आश्चर्य हुआ। कोई कहता, 'साहब ने ईमान खो दिया।' कोई कहता, 'साहब बेचारा क्या करे? ईमान तो धरमचन्द का गया।' कुछ लोग कहते कि दोनों ने ईमान खोया।

कथा समाप्त कर बैताल थोड़ी देर चुप रहा। फिर बोला, 'हे विक्रम, कथा तूने भी सुनी। अब तू बता कि किसका ईमान गया—साहब का, धरमचन्द का या दोनों का?'

विक्रम ने तुरन्त उत्तर दिया, 'ईमान किसी का नहीं गया। क्योंकि धरमचन्द ने कपड़े के दाम लिये और साहब ने भी कीमत देकर कपड़ा लिया।'

यह सुनकर बैताल उड़ा और फिर उसी वृक्ष पर जाकर लटक गया।"

◆

मेनका का तपोभंग

मेनका रो रही थी और इन्द्र समझा रहा था, "ऐसा क्या हो गया? तेरे लिए यह पहला अवसर तो था नहीं। तूने आज तक शिकायत नहीं की। पर आज तू बिल्कुल पतिव्रता-जैसी बात कर रही है।"

सुन्दरियों की मुसकानों और कटाक्षों को ग्रहण करने का अभ्यास था इन्द्र को। रोती हुई सुन्दरी को शान्त करना उसे नहीं आता था।

मेनका ने पल्ले का इत्र निचोड़कर आँसू पोंछे और कहा, "मैं इस कार्य के लिए अब कभी नहीं जाऊँगी। मेरा घोर अपमान हुआ है। मेरी ऐसी विडम्बना कभी नहीं हुई।"

"कैसा अपमान हुआ? मुझे बता तो।" इन्द्र ने बात का आधार पकड़ा।

मेनका फिर रोने लगी। इन्द्र ने कहा, "सुन्दरी, पाउडर की परतें धुल रही हैं, स्नो बह रहा है, रूज धुल रहा है। मेरी खातिर नहीं तो अपने मेकअप के खातिर ही रोना बन्द कर।"

मेनका ने रोना बन्द कर दिया। कहा, "किसी समय मेरी ऐसी महत्ता थी कि बड़े-बड़े तपस्वियों का तप भंग करने भेजी जाती थी और आज मैं इतनी गयी बीती हो गयी हूँ कि···"

महीने-भर पहले ही मेनका पृथ्वी पर भेजी गयी थी और उसके जिम्मे वही काम था जो वह युगों से करती आ रही थी। उस दिन दोपहर को इन्द्र भोजनोपरान्त सिंहासन पर लुढ़का ऊँघ रहा था कि एकाएक इन्द्रासन डोल उठा। वह चौंककर खड़ा हो गया और काँपते सिंहासन को देखता रहा। फिर खुद भी सिंहासन की ही तरह काँपने लगा।

कहीं से घूमते-घामते नारद मुनि आये। इन्द्र को देखा, घबराया हुआ विवर्ण मुख। पूछा, "क्या बात है, देवराज? कौन-सा संकट आ गया? किसी तपस्वी ने तुम्हें चुनौती दी होगी, किसी पुण्यवान का धक्का लगा होगा।"

इन्द्र ने कहा, "सो तो जानता हूँ। मनुष्यों में कोई घोर तपस्या कर रहा है। कोई मेरा पद छीनना चाहता है, कोई इन्द्रासन पर अधिकार करना चाहता है। आप तो सकल ब्रह्माण्ड में घूमते रहते हैं। बताइए किसकी तपस्या इतनी बढ़ गयी है?"

नारद ने ध्यान किया। फिर आँखें खोलकर कहने लगे, "मैं समझ गया, देशभूषण भैया सा'ब की तपस्या चरम सीमा पर पहुँच गयी है। वे इन्द्रासन के अधिकारी हो ही रहे हैं।"

भय और उत्सुकता से इन्द्र ने पूछा, "भैया सा'ब कौन हैं? कहाँ रहते हैं? क्या करते हैं? कैसी तपस्या करते हैं? सो सब समझाकर कहिए, मुनिवर! आशंका से मैं मरा जा रहा हूँ।"

नारद ने पृथ्वी पर भैया सा'ब का पता-ठिकाना बताया और उनकी तपस्या के सम्बन्ध में बतलाने लगे, "देवराज, भैया सा'ब कितनी ही तरह की तपस्या करते हैं। वे पिछले तीस वर्षों से मानव-सेवा कर रहे हैं। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में वे दो बार जेल

गये। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् वे जिम्मेदारी के पदों पर रहकर शासन चलाते रहे हैं। इसके अतिरिक्त वे और कई तरह की सेवा करते हैं। वे हरिजन सेवक-संघ के नेता हैं और हरिजनों का कल्याण करते हैं। भारत-सेवक-समाज के नेता के रूप में सम्पूर्ण भारत की सेवा करते हैं। सर्वोदय आन्दोलन में भी वे हैं और सबके समान विकास के लिए कार्य कर रहे हैं। महिला-उत्कर्ष-मण्डल के वे अध्यक्ष हैं और नारी जाति की सेवा कर रहे हैं। विस्थापित-संघ के भी वे अध्यक्ष हैं और दुखी शरणार्थियों के आँसू पोंछते हैं। भिक्षुक-सदन के वे व्यवस्थापक हैं। देवराज, भैया सा'ब के गुण तो सरस्वती भी नहीं गा सकती! वे प्रतिदिन दो-तीन सभाओं में मानव-कल्याण पर भाषण दिये बिना सोते नहीं हैं। एक दिन रात को भैया सा'ब अपने कमरे में बैठे-बैठे रस्सी से गला घोंट रहे थे। प्राण निकलने ही वाले थे कि उनका एक भक्त वहाँ आ गया। उसने पहले तो गला ढीला किया, फिर पूछा, 'भैया सा'ब, आप गला क्यों घोंट रहे थे?' भैया सा'ब ने कहा, 'ऐसे गले को क्या करूँ जिसमें आज दिन-भर एक भी पुष्पहार नहीं पड़ा... !' "

"बस, उसी दिन से उनके भक्तों ने, भैया सा'ब के मूल्यवान प्राणों की रक्षा के लिए यह नियम बना लिया है कि प्रतिदिन शाम को उनमें से कोई उनके गले में हार डाल देता है। हे इन्द्र! सारा संसार भैया सा'ब की जय बोल रहा है। स्वर्ग का राज्य वे किसी दिन भी तुमसे छीन लेंगे।"

इन्द्र चिन्ता में डूब गया। नारद मौन हो गये। इन्द्र ने धीरे से सिर उठाया। भर्रायी आवाज में बोले, "मुनिवर, मैं अब क्या करूँ! इन्द्रासन की रक्षा कैसे हो?"

नारद ने हँसते हुए कहा, "यह तो तू जानता ही है। ऐसे संकट पहले भी आ चुके हैं।"

इन्द्र ने कहा, "तप भंग करवाऊँ? मेनका को भेजूँ?"

नारद हँसे, बोले, "मैं बतलाता हूँ, वैसा कर। महिलाओं के काम करने, उन्हें पढ़ाने और गृहकार्य सिखाने के लिए महिला-उत्कर्ष मण्डल को एक केन्द्र-संचालिका की आवश्यकता है। भैया सा'ब मण्डल के अध्यक्ष हैं और उन्होंने पत्रों में विज्ञापन दिया है। मेनका से रूप बदलवाकर उक्त पद के लिए आवेदन-पत्र दिलवा दें।"

इन्द्र ने आपत्ति की, "पर मेनका अपना पता-ठिकाना क्या देगी? देवलोक में तो पृथ्वी से अभी डाक आती नहीं है।"

नारद ने समस्या को हल किया, "फिर ऐसा करो, उक्त पद के लिए कालीपुर की अन्यतम रूपवती तरुणी किरनबाला ने आवेदन-पत्र दिया है। तुम मेनका से कहो कि सूक्ष्म रूप में उसके शरीर में प्रवेश कर जाये और अपना काम करे।"

इन्द्र की आज्ञानुसार मेनका किरनबाला के शरीर में प्रविष्ट हो गयी, जिससे उसका लावण्य कई गुना बढ़ गया। किरनबाला की चेतना पर मेनका का अधिकार हो गया, इसलिए हम उसे मेनका नाम से ही जानेंगे।

मेनका को एक दिन इण्टरव्यू का न्यौता मिला। एक सप्ताह बाद इण्टरव्यू हुआ। इण्टरव्यू लेने अध्यक्ष भैया सा'ब बैठे, उनके दायें-बायें दो अन्य सदस्य थे। मेनका रूप की किरणें बिखेरती कमरे में आयी। भैया सा'ब ने उसे देखा तो उनकी पलकें झपक गयीं। पलकें खोलकर फिर देखा और फिर पलकें झपकने लगीं। प्रश्न पूछे जाने लगे।

''शिक्षा कहाँ तक हुई है?''

''बिल्कुल नहीं''। रूप-गर्विता शिक्षा को हेय वस्तु समझती थी।

''सीना-पीरोना। कढ़ाई-बुनाई, सिलाई आदि सिखा सकती हो?''

''नहीं, यह सब तो मुझे नहीं आता।'' रूप काम नहीं करता।

''शिशु-पाठन?''

''नहीं, शिशु से मेरा कभी काम ही नहीं पड़ा'', चिरकुमारी ने कहा।

एक सदस्य ने कहा, ''इनसे अपना काम नहीं चलेगा। इन्हें तो कुछ भी नहीं आता।''

भैया सा'ब ने जोर देकर कहा, ''नहीं, ये बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। इनमें छिपी हुई प्रतिभा और क्षमता को मेरी अनुभवी आँखें देख रही हैं। इनकी नियुक्ति होगी।''

मेनका की नियुक्ति हो गयी।

पन्द्रह-बीस दिन वहाँ रहकर आज ही देवलोक आयी है और तभी से रो रही है।

इन्द्र ने कहा, ''मुझे बताओ तो कि किसने तुम्हारा अपमान किया?''

मेनका ने कहा, ''विचित्र अनुभव हुआ है मुझे। मैंने बहुत तपस्वी देखे हैं, पर ऐसा पहली बार ही देखा। मैं दफ्तर के पास ही एक मकान में रहने लगी और तपस्वी को मोहित करने की योजना बनाने लगी। मैंने रूप को सँवारा, भाव-भंगिमाएँ साधीं, कटाक्ष और मुसकान में वक्रता का अभ्यास किया, हाव-भाव निश्चित किये और नृत्य-मुद्राएँ साधीं। मुझे तब विश्वास था कि तपस्वी को जीतना बड़ा कठिन होता है, अपने समस्त रूप-लावण्य और कौशल को दाँव पर लगाना पड़ता है। इसके बाद भी पहले अवहेलना और अपमान सहने पड़ते हैं। मैं इन सबके लिए तैयार थी। पर वहाँ तो उलटा ही हुआ। दो-तीन दिनों बाद ही भैया सा'ब खुद मेरे घर के चक्कर लगाने लगे। एक दिन घर में आकर बैठ गये और पूछने लगे कि 'तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं, कोई चीज तो नहीं चाहिए?' दूसरे दिन आये तो मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोले, 'तुम मेरी हृदयेश्वरी हो...।' मेरी सारी विद्याएँ रखी रह गयीं। मेरा मन शिथिल हो गया, कुरुचि से भर गया। मुझे ऊब-सी आने लगी। मैंने हाथ झटककर कहा, 'आपको यह शोभा नहीं देता। मैं तो आपकी नौकर हूँ। जिसे वेतन देते हैं, उसे हृदयेश्वरी नहीं बनाते।' वे मुग्ध-भाव से कहने लगे, 'कौन कहता है, तुम नौकर हो? तुम तो रानी हो। और मैं तुम्हारा दास हूँ।' मुझे न जाने कैसा लगा। दूसरे दिन आकर कहने लगे कि मैंने तुम्हारी तनख्वाह दुगुनी कर दी है। मैं फिर भी अनुकूल नहीं हुई। वे जाते-जाते धमकी दे गये कि 'तुम मेरी बात नहीं मानोगी तो मैं तुम्हें नौकरी से निकाल दूँगा।'

मैं कुछ समझ नहीं पा रही थी कि मुझे क्या करना है! मुझे व्यर्थता का अनुभव होने लगा, मेरा यहाँ क्या काम था जो मुझे भेजा गया?

''दूसरे दिन जब उन्होंने प्रणय-निवेदन किया तो मैंने कह दिया, 'भैया सा'ब, आप नहीं जानते, मैं मेनका हूँ।' एक क्षण तो वे आश्चर्य से देखते रहे। फिर बोले, 'अच्छा! तुम्हीं मेनका हो! मैंने तुम्हारा नाम बहुत सुना था। आज तुम्हें पाया।' मैंने कहा, 'जरा सोचिए तो। मुझे इन्द्र ने आपकी तपस्या भंग करने भेजा है।' वे बहुत खुश हुए। कहने लगे, 'यह मेरा अहोभाग्य है कि मैं इस योग्य समझा गया।' फिर कहने लगे, 'सुनो मेनका, अब तुम लौटकर इन्द्र के पास मत जाओ, यहीं रहो। मैं तुम्हारा सब प्रबंध कर दूँगा। चैन से रहो।' मैं बड़ी परेशान थी। खीझकर कहा, 'आप बिल्कुल भोले हैं। आपकी तपस्या से इन्द्रासन डोल उठा है। इन्द्र घबरा गया है। आप उसके सिंहासन पर बैठ सकते हैं।' यह सुनकर भैया सा'ब के मुख पर खिन्न मुसकान आयी। जानते हैं उन्होंने क्या कहा ?

''उनके शब्दों से मेरा सारा अभिमान नष्ट हो गया। मैं ग्लानि से गल गयी, यह सोचकर कि आपने मुझ-जैसी शक्तिमान् अप्सरा का उपयोग किस निकृष्ट कर्म के लिए किया है। मैं क्या इतनी गयी-बीती हूँ?

''उन्होंने जवाब दिया, 'मुझे गलत समझा गया। मैंने स्वर्ग पाने के लिए, इन्द्रासन पाने के लिए तपस्या नहीं की। मुझे यह कुछ नहीं चाहिए। मैं तो तुम्हारे लिए तपस्या कर रहा था, मेरी मेनका रानी!' ''

◆

मौलाना का लड़का : पादरी की लड़की

एक साधारण बँगले में चर्च थी। शिखर पर न क्रॉस, न घण्टा। एक हाल था और तीन कमरे। कमरों में पादरी सपरिवार रहता था और हाल में आराधना होती थी।

शहर में बड़े ओहदेदार ईसाइयों के लिए दो बड़ी विशाल, रोबदार चर्चें भी थीं। धर्म, धन के हिसाब से टीमटाम धारण कर लेता है। धनी ईसाइयों का ईसा झोंपड़ी में आये, यह उन्हें गवारा नहीं। और अगर गरीब ईसाइयों का ईसा भी शानदार चर्च में आने लगे, तो अमीरों के ईसा को ईर्ष्या होगी। इसीलिए गरीब मजदूरों, फिटरों, क्लीनरों और बस कण्डक्टरों के लिए किराये के बँगले में छोटी-सी चर्च खोल दी गयी थी।

लेकिन मौलाना शमशुद्दीन ने अपने बँगले का आधा हिस्सा दूसरे मजहब को इबादत के लिए कैसे दे दिया? वे कट्टर मुसलमान थे, खास मौकों पर मस्जिद में नमाज वही पढ़ाते थे। फिर भी शायद इस्लाम के एकेश्वरवाद ने ईसाई धर्म के एकेश्वरवाद को पड़ोस में बस जाने दिया। या साठ-सत्तर रुपये किराये के बँगले के लिए चर्चवालों ने जब दो सौ रुपये दिये, तो मौलाना की धार्मिक कट्टरता के मुँह पर ताला पड़ गया होगा। क्या पता, हजार

रुपये महीने में मौलाना शिवालय बना लेने देते!

पादरी सेमुअल दास बहुत नेक, ईमानदार और मिलनसार आदमी था। ठीक पहली तारीख को किराया पटा देता था और कभी मरम्मत की माँग नहीं करता था। बड़ा श्रद्धालु; प्रभुभक्त आदमी था। जब वह भरे गले से कहता, ''दीन मनुष्य धन्य हैं, क्योंकि वही स्वर्ग के राज्य के अधिकारी होंगे'', तब गरीब ईसाइयों की आँखें भर आतीं। चर्च के सदस्यों को पादरी अपने बच्चों की तरह प्यार करता था और उनमें से कोई यदि अधिक दिन आराधना में न आता, तो पादरी को उसकी आत्मा की चिन्ता पड़ जाती और वह उसे घर से बुला लाता।

मौलाना भी बड़े साफ-पाक आदमी थे और पादरी से उनकी अच्छी पटती थी, क्योंकि वह धार्मिक आदमी था और किराया समय पर देता था। एक बार जब मौलाना की नयी मुरगियों ने बड़ी साइज के अण्डे दिये थे, तब उन्होंने चार अण्डे पादरी को भी भिजवाये थे।

कुछ दिनों से मौलाना के इकलौते बेटे रफीक का झुकाव ईसाई धर्म की ओर हो रहा था। बड़ा भला लड़का था। बाप के संस्कार, शासन और सम्पत्ति ने उसे बिल्कुल ही सुशील बना दिया था, याने दब्बू, झेंपू और साहसहीन। वह दोपहर में पादरी की लड़की के पास बैठा हुआ बाइबिल पढ़ता पाया जाता था। दोनों का मेल-जोल कैसे हो गया, इसे सोचना व्यर्थ है, क्योंकि तरुण-तरुणी के मिलने के उचित कारण बेवकूफ ही खोजते हैं। फिर भी रफीक और बेला आध्यात्मिक स्तर पर ही मिले होंगे, क्योंकि एक तो रफीक दब्बू लड़का था, दूसरे बेला यौवन में ही विरागिनी-सी हो गयी थी। वह हमेशा धार्मिक अध्ययन और चर्चा में डूबी रहती थी और लोगों का खयाल था कि उसे पादरी से अधिक ज्ञान है और उससे कहीं अधिक प्रवचन कर सकती है। वे मनचले, जो हर चर्च में चमचमाती टाई पहनकर तरुणियों को रिझाने जाया करते हैं, यहाँ निराश हुए थे। प्रार्थना के बीच जब वे शोख नजरों से बेला की ओर ताकते, तो उसे नीची आँखें किये हुए पाते। उसकी नीरसता के कारण ही चर्च में हाजिरी कम हो गयी थी। मनचले यह कहकर चल दिये थे कि पादरी की लड़की तो 'रिसपान्स' ही नहीं देती। बात फैल गयी थी कि वह तो 'नन' बनने वाली है।

ऐसी बेला के पास जब रफीक आया, तो उसे वह भोले बच्चे-सा लगा। उसने उसकी आत्मा को प्रकाशित करने और उसे प्रभु ईसा के करुणांचल की छाया में लाने का निश्चय किया। रफीक रोज दोपहर को उसके पास बैठता और वह गद्गद हो उसे बाइबिल सुनाती और एक-एक बात पर लम्बे-लम्बे प्रवचन करती। रफीक उसके मुख की ओर एकटक निहारता हुआ आनन्द-विभोर हो सुनता रहता।

बाइबिल उसे बहुत अच्छी लगती थी। वह सुबह से ही सूर्य की गति देखता रहता कि कब दोपहर हो। रात को बड़ी देर तक उसकी आँखों के सामने बेला का मुख झूलता रहता और उसके शब्द कानों में गूँजते रहते।

उसकी आत्मा प्रकाशित होने लगी थी। उसका साहस भी जागने लगा था।

बेला की आत्मा में भी नया प्रकाश आने लगा। बाइबिल पढ़ने में उसे नवीन आनन्द की उपलब्धि होने लगी थी। सुबह से दोपहर तक वह भी एक-दो बार घड़ी देख लेती थी।

कुछ दिनों में तो दोनों की आत्माएँ और तेजी से प्रकाशित होने लगीं। रफीक ने अपनी विरल, खसखसी दाढ़ी मुड़वा ली और बेला ने बाइबिल का पुराना, मैला आवरण निकालकर एक सुन्दर सुनहला आवरण चढ़ा लिया।

मौलाना से एक दोस्त ने कहा, ''मौलाना, साहबजादे के रंग-ढंग अच्छे नहीं हैं। रोज पादरी की लड़की के साथ घण्टों बैठते हैं। पादरी बड़ा काइयाँ है। ईसाई बना लेगा।''

मौलाना में अभिमान और आत्मविश्वास बहुत था। बोले, ''किसी कुँजड़े-पिजारे का बेटा नहीं है, मौलाना का बेटा है। पादरी के पूरे खानदान को मुसलमान बनाकर छोड़ेगा।''

कह तो दिया, पर मौलाना बात को भूले नहीं। पता लगाया। मालूम हुआ कि बात सच है। सोचा, कोई हर्ज नहीं। अगर लड़की को मुसलमान बनाकर शादी हो, तो उन्हें कोई एतराज नहीं होगा। पादरी की लड़की को मुसलमान बनाने से इज्जत ही बढ़ेगी। पर अगर रफीक मियाँ खुद ही ईसाई होने लगे, तो घर से निकाल दिये जायेंगे। दर-दर की ठोकरें खायेंगे, भूखों मरेंगे, तब समझेंगे कि खुदा भी है कोई चीज।

उधर पादरी भी प्रसन्न था कि एक धनी मौलवी के लड़के को जब वह ईसाई बनाकर लड़की की शादी उससे करेगा, तब उन पादरियों पर उसका बड़ा रोब गालिब होगा, जो गरीब गोंड-भीलों को या अनाथ बच्चों को ईसाई बनाते हैं।

इधर मौलाना और पादरी की कशमकश चल रही थी, उधर रफीक और बेला की आत्मा में और प्रकाश आता जा रहा था। वे अब दो-दो, तीन-तीन घण्टे धर्म-चर्चा करते थे। उन्हें इस प्रकाश में गरमी भी मालूम होने लगी थी। इस प्रकाश में एक हरकत और थी, प्रकाश-पुंज एक-दूसरे के पास आना चाहते थे।

रफीक को बाइबिल के सपने आने लगे थे। एक रात उसे सपना आया—वह जंगल में भटक रहा है। सहसा उसे नदी तट की एक चट्टान पर बेला खड़ी दिखती है। वह सफेद वस्त्र पहने है और एक हाथ में फूलों का गुच्छा लिये हुए है। वह रफीक को देखकर मुसकरा देती है और संकेत से बुलाती है। रफीक पास जाता है, तब बेला एक हाथ उठाकर कहती है, 'मैं ही पुनरुत्थान और मैं ही जीवन हूँ। जो मुझमें विश्वास करता है, वह मरकर भी जीता है।...मैं ही जीवन हूँ, मैं ही सत्य हूँ।'

दोपहर को वह बेला के पास गया, तो उसका अजब हाल था। वह प्रेरित आत्मा-जैसा बदहवास हो गया था। ऊपर से रात्रि का जागरण, थकान और कातरता।

बेला ने पूछा, ''ये क्या हाल हैं आज? क्या तबीयत खराब है?''

रफीक ने जवाब पीछे दिया, पहले बेला का हाथ अपने हाथ में ले लिया। प्रेरित आत्मा जो थी। कहने लगा, ''बेला, रात को मुझे इलहाम हुआ। सपने में तुमने मुझसे कहा, 'मैं ही जीवन हूँ, मैं ही सत्य हूँ।' अहा! तुम कह रही थीं और मैं सुन रहा था! तुम्हारी आवाज

मेरे कानों में गूँज रही है! तुमने कहा था, जो मुझ पर विश्वास करता है, वह मरकर भी जीता है।''

बेला ने कहा, ''ये बातें प्रभु ईसा ने कही हैं।''

रफीक ने बेला के कन्धे झकझोर दिये। प्रेरित आत्मा थी न। फिर, मानो दूर से कोई रहस्य उस तक आ रहा है, ऐसे विश्वास की धीमी आवाज में बोला, ''नहीं, नहीं, बेला ! ये तुम्हारे वचन हैं। तुमने खुद मुझसे कहा था। तुम्हीं जीवन हो, तुम्हीं सत्य हो!''

और उसने जीवन और सत्य को खींचकर कलेजे से लगा लिया। प्रेरित आत्मा जो थी वह!

उन लोगों ने और बहुत-सी बातें परस्पर कहीं, जो न कुरान में कहीं लिखी हैं, न बाइबिल में। उन्हें याद आया कि प्रभु ने आदम की एक पसली निकालकर उससे औरत बनायी और कहा कि तुम दोनों पति-पत्नी हो। दोनों बहुत खुश थे कि वे प्रभु के बताये पथ पर चल रहे हैं।

लेकिन एक सवाल सामने आया, जो आदम और हौआ के सामने नहीं आया था। कौन कहे कि तुम पति-पत्नी हो? प्रभु तो इन छोटे-छोटे कामों के लिए आने से रहा। उसके स्थान पर पादरी या मौलवी यह कहा करते हैं।

बेला ने कहा, ''पिताजी तुम्हारा बपतिस्मा कर देंगे। फिर शादी भी करा देंगे।''

रफीक को एतराज था, ''बपतिस्मा क्यों होगा?'' उसने पूछा।

''क्यों? तुम प्रभु ईसा की छाया में नहीं जाओगे?'' रफीक मियाँ ने विचारा कि प्रभु ईसा की छाया में जाने से मौलाना की छाया उठ जायेगी। ईसा की शरणागतवत्सलता का क्या भरोसा? बाप की कृपा से ही तो वह मजे में जी रहा है। उसने कहा, ''नहीं, मैं ईसाई नहीं बनूँगा?''

बेला को धक्का लगा। उसने कहा, ''क्यों? तुम्हें तो ईसा से इतनी मुहब्बत है!''

''नहीं, मुझे तो तुझसे मुहब्बत है।''

बेला अनुनय करने लगी, ''ऐसी बात मत कहो, मेरे अच्छे रफीक! तुम इतने मन से बाइबिल पढ़ते हो।''

रफीक ने समझाया, ''बाइबिल तो इसलिए पढ़ता हूँ कि तुम पढ़ाती हो। बचपन में एक बूढ़ा खूसट मौलवी मुझे कुरान पढ़ाता था, निहायत बदसूरत और गन्दा आदमी! मुझे तभी से कुरान में दिलचस्पी नहीं रह गयी। भला बताओ इतनी पाक चीजें बदसूरत बूढ़े मर्द क्यों पढ़ाते हैं? इन्हें पढ़ाने का हक तो जवान और खूबसूरत आदमियों को ही है। तुम्हारे मुँह से मुझे शैतान की दास्तान भी अच्छी लगेगी।''

बेला का तो दिमाग चकराने लगा था। बड़ी मुश्किल से उसने पूछा, ''फिर भी तुम्हें ईसाई बनने में एतराज क्यों है?''

रफीक ने कहा, ''मेरा बाप नहीं चाहता। ऐसे करें, तुम मुसलमान हो जाओ। मजे में निकाह हो जायेगा।''

सुनकर वह नागिन बन गयी। फुफकारा, ''खूब! तुम्हारे बाप सच्चे बाप हैं! मेरे बाप कोई चीज नहीं?''

बड़ी देर अनुनय-विनय, मान-मनौअल हुई और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि चूंकि दोनों के बाप अपनी-अपनी जगह अड़े हैं, इसलिए वह न ईसाई हो सकता है और न वह मुसलमान बन सकती है। दोनों सिसकते हुए एक-दूसरे से बिदा हुए, वही सब दोहराते हुए, जो लाखों सालों से ऐसे मौकों पर प्रेमी-युगल कहते हैं और जिनका सार यह होता है कि वे एक-दूसरे के बिना जी नहीं सकते। पर ऐसा कहने वालों में कम-से-कम निन्यानबे जीते हैं और इन निन्यानबे में से नब्बे किसी दूसरे से फिर वही शब्द कहते पाये जाते हैं।

वे दो दिन नहीं मिले।

रफीक की प्रेरित आत्मा में और नया प्रकाश आने लगा। पहले दिन उसने सोचा कि खुदा तो होता ही है; शैतान भी होता है। जिस काम को खुदा बनाता है; उसे शैतान बिगाड़ता है। इस वक्त उनका काम शैतान बिगाड़ रहा है।

दूसरे दिन उसे और प्रकाश मिला। उसे ज्ञान हुआ कि पादरी और मौलाना दोनों के दिमागों में यों घुसकर शैतान अपनी चाल चल रहा है। तीसरे दिन वह बेला के पास पहुँच गया। इन दो दिनों में बेला की आत्मा में भी नया प्रकाश आ गया था।

रफीक ने कहा, ''बेला, हमने पढ़ा है न कि शैतान खुदा से लड़कर चला गया था और तभी से दुनिया में बड़ी ऊधम मचा रहा है, लोगों को गलत राह ले जाता है; अच्छे कामों में अड़ंगा डालता है। इस वक्त शैतान हमारा काम बिगाड़ रहा है।''

बेला ने कहा, ''हाँ, यही मालूम होता है। वरना मुहब्बत तो बड़ी पाक चीज है, मुहब्बत में तो खुद प्रभु बसते हैं।''

रफीक खुश हुआ। आगे समझाने लगा, ''हम दोनों के बाप निहायत नेक आदमी हैं। मगर इस वक्त दोनों के सिरों में कम्बख्त शैतान घुस गया है। वही उनसे अड़ंगा डलवा रहा है। बताओ, क्या हम शैतान की चलने देंगे?''

बेला ने बड़ी हिम्मत से कहा, ''क्यों चलने देंगे? शैतान की एक नहीं चलने देंगे।''

दूसरे दिन सुबह मौलाना ने देखा कि बिस्तर पर रफीक की जगह एक चिट्ठी पड़ी है। इधर पादरी ने भी देखा कि बेला के बिस्तर पर बेटी की जगह पर एक चिट्ठी पड़ी है। जब पादरी और मौलाना मिले, तो तय पाया गया कि दोनों गायब हैं। चिट्ठियाँ पढ़ने से मालूम हुआ कि पिताओं को चिन्ता करने की जरूरत नहीं है और न उनकी तलाश करने की। वे जल्दी ही लौट आने वाले हैं।

मौलाना और पादरी को बहुत अफसोस हुआ।

पादरी ने घुटने टेककर प्रार्थना की, ''हे प्रभु, मुझे माफ कर! वह नहीं जानती कि वह क्या कर रही है। उसे सही रास्ता दिखा।''

मौलाना ने दूसरी नमाज में हाथ फैलाकर दुआ माँगी, ''परवरदिगार, वह नादान है। उसे माफ फरमा और सही राह दिखा।''

पादरी और मौलाना बड़े नेक आदमी थे और नेक आदमी की सच्चे दिल से की गयी प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती।

दोनों के अलग-अलग प्रभुओं ने उनकी सन्तानों को सही रास्ता दिखाया। लगभग दस बजे वे दोनों एक ताँगे में बैठे उस रास्ते पर जा रहे थे। उस रास्ते का नाम था—अल्बर्ट रोड, जिसके उस छोर पर सिविल मैरेज के रजिस्ट्रार का दफ्तर था।

◆

जैसे उनके दिन फिरे

एक था राजा। राजा के चार लड़के थे। रानियाँ? रानियाँ तो अनेक थीं, महल में एक 'पिंजरापोल' ही खुला था। पर बड़ी रानी ने बाकी रानियों के पुत्रों को जहर देकर मार डाला था। और इस बात से राजा साहब बहुत प्रसन्न हुए थे, क्योंकि वे नीतिवान् थे और जानते थे कि चाणक्य का आदेश है, ''राजा अपने पुत्रों को भेड़िया समझे।'' बड़ी रानी के चारों लड़के जल्दी ही राजगद्दी पर बैठना चाहते थे, इसलिए राजा साहब को बूढ़ा होना पड़ा।

एक दिन राजा साहब ने चारों पुत्रों को बुलाकर कहा, ''पुत्रो, मेरी अब चौथी अवस्था आ गयी है। दशरथ ने कान के पास के केश श्वेत होते ही राजगद्दी छोड़ दी थी। मेरे बाल खिचड़ी दिखते हैं, यद्यपि जब खिजाब धुल जाता है तब पूरा सिर श्वेत हो जाता है। मैं संन्यास लूँगा, तपस्या करूँगा। उस लोक को सुधारना है, ताकि तुम जब वहाँ आओ, तो तुम्हारे लिए मैं राजगद्दी तैयार रख सकूँ। आज मैंने तुम्हें यह बतलाने को बुलाया है कि गद्दी पर चार के बैठ सकने लायक जगह नहीं है। अगर किसी प्रकार चारों समा भी गये, तो आपस में धक्का-मुक्की होगी और सभी गिरोगे। मगर मैं दशरथ-सरीखी गलती भी नहीं करूँगा कि तुममें से किसी के साथ पक्षपात करूँ। मैं तुम्हारी परीक्षा लूँगा। तुम चारों आज ही राज्य से बाहर चले जाओ। ठीक एक साल बाद इसी फाल्गुन की पूर्णिमा को चारों दरबार में उपस्थित होना। मैं देखूँगा कि इस साल में किसने कितना धन कमाया और कौन-सी विशेष योग्यता प्राप्त की। तब मैं मन्त्री की सलाह से, जिसे सर्वोत्तम समझूँगा, राजगद्दी दे दूँगा।''

''जो आज्ञा'' कहकर चारों ने राजा साहब को भक्तिहीन प्रणाम किया और राज्य के बाहर चले गये।

पड़ोसी राज्य में पहुँचकर चारों राजकुमारों ने चार रास्ते पकड़े और अपने पुरुषार्थ तथा किस्मत को आजमाने चल पड़े।

ठीक एक साल बाद—

फाल्गुन की पूर्णिमा को राज-सभा में चारों लड़के हाजिर हुए। राजसिंहासन पर राजा

साहब विराजमान थे, उनके पास ही कुछ नीचे आसन पर प्रधानमंत्री बैठे थे। आगे भाट, विदूषक और चाटुकार शोभा पा रहे थे।

राजा ने कहा, ''पुत्रो! आज एक साल पूरा हुआ और तुम सब यहाँ हाजिर भी हो गये। मुझे उम्मीद थी कि इस एक साल में तुममें से तीन या तो बीमारी के शिकार हो जाओगे या कोई एक शेष तीनों को मार डालेगा और मेरी समस्या हल हो जायेगी। पर तुम चारों यहाँ खड़े हो। खैर, अब तुममें से प्रत्येक मुझे बतलाये कि किसने इस एक साल में क्या काम किया, कितना धन कमाया और राजा के लिए आवश्यक कौन-सी योग्यता प्राप्त की?''

ऐसा कहकर राजा साहब ने बड़े पुत्र की ओर देखा।

बड़ा पुत्र हाथ जोड़कर बोला, ''पिताजी, मैं जब दूसरे राज्य में पहुँचा, तो मैंने विचार किया कि राजा के लिए ईमानदारी और परिश्रम बहुत आवश्यक गुण हैं। इसलिए मैं एक व्यापारी के यहाँ गया और उसके यहाँ बोरे ढोने का काम करने लगा। पीठ पर मैंने एक वर्ष बोरे ढोये हैं, परिश्रम किया है। ईमानदारी से धन कमाया है। मजदूरी में से बचायी हुई ये सौ स्वर्णमुद्राएँ ही मेरे पास हैं। मेरा विश्वास है कि ईमानदारी और परिश्रम ही राजा के लिए सबसे आवश्यक है और मुझमें ये हैं, इसलिए राजगद्दी का अधिकारी मैं हूँ।''

वह मौन हो गया। राज-सभा में सन्नाटा छा गया।

राजा ने दूसरे पुत्र को संकेत किया। वह बोला, ''पिताजी, मैंने राज्य से निकलने पर सोचा कि मैं राजकुमार हूँ, क्षत्रिय हूँ—क्षत्रिय बाहुबल पर भरोसा करता है। इसलिए मैंने पड़ोसी राज्य में जाकर डाकुओं का एक गिरोह संगठित किया और लूटमार करने लगा। धीरे-धीरे मुझे राज्य कर्मचारियों का सहयोग मिलने लगा और मेरा काम खूब अच्छा चलने लगा। बड़े भाई जिसके यहाँ काम करते थे, उसके यहाँ मैंने दो बार डाका डाला था। इस एक साल की कमाई में पाँच लाख स्वर्णमुद्राएँ मेरे पास हैं। मेरा विश्वास है कि राजा को साहसी और लुटेरा होना चाहिए, तभी वह राज्य का विस्तार कर सकता है। ये दोनों गुण मुझमें हैं, इसलिए मैं ही राजगद्दी का अधिकारी हूँ।''

'पाँच लाख' सुनते ही दरबारियों की आँखें फटी-की-फटी रह गयीं।

राजा के संकेत पर तीसरा कुमार बोला, ''देव, मैंने उस राज्य में जाकर व्यापार किया। राजधानी में मेरी बहुत बड़ी दूकान थी। मैं घी में मूँगफली का तेल और शक्कर में रेत मिलाकर बेचा करता था। मैंने राजा से लेकर मजदूर तक को साल-भर घी-शक्कर खिलाया। राज-कर्मचारी मुझे पकड़ते नहीं थे, क्योंकि उन सबको मैं मुनाफे में से हिस्सा दिया करता था। एक बार स्वयं राजा ने मुझसे पूछा कि शक्कर में यह रेत-सरीखी क्या मिली रहती है? मैंने उत्तर दिया कि करुणानिधान, यह विशेष प्रकार की उच्चकोटि की खदानों से प्राप्त शक्कर है, जो केवल राजा-महाराजाओं के लिए मैं विदेश में मँगाता हूँ। राजा यह सुनकर बहुत खुश हुए। बड़े भाई जिस सेठ के यहाँ बोरे ढोते थे, वह मेरा ही मिलावटी माल खाता था। और मँझले लुटेरे भाई को भी मूँगफली का तेल मिला घी तथा रेत-मिली शक्कर मैंने खिलायी है। मेरा विश्वास है कि राजा को बेईमान और धूर्त होना

चाहिए, तभी उसका राज टिक सकता है। सीधे राजा को कोई एक दिन भी नहीं रहने देगा। मुझमें राजा के योग्य दोनों गुण हैं, इसलिए गद्दी का अधिकारी मैं हूँ। मेरी एक वर्ष की कमाई दस लाख स्वर्ण-मुद्राएँ मेरे पास हैं।''

'दस लाख' सुनकर दरबारियों की आँखें और फट गयीं।

राजा ने तब सबसे छोटे कुमार की ओर देखा। छोटे कुमार की वेशभूषा और भाव-भंगिमा तीनों से भिन्न थी। वह शरीर पर अत्यन्त सादे और मोटे कपड़े पहने था। पाँव और सिर नंगे थे। उसके मुख पर बड़ी सरलता और आँखों में बड़ी करुणा थी।

वह बोला, ''देव, मैं जब दूसरे राज्य में पहुँचा तो मुझे पहले तो यह सूझा ही नहीं कि क्या करूँ। कई दिन मैं भूखा-प्यासा भटकता रहा। चलते-चलते एक दिन मैं एक अट्टालिका के सामने पहुँचा। उस पर लिखा था 'सेवा आश्रम'। मैं भीतर गया तो वहाँ का वैभव देखकर दंग रह गया। ऐसा ऐश्वर्य तो राज-भवन में भी नहीं है। वहाँ तीन-चार आदमी बैठे ढेर की ढेर स्वर्ण मुद्राएँ गिन रहे थे। मैंने उनसे पूछा, 'भद्रो, तुम्हारा धन्धा क्या है?'

''उनमें से एक बोला, 'त्याग और सेवा।' मैंने कहा, 'भद्रो, त्याग और सेवा तो धर्म है। ये धन्धे कैसे हुए?' वह आदमी चिढ़कर बोला, 'तेरी समझ में यह बात नहीं आयेगी। जा, अपना रास्ता ले।'

''स्वर्ण पर मेरी ललचायी दृष्टि अटकी थी। मैंने पूछा, 'भद्रो, तुमने इतना स्वर्ण कैसे पाया?'

''वही आदमी बोला, 'धन्धे से।' मैंने पूछा, 'कौन-सा धन्धा?'

''वह गुस्से में बोला, 'अभी बताया न! सेवा और त्याग। तू क्या बहरा है?'

''उनमें से एक को मेरी दशा देखकर दया आ गयी। उसने कहा, 'तू क्या चाहता है?'

''मैंने कहा, 'मैं भी आपका धन्धा सीखना चाहता हूँ। मैं भी बहुत-सा स्वर्ण कमाना चाहता हूँ?'

''उस दयालु आदमी ने कहा, 'तो तू हमारे विद्यालय में भरती हो जा। हम एक सप्ताह में तुझे सेवा और त्याग के धन्धे में पारंगत कर देंगे। शुल्क कुछ नहीं लिया जायेगा, पर जब तेरा धन्धा चल पड़े, तब श्रद्धानुसार गुरुदक्षिणा दे देना।'

''पिताजी, मैं सेवा-आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने लगा। मैं वहाँ राजसी ठाठ से रहता, सुन्दर वस्त्र पहनता, सुस्वादु भोजन करता, सुन्दरियाँ पंखा झलतीं, सेवक हाथ जोड़े सामने खड़े रहते। अन्तिम दिन मुझे आश्रम के प्रधान ने बुलाया और कहा, 'वत्स, तू सब कलाएँ सीख गया। भगवान का नाम लेकर कार्य आरम्भ कर दे।' उन्होंने मुझे ये मोटे सस्ते वस्त्र दिये और कहा, 'बाहर इन्हें पहनना। कर्ण के कवच-कुण्डल की तरह ये बदनामी से तेरी रक्षा करेंगे। जब तक तेरी अपनी अट्टालिका नहीं बन जाती, तू इसी भवन में रह सकता है, जा, भगवान तुझे सफलता दें।'

''बस, मैंने उसी दिन 'मानव-सेवा-संघ' खोल दिया। प्रचार कर दिया कि मानव-मात्र की सेवा करने का बीड़ा हमने उठाया है। हमें समाज की उन्नति करना है, देश को आगे

बढ़ाना है। गरीबों, भूखों, नंगों, अपाहिजों की हमें सहायता करनी है। हर व्यक्ति हमारे इस पुण्य-कार्य में हाथ बँटाये; हमें मानव-सेवा के लिए चन्दा दे। पिताजी, उस देश के निवासी बड़े भोले हैं। ऐसा कहने से वे चन्दा देने लगे। मँझले भैया से भी मैंने चन्दा लिया था, बड़े भैया के सेठ ने भी दिया और बड़े भैया ने भी पेट काटकर दो मुद्राएँ रख दीं। लुटेरे भाई ने भी मेरे चेलों को एक सहस्र मुद्राएँ दी थीं। क्योंकि एक बार राजा के सैनिक जब उसे पकड़ने आये, तो उसे आश्रम में मेरे चेलों ने छिपा लिया था। पिताजी, राज्य का आधार धन है। राजा को प्रजा से धन वसूल करने की विद्या आनी चाहिए। प्रजा से प्रसन्नतापूर्वक धन खींच लेना, राजा का आवश्यक गुण है। उसे बिना नश्तर लगाये खून निकालना आना चाहिए। मुझमें यह गुण है, इसलिए मैं ही राजगद्दी का अधिकारी हूँ। मैंने इस एक साल में चन्दे से बीस लाख स्वर्ण मुद्राएँ कमायीं जो मेरे पास हैं।''

'बीस लाख' सुनते ही दरबारियों की आँखें इतनी फटीं कि कोरों से खून टपकने लगा।

तब राजा ने मन्त्री से पूछा, ''मन्त्रिवर, आपकी क्या राय है? चारों में कौन कुमार राजा होने के योग्य है?''

मन्त्रिवर बोले, ''महाराज, इसे सारी राजसभा समझती है कि सबसे छोटा कुमार ही सबसे योग्य है। उसने एक साल में बीस लाख मुद्राएँ इकट्ठी कीं। उसमें अपने गुणों के सिवा शेष तीनों कुमारों के गुण भी हैं—बड़े जैसा परिश्रम उसके पास है, दूसरे कुमार के समान वह साहसी और लुटेरा भी है। तीसरे के समान बेईमान और धूर्त भी। अतएव उसे ही राजगद्दी दी जाये।''

मन्त्री की बात सुनकर राजसभा ने ताली बजायी।

दूसरे दिन छोटे राजकुमार का राज्याभिषेक हो गया। तीसरे दिन पड़ोसी राज्य की गुणवती राजकन्या से उसका विवाह भी हो गया। चौथे दिन मुनि की दया से उसे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, और वह सुख से राज करने लगा।

कहानी थी सो खत्म हुई। जैसे उनके दिन फिरे, वैसे सबके फिरें।

गाँधीजी का शाल

चार दिन हो गये, पर शाल का पता नहीं लगा। सेवकजी ने रेलवे स्टेशन पर पूछताछ की, डब्बे में साथ बैठे एक परिचित यात्री से पूछा, पर कोई खोज नहीं मिली। चुपचाप जितना पता लगा सकते थे, लगा लिया। पुलिस में रिपोर्ट करने और अखबार में विज्ञप्ति छपाने की बात मन में उठी थी, पर सेवकजी ने सोचा कि वह गाँधीजी का दिया हुआ पवित्र शाल था, उसे पुलिस और अखबारी मामलों में फँसाने से उसकी पवित्रता नष्ट होगी। कोई चाबियों का गुच्छा या सूटकेस तो था नहीं। पूज्य गाँधीजी का शाल था।

सेवकजी रोज की तरह दरवाजे के बीच कुरसी लगाकर बैठे थे। गोद में मुड़ा हुआ अखबार पड़ा था। बार-बार चश्मा निकालते, धोती से पोंछकर फिर लगा लेते, पर पढ़ते कुछ नहीं, सोच रहे थे, सोच-सोचकर आह भर रहे थे और आह भरकर कहीं शून्य में देख रहे थे। सड़क पर से कितने ही परिचित निकल गये। सेवकजी ने किसी को नहीं बुलाया। और दिन होता, तो वे परिचित को देखते ही वहीं से बैठे-बैठे, 'जयहिन्द' उछालकर उसे रोकते। बड़ी चौड़ी मुसकान धारण करके उसके पास जाते, उसका हाथ पकड़ लेते और घोर आत्मीयता से कहते—'ऐसा नहीं हो सकता। आप बिना चाय पिये नहीं जा सकते।' पकड़कर भीतर ले आते, चाय बुलाते, अलमारी में से एक फाइल निकालते, जिसमें वे अखबारी कतरनें लगी थीं, जिसमें किसी भी संदर्भ में उनका नाम छपा था। इनमें वह कतरन भी थी, जिसमें उनके बचपन में खो जाने पर पिता ने उनकी खोज के लिए विज्ञप्ति छपायी थी। एक-एक कर सब कतरनें वे बताते और बीच-बीच में अपनी राष्ट्र और समाज सेवाओं का उल्लेख करते जाते। वे बतलाते कि किस सन् में किस नेता के साथ वे किस जेल में थे और उसने इनसे कब क्या कहा था? लगता कि उनके दिमाग में भी फाइलें खुली हैं, जिनमें सिलसिलेवार सब तथ्य नत्थी हैं। परिचित उठने का उपक्रम करता, तो सेवकजी आग्रह से उसका हाथ पकड़कर कहते—'बस! एक मिनट और। मैं आपको अपने जीवन की सबसे मूल्यवान, सबसे पवित्र वस्तु बतलाता हूँ।' वे अलमारी में से तह किया हुआ एक हल्के नीले रंग का शाल निकालते और आरती के थाल की तरह सामने करके; भाव-विभोर हो कहते—"यह शाल मुझे पूज्य गांधीजी ने दिया था। मेरे विवाह में वे स्वयं आशीर्वाद देने आये थे। हम दोनों के सिरों पर हाथ रखकर हमसे बोले—'तू मेरा बेटा नहीं, यह मेरी बेटी है।' खिलखिलाकर हँस पड़े बापू और यह शाल हम दोनों को उढ़ा दिया। आज वे नहीं हैं..." वे आँख बन्द कर लेते और भाव-तल्लीन हो जाते। परिचित अगर समझदार होता, तो इस स्थिति का लाभ उठाकर बिना 'जयहिन्द' किये ही झटपट निकल भागता। कोई परिचित उस सड़क से बिना उन कतरनों और उस शाल को देखे, निकल नहीं सकता था। आज चार दिनों से लोग बेखटके निकल रहे थे। सेवकजी उन्हें नहीं छेड़ते थे। सोचते—उस घर में अब किसको क्या बुलायें, जिसकी श्री ही चली गयी है।

टाउन हाल में शाम को सभा की घोषणा करता हुआ लाउडस्पीकर लगा ताँगा निकला। सेवकजी के मन में उमंग उठी, फुरफुरी आ गयी। वे उठकर खड़े हो गये। दूसरे ही क्षण सोचा कैसे जाऊं: शाल जो खो गया! पिछले कितने ही वर्षों से उनसे कोई सभा नहीं बची थी। हर सभा में वे गांधीजी का शाल ओढ़कर पहुँच जाते। मंच पर बैठते और अन्तिम वक्ता के बाद खड़े होकर कहते—'मुझे भी इस विषय पर दो शब्द कहना है।' माइक पकड़कर वे बोलने लगते—'...मैंने जो कुछ भी सीखा है; पूज्य गांधीजी के चरणों में बैठकर। वे मुझे पुत्रवत् स्नेह करते थे। मेरे विवाह में वे स्वयं आशीर्वाद देने आये। हम दोनों के सिरों पर हाथ रखकर मुझसे कहने लगे—तू मेरा बेटा नहीं, यह मेरी बेटी है। खिलखिलाकर हँस पड़े बापू और यह शाल हमें ओढ़ा दिया। यह आशीर्वाद है। मेरे जीवन की सबसे

मूल्यवान, सबसे पवित्र निधि है।' सभा होती; तो लोग जानते थे कि सेवक जी अवश्य आयेंगे और शाल के बारे में बताकर बैठ जायेंगे। एक सभा में वे इस विषय पर आ ही रहे थे कि सभापति ने घण्टी बजा दी। हड़बड़ाकर बैठने लगे। तभी किसी मसखरे ने आवाज लगायी–'सेवकजी ! आप शाल के बारे में बताना भूल गये!' लोग हँस पड़े। पर सेवक जी ने सहज भाव से कहा–'जब प्रसंग उठाया ही गया है, तो बताना मेरा धर्म है। यह शाल मुझे पूज्य गांधीजी ने–'

शाल काफी पुराना हो गया था; जगह-जगह से फट गया था; छेद हो गये थे। पर सेवकजी उसे अभेद्य कवच की तरह धारण करते थे। उसे ओढ़कर अपने को अजेय अनुभव करते थे। शाल से उनकी इज्जत थी, प्रतिष्ठा थी। शाल उनके जीवन की एकमात्र शक्ति थी। वही शाल रेल में खो गया। सेवकजी सभाओं-समारोहों की घोषणाएँ सुनते और मन मसोसकर रह जाते। कल ही श्रम-मंत्री आये थे। उनकी सभा में बोलना सेवकजी को जरूरी लगा था, पर शाल बिना वे सत्वहीन हो गये थे। किसी ने कहा था–'सेवकजी! आजकल आप सभाओं में नहीं दिखते।' सेवकजी ने घोर निराशा से जवाब दिया–'बस भई! बहुत हो गया। अब हम सार्वजनिक जीवन से संन्यास लेंगे।' आज उन्हें लग रहा था कि संन्यास नहीं लिया जा सकता। ऐसे तो जिया भी नहीं जा सकता। जीवन की निरर्थकता का बोध बड़ी तीव्रता से उन्हें हो रहा था। जीवन रीता हो गया, प्रयोजनहीन हो गया।

सेवकजी उस पीढ़ी के थे, जिसने जवानी के आरम्भ में निश्चय लिया था कि जीवन-भर देश की स्वतन्त्रता के लिए संग्राम करेंगे। पर स्वतन्त्रता पहले आ गयी, जीवन शेष रहा। अब क्या करें? यह तो सोचा ही नहीं था कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद क्या करेंगे? जिन्होंने सोच लिया था और योजना भी बना ली थी, वे सरकार चलाने लगे। कुछ विरोधी दलों में शामिल हो गये। लेकिन जो चुनाव लड़कर भी जीत नहीं सके और सरकार में नहीं जा सके, वे बड़ी उलझन में पड़ गये। वे हारे हुए थे। हारा हुआ राजा रनिवास में जाता था; हारा हुआ नेता अध्यात्म में जाता है।

सेवकजी भी अध्यात्म में गये, पर वहाँ मन नहीं लगा। 24-30 वर्षों का सार्वजनिक जीवन; स्वतन्त्रता संग्राम के जमाने की वे भीड़ें, नारों पर करतल ध्वनियाँ, उद्गारों पर जयजयकार, 'महात्मा गाँधी की जय', 'इनकलाब जिन्दाबाद' के दम पर वे पुष्पहार, वे आरतियाँ ! ये स्मृतियाँ उन्हें उसी तरह पीड़ित करतीं, जिस तरह तपस्वी को विलास की स्मृतियाँ। वे लौट आये। हर सभा-समारोह में वे शामिल होने लगे, लोगों को कतरनें बताने और संस्मरण सुनाने लगे और पुराने जेल साथी और अब शासक बने लोगों के पास शाल ओढ़कर जाकर जिस-तिस का काम सिद्ध करवाने लगे। इस तरह दिन कट जाता और अपनी सार्थकता का बोध भी बना रहता।

पर अब क्या करें? वे पूरे जोर से सोच रहे थे। शाल जीवन-शक्ति ही ले गया। अब किसलिए जियें? जियें, तो करें क्या? ऐसे जीने से मर जाना अच्छा! पर वे मरे नहीं। एक विचार उनके मन में सहसा आया और उसके आवेग से वे खड़े हो गये। चप्पल पहनी और

दूर सदर के कोने में कपड़ों की एक दूकान पर गये। शाल निकलवाये और हल्के नीले रंग के एक शाल की कीमत पूछी। मन में शंका उठी—क्या यह मिथ्याचार नहीं है ? समाधान कर लिया—वस्तु सत्य नहीं है, भावना सत्य है। शाल खरीदकर सेवकजी घर आये। अब समस्या खड़ी हुई—इसका नयापन कैसे मिटे? सेवकजी ने उसे पानी में डुबाकर सुखाया, उससे फर्श साफ किया, दो-तीन दिन उसे ओढ़कर सोते रहे। तरह-तरह के अत्याचार से उसकी चमक कुछ कम हो गयी। सेवकजी ने उसकी तहें करके उसे पुराने शाल के स्थान पर रख दिया। अब मन कुछ हल्का हो गया, प्रफुल्लता लौट रही थी, पर ज्योंही वे प्रसन्न होते, आशंका कूद पड़ती—कहीं लोग समझ न जायें? वे किसी तरह आशंका को शान्त करते कि ग्लानि सिर उठाती—यह मिथ्याचार है। वे ग्लानि को पुचकारते—वस्तु सत्य नहीं है, भावना सत्य है।

शाम की सभा की घोषणा हो चुकी थी। सेवकजी कई दिनों के बाद आज सभा में जाने की तैयारी कर रहे थे। पेटी से खादी के कुरता-धोती निकालकर पहने, अलमारी से शाल निकाला और ओढ़ा। फिर प्रश्न उठा—यह मिथ्याचार है। जवाब दूसरे कोने से उठा—वस्तु सत्य नहीं है, भावना सत्य है।

सेवकजी मंच पर बैठ गये। धुकधुकी लगी—कहीं कोई भेद जान न ले? कोई सहज ही देखता, तो वे सोचकर काँप जाते कि इसने शाल का रहस्य भाँप लिया है। बड़ी बेचैनी थी। अन्तिम वक्ता के बाद वे खड़े हुए। बोले, "मुझे भी इस विषय पर दो शब्द कहना है।" उन्होंने माइक का डण्डा पकड़ लिया। दिल धड़क रहा था और हाथ काँप रहे थे। आज पैरों को स्थिर रखने का प्रयत्न करना पड़ रहा था। बोलना शुरू किया, "...मैंने जो कुछ भी सीखा है, पूज्य गाँधीजी के चरणों में बैठकर। वे मुझे पुत्रवत् स्नेह करते थे। मेरे विवाह के अवसर पर यह शाल उन्होंने मुझे दिया था। बापू स्वयं—"

पहली पंक्ति में बैठा एक आदमी उठकर खड़ा हो गया और बोला, "क्यों झूठ बोलते हैं सेवकजी? यह शाल तो बिल्कुल नया है और मिल का है। भला गाँधीजी मिल का शाल देते?"

सभा में हँसी उठी, कोलाहल हुआ, सेवकजी के पाँव डगमगाये, मुट्ठी ढीली होकर माइक के डण्डे पर से फिसलने लगी और वे वहीं बैठ गये।

☯

एक तृप्त आदमी की कहानी

परिचय

असल नाम —नन्दलाल शर्मा।

लड़कों के द्वारा बनाया गया और प्रचलित किया गया नाम—एन. एल. मास्टर।

पेशा—स्कूल मास्टरी। वेतन 90 रुपया मासिक, ऊपरी आमदनी 15 रुपया। (ट्यूशन से)। उम्र 35 के लगभग। शरीर स्वस्थ। रूप सेकेण्ड क्लास। परिवार—माँ, बीवी, तीन बच्चे। आवास—दो कमरे, एक परछी, जिसमें एक कोने पर रसोई घर और उसके सामने दूसरे कोने पर पाखाना। (भोजन करते वक्त याद रहे कि अन्न का हश्र क्या होने वाला है। जैसे ज्ञानी को घोर भोग के बीच भी अन्त याद रहता है)। कमरे में एक टेबिल (बिना टेबिलक्लाथ, पर स्याही के धब्बे और ब्लेड की खुदाई से अलंकृत), एक आराम कुरसी (आराम की स्थिति नाम के बाहर कहीं नहीं), दो बेंत की कुरसियाँ, एक लोहे की टूटी कुरसी (जो बैठने वाले के कपड़े फाड़ने के काम आती है), दीवार पर चीरहरण करते हुए कृष्ण की तसवीर, दूसरी तसवीर हनुमान की—सीना फाड़कर अन्तःकरण में अंकित 'राम' दिखाते हुए, एक चित्र गाँधीजी का (अखबार में से फाड़कर मढ़ाया हुआ)।

बजट

वेतन—90 रुपया, ऊपरी आमदनी 15 रुपये, कुल 105 रुपया, मकान किराया—30 रुपया। शेष—75 रुपया।

परिवार में 6 व्यक्ति।

75 में 6 का भाग देने से हर एक के हिस्से में 12.50 रुपया आता है, यह गणित के अच्छे शिक्षक एन.एल. मास्टर जानते हैं।

दिनचर्या

प्रातःकाल दूधवाले की पुकार से एन. एल. मास्टर सात बजे जाग उठे। बड़ा लड़का उन्हीं के पास सोता है। —(कपड़ों की कमी वात्सल्य का उद्दीपन होती है, यह रस के आचार्यों को न मालूम होगा!) रात को नटखट लड़के ने रजाई के छोटे से छेद में अँगूठा फँसाकर उसे और फाड़ दिया था। एन. एल.मास्टर ने उसे पलटकर देखा और पत्नी से कहा—''मैंने कहा विजय ने रात को रजाई फाड़ दी थी। जरा टाँके लगा देना।'' पत्नी ने सिर हिला दिया। मास्टर मुँह-हाथ धोने चले। नमक मिश्रित कोयले से दाँत घिसे और कुल्ले किये (टूथपेस्ट और बाजारू मंजन से दाँत खराब हो जाते हैं!) मास्टर कुरसी पर बैठ गये, मास्टरनी ने चाय का कप लाकर रख दिया—(घर में दो जोड़ी कप बसी हैं, एक विधवा बसी है और एक विधुर कप जो कान का कच्चा निकल गया!) मास्टर ने चाय गटकी, सुपारी काटी, तमाखू घिसी और फाँक ली। मास्टर ने कुरता-पायजामा शरीर पर डाला और तमाखू चबाते तथा थूकते ट्यूशन पर चल दिये। रास्ते में एक पान की दूकान पर रुक गये। पानवाला उन्हें कभी-कभी पान खिला देता है। (उसका लड़का पढ़ता है और वह परीक्षा के समय मास्टर से कह देता है पण्डज्जी, जरा लड़के को देख लेना। और मास्टर उसे 'देख लेते' हैं। इसी देख लेने के कारण वह देखते-देखते ही पाँचवीं से नवीं कक्षा में पहुँच गया।) मास्टर पानवाले का अखबार उठाकर पढ़ने लगे। वे इसी तरह अखबार पढ़ लेते हैं। अगर कोई पढ़ रहा

हो, तो उसके कन्धे के ऊपर गरदन डालकर पढ़ लेते हैं। अखबार नहीं मिला तो कई दिन नहीं पढ़ते। दूकान पर खड़े एक आदमी ने कहा,"अमेरिका और रूस हमेशा क्यों झगड़ते रहते हैं?" मास्टर बोले, "झगड़ने दो, अपना क्या लेते हैं।" दूसरा बिना किसी को लक्ष्य किये बोला, "कश्मीर के मामले में क्या हो रहा है?" मास्टर ने कहा, "होता होगा। बड़े-बड़े लोग तो लगे हैं।" तभी पानवाले ने कहा, "बम्बई में बड़ा गजब हो गया। मिल के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। पुलिस की गोली से ग्यारह मजदूर मर गये।" मास्टर ने कुल इतना कहा, "देखो भला मौत कहाँ ले गयी।" और आगे बढ़ गये।

मास्टर ट्यूशन पढ़ाकर घर लौट आये। दाढ़ी बनायी, स्नान किया और बनियान में साबुन लगाया—तीनों काम एक ही साबुन से। भोजन करने बैठे—आसपास बच्चे। दाल-भात ज्यादा खाते हैं मास्टर। चावल आसानी से पच जाता है। कभी साग भी बन जाता है। मास्टर ने कपड़े पहने। कपड़े कम हैं इसलिए मास्टर इतवार को खुद धोकर लोहा कर लेते हैं। कोट आदमी की इज्जत भी बचाता है और कमीज की भी—फटी कमीज कोट के नीचे पहनकर मास्टर स्कूल चल दिये।

सड़क के बायें किनारे की पटरी से सीधे चले जा रहे हैं—नीचे देखते, पास-पास कदम रखते। रास्ते में लड़के एक के बाद एक नमस्ते करते निकलते हैं और मास्टर सिर हिलाकर जवाब देते हैं। मास्टर के मन ने सिर उठाया। सोचा—'मैं चुनाव में खड़ा हो जाऊँ?' उसी क्षण दूसरा खयाल आया—'पर ये नमस्ते करने वाले लड़के मतदाता थोड़े ही हैं।' और तब उन्होंने मन-ही-मन अपनी उम्मीदवारी निस्संकोच वापस ले ली।

मास्टर ठीक ग्यारह बजे स्कूल पहुँचे, रजिस्टर में हाजिरी लगायी, बड़ों से खुद नमस्ते किया, छोटों के हाथ जोड़ने की राह देखते रहे। सामूहिक प्रार्थना में एकाग्र मन-से खड़े हुए, फिर कक्षा में गये। एक के बाद एक घण्टियाँ बजती रहीं और एन.एल. मास्टर इस कमरे में से उस कमरे में जाते रहे। वे मेहनत से पढ़ाते हैं। न खुश होते हैं, न नाराज। न हँसते हैं, न डाँटते हैं। न प्रेम करते हैं, न घृणा। न हेडमास्टर की किसी बात में शंका करते हैं, न अपने से छोटों को सलाह देते हैं।

ठीक समय पर पढ़ाते हैं, ठीक समय पर कोर्स पूरा कर देते हैं। कापियाँ ठीक समय पर जाँचते हैं, हिसाब ठीक करते हैं। हर आदेश को ठीक समय पर पूरा कर देते हैं।

एन.एल. मास्टर अच्छे शिक्षक हैं, उनसे सब खुश हैं।

बीच की छुट्टी में मास्टर ने एक कप चाय पीकर डकार ली और तमाखू फाँकी। घण्टी बजी और फिर वही क्रम चला— इस कमरे से उस कमरे में और अंग्रेजी, गणित, भूगोल, विज्ञान,...

शाम को मास्टर घर लौटे और चाय पीकर दो पुत्रों को साथ लेकर तीन काम एक साथ करने निकल पड़े—घूमने, हनुमानजी के दर्शन करने और साग-भाजी खरीदने। वे रोज फुहारे के पासवाले हनुमानजी के दर्शन करते हैं, (कोतवाली के पास के हनुमान को वे अपना हनुमान नहीं मानते।) साग-भाजी भी हमेशा एक ही दुकान से खरीदते हैं। अकसर कुम्हड़ा

और तुरई। सस्ते होते हैं। नहीं, मास्टर का खयाल है—आलू कब्ज करते हैं और गोभी में इल्लियाँ होती हैं। अँधेरा होते वे घर लौट आते हैं।

जब तक पत्नी खाना बनाती है, मास्टर बच्चों को लिखाते हैं या पढ़ाते हैं। उद्देश्य यह है कि वे ऊधम न करें। कभी कुछ साथी शिक्षक आ गये तो वह दो घड़ी गप्पें भी हाँक लेते हैं। छोटी-मोटी बात पर सब खूब हँसते हैं, क्योंकि शाम का हँसना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है। भोजन करके मास्टर ने बच्चों को सुला दिया और बालटियाँ लेकर सामने सड़क पर के नल से पानी लाकर घड़ों में भरने लगे। घर का नल रोता-रोता चलता है, इसलिए सुबह के लिए पानी रात को ही सड़क के नल से भर लेते हैं। (मास्टरनी कैसे पानी भरने जाएँ कुलीन घराने की जो हैं)।

काम-काज समाप्त कर मास्टरनी 'हे राम' के साथ थकान-भरी साँस लेकर छोटे बच्चे के पास आकर लेट जाती है। मास्टर उसे एकटक निहारते है, श्रम की हँफनी से चढ़ते-उतरते उसके वक्ष को देखते हैं। उनके नेत्रों में असीम प्यार है। वे कहते हैं, 'तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो' और सो जाते हैं।

हर दिन ऐसा ही उगता है, ऐसा ही चढ़ता है, ऐसा ही डूबता है। मौसम बदलते रहते हैं। मास्टर की दिनचर्या में कोई हेर-फेर नहीं होता।

वही क्रम रोज...उठना। कोयले का मंजन। फीकी चाय। पान की दूकान का अखबार। ट्यूशन। कोट के नीचे फटी कमीज। सड़क के किनारे-किनारे स्कूल यात्रा। नमस्कार। अंग्रेजी, गणित, इतिहास, विज्ञान। हनुमानजी के दर्शन। सड़क के नल से पानी। 'तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो।'

फुटकर नोट्स

एन. एल. मास्टर सिनेमा भी देख लेते हैं, गाना भी सुन लेते हैं, ताश भी खेल लेते हैं। कभी भंग भी छान लेते हैं। किसी से ज्यादा हेल-मेल नहीं रखते। ज्यादा मिठास में कीड़े पड़ते हैं। वे किसी से नहीं लड़ते। किसी की दो बातें सुन लीं तो क्या बिगड़ता है।

झंझटों से दूर रहते हैं। एक मित्र ने एक दिन कहा, "मास्टर एम.ए. कर डालो।" वे बोले, "क्या करना है, इतना ही बहुत है।" हर साल उनके वेतन में 3 रुपये की वृद्धि होती है। फरवरी की पहली तारीख को जब वे बढ़ा हुआ वेतन पाते हैं तो उन तीन रुपयों की मिठाई ले जाते हैं और पत्नी को देकर अमित सन्तोष से कहते हैं, "लो, बच्चों को खिला दो। तीन रुपये तरक्की हो गयी।"

पिछले वर्ष वेतन और नौकरी की शर्तों में सुधार के लिए शिक्षकों ने बड़ा आन्दोलन किया, जब कुछ लोग एन. एल. मास्टर के पास आये और उन्हें शिक्षक संघ का सदस्य बनने को कहा, तो वे बोले, "भैया, हमें मत झंझट में डालो। आप ही लोग करो।" उनके बिना भी संगठन तो हुआ ही और एक दिन हड़ताल हो गयी। उनके अनेक साथी फाटक

पर खड़े थे। एन. एल. मास्टर जब ठीक वक्त पर फाटक पर पहुँचे तो वे हाथ जोड़कर बोले, ''मास्टर साहब, हमारे पेट में लात मत मारिए।'' मगर एन. एल. मास्टर बिना किसी की तरफ देखे सीधे भीतर चले गये। वह 'झंझट' में नहीं पड़ते।

उन्होंने लिखा भी है। एक बार एक स्थानीय दैनिक में उन्होंने पत्र छपाया था जिसमें नागरिकों से अपील की थी कि सार्वजनिक समारोहों में राष्ट्रगीत के समय सबको अविचल मौन खड़े हो जाना चाहिए। उसकी कटिंग उन्होंने हिफाजत से रख ली है। सन्तोष है कि उनके नाम से कुछ छपा भी है।

दाम्पत्य जीवन सन्तोषमय है। पति-पत्नी में अच्छी पटती है। एक बार पड़ोसिन विधवा भाभी से मास्टर की घनिष्ठता बढ़ गयी थी। खिड़की से देखा-देखी भी होती थी, कभी-कभी वह उनके यहाँ जाकर बैठते भी थे। एक दिन पत्नी ने भाभी का हाथ अपने हाथ में लिये हुए, उनका भविष्य बतलाते देख लिया। रात को उसने मास्टर से कहा, ''जरा सोचो तो। लोग क्या कहेंगे।'' मास्टर के मन में बात गूँजती रही—'लोग क्या कहेंगे।' उन्होंने सोचा—'ठीक तो है। लोग क्या कहेंगे।' दूसरे दिन से उन्होंने भाभी की तरफ देखा भी नहीं। एक दिन अनायास आमना-सामना हो जाने पर भाभी डबडबायी आँखों से बोलीं, ''क्यों लाला, ऐसा ही नेह निभाया जाता है?'' मास्टर ने कहा, ''जरा सोचो तो। लोग क्या कहेंगे।'' कुछ दिनों बाद किसी ने उनसे कहा कि आजकल बैंक का मैनेजर भाभी को मोटर में घुमाने ले जाता है। मास्टर ने सहज ही जवाब दिया, ''ठीक है। समरथ को नहिं दोष गुसाईं।''

एन. एल. मास्टर की जिन्दगी के कुछ नोट्स हैं ये : वे भूखे नहीं रहते, निर्वस्त्र नहीं रहते। भरा-पूरा परिवार है, अच्छी पत्नी है। न किसी से उधार लेते न किसी को उधार देते हैं। शान्त प्रकृति हैं। उन्हें कोई कमी महसूस नहीं होती, कोई अभाव नहीं खटकता। उन्हें कोई चाह नहीं है।

वर्ष के बाद वर्ष ऐसे ही निकलते जा रहे हैं। प्रकृति बदलती है, मास्टर की जिन्दगी में एक ही मौसम है।

लोग कहते हैं—'एन. एल. मास्टर पूर्ण तृप्त आदमी हैं।'

मेरा मित्र तो उन पर मुग्ध है। कहता है—'ऐसा आदमी दुर्लभ है। दुनिया में निराशा, विकलता, पिपासा और कुण्ठा के पुतले ही देखने में आते हैं। तृप्त आदमी आउट-ऑफ स्टाक होता जाता है। एन. एल. मास्टर झरना है, रेगिस्तान का। उसे देख लेने से ऐसा लगता है कि जैसे तीर्थस्नान कर लिया हो। वह पूर्ण तृप्त आदमी है। उसे कोई भूख नहीं है।' और मुझे याद आता है कि पिछले साल जब मैं बीमार पड़ा था, तब मेरी भी भूख मर गयी थी। अच्छे-से-अच्छे पकवान मेरे सामने रखे रहते थे और मैं मुँह फेर लेता था।

टार्च बेचनेवाले

वह पहले चौराहों पर बिजली के टार्च बेचा करता था। बीच में कुछ दिन वह नहीं दिखा। कल फिर दिखा। मगर इस बार उसने दाढ़ी बढ़ा ली थी और लम्बा कुरता पहन रखा था।

मैंने पूछा, ''कहाँ रहे? और यह दाढ़ी क्यों बढ़ा रखी है?''

उसने जवाब दिया, ''बाहर गया था।''

दाढ़ी वाले सवाल का उसने जवाब यह दिया कि दाढ़ी पर हाथ फेरने लगा।

मैंने कहा, ''आज तुम टार्च नहीं बेच रहे हो?''

उसने कहा, ''वह काम बन्द कर दिया। अब तो आत्मा के भीतर टार्च जल उठा है। ये 'सूरजछाप' टार्च अब व्यर्थ मालूम होते हैं।''

मैंने कहा, ''तुम शायद संन्यास ले रहे हो। जिसकी आत्मा में प्रकाश फैल जाता है, वह इसी तरह हरामखोरी पर उतर आता है। किससे दीक्षा ले आये?''

मेरी बात से उसे पीड़ा हुई। उसने कहा, ''ऐसे कठोर वचन मत बोलिए। आत्मा सबकी एक है। मेरी आत्मा को चोट पहुँचाकर आप अपनी ही आत्मा को घायल कर रहे हैं।''

मैंने कहा, ''यह सब तो ठीक है। मगर यह बताओ कि तुम एकाएक ऐसे कैसे हो गये? क्या बीवी ने तुम्हें त्याग दिया? क्या उधार मिलना बन्द हो गया? क्या साहूकारों ने ज्यादा तंग करना शुरू कर दिया? क्या चोरी के मामले में फँस गये हो? आखिर बाहर का टार्च भीतर आत्मा में कैसे घुस गया?''

उसने कहा, ''आपके सब अन्दाज गलत हैं। ऐसा कुछ नहीं हुआ। एक घटना हो गयी है, जिसने जीवन बदल दिया। उसे मैं गुप्त रखना चाहता हूँ। पर क्योंकि मैं आज ही यहाँ से दूर जा रहा हूँ, इसलिए आपको सारा किस्सा सुना देता हूँ।''

उसने बयान शुरू किया—

पाँच साल पहले की बात है। मैं अपने एक दोस्त के साथ हताश एक जगह बैठा था। हमारे सामने आसमान को छूता हुआ एक सवाल खड़ा था। वह सवाल था—'पैसा कैसे पैदा करें?' हम दोनों ने उस सवाल की एक-एक टाँग पकड़ी और उसे हटाने की कोशिश करने लगे। हमें पसीना आ गया, पर सवाल हिला भी नहीं। दोस्त ने कहा—'यार, इस सवाल के पाँव जमीन में गहरे गड़े हैं। यह उखड़ेगा नहीं। इसे टाल जायें।'

हमने दूसरी तरफ़ मुँह कर लिया। पर वह सवाल फिर हमारे सामने आकर खड़ा हो गया। तब मैंने कहा—'यार, यह सवाल टलेगा नहीं। चलो, इसे हल ही कर दें। पैसा पैदा करने के लिए कुछ काम-धन्धा करें। हम इसी वक्त अलग-अलग दिशाओं में अपनी-अपनी किस्मत आजमाने निकल पड़ें। पाँच साल बाद ठीक इसी तारीख को इसी वक्त हम यहाँ मिलें।'

दोस्त ने कहा—'यार, साथ ही क्यों न चलें?'

मैंने कहा—'नहीं। किस्मत आजमाने वालों की जितनी पुरानी कथाएँ मैंने पढ़ी हैं, सबमें वे अलग-अलग दिशा में जाते हैं। साथ जाने में किस्मतों के टकराकर टूटने का डर रहता है।'

तो साहब, हम अलग-अलग चल पड़े। मैंने टार्च बेचने का धन्धा शुरू कर दिया। चौराहे पर या मैदान में लोगों को इकट्ठा कर लेता और बहुत नाटकीय ढंग से कहता—'आजकल सब जगह अँधेरा छाया रहता है। रातें बेहद काली होती हैं। अपना ही हाथ नहीं सूझता। आदमी को रास्ता नहीं दिखता। वह भटक जाता है। उसके पाँव काँटों से बिंध जाते हैं, वह गिरता है और उसके घुटने लहूलुहान हो जाते हैं। उसके आसपास भयानक अँधेरा है। शेर और चीते चारों तरफ घूम रहे हैं, साँप जमीन पर रेंग रहे हैं। अँधेरा सबको निगल रहा है। अँधेरा घर में भी है। आदमी रात को पेशाब करने उठता है और साँप पर उसका पाँव पड़ जाता है। साँप उसे डस लेता है और वह मर जाता है।'

आपने तो देखा ही है साहब, कि लोग मेरी बातें सुनकर कैसे डर जाते थे। भर-दोपहर में वे अँधेरे के डर से काँपने लगते थे। आदमी को डराना कितना आसान है!

लोग डर जाते, तब मैं कहता—'भाइयो, यह सही है कि अँधेरा है। मगर प्रकाश भी है। वही प्रकाश मैं आपको देने आया हूँ। हमारी 'सूरज छाप' टार्च में वह प्रकाश है, जो अन्धकार को दूर भगा देता है। इसी वक्त 'सूरज छाप' टार्च खरीदो और अँधेरे को दूर करो। जिन भाइयों को चाहिए, ऊँचा हाथ करें।'

साहब, मेरे टार्च बिक जाते और मैं मजे में जिन्दगी गुजारने लगा।

वायदे के मुताबिक ठीक पाँच साल बाद मैं उस जगह पहुँचा जहाँ मुझे दोस्त से मिलना था। वहाँ दिन-भर मैंने उसकी राह देखी, वह नहीं आया। क्या हुआ? क्या वह भूल गया? या अब वह इस असार संसार में ही नहीं है?

मैं उसे ढूँढ़ने निकल पड़ा।

एक शाम जब मैं एक शहर की सड़क पर चला जा रहा था, मैंने देखा कि पास के मैदान में खूब रोशनी है और एक तरफ मंच सजा है। लाउडस्पीकर लगे हैं। मैदान में हजारों नर-नारी श्रद्धा से झुके बैठे हैं। मंच पर सुन्दर रेशमी वस्त्रों से सजे एक भव्य पुरुष बैठे हैं। वे खूब पुष्ट हैं, सँवारी हुई लम्बी दाढ़ी है और पीठ पर लहराते लम्बे केश हैं।

मैं भीड़ के एक कोने पर जाकर बैठ गया।

भव्य पुरुष फिल्मों के सन्त लग रहे थे। उन्होंने गुरु-गम्भीर वाणी में प्रवचन शुरू किया। वे इस तरह बोल रहे थे जैसे आकाश के किसी कोने से कोई रहस्यमय सन्देश उनके कान में सुनायी पड़ रहा है जिसे वे भाषा दे रहे हैं।

वे कह रहे थे—'मैं आज मनुष्य को एक घने अन्धकार में देख रहा हूँ। उसके भीतर कुछ बुझ गया है। यह युग ही अन्धकारमय है। यह सर्वग्राही अन्धकार सम्पूर्ण विश्व को

अपने उदर में छिपाये है। आज मनुष्य इस अन्धकार से घबरा उठा है। वह पथभ्रष्ट हो गया है। आज आत्मा में भी अन्धकार है। अन्तर की आँखें ज्योतिहीन हो गयी हैं। वे उसे भेद नहीं पातीं। मानव-आत्मा अन्धकार में घुटती है। मैं देख रहा हूँ, मनुष्य की आत्मा भय और पीड़ा से त्रस्त है।'

इसी तरह वे बोलते गये और लोग स्तब्ध सुनते गये।

मुझे हँसी छूट रही थी। एक-दो बार दबाते-दबाते भी हँसी फूट गयी और पास के श्रोताओं ने मुझे डाँटा।

भव्य पुरुष प्रवचन के अन्त पर पहुँचते हुए कहने लगे—'भाइयो और बहनो, डरो मत। जहाँ अन्धकार है, वहीं प्रकाश है। अन्धकार में प्रकाश की किरण है। जैसे प्रकाश में अन्धकार की किंचित् कालिमा है। प्रकाश भी है। प्रकाश बाहर नहीं है, उसे अन्तर में खोजो। अन्तर में बुझी उस ज्योति को जगाओ। मैं तुम सबका उस ज्योति को जगाने के लिए आवाहन करता हूँ। मैं तुम्हारे भीतर वही शाश्वत ज्योति को जगाना चाहता हूँ। हमारे 'साधना मन्दिर' में आकर उस ज्योति को अपने भीतर जगाओ।'

साहब, अब तो मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। पास के लोगों ने मुझे धक्का देकर भगा दिया। मैं मंच के पास जाकर खड़ा हो गया।

भव्य पुरुष मंच से उतरकर कार पर चढ़ रहे थे। मैंने उन्हें ध्यान से पास से देखा। उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी, इसलिए मैं थोड़ा झिझका। पर मेरी तो दाढ़ी नहीं थी। मैं तो उसी मौलिक रूप में था। उन्होंने मुझे पहचान लिया। बोले—'अरे तुम!' मैं पहचानकर बोलने ही वाला था कि उन्होंने मुझे हाथ पकड़कर कार में बिठा लिया। मैं फिर कुछ बोलने लगा तो उन्होंने कहा—'बँगले तक कोई बातचीत नहीं होगी। वहीं ज्ञान-चर्चा होगी।'

मुझे याद आ गया कि वहाँ ड्राइवर है।

बँगले पर पहुँचकर मैंने उसका ठाठ देखा। उस वैभव को देखकर मैं थोड़ा झिझका पर तुरन्त ही मैंने अपने उस दोस्त से खुलकर बातें शुरू कर दीं।

मैंने कहा—'यार, तू तो बिल्कुल बदल गया।'

उसने गम्भीरता से कहा—'परिवर्तन जीवन का अनन्त क्रम है।'

मैंने कहा—'साले, फिलासफी मत बघार। यह बता कि तूने इतनी दौलत कैसे कमा ली पाँच सालों में?'

उसने पूछा—'तुम इन सालों में क्या करते रहे?'

मैंने कहा—'मैं तो घूम-घूमकर टार्च बेचता रहा। सच बता, क्या तू भी टार्च का व्यापारी है?

उसने कहा—'तुझे क्या ऐसा ही लगता है? क्यों लगता है?'

मैंने उसे बताया कि जो बातें मैं कहता हूँ वही तू कह रहा था।

मैं सीधे ढंग से कहता हूँ; तू उन्हीं बातों को रहस्यमय ढंग से कहता है। अँधेरे का डर दिखाकर लोगों को टार्च बेचता हूँ। तू भी अभी लोगों को अँधेरे का डर दिखा रहा था,

तू भी जरूर टार्च बेचता है।

उसने कहा—'तुम मुझे नहीं जानते। मैं टार्च क्यों बेचूँगा! मैं साधु, दार्शनिक और सन्त कहलाता हूँ।'

मैंने कहा—'तुम कुछ भी कहलाओ, बेचते तुम टार्च हो। तुम्हारे और मेरे प्रवचन एक जैसे हैं। चाहे कोई दार्शनिक बने, सन्त बने या साधु बने, अगर वह लोगों को अँधेरे का डर दिखाता है, तो जरूर अपनी कम्पनी का टार्च बेचना चाहता है। तुम जैसे लोगों के लिए हमेशा ही अन्धकार छाया रहता है। बताओ, तुम्हारे जैसे किसी आदमी ने हजारों में कभी भी यह कहा है कि आज दुनिया में प्रकाश फैला है? कभी नहीं कहा। क्यों? इसलिए कि उन्हें अपनी कम्पनी का टार्च बेचना है। मैं खुद भर-दोपहर में लोगों से कहता हूँ कि अन्धकार छाया है। बता किस कम्पनी का टार्च बेचता है?'

मेरी बातों ने उसे ठिकाने पर ला दिया था। उसने सहज ढंग से कहा—'तेरी बात ठीक ही है। मेरी कम्पनी नयी नहीं है, सनातन है।'

मैंने पूछा—'कहाँ है तेरी दुकान? नमूने के लिए एकाध टार्च तो दिखा। 'सूरज छाप' टार्च से बहुत ज्यादा बिक्री है उसकी।'

उसने कहा—'उस टार्च की कोई दुकान बाजार में नहीं है। वह बहुत सूक्ष्म है। मगर कीमत उसकी बहुत मिल जाती है। तू एक-दो दिन रह, तो मैं तुझे सब समझा देता हूँ।'

तो साहब मैं दो दिन उसके पास रहा। तीसने दिन 'सूरजछाप' टार्च की पेटी को नदी में फेंककर नया काम शुरू कर दिया।

वह अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरने लगा। बोला—'बस, एक महीने की देर और है।'

मैंने पूछा—'तो अब कौन-सा धन्धा करोगे?'

उसने कहा—'धन्धा वही करूँगा—यानी टार्च बेचूँगा। बस कम्पनी बदल रहा हूँ।'

एकलव्य ने गुरु को अँगूठा दिखाया

सन् 4163 ईस्वी—

शोधकर्ताओं को कुछ पुरानी पोथियों की पाण्डुलिपियाँ हाल ही में मिली हैं, जिनमें बीसवीं सदी के अन्त में लिखित एक पुराण भी है। इस पुराण को सम्पादित करके हाल ही में प्रकाशित किया गया है। सम्पादक ने इस पुराण की भूमिका में लिखा है—"...यह पुराण बीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में लिखा गया मालूम होता है। इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति ही प्राप्त हुई है। यद्यपि बीसवीं सदी में मुद्रण-विद्या बहुत ही पिछड़ी हुई थी और 'रोटरी'

नाम की छपाई की एक मामूली मशीन को ही लोग इतनी बड़ी उपलब्धि मानते थे कि उसके प्रचार के लिए आधी दुनिया में 'रोटरी क्लब' खुले हुए थे, फिर भी उस युग में पुस्तकें थोड़ी-बहुत छप जाती थीं। यह महत्त्वपूर्ण पुराण तब क्यों नहीं छप सका, इसके सामाजिक, राजनीतिक कारणों की खोज हो रही है। इस पुराण से उस युग के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक जीवन पर विशद प्रकाश पड़ता है।'' उक्त पुराण में से एक कथा यहाँ उद्धृत की जा रही है।

—लेखक

एक समय की बात है।

एक विश्वविद्यालय में राजनीति विभाग के एक प्रतिष्ठित अध्यापक थे, जिनका नाम द्रोणाचार्य था। पद-क्रम के अनुसार वे 'रीडर' कहलाते थे। 'रीडर' (पढ़ने वाला) उस अध्यापक को कहते थे, जिसे कक्षा में पढ़ाना नहीं आता था और वह पाठ्य-पुस्तक या कुंजी कक्षा में पढ़कर काम चला लेता था।

आचार्य द्रोणाचार्य के दो शिष्य थे। एक का नाम अर्जुनदास था और दूसरे का एकलव्यदास। अर्जुनदास एक धनी बाप का बेटा था, जिनका समाज में प्रभाव था और राजदरबार में भी उनका मान होता था। आचार्य रोज अर्जुनदास के घर जाते थे और अर्जुनदास भी रोज उनके घर आता था। उनका साथ इतना घना था कि कोई यदि आँखें बन्द करके आचार्यप्रवर की कल्पना करता, तो आचार्य का शरीर कल्पना में आते-आते उसमें एक दुम निकल आती और दुम के छोर पर अर्जुनदास का चेहरा बन जाता।

एकलव्य गरीब आदमी का लड़का था, इसलिए उसे आचार्य का साक्षात्कार बहुत कम होता था। पर गुरु के प्रति उसकी भक्ति थी। उसने अपने कमरे में द्रोणाचार्य का एक चित्र टाँग रखा था और उनकी लिखी हुई एक कुंजी सिरहाने रखकर सोता था।

दोनों शिष्य एम. ए. की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे (एम. ए. एक ऐसी परीक्षा थी जिसे पढ़ने के बाद तीन वर्ष का बेकारी का कोर्स पढ़ना पड़ता था।—सं.)

अर्जुन जानता था कि विद्या पढ़ने से नहीं, बल्कि गुरु-कृपा से प्राप्त होती है। वह निरन्तर गुरु की सेवा में रहता था। वह आचार्य के घर में किराना, कपड़ा, सब्जी आदि पहुँचाता था। त्योहार पर आचार्य के पाँचों बच्चों को बाजार ले जाता और उन्हें मिठाई, कपड़े खिलौने आदि खरीद देता। वह आचार्या को सिनेमा-नाटक दिखाता था और अन्य अध्यापकों की पत्नियों की कलंक-कथाएँ गढ़कर, उन्हें सुनाकर उनका मनोरंजन करता था। वह आचार्य के कुशल-क्षेम पर ध्यान देता था। रात को उनके सामने अन्य आचार्यों की निन्दा करता था, जिससे उनकी आत्मा का उत्थान होता था।

उधर एकलव्य गुरु-सेवा से विमुख होकर रात-दिन अध्ययन में लगा रहता था। एक दिन आचार्य और अर्जुन में इस प्रकार संवाद हुआ :

''आचार्यवर, मैं आपके घर में किराना, कपड़ा, सब्जी आदि पहुँचाता हूँ कि नहीं?''

"हाँ वत्स, पहुँचाते हो।"

"आचार्या को सिनेमा-नाटक कौन दिखाता है? बच्चों को मिठाई, खिलौने और कपड़े कौन खरीद देता है?"

"तू ही, बेटा। तू ही यह सब करता है।"

"क्या कोई दूसरा शिष्य है, जो आपके मुँह पर आपकी प्रशंसा मुझसे अधिक करके आपके मन को प्रसन्न करता हो?"

"नहीं, कोई नहीं।"

"क्या कोई ऐसा अध्यापक बचा है, जिसकी निन्दा न करके मैंने आपके हृदय को दुखाया हो?"

"नहीं, कोई नहीं बचा, वत्स।"

"क्या यह सत्य नहीं कि आपके रीडर बनने में मेरे पिताजी का बड़ा हाथ है?"

"यह सर्वथा सत्य है।"

"आगे विभागाध्यक्ष बनने के लिए आप किसकी सहायता लेंगे?"

"निःसन्देह तेरे पिता की।"

"क्या एकलव्य ने आपकी सेवा की है?".

"बिल्कुल नहीं। उसे तो गुरु की कोई सुध ही नहीं है। वह तो हमेशा निर्जीव ग्रन्थों में ही डूबा रहता है।"

"अच्छा, यह बताइए गुरुदेव, कि आपका सबसे प्रिय शिष्य कौन है?"

"तू है, वत्स! तुझ-सा प्रिय शिष्य न कभी हुआ है और न होगा।"

सहसा अर्जुन हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला, "तो गुरुदेव, मुझे वर दीजिए कि मैं ही फर्स्ट क्लास फर्स्ट आऊँ और छात्रवृत्ति लेकर विदेश जाऊँ।"

यह सुनकर आचार्य थोड़ी देर सोच में पड़े रहे, फिर बोले, "यह तो मैं भी चाहता हूँ, पर एकलव्य इसमें बाधक होगा। वह सबसे कुशाग्र-बुद्धि है और परिश्रमी भी।"

अर्जुनदास ने कहा, "यह मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो इतना जानता हूँ कि यदि मैं प्रथम नहीं आया, तो गुरु की महिमा भंग हो जायेगी, आगे कोई शिष्य गुरु की सेवा नहीं करेगा और इस अधम परम्परा को आरम्भ करने का कलंक आपको लगेगा।"

आचार्य फिर सोच में पड़ गये। धीरे-धीरे उनके मुख पर निश्चय की दृढ़ता आ गयी। अर्जुन उस क्षण गुरु के उस तेजोद्दीप्त मुख को देखकर अभिभूत हो गया। लगता था, आचार्य के जीवन-भर के पुण्य आभा बनकर मुख पर प्रकट हो गये हैं।

आचार्य ने दृढ़ स्वर में कहा, "तेरी मनोकामना पूरी होगी।"

दूसरे दिन आचार्य ने एकलव्य को घर बुलाया। उससे पूछा, "वत्स, तूने अपने कमरे में मेरा चित्र क्यों टाँग रखा है?"

एकलव्य ने कहा, "क्योंकि आप मेरे गुरु हैं।"

''और मेरी लिखी हुई कुंजी तू सिरहाने रखकर क्यों सोता है?''

''इसलिए कि दिन में प्राप्त किया हुआ बिखरा ज्ञान रात में परीक्षा के प्रश्नोत्तरों में सिमटकर बँध जाये।''

आचार्य ने ध्यान से देखा। फिर कहा, ''यदि तू मेरा शिष्य है, तो मुझे गुरुदक्षिणा दे।''

एकलव्य ने उत्तर दिया, ''मैं क्या दे सकता हूँ, गुरुवर! न मेरी किराना की दुकान है, न हौजरी की। मेरे पिता से भी ईमान बेचते नहीं बना, इसलिए निर्धन हैं।''

आचार्य ने कहा, ''मैं वह वस्तु माँगता हूँ, जो तेरे पास है। तू मुझे अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर दे। उठा वह सुपारी काटने का सरोता और काट दे अँगूठा।''

एकलव्य शान्त था। वह मानो इसके लिए तैयार था। उसने कहा, ''गुरुवर, अँगूठा तो मैं आपको सहर्ष काटकर दे दूँ, पर यह आपके किस काम आयेगा?''

आचार्य ने कहा, ''सो मैं जानता हूँ। मुझे एक महान परम्परा का निर्वाह करना है। अर्जुन की भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ। मैंने उसे वर दिया है कि तू ही प्रथम आयेगा। पर वह तब तक प्रथम नहीं आ सकता, जब तक तू लिखने में समर्थ है। तू लिख न सके और मेरा वचन पूरा हो, इसके लिए मुझे तेरा दाहिना अँगूठा चाहिए।''

एकलव्य हँसा। बोला, ''मगर दाहिना अँगूठा काट देने से भी आपका उद्देश्य पूरा नहीं होगा। मैं बायें हाथ से भी उसी कुशलता से लिख लेता हूँ। जब मैंने होश सँभाला और अपने नाम पर ध्यान दिया, तभी मैं समझ गया कि कोई गुरु कभी मेरा अँगूठा माँगेगा। मैं तभी से दोनों हाथों से लिखने का अभ्यास कर रहा हूँ। दोनों अँगूठे कटने से आपका उद्देश्य पूरा हो सकता है। पर शिष्य के दोनों अँगूठे कटवाने की परम्परा है नहीं।''

आचार्य निराश हुए। बोले, ''अधम, तूने गुरुद्रोह किया। तूने दोनों हाथों से लिखने का अभ्यास कर लिया। खैर, मेरे पास दूसरे रास्ते भी हैं।''

उस शाम को आचार्य ने अर्जुनदास से कहा, ''उसका अँगूठा मैं नहीं ले सका। पर मेरे पास एक अकाट्य दाँव भी है, जिससे वह बच नहीं सकता। तुम्हारा एक पेपर जाँचने के लिए मुझे मिलने वाला है और दूसरा मेरे परम मित्र देवदत्त शर्मा को। इन दोनों में तुम्हें 100 में से 99 नम्बर मिल जायेंगे और तुम एकलव्य से आगे निकल जाओगे। उसके दोनों अँगूठे कट जायेंगे—उसकी तीव्र बुद्धि और उसका अध्ययन धरे रह जायेंगे।''

अर्जुन निश्चिन्त हो गया। उसे गुरु की क्षमता पर विश्वास था। वे विभाग में इतने प्रभावशाली थे कि उनकी मरजी के खिलाफ पत्ता तक नहीं हिलता था।

पेपर हो गये। अर्जुनदास और एकलव्य दोनों ने यथाबुद्धि प्रश्नों के उत्तर दिये। एकलव्य के मन में शंका थी, पर अर्जुनदास बिल्कुल निःशंक था। उसे गुरुकृपा प्राप्त थी।

अन्तिम परचा करके शाम को अर्जुन आचार्य के पास आया। आचार्य मुँह लटकाये बैठे थे।

अर्जुन का उत्साह ठण्डा पड़ गया। वह आचार्य के मुँह की तरफ देखता रहा।

आचार्य ने ठण्डी साँस खींचकर कहा, ''मैं अधम हूँ। मैं अपना वचन पूरा नहीं कर सकूँगा। भविष्य में कोई शिष्य गुरु की सेवा नहीं करेगा और आगामी गुरुओं की पीढ़ियाँ मुझे धिक्कारेंगी।''

अर्जुन ने पूछा, ''पर हुआ क्या, गुरुदेव?''

आचार्य बोले, ''धोखा हुआ। पेपर जाँचने के लिए न मुझे मिला, न देवदत्त को। उपकुलपति ने अपने हाथ से किन्हीं अज्ञात व्यक्तियों को पेपर दे दिये।''

अर्जुन ने कहा, ''पर ऐसा हो कैसे गया? पेपर किसे जाना है, यह तो आपने ही तय कराया था?''

आचार्य बोले, ''पर एकलव्य ने मेरी रिपोर्ट कर दी थी।''

गुरु-शिष्य दोनों सिर झुकाये बड़ी देर तक बैठे रहे। अर्जुन ने कहा, ''गुरुदेव, प्राचीन काल में भी एक एकलव्य हो गया है न?''

आचार्य बोले, ''हाँ, पर उसमें और इसमें बड़ा अन्तर है। वह पुण्य-युग था, यह पाप-युग है। उस एकलव्य ने बिना तर्क के अँगूठा काटकर गुरु को दिया था, इस एकलव्य ने गुरु को अँगूठा दिखा दिया।''

इन्स्पेक्टर मातादीन चाँद पर

वैज्ञानिक कहते हैं, चाँद पर जीवन नहीं है।

पर सीनियर पुलिस इन्स्पेक्टर मातादीन (डिपार्टमेण्ट में एम. डी. सा'ब) कहते हैं, ''वैज्ञानिक झूठ बोलते हैं, वहाँ हमारे जैसे ही मनुष्यों की आबादी है।''

विज्ञान ने हमेशा इन्स्पेक्टर मातादीन से मात खायी है। फिंगर प्रिण्ट विशेषज्ञ कहता रहता है—छुरे पर पाये गये निशान मुलजिम की अँगुलियों के नहीं हैं। पर मातादीन उसे सजा दिला ही देते हैं।

मातादीन कहते हैं, ''ये वैज्ञानिक केस का पूरा इनवेस्टिगेशन नहीं करते। उन्होंने चाँद का उजला हिस्सा देखा और कह दिया, वहाँ जीवन नहीं है। मैं चाँद का अँधेरा हिस्सा देखकर आया हूँ। वहाँ मनुष्यजाति है।''

यह बात सही है, क्योंकि अँधेरे-पक्ष के मातादीन माहिर माने जाते हैं।

पूछा जायेगा इन्स्पेक्टर मातादीन चाँद पर क्यों गये थे? टूरिस्ट की हैसियत से थे। किसी फरार अपराधी को पकड़ने? नहीं, वे भारत की तरफ से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अन्तर्गत गये थे। चाँद सरकार ने भारत सरकार को लिखा था—'यों हमारी सभ्यता बहुत आगे बढ़ी है। पर हमारी पुलिस में पर्याप्त सक्षमता नहीं है। वह अपराधी का पता लगाने और उसे सजा दिलाने में अक्सर सफल नहीं होती। सुना है, आपके यहाँ रामराज है।

मेहरबानी करके किसी पुलिस अफसर को भेजें जो हमारी पुलिस को शिक्षित कर दे।'

गृहमन्त्री ने सचिव से कहा, "किसी आई. जी. को भेज दो।"

सचिव ने कहा, "नहीं सर, आई. जी. नहीं भेजा जा सकता। प्रोटोकॉल का सवाल है। चाँद हमारा एक क्षुद्र उपग्रह है। आई. जी. के रेंक के आदमी को नहीं भेजेंगे। किसी सीनियर इन्स्पेक्टर को भेज देता हूँ।"

तय किया गया कि हजारों मामलों के इनवेस्टिगेटिंग ऑफीसर सीनियर इन्स्पेक्टर मातादीन को भेज दिया जाय।

चाँद की सरकार को लिख दिया गया कि आप मातादीन को लेने के लिए पृथ्वी-यान भेज दीजिए।

पुलिस-मन्त्री ने मातादीन को बुलाकर कहा, "तुम भारतीय पुलिस की उज्ज्वल परम्परा के दूत की हैसियत से जा रहे हो। ऐसा काम करना कि सारे अन्तरिक्ष में डिपार्टमेण्ट की ऐसी जय-जयकार हो कि पी. एम. (प्रधान मन्त्री) को भी सुनाई पड़ जाय।"

मातादीन की यात्रा का दिन आ गया। एक यान अन्तरिक्ष अड्डे पर उतरा। मातादीन सबसे विदा लेकर यान की तरफ बढ़े। वे धीरे-धीरे कहते जा रहे थे—'प्रविसि नगर कीजै सब काजा, हृदय राखि कौसलपुर राजा।'

यान के पास पहुँचकर मातादीन ने मुंशी अब्दुल गफूर को पुकारा, "मुंशी!"

गफूर ने एड़ी मिलाकर सेल्यूट फटकारा। बोला, "जी, पेक्टसा!"

"एफ. आई. आर. रख दी है?"

"जी, पेक्टसा!"

"और रोजनामचे का नमूना?"

"जी, पेक्टसा!"

वे यान में बैठने लगे। हवलदार बलभद्दर को बुलाकर कहा, "हमारे घर में जचकी के बखत अपने खटला (पत्नी) को मदद के लिए भेज देना।"

बलभद्दर ने कहा, "जी, पेक्टसा!"

गफूर ने कहा, "आप बेफिक्र रहें, पेक्टसा! मैं अपने मकान (पत्नी) को भी भेज दूँगा खिदमत के लिए।"

मातादीन ने यान के चालक से पूछा, "ड्राइविंग लाइसेंस है?"

"जी है, साहब!"

"और गाड़ी में बत्ती ठीक है?"

"जी, ठीक है।"

मातादीन ने कहा, "सब ठीक-ठाक होना चाहिए, वरना हरामजादे का बीच अन्तरिक्ष में चालान कर दूँगा।"

चन्द्रमा से आये चालक ने कहा, "हमारे यहाँ आदमी से इस तरह नहीं बोलते।"

मातादीन ने कहा, "जानता हूँ, बे! तुम्हारी पुलिस कमजोर है। अभी मैं उसे ठीक

करता-हूँ।''

मातादीन यान में कदम रख ही रहे थे कि हवलदार रामसंजीवन भागता हुआ आया। बोला, ''पेक्टसा, एस. पी. साहब के घर में से कहे हैं कि चाँद से एड़ी चमकाने का पत्थर लेते आना।''

मातादीन खुश हुए। बोले, ''कह देना बाई सा'ब से, जरूर लेता आऊँगा।''

वे यान में बैठे और यान उड़ चला। पृथ्वी के वायुमण्डल से यान बाहर निकला ही था कि मातादीन ने कहा, ''अबे, हार्न क्यों नहीं बजाता?''

चालक ने जवाब दिया, ''आसपास लाखों मील में कुछ नहीं है।''

मातादीन ने डाँटा, ''मगर रूल इज रूल। हार्न बजाता चल।''

चालक अन्तरिक्ष में हार्न बजाता हुआ यान को चाँद पर उतार लाया। अन्तरिक्ष अड्डे पर पुलिस अधिकारी मातादीन के स्वागत के लिए खड़े थे। मातादीन रोब से उतरे और उन अफसरों के कन्धों पर नजर डाली। वहाँ किसी के स्टार नहीं थे। फीते भी किसी के नहीं लगे थे। लिहाजा मातादीन ने एड़ी मिलाना और हाथ उठाना जरूरी नहीं समझा। फिर उन्होंने सोचा, मैं यहाँ इन्स्पेक्टर की हैसियत से नहीं, सलाहकार की हैसियत से आया हूँ।

मातादीन को वे लोग लाइन में ले गये और एक अच्छे बँगले में उन्हें टिका दिया।

एक दिन आराम करने के बाद मातादीन ने काम शुरू कर दिया। पहले उन्होंने पुलिस लाइन का मुलाहजा किया।

शाम को उन्होंने आई. जी. से कहा, ''आपके यहाँ पुलिस लाइन में हनुमानजी का मन्दिर नहीं है। हमारे रामराज में हर पुलिस लाइन में हनुमानजी हैं।''

आई. जी. ने कहा, ''हनुमान कौन थे? हम नहीं जानते।''

मातादीन ने कहा, ''हनुमान का दर्शन हर कर्तव्य परायण पुलिसवाले के लिए जरूरी है। हनुमान सुग्रीव के यहाँ स्पेशल ब्रांच में थे। उन्होंने सीता माता का पता लगाया था। एब्डक्शन का मामला था, दफा 362। हनुमानजी ने रावण को सजा वहीं दे दी। उसकी प्रापर्टी में आग लगा दी। पुलिस को यह अधिकार होना चाहिए कि अपराधी को पकड़ा और वहीं सजा दे दी। अदालत में जाने का झंझट नहीं, मगर यह सिस्टम अभी हमारे रामराज में भी चालू नहीं हुआ। हनुमानजी के काम से भगवान रामचन्द्र बहुत खुश हुए। वे उन्हें अयोध्या ले आये और टौन ड्यूटी में तैनात कर दिया। वही हनुमान हमारे आराध्य देव हैं। मैं उनकी फोटो लेता आया हूँ। उससे मूर्तियाँ बनवाइए और हर पुलिस लाइन में स्थापित करवाइए।''

थोड़े ही दिनों में चाँद की हर पुलिस लाइन में हनुमानजी स्थापित हो गये।

मातादीनजी उन कारणों का अध्ययन कर रहे थे जिनसे पुलिस लापरवाह और अलाल हो गयी है। वह अपराधों पर ध्यान नहीं देती। कोई कारण नहीं मिल रहा था। एकाएक

उनकी बुद्धि में एक चमक आयी। उन्होंने मुंशी से कहा, ''जरा तनखा का रजिस्टर बताओ।''

तनखा का रजिस्टर देखा, तो सब समझ गये। कारण पकड़ में आ गया।

शाम को उन्होंने पुलिस-मन्त्री से कहा, ''मैं समझ गया कि आपकी पुलिस मुस्तैद क्यों नहीं है। आप इतनी बड़ी तनख्वाहें देते हैं, इसीलिए सिपाही को पाँच सौ, हवलदार को सात सौ, थानेदार को हजार—यह क्या मजाक है! आखिर पुलिस अपराधी को क्यों पकड़े? हमारे यहाँ सिपाही को सौ और इन्स्पेक्टर को दो सौ देते हैं तो वे चौबीस घण्टे जुर्म की तलाश करते हैं। आप तनख्वाहें फौरन घटाइए।''

पुलिस-मन्त्री ने कहा, ''मगर यह तो अन्याय होगा। अच्छा वेतन नहीं मिलेगा तो वे काम ही क्यों करेंगे?''

मातादीन ने कहा, ''इसमें कोई अन्याय नहीं है। आप देखेंगे कि पहली घटी हुई तनखा मिलते ही आपकी पुलिस की मनोवृत्ति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जायेगा।''

पुलिस-मन्त्री ने तनख्वाहें घटा दीं और दो-तीन महीनों में सचमुच बहुत फर्क आ गया। पुलिए एकदम मुस्तैद हो गयी। सोते से एकदम जाग गयी। चारों तरफ नजर रखने लगी। अपराधियों की दुनिया में घबराहट छा गई। पुलिस मन्त्री ने तमाम थानों के रिकार्ड बुलवाकर देखे। पहले से कई गुने अधिक केस रजिस्टर हुए थे। उन्होंने मातादीन से कहा, ''मैं आपकी सूझ की तारीफ करता हूँ। आपने क्रांति कर दी। पर यह हुआ किस तरह?''

मातादीन ने समझाया, ''बात बहुत मामूली है। कम तनखा दोगे, तो मुलाजिम की गुजर नहीं होगी। सौ रुपयों में सिपाही बच्चों को नहीं पाल सकता। दो सौ में इन्स्पेक्टर ठाठ-बाट मेनटेन कर सकता है? उसे ऊपरी आमदनी करनी ही पड़ेगी। और ऊपरी आमदनी तभी होगी जब वह अपराधी को पकड़ेगा। गरज कि वह अपराधों पर नजर रखेगा। सचेत, कर्तव्यपरायण और मुस्तैद हो जायेगा। हमारे रामराज के स्वच्छ और सक्षम प्रशासन का यही रहस्य है।''

चन्द्रलोक में इस चमत्कार की खबर फैल गयी। लोग मातादीन को देखने आने लगे कि वह आदमी कैसा है जो तनखा कम करके सक्षमता ला देता है। पुलिस के लोग भी खुश थे। वे कहते—'गुरु, आप इधर न पधारते तो हम सभी कोरी तनखा से ही गुजर करते रहते।' सरकार भी खुश थी कि मुनाफे का बजट बनने वाला था।

आधी समस्या हल हो गयी। पुलिस अपराधी पकड़ने लगी थी। अब मामले की जाँच विधि में सुधार करना रह गया था। अपराधी को पकड़ने के बाद उसे सजा कैसे दिलायी जाये। मातादीन इन्तजार कर रहे थे कि कोई बड़ा केस हो जाय तो नमूने के तौर पर उसका इनवेस्टिगेशन कर बतायें।

एक दिन आपसी मारपीट में एक आदमी मारा गया। मातादीन कोतवाली में आकर बैठ गये और बोले, ''नमूने के लिए इस केस का 'इनवेस्टिगेशन' मैं करता हूँ। आप लोग सीखिए। यह क़त्ल का केस है! क़त्ल के केस में 'एविडेंस' बहुत पक्की होनी चाहिए।''

कोतवाल ने कहा, ''पहले क़ातिल का पता लगाया जायेगा, तभी तो 'एविडेंस' इकट्ठा की जायेगी।''

मातादीन ने कहा, ''नहीं, उलटे मत चलो। पहले एविडेंस देखो। क्या कहीं खून मिला ? किसी के कपड़ों पर या और कहीं?''

एक इन्स्पेक्टर ने कहा, ''हाँ, मारने वाले तो भाग गये थे। मृतक सड़क पर बेहोश पड़ा था। एक भला आदमी वहाँ रहता है। उसने उठाकर अस्पताल भेजा। उस भले आदमी के कपड़ों पर खून के दाग लग गये हैं।''

मातादीन ने कहा, ''उसे फौरन गिरफ्तार करो।''

कोतवाल ने कहा, ''मगर उसने तो मरते हुए आदमी की मदद की थी।''

मातादीन ने कहा, ''वह सब ठीक है। पर तुम खून के दाग ढूँढ़ने और कहाँ जाओगे ? जो एविडेंस मिल रहा है, उसे तो कब्जे में करो।''

वह भला आदमी पकड़कर बुलवा लिया गया। उसने कहा, ''मैंने तो मरते आदमी को अस्पताल भिजवाया था। मेरा क्या कसूर है?''

चाँद की पुलिस उसकी बात से एकदम प्रभावित हुई। मातादीन प्रभावित नहीं हुए। सारा पुलिस महकमा उत्सुक था कि अब मातादीन क्या तर्क निकालते हैं।

मातादीन ने उससे कहा, ''पर तुम झगड़े की जगह गये क्यों?''

उसने जवाब दिया, ''मैं झगड़े की जगह नहीं गया। मेरा वहाँ मकान है। झगड़ा मेरे मकान के सामने हुआ।''

अब फिर मातादीन की प्रतिभा की परीक्षा थी। सारा महकमा उत्सुक देख रहा था।

मातादीन ने कहा, ''मकान है, तो ठीक है। पर मैं पूछता हूँ झगड़े की जगह जाना ही क्यों?''

इस तर्क का कोई जवाब नहीं था। वह बार-बार कहता, ''मैं झगड़े की जगह नहीं गया। मेरा वहीं मकान है।''

मातादीन उसे जवाब देते, ''सो ठीक है, पर झगड़े की जगह जाना ही क्यों?'' इस तर्क-प्रणाली से पुलिस के लोग बहुत प्रभावित हुए।

अब मातादीनजी ने इनवेस्टिगेशन का सिद्धान्त समझाया—

''देखो, आदमी मारा गया है, तो यह पक्का है कि किसी ने उसे जरूर मारा। कोई क़ातिल है। किसी को सजा होनी है। सवाल है—किसको सजा होनी है? पुलिस के लिए यह सवाल इतना महत्त्व नहीं रखता जितना यह सवाल कि जुर्म किस पर साबित हो सकता है या किस पर साबित होना चाहिए। क़त्ल हुआ है, तो किसी मनुष्य को सजा होगी ही। मारने वाले को होती है या बेकसूर को, यह अपने सोचने की बात नहीं है। मनुष्य मनुष्य सब बराबर हैं। सबमें उसी परमात्मा का अंश है। हम भेदभाव नहीं करते। यह पुलिस का मानवतावाद है।

दूसरा सवाल है, किस पर जुर्म साबित होना चाहिए। इसका निर्णय इन बातों से

होगा—(1) क्या वह आदमी पुलिस के रास्ते में आता है? (2) क्या उसे सजा दिलाने से ऊपर के लोग खुश होंगे?"

मातादीन को बताया गया कि वह आदमी भला है, पर पुलिस अन्याय करे तो विरोध करता है। जहाँ तक ऊपर के लोगों का सवाल है—वह वर्तमान सरकार की विरोधी राजनीतिवाला है।

मातादीन ने टेबिल ठोंककर कहा, "फर्स्ट क्लास केस! एविडेंस। और ऊपर का सपोर्ट।"

एक इन्स्पेक्टर ने कहा, "पर हमारे गले यह बात नहीं उतरती कि एक निरपराध भले आदमी को सजा दिलायी जाय।"

मातादीन ने समझाया, "देखो, मैं समझा चुका हूँ कि सबमें उसी ईश्वर का अंश है। सजा इसे हो या कातिल को, फाँसी पर तो ईश्वर ही चढ़ेगा न! फिर तुम्हें कपड़ों पर खून मिल रहा है। इसे छोड़कर तुम कहाँ खून ढूँढ़ते फिरागे? तुम तो भरो एफ. आई. आर.।"

मातादीनजी ने एफ. आई. आर. भरवा दी। 'बखत जरूरत के लिए' जगह खाली छुड़वा दी।

दूसरे दिन पुलिस कोतवाल ने कहा, "गुरुदेव, हमारी तो बड़ी आफत है। तमाम भले आदमी आते हैं और कहते हैं, उस बेचारे बेकसूर को क्यों फँसा रहे हो? ऐसा तो चन्द्रलोक में कभी नहीं हुआ। बताइए, हम क्या जवाब दें। हम तो बहुत शर्मिन्दा हैं।"

मातादीन ने कोतवाल से कहा; "घबराओ मत। शुरू-शुरू में इस काम में आदमी को शर्म आती है। आगे तुम्हें बेकसूर को छोड़ने में शर्म आयेगी। हर चीज का जवाब हैं। अब आपके पास जो आये, उससे कह दो—हम जानते हैं कि वह निर्दोष है। पर हम क्या करें? यह सब ऊपर से हो रहा है।"

कोतवाल ने कहा, "तब वे एस. पी. के पास जायेंगे।"

मातादीन ने कहा, "एस. पी. भी कह दें कि ऊपर से हो रहा है।"

"तब वे आई. जी. के पास शिकायत करेंगे।"

"आई. जी. भी कहें कि सब ऊपर से हो रहा है।"

"तब वे लोग पुलिस मन्त्री के पास पहुँचेंगे।"

"पुलिस मन्त्री भी कहेंगे—भैया, मैं क्या करूँ? यह ऊपर से हो रहा है।"

"तो वे प्रधानमन्त्री के पास जायेंगे।"

"प्रधानमन्त्री भी कहें कि मैं जानता हूँ, वह निर्दोष है। पर यह ऊपर से हो रहा है।"

कोतवाल ने कहा, "तब वे..."

मातादीन ने कहा, "तब वे क्या? तब वे किसके पास जायेंगे? भगवान के पास न? मगर भगवान से पूछकर कौन लौट सका है?"

कोतवाल चुप रह गया। वह इस महान प्रतिभा से चमत्कृत था।

मातादीन ने कहा, "एक मुहावरा—ऊपर से हो रहा है, हमारे देश में पचीस सालों

से सरकारों को बचा रहा है। तुम इसे सीख लो।''

केस की तैयारी होने लगी। मातादीन ने कहा, ''अब चार-छः चश्मदीद गवाह लाओ।''

कोतवाल ने कहा, ''चश्मदीद गवाह कोई कैसे मिलेंगे? जब किसी ने उसे मारते देखा ही नहीं, चश्मदीद गवाह कोई कैसे होगा?''

मातादीन ने सिर ठोंक लिया, 'किन बेवकूफों के बीच फँसा दिया गवर्नमेण्ट ने। इन्हें तो ए. बी. सी. डी. भी नहीं आती।'

झल्लाकर कहा, ''चश्मदीद गवाह किसे कहते हैं, जानते हो? चश्मदीद वह नहीं है, जो देखे—बल्कि वह है जो कहे कि मैंने देखा।''

कोतवाल ने कहा, ''ऐसा कोई क्यों कहेगा?''

मातादीन ने कहा, ''कहेगा। समझ में नहीं आता कैसे डिपार्टमेंट चलाते हो! अरे, चश्मदीद गवाहों की लिस्ट पुलिस के पास पहले से रहती है। जहाँ जरूरत हुई उन्हें चश्मदीद बना दिया। हमारे यहाँ ऐसे आदमी हैं जो साल में तीन-चार सौ वारदातों के चश्मदीद गवाह होते हैं। हमारी अदालतें भी मान लेती हैं कि इस आदमी में कोई दैवी शक्ति है, जिससे वह जान लेता है कि अमुक जगह वारदात होने वाली है और वहाँ पहले से पहुँच जाता है। मैं तुम्हें चश्मदीद गवाह बनाकर देता हूँ। आठ-दस उठाईगीरों को बुलाओ जो चोरी, मारपीट, गुण्डागर्दी करते हों। जुआ खिलाते हों या शराब उतारते हों।''

दूसरे दिन शहर के आठ-दस नररत्न कोतवाली में हाजिर थे। उन्हें देखकर मातादीन गद्गद हो गये। बहुत दिन हो गये थे, ऐसे लोगों को देखे, बड़ा सूना-सूना लग रहा था।

मातादीन का प्रेम उमड़ पड़ा। उसने कहा, ''तुम लोगों ने उस आदमी को लाठी मारते देखा था न?''

वे बोले, ''नहीं देखा सा'ब! हम वहाँ थे ही नहीं।''

मातादीन जानते थे, यह पहला मौका है। फिर उन्होंने कहा, ''वहाँ नहीं थे, ये मैंने माना। पर लाठी मारते देखा तो था।''

उन लोगों को लगा कि यह पागल आदमी है। तभी ऐसी ऊटपटाँग बात करता है। वे हँसने लगे।

मातादीन ने कहा, ''हँसो मत, जवाब दो।''

वे बोले, ''जब थे ही नहीं, तो कैसे देखा?''

मातादीन ने गुर्राकर देखा। कहा, ''कैसे देखा, तो बताता हूँ। तुम लोग जो काम करते हो, सब इधर दर्ज हैं। हर एक को कम-से-कम दस साल जेल में डाला जा सकता है। तुम ये काम आगे भी करना चाहते हो या जेल जाना चाहते हो?''

वे घबराकर बोले, ''सा'ब, हम जेल नहीं जाना चाहते।''

मातादीन ने कहा, ''ठीक। तो तुमने उस आदमी को लाठी मारते देखा। देखा न !''

वे बोले, ''देखा सा'ब। वह आदमी घर से निकला और जो लाठी मारना शुरू किया,

तो वह बेचारा बेहोश होकर सड़क पर गिर पड़ा।''

भातादीन ने कहा, ''ठीक है, आगे भी ऐसी वारदतें देखोगे?''

वे बोले, ''सा'ब, जो आप कहेंगे, सो देखेंगे।''

कोतवाल इस चमत्कार से थोड़ी देर तो बेहोश हो गया। होश आया तो मातादीन के चरणों पर गिर पड़ा।

मातादीन ने कहा, ''हटो। काम करने दो।''

कोतवाल पाँवों से लिपट गया। कहने लगा, ''मैं जीवन-भर इन श्रीचरणों में पड़ा रहना चाहता हूँ।''

मातादीन ने आगे की सारी कार्यप्रणाली तय कर दी। एफ. आई. आर. बदलना, बीच में पन्ने डालना, रोजनामचा बदलना, गवाहों को तोड़ना—सब सिखा दिया।

उस आदमी को बीस साल की सजा हो गयी।

चाँद की पुलिस शिक्षित हो चुकी थी। धड़ाधड़ केस बनने लगे और सजा होने लगी। चाँद की सरकार बहुत खुश थी। पुलिस की ऐसी मुस्तैदी भारत सरकार के सहयोग का नतीजा थी। चाँद की संसद ने एक धन्यवाद का प्रस्ताव पास किया।

एक दिन मातादीनजी का सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। वे फूलों से लदे खुली जीप पर बैठे थे। आसपास जय-जयकार करते हजारों लोग। वे हाथ जोडकर अपने गृहमन्त्री की स्टाइल में जवाब दे रहे थे।

जिन्दगी में पहली बार ऐसा कर रहे थे, इसलिए थोड़ा अटपटा लग रहा था। छब्बीस साल पहले पुलिस में भरती होते वक्त किसने सोचा था कि एक दिन दूसरे लोक में उनका ऐसा अभिनन्दन होगा। वे पछताये—अच्छा होता कि इस मौके के लिए कुरता, टोपी और धोती ले आते।

भारत के पुलिस मन्त्री टेलीविजन पर बैठे यह दृश्य देख रहे थे और सोच रहे थे, मेरी सद्भावना यात्रा के लिए वातावरण बन गया।

एक दिन चाँद की संसद का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। बहुत तूफान खड़ा हुआ। गुप्त अधिवेशन था, इसलिए रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई, पर संसद की दीवारों से टकराकर कुछ शब्द बाहर आये।

सदस्य गुस्से से चिल्ला रहे थे—

'कोई बीमार बाप का इलाज नहीं कराता।'

'डूबते बच्चों को कोई नहीं बचाता।'

'जलते मकान की आग कोई नहीं बुझाता।'

'आदमी जानवर से बदतर हो गया। सरकार फौरन इस्तीफा दे।'

दूसरे दिन चाँद के प्रधानमन्त्री ने मातादीनजी को बुलाया। मातादीन ने देखा—वे एकदम बूढ़े हो गये थे। लगा, ये कई रातें सोये नहीं हैं।

रुआँसे होकर प्रधानमन्त्री ने कहा, ''मातादीनजी, हम आपके और भारत सरकार के बहुत आभारी हैं। अब आप कल देश वापस लौट जाइए।''

मातादीन ने कहा, ''मैं तो 'टर्म' खत्म करके ही जाऊँगा।''

प्रधानमन्त्री ने कहा, ''आप बाकी 'टर्म' का वेतन ले जाइए–डबल ले जाइए, ट्रिपल ले जाइए।''

मातादीन ने कहा, ''हमारा सिद्धान्त है। हमें पैसा नहीं, काम प्यारा है।''

आखिर चाँद के प्रधानमन्त्री ने भारत के प्रधानमन्त्री को एक गुप्त पत्र लिखा।

चौथे दिन मातादीनजी को वापस लौटने के लिए अपने आई. जी. का आर्डर मिल गया।

उन्होंने एस. पी. साहब के घर के लिए एड़ी चमकाने का पत्थर यान में रखा और चाँद से विदा हो गये।

उन्हें जाते देख पुलिसवाले रो पड़े।

बहुत अरसे तक यह रहस्य बना रहा कि आखिर चाँद में ऐसा क्या हो गया कि मातादीनजी को इस तरह एकदम लौटना पड़ा। चाँद के प्रधानमन्त्री ने भारत के प्रधानमन्त्री को क्या लिखा था?

एक दिन वह पत्र खुल ही गया। उसमें लिखा था–

इन्स्पेक्टर मातादीन की सेवाएँ हमें प्रदान करने के लिए अनेक धन्यवाद। पर अब आप उन्हें फौरन बुला लें। हम भारत को मित्र देश समझते थे, पर आपने हमारे साथ शत्रुवत व्यवहार किया है। हम भोले लोगों से विश्वासघात किया है।

आपके मातादीनजी ने हमारी पुलिस को जैसा कर दिया है, उसके नतीजे ये हुए हैं–

'कोई आदमी किसी मरते हुए आदमी के पास नहीं जाता, इस डर से कि वह क़त्ल के मामले में फँसा दिया जायेगा। बेटा बीमार की सेवा नहीं करता। वह डरता है, बाप मर गया तो उस पर कहीं हत्या का आरोप नहीं लगा दिया जाय। घर जलते रहते हैं और कोई बुझाने नहीं जाता–डरता है कि कहीं उस पर आग लगाने का जुर्म कायम न कर दिया जाय। बच्चे नदी में डूबते रहते हैं और कोई उन्हें नहीं बचाता। इस डर से कि उस पर बच्चे को डुबाने का आरोप न लग जाय। सारे मानवीय संबंध समाप्त हो रहे हैं। मातादीनजी ने हमारी आधी संस्कृति नष्ट कर दी है। अगर वे यहाँ रहे तो पूरी संस्कृति नष्ट कर देंगे। उन्हें फौरन रामराज में बुला लिया जाय।'

एक वैष्णव कथा

यह कहानी मैंने वैष्णवों के लिए लिखी है। मगर इसके पहले मैं वैष्णवों की एक पुरानी कथा सुनाना चाहता हूँ। यह पुरानी कथा पोथी से लेकर भजन तक में पायी जाती है।

एक दिन एक हाथी पानी पीने नदी में घुसा। वहाँ एक मगर ने उसका पाँव पकड़ लिया। बड़ी देर तक दोनों में लड़ाई होती रही और हाथी हार गया। मगर उसे निगलने की तैयारी कर रहा था कि हाथी ने भगवान को पुकारा। उसकी करुण पुकार सुनकर भगवान पैदल ही भागे आये। उन्होंने मगर को मारा और हाथी का उद्धार किया। वैष्णव-भजनावली में इस घटना को स्थान मिला।

अब वैष्णवों के लिए मेरी कहानी शुरू होती है।

एक दिन एक शहर के अखबार में खबर छपी :

—पिछली रात को अमुक विभाग के दफ्तर में अचानक आग लग गयी। (दफ्तर का नाम नहीं बता रहा हूँ, क्योंकि इससे नये सिरे से जाँच शुरू हो जायेगी)। दफ्तर में रखे हुए रजिस्टर, फाइलें और दूसरे कागजात जलकर भस्म हो गये। आग लगने का कारण अभी तक अज्ञात है। दफ्तरों में आग पहले भी लगी है, पर वे अकसर चपरासी की बीड़ी से लगती हैं। पर इस दफ्तर का चपरासी बीड़ी नहीं पीता। उसके पास तमाखू का बटुआ पाया गया। पुलिस आग के कारणों की जाँच कर रही है।

एक हफ्ते बाद अखबार में फिर छपा :

—विस्तृत जाँच के बाद भी आग का कारण मालूम नहीं हो सका है। आग को सरकारी क्षेत्रों में रहस्यमय माना जा रहा है। उनका कहना है कि यह कोई दैवी चमत्कार था। लोगों को भी विश्वास है कि इसमें मनुष्य का हाथ होता तो पुलिस पता लगा लेती। आग अवश्य दैवी इच्छा का परिणाम थी।

सरकार ने और जनता ने मान लिया कि यह दैवी चमत्कार था। ऐसे दैवी चमत्कार अखबार में अक्सर छपते रहते थे। मामला यहीं बन्द कर दिया गया।

पर यह दैवी चमत्कार घटित कैसे हुआ? यही घटना वैष्णवों के लाभार्थ वर्णित कर रहा हूँ। यह किसी रिकार्ड में नहीं मिलेगी। मगर भजन में स्थान पा जायेगी :

—एक दिन उस दफ्तर के बाबू...(बाबू का नाम नहीं खोलूँगा, क्योंकि जाँच फिर शुरू हो जायेगी) ने बबुआइन से कहा, "बुरे फँस गये। लाखों का गोलमाल है। कागजात जब्त हो गये हैं। खाये सबने हैं, पर ऊपर वाले नीचे वाले को फँसा रहे हैं। दो-तीन दिन में मैं सस्पेण्ड हो जाऊँगा। नौकरी जायेगी और जेल भी हो सकती है।"

बबुआइन भक्तिन थी। घूस और गबन का पैसा भी घर में आता, तो पहले भगवान

के सिंहासन के सामने रखती। उसने कहा, ''घबराओ मत, जिसकी रक्षा कोई नहीं करता, उसकी रक्षा भगवान करते हैं। तुमने वह कथा तो सुनी होगी, जिसमें गज की पुकार पर भगवान पैदल दौड़े आये थे।''

बाबू ने कहा, ''सुना है। डिपार्टमेंट में ऊपर के सब लोग मगर हो गये हैं और मैं हाथी हूँ। यह भगवान के हस्तक्षेप के लिए सही केस है। पर मैं किस मुँह से उन्हें पुकारूँ? मैंने तो कभी उनका नाम नहीं लिया।''

पत्नी ने कहा, ''पर मैं तो तुम्हारी अर्द्धांगिनी हूँ। मैं रोज उनकी पूजा-स्तुति करती हूँ। मेरा आधा पुण्य तुम्हारा हुआ ही। अपने भगवान जितनी छूट देते हैं, उतनी किसी के भगवान नहीं देते। अजामिल का मामला तो आपको मालूम ही है, जिन्दगी भर पाप किये और एक बार भगवान का नाम लेने से उसका उद्धार हो गया। तुम सच्चे हृदय से उन्हें पुकारो तो।''

शाम को बाबू ने आँखें बन्द कीं, हाथ जोड़े और प्रार्थना की—''भगवान, मेरा आपसे पूर्व-परिचय नहीं है। 'वाइफ' आपको जानती है। वह आपकी पूजा-स्तुति करती है। वह मेरी धर्मपत्नी है इसलिए आप पर मेरा भी 'क्लेम' है। अगर उसने एक लाख बार आपका नाम लिया है तो उसमें से पचास हजार मेरी तरफ का हुआ। अगर आपको यह 'फिगर' ज्यादा लगे, तो चालीस हजार ही सही। चालीस हजार भी आपको मंजूर न हो, तो तीस तो कहीं नहीं गये। इससे मैं एक भी कम नहीं करूँगा—आपको बुरा लगे चाहे भला। आपके लिए खास रियायत कर दी है वरना मैं दूसरे से पचहत्तर से कम पर बात ही नहीं करता। खैर, बात यह है कि मैं एक मामले में फँस गया हूँ। आपसे कुछ छुपा नहीं है। आप अन्तर्यामी हैं। हृदय की बात जानते हैं, तो दफ्तर की क्यों न जानेंगे। इस मामले में हर आदमी अपने नीचे वाले को फँसा रहा है। हर एक के अपने बचाव के अलग तरीके हैं। मुझसे 'वाइफ' ने कहा है कि मैं आपकी मदद माँगूँ। तो आप आ जाइए और मुझे बचाइए। लेकिन जरा जल्दी कीजिए। आप 'एमरजेंसी' में भी पैदल आते हैं। उस हाथी को बचाने आप पैदल क्यों गये! मेरे 'केस' में आप मेहरबानी करके ऐसा न करें। किसी तेज सवारी पर आयें। टैक्सी कर लें। किराया मैं चुका दूँगा। मैं आपकी राह देख रहा हूँ।''

बाबू की पत्नी ने कहा, ''तुम्हें प्रार्थना करना भी नहीं आता।''

''तो और कैसे की जाती है?''

''तुम तो इस तरह बात करते हो भगवान से जैसे उन्हें घूस दी हो और काम करवाना हो।''

''भई, हम तो एक ही रास्ता जानते हैं और उसकी भाषा बोल सकते हैं।''

''पर यह मामला भगवान का है।''

''भगवान का हो, चाहे आदमी का, अपना काम करवाने का एक ही तरीका है।''

''नहीं, भगवान की करुणा को जगाना चाहिए, उनकी स्तुति करनी चाहिए— हे सर्वशक्तिमान, हे दीनबन्धु, हे करुणामय, मुझ दीन पर दया करो।''

"अच्छा, तो यह सब तुम कह देना। कहना, मेरे पति ने आपसे जो कहा है, उसमें इतना और जोड़ लो।"

पति-पत्नी इन्तजार करते रहे कि अब क्या होता है।

बाबू ने ऊबकर कहा, "तुम्हारे भगवान ने ऐसे 'केस' में पहले भी मदद की है ?"

"संकट में मदद तो वे करते ही रहते हैं। हजारों बार की है।"

"मेरा मतलब है, जैसे मामले में मैं फँस गया हूँ, वैसा मामला पहले भी हुआ है? यानी ऐसे मामले को 'डील' करने का उन्हें अनुभव है या नहीं? नहीं होगा, तो वे क्या जानें कि इसमें क्या करना है।"

"देखते जाओ। उनके लिए क्या मुश्किल है। वे चाहें तो सरकार को डिसमिस कर दें।"

"उससे क्या होगा? दूसरी सरकार आ जायेगी। उन्हें तो किसी देवदूत के द्वारा कागजातों की चोरी करवा लेनी चाहिए। सील लगा दी गयी है, पर भगवान चाहें तो सील तुड़वाकर चोरी करवा सकते हैं।"

"उन्हें तुम क्या बताओगे। वे सब जानते हैं।"

पति-पत्नी इन्तजार करते रहे।

आधी रात के बाद वह हुआ, जिसे बाबू-पत्नी 'चिमत्कार' कहती है।

एक देवदूत मुहल्ले में बाबू का मकान पूछता हुआ आया। दरवाजे पर दस्तक दी। बाबू ने दरवाजा खोला। देवदूत ने पूछा—

"तुम्हीं....बाबू हो?"

"जी, कहिए, कहाँ से आना हुआ?"

"देवलोक से आ रहा हूँ। भगवान ने भेजा है। तुमने उन्हें बुलाया था न?"

बाबू-पत्नी ने साधिकार कहा, "हाँ, पर वे खुद क्यों नहीं आये? पहले तो वे खुद आते थे।"

देवदूत ने कहा, "वह जमाना गया। अब माँग बहुत बढ़ गयी है। बड़े 'केस' में ही वे जा सकते हैं। लोग उनका मन्दिर बनवाते हैं और फिर इनकम-टैक्स की चोरी में फँस जाते हैं। वे वहाँ जायें या तुम्हारे टुच्चे मामले के लिए दौड़े आयें? तुम्हारे काम के लिए मैं काफी हूँ। बोलो, कौन तुम्हारे लिए मगर बना हुआ है?"

बाबू ने कहा, "सुपरिण्टेण्डेण्ट मुझे फँसा रहा है।"

"तो उसे मार डालूँ?"

इतना कहते ही फिर 'चिमत्कार' हुआ। न जाने कैसे सुपरिण्टेण्डेण्ट हाथ जोड़े हाजिर हो गया। बोला, "प्रभु, मेरी टाँग मेरे ऊपरवाला जबड़ों में पकड़े है। उसकी टाँग उससे ऊपरवाला। इस तरह सेक्रेटरी तक। हम एक-दूसरे के लिए मगर भी हैं और हाथी भी। मुझ दीन को मारने से आपका भक्त नहीं बचेगा। मेरे ऊपरवाला उसे पकड़ लेगा।"

देवदूत ने कहा, "तो तुम सबको मार डालूँ?"

''उससे भी कुछ नहीं होगा, प्रभु।''

''क्यों?''

''भगवन्, हमारी जगह दूसरे आ जायेंगे और आपके भक्त को पकड़ लेंगे।''

देवदूत सुपरिण्टेण्डेण्ट से खुश हो गया था। वह उसे प्रभु और भगवान कह रहा था। पुलिस कान्स्टेबिल को इन्स्पेक्टर साहब कहने से वह छोड़ देता है। देवदूत भी पिघल रहा था।

उसने पूछा, ''तो फिर क्या किया जाये?''

बाबू ने कहा, ''सर, आफत की जड़ वे कागजात हैं, जो सील कर दिये गये हैं। उन्हीं में सारे सबूत हैं। हम लोगों में आपस में कोई मतभेद या दुश्मनी नहीं है। सबके दुश्मन वे कागजात हैं। अगर आप उन्हें चुराकर देवलोक ले जायें...''

देवदूत ने कहा, ''सर्वशक्तिमान चोरी नहीं करते।''

भक्तिन बाबू-पत्नी बोली, ''कैसे नहीं करते? वे तो माखन की चोरी करते थे। माखन-चोर उनका नाम ही है।''

देवदूत ने कहा, ''खाने-पीने की चीज की बात अलग है। यह फाइलों का मामला है।''

बाबू ने कहा, ''तो फिर दफ्तर में आग लगा दीजिए। चपरासी और पुलिस को जरा देर के लिए सुला दीजिए।''

देवदूत ने कहा, ''तुम खुद क्यों नहीं लगा देते? चलो मेरे सामने आग लगाओ।''

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कहा, ''प्रभु हम मनुष्य हैं। हमारी लगायी आग पकड़ी जाएगी। आप ही अपने कर-कमलों से लगा दीजिए।''

देवदूत ने कहा, ''अरे, मैं तो इच्छा-मात्र से आग लगा सकता हूँ।''

तीनों दफ्तर के पास गये। देवदूत ने मन-ही-मन अग्नि का आह्वान किया। दफ्तर जलने लगा। सारे सबूत खाक हो गये।

एक भक्तिन ने पति के सारे डिपार्टमेण्ट को बचा लिया।

पुलिस पता लगाते-लगाते हार गयी, पर आग का कारण ज्ञात नहीं हो सका। लगे भी कैसे? वह आग तो दैवी चमत्कार थी। मनुष्य की क्या औकात कि दैवीलीला को समझे !

यह कथा सत्य है और वैष्णवों के लाभार्थ मैंने कही है। कथा से दो शिक्षाएँ मिलती हैं :

1. वैष्णव बेखटके गबन कर सकता है, चोरी कर सकता है, काला पैसा जमा कर सकता है।

2. किसी दफ्तर में आग लग जाय तो शासन को उसकी जाँच की कोशिश नहीं करनी चाहिए। विश्वास कर लेना चाहिए कि आग दैवी इच्छा से लगी है। दैवी इच्छा में मनुष्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

छोटी-सी बात

संसद में शिक्षा मन्त्री ने अपने बयान में कहा कि हाल में जो व्यापक छात्र आन्दोलन हुए, उनका आरम्भ एक छोटी-सी बात से हुआ था। एक कॉलेज का छात्र पिछले तीन वर्षों से एक अतिरिक्त लघुशंकागृह की माँग कर रहा था, पर वह नहीं बनवाया गया। आखिर छात्रों ने आन्दोलन कर दिया, जो दूसरी संस्थाओं में भी फैल गया। (1965 का एक समाचार)

इस पर एक विदेशी अखबार ने टिप्पणी की—जिसे शिक्षा मन्त्री ने छोटी बात कहा है, वह छोटी बात नहीं है। दुनिया के किसी देश के किसी कॉलेज के छात्रों ने लघुशंकागृह की माँग नहीं की। शिक्षा के इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। यह माँग अभूतपूर्व और महत्त्वपूर्ण है। दूसरी खास बात यह है कि किसी भी देश के छात्रों को इतने बड़े लघुशंकागृह की जरूरत नहीं पड़ती जो तीन सालों में भी न बन सके। ऐसा लगता है कि छात्र लघुशंकागृह नहीं, बल्कि अणु-संस्थान चाहते हैं। इतना विशाल लघुशंकागृह दुनिया के किसी भी कॉलेज में नहीं है। इस माँग से भी भारतीय छात्रों की क्षमता और संभावना का पता लगता है। इस देश के वरिष्ठ नेताओं का कहना है कि जब देश की आर्थिक हालत इतनी गिरी हुई है तो क्या हमारे तरुण कुछ साल लघुशंका किये बिना नहीं रह सकते? इतना खर्चीला शौक देश के भविष्य-निर्माताओं को शोभा नहीं देता। उन्हें धीरज रखना चाहिए। जब देश के अच्छे दिन आयेंगे, तब यदि वे चाहेंगे, तो हर दफ्तर को लघुशंकागृह बना दिया जायेगा।

यह तो सब ठीक है। पर असल बात न सरकार ने बतायी, न अखबारवालों को मालूम हुई। अन्दाज है, ऐसा हुआ होगा—

कॉलेज में एक ही लघुशंकागृह था। लड़कों को लाइन लगानी पड़ती थी। उनमें से कुछ प्रिंसिपल के पास गये और प्रार्थना की कि एक लघुशंकागृह और बनवा दें। प्रिंसिपल ने कहा, ''तुम्हारी माँग जायज है, पर मुझे न एक ईंट रखवाने का अधिकार है, न उखड़वाने का। मैं ऊपर लिखता हूँ।''

प्रिंसिपल ने शिक्षा-सचिव को लिखा, शिक्षा-सचिव प्रिंसिपल के पत्र को लगातार छह महीने पढ़ते रहे, तब वह समझ में आया। हर शब्द और हर अक्षर को सैकड़ों बार पढ़ा—इतना कठिन और पेचीदा पत्र था वह। समझने के बाद उस पर छह महीने विचार हुआ। विचार के बाद शिक्षा-सचिव ने प्रिंसिपल को लिखा—'रिकार्ड देखने से मालूम होता है कि यह कॉलेज सन् 1930 में खुला था। तब से अब तक कभी लड़कों ने लघुशंकागृह की माँग नहीं की। मालूम होता है, 1965 में पहली बार इस कॉलेज के लड़के लघुशंका कर रहे हैं। प्रश्न है कि जब 35 सालों तक लघुशंका नहीं की, तो अब एकाएक कैसे लग आयी। मुझे इस माँग की सचाई में शक है। कृपया फिर से जाँच करके लिखिए कि क्या लड़के लघुशंका करने लगे हैं।'

प्रिंसिपल ने छात्र-नेताओं को बुलाकर शिक्षा-सचिव की चिट्ठी बतायी।

लड़कों ने कहा, ''अगर आप कहें तो हम सचिवालय जाकर प्रत्यक्ष प्रमाण दे सकते हैं।''

प्रिंसिपल ने घबराकर कहा, ''आप लोगों की इस क्षमता से मैं परिचित हूँ। ऐसा मत करो। मैं ही लिखे देता हूँ।''

प्रिंसिपल ने शिक्षा-सचिव को लिख दिया—'मैं व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर विश्वास दिलाता हूँ कि लड़के लघुशंका करते हैं। अगर उन पर अविश्वास किया जायगा, तो वे प्रत्यक्ष प्रमाण देने लगेंगे। वैसे पिछले पैंतीस वर्षों में भी इस कॉलेज के लड़के लघुशंका करते रहे हैं। अब उनकी संख्या बढ़ रही है, इसलिए एक लघुशंकागृह की और जरूरत है।'

शिक्षा-सचिव ने एक नोट लिखकर अर्थ-मन्त्रालय को भेज दिया। अर्थ-मन्त्रालय में विशेषज्ञों की एक समिति इस प्रस्ताव के आर्थिक पहलुओं पर विचार करने बैठी। छह महीने के अथक अध्ययन के बाद अर्थ-सचिव ने यह नोट लिखकर वित्तमन्त्री को भेजा—'वैसे ही घाटे की अर्थ-व्यवस्था चल रही है, अगर लघुशंकागृह बनवा दिया गया, तो और घाटा होगा। इसे कहाँ से पूरा करेंगे? हिसाब लगाने से मालूम होता है कि अगर हर कॉलेज में इस तरह लघुशंकागृह बनवाया गया तो लगभग नौ करोड़ का खर्चा होगा। अगर देश के युवकों की लघुशंका पर नौ करोड़ खर्चा किया गया तो योजनाओं के लिए पैसा कहाँ से लाएँगे ? अगर नौ करोड़ का घाटा पूरा करने के लिए 'लघुशंका-कर' लगाया गया, तो बड़ा कड़ा विरोध होगा। कर की चोरी करने के लिए लोग छिपकर लघुशंका करेंगे जिससे जनता का नैतिक स्तर गिरेगा। कुछ लोग कर बचाने के लिए लघुशंका रोकेंगे, जिसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ेगा।'

वित्तमंत्री ने अपनी सारी राजनीतिक समझ इस मामले को समझने में लगा दी। उन्होंने सचिव से कहा, ''यह मामला न लघुशंकागृह का है, न खर्च का। यह सरकार की बुनियादी नीति का मामला है। इस पर अर्थमन्त्रालय अलग से निर्णय नहीं ले सकता। इसके लिए मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलानी पड़ेगी।''

मन्त्रिमण्डल की बैठक में शिक्षा मन्त्री ने कहा, ''यह छात्रों की अनुशासनहीनता का मामला है। यह निर्लज्ज पीढ़ी है। अपने बुजुर्गों से लघुशंकागृह माँगने में भी इन्हें शर्म नहीं आती। कल ये लोग कहेंगे कि हमारे लिए वेश्यालय का इन्तजाम करो।''

किसी मन्त्री ने कहा, ''इन लड़कों को विरोधी दल भड़का रहे हैं। मुझे इसकी जानकारी है। मैं जानता हूँ कि विरोधी दल देश के तरुणों को लघुशंका करने के लिए उकसाते हैं। यदि इस पर रोक नहीं लगी, तो ये हर उस चीज पर लघुशंका करने लगेंगे, जो हमने बनाकर रखी है।''

गृहमन्त्री ने कहा, ''यह मामला अन्ततः कानून और व्यवस्था का है। सरकार का काम लघुशंकागृह बनवाना नहीं, लॉ एण्ड आर्डर बनाये रखना है! मैं इस स्थिति से निपट लूँगा।''

तब प्रधानमन्त्री ने कहा, ''प्रश्न यह है कि लघुशंकागृह बनवाया जाये या नहीं। इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। इस कॉलेज में पैंतीस साल से लघुशंकागृह नहीं बना। अब एकदम लघुशंकागृह बनवा देना बहुत क्रान्तिकारी काम हो जायेगा। क्या हम इतना क्रान्तिकारी कदम उठाने को तैयार हैं? धीरे-धीरे विकास में विश्वास रखते हैं, क्रान्ति में नहीं। यदि हमने यह क्रान्तिकारी कदम उठा लिया, तो सरकार का जो रूप देश-विदेश के सामने आयेगा, उसके व्यापक राजनीतिक परिणाम होंगे। मेरा खयाल है, सरकार अपने को इतना क्रान्तिकारी कदम उठाने के लिए समर्थ नहीं पाती।''

इसी वक्त छात्रों का धीरज टूट गया।

उन्होंने आन्दोलन छेड़ दिया।

दूसरे कॉलेजों के लड़कों को चूड़ियाँ भेज दी गयीं—आन्दोलन करो या चूड़ियाँ पहनकर घर में बैठो। चूड़ियों में आग लगा दी। जगह-जगह आन्दोलन भड़क उठा। यहाँ का आदमी अक्ल बताने को उतना उत्सुक नहीं रहता, जितना नरता बताने को। अगर किसी से कहा कि अपने सिर पर जूता मारो, या ये चूड़ियाँ पहन लो, तो वह चूड़ी के डर से जूता मार लेगा। लोगों ने लड़कों से पूछा, ''यह आन्दोलन किस हेतु कर रहे हो?'' लड़कों ने कहा, ''हमें नहीं मालूम। हमें तो चूड़ियाँ आ गयी थीं, इसलिए कर रहे हैं।''

मगर राजधानी में सारे विदेशी दूतावास और पत्रकार चौंक पड़े। यह क्या हो रहा है? विद्रोह? क्रान्ति?

एक दौर लाठीचार्ज और फायरिंग का चला।

विदेशी पत्रकार मन्त्रमुग्ध की तरह घूम रहे थे। उन्होंने संघर्ष समिति के प्रतिनिधि से मुलाकात की। कहा, ''आपका यह देशव्यापी विद्रोह देखकर हम चकित हैं। आप देश को बदलना चाहते हैं। अपना 'मैनिफेस्टो' हमें दीजिए। हमें बताइए कि इस देश के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में क्या बुनियादी परिवर्तन आप लोग चाहते हैं?''

छात्र नेता ने जवाब दिया, ''हमें तो एक लघुशंकागृह चाहिए।''

एक फिल्म-कथा

यह रंजना और राकेश की प्रेम-कहानी है।

रंजना बहुत अच्छी लड़की है और उसे गाना भी आता है।

राकेश भी बहुत अच्छा लड़का है। वह एक करोड़पति का इकलौता बेटा है। वह थोड़ा आवारा है, क्योंकि उसे प्यार करना है और हमारे समाज में कोई भी अच्छी स्त्री किसी शरीफ आदमी से प्यार नहीं करती। राकेश को भी गाना आता है। राकेश की एक आदत है। वह उन स्थानों के आस-पास घूमता रहता है, जहाँ गुण्डे स्त्रियों को तंग करते हैं। ज्योंही

किसी सुन्दरी को कोई गुण्डा छेड़ता है, राकेश उससे भिड़ जाता है और उसे पीटकर स्त्री को उसके घर पहुँचा देता है।

एक दिन इसी तरह गुण्डों से घिरी रंजना को राकेश बचाता है और उसे घर पहुँचाने जाता है। रास्ते में रंजना राकेश को सत्रह बार देखती है और राकेश रंजना को इकतीस बार देखता है। तब रंजना उसके प्रति आभार प्रकट करती है और राकेश कहता है कि यह तो मेरा कर्तव्य था।

इतनी ही देर में रंजना राकेश की एक बुरी आदत छुड़वा देती है। राकेश चेन-स्मोकर है। रंजना कहती है, ''यह बुरी आदत है, इसे छोड़ दीजिए!''

राकेश फौरन हाथ की सिगरेट फेंक देता है और सब जानते हैं कि उसने आज तक सिगरेट नहीं पी। उसका आवारापन अब सार्थक होने लगता है।

राकेश और रंजना अब पाँच गाने ऐसे याद करते हैं, जिन्हें डुएट या दुगाने कहते है। इन गानों में एक कड़ी नायक गाता है और दूसरी नायिका गाती है। ये गाने सीखकर वे अपने-अपने घर में बैठे एक-एक कड़ी गाते रहते हैं। उनके हृदय मिल गये हैं, इसलिए ज्यों ही एक गाना आरम्भ करता है, दूसरा जान जाता है और वह आगे गाने लगता है।

अपने घर में बैठकर, इस तरह पाँच गाने गाकर, वे एक बगीचे में मिलते हैं। वहाँ वे गाने गाते हैं और लुका-छिपी खेलते हैं। वहाँ कोई आदमी इस समय नहीं आता, क्योंकि नगरपालिका ने जो समय प्रेमियों के मिलने के लिए निश्चित कर दिया है, उस समय नागरिकों को आने की मनाही है। चारों कोनों पर पुलिस तैनात रहती है। प्रेमी युगल पाँचवाँ गाना गाने ही वाला है कि कहीं से एकाएक चाँद निकल पड़ता है। दोनों चाँद को देखते हैं और चाँदनी के बारे में एक गाना गाते हैं। गाना समाप्त होने पर वे कसमें खाते हैं कि हम एक-दूसरे के हो गये। 'हम जीवन-भर साथ रहेंगे', इस संबंध से एक और गाना गाकर वे अपने-अपने घर चले जाते हैं।

कुछ दिनों बाद रंजना पर दुःख टूट पड़ता है। उसकी माँ की मृत्यु हो जाती है। ज्योंही माँ प्राण छोड़ती है, रंजना दूसरे कमरे में जाकर माँ की मौत के बारे में एक गाना गाती है, जो उसने पहले से इस अवसर के लिए तैयार कर रखा था।

रंजना के पिता बाबू हरप्रसाद को लड़की के विवाह की चिन्ता है। वह गरीब आदमी हैं, इसलिए उसके लिए अच्छा वर प्राप्त नहीं कर सकते।

इधर राकेश के पिता बेटे की शादी एक रईस के घर करने की योजना बना रहे हैं। राकेश रंजना से शादी करने की इच्छा प्रकट करता है, पर पिता कहते हैं कि गरीब के घर विवाह करने से उनकी इज्जत चली जायेगी। ''यह मेरी इज्जत का सवाल है।'' उनका कहना है।

अब यहाँ खलनायक प्रकट होता है। सुरेन्द्रसिंह एक पुराने जमींदार का इकलौता बेटा है। उसके पिता की मृत्यु हो चुकी है और वह अपार सम्पत्ति का मालिक हो गया है। सुरेन्द्रसिंह बहुत बदमाश आदमी है, क्योंकि उसकी तलवार जैसी मूँछें हैं। वह हमेशा सिगरेट

पीता और सीटी बजाता रहता है। उसके पास एक बड़ा भयानक कुत्ता है। वह शराबी, जुआरी, चरित्रहीन, अत्याचारी सबकुछ है। बाबू हरप्रसाद पर उसका पन्द्रह हजार कर्ज है और उनका मकान उसके पास रेहन रखा हुआ है। वह जब-तब मकान बेदखल कराने की धमकी देता रहता है। उसकी नजर रंजना पर है।

एक दिन राकेश रंजना को मोटर में घुमाने ले जाता है। रंजना मोटर की सवारी के बारे में एक गाना गाती है। बीच में मोटर फेल हो जाती है तो वह मोटर फेल होने के बारे में भी एक गाना गाती है। अब उसके पास चौदह गाने हो गये हैं।

राकेश भी गाने में पीछे नहीं है। वह दो गाने आवारागर्दी के बारे में गाता है। फिर एक दिन उसे सड़क के किनारे एक गरीब आदमी पड़ा दीखता है। उसे दया आ जाती है और वह वहीं रुककर गरीब की दुर्दशा के बारे में एक गाना गाता है, जिसमें वह सामने की अट्टालिका की ओर इशारा करके कहता है—"ऐ महल वालो! देखो, तुम्हारे सामने ही गरीब पड़ा है!" अब राकेश के पास भी चौदह गाने हो गये हैं।

राकेश का मन गरीब को देखकर बहुत दुखी हो गया है, इसलिए वह रात को एक थियेटर में जाकर नाच देखता है।

एक दिन रंजना एक वैराइटी शो देखने जाती है। वह तीन नाच देखती है। चौथे नाच के लिए राकेश ही नर्तक के वेश में मंच पर आता है। ज्योंही रंजना की दृष्टि उससे मिलती है, वह उसे पहचान लेती है। दोनों मुस्करा उठते हैं। राकेश एक अन्तर्राष्ट्रीय नृत्य पेश करता है, जिसमें भरत-नाट्यम और रॉक-एन-रोल का मिश्रण रहता है। रंजना यह देखकर बहुत प्रसन्न होती है कि राकेश को नाचना भी आता है। वह उसे पहले से अधिक प्यार करने लगती है।

सुरेन्द्रसिंह अपने कुत्ते को साथ लेकर कई दिन से शिकार पर गया था। वह लौट आता है। अब उसे रंजना की याद आती है और वह एक दिन बाबू हरप्रसाद को बुलाता है। सुरेन्द्रसिंह बाबू हरप्रसाद से कर्ज पटाने के लिए कहता है। वह फिलहाल असमर्थता प्रकट करते हैं, वह उनसे मकान छोड़ देने के लिए कहता है। बाबू हरप्रसाद अनुनय-विनय करते हैं, पर उस दुष्ट का हृदय नहीं पसीजता। वह कहता है कि यदि वह रंजना की शादी उससे कर दें, तो वह सब कर्ज छोड़ देगा। बाबू हरप्रसाद बिना कुछ उत्तर दिये चले आते हैं।

बाबू हरप्रसाद से खाना नहीं खाया जाता। रंजना पिता की चिन्ता का कारण समझ जाती है और कहती है कि मैं सुरेन्द्रसिंह से शादी करने के लिए तैयार हूँ। वह बलिदान करने के लिए तैयार है। बलिदान की परम्परा यहाँ से आरम्भ होती है। रंजना इस निर्णय के बाद अपने कमरे में जाती है और दरवाजा बन्द करके दुर्भाग्य का गाना गाती है। फिर वह राकेश की तस्वीर हाथ में लेकर उससे बातें करती है।

दूसरे दिन रंजना राकेश को एक चिट्ठी लिखकर अपने निर्णय की सूचना दे देती है। लिखती है कि मुझे भूल जाओ।

राकेश के हृदय को बड़ा गहरा धक्का लगता है। वह एक निराशा का गाना गाता

है। गाने के अन्त में वीर-रस आता है, जब वह कहता है कि ऐ कोमल हृदयों को कुचलनेवाली दुनिया! हम तुझमें आग लगा देंगे।

रंजना की शादी की तिथि तय हो जाती है। रंजना और राकेश अपने-अपने घर में बैठकर चार गाने गाते हैं, जिनमें कहा गया है कि अब तुम हमें भूल जाओ, अब हम सदा के लिए बिछुड़ गये।

राकेश घोर निराशा में जंगल की ओर भाग जाता है, पर फिर उसे डर लगता है, इसलिए घर लौट आता है।

शादी की तिथि आ जाती है। बाजे-गाजे के साथ सुरेन्द्रसिंह अपनी बारात लाता है। रास्ते में उसे राकेश दीखता है। वह घोड़े पर बैठे-बैठे ही चेहरे पर के फूलों को जरा हटाकर राकेश को मुँह चिढ़ाता है।

बारात मण्डप में आ जाती है। वेदी के सामने रंजना और सुरेन्द्रसिंह बिठा दिये जाते हैं। पण्डित वर-वधू के हाथ जोड़ देते हैं और मन्त्र पढ़ने की तैयारी करते हैं।

राकेश की एक खास आदत है। जब किसी शादी में शामिल होने जाता है तब जेब में पचीस-तीस हजार के नोट ले जाता है। जब वह देखता है कि लड़की किसी और को प्यार करते हुए भी कर्ज के दबाव के कारण किसी और से शादी कर रही है, तो वह वहीं मण्डप में ही लड़की के बाप का कर्ज पटाकर लड़की की शादी उसके प्रेमी से करा देता है।

आज वह पचास हजार के नोट लेकर आया है।

पण्डित राकेश के प्रकट होने की राह देख रहे हैं। वह मन्त्र पढ़ने में इसीलिए विलम्ब कर रहे हैं। उन्हें मालूम है कि प्रेम करने वाली कन्याओं के पिता, राकेश से अपना कर्ज पटवाकर लड़की की शादी उसके प्रेमी से कर देते हैं।

पण्डित मन्त्रोच्चार करने ही वाले हैं कि सहसा भीड़ में से राकेश सामने आता है और बड़ी दबंग आवाज में कहता है, ‘‘ठहरो! यह शादी नहीं हो सकती।’’

एक सकता छा जाता है। सुरेन्द्रसिंह उठकर खड़ा हो जाता है और कड़ककर पूछता है, ‘‘तुम कौन होते हो बीच में बोलने वाले? शादी होकर रहेगी!’’

यह साँस रोकने का स्थल है। देखें, क्या होता है?

सुरेन्द्रसिंह बाबू हरप्रसाद से कहता है कि यह सब क्या घुटाला है? बाबू हरप्रसाद को मालूम है कि राकेश पचास हजार के नोट लेकर आया है। वह राकेश की बात का समर्थन करते हैं।

तब सुरेन्द्रसिंह कहता है, ‘‘तो लाओ, मेरा कर्ज पटाओ!’’

राकेश तुरत पचास हजार के नोट उसके मुँह पर फेंककर कहता है, ‘‘ले, अपनी धन की भूख शान्त कर!’’

इसके बाद राकेश वहीं धनवानों की हृदयहीनता पर एक जोशीला भाषण देता है।

सुरेन्द्रसिंह का चेहरा क्रोध से लाल हो रहा है। वह मुकुट जमीन पर फेंक देता है,

पुष्पहार तोड़ फेंकता है और दूल्हे का बाना उतारकर कोट की जेब में नोटों का बण्डल रख लेता है। न नोट गिनता है, न रसीद देता है। बाबू हरप्रसाद भी रसीद नहीं माँगते क्योंकि पैसा उनकी जेब से तो गया नहीं है।

सुरेन्द्रसिंह पाँव पटकता हुआ मण्डप से बाहर चला जाता है। जाते-जाते कह जाता है, ''याद रखना! मेरा नाम सुरेन्द्रसिंह है। मैं बदला लेकर रहूँगा।''

बाबू हरप्रसाद राकेश से कहते हैं, ''बेटा! तुमने मेरी इज्जत बचा ली!''

राकेश संकोचपूर्वक कुछ अस्पष्ट उत्तर देता है, जिसका अर्थ है कि मैं तो इज्जत बचाता ही रहता हूँ।

पण्डित कहते हैं, ''विवाह का मुहूर्त निकला जा रहा है!''

यह सुनकर राकेश और रंजना वेदी पर बैठ जाते हैं और पण्डित मन्त्र पढ़ देते हैं।

राकेश और रंजना बहुत प्रसन्न हैं। राकेश अब दुनिया को आग लगाने का इरादा त्याग देता है। दोनों एक बड़े मकान में रहते हैं और गाना गाते हैं। अब प्रत्येक के पास लगभग सत्ताईस गाने हो चुके हैं।

पर संसार में सुख और दुख का जोड़ा है। एक दिन राकेश सख्त बीमार होता है। रंजना डॉक्टर को नहीं बुलाती। वह भगवान् की मूर्ति के सामने पति की बीमारी के बारे में एक गाना गाती है। थोड़ी देर बाद राकेश अच्छा हो जाता है।

राकेश और रंजना अब सुखपूर्वक रह सकते हैं, पर वे नहीं रहते, क्योंकि अभी फिल्म केवल दो घण्टे की हुई है और दर्शक भूले न होंगे कि सुरेन्द्रसिंह जाते-जाते कह गया था—'याद रखना! मेरा नाम सुरेन्द्रसिंह है! मैं बदला लिये बिना नहीं रहूँगा।'

अब एक रहस्य और खुलता है। सुरेन्द्रसिंह के पास रंजना के कुछ पत्र हैं, जो किसी दूसरे प्रसंग के हैं, पर जिन्हें वह प्रेम-पत्र कहता है। वह रंजना को धमकी भेजता है कि मैं ये प्रेम-पत्र राकेश को दिखा दूँगा।

रंजना बहुत घबराती है और एकदम आत्महत्या करने चल देती है।

आत्महत्या करने की जगह नदी का एक खतरनाक घाट है। यहाँ बिल्कुल सुनसान रहता है। रंजना घाट की ओर चली जा रही है।

भारत में साधु बहुत हैं। इनसे समाज को बहुत लाभ है। इनका काम है, आत्महत्या करने वाली स्त्रियों को बचाना और बिछुड़े हुए प्रेमियों को मिलाना। भारत-साधु समाज की व्यवस्था के अनुसार सुन्दरियों के आत्महत्या करने के स्थानों के पास एक-एक साधु छिपकर बैठा रहता है। वह चौबीसों घण्टे देखता रहता है कि कौन आत्महत्या करने जा रही है। बारह घण्टे में उनकी ड्यूटी बदलती है।

जहाँ रंजना डूबने जा रही है, वहाँ भी एक साधु बैठा है। ज्योंही वह रंजना को देखता है, त्यों ही एक गाना गाता है, जिसमें वह सन्देश देता है कि हे प्राणी! संसार तो दुख का स्थल ही है! तू हिम्मत मत हार! तेरे सुख के दिन आयेंगे।...

रंजना ठिठककर साधु के सन्देश पर विचार करती है, पर उसे उस पर विश्वास नहीं

होता और वह घाट की ओर बढ़ जाती है।

रंजना एक ऊँचे कगार पर खड़ी है। नीचे अथाह पानी है। हवा सायँ-सायँ कर रही है। घोर सस्पेंस का क्षण है, यह! क्या होगा? क्या रंजना कूद पड़ेगी?

इधर वह साधु भी धीमे पग पीछे-पीछे चला आया है। रंजना को नहीं मालूम, क्योंकि उसने पीछे देखा ही नहीं। साधु रंजना के कूदने की राह देख रहा है। उसका नियम है कि जब तक सुन्दरी कूदने न लगे, वह उसे नहीं बचाता।

रंजना गिरने लगती है। साधु तुरत उसे पकड़ लेता है। रंजना मुड़ती है, साधु कहता है–'बेटी!' साधु उसे समझाता है और वह घर लौट जाती है। साधु कुटी में लौट जाता है और रिपोर्ट लिखकर भारत-साधु-समाज के केन्द्रीय कार्यालय को भेज देता है। रंजना पर साधु के उपदेश का असर पड़ता है। वह सत्य का सहारा लेती है। सुरेन्द्रसिंह की चालबाजी राकेश को बता देती है।

राकेश को बहुत क्रोध आता है, वह सुरेन्द्रसिंह के बँगले पर पहुँचता है। वहाँ देखता है कि सुरेन्द्रसिंह मरा पड़ा है। किसी ने उसकी हत्या कर दी है।

राकेश घबराकर भागता है। रास्ते में उसे पुलिस गिरफ्तार कर लेती है। रंजना बहुत दुखी है। वह दुख-भरे गाने गा-गाकर समय काटती है।

राकेश पर सुरेन्द्रसिंह की हत्या का मुकदमा चलता है। अदालत भरी है। न्यायाधीश महोदय राकेश के बयान लेते हैं। फिर सरकारी वकील सिद्ध करता है कि हत्या राकेश ने ही की है। राकेश का वकील इसका खण्डन करता है और सिद्ध करता है कि हत्या किसी और ने की थी, राकेश तो वहाँ बाद में पहुँचा। दर्शकों में बहुत सनसनी है। तीसरी बार यह सस्पेंस की स्थिति है। अब क्या होगा? क्या राकेश को फाँसी हो जायेगी?

न्यायाधीश फाँसी की सजा सुनाने ही वाले हैं कि दर्शकों में से एक स्त्री चिल्लाती है–'राकेश निर्दोष है। हत्या मैंने की है!' स्त्री की बलिदान-भावना देखकर सारे दर्शक मुग्ध हो जाते हैं।

न्यायाधीश उस स्त्री को गिरफ्तार करवाने वाले ही हैं कि कहीं से भागता-भागता एक आदमी आता है और अदालत में घुसकर चिल्लाता है–'माई लार्ड! हत्यारा मैं हूँ। सुरेन्द्रसिंह की हत्या मैंने की है।...'

सब अचम्भे में हैं। बड़ा सस्पेंस है। इतने आदमियों को बलिदान करने के लिए तत्पर देखकर न्यायाधीश का हृदय भर आता है और वे सबको छोड़ देते हैं। उनका निर्णय है कि सुरेन्द्रसिंह ने आत्महत्या की है।

सब प्रसन्न हैं। रंजना और राकेश अब सुखपूर्वक रह सकते हैं क्योंकि फिल्म तीन घण्टे की हो गयी है।

एक गोभक्त से भेंट

एक शाम रेलवे स्टेशन पर एक स्वामीजी के दर्शन हो गये। ऊँचे, गोरे और तगड़े साधु थे। चेहरा लाल। गेरुए रेशमी कपड़े पहने थे। पाँवों में खड़ाऊँ। हाथ में सुनहरी मूठ की छड़ी। साथ एक छोटे साइज का किशोर संन्यासी था। उसके हाथ में ट्रांजिस्टर था और वह गुरु को रफी के गाने सुनवा रहा था।

मैंने पूछा, ''स्वामीजी, कहाँ जाना हो रहा है?''

स्वामीजी बोले, ''दिल्ली जा रहे हैं, बच्चा!''

मैंने कहा, ''स्वामीजी, मेरी काफी उम्र है। आप मुझे 'बच्चा' क्यों कहते हैं?''

स्वामीजी हँसे। बोले, ''बच्चा, तुम संसारी लोग होटल में साठ-साल के बूढ़े 'बैरे' को 'छोकरा' कहते हो न! उसी तरह हम तुम संसारियों को 'बच्चा' कहते हैं। यह विश्व एक विशाल भोजनालय है जिसमें हम खानेवाले हैं और तुम परोसने वाले हो। इसीलिए हम तुम्हें 'बच्चा' कहते हैं। बुरा मत मानो। सम्बोधन मात्र है।''

स्वामीजी बात से दिलचस्प लगे। मैं उनके पास बैठ गया। वे भी बेंच पर पालथी मारकर बैठ गये। सेवक को गाना बन्द करने के लिए कहा।

कहने लगे, ''बच्चा, धर्मयुद्ध छिड़ गया है। गोरक्षा-आन्दोलन तीव्र हो गया है। दिल्ली में संसद के सामने सत्याग्रह करेंगे।''

मैंने कहा, ''स्वामीजी, यह आन्दोलन किस हेतु चलाया जा रहा है?''

स्वामीजी ने कहा, ''तुम अज्ञानी मालूम होते हो, बच्चा! अरे, गौ की रक्षा करना है। गौ हमारी माता है। उसका वध हो रहा है।''

मैंने पूछा, ''वध कौन कर रहा है?''

वे बोले, ''विधर्मी कसाई।''

मैंने कहा, ''उन्हें वध के लिए गौ कौन बेचते हैं? वे आपके सधर्मी गोभक्त ही हैं न?''

स्वामीजी ने कहा, ''सो तो हैं। पर वे क्या करें? एक तो गाय व्यर्थ खाती है, दूसरे बेचने से पैसे मिल जाते हैं।''

मैंने कहा, ''यानी पैसे के लिए माता का जो वध करा दे, वही सच्चा गौ-पूजक हुआ !''

स्वामीजी मेरी तरफ देखने लगे। बोले, ''तर्क तो अच्छा कर लेते हो, बच्चा! पर यह तर्क की नहीं, भावना की बात है। इस समय जो हजारों गोभक्त आन्दोलन कर रहे हैं, उनमें शायद ही कोई गौ पालता हो। पर आन्दोलन कर रहे हैं। यह भावना की बात है।''

स्वामीजी से बातचीत का रास्ता खुल चुका था। उनसे जमकर बातें हुईं, जिसमें तत्त्व का मन्थन हुआ। जो तत्त्व-प्रेमी हैं, उनके लाभार्थ वार्तालाप आगे दे रहा हूँ—

''स्वामीजी, आप तो गाय का दूध ही पीते होंगे?''

''नहीं बच्चा, हम भैंस के दूध का सेवन करते हैं। गाय बहुत कम दूध देती है और

वह पतला होता है। भैंस के दूध की बढ़िया गाढ़ी मलाई और रबड़ी बनती है।''

''तो क्या सभी गोभक्त भैंस का दूध पीते हैं?''

''हाँ बच्चा, लगभग सभी।''

''तब तो भैंस का रक्षा-आन्दोलन करना चाहिए। भैंस का दूध पीते हैं, मगर माता गौ को कहते हैं। जिसका दूध पिया जाता है, वही तो माता कहलायेगी।''

''यानी भैंस को हम माता...नहीं बच्चा, तर्क ठीक है, पर भावना दूसरी है।''

''स्वामीजी, हर चुनाव के पहले गोभक्ति क्यों जोर पकड़ती है? इस मौसम में कोई खास बात है क्या?''

''बच्चा, जब चुनाव आता है, तब हमारे नेताओं को गोमाता सपने में दर्शन देती है। कहती है—बेटो, चुनाव आ रहा है। अब मेरी रक्षा का आन्दोलन करो। देश की जनता अभी मूर्ख है। मेरी रक्षा का आन्दोलन करके वोट ले लो। बच्चा, कुछ राजनीतिक दलों को गौ वोट दिलाती है, जैसे एक दल को बैल वोट दिलाते हैं। तो ये नेता एकदम आन्दोलन छेड़ देते हैं और हम साधुओं को उसमें शामिल कर लेते हैं। हमें भी राजनीति का मजा आता है। बच्चा, तुम हमसे ही पूछ रहे हो। तुम भी तो कुछ बताओ। तुम कहाँ जा रहे हो?''

''स्वामीजी, मैं 'मनुष्य-रक्षा आन्दोलन' में जा रहा हूँ।''

''यह क्या होता है, बच्चा?''

''स्वामीजी, जैसे गाय के बारे में मैं अज्ञानी हूँ, वैसे ही मनुष्य के बारे में आप हैं।''

''पर मनुष्य को कौन मार रहा है?''

''इस देश के मनुष्य को सूखा मार रहा है, अकाल मार रहा है, महँगाई मार रही है। मनुष्य को मुनाफाखोर मार रहा है, कालाबाजारी मार रही है। भ्रष्ट शासन-तन्त्र मार रहा है। सरकार भी पुलिस की गोली से चाहे जहाँ मनुष्य को मार रही है। बिहार के लोग भूखे मर रहे हैं।''

''बिहार? बिहार शहर कहाँ है, बच्चा?''

''बिहार एक प्रदेश है, राज्य है।''

''अपने जम्बूद्वीप में है न?''

''स्वामीजी, इसी देश में है, भारत में।''

''यानी आर्यावर्त में?''

''जी हाँ, ऐसा ही समझ लीजिए। स्वामीजी, आप भी मनुष्य-रक्षा आन्दोलन में शामिल हो जाइए न!''

''नहीं बच्चा, हम धर्मात्मा आदमी हैं। हमसे यह नहीं होगा। एक तो मनुष्य हमारी दृष्टि में बहुत तुच्छ है। वे मनुष्य ही तो हैं, जो कहते हैं कि मन्दिरों और मठों में लगी जायदाद को सरकार ले ले। बच्चा, तुम मनुष्य को मरने दो। गौ की रक्षा करो। कोई भी जीवधारी मनुष्य से श्रेष्ठ है। तुम देख नहीं रहे हो, गोरक्षा के जुलूस में जब झगड़ा होता है, तब मनुष्य ही मारे जाते हैं। एक बात और है, बच्चा! तुम्हारी बात से प्रतीत होता है

कि मनुष्य-रक्षा के लिए मुनाफाखोर और कालाबाजारिये से बुराई लेनी पड़ेगी। यह हमसे नहीं होगा। यही लोग तो गोरक्षा आन्दोलन के लिए धन देते हैं। हमारा मुँह धर्म ने बन्द कर दिया है।''

''खैर, छोड़िए मनुष्य को। गोरक्षा के बारे में मेरी ज्ञान-वृद्धि कीजिए। एक बात बताइए। मान लीजिए आपके बरामदे में गेहूँ सूख रहे हैं। तभी एक गोमाता आकर गेहूँ खाने लगती है। आप क्यों करेंगे?''

''बच्चा, हम उसे डण्डा मारकर भगा देंगे।''

''पर स्वामीजी, वह गोमाता है न। पूज्य है। बेटे के गेहूँ खाने आयी है। आप हाथ जोड़कर स्वागत क्यों नहीं करते कि आ माता, मैं कृतार्थ हो गया। सब गेहूँ खा जा।''

''बच्चा, तुम हमें मूर्ख समझते हो?''

''नहीं, मैं आपको गोभक्त समझता था।''

''सो तो हम हैं, पर इतने मूर्ख भी नहीं हैं कि गाय को गेहूँ खा जाने दें।''

''पर स्वामीजी, यह कैसी पूजा है कि गाय हड्डी का ढाँचा लिये हुए मुहल्ले में कागज और कपड़े खाती फिरती है और जगह-जगह पिटती है!''

''बच्चा, यह कोई अचरज की बात नहीं है। हमारे यहाँ जिसकी पूजा की जाती है उसकी दुर्दशा कर डालते हैं। यही सच्ची पूजा है। नारी को भी हमने पूज्य माना और उसकी जैसी दुर्दशा की, सो तुम जानते ही हो।''

''स्वामीजी, दूसरे देशों में लोग गाय की पूजा नहीं करते, पर उसे अच्छी तरह रखते हैं और वह खूब दूध देती है।''

''बच्चा, दूसरे देशों की बात छोड़ो। हम उनसे बहुत ऊँचे हैं। देवता इसीलिए सिर्फ हमारे यहाँ अवतार लेते हैं। दूसरे देशों में गाय दूध के उपयोग के लिए होती है; हमारे यहाँ वह दंगा करने और आन्दोलन करने के लिए होती है। हमारी गाय और गायों से भिन्न है।''

''स्वामी जी, और सब समस्याएँ छोड़कर आप लोग इसी एक काम में क्यों लग गये हैं?''

''इसी से सब हो जायगा, बच्चा! अगर गौरक्षा का कानून बन जाय, तो यह देश अपने-आप समृद्ध हो जायगा। फिर बादल समय पर पानी बरसायेंगे, भूमि खूब अन्न देगी और कारखाने बिना चले ही उत्पादन करेंगे। धर्म का प्रताप तुम नहीं जानते। अभी जो देश की दुर्दशा है, वह गौ के अनादर के कारण है।''

''स्वामीजी, पश्चिम के देश गौ की पूजा नहीं करते, फिर भी समृद्ध हैं?''

''उनका भगवान दूसरा है, बच्चा! उनका भगवान इस बात का खयाल नहीं करता।''

''और रूस जैसे समाजवादी देश भी गाय को नहीं पूजते, पर समृद्ध हैं।''

''उनका तो भगवान ही नहीं है, बच्चा! उन्हें दोष नहीं लगता।''

''यानी भगवान रखना भी एक झंझट ही है। वह हर बात पर दण्ड देने लगता है!''

''तर्क ठीक है, बच्चा, पर भावना गलत है।''

''स्वामीजी, जहाँ तक मैं जानता हूँ, जनता के मन में इस समय गोरक्षा नहीं है, महँगाई और आर्थिक शोषण है। जनता महँगाई के खिलाफ आन्दोलन करती है। वह वेतन और महँगाई-भत्ता बढ़वाने के लिए हड़ताल करती है; जनता आर्थिक न्याय के लिए लड़ रही है। और इधर आप गोरक्षा-आन्दोलन लेकर बैठ गये हैं। इसमें तुक क्या है?''

''बच्चा, इसमें तुक है। देखो, जनता जब आर्थिक न्याय की माँग करती है, तब उसे किसी दूरी चीज में उलझा देना चाहिए, नहीं तो वह खतरनाक हो जाती है। जनता कहती है—हमारी माँग है—महँगाई बन्द हो, मुनाफाखोरी बन्द हो, वेतन बढ़े, शोषण बन्द हो; तब हम उससे कहते हैं कि नहीं, तुम्हारी बुनियादी माँग गोरक्षा है। बच्चा, आर्थिक क्रान्ति की तरफ बढ़ती जनता को हम रास्ते में ही गाय के खूँटे से बाँध देते हैं। यह आन्दोलन जनता को उलझाये रखने के लिए है।''

''स्वामी, किसकी तरफ से आप जनता को इस तरह उलझाये रखते हैं?''

''जनता की माँग का जिन पर असर पड़ेगा, उनकी तरफ से। यही धर्म है। एक दृष्टान्त देते हैं। एक बार हजारों भूखे लोग एक व्यवसायी के गोदाम में भरे अन्न को लूटने के लिए निकल पड़े। व्यवसायी हमारे पास आया। कहने लगा—स्वामी, कुछ करिए। ये लोग तो मेरी सारी जमा-पूँजी लूट लेंगे। आप ही बचा सकते हैं। आप जो कहेंगे, सेवा करेंगे। तब बच्चा, हम उठे, हाथ में एक हड्डी ली और मन्दिर के चबूतरे पर खड़े हो गये। जब वे हजारों भूखे गोदाम लूटने का नारा लगाते आये, तो मैंने उन्हें हड्डी दिखायी और जोर से कहा—किसी ने भगवान के मन्दिर को भ्रष्ट कर दिया। यह हड्डी किसी पापी ने मन्दिर में डाल दी। विधर्मी हमारे मन्दिर अपवित्र करते हैं, हमारे धर्म को नष्ट करते हैं। हमें शर्म आनी चाहिए। मैं इसी क्षण से यहाँ उपवास करता हूँ। मेरा उपवास तभी टूटेगा, जब मन्दिर की फिर से पुताई होगी और हवन करके उसे पुनः पवित्र किया जायगा। बस बच्चा, वह जनता आपस में ही लड़ने लगी। मैंने उनका नारा बदल दिया। जब वे लड़ चुके, तब मैंने कहा—धन्य है, इस देश की धर्म-प्राण जनता! धन्य हैं अनाज के व्यापारी सेठ अमुक जी ! उन्होंने मन्दिर की शुद्धि का सारा खर्च देने को कहा है। बच्चा, जिसका गोदाम लूटने वे भूखे जा रहे थे, उसकी जय बोलने लगे। बच्चा, यह है धर्म का प्रताप। अगर इस जनता को गोरक्षा आन्दोलन में न लगायेंगे तो यह बैंकों के राष्ट्रीयकरण का आन्दोलन करेगी, तनख्वाह बढ़वाने का आन्दोलन करेगी, मुनाफाखोरी के खिलाफ आन्दोलन करेगी। उसे बीच में उलझाये रखना धर्म है, बच्चा।''

''स्वामीजी, आपने मेरी बहुत ज्ञान-वृद्धि की। एक बात और बताइए। कई राज्यों में गोरक्षा के लिए कानून है। बाकी में लागू हो जायेगा। तब यह आन्दोलन भी समाप्त हो जायेगा। आगे आप किस बात पर आन्दोलन करेंगे?''

''अरे बच्चा, आन्दोलन के लिए बहुत विषय हैं। सिंह दुर्गा का वाहन है। उसे सर्कसवाले पिंजड़े में बन्द करके रखते हैं और उससे खेल कराते हैं, यह अधर्म है। सब

सर्कसों के खिलाफ आन्दोलन करके, देश के सारे सर्कस बन्द करवा देंगे। फिर भगवान का एक अवतार मत्स्यावतार भी है। मछली भगवान का प्रतीक है। हम मछुओं के खिलाफ आन्दोलन छेड़ देंगे। सरकार का मत्स्यपालन विभाग (फिशरीज महकमा) बन्द करवायेंगे।''

''स्वामीजी, उल्लू लक्ष्मी का वाहन है। उसके लिए भी तो कुछ करना चाहिए।''

''यह सब उसी के लिए तो कर रहे हैं, बच्चा! इस देश में उल्लू को कष्ट नहीं है। वह मजे में है।''

इतने में गाड़ी आ गयी। स्वामीजी उसमें बैठकर चले गये। बच्चा वहीं रह गया।

देश-भक्ति का पॉलिश

मेरा एक दोस्त विदेश में है। भारत-पाकिस्तान लड़ाई के दिनों में मुझे उसका एक पत्र मिला। लिखा था : पिछली रात मुझे सपने में भारत माता ने दर्शन दिये। मैंने कहा— 'माँ, तुम्हारी जय हो रही है। हमलावर को मारकर भगाया जा रहा है। तुम्हारे पैंतालिस करोड़ बेटे तुम्हारी विजय के लिए सर्वस्व बलिदान करने को तैयार हैं।' भारत माता ने कहा—'तुम्हें अपने देश की सही जानकारी नहीं है। मेरी विजय उन पैंतालिस करोड़ के कारण नहीं हो रही है। कुछ खास लोग हैं, जिनके त्याग-पुण्य से मैं जीत रही हूँ।' मैंने कहा—'माँ, वे कौन लोग हैं?' उहोंने कहा—'वे हर शहर में हैं।' मैंने डरते-डरते पूछा—'मेरे शहर में कोई है?' भारत माता ने कहा—'हाँ, तुम्हारे शहर में भी फर्म कुन्दनलाल सम्पतलाल के मालिक कंचन बाबू हैं।' दोस्त, इतना कहकर भारत माता तो चली गयीं और मैं सुबह तक सोचता रहा कि अपने कंचन बाबू देश के लिए ऐसा क्या कर रहे हैं कि उनका नाम भारत माता की जबान पर आ गया है। मुझे बड़ी उत्सुकता है। तुम मुझे फौरन उनके बारे में पता लगाकर लिखो।

कंचन बाबू मशहूर आदमी हैं। चौक में उनकी दूकान है। वह अब रोटरी क्लब और लॉयन्स क्लब के सदस्य भी हो गये हैं। पिछले कुछ दिनों से मैं उनका नाम ज्यादा सुनने लगा था। मगर मेरे लिए भी यह आश्चर्य की बात थी कि उनका नाम भारत माता विदेश में लेती हैं।

मैं सुबह उनसे मुलाकात करने चला। चौक के इस तरफ के चौराहे पर भीड़ दिखी। कंचन बाबू का नाम भी सुन पड़ा। झाँककर देखा कि कंचन बाबू जूतों पर पॉलिश कर रहे हैं। पास ही एक तख्ती रखी है, जिस पर लिखा है—'देश-रक्षा के लिए पॉलिश कराइए। पॉलिश की सारी आमदनी राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में जायेगी।' पॉलिश करते हुए कंचन बाबू बहुत अच्छे लग रहे थे। वह दुकान पर इतने अच्छे नहीं लगते थे, जितने यहाँ। हो सकता है, देश-प्रेम की भावना उन्हें तेज दे रही हो। यह भी हो सकता है कि उन्होंने सही धन्धा अब पाया हो।

वहाँ बात करने का मौका नहीं था। वह बहुत व्यस्त थे। ऐसा लगता था, जैसे भारतीय फौज मोर्चे पर खड़ी इन्तजार कर रही है कि कब कंचन बाबू पॉलिश करके तेरह पैसे उसे भेजें और वह उसकी गोली खरीदकर दुश्मन पर दागे। लगता था, वह सारी भारतीय फौज का खर्च पूरा कर रहे हैं और सिर्फ उनका खयाल करके फौज लड़ रही है। मैं डरा कि इस वक्त इन्हें छेड़ने से कहीं अपनी फौज का गोला बारूद कम न पड़ जाय।

मैं शाम को उनके घर गया। मैंने कहा, ''कंचन बाबू, आपका नाम भारत माता विदेश में ले रही हैं।''

''तुमसे किसने कहा? क्या भारत माता से तुम्हारा भी कोई संबंध है?''

''नहीं, कंचन बाबू, मैंने तो उनकी सिर्फ जय बोली है। मगर आपके प्रति उनकी विशेष ममता है। विदेश में मेरे एक दोस्त को उन्होंने सपने में बताया कि जिन कुछ लोगों के त्याग और पुण्य से उनकी जीत हो रही है, उनमें आप भी हैं।''

कंचन बाबू सकुचा गये। बोले, ''अरे भई, यही तो उनकी कृपा है। मुझ क्षुद्र का नाम याद रखती हैं। इधर ये इनकमटैक्स वाले हैं कि हर बार उन्हें खुश रखता हूँ और वे हर बार भूल जाते हैं। पता नहीं, भारत माता इनकमटैक्स का महकमा बन्द क्यों नहीं कर देतीं!''

मैंने कहा, ''आपसे वह खुश हैं। उनसे कहिए न!''

वह बोले, ''हाँ, मुझे मिलें तो मैं उनसे कहूँ कि माता, तुम्हारे इतने महकमे चलते हैं, इस एक को बन्द ही करा दीजिए न। नये इनकमटैक्स अफसर को तो उनसे कहकर बरखास्त करा दूँगा।''

मैंने कहा, ''कंचन बाबू, आपने देश-सेवा का यह तरीका क्यों अपनाया—यही पॉलिशवाला?''

वह बोले, ''देश की पुकार मेरी आत्मा में गूँज उठी और मैंने प्रण किया कि मातृभूमि के लिए मैं पॉलिश करूँगा। मैं हफ्ते में दो दिन दो-दो घण्टे पॉलिश करता हूँ और सारी आमदनी सुरक्षा कोष में दे देता हूँ। मैं यह सिलसिला जारी रखूँगा। एक बार जो चीज उठा ली, उसे मैं जल्दी नहीं छोड़ता। एक बार वनस्पति घी की एजेंसी ले ली, तो अभी तक चल रही है।''

मैं उनकी तरफ देख रहा था। वह नजर बचा रहे थे। बचाते-बचाते भी नजर मिल गयी, तो मैं हँस पड़ा। वह भी हँस दिये। बोले, ''तुम्हें भरोसा नहीं हुआ। अच्छा, सच बताऊँ?''

''हाँ, बिल्कुल सच।''

''तो सुनो। यार, ये तुम्हारे चन्देवाले बहुत तंग करते थे।''

''कौन चन्देवाले?''

''अरे, यही राष्ट्रीय सुरक्षा कोष वाले। यों तो हम चन्देवालों के मारे हमेशा परेशान रहते हैं, रोज ही कोई चन्दा लगा रहता है—कभी गणेशोत्सव है, तो कभी दुर्गोत्सव; कभी विधवाश्रमवाले आ जाते हैं, तो कभी अनाथालय वाले। अब ये राष्ट्रीय सुरक्षा कोषवाले आने

लगे हैं।''

''मगर, कंचन बाबू, अनाथालय का चन्दा और राष्ट्रीय सुरक्षा कोष क्या एक-से हैं ?''

''भई, अपने लिए तो एक ही हैं। चन्दा चन्दा सब एक। मुझे तो ऐसा लगता है कि एक बड़ा अनाथालय है। अनाथालय के लड़के बैंड बजाकर चन्दा माँगते हैं और ये देशवाले, नारे लगाकर। वे अनाथों की परवरिश के लिए माँगते हैं और ये देश की परवरिश के लिए। अच्छा, फिर दूसरों को तो रुपया-दो रुपया देकर टाला जा सकता है, पर ये देश-रक्षावाले तो बहुत मुँह फाड़ते हैं। कहते हैं—दो हजार दीजिए, तीन हजार दीजिए।''

उन्होंने मेरी तरफ देखा। मैं चुप रहा। उन्हें अब प्रश्न की जरूरत नहीं थी। वे समझाने लगे, ''तो मैंने उन लोगों से कहा कि भैया, देश की रक्षा करना है, तो यह तो मैंने माना। पर जरा किफायत से करो न! देश-रक्षा क्या किफायत में नहीं हो सकती? ज्यादा खर्च होता हो, तो कह दो कि भाई, इस भाव में हमको पूरा नहीं पड़ता। वे क्या जवाब देते हैं। कहते हैं—कंचन बाबू, देश-रक्षा में किफायत नहीं देखी जाती। देश-प्रेम कोई धन्धा नहीं है ! अच्छा भई, ठीक है। जैसे-तैसे यह गये। तो दूसरे आ गये। कहने लगे—मजदूर भी महीने में एक दिन का वेतन सुरक्षाकोष में दे रहे हैं। आप भी महीने में एक दिन की आमदनी दीजिए। मैंने कहा—देशभक्तो, मैं अगर मजदूरों सरीखा करने लगूँगा, तो मैं भी किसी दिन मजदूर हो जाऊँगा। वे टले, तो तीसरा गिरोह आ गया। ये जरा तेज लोग थे। रिकार्ड वगैरह देखकर आये थे। आते ही उन्होंने गोली दाग दी—कंचन बाबू, दूसरे महायुद्ध में आपकी दूकान से अंग्रेज सरकार को दस हजार रुपये वार-फण्ड में दिये गये थे। जब आपने ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए इतना दिया तो अपने देश की रक्षा के लिए पाँच हजार तो दीजिए। देखो, कैसी पकड़ की है। दूसरा होता तो चित हो जाता। पर मैं कंचनकुमार हूँ। मैंने जवाब दिया—देखो भाई, लड़ाई कमाने का मौका है, गँवाने का नहीं। दूसरे महायुद्ध में हमारे पिताजी बन गये थे। दस लाख कमाया तो दस हजार दे भी दिया। लो साहब, और एकाध साल लड़ाई चलाओ। अब अठारह साल में यह ढंग की लड़ाई छिड़ी है। पर आठ दिन भी नहीं हुए कि आप माँगने आ गये! और तुम्हारे देश की लड़ाई से कुछ कमा लें, तो तुम्हें भी दे देंगे।''

वह रुके तो मैंने कहा, ''मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह पॉलिश करने की बात आपको कैसे सूझी?''

उन्होंने कहा, ''वही बता रहा हूँ। तो मैं इन चन्देवालों से परेशान था। इसी बीच मेरा लड़का आया। वह लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ता है। उसने कहा कि मुझे भी हॉस्टल के लड़के बहुत तंग करते थे। कहते कि तुम जेब-खर्च में से बचाकर आधा राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दो। मैंने सोचा, आधा जेब खर्चा इन्हें दे दूँ, तो जिन्दगी का मजा ही किरकिरा हो जायेगा। एक रात मुझे तरकीब सूझ गयी। दूसरे दिन इतवार था। मैं पॉलिश का सामान लेकर होस्टल के सामने बैठ गया और घोषणा कर दी कि मैं हर इतवार को जूतों पर पॉलिश करके सुरक्षा-कोष के लिए पैसा इकट्ठा करूँगा। बस, फिर क्या था! पैसा भी बचा और

लड़के जय भी बोलने लगे। यार, तुम्हारी यह नयी पीढ़ी है तेज। कैसे क्रान्तिकारी विचार आते हैं इसके दिमाग में! हम लोगों का नेतृत्व यही क्रान्तिकारी पीढ़ी करेगी। बस, मैंने लड़के को गुरु माना और यह पॉलिशवाला काम शुरू कर दिया। लोग मेरी बड़ी तारीफ करते हैं। कहते हैं—देखो, इतना बड़ा आदमी होकर देश के लिए पॉलिश कर रहा है। मैंने लोगों के दृष्टिकोण में ही क्रान्ति कर दी है।''

मैंने पूछा, ''और राष्ट्रीय सुरक्षा कोषवाले?''

उन्होंने कहा, ''वे मुझसे अब चन्दा नहीं माँगते। जो मुझे देशद्रोही कहने लगे थे, वे अब मेरी फोटो खींचते हैं। अब तो मैं उनके मुर्दाबाद के नारे लगवा सकता हूँ।''

मैंने यह सारा हाल लिखकर अपने प्रवासी मित्र को भेज दिया है। साथ ही यह भी लिख दिया—'दोस्त, अगर दुबारा भारतमाता तुम्हारे सपने में आयें, तो जरा ध्यान से देखना। बात यह है कि इधर दुश्मन के घुसपैठिये स्त्री का वेश धारण कर घुस आते हैं। मुझे शक है, वे सपने में भी घुसने लगे हैं।'

चमचे की दिल्ली-यात्रा

चमचा याने 'स्टूज'। हर बड़े आदमी का—कम-से कम एक होता है। जिनकी हैसियत अच्छी है, वे एक से ज्यादा चमचे रखते हैं। सारे फरिश्ते भगवान के चमचे हैं। शैतान ने भगवान का चमचा बनने से इन्कार किया, तो उसे स्वर्ग से निकाल दिया गया—जैसे गैर-चमचे को चुनाव-टिकट नहीं दिया जाता।

एन्थनी ईडन चर्चिल के चमचे थे। बॉसवेल डॉ. जानसन का चमचा था। राष्ट्रपति लिंडन जानसन का चमचा जेन्किन्स था, जो चुनाव के कुछ दिन पहले यौन-अपराध में पकड़ा गया था। गाँधीजी तक के चमचे थे।

सबसे ज्यादा चमचे राजनीति के क्षेत्र के नेताओं के होते हैं। इतिहास साक्षी है कि दुनिया में जितनी उथल-पुथल हुई है, वह महापुरुषों के कारण नहीं बल्कि उनके चमचों के कारण हुई है। जब भी चमचे ने अपनी अक्ल से कुछ किया है, तभी उपद्रव हुए हैं। इसलिए हर बड़ा आदमी विश्वहित में इस बात की सावधानी बरतता है कि उसका चमचा कभी भी अपनी अक्ल का उपयोग न करे।

मेरा अन्दाजा है, इस समय देश में राजनीति के क्षेत्र में लगभग पाँच हजार चमचे काम कर रहे हैं। ये प्रधान चमचे हैं। फिर इनके स्थानीय स्तर के उपचमचे और अतिरिक्त चमचे होते हैं। ये सब हीनता, मुफ्तखोरी, लाभ और कुछ वफादारी की डोर से अपने नेता से बँधे रहते हैं। इनमें गजब की अनुशासन-भावना होती है। अगर किसी उपचमचे को जनपद की

सीट का टिकट चाहिए तो वह सीधा नेता के पास नहीं जायेगा। वह प्रधान चमचे से कहेगा और प्रधान चमचा नेता से बात करके उसका काम करायेगा। इस तरह नेता का दुनिया से सम्पर्क सिर्फ चमचे के मारफत होता है और कुछ दिनों में उसका यह विश्वास हो जाता है कि इस विशाल दुनिया में मेरे चमचों के सिवा कोई और नहीं रहता। अपनी दुनिया को इस तरह छोटा करके जीने का सुख नेता कुछ साल भोगता है और फिर उसी नाव पर इस सुख का बोझ इतना हो जाता है कि नाव नेता को लेकर डूब जाती है। चमचे तैरकर किनारे लग जाते हैं और दूसरे नेता के चमचे हो जाते हैं। उसके डूबने तक वे उस नेता के चमचे बने रहते हैं। नेता मरता रहता है, चमचे अमर होते हैं। चमचा ज्यों-ज्यों परिपक्व होता जाता है, त्यों-त्यों नेता बनता जाता है। उसके अपने उपचमचे तरक्की पाकर चमचे हो जाते हैं और उसकी नाव डुबा कर खुद किनारे लग जाते हैं। कुछ चमचे जीवन-भर सिर्फ चमचा बने रहने का व्रत पालते हैं और पचीसों नेताओं को डुबाने का पुण्य प्राप्त करते हैं।

चमचा बनना आसान नहीं है। एक अच्छे चमचे का निर्माण कई सालों में होता है। भारतीय प्रजातन्त्र का यह सौभाग्य है कि यहाँ स्वतंत्रता के बाद बहुत जल्दी काफी संख्या में चमचे बन गये। इसका कारण यह है कि चमचों का निर्माण स्वतन्त्रता संग्राम के जमाने में शुरू हो गया था। उस दौर में नेता लोग अपने भावी चमचों को जेल भेजने की कोशिश करते थे। आन्दोलन में जब ऐसा लगता कि इस बार सरकार सख्ती कम करेगी, जेल कम दिनों की होगी और वहाँ आराम भी रहेगा, तब हर नेता अपने ज्यादा से ज्यादा चमचों को जेल भेजने की कोशिश करता था। तब जेल जाने के लिए वैसी ही होड़ होती थी जैसी अब चुनाव-टिकट के लिए होती है। जब भारत स्वतन्त्र हुआ और प्रजातन्त्र आया, तो हर नेता को अपने शिक्षित और अर्द्धनिर्मित चमचे मिल गये। इससे भारतीय प्रजातन्त्र में एकदम स्थायित्व आ गया। एशिया और अफ्रीका के नये स्वतन्त्र जिन देशों में आजादी की लड़ाई के दौर में चमचों का निर्माण इस तरह नहीं हुआ था, वहाँ प्रजातन्त्र नहीं टिक सका। चाहे साम्राज्यवाद हो, चाहे प्रजातन्त्र—दोनों चमचों की बुनियाद पर खड़े रहते हैं।

चमचा बड़ी तरकीब से यह बात फैलाता है कि नेता का वह विश्वासपात्र है, उनका आत्मीय है और वे उसकी बात कभी नहीं टालते। वह उनके साथ जगह-जगह दिखता है। उनका बस्ता रखे रहता है। ठीक पीछे मुस्कराता खड़ा रहता है। नेता के गले में माला पड़ती है, तो चमचा गद्‌गद होता है। नेता आगे बढ़ता है, तो चमचा रास्ता बनाता जाता है। वह सफर में उनके साथ होता है, मंच पर पीछे बैठा मुग्ध होता रहता है, ड्राइंग-रूम में बैठा दिखता है और रसोईघर में भी घुस जाता है। लोग उसे देखते हैं और लाभ उठाने वाले समझ जाते हैं कि इसी की मारफत काम हो सकता है। चमचे की कीमत समाज में बढ़ जाती है। उसे लोग चाय पिलाते हैं, पान खिलाते हैं और वह 'भैया सा'ब' के गुण-गान करता है। यह कहना नहीं भूलता कि भैया सा'ब मुझसे पूछे बिना कुछ नहीं करते।

किसी क्षेत्र के लिए वह ऐतिहासिक क्षण होता है, जब चमचा कहता है—राजधानी जाना है। भैया सा'ब ने बुलाया है।

सारे इलाके में हलचल मच जाती है। दो-चार दूकानों पर बैठकर और दो-चार जगह चाय पीकर चमचा प्रचार कर देगा कि भैया सा'ब का काम उसके बिना नहीं चल सकता। इतना करके वह एक-दो दिन घर बैठ जाता है। उसके पास काम कराने वाले आने लगते हैं–

–कब जा रहे हो दिल्ली?

–बस आज या कल। चला तो कल ही जाता, पर आज एक मीटिंग थी।

–तो भैया, इस बार किसी तरह हमारा काम हो ही जाय। देखो, बहुत दिन हो गये।

–हाँ-हाँ, इस बार हो ही जायेगा। वह तो पिछली बार ही हो जाता, पर सेक्रेटरी बाहर था। इस बार तो भैया सा'ब मिनिस्टर का हाथ पकड़कर करवा देंगे।

उपचमचे अपने काम में जुट जाते हैं और लोगों को चमचे के पास लाते जाते हैं। चमचा सबको विश्वास दिलाता है कि अगर यह सही है कि पृथ्वी घूम रही है, तो वह निश्चित ही अपने भैया सा'ब के आसपास घूम रही है।

फिर वह सहज ही कह देता है–राजधानी में रहने-खाने का तो सुभीता है। भैया सा'ब के घर हो जाता है। पर साले दफ्तर बड़ी दूर-दूर हैं। टैक्सी में बहुत पैसा लग जाता है।

इस इशारे को काम कराने वाले समझ जाते हैं और उसे कुछ रुपये टैक्सी के लिए दे देते हैं।

चमचा बहुत-से काम ले लेता है–किसी का परमिट लाना है, किसी को नगरपालिका में भेजना है, किसी पर से मुकदमा उठवाना है, किसी के हरजाने का मामला तय करना है, किसी का चुनाव-टिकट पक्का करना है। भैया सा'ब के लिए वह विरोधी गुट की कुछ कमजोरियाँ, कुछ षड्यंत्र और फूट की कथाएँ रख लेता है। इस तरह लैस होकर चमचा रेलगाड़ी में बैठ जाता है।

भैया सा'ब के घर में चमचा बड़े हल्ले के साथ पाँव पटकते हुए घुसता है। इसका कारण यह है कि वह जानता है, इस घर में मेरे आने का हक कोई नहीं मानता। आम चमचों से नेता के घर के लोग और नौकर नफरत करते हैं। वह चमचा हजारों में एक होता है जिसे नेता भी चाहे, उनका परिवार भी और नौकर भी। चमचा इस बात को जानता है, इसलिए अपने मन को मजबूत करने के लिए और सबको यह बताने के लिए कि यहाँ मैं घर का आदमी समझा जाता हूँ, पाँव पटककर घर में घुसता है। नौकर मुँह फेरकर हँसता है और फिर नाराजी से उसे देखता है। नेता की पत्नी कहती है–लो, वह फिर आ गया।

चमचा जबरदस्ती अपने को घर में जमा लेता है। नेता ने उसे बुलाया नहीं है, पर वह आ गया है, तो उन्हें एतराज भी नहीं।

अब चमचा अपना काम शुरू कर देता है। वह बातें करता जाता है। कभी नेता उसकी तरफ देख लेते हैं। कभी कोई सवाल कर देते हैं। मगर वे लगभग मौन सुनते जाते हैं। वे बैठक में हैं तो चमचा वहाँ बात कर रहा है। वे बरामदे में आ गये, तो चमचा बरामदे

में आकर बात करने लगा। वे बाथरूम में गये, तो चमचा बाहर खड़ा-खड़ा बोल रहा है। पाखाने से तो वे संस्कारों के कारण नहीं बोलते पर नहाते हुए उसकी बात पर कभी 'हूँ' कह देते हैं। नेता सर पर कंघी कर रहे हैं और चमचा पीछे खड़ा बोल रहा है।

—गुप्ता गुट के लोग सिन्धियों पर डोरे डाल रहे थे। मैंने कहा—देखो रे, सिन्धियो, अभी तुम्हारे बहुत-से 'क्लेम' बकाया हैं। जरा सोच-समझकर। बस उस दिन से गुप्ता गुट की दाल नहीं गली।

—भैया सा'ब, इस बार हिरमानी को म्युनिसिपैलिटी में भेज दीजिए न। पक्का अपना आदमी है।

—जैन लोग उस दिन मिले थे। मैंने कहा—भैया सा'ब ने कह दिया है, तो पत्थर की लकीर समझो।

—साबूराम के लाइसेंस का मामला अभी लटक रहा है, भैया सा'ब। वह पीछे पड़ रहा है।

—इस बार पी. सी. सी. में बड़ा तूफान उठेगा। रामसिंह की 'इन्क्वारी' का मामला है न। पर सुना है, ठाकुरों में फूट पड़ गयी है। आधे अपना साथ देंगे।

—कलेक्टर आजकल गुप्ता गुट की बड़ी चिरौरी करता है। इसका तबादला होना चाहिए। वे लोग 'लेच्छी' को लेकर आपको बदनाम करने की कोशिश कर रहे हैं।

—आजकल मिसराजी की बैठक डॉक्टर साहब के यहाँ बढ़ गई है। मैंने डॉक्टर साहब को टटोलने की कोशिश की थी। मुझे तो शक है भैया सा'ब, कहीं उधर न चला जाय। उस इलाके में आपका एक बार आना बहुत जरूरी है।

चमचा इस तरह बोलता ही जायेगा। नेता सुनते रहेंगे और काम करते रहेंगे।

नौकर ने चाय लाकर रखी, तो चमचे को फौरन एक बात सूझ गयी। उसने नौकर को पुकारा—क्यों रे देवी, यह क्या चाय ले आया! तुझे मालूम नहीं है कि भैया सा'ब 'स्ट्रांग' चाय पीते हैं। ले जा इसे। दूसरी ला।

भैया सा'ब 'स्ट्रांग' चाय नहीं पीते। वे एक घूँट पी भी लेते हैं। कहते हैं—ठीक है; रहने दो।

चमचा कहता है—नहीं, रहने दीजिए। इसे ले जा, देवीसिंह।

नौकर आकर खड़ा है। दुविधा में है कि कप उठाऊँ या नहीं।

इतने में नेता के 'नहीं-नहीं' कहने पर भी चमचा कप उठाकर नौकर को दे देता है—तुझे अकल नहीं है। अच्छी चाय बनाकर ला।

चमचे के 'ओवरएक्टिंग' से सब स्तब्ध हैं—नेता की पत्नी, बच्चे और नौकर। भैया सा'ब सिर नीचा करके बरदाश्त कर लेते हैं। चमचा पालना बड़े धैर्य का काम है।

तीन-चार दिन वहाँ रहकर चमचा नेता से रेल-किराया लेकर गाड़ी में बैठ जाता है। उसकी जेब में सभी के लिए आशा और आश्वासन भरे होते हैं।

◆

विकास-कथा

एक दिन मुझे विकास मंत्री के दफ्तर से एक बड़ा लिफाफा मिला। सरकारी लिफाफा एक लॉटरी है—न जाने उसमें से क्या निकल पड़े, जो जिन्दगी सुधार दे। मैं इसीलिए नहा-धोकर, ऊदबत्ती जलाकर बड़ी श्रद्धा भावना से सरकारी लिफाफा खोलता हूँ। यह लिफाफा मैंने खोला और भीतर का पत्र पढ़ा तो मालूम हुआ कि यह मेरे नाम खुली लॉटरी तो नहीं है, उसका एक टिकट जरूर है।

पत्र में लिखा था—'विकास-मंत्रालय देश के लेखकों से अपेक्षा करता है कि वे देश के नवनिर्माण में भाग लें। इसी उद्देश्य से हम एक प्रतियोगिता आयोजित कर रहे हैं। इस वर्ष विकास-खंडों से जो हजारों रिपोर्ट हमें प्राप्त हुईं, उनमें से एक ने हमारा विशेष ध्यान खींचा। वह हमारी योजनाओं के क्रियान्वयन के एक सुन्दर पक्ष को उद्घाटित करती है। हम उस रिपोर्ट को अधिक-से-अधिक प्रचारित करना चाहते हैं, जिससे जनता विकास-कार्यों के इस सुन्दर पक्ष से परिचित हो, उसमें रुचि ले और देश के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करने के लिए तैयार हो। उक्त रिपोर्ट में गूढ़ अर्थ छिपे हैं, इसलिए उसकी व्याख्या आवश्यक है। इसके लिए हमें आपका सहयोग चाहिए। आप इस रिपोर्ट का अध्ययन करके, इसके गूढ़ार्थ को प्रकट करती हुई व्याख्या हमें भेजें। जिस लेखक की व्याख्या सबसे अच्छी मानी जायेगी, उसे पुरस्कार दिया जायेगा। व्याख्या 31 मार्च तक इस कार्यालय में पहुँच जानी चाहिए। इसके बाद प्राप्त हुई व्याख्या पर विचार नहीं किया जायेगा। यदि विकास-मंत्रालय में कोई आपकी पहचान का है, तो आप बाद में भी भेज सकते हैं। इस पत्र के साथ उक्त रिपोर्ट की एक प्रति भेजी जा रही है।'

मैंने इनाम के लोभ से देश-निर्माण के कार्य में भाग लेने का निश्चय किया। रिपोर्ट पढ़ी, उस पर मनन किया और उसके गूढ़ अर्थों को स्पष्ट करती हुई व्याख्या तैयार की। विकास-मंत्रालय में मेरी पहचान का कोई नहीं है, इसलिए मैंने 31 मार्च से बहुत पहले ही व्याख्या भेज दी। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरी व्याख्या सबसे अच्छी मानी गयी और दिल्ली में हर इनाम के लिए डेरा डालकर और डबलरोटी बाँधकर (सत्तू बाँधकर नहीं) पड़े हुए 'सरकारी' लेखकों के बावजूद वह इनाम मुझे मिल गया। ईर्ष्यालु लेखकों ने मेरी सफलता का यह समाचार किसी अखबार में नहीं छपने दिया। पर सूर्य को हथेली से कुछ महीने ही ढँका जा सकता है। एक-दो महीने में विकास मंत्रालय मेरी व्याख्या समेत उस रिपोर्ट की एक करोड़ प्रतियाँ छपवाकर समाचार हर भारतवासी तक पहुँचा देगा।

मैं यहाँ वह रिपोर्ट तथा अपनी व्याख्या दे रहा हूँ।

विकास-खण्ड की रिपोर्ट

इस वर्ष भी हमारे विकास-खण्ड में कुछ प्रतियोगिताएँ हुईं। अन्न उत्पादन को प्रोत्साहित

करने के लिए एक प्रतियोगिता रखी गयी, जिसमें पहला स्थान किशन लाल नामक एक मामूली किसान को मिला। उसने बड़ी मेहनत करके अपनी थोड़ी-सी जमीन पर बहुत अच्छी फसल पैदा की थी। यों चर्चा फैली हुई थी कि अन्न उत्पादन का पहला इनाम पुराने मालगुजार बलभद्रसिंह को मिलेगा, जिन्होंने दस साल पहले ही अपनी जमीन बेच दी थी और शहर में सिनेमा-हाउस चला रहे थे। इस चर्चा में कुछ सत्यता जरूर थी क्योंकि ब्लॉक ऑफिसर साहब और मालगुजार साहब में दाँतकाटी रोटी थी। पर कुछ दिन पहले ही अफसरों से मालगुजार साहब की खटपट हो गयी और इनाम किशनलाल को मिल गया। मालगुजार को अब कृषकों के प्रतिनिधि-मण्डल में विदेश-यात्रा करने का मौका भी नहीं मिलेगा।

किशनलाल का नाम गाँव-गाँव में फैल गया। उसका एक फोटो खींचकर हमने अपनी फाइल में रखा। उसके खेत के गेहूँ और दाल सब अफसरों के घर भेजे गये और सबने उनकी तारीफ की।

एक दिन पुरस्कार वितरण समारोह रखा गया। पुरस्कार कलेक्टर साहब के कर-कमलों से बँटवाने का निश्चय किया गया।

एक दिन विकास-अफसर की पत्नी, जिन्हें आगे रिपोर्ट में 'विकासनी' कहा जायेगा, कलेक्टर महोदय की पत्नी, जिन्हें 'कलक्टरानी' कहा जायेगा, को समारोह का निमंत्रण देने पहुँची। दोनों में थोड़ी देर 'बहनजी-बहनजी' हुई। इसके बाद एक ने दूसरी की साड़ी, ब्लाउज आदि की प्रशंसा की। फिर दूसरे अफसरों की पत्नियों की निंदा करके जब वे चरम आनंद के क्षण में पहुँचीं, तब कलक्टरानी ने कहा—क्यों जी, सब प्रतियोगिताएँ पुरुषों की ही क्यों होती हैं? स्त्रियों की भी प्रतियोगिता होनी चाहिए। विकासनी ने कहा—उन स्त्रियों की क्या कंडा थोपने की प्रतियोगिता कराएँ, बहनजी?

इस पर दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

कलक्टरानी ने कहा—नहीं, मेरा मतलब है, कोई यों ही मजेदार प्रतियोगिता करा दो। हमें स्त्रियों का भी विकास करना है। उन्हें भी आगे बढ़ना है।

विकासनी ने पूछा—तो आप ही बता दीजिए कि कैसी प्रतियोगिता करा दें?

कलक्टरानी ने कहा—हम स्कूल में पढ़ती थीं, तब खीर खाने की प्रतियोगिता होती थी। आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती थी और सामने खीर का कटोरा रख दिया जाता था। जो सबसे पहले खा ले, उसे इनाम मिलता। तुम तो यही प्रतियोगिता कराओ। इसमें गाँव की औरतों के साथ हम लोग भी शमिल हों। हमें देश में समानता स्थापित करनी है न!

विकासनी देवी को इस सुझाव से बहुत स्फूर्ति मिली। उन्होंने घर में विकास अफसर से कहा। साहब को भी यह बात पसन्द आयी। उन्होंने दूसरे दिन इस कार्य के लिए सौ कटोरे खरीदे और पट्टियों के लिए दस गज कपड़ा खरीदा। ये दोनों चीजें प्रतियोगिता के बाद बेकाम हो गयीं और उन्हें 'राइट-ऑफ' कर दिया गया।

'खीर-खाऊ' प्रतियोगिता का दृश्य बहुत सुंदर था। मैदान में एक कतार में सैकड़ों ग्रामीण स्त्रियाँ बैठी थीं। सामने एक टेबिल के आसपास कुर्सियों पर कलक्टरानी, विकासनी,

डॉक्टरनी और तहसीलदारनी बैठी थीं। उनमें कलक्टरानी अलग ही दमक रही थी।

विकासनी ने कलक्टरानी से कहा—बहनजी, आपने क्या रूप पाया है! ज्यों-ज्यों उमर बढ़ती जाती है त्यों-त्यों निखरता ही जाता है। ईमान से, आँख नहीं ठहरती। इस तथ्य का सबने समर्थन किया और वातावरण आनन्दमय हो गया।

ग्राम-सेविकाओं ने सबकी आँखों पर पट्टी बाँध दी। जब एक ग्राम-सेविका कलक्टरानी की आँखों पर बाँधने लगी, तब उन्होंने उसे इस तरह देखा कि उसने पट्टी ढीली बाँध दी। कलक्टरानी ग्राम-सेविका की इस अनुशासनबद्धता से बहुत खुश हुई।

जब खीर खाना शुरू हुआ, तो कलक्टरानी ने पट्टी आँखों पर से खिसका ली और झट खीर खाकर खड़ी हो गयी। विकास-अफसर ने उन्हें प्रथम घोषित कर दिया। इससे सब अफसरों और अफसरानियों को प्रसन्नता हुई, क्योंकि वे सब अनुशासन से बँधे थे।

जब विकास अफसर और विकासनी देवी विभिन्न प्रतियोगिताओं में जीतने वालों के लिए इनाम की चीजें खरीदने चले, तो कलक्टरानी ने कहा कि मैं साथ चलकर इनाम खरीदवा देती हूँ। उन्होंने खीर खाने में प्रथम आने वाली के लिए लगभग तीन सौ रुपये का स्टेनलेस स्टील के बर्तनों का सेट खरीद दिया। बाकी विजेताओं के लिए खिलौने, रूमाल, टोटी, कंघे आदि खरीद लिये गये।

समारोह में कलक्टर साहब ने इनाम बाँटे। लिस्ट में पहला नाम खीर प्रतियोगिता में प्रथम आने वाली का था। वे मुसकराती, सकुचाती हुई कलेक्टर के सामने आकर खड़ी हो गयीं। साहब मुसकराये और उन्होंने स्टेनलेस स्टील के बर्तनों का सेट उन्हें प्रदान किया। सबने बड़ी देर तक तालियाँ बजायीं।

इसके बाद सबसे अधिक अन्न पैदा करने वाले किशनलाल का नाम पुकारा गया। साहब ने उसे एक डिब्बा दिया। किशनलाल ने उसे खोला। यह देख सब लोग खूब हँसे। साहब के पेट में तो हँसते-हँसते बल पड़ गये।

इसी तरह के इनाम दूसरे किसानों को भी मिले।

समारोह हँसी-खुशी के साथ समाप्त हुआ। इति।

मेरी व्याख्या—जिस पर इनाम मिला

यह घटना प्रतीकों के द्वारा देश के विकास-कार्य के एक सुंदर पक्ष को सामने लाती है।

देश में इस समय खीर खाने की प्रतियोगिता मची है।

जनता की आँखों पर पट्टी बँधी है, मगर अफसरों ने अपनी पट्टी खिसका ली है और वे खुली आँखों से खीर खा रहे हैं।

जनता कुछ नहीं कहती, बल्कि ताली बजाती है।

जो मेहनत करता है और उत्पादन करता है, उसके हाथ में बंदर का खिलौना दे दिया गया है, जिससे उसका मन बहलता रहे।

जो खीर खाता है उसे स्टेनलेस स्टील के बर्तन मिलते हैं, जिनमें और खीर खायी

जा सकती है।

कलक्टर ने कलक्टरानी को इनाम दिया—इससे प्रकट होता है कि देने वाला और लेनेवाला एक ही है। हर देनेवाला अपने आपको ही दे रहा है।

जिसे दूसरे से मिलता है, उसे बन्दर का खिलौना मिलता है, जो खीर नहीं खा सकता।

शिक्षा—दूसरों की आँखों पर पट्टी बाँधकर, अपनी आँखें खुली रखकर, खीर खाना और इसके लिए इनाम पाना, हमारे विकास-अभियान की सफलता के लिए जरूरी है।

भूल-सूधार—ऊपर जो लिखा है, उसमें एक ही भूल है। विकास-मन्त्रालय ने कोई प्रतियोगिता नहीं की थी और न मुझे कोई इनाम मिला, सिर्फ इतनी बात झूठ है। बाकी विकास-खण्ड की रिपोर्ट और मेरी व्याख्या बिल्कुल सही है।

◆

इतिहास का सबसे बड़ा जुआ

[इधर पंचम गुरु का मशहूर जुए का अड्डा चलता है। पुलिस, ऊँचे अफसरान और धनी-मानी लोगों के नैतिक सहयोग से यह अड्डा फल-फूल रहा है—याने फूलने की झंझट में न पड़कर एकदम फल जाता है। हर जुए के अड्डे में 'छोकरे' होते हैं, जो पान, बीड़ी, दारू का इन्तजाम करते हैं, जुआरियों की सेवा करते हैं। पंचम गुरु के अड्डे में एक तेज छोकरा है। उसे पूर्व-स्मृति है। वह कहता है, द्वापर में भी वह 'छोकरा' ही था और लच्छू उस्ताद के जुए के अड्डे में काम करता था। जो दुर्योधन ने युधिष्ठिर के साथ जुआ खेला था, तब उन्होंने लच्छू उस्ताद से एक अच्छा 'छोकरा' देने के लिए कहा था। लच्छू उस्ताद ने इसी छोकरे को भेज दिया था। वह कहता है, उसने इतिहास का वह सबसे बड़ा जुआ देखा था। उसी के शब्दों में—**लेखक**]

सा'ब, बड़े-बड़े जुए के फड़ देखे, बड़े-बड़े जुआरी देखे, पर वैसा जुआ नहीं देखा। लच्छू उस्ताद ने कहा था—छोकरे, राजा लोगों का जुआ है। बड़े-बड़े वीर वहाँ होंगे। अच्छी चाकरी करेगा तो ऊँचा 'टिप' मिलेगा। गलती करेगा तो सिर खो देगा। ज़रा सँभल के।

तो सा'ब, मैं तो डरते-डरते वहाँ गया।

मैंने पूछा—छोकरे, यह जुआ हुआ ही क्यों? तू तो वहाँ था। तू जानता होगा।

छोकरा बोला—जिसको 'पावर पालिटिक्स' बोलते हैं न सा'ब, वही था ये। सब जुआ खेलते हैं पालिटिक्स में। नेपोलियन ने खेला था, हिटलर ने खेला था। याहिया खाँ ने भी खेलकर देख लिया। हिन्दचीन में अमेरिका इतने सालों से जुआ खेल रहा है। 1962 में क्यूबा में रूस और अमेरिका जुआ खेलनेवाले ही थे कि सँभल गये, वरना न पाण्डव रहते, न कौरव।

मैंने कहा—पर ये कौरव-पाण्डव तो एक ही कुल के थे। भाई ही थे। फिर ऐसा पावर

पालिटिक्स क्यों चला?

छोकरे ने कहा—रूस और चीन क्या एक ही कुल के नहीं है सा'ब? फिर भी पावर पालिटिक्स का जुआ चल रहा है। अमेरिका और पश्चिमी जर्मनी भी तो एक ही कुल के हैं, पर उनमें भी डालर और मार्क का जुआ चल रहा है। भाई-भाई में जुआ होता है सा'ब। एक मजे की बात बताऊँ? शकुनि और दुर्योधन के सिवा सब जुए के खिलाफ थे। धृतराष्ट्र जुए को बुरा समझते थे, भीष्म जुए को नाश का कारण मानते थे, विदुर ने तो सबसे ज्यादा विरोध किया। पर जानते है सा'ब, युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए बुलाने कौन गया? वही महात्मा विदुर। और युधिष्ठिर भी ने कहा कि जुआ बहुत खराब चीज है। पर फिर खेलने भी चले आये। कहने लगे—जब बुलाया है तो जरूर चलकर खेलूँगा। सा'ब, सब जुए के खिलाफ पर सब जुआ खेल रहे हैं।

मैंने पूछा—छोकरे, तू तो बड़ा होशियार मालूम होता है। यह तो बता कि ऐसा हुआ क्यों?

छोकरे ने कहा—सा'ब, जब कुल का सयाना अन्धा होता है, तब थोड़े-थोड़े अन्धे सब हो जाते हैं। फिर जिसे बुरी बात समझते हैं उसी को करते हैं। अभी देख लो न। दुनिया में सब लड़ाई को बुरा बोलते हैं। सब शान्ति की इच्छा रखते हैं, पर सब हथियार बनाते जा रहे हैं।

ये युधिष्ठिर जो थे न, धर्मराज थे। बड़े भले आदमी थे। अच्छा, बुरा, पाप, पुण्य, सब समझते थे। दूसरो को सिखाते थे। पर उन्हें जुआ खेलने का शौक था। बड़े आदमी में एक-न-एक खराबी होती ही है, सा'ब। हमारे लच्छू उस्ताद ने उनसे कहा था—महाराज, जुआ खेलने का ही शौक है, तो हमारे अड्डे पर आ जाया करो। अरे हारोगे भी तो कितना हारोगे? हजार, पाँच हजार, दस हजार सिक्के। वेश बदलकर आ जाया करो। कोई जानेगा नहीं। और महाराज पासा नहीं, तीन पत्ती खेलो। आपको पासा फेंकना ही नहीं आता। किसी दिन पासे के जुए में आप भाइयों की कमाई प्रापर्टी उड़ा दोगे। पर वे माने ही नहीं। आखिर वही हुआ जो हमारे लच्छू उस्ताद ने कहा था।

कौरव बैठे हैं। पाण्डवों का इन्तजार कर रहे हैं। धृतराष्ट्र भी उत्सुक हैं। दिखता नहीं है तो पूछते हैं—आ गये? कोने में विदुर खिन्न बैठे हैं। भीष्म बेचैन हैं। दुर्योधन और शकुनि उत्तेजित हैं। कर्ण शान्त और संतुष्ट बैठे हैं।

उधर का हाल यह है कि पाण्डव जानते हैं कि हारेंगे, फिर भी खेलने को चले आ रहे हैं। आगे युधिष्ठिर हैं। पीछे भीम। उसके पीछे अर्जुन, नकुल और सहदेव। भीम उत्तेजित हैं। बाकी भाई इस तरह तटस्थ भाव से चल रहे हैं कि बड़े भैया जो भी करें, ठीक है।

आमने-सामने बैठ गये। मैं पानी पिलाने के बहाने युधिष्ठिर के पास गया और कान में कहा—धर्मराज, तीन पत्ती खेलो। पासा मत खेलना। तुम्हें पासा फेंकना नहीं आता। इसी वक्त शकुनि ने मुझे देख लिया और पुकारा—ऐ छोकरे, उधर क्या कर रहा है? वह बीड़ी का कट्टा उठाकर ला।

दुर्योधन बोलता है—दाँव मैं लगाऊँगा, पर पासे मेरी तरफ से मामा शकुनि फेंकेंगे। भला बताइए, ऐसा भी होता है कि दाँव एक लगाये और पासा दूसरा फेंके!

मैंने कहा— होता है रे। पालिटिक्स में होता है। देखा नहीं कि दाँव याहिया खाँ ने लगाया और पासे निक्सन तथा माओ ने फेंके—दो शकुनि मामा। और हम अगर युधिष्ठिर जैसे बने रहते तो हमारा भी कबाड़ा हो जाता। पर हमने कह दिया कि तेरा शकुनि तो हमारा भी 'रसुनि'। फेंक पासा।

छोकरा बोला—बिल्कुल ठीक बात बोले सा'ब आप। युधिष्ठिर भी कह देते कि तुम्हारी तरफ से अगर शकुनि पासे फेंकेंगे तो हमारी तरफ से लच्छू उस्ताद फेंकेंगे। शकुनि किसी का लोहा मानता था तो हमारे लच्छू उस्ताद का। पर युधिष्ठिर के हाथ तो पासा फेंकने को कुलबुला रहे थे न। वे इस शर्त को भी मान गये।

और चालू हो गया सा'ब जुआ।

युधिष्ठिर ने लगा दिये दाँव पर सोना और रत्न। फेंके पासे।

फिर शकुनि ने पासे फेंके और चिल्लाया—जीत लिया।

एक बात माननी पड़ेगी सा'ब—शकुनि था उस्ताद। जैसे चाहता वैसे पासे फेंक लेता था। यह बात तो उड़ायी हुई है कि वह कपटी था। असल में वह अच्छा खिलाड़ी था।

फिर लगा दाँव—और लाखों अशर्फी, मनों सोना।

धर्मराज ने पासे फेंके।

फिर शकुनि ने फेंके और चिल्लाया—जीत लिया!

धर्मराज तो जुए के नशे में धुत्त हो गये थे। उन्होंने सब प्रापर्टी—हाथी, घोड़े, गायें, दाँव पर लगा दिये और हार गये।

मैंने कहा—अब बन्द करो, महाराज!

पर वे बोले—अगला दाँव मैं ही जीतूँगा।

पर अब दाँव पर लगाने को बचा ही क्या था? सिर्फ आदमी बचे थे।

और वे सेनापतियों और नौकरों को दाँव पर लगाने और हारने लगे।

मैंने पूछा—क्यों रे छोकरे, जब आदमी दाँव पर लगाने लगे तो किसी ने रोका नहीं ?

उसने कहा—रोका सा'ब। पर धर्मराज तो होश में नहीं थे। उधर बेचारे विदुर जरूर बार-बार धृतराष्ट्र से कहते थे कि लड़के को रोको, वरना बड़ा अनिष्ट होगा। पर अन्धे राजा बेटे के मोह में और अन्धे हो गये थे।

उधर दुःशासन, दुर्योधन और शकुनि वगैरह पाण्डवों की खिल्ली उड़ाते थे, उनका अपमान करते थे। इधर भीम क्रोध से कसमसा जाते थे। बाकी पाण्डव बड़े भाई के लिहाज में मुँह लटकाये बैठे थे।

आदमी दाँव पर लगने लगे सा'ब और हारे जाने लगे। दास-दासी सब धर्मराज हार गये।

पसीना आ रहा था युधिष्ठिर को। मुझे पुकारा—छोकरे, पानी पिला!

मैंने उन्हें पानी पिलाते हुए कहा—महाराज, अब भाइयों को लेकर भाग जाओ। पर वे कहाँ मानने वाले!

उन्होंने नकुल और सहदेव को दाँव पर लगा दिया और हार गये।

शकुनि चिल्लाया—छोकरे, थोड़ी दारू ला।

अब सा'ब, युधिष्ठिर ने भीम और अर्जुन को दाँव पर लगाया और हार गये।

कोई भाई नहीं बोला सा'ब कि हमारा जुआ क्यों खेलते हो?

अब बचे धर्मराज।

बोले—इस बार मैंने अपने को दाँव पर लगाया।

पासे फेंके।

शकुनि ने फेंके और जीत गया।

खलास हो गया। सब भाई दुर्योधन की प्रापर्टी हो गये सा'ब।

अब?

शकुनि को खूब चढ़ गयी थी सा'ब। नहीं तो वह वैसी बात नहीं कहता। कहता है... "धर्मराज, अभी द्रौपदी बच गयी है। उसे भी दाँव पर लगाओ।"

सारी सभा में हाहाकार मच गया। विदुर ने फिर समझाया।

बताइए सा'ब, द्रौपदी तो ज्वाइण्ट प्रापर्टी थी। अकेले युधिष्ठिर की बीवी तो थी नहीं। पाँचों भाइयों की थी। फिर एक भाई उसे दाँव पर कैसे लगा सकता है?

पर लगा दिया। भाई लोग कुछ नहीं बोले। वह जमाना ही ऐसा था सा'ब। भीष्म के पिता शान्तनु का दिल एक केवट-कन्या पर आ गया था, तो बूढ़े बाप के शौक के लिए भीष्म ने राजपाट छोड़ा और क्वारे रहे। बोले ही नहीं कि फादर, बहुत भोग कर लिया, अब बूढ़े हो गये। अब हमारी जिन्दगी क्यों खराब करते हो?

तो सा'ब, युधिष्ठिर द्रौपदी को भी हार गये।

भीम अब आपे से बाहर हो गया। बोला—अभी तक मैं कुछ नहीं बोला। तुम प्रापर्टी हार गये। हमें भी हार गये। पर तुमने द्रौपदी को भी दाँव पर लगा दिया। तुम पक्के जुआरी हो। मैं तुम्हारे इन पासे फेंकनेवाले हाथों को जला दूँगा।

एक बात बताऊँ? भीम द्रौपदी को बहुत 'लव' करता था। पर द्रौपदी जरा, अर्जुन की तरफ ज्यादा थी। कृष्ण अर्जुन का बड़ा दोस्त था। और द्रौपदी भी कृष्ण से अपना दुख कहती थी। पता नहीं क्या गोलमाल था सा'ब। ये कृष्ण था बहुत दन्दी-फन्दी आदमी। वह होता तो शकुनि की नहीं चलती। वह साफ झूठ बोल जाता था और कहता था कि यही सच है। वह कपट कर लेता था और कहता था कि इस वक्त कपट करना धर्म है।

अब सा'ब, द्रौपदी सभा में लायी गयी। दुःशासन लाया। और उसका अपमान होने लगा।

बड़ी जोरदार औरत थी यह द्रौपदी। उसने वह धिक्कारा सबको कि सबके माथे झुक गये। बोली—ये मेरे पति कायर हैं। ये इतने बूढ़े और ज्ञानी सभा में बैठे हैं, यह सब पापी

हैं। मुझे बताओ कि खुद अपने को हारे हुए युधिष्ठिर क्या मुझे दाँव पर लगा सकते हैं? क्या बोलता है तुम्हारा धर्म? तुम्हारी नीति? तुम्हारा न्याय?

सब सुट्ट हो गये सा'ब! कोई नहीं बोला।

मैंने कहा—छोकरे, कौरवों की तरफ बड़े-बड़े लोग थे। बड़े-बूढ़े थे। वे सही बात क्यों नहीं बोले?

छोकरा हँसा। बोला—सा'ब, वे सब 'सिण्डीकेटी' हो गये थे। अनुशासन में बँध गये थे। निजलिंगप्पाजी जिसको 'डिसिप्लिन' बोले थे न, वही हो गया था। अन्तरात्मा की आवाज और अनुशासन का झगड़ा था। द्रौपदी कहती थी—तुम्हारी अन्तरात्मा क्या बोलती है? पर वे सब बूढ़े और ज्ञानी जैसे जवाब में कह रहे हों— अन्तरात्मा की आवाज नहीं। हम तो अनुशासन वाले हैं। इसलिए चुप हैं। और सा'ब, आप जानते ही हैं कि जैसी सिण्डीकेटी अनुशासनवालों की गत हुई, वैसी ही इन द्वापर के सिण्डीकेटियों की महाभारत में हुई।

मैंने पूछा—छोकरे, फिर पाण्डवों ने क्या किया?

वह बोला—फिर पाण्डवों ने कुछ नहीं, द्रौपदी ने ही किया। उसने धृतराष्ट्र को खुश करके अपने पतियों और प्रापर्टी को वापस ले लिया। यह दूसरा जुआ था सा'ब ! द्रौपदी ने वह पासे फेंके, क्रोध, धिक्कार और विलाप के कि वह जीत गयी।

अब पाण्डव वापस घर को चले।

इधर दुर्योधन घबड़ाया कि अब ये बदला लेंगे। उसने शकुनि से सलाह की।

वह दौड़कर युधिष्ठिर के पास गया और कहा—एक बार और खेल लो।

और सा'ब, धर्मराज जानते हुए भी कि फिर हारेंगे, खेलने के लिए लौट आये। बड़े बौड़म थे ये धर्मराज।

आगे का हाल तो आप जानते ही हैं। एक ही दाँव में पाण्डवों को 12 वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास हो गया।

दुर्योधन का पालिटिक्स चल गया सा'ब। 13 साल तक राजनैतिक विरोधी को बियावान में रखकर उसने अपनी 'पोजीशन' मजबूत करने की ठान ली थी।

लड़का चुप हो गया। उदास हो गया।

कहने लगा—ऐसा जुआ कभी नहीं देखा सा'ब! मुझे तो रोना आ गया सा'ब, जब पाण्डव वनवासियों का वेश धारण करके चल दिये। भीम लाल-पीले हो रहे थे, पर विवश थे। और बेचारी द्रौपदी बिलखती हुई पीछे चल रही थी।

रास्ते में लच्छू उस्ताद युधिष्ठिर को मिले। बोले—धर्मराज 13 साल का चांस मिला है। इसमें कम-से-कम एक भाई को तो अच्छा जुआरी बनाओ, तीर-कमान सिखाने से ही कुछ नहीं होता। तीर-कमान को तो पासों ने मार दिया। पाँचों पाण्डवों में कम-से-कम एक को तो जुआ खेलने में एक्सपर्ट होना चाहिए। बोलो, अपने अड्डे के घसीटे को साथ कर दूँ। वह सिखा देगा।

पर धर्मराज ने यह बात भी नहीं मानी और वन को चले गये।

बेचारा 'कामनमेन'*

शीर्षक देखकर रूढ़िवादी साहित्यिक पिता, पितामह और प्रपितामह सिर ठोंक लेंगे, "कैसी उच्छृंखलता है!" और अन्य भाषाओं के शब्दों के स्पर्श से पल्ला बचाने वाले पण्डित घृणा से नाक सिकोड़ेंगे, "यह क्या खिचड़ी है।" और एक पैर जमाने के पहले ही दूसरा पैर उठाकर 'लाँग जम्प' करने को उतावले, हर एक विचित्रता को प्रगति मानने वाले प्रगतिवादी लोग मेरा नाम लिखकर चूम लेंगे और दस बार सिर से लगायेंगे, "कैसी नवीनता है। इसे कहते हैं प्रगति!" पर मेरा दुर्भाग्य कि मैं इनमें से कोई नहीं!

कहानी के नाम की भी राम कहानी है। एक दिन कहानी लिख रहा था। भूमिका ही लिख रहा था कि एक मित्र आ गये। मैंने कहा, सुनो। भला सुनाने का शौकीन कौन न होगा ? पर कोई सुनाने वाले की पीड़ा, विवशता, संकट को जान पाता! मैंने सुनाना शुरू किया—"सम्राट अशोक का राज्य था। मगध में..." "बस-बस!..." मित्र ने टोका, "प्राचीनता के बैंक में जमा की हुई, गौरव की बपौती में से कब तक धन निकालते रहोगे ? यह अच्छा नहीं! अब तो तुम कभी-कभी झूठा जाली चेक बनाकर भी धन खींचने लगे ! जीवन में यथार्थ से पराजित होकर प्राचीन के कल्पना लोक में शरणार्थी बनकर विचरना चाहते हो? बार-बार पीछे देखने में प्रगति में बाधा पहुँचती है।" मैंने घबराहट को छिपाकर जवाब दिया, "प्राचीन में जो कुछ शिव है, जो उज्ज्वल है उसे समाज के सामने लाने में ही तो कल्याण है।"

"नहीं, नहीं भाई! खाक कल्याण करते हो तुम! वही बात लिखोगे न?—राजा, सात रानियाँ, हर एक के सात-सात बच्चे—'साते-साते उनचास' आरे बाप रे!... हिन्दुस्थान में भोजन की उत्पत्ति कम और बच्चों की ज्यादा। क्या धरा है ऐसी तुम्हारी कहानियों में ?"

"अच्छा भाई, तो वर्तमान की ही लिखता हूँ। देखो ऐसा लिखूँ—अमेरिका नामक महादेश में राकफेलर नाम के एक सज्जन रहते थे..." मुझे बोलने नहीं दिया आगे मित्र ने।

वे बोले, "अरे राम! यह क्या बक रहे हो!"

"अच्छा भाई, मालूम होता है तुमने संकीर्ण राष्ट्रीयता की मदिरा अधिक पी ली है। खैर, स्वदेश की कहानी ही सुनो—भारत में एक डालमिया परिवार प्रसिद्ध है। इस परिवार में ..." मेरे मित्र ने यहाँ कुछ ऐसा भाव बनाया कि मुझे डर लगा, कहीं मार न बैठे।

बोले वे, "अरे जमाना गया भाई धनकुबेरों का। धन की प्रभुता का गान सुनने को कोई तैयार नहीं। यह शताब्दी बीसवीं है—सेंचुरी आफ कामनमेन, जन-साधारण की शताब्दी

---

* प्रहरी, 18 दिसम्बर, 1949

है यह। जनसाधारण के जीवन से हटा हुआ साहित्य तुम कहाँ खपाओगे? किसके काम आयेगा? कुछ 'कामनमेन' के बारे में लिखो मेरे भाई!'' पहले तो मुझे मित्र के इन शब्दों से 'कम्यूनिज्म' की बू आयी और अपनी भलाई के लिए इनसे दूर रहना ही उचित समझा, पर बात कुछ ऐसी मन पर चढ़ी कि यह 'कामनमेन' की कहानी बन गयी।

''तेरी ठठरी बँध जाय! हाथ पै हाथ धरे बैठा है। आज तीन दिन हो गये। इत्ता भी नहीं बनता कि आसपास की काँजीहौस ही देख लेता।'' बुढ़िया ने हलकू के माथे पर एक चपत जड़कर, मंगल-कामना सहित तिरस्कार किया।

हलकू बुढ़िया का पुत्र था और बुढ़िया हलकू की माँ, यह बात साधारणतया लोगों को तब तक ज्ञात नहीं होती थी जब तक हलकू एक-दो महीने में घर से चुपचाप एक-दो रोज के लिए भाग न जाता और बुढ़िया 'हाय-हाय' करती भटकती न फिरती।

हलकू ग्वाला था। दो भैंसें थीं, जो बाप छोड़ मरा था। हलकू रोज सवेरे बर्तन में दूध रखकर शहर बेचने ले जाता और म्युनिसिपैलिटी के नलों का सदुपयोग करके काफी लाभ उठाता। उसके बर्तन वशिष्ठ के कमण्डल की तरह खाली ही न होते।

हलकू की अक्ल पर यदि किसी को सबसे कम विश्वास था तो उसकी माँ को। एक रुपये की चिल्लर भी नहीं गिन पाता था; चार सेर के दाम भी नहीं लगा पाता। हलकू की अवस्था लगभग 35 साल की थी; और अगर उम्र के साथ-साथ ज्ञान और भी बढ़ता तो वह गाँव के स्कूल का हेडमास्टर जरूर हो जाता। पर हलकू ने होश सँभालने के बाद बीड़ी पीने और गाली देने के सिवा और कुछ न सीखा था।

हलकू की शादी भी नहीं हुई थी, बालब्रह्मचारी था। ऐसे पगले, सनकी, मूरख को कौन लड़की देता? और हलकू ने इन आरोपों का खण्डन करने की चिन्ता भी नहीं की। पढ़ा-लिखा होता तो अखबार में प्रतिवाद छपाता, स्पीच में कहता और विवाह-विज्ञापनों वाले पृष्ठ पर नजर दौड़ाता, दो से चार हाथ कर ही लेता। क्योंकि इस विशाल देश में कोई ऐसा पुरुष नहीं, जिसे रूप, गुण, शील में समानता करने वाली योग्य स्त्री न मिल सके।

हलकू को बुढ़िया की बात लग गयी। बोला, ''अच्छा जाता हूँ रामपुर की काँजीहौस देखने। ला पैसे टिकट के।''

बुढ़िया ने दूसरी स्टेशन रामपुर की टिकट के आने-जाने के दस आने पैसे और चना चबैना के लिए पाँच आने ऐसे पन्द्रह आने हाथ पर रख दिये। हलकू ने लाठी उठायी और चल दिया। स्टेशन जाकर टिकट लिया और जल्दी-जल्दी में सैकेण्ड क्लास के डब्बे में ही घुस पड़ा!

उसी दिन रामपुर में परचे छपकर बँट रहे थे–

'प्रसिद्ध किसान नेता स्वामी राघवानन्दजी रामपुर में आज शाम को जिला किसान परिषद् का उद्घाटन करेंगे। जनता यह भूली न होगी कि महान् क्रान्तिकारी स्वामी राघवानन्दजी हाल ही में 7 वर्ष के कठिन कारावास के बाद छूटे हैं।'

रामपुर से एक स्टेशन इसी तरफ मोहनपुर नाम का कस्बा था। सवेरे सेठ रामजीवन

की दुकान पर गाँव के गण्यमान्य नागरिक इकट्ठे हुए। सेठ-साहूकार, नेता, मास्टर सब थे। रामजीवन ने कहा, ''आज शाम को रामपुर में स्वामी राघवानन्द जी का भाषण है। आज ही 12 बजे की गाड़ी से वे रामपुर जा रहे हैं जबलपुर से। अगर दो घण्टे के लिए अपने यहाँ उतर जायें, तो गाँव के भाग्य खुल गये, समझ लो।''

''पर वे रुक कैसे सकते हैं। उनका तो कार्यक्रम बन गया होगा न।'' परतापसिंह मास्टर ने कहा।

''अरे यह कौन मुश्किल बात है! लोगों ने तो महात्मा गाँधी की स्पेशल तक रोक ली थी। स्टेशन चलकर अड़ जाओ। जनता का प्रेम देखकर उतर पड़ेंगे। चार बजे वाली गाड़ी से रामपुर भेज देंगे।'' रामजीवन सेठ के उत्साही उद्‌गार थे वे। ''अच्छा तो कुछ स्वागत की तैयारी कर लो। थोड़ा-बहुत चन्दा भी इकट्ठा कर लो भाई।'' सेठ किशनलाल, कांग्रेस के मण्डलेश्वर की हैसियत से बोले। किशनलाल जी देशसेवा करना चाहते थे, पर धन पर आँच न आने देते थे। एकाध बार स्वागत का खर्च उनके माथे पड़ चुका था। अब सतर्क हो गये थे।

चन्दा भी हो गया। हमारे विश्वास-परायण समाज में चन्दा मिलना मुश्किल नहीं है। अब तो 25 प्रतिशत कमीशन पर पेशेवर चन्दा इकट्ठा करने वाले भी मिल जाते हैं। दिन-भर किसी नाम से चन्दा इकट्ठा करके शाम को नौ आने वाली सिनेमा सीट पर सुरैया की एक्टिंग देखने वाले आपको अनेक मिलेंगे। चन्दा इकट्ठा करने वाले का उत्साह हमेशा खतरनाक समझें।

रामजीवन सेठ के नेतृत्व में एक भीड़ स्टेशन चली। रास्ते में रामजीवन कहते जा रहे थे, ''अरे अब मेरे तो साथ पढ़े हैं। हमेशा फर्स्ट आते थे। और मुख से तो जैसे फूल झड़ते हैं।''

स्टेशन पर गाड़ी रुकी। सब भीड़ जल्दी-जल्दी सारी गाड़ी के दो-चार चक्कर लगा गयी। पर स्वामी राघवानन्दजी न मिले। रामजीवन सबके आगे थे। अचानक भीड़ ने सैकेण्ड क्लास के डब्बे के हैण्डल पकड़े हलकू को देखा। विचित्रता और असामंजस्य अक्सर महानता का भ्रम कराते ही हैं। सैकेण्ड क्लास के डब्बे में 'ऐसे' आदमी को देखकर बरबस भीड़ चिल्ला उठी, ''वे हैं स्वामीजी! कैसा सरल वेश है।''

रामजीवन ने भी अपने परिचय को पक्का करने के लिए कहा, ''हाँ-हाँ, वे ही तो हैं। वही नाक, वही गोल चेहरा, वे ही आँखें—हाँ, रंग जरा साँवला पड़ गया है।''

भीड़ ने नारे लगाये, ''स्वामी राघवानन्द की जय!'' हलकू को सैकेण्ड क्लास के डब्बे से निकालने के लिए आया हुआ टिकट-चेकर रुक गया, महान् के सामने नतमस्तक हुआ।

रामजीवन ने हाथ जोड़कर मास्टर प्रतापसिंह द्वारा लिखकर रटवाये गये वाक्य दुहराये—'महात्मन्। यद्यपि हमें विदित है कि आपको आज सन्ध्या समय रामपुर में विराट

जनसमूह पर अपनी वाणी से अमृत वृष्टि करनी है तथापि इस नगर के क्षुद्र जन भी आपके सदुपदेशों को श्रवण करने के लिए लालायित हैं। केवल दो घण्टे समय देकर हम लोगों को कृतार्थ करेंगे, ऐसी आशा ही नहीं विश्वास है।' ऐसा निवेदन कर रामजीवन ने आसपास देखा और जब साथियों की आँखों में 'शाबास' का संकेत पढ़ लिया तो डब्बे से ससम्मान उतारने के लिए बढ़ा।

''रामपुर उतरूँगा।'' हलकू ने विरोध किया। रामजीवन ने फिर हाथ जोड़कर कहा, ''जी हाँ महात्मन्, हमें विदित है, आपको अवकाश नहीं है। फिर भी हम लोगों के इस विनम्र निवेदन की अवहेलना कृपा कर न करिए।''

सेठ किशनलाल ने कान में कहा कि नेता लोगों को जबरदस्ती उतारना होता है, तब उन्हें जनता का प्रेम मालूम होता है। आखिर किशनलाल और रामजीवन दोनों ने हलकू को जबरदस्ती उतार लिया और एक पालकी पर बिठाकर ले चले। पीछे बड़ी भारी भीड़ थी। स्वामी राघवानन्द की जय के नारे लगा रहे थे। हलकू भौचक्का-सा बैठा था; घबड़ा रहा था, पर भाग भी न सकता था।

लोग कह रहे थे—'कैसी सरल चितवन है! और वेश-भूषा भी कैसी सरल। दाढ़ी बनवाने की भी चिन्ता नहीं। कपड़े भी कैसे मैले-से, फटे हुए!'

हलकू नाखून चबाने लगा घबराहट में। रामजीवन ने किशनलाल के कान में कहा, ''पूरे परमहंस हैं। जरा सुधबुध नहीं शरीर की!''

आधे रास्ते में पहुँचकर हलकू पालकी से कूद पड़े। ''अरे-अरे स्वामीजी क्षमा! जल्दी-जल्दी में मोटर का प्रबंध न हो सका।''

''पैदल चलौंगो।'' हलकू ने कहा।

''वाह, क्या नम्रता है! क्या विनय है? मान-सम्मान से कोसों दूर भागते हैं।'' किशन लाल ने कहा।

दो-चार कदम चलने पर हलकू आसपास देखकर फिर चिल्लाया, ''भागो यहाँ से। इत्ते आदमी ने क्यों भीड़ लगायी है?''

मास्टर प्रतापसिंह भीड़ से कह रहे थे, ''देखा? इसे कहते हैं महानता! प्रदर्शन नहीं चाहते, प्रोपेगेण्डा नहीं चाहते, नाम नहीं चाहते। चुपचाप देश-सेवा करना चाहते हैं। धन्य हैं।'' और फिर हलकू के आगे हाथ जोड़कर बोले, 'भगवन् यह जनसमुदाय आपके दर्शन करके कृतकृत्य होने को उत्सुक है।''

इतने में रास्ते के पास से एक गाय और एक भैंस निकली। अच्छी सुंदर, हृष्ट-पुष्ट ! हलकू की आँखें चमक उठीं, मुँह से निकल पड़ा, ''वाह! क्या बनायी है!''

दैनिक 'सन्देश' का संवाददाता वहीं था। उसने लिखा 'स्वामीजी ने भारत में गोधन के ह्रास पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि गोधन की वृद्धि से ही भारत का कल्याण हो सकता है। वर्तमान पीढ़ी भी दूध के अभाव में निर्बल, निस्तेज हो रही है।'

जुलूस एक अट्टालिका के सामने पहुँचा। हलकू को रामजीवन ससम्मान भीतर ले

गये। सोफे लगे थे। एक पर रामजीवन ने हलकू को बैठाया। हलकू ज्यों ही उस पर बैठा त्यों ही स्प्रिंगदार सोफे में छाती तक समा गया। घबड़ाकर एक चिहुँक के साथ दूर कूद गया और एक कोने में फर्श पर बैठ गया। एकत्रित जनसमूह आश्चर्य से देखने लगा। पर रामजीवन ने मुस्कुराकर बुद्धिमानी से सिर हिलाया और धीरे-धीरे कहा, "स्वामीजी सादा जीवन पसन्द करते हैं। जब तक भारत में किसान राज्य न हो जाये, फर्श पर सोने की प्रताप प्रतिज्ञा कर ली है।"

जनसमूह धीरे-धीरे चला गया। सब सभा की तैयारी में लग गये। रामजीवन ने चाय बनवाकर भिजवायी। हलकू ने जल्दी से प्याला पकड़कर मुँह से लगा दिया। गरम चाय थी, मुँह जल गया और हाथ से प्याला छूटकर फर्श पर गिर पड़ा। नौकर घबड़ाकर मालिक के पास गया और हाल सुनाया।

दैनिक 'उत्कर्ष' का संवाददाता वहीं बैठा था। उसने लिखा—'स्वामीजी ने कहा कि चाय भारत के नौजवानों को बलहीन बना रही है। यह विष है जो देश के जीवन को खाये जा रहा है। इससे देश के लोग निस्तेज, बलहीन हो रहे हैं। चाय का उपयोग बन्द होना चाहिए।'

थोड़ी देर के बाद मधुर पकवान बनवाकर रामजीवन ने भोजन के लिए भेजे। हलकू ने साग-रोटी और दाल के सिवा और कुछ न खाया था। पहले खाना ध्यान से देखा और फिर बोला, "भाजी रोटी!"

साप्ताहिक Indian Hero पत्र का संवाददाता भी आ चुका था। उसने लिखा—The Swamiji advised Simple food and emphasised on the need of taking green vegetables.

इधर जबलपुर किसान सभा का एक तार रामपुर किसान परिषद् की स्वागत समिति के पास पहुँचा—Swamiji indisposed unable to come. (स्वामीजी अस्वस्थ हैं, नहीं आ सकते)।

और रामजीवन ने मोहनपुर से एक तार रामपुर किसान परिषद् की स्वागत समिति के सभापति को किया।

Swamiji detained. Will come in the evening.
(स्वामीजी रोक लिये गये हैं, शाम को आवेंगे)।

स्वागत समिति के सभापति के सामने इन दो तारों ने बड़ी समस्या खड़ी कर दी। आखिर उन्होंने तुरंत कार ली और दस मिनट में मोहनपुर आ गये।

रामजीवन ने देखा तो प्रसन्न हो गये। बोले, "अच्छा हुआ आप आ गये। स्वामीजी मोटर से ही चले जायेंगे। क्या कहना है साहब! बड़ी सौम्यमूर्ति हैं। कैसे सरल हैं। किसी बात की परवाह नहीं, विचारों में मग्न, भूले से रहते हैं। बात-चीत भी नहीं करते। हम लोग तो बस कृतार्थ हो गये। आइए, दर्शन कर लीजिए आप भी।"

सभापति बोले, "अरे, यह क्या कह रहे हैं आप? जबलपुर से तो तार आया है कि

स्वामीजी अस्वस्थ हैं, नहीं आ सकते। और तुम कहते हो यहाँ।"

रामजीवन बड़े जोर से हँसे, "ये है राजनीति। किसी खिलाफ पार्टीवाले ने झूठा तार कर दिया होगा आपको। आइये, देख लीजियेगा।"

सभापति चले उस मकान की ओर जहाँ हलकू बैठे थे। बाहर काफी भीड़ थी।

सभापतिजी के साथ जबलपुर के 'किसान मित्र' साप्ताहिक के सहकारी सम्पादक पण्डित कौशलनाथ रसिकेश भी आये थे। रसिकेशजी के यहाँ हलकू आज सात साल से दूध देता है।

ज्यों ही रसिकेशजी कमरे में प्रविष्ट हुए त्यों ही हलकू उठा और उनके पैर पर गिरकर रोने लगा—मैन्ना भैया मेरे को बचा लो! जे मेरे को मार डालेंगे। मैं तो भैंस...! बस यहीं हलकू चूक गया। वरना उसमें और स्वामी राघवानन्द में कोई फर्क नहीं था, अभी तक। हलकू ईमानदार और सीधा होने के कारण आजीवन सन्त के पद का लाभ नहीं ले सका। वह भाग गया।

पर जो उसे राघवानन्द बनाकर स्वार्थ-साधन करना चाहते थे, उनके मुँह जनता में बहुत दिन तक नहीं दिखे।

☯

पड़ोसी के बच्चे*

हर साल भगवान एक बच्चा देता है, मेरे इस पड़ोसी को। पिछले साल इसने स्त्री को उसके पिता के घर अपने बच्चों के 'वेटेलियन' समेत भेज दिया था, क्योंकि उसकी नौकरी छूट गयी थी। इसलिए उस साल बच्चा नहीं हुआ। पर भगवान के यहाँ बेईमानी आज तक नहीं हुई। उसका हिसाब बड़ा साफ रहता है। उसने इस साल एक साथ दो 'जुड़वाँ' लड़के देकर पुराना बकाया भी चुका दिया। ये दो मिलकर आठ बच्चे हो गये इसके अब।

और हिन्दुस्थान में अन्न की उत्पत्ति कम और बच्चों की पैदायश ज्यादा।

मेरा यह पड़ोसी चालीस साल का होगा, पर जब 60 साल के पड़ोसी रिटायर्ड पुलिस कप्तान के साथ खड़ा होता है तो उनका बाप-सा मालूम होता है। कमर झुक गयी है, आँखें भीतर घुस गयी हैं, कंधे गोल झुके, शरीर में तीन जगह मोड़, चेहरे पर झुर्रियाँ आ गयी हैं, बालों ने बुढ़ापे से मिलकर कब की साजिश कर दी है।

अपना भार आप ढोने में समर्थ नहीं है। मैंने देखा है—आप भी देखते होंगे कि कुछ मुख ऐसे होते हैं जिन्हें देखते ही दया आ जाती है। ऐसा ही मुख है इस पड़ोसी का। और इसके माथे पर भार है आठ बच्चों का—सब 'साइज' के।

---

* मई, 1953

कल जब इसके यहाँ दो बच्चे हुए और यह घर के बाहर निकला तो पड़ोसिन चाची ने पूछा, ''काहे रामा! का हुआ?'' और इस रामा ने सूखे चेहरे पर मुस्कराहट लाकर, गन्दे बड़े दाँतों को मुँह के बाहर निकालकर हँसकर कहा, ''भगवान की दया से दो लड़के हुए।''

अस्सी रुपये हर महीने मिलते हैं इस रामा को। किसी कारखाने में नौकरी करता है। और इसके आठ बच्चे हैं। घर में दस प्राणी हैं। प्रत्येक के हिस्से में आठ रुपये पड़े। आठ रुपये में भला एक आदमी कैसे जी सकता है।? और अगर एक आदमी मर भी जाय तो आठ रुपयों में उसका कफन और लकड़ी का भी खर्च न निकलेगा। मैं बार-बार सोचता हूँ, ये दसों प्राणी क्या जीते हैं? तो क्या ये सब-के-सब मुर्दे हैं? हाँ, मुर्दे! ऐसे मुर्दे जो दफनाये नहीं गये। और जब आज इसके घर के आठ मुर्दों में दो मुर्दे और जुड़ गये तो यह मूर्ख रामा दाँत निपोरकर कहता है, ''भगवान की दया से दो लड़के हुए।''

सच कहूँ—मुझे क्रोध आया उस रामा पर, उसके भगवान पर और इस सड़ी व्यवस्था पर। जी में आया कि दाँत निपोरते हुए उस रामा के गाल पर एक चाँटा लगा दूँ और कहूँ—'कौन-सी लंका विजय कर ली तूने? इन दो प्राणियों को भूखों मारने को ले आया। कल ये दारिद्र्य के अभिशाप से तड़पकर तुझे कोसेंगे, क्योंकि दुनिया में लाने की जिम्मेदारी तेरी ही तो है। और तेरा वह भगवान? जिसकी दया पर दोनों बच्चों की उत्पत्ति का आरोप करता है, उस भगवान में इतनी भी समझ नहीं है कि अस्सी रुपयों में आठ की जगह दस का भाग देने से हिस्सा कम आता है?' पर मैं विवश था, क्रोध को पी ही गया। वह रामा पड़ोसी बारेलाल से कह रहा था, ''हाँ भैया, आपकी दया से दोनों लड़के हुए।''

इस रामा के ये आठ बच्चे? आदमी के बच्चे इसलिए कहलाते हैं कि मानव की वासना के कारण मानवी के पेट से पैदा हुए हैं। मगर पड़ोसिन चाची के बछड़े और बछिया इन मानव संतानों से अधिक स्वस्थ, अधिक सुखी, अधिक स्वच्छ! और ये आदमी के बच्चे—हड्डी पर चमड़े की एक परत भर हैं। बड़े पेट, काले-काले सूखे हाथ-पैर, गंदा शरीर, नाक बहकर मुँह में प्रवेश करती हुई, मैली आँखें—ये सब-के सब नंग-धड़ंग धूल में खेलते मिल जावेंगे।

बड़ा लड़का नम्बर एक का डाकू। अड़ोसी-पड़ोसी बच्चों के हाथ में से मिठाई, लैया, चिवड़ा, बिही, केला झपटकर खा लेता है। ताकता रहता है, बगुले की तरह। कोई बच्चा खाने का सामान लेकर बाहर निकला कि यह डाकू पहुँचा। एकदम थूक देता है उस पदार्थ पर। और जब वह बालक उस थूक-भरे पदार्थ को जमीन पर फेंक देता है, तब यह लड़का उसके कण-कण बीनकर खा लेता है। कणों के आस-पास लिपटी धूल को भी वह नहीं झाड़ता, क्योंकि शायद धूल कण पेट में पहुँचकर खाली जगह भरने में मदद करते हैं। जब यह लड़का दूसरों का माल छीन खाता है तब कोई उसे कितना ही पीटे। पीठ पर धप्प पड़ते हैं, तमाचे मारे जाते हैं—पर वह जरा भी विचलित नहीं होता। बड़ी मनस्विता से धूल-भरे दाने बीन-बीनकर मुख में डालता जाता है।

मुझे उसका यह कार्य देखकर प्रसन्नता भी होती है, दुख भी होता है। सोचता हूँ,

कब समाज में ताकत आयेगी कि वह भरे हुए हाथों में से छीनकर खाली हाथों में रख देगा ? मुझे भय भी है, इस छीना-झपटी के जोश में समाज खाने के पदार्थ में से धूल झाड़ना न भूल जाय। सोचता हूँ, अच्छा तो करता है यह लड़का। ठेकेदार साहब, सेठ साहब, थानेदार साहब, बाबू साहब के लल्ला, मुन्नू, पुन्नू, छुट्टन, लल्लन को क्या हक है कि हाथ में बरफी रखकर उसे ललचाने निकलें? ऐसा बली है कि पड़ोस के लड़कों से झुनझुना, टुनटुना, सीटी, खिलौना सब लूटकर घर में रख लेता है। गाली तो ऐसी देता है कि पुराने-से-पुराना थानेदार भी शरमा जाय। छोटे लड़के भी ऐसे ही थोड़े हेर-फेर के साथ!!

कौन कहता है कि ये बच्चे इस रामा के हैं? अरे इन बच्चों से उसकी मुलाकात हर इतवार को हो जाती है। रोज सवेरे जब दुनिया उठ भी नहीं पाती, वह नौकरी पर चला जाता है और रात को जब सारा संसार सो जाता है तब घर लौटकर आता है। सवेरे उठकर एक कप काला पानी, जिसे वह 'चाय' कहता है, पीकर उठती हुई भूख को मार देता है और हाथ में मैले कपड़ों में बँधी हुई रात की बासी रोटियाँ रखे पैदल पाँच मील दूर कारखाने को चल देता है। इतवार को आधे दिन घर रहता है तब भी ऐसा नहीं लगता कि यह बच्चों का पिता है। यह रामा बच्चों की हफ्ते-भर की शिकायतें सुनता है, उनकी माँगें सुनता है। यह सुनता है कि घर में आटा नहीं है, चावल नहीं है और दाल नहीं है। जब ये लड़के बाप के पाँव पकड़कर धोती खींचकर एक पैसा चने के लिए माँगते हैं तब वह उनको झटक देता है, तमाचा मारता है, चिल्लाता है, 'प्राण खाये जाते हैं। मर नहीं जाते?' मैं सोचता हूँ—बच्चों के मरने की कामना करने वाला यह रामा उस दिन हँसकर कह रहा था, 'चाची, भगवान की दया से दो लड़के हुए—जुड़वाँ।'

उस दिन जब इसकी स्त्री को प्रसव हो गया, तब मैंने देखा यह रामा मुहल्ले में खोया-खोया सा, परेशान-सा घूम रहा है। एक-दो ने उसके कान में बात भी की। उसके चेहरे पर विषाद बढ़ता ही गया। मैं उसकी परेशानी कुछ समझ ही न पाया।

इसी समय पड़ोसिन चाची बोली, "अरे दई मारे! उसको कुछ गरम हरीरा वगैरह दिया कि वैसे ही मार डालेगा बेचारी को।" चाची की बात सुन रामा नजदीक पहुँचा और बोला, "क्या बताऊँ चाची! पन्द्रह दिन पहले बच्चे हो गये। अब की पहली तारीख को इन्तजाम करके रख लेता। अब हाथ में एक पैसा नहीं। क्या करूँ, क्या न करूँ ?"

यह चाची बड़ी लड़नेवाली, बड़ी मुँहफट, बड़ी दुष्ट स्वभाव की मानी जाती है। बोली, "अरे पापी! तू तो उसकी जान ले डालेगा। इधर आ।"

उस दिन सवेरे चाची की गाय ने भी एक बछड़ा जना था। बोली रामा से, "ले ! सवेरे गाय के लिए लायी थी। ये गुड़, ये सोंठ, थोड़े-से बच गये हैं। जा, उबालकर पिला दे।"

पशु की माँ के खाने से जो बच जाय, वह आदमी की माँ खाये! चाची की गाय को जितना गुड़, सोंठ प्राप्त हुआ उतना इस रामा की स्त्री को भी नहीं।

लोग समानाधिकार की बात करते रहते हैं। आदमी-आदमी की समानता की बात

तो अभी दूर है, पशु के समान तो अधिकार मिल जायें आदमी को!

भूख के स्वर*

दुनिया ने बड़ी तपस्या से सिद्ध किया हुआ यह महाकल्याण मंत्र मेरे कानों में फूँका—'बेटा, देखी-अनदेखी और सुनी-अनसुनी करना सीखो! और हो सके तो जिन दाँतों को दिखाते हो, उनसे खाओ मत! और बन सके तो आँख, मस्तिष्क और हृदय को बाँधने वाला जो तार है, उसे चतुराई से काट डालो। बस फिर सुख ही सुख है।'

महामंत्र है। सिद्ध है। लाहौर के साढ़े ग्यारह रुपये के महात्मावाले वशीकरण मंत्र से कोई कामिनी फँसते मैंने नहीं देखी और अमृतसर वाले महात्मा के सवा रुपये वाले मंत्र से बाँझ स्त्रियों को कानी लड़की होते हुए भी नहीं देखी। लेकिन इस महामंत्र के अपनाने वालों को हँसते, फुदकते, उछलते देखा है।

नेक सलाह है। लेकिन असमर्थता भी कोई चीज है। कभी-कभी कोई बात दिख जाती है और हृदय को मथ डालती है और कभी-कभी छिपाते-छिपाते भी ये भीतर के दाँत दिख जाते हैं, और तब विकल होता हूँ कि अधूरी विद्या कैसी संकट बन जाती है। और तब दुनिया की सीख फिर कान में आती है—'भीतर के दाँतों की झलक अगर दिख ही गयी; कमजोरी अगर प्रकट हो ही गयी है, तो उस पर आत्मस्वीकृति के सुनहले रंग की कूची फेर।' यह भी ऐसी ही एक बात, जो कभी हो गयी थी और हो जाने के बाद न लिखना क्या अपने वश की बात है?

एक दिन सूरज उगने के पहले ही मेरी नींद खुल गयी। वैसे मेरे विषय में लोगों की यह धारणा है कि अगर मेरे ऊपर किसी ने विजय पायी है तो वह नींद ने। और इन्हीं लोगों का ऐसा भी खयाल है कि कुंभकरण को 6 महीने की लम्बी निद्रा देने में विधाता ने विश्व का जो कल्याण देखा था, वही कल्याण मुझे आलसी बनाने में देखा गया है। मैं एकाएक उठ पड़ा, क्योंकि बगल वाले मकान से 2-3 बच्चों के रोने की आवाज आ रही थी। रोने की आवाजों में बड़ी विभिन्नताएँ होती हैं। इन बच्चों के सम्मिलित रोने का शब्द भी सामान्य से कुछ भिन्न था। एक बार मुहल्ले में कुत्ते के 3 पिल्ले न जाने कहाँ से आ गये थे। बाद में मालूम हुआ था कि उनकी माँ किसी लोकवाहक से दबकर परलोक चली गयी थी। छोटे-छोटे मासूम पिल्ले थे। दिनभर से उन्हें खाने को नहीं मिला था और वे भूख से तड़पते हुए एक-दूसरे से चिपटे पड़े थे—'कुकुर-कुकुर' के साथ 'टीं-टीं' सरीखी आवाज मिलाकर रो रहे थे।

---

* मई, 1953

यह आवाज जो मैं सवेरे सुन रहा था, उन भूखे तड़पते पिल्लों-सरीखी थी। भूख का एक स्वर होता है, चाहे वह कुत्ते की भूख हो, चाहे आदमी की भूख हो। भूख का स्वर पहचानने में आप कभी गलती नहीं कर सकते।

मैंने पत्नी को जगाया। वह अपने नन्हे बेटे को हृदय से चिपकाकर सोयी थी, दूसरे बच्चे भी आसपास आनन्द की नींद में निमग्न थे।

मैंने कहा, "सुनती हो? रघुनाथ के यहाँ बच्चे रो रहे हैं, 2-3 घण्टों से। जरा देखो तो। बच्चों की माँ से पूछो।"

वह उठी और पड़ोसिन को पुकारा। थोड़ी देर बात करके लौटी और बोली, "तीनों बच्चे भूख से तड़प रहे हैं। 24 घण्टों से कुछ खाने को नहीं है घर में। बेचारे की नौकरी छूट गयी है न, एक महीने से!"

इसी समय रघुनाथ आया। आते ही उसकी आँखों से आँसू झरने लगे। मैंने स्त्रियों की आँखों में आँसू देखे हैं—आपने भी देखे होंगे। स्त्री वैसे ही करुणा की सजीव प्रतिमा है। और अबला की विवशता और करुणा जब आँसू बनकर झरने लगती है तब हृदय को हिला देती है, यह सच है। पर इसे मैंने कभी असामान्य नहीं माना। परन्तु पुरुष का रोना! पुरुषों की आँखों में आँसू? कहीं हजार गुनी विवशता। करुणा रहती है इनमें। ऐसा लगता है कि पौरुष टूक-टूक होकर, पिघल-पिघलकर बह रहा है। विश्व की शक्ति विधवा होकर मानो विलाप कर रही है।

पुरुष रोता नहीं है। जब वह रोता है, रोम-रोम से रोता है। उसकी व्यथा पत्थर में दरार कर सकती है।

रघुनाथ का रोना बड़ा भयोत्पादक था। उसने मेरे हृदय को गीला तो किया ही, साथ ही मुझमें भय भर दिया। पुरुष का रोना कुछ वैसा ही भय व आशंका उत्पन्न करता है, जैसा सवेरे-सवेरे द्वार पर कुत्ते का रोना।

रघुनाथ ने हृदय खोलकर मेरे सामने रख दिया। महीने-भर से अपने दर्द को ढाँके था, पर आज उसके आँसू निकलकर बतला रहे थे कि इसके पास गोपनीय कुछ नहीं रहा। उसने बतलाया कि एक महीना हो गया, उसकी नौकरी को छूटे। साठ रुपये मिलते थे उसे। किसी तरह तीन बच्चों का और स्त्री का पेट भरता था। पर एक महीने से घर में न बर्तन बचा था, न अन्न का दाना। नौकरी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पाँव में छाले पड़ गये थे, पर कोई ठिकाना नहीं लगता था।

मैंने सब हाल सुना। नितान्त हृदयहीन हूँ, ऐसा तो नहीं है। पर हममें से अधिकांश के लिए सहानुभूति भी एक कला बन गयी है। भाषा के वैभव ने हमें क्षमता दी है कि हम चुनिन्दा शब्द उच्चरित करें। नाट्य-कला ने सुविधा दे दी है कि दर्द का भाव चेहरे पर बिछा लें। इससे ज्यादा हम करते भी क्या हैं? सोचकर सन्तोष कर लेते हैं कि ज्यादा कर भी क्या सकते हैं!

स्त्री ने उन बच्चों के लिए रात की रोटी भिजवायी; इस गर्व के साथ मानो अपना

सर्वस्व त्याग कर रही है, विश्व का पालन करने के लिए। उस समय अपने खुद के बच्चों के लिए वह गरम पराँठे बना रही थी। ग्लानि से मेरा मन भर गया। कैसी क्षुद्रता है? हमारे घरों में बासी रोटी, कुत्ते की जूठी खीर, बिगड़ा हुआ चावल—सब भिखारी व अतिथि के लिए होता है। स्त्री की क्षुद्रता का जिक्र करके मैं सन्तोष पा रहा हूँ, पर मेरे नाम पर आप थूकें, क्योंकि मैंने इसका भी विरोध न किया। मेरे अन्तर में न जाने कहाँ दुबकी बैठी नीचता ने कहा कि यह उचित ही है।

खैर, दोपहर को रघुनाथ ने यह तय किया कि वह अपनी स्त्री को बच्चों के साथ उसके मायके भेज दे। उन लोगों के पास कुछ खेती है; वहाँ बच्चे पल जायेंगे। उसकी नौकरी लगते ही वह उन्हें बुला लेगा।

वह गाँव लगभग 20-25 मील दूर था। पास में ही रहने वाला एक गाड़ीवाला पाँच रुपये में उन्हें वहाँ फेंक आने के लिए तैयार हो गया।

गाड़ी तैयार हो गयी। स्त्री तीनों बच्चों को लेकर गाड़ी में बैठ गयी। रघुनाथ खड़ा-खड़ा रो रहा था। स्त्री भी रो रही थी। रघुनाथ का मन ग्लानि से भरा था। वह अपने आपको धिक्कार रहा था। आज वह अपने स्त्री-बच्चों का पेट भी नहीं भर सकता, दूसरों के माथे ढकेल रहा है। अपने हृदय के टुकड़ों को इसलिए यहाँ से भगा रहा था कि वे भूख से मरने से बच जावें।

और स्त्री? उस बेचारी की लज्जा और विषाद का क्या अन्त था? अपनी दरिद्रता को लेकर स्त्री कभी मायके नहीं जाना चाहती। अपने पति के घर की समृद्धि ही तो उसे मायके में सम्मान दिलाती है। दरिद्र पति की पत्नी तो मायके में भी तिरस्कार व अपमान ही पाती है। आज इस अवस्था में जाते समय उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो रहा था। उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी थी। और इधर उसका यह पति जमीन में गड़ा-सा, अपने भार से आप दबा हुआ, विवश खड़ा था?

गाड़ी चल दी। वह अभागिन बच्चों को गोद में सम्हाले हुए बैठी थी। जैसे कोई विहगी अपने बच्चों को पंखों में समेटे जलते हुए वृक्ष से भाग जाने का विवश संकल्प करके भी न भाग सकती हो।

दो दिन हो गये। गाड़ीवान नहीं लौटा। तीसरे दिन शाम को वह आया। खबर दी कि राह में खूब पानी गिरा। ठण्ड कड़ाके की पड़ रही थी। एक लड़के को यहीं से बुखार था। पानी और ठण्ड की मार से, घर पहुँचते ही उसके प्राण-पंछी पिंजड़ा खाली कर गये।

रघुनाथ ने सुना। बड़ी देर तक रोता रहा। उसकी नौकरी अभी भी नहीं लगी थी। इस समय जब उसकी स्त्री बेटे के मरण के दुख से तड़पती होगी, उसे लगा कि उसका दुख बँटाने के लिए उसे वहाँ होना चाहिए था। पर वह जाता भी कैसे?

रात को लगभग 8 बजे मुहल्ले में बड़ा हल्ला हुआ। मैं बरामदे में आकर बाहर खड़ा हुआ

तो सामने से रघुनाथ रोता-चिल्लाता आ रहा था। सिर से रक्त बहकर कुरते पर गिर रहा था।

नजदीक आया तो मैंने पूछा, ''क्यों? क्या हुआ? ये खून कैसे बह रहा है?''

वह रोते हुए बोला, ''गाड़ीवान ने मुझे लट्ठ से मारा।''

इतने में वह गाड़ीवाला भी आ गया। मैंने उससे पूछा, ''क्यों रे, तूने इसे क्यों मारा ?''

वह बोला, ''बाबूजी ये मेरा किराया नहीं देता।''

रघुनाथ बीच ही में बोला, ''मेरे पास कौड़ी तो है नहीं। इससे कहा, कोशिश कर रहा हूँ, मिलते ही पैसे चुका दूँगा। अभी तो मैं तीन दिन का भूखा हूँ। पेट में दाना नहीं पड़ा।'' वह फिर रोने लगा।

मुझे गाड़ीवान पर गुस्सा आया। कैसा कठोर हृदय है? तनिक भी इस गरीब पर दया नहीं।

मैंने क्रोध से कहा, ''क्यों रे, तुझे जरा भी सब्र नहीं? उस बेचारे के पास इस वक्त क्या धरा है? तुझे शर्म नहीं आयी? तूने उसका माथा फोड़ दिया।''

वह गाड़ीवान जरा आगे बढ़ा और एकाएक वह भी रो पड़ा। आँखों से आँसू गिरने लगे और वह हाथ जोड़कर बोला, ''बाबू साहब, मैं भी आदमी हूँ। मैं तो कभी उससे नहीं माँगता। पर भगवान की सौगन्ध से कहता हूँ, मैं भी तीन दिन से भूखा हूँ। और मेरे वे दोनों बैल भी तीन दिन से भूखे हैं। इसलिए गुस्सा आ गया था।''

मेरा सिर चकराने लगा। सामने वह भी खड़ा रो रहा था, जो पीटा गया था। वह भी रो रहा था, जिसने पीटा था।

किसी तीसरे ही प्रबल दुश्मन ने दोनों को मारा था।

यह रघुनाथ भी भूखा–तीन दिन से!

गाड़ीवान भी भूखा–तीन दिन से!

सब भूखे.....

शिक्षित इन्सान–भूखा!

अपढ़ गँवार भी–भूखा!

और पशु भी–भूखा!

सुबह उठा तो मालूम हुआ कि गाड़ीवान के उन दोनों बैलों ने रात को रस्सी तुड़ा ली और सेठ बदामीलाल के खेत की काँटों की बाड़ी तोड़कर घुस गये। खूब पेट भरकर अनाज और घास चरा। चौराहे पर बदामीलाल दोनों बैलों को लिये खड़ा था। काँजीहौस की धमकी दे रहा था।

दोनों बैल बैठे थे। चेहरे से तृप्ति झलक रही थी। पेट खूब भरे थे। आनन्द से जुगाली कर रहे थे।

दोनों बैल बैठे हँस रहे थे।
ये दोनों मनुष्य खड़े-खड़े रो रहे थे!

मैं नर्क से बोल रहा हूँ ![*]

हे पत्थर पूजने वालो! तुम्हें जिन्दा आदमी की बात सुनने का अभ्यास नहीं; इसलिए मैं मरकर बोल रहा हूँ। जीवित अवस्था में तुम जिसकी ओर आँख उठाकर नहीं देखते उसकी सड़ी लाश के पीछे जुलूस बनाकर चलते हो। जिंदगी भर तुम जिससे नफरत करते रहे उसकी कब्र पर चिराग जलाने जाते हो। मरते वक्त तक जिसे तुमने चुल्लू भर पानी नहीं दिया, उसके हाड़ गंगाजी ले जाते हो। अरे, तुम जीवन का तिरस्कार और मरण का सत्कार करते हो। इसीलिए मैं मरकर बोल रहा हूँ। मैं नर्क से बोल रहा हूँ।

मगर मुझे क्या पड़ी थी कि जिंदगी-भर बेजुबान रहकर, यहाँ नर्क के कोने से बोलता ! पर यहाँ एक बात ऐसी सुनी कि मुझ अभागे की मौत को लेकर तुम्हारे यहाँ के बड़े-बड़े लोगों में चखचख हो गयी। मैंने सुना कि तुम्हारे यहाँ के मंत्री ने संसद में कहा कि मेरी मौत भूख से नहीं हुई, मैंने आत्महत्या कर ली थी। मारा जाऊँ और खुद ही मौत का जिम्मेदार ठहराया जाऊँ? भूख से मरूँ और भूख को मेरे मारने का श्रेय न मिले? 'अन्न! अन्न' की पुकार करता मर जाऊँ और मेरे मरने के कारण में भी अन्न का नाम न आवे? लेकिन खैर, मैं यह सब भी बरदाश्त कर लेता। जिंदगी-भर तिरस्कार का स्वाद लेते-लेते सहानुभूति मुझे उसी प्रकार अरुचिकर हो गयी थी जिस प्रकार शहर के रहनेवाले को देहात का शुद्ध घी। लेकिन आज ही एक घटना और यहाँ इस लोक में घट गयी।

हुआ यह कि स्वर्ग और नर्क को जो दीवार अलग करती है, उसकी सेंध में से आज सवेरे मेरे कुत्ते ने मुझे देखा और 'कुर-कुर' करके प्यार जताने लगा। और मेरे आश्चर्य और क्षोभ का ठिकाना न रहा कि मैं यहाँ नर्क में और मेरा कुत्ता उस ओर स्वर्ग में! यह कुत्ता—मेरा बड़ा प्यारा कुत्ता; युधिष्ठिर के कुत्ते से अधिक! जबसे मेरी स्त्री एक धनी के साथ भाग गयी थी तभी से यह कुत्ता मेरा संगी रहा; ऐसा कि मरा भी साथ ही। कभी मुझे छोड़ा नहीं इसने। बगल का सेठ इसे पालना चाहता था, सेठानी तो इसे बेहद प्यार करती, पर यह मुझे छोड़कर गया नहीं, लुभाया नहीं। सो मुझे सुख ही हुआ कि वह स्वर्ग में आनन्द से है पर मेरे अपने प्रति किये गये अन्याय को तो भुलाया नहीं जा सकता। और भाई यह तुम्हारा मृत्युलोक तो है नहीं जहाँ फरियाद नहीं सुनी जाती; जहाँ फरियादी को ही दण्ड दिया जाता है; जहाँ लालफीते के कारण आग लगने के साल-भर बाद बुझाने का आर्डर आता है। यहाँ तो फरियाद तुरन्त सुनी जाती है। सो मैं भी भगवान के पास गया और प्रार्थना

---

[*] गणतंत्र दिवस, 1954

की, "हे भगवन्! पृथ्वी पर अन्याय भोगकर इस आशा से यहाँ आया कि न्याय मिलेगा, पर यह क्या कि मेरा कुत्ता तो स्वर्ग में और मैं नर्क में! जीवन-भर कोई बुरा काम नहीं किया। भूख से मर गया, पर चोरी नहीं की। किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। और यह कुत्ता—जैसे कुत्ता होता है वैसा ही तो है यह। कई बार आपका भोग खाते पिटा यह! और इसे आपने स्वर्ग में रख दिया।"

और भगवान ने एक बड़ी बही देखकर कहा कि इसमें लिखा है कि तुमने आत्महत्या की! मैंने कहा कि नहीं महाराज, मैं भूख से मरा। मैंने आत्महत्या नहीं की। पर वे बोले, "नहीं, तुम झूठ बोलते हो। तुम्हारे देश के अन्न-मंत्री ने लिखा है कि तुमने आत्महत्या की। तुम्हारे शरीर के पोस्टमार्टम से यह बात सिद्ध हुई है।" और भगवान आसमान से गिरते-गिरते बचे, जब मैंने कहा कि महाराज, यह रिपोर्ट झूठ है। मेरा पोस्टमार्टम हुआ ही नहीं। अरे मैं तो जला दिया गया था। इसके दस दिन बाद संसद में प्रश्नोत्तर हुए। तो क्या मेरी राख का पोस्टमार्टम हुआ? और तब मैंने उन्हें पूरा हाल सुनाया।

लो तुम भी सुनो। तुम नहीं जानते मैं कहाँ जिया, कहाँ रहा, कहाँ मरा? दुनिया इतनी बड़ी है कि कोई किसी का हिसाब नहीं रखता।

और तुम क्या जानो कि जब मेरी साँस चलती थी तब भी मैं जिंदा था। मैं इस अर्थ में जीवित था कि मैं रोज मृत्यु को टालता जाता था। वास्तव में तो मैं जन्म के पश्चात् एक क्षण ही जीवित रहा और दूसरे क्षण से मेरी मौत शुरू हो गयी। तो बाजार की उस अट्टालिका को तो जानते हो। उसी के पीछे एक ओर से पाखाना साफ करने का दरवाजा है और दूसरी ओर दीवार के सहारे मेरी छपरी। अट्टालिका का मालिक मेरी छपरी तोड़कर वहाँ भी अपना पाखाना बनाना चाहता था। अगर मैं मर न जाता तो गरीब आदमी की झोंपड़ी पर अमीर के पाखाने की विजय भी इन आँखों से देखता। अब तो तुम मेरा स्थान जान गये होगे—आदमी से अधिक तो तुम अट्टालिका को पहचानते हो। अट्टालिका के सहारे आदमी को जानना तो तुम्हें खूब आता है।

बस यहीं झोंपड़ी में रहा मैं। मेरे आसपास अन्न-ही-अन्न था। दीवाल के उस पार से जो चूहे आते वे दिन-पर-दिन मोटे होते जाते और दो रोज तक तो वे इसलिए नहीं आए कि निकलने का थोड़ा मार्ग बनाते रहे। पर मैं फिर भी भूखा रहा। बेकार था। अनाज दस रुपये सेर था। इससे तो मेरे लिए मौत सस्ती थी।

आखिर मेरी मौत भी आयी। जिस दिन आयी, उस दिन अट्टालिका के उस पार वाले रईस के लड़के की शादी थी। बड़ा अमीर था। सारा गाँव जानता था कि उसके पास हजारों बोरे अन्न था, पर कोई कुछ नहीं कहता था। पुलिस उसकी रक्षा करती थी। और उस दिन मेरी मौत धीरे-धीरे काला पंजा बढ़ाती आती थी। मेरे पेट में ऐंठ आयी; आँखें धुँधली पड़ीं। दीवाल के उस पार पकवानों की सुगन्ध आ रही थी। यही सन्तोष रहा कि पकवानों के बीच मेरी मौत हुई ।

मौत के ज़रा पहले मेरा प्यारा कुत्ता बरबस दीवाल के उस पार घुस गया और पकवान

खा गया। मालिक ने उसे खींचकर एक डण्डा मारा और वह कराहता हुआ मेरे पास आकर पड़ गया। चीखता रहा, चीखता रहा। मेरे भी प्राण निकल रहे थे। पर मुझे इस जानवर के सामने चीखने में लज्जा आयी। इधर मेरे पेट में आखिरी ऐंठ आयी और पंछी ने पिंजरा खाली किया, उधर मेरे कुत्ते की भी दम टूटी। डण्डे की चोट बड़े मर्म की थी। दोनों मरे; एक साथ मरे—फर्क इतना कि वह खाकर मरा और मैं बिना खाये।

उधर बारात उठी, इधर चाण्डालों ने टीन की गाड़ी में मुझे पटककर घसीटा। सड़क के उस ओर से अमीर के लड़के की बारात जा रही थी, इस ओर से मेरी यह सरकारी अर्थी। सरकार ने भोजन का प्रबन्ध नहीं किया था, पर मरनेवालों की लाशों को दफनाने का इन्तजाम बहुत अच्छा किया था। उधर बारात के पीछे मंगलगान हो रहा था। मेरी लाश के पीछे एक भी रोनेवाला नहीं था। ऐसी सफाई से मरा कि किसी को कष्ट न हुआ, कुत्ते तक को नहीं। बारात पहुँच गयी थी। गोले छूट रहे थे; और इधर अपर्याप्त लकड़ी में मेरी हड्डियाँ चटचटा रही थीं।

ऐसा मरा। और मरकर यहाँ जब आया तो मुझे कुछ दुख नहीं हुआ, जब मैं नर्क में भेज दिया गया। मैंने प्रतिवाद करना सीखा नहीं था और यह स्थान भी उससे ज्यादा खराब नहीं था जहाँ मैं जिंदगी-भर रह चुका था।

कहानी भगवान ने सुनी। बोले, "तुम भूख से मरे न? फिर भी तुम नर्क में रहोगे। और यह कुत्ता; स्वर्ग में रहेगा। और यह तुम्हारे बगल का कमरा उस झूठे मंत्री के लिए खाली होगा।"

मैंने पैर पकड़ लिये। बोला, "भगवन्, यह कैसा न्याय है।"

वे बोले, "मूर्ख कायर; तू कुत्ते से भी हीन है! बेचारा कुत्ता दीवाल को लाँघकर घुस गया और खाना खा आया। और तू आदमी कहलानेवाला, हाय-हाय करके मर गया। तू दीवाल लाँघ नहीं सकता था? दीवाल तोड़ नहीं सकता था?"

"लेकिन भगवन्!" मैंने कहा, "वह दीवाल कैसे तोड़ता? कैसे लाँघता? यह पाप न होता?"

भगवान ने क्रोध से कहा, "पाप-पुण्य के झमेले में पड़नेवाले कायर! वह दीवाल क्या मेरी बनायी हुई है? तमाम दीवालें आदमियों ने खड़ी की हैं? और तू उन्हें तोड़ने में पाप-पुण्य देखता है? मूर्ख! तेरा कुत्ता तुझसे ज्यादा समझदार है। वह घुस गया, खाया और डण्डे की मार से मरकर यहाँ आ गया। उसमें मनुष्यत्व है, तुझमें पशुत्व भी नहीं! मैंने तुम्हें बुद्धि दी है; हाथ-पैर दिए हैं, कार्यशक्ति दी है—और तू अकर्मण्य; बुजदिल कीड़े-सा मर गया। मनुष्यों ने मुझे बहुत निराश किया, अब मैं कुत्ते-ही-कुत्ते निर्माण करने का विचार कर रहा हूँ। तुम जैसे अकर्मण्य, कायर, भीरु, मूर्ख को नर्क नहीं तो क्या इन्द्रासन मिलेगा ?"

मैं नर्क में ढकेल दिया गया। और मैं इस कोने से तुमसे कह रहा हूँ कि हे मेरे देशवासियो ! मेरी जैसी मौत न मरना, मेरे कुत्ते की तरह मरना ।

ढपोलशंख मास्टर हो गये !*

'आदर्श शिक्षा समिति' की बात है!

समिति के सदस्य लाला घोंचूमल ने अध्यक्ष श्री पोंचूराम को पत्र लिखा—

अध्यक्ष महोदय,

विदित हो कि मेरा साला चि. ढपोलशंख इस साल बी. ए. पास हो गया है। विगत 4 वर्षों से यह फेल हो रहा था, पर इस वर्ष हमने प्रोफेसर चोंगाप्रसाद से नम्बर बढ़वाकर उसे पास करवा दिया है। यह यद्यपि मूर्ख है तथापि आपके साले से कम मूर्ख है। और आप जानते हैं, साले मूर्ख ही शोभा देते हैं। अब कोई जगह निकाल इसे हाईस्कूल का 'मास्टर-वास्टर' बनवा दीजिए।

आपका
—लाला घोंचूमल

अध्यक्ष का पत्र बड़े बाबू के नाम—

बड़े बाबू,

लाला घोंचूमल का साला बी. ए. पास हो गया है। हाईस्कूल में एक शिक्षक की जगह का विज्ञापन अखबारों में छपाओ।

—पोंचूराम।

बड़े बाबू का पत्र अध्यक्ष के नाम—

सर,

हाईस्कूल में कोई जगह खाली नहीं है। हाल ही में बाबू पोंगाराम के पुत्र तथा भाई घोंघाराम के भतीजे को जगह दी गयी है। अब तो स्कूल में 4 शिक्षक ज्यादा हो गए हैं। आदेश की प्रतीक्षा में…

—हेड क्लर्क।

अध्यक्ष का पत्र बड़े बाबू के नाम—

हेड क्लर्क,

ढपोलशंख को नौकरी दिलाना ही है। वह ऊँचे दर्जे का मूर्ख है। अगर उसे यहाँ जगह नहीं दी गयी तो दुनिया में कहीं जगह नहीं मिलेगी। अगर मेम्बरों के लड़के, साले वगैरह यहीं नौकरी नहीं पा सकते तो उनके मेम्बरों के बेटे और साले होने से क्या लाभ ? वे क्या किसी बाबू, या मास्टर या लेखक या पत्रकार के बेटे या साले नहीं हो सकते ? मेरे रहते यह अन्याय नहीं होगा। नयी जगह बनायी जाए।

—पोंचूराम

---

* प्रहरी, 29 अगस्त, 1954

विज्ञापन छपा और हाईस्कूल के मास्टर की जगह के लिए 150 आवेदन-पत्र आए। इनमें से 15 को साक्षात्कार के लिए बुलाया गया।

साक्षात्कार समिति में अध्यक्ष पोंचूराम तथा तीन व्यक्ति थे। 15 उम्मीदवारों में 14 अच्छे योग्य व्यक्ति थे और एक अपने ढपोलशंख बी. ए. थे।

14 में से एक के बाद एक उम्मीदवार आते गए और सवाल कुछ इस तरह के किए गए—

'कामायनी और साकेत का आप अँगरेजी में अनुवाद कर सकते हैं?'

'तुलसीदास की पत्नी रत्नावली कौन-कौन-से आभूषण पहनती थी?'

प्रश्नों को सुनकर जब वे बुद्धिमान उम्मीदवार अचकचाकर रह जाते तो पोंचूराम मेम्बरों से कहते— बड़ा कमजोर लड़का है। साधारण-सी बात नहीं जानता। रिजेक्टेड!

अब ढपोलशंख आए।

वार्तालाप का कुछ यों क्रम चला—

पोंचूराम—आओ बेटा ढपोलशंख, अच्छे तो हो?

ढ.—अच्छा हूँ।

पों.—अम्मा तो मजे में हैं?

ढ.—वे तो मर गयीं न?

पों.—कब? झूठ बोलता है, बदमाश!

ढ.—आप ही ने तो कहा था।

पों.—अरे, वे तो मेरी अम्मा मर गयी थी। मैं तो तुम्हारी अम्मा की बात पूछ रहा हूँ।

ढ.—मैं समझा। आप अपनी अम्मा की पूछ रहे हैं। मेरी अम्मा तो मजे में है।

पों.—बहुत अच्छी बात है। अच्छा आज सवेरे तुमने क्या खाया था?

ढ.—दाल-भात, रोटी-साग ।

पों.—शाबाश!

फिर पोंचूराम ने सदस्यों से कहा, ''कैसा तेज लड़का है!'' बस ढपोलशंख मास्टर हो गए।

☯

पहला पापी*

तब की बात है, जब मानव-सभ्यता वन्य-जीवन से बाहर नहीं निकली थी। मनुष्य पर्वत-कन्दराओं में निवास करता था, वृक्षों के पत्ते तन पर लपेटता था और वन के बहुत कंद-मूल-फल खाता था। प्रातःकाल वह वन-प्रदेश में फल बटोरने निकल पड़ता। सुबह बटोरता, दोपहर को खाता; दोपहर को बटोरता, शाम को खाता। प्रकृति के विस्तृत वैभव पर उसका सामूहिक अधिकार था, वृक्षों के फल वह स्वतंत्रता से खाता, नदियों के ज़ल में स्वच्छंद अवगाहन करता, चंद्रमा की ज्योत्स्ना का उसे बँटवारा नहीं करना पड़ता था, पवन ने डिब्बों में बन्द होना स्वीकार नहीं किया था, सूर्य की रश्मियाँ भेद नहीं मानती थीं, पक्षियों की चहक का क्रय-विक्रय नहीं होता था, पुष्पों ने किसी के लिए खिलना और किसी के लिए बन्द होना नहीं सीखा था। प्रकृति में तो यह भेद कभी नहीं उपजा।

मनुष्य दिन-भर भोजन बटोरता था और रात को खाकर चैन से सोता था। श्रम और भोग का यह संबंध इतना प्रकृत और स्पष्ट था कि कहीं कोई उलझन नहीं थी।

परन्तु एक दिन उस आदिम समाज के एक व्यक्ति के सामने बड़ी उलझन उपस्थित हुई। वह रात को अपनी गुफा में सो रहा था कि उसे अचानक पास ही की गुफा से किसी साथी की कराह सुनायी दी; वह उठा और उस गुफा में पहुँचा। तिरछे चाँद की किरणें गुफा में झाँककर उसे आलोकित कर रही थीं। उसने देखा कि उसका वह पड़ोसी, जो दिन-भर उसके साथ भोजन बटोरता रहा, अब पेट पर हाथ रखकर कराह रहा है। उसके मुख पर गहरी कालिमा छा गयी थी और नेत्रों से जल बह रहा था।

दूसरा मनुष्य उसे बड़ी देर तक ध्यान से देखता रहा। उसे बड़ा कुतूहल हो रहा था। वेदना के संकेत तब उसके लिए नए ही थे। पहले वह उसके क्रन्दन को क्रीड़ा-कौतुक ही समझता रहा। फिर उसे उसकी पीड़ा समझ में आयी और तब उसके हृदय में एक अपूर्व भाव आया। एक विचित्र प्रेरणा उसके मन में उदित हुई। एक अज्ञात शक्ति उसे उस पीड़ित मनुष्य की ओर खींचने लगी। उसे उन भावों की पहली बार अनुभूति हुई, जिन्हें हजारों साल बाद उसने 'संवेदना' और 'करुणा' जैसे नाम दिए।

वह उस बीमार के पास बैठ गया और उसके सिर को हाथ से सहलाने लगा। वह जान नहीं सका कि इससे उस बीमार को आराम मिला या नहीं, पर स्वयं उसे बड़े सुख और संतोष का अनुभव हुआ। वह उठकर बाहर गया और एक पत्ते में जल लाकर उसके मुख में डाला। फिर उसका पेट धीरे-धीरे दबाने लगा।

रोगी की पीड़ा कुछ कम हुई, पर आँसू बढ़ गए। पीड़ा के आँसुओं को उसने जीत लिया था, पर अब सहानुभूति की आँच से उसका मन पिघलकर बह रहा था। उसकी आँखों में भी आँसू आ गए। उसकी कराह के साथ अनजाने ही इसके हृदय के स्पन्दन की गति

---

* जून, 1956

मिलने लगी। उसे ऐसा लगा मानो उसका अस्तित्व तिरोहित हो गया है, वह जैसे बीमार में समाहित हो गया है और उसके अपने पेट में पीड़ा हो रही है। कुछ देर वह इसी प्रकार मंत्रमुग्ध-सा बैठा रहा।

फिर उसने गुफा में चारों ओर दृष्टि डाली। एक कोने में उसे वे फल दिखे, जिन्हें वह आदमी बटोर तो लाया था, पर खा नहीं सका था। उन्हें देखते ही वह बीमार के पास से उठा और फलों के ढेर के पास खड़ा हो गया। उसे अचरज हुआ कि न जाने किस शक्ति ने उसे रोगी के पास से हटाकर रोगी के उन फलों के पास ला खड़ा किया।

बीमार की आँखों से अभी भी आँसू निकल रहे थे। उसने फलों को देखने के लिए अपने आँसू सुखा लिये थे। वह कुछ देर फलों के पास खड़ा रहा। फिर बीमार के पास आकर बैठ गया। वह बार-बार बीमार के मुख पर दृष्टि लगाना चाहता, पर हर बार उसकी दृष्टि उचटकर फलों पर जा पड़ती। उसने सिर सहलाने के लिए हाथ बढ़ाया, पर उसका हाथ रुक गया, पेट दबाने के लिए हाथ बढ़ाया, पर किसी ने उसका हाथ पीछे खींच लिया। उसने आँखों में पहले जैसे ही आँसू लाने का प्रयत्न किया, पर उसके नेत्र सूखे ही रहे। वह गुफा में सर्वत्र देखना चाहता था, पर आँखें आकर फलों पर अटक जातीं।

उसके हृदय में एक अजब संघर्ष मच गया। उसे बड़ी बेचैनी लगी और वह गुफा के द्वार पर आकर बैठ गया। चन्द्र की निर्मल ज्योत्स्ना में उसने दृष्टि नहलायी, सरोवर के नीले जल को देखा, सोते हुए पेड़-पौधों पर नजर दौड़ायी, पर ये सब उसे बदले हुए लगे। चाँदनी में उसे फ़लों की आकृति दिखी, जल में फल उतराते दिखे, और पेड़ों में वही फल अटके दिखे। उसने एक बार फिर रोगी के बारे में सोचना चाहा, पर रोगी के फल ही उसके ध्यान में आए। धीरे-धीरे उसके मन से उसका साथी एकदम निकल गया और वहाँ वे फल जम गये।

वह भीतर आया। उन फलों के पास जाकर खड़ा हो गया। अपने आप बोला—'बड़े अच्छे फल हैं। एक दिन का भोजन है। यदि ये सब मेरे हो जावें, तो कितना अच्छा ?' मन में ही प्रश्न उठा—'पर मेरे कैसे हो सकते हैं? ये तो उसके हैं?' यह प्रश्न बड़ी देर मन में गूँजता रहा और उसे परेशान करता रहा। वन के फलों को वह स्वतंत्रतापूर्वक तोड़ता-खाता था। वे किसी के नहीं थे, इसलिए सबके थे। पर एक मनुष्य के बटोरे हुए फल दूसरे के हो जावें, यह परिपाटी तब आरम्भ नहीं हुई थी। व्यक्ति के अधिकार की यह मर्यादा वह मानता था। उसने विचार किया—वह वन के पत्थरों के सामने ही फल तोड़कर ले आता है, पर मनुष्य के सामने से उठाकर नहीं ले जाता। क्या अन्तर है? पत्थर की साँस नहीं चलती, उसकी वाणी नहीं है, उसमें गति नहीं है। इसीलिए वे वृक्ष पर के फल पत्थर के नहीं हैं, तभी हमारे हैं। जो एक का नहीं है, वह दूसरे का हो सकता है। इस प्रकार की विचार-पद्धति उसके मन में बँधी और वह सोचने लगा—यदि यह आदमी भी पत्थर हो जावे, तो मैं यह फल ले सकता हूँ।

वह गुफा के द्वार पर बैठकर सोचने लगा—वह पत्थर कैसे हो सकता है? वह रोगी

की कराह सुनता रहा। थोड़ी देर में कराह बन्द हो गयी। उसे वह आदमी पत्थर होता हुआ लगा। उसने चाहा कि वह तुरन्त पत्थर हो जाए। पर उसकी साँस अभी भी चल रही थी। वह उसकी साँसें गिनता रहा, साँस का सिलसिला टूटने की राह देखता रहा। हर साँस जब निकलकर लौटती, तब उसे बड़ा दुख होता।

प्रभात होने में बहुत देर न थी। उसकी अधीरता बढ़ती जाती थी। वह भीतर गया और रोगी को हिलाया-डुलाया। वह कुछ बोला नहीं। पर उसकी साँस का क्रम नहीं टूटा था। वह अभी तक पत्थर नहीं हुआ था। उसने फिर सोचा–'पत्थर, पत्थर है, क्योंकि उसकी साँस नहीं चलती। इसकी साँस बन्द हो जाए, तो यह भी पत्थर हो जाए। फिर मैं ही इसकी साँस क्यों नहीं बन्द कर दूँ?'

उसने ध्यान से साँसों के रास्तों को देखा। नाक और मुँह के सामने हाथ रखा। यही दो साँस के द्वार थे। उसने दोनों द्वारों को हाथों से बन्द कर दिया। रोगी तनिक छटपटाया और फिर निस्पन्द हो गया। इसने नाक के पास हाथ रखकर देखा, साँस अब बन्द हो गयी थी। उसे हिलाया। वह पत्थर-जैसा ही हिला और छोड़ देने पर पत्थर-जैसा ही स्थिर हो गया। जिसके वे फल थे, वह वहाँ नहीं रहा था। जीवित मनुष्य ने बड़ी प्रसन्नता से वे फल उठाये और अपनी गुफा में लाकर रख लिये।

सूर्य निकला। आसपास की गुफाओं से मनुष्य भोजन बटोरने निकल पड़े। पर यह मनुष्य गुफा के द्वार पर बैठा निश्चिन्तता से धूप ले रहा था, पत्तों से शरीर का शृंगार कर रहा था और भैंसे के सींग का बाजा बजा रहा था। श्रम के समय शृंगार और संगीत देखकर उसके साथियों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने संकेत से पूछा, "आज फल बटोरने नहीं जाओगे? आज खाओगे नहीं?"

वह हँसा। उसने उन्हें गुफा के द्वार पर ले जाकर खड़ा किया और अँगुली से फलों के ढेर की ओर संकेत किया।

वे सब बड़े चकित हुए। रोज लाना और रोज खाना, उनका नियम था। संचय करना उन्हें नहीं आता था। सुबह किसी गुफा में उन्होंने फलों का ढेर कभी नहीं देखा था।

वे परिश्रम करने चले गए और यह बैठा बाजा बजाता रहा।

उसके संचय की बात सब लोगों में फैल गयी। पास की गुफावाले मनुष्य के पाँव में काँटा गड़ गया था। वह सुबह भोजन बटोरने नहीं जा सकता था। वह इस आदमी के पास आया और कुछ फल माँगे। इसने कुछ देर विचार किया और उससे कहा, "ले जा। पर शाम को दुगने फल लूँगा।"

दूसरा आदमी विवश था। वह इसी शर्त पर ले गया। दोपहर को उसके पाँव की पीड़ा कम हुई, तो वह फल तोड़ने गया। उसे उस दिन तिगुना श्रम करना पड़ा। सन्ध्या समय उसने दुगने फल लाकर लौटा दिये। बिना श्रम के मिले हुए फल पाकर उसे गर्व का अनुभव हुआ।

उस रात उसने वही फल खाये, जिन्हें उसने नहीं बटोरा था; जो इसीलिए मिल गए

थे कि किसी के पाँव में काँटा गड़ गया था; जो इसीलिए प्राप्त हो गये थे कि एक आदमी को उसने पत्थर बनाया था। उस रात उसने वही फल खाये, जिनके लिए उसने परिश्रम नहीं किया था, जिन पर दूसरे मनुष्य के परिश्रम के स्वेद-बिन्दु लगे थे। उस रात उसने वही फल खाये, जो दो मनुष्यों के अमंगल के हाथों के द्वारा उसे प्राप्त हुए थे।

उसने भर-पेट उन्हें खाकर पेट पर हाथ फेरा और प्रसन्नता से आकाश में निर्मल चाँद की ओर देखा।

कहते हैं, उसकी दृष्टि पड़ते ही चाँद में एकदम काला धब्बा पड़ गया।

उस दिन संसार में पाप का उदय हुआ; वह संसार का पहला पापी था।

तीन सयाने*

एक गाँव में तीन सयाने रहते थे। लोग कहते थे कि गाँववालों की घोर तपस्या के फलस्वरूप उन्हें ये तीन सयाने मिले थे। वे वहाँ कब से थे, कोई नहीं जानता था। अनेक पीढ़ियाँ उन्हें उसी रूप में देखती आ रही थीं। गाँव की सुख-समृद्धि के कारण वे ही कहे जाते थे।

उनमें एक स्त्री थी : और दो पुरुष।

स्त्री का नाम था–'कला।'

शुभ्र वस्त्रों से सज्जित, सौम्य रूपवाली इस नारी के नयनों से सरल स्नेह झरता था, मंगल की वर्षा होती थी। उसकी दृष्टि पड़ते ही कुसुम खिल जाते, पत्ते लहराने लगते, उषा का सौंदर्य बढ़ जाता; संध्या में अधिक गाढ़ा रंग भर जाता और चंद्रिका अधिक स्निग्ध, अधिक उज्ज्वल हो जाती। प्रातःकाल वीणा पर भैरवी के स्वर छेड़कर वह ग्रामवासियों को जगाती। उनकी आँख मधुर संगीत के बीच खुलती। संगीत की धुन पर कदम बढ़ाते, गीत गाते, ग्रामीण जन काम पर जाते और जब वे काम करते, तो समस्त दिशाओं से संगीत उठता और उसकी ताल पर हँसिए चलते, करघे खटखटाते, हथौड़े गिरते और चरखे घूमते। संध्या समय कला, नृत्य, गान और नाट्य से ग्रामवासियों का समस्त श्रम हर लेती। अद्भुत आनन्द, उत्साह, आशा और माधुर्य का स्रोत उस ग्राम में बहता।

दूसरा था एक वृद्ध पुरुष–'धर्म।'

श्वेत लम्बी दाढ़ी और लम्बे गेरुए कोपीन में वह दिव्य लगता। उसकी दृष्टि में बड़ी पवित्रता, बड़ी करुणा, बड़ा वात्सल्य, बड़ी संवेदना थी। वह भ्रातृत्व, स्नेह, त्याग और परोपकार की ओर ग्रामवासियों को प्रेरित करता। वह उन्हें सत्-असत् का बोध कराता, उलझनें हल करता, द्वंद्वों को सुलझाता। उसके प्रभाव से ग्रामवासी ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और प्रतिहिंसा से मुक्त हो गये थे।

---

* जून, 1956

तीसरा एक बलिष्ठ पुरुष था—'विज्ञान।'

अद्भुत बल और सिद्धियों से युक्त यह पुरुष अन्धा था। वह स्वयं मार्ग नहीं देख सकता था, इसलिए वह कला और धर्म का अनुगामी था। उसके मन में इच्छा जाग्रत नहीं होती थी। वह सदैव दूसरे की इच्छा से परिचालित होता था। उसके पास अद्भुत मंत्र थे। संध्या समय वह एक मंत्र से सारे गाँव को जगमगा देता। मंत्रों से मनुष्य पक्षी-सा उड़ता, दिव्य दृष्टि प्राप्त कर सहस्रों योजनों के दृश्य देखता, सहस्रों योजनों के शब्द सुनता। वह ग्रामवासियों को सुख-साधन देता, उनका श्रम कम करता, अच्छे औजार देता।

ये तीनों गाँव में विचरण करते और उनके दर्शन-मात्र से ग्रामवासी उल्लसित हो उठते। उनकी आज्ञा सारा गाँव मानता। लोग किसी अन्य देवता या भगवान को नहीं जानते थे। वह सुखी गाँव स्वर्ग से भी श्रेष्ठ था, क्योंकि देवताओं जैसी निष्क्रियता, ईर्ष्या, द्वेष और शंका वहाँ न थी। सब श्रम करते और सब सुखी रहते।

एक दिन इन सयानों के पास एक रूपवती तरुणी आयी। उसका नाम था—'राजनीति।' उसके वस्त्र चटकदार थे। साज-सज्जा में बड़ा तीव्र आकर्षण था। वेशभूषा में कृत्रिमता और भड़कीलापन था। आँखों में मद, गति में अल्हड़ता और मुख पर उत्कट लालसा थी। उसके समस्त व्यक्तित्व से मद, लालसा, विलास और सत्ता टपकते थे।

उसने उन तीनों सयानों को प्रणाम किया और बोली, ''दिव्य आत्माओ, मैं आप लोगों का यश सुनकर आपके पास आयी हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं आपके साथ रहकर आप लोगों की सेवा करूँ।''

धर्म ने कहा, ''देवी, हम सब मनुष्य के सेवक हैं, और जो सेवक हैं, वे दूसरों से क्या सेवा लें?''

राजनीति ने कहा, ''तो मैं भी आपके साथ ही ग्रामवासियों की सेवा करूँगी। मेरे पास भी कुछ विद्या है। मैं व्यवस्था देती हूँ। नीति-नियम बनाती हूँ, राजतंत्र जानती हूँ।''

धर्म ने कहा, ''सो यहाँ कौन नहीं जानता? श्रम करके जीना और दूसरे का मंगल साधना, इसके बाहर क्या व्यवस्था? और क्या नीति-नियम?''

कला ने कहा, ''परन्तु बहन, तुम सेवा के लिए नहीं बनीं। तुम्हारे नयनों में लालसा है। चाल में मद और सत्ता है, भाव-भंगिमा में चंचलता है, कटाक्ष में कुटिलता है, वाणी में प्रवंचना है। तुम सुख-भोग के लिए बनी हो। सेवा तो त्याग का मार्ग है। तुम तो किसी ऐश्वर्यशाली के हृदय पर राज करने के लिए बनी हो। तुम सेवा में मिट नहीं सकतीं।''

विज्ञान ने कहा, ''मैं देख नहीं सकता, पर अनुभव कर रहा हूँ कि इसकी वाणी में बड़ी माया है। नहीं देवि, हमारा तुम्हारा साथ नहीं बनेगा।''

राजनीति ने अब रुदन का नाट्य किया। उसकी आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे। सिसकियाँ उठने लगीं। वह बोली, ''मेरे जीवन की एकमात्र अभिलाषा थी, वह भी पूरी नहीं हो रही है। मैं केवल सेवा का अधिकार माँगती हूँ, पर देखती हूँ कि आप लोगों ने सेवा को भी सम्पत्ति बना लिया है। एकाधिकार स्थापित कर लिया है।''

धर्म ने कहा, ''तू भ्रम में है देवी! सेवा के मार्ग का आदि-अंत नहीं है। इस पर किसी का अधिकार नहीं है। इसमें संघर्ष भी नहीं है। पर इस पर फूल नहीं बिछे हैं। काँटे अलबत्ता मिलते हैं। तेरे कोमल चरणों को देखकर हमने कहा था कि कहीं सेवा का मार्ग तेरे इन कोमल चरणों के रक्त से न भर जाय। तू सह सकेगी? तो फिर रह जा।''

दूसरे दिन से ग्राम में कला, धर्म और विज्ञान के पीछे राजनीति भी चलने लगी। पर वह आँख बचाकर ग्रामीणों को कटाक्ष से वशीभूत करने का प्रयास करती। रूप के जादू से उन्हें विजित करना चाहती।

उसमें महत्त्वाकांक्षा थी, वैभव की लालसा थी, भोग का लोभ था, सत्ता का मोह था। उसे लगा कि इतनी रूपवती होकर भी उसकी स्थिति इन तीनों की अनुगामिनी सेविका से अधिक कुछ नहीं है।

उसने धीरे-धीरे प्रपंच रचना आरम्भ किया। रूप की मोहनी डाली। ग्रामवासियों की कृपा प्राप्त की, और एक दिन वह रानी बन गयी ।

तीन सयानों ने समाचार सुना, तो बोले, ''वह रानी बन गयी! अच्छा ही हुआ। पर हमें पहली बार ज्ञात हुआ कि यहाँ कोई राजसत्ता भी है।''

दिन बीतते गये। राजनीति रानी महल में रहती। पर उसके अधिकारों की परिधि राजमहल से बाहर नहीं जाती। धर्म, कला और विज्ञान के सामने उसका वही हाल था, जो सूर्य के उदय के समय हत्तेज चन्द्र का होता है।

उसने फिर कूटनीति का प्रयोग किया। एक दिन एक दूत आकर तीन सयानों से बोला, ''महात्मन्, राजरानी ने आपको महल में आमंत्रित किया है। वे आपका अभिनन्दन करना चाहती हैं।''

कला ने कहा, ''भाई, हम तो जन-पथ पर विचरण करनेवाले हैं। हमें राजमहल से क्या काम? फिर हम सेवा-व्रती हैं, और सेवा स्वयं ही बड़ा अभिनन्दन है।''

दूत ने कहा, ''रानीजी आपकी पुरानी सेविका हैं। उनकी करबद्ध प्रार्थना है कि आप चरण-रज से उनके महल को पवित्र करें।''

धर्म ने कला से कहा, ''देवि, सेवक का आग्रह टाला नहीं जाता। चलो चलें।''

धर्म, कला और विज्ञान राजमहल में गये। वहाँ राजनीति का षड्यंत्र तैयार था। वे तीनों बन्दी कर लिये गये और एक दृढ़, किन्तु सुख-साधन-सम्पन्न कारावास में बंद कर दिए गए।

उस दिन से धर्म, कला और विज्ञान राजमहल में राजनीति के बंदी हो गए। बाहर जन-समाज अकुलाया, अधीर हुआ। वे तीनों उसके पथ-प्रदर्शक थे। साँस की तरह उनके जीवन के आधार थे। उनके प्राणों के प्राण थे। ग्रामवासी राजमहल के सामने एकत्र हुए और चिल्लाये–

''हमारी कला को मुक्त करो!''

''हमारा धर्म हमें दो!!''

''हमारा विज्ञान हमें लौटाओ!!!''

राजनीति महल के छज्जे पर आ गयी और बोली, ''नागरिको, मैं भी उन सयानों की सेविका हूँ। मैंने सबके हित की बात ही की है। कला, धर्म और विज्ञान को मैंने बड़े आराम से अतिथि के रूप में राजमहल में रखा है। जन-पथों पर चलते-चलते वे थक गए हैं; कुछ दिन विश्राम करेंगे तो क्लान्ति मिट जाएगी।''

भीड़ भ्रमित-सी लौट गयी।

दूसरे दिन फिर जन-समूह वहाँ एकत्र हुआ। लोग चिल्लाए, ''हमने अपनी कला की वाणी नहीं सुनी। हमने धर्म के दर्शन नहीं किये, हमने विज्ञान नहीं देखा। हमारा जीवन रिक्त मालूम होता है। हमारे देवता हमें लौटाओ।'' राजनीति ने कहा, ''नागरिको, वे विश्राम कर रहे हैं। उन्हें कष्ट मत दो। तुम्हें उनकी वाणी, उनका सन्देश राजसेवक सुनाएँगे।''

और राजसेवकों ने कला की वाणी सुनायी—गीत, जिसमें वासना, निराशा, अहंकार, शून्य कल्पना, पराजित भावना।

धर्म का संदेश सुनाया—जिसमें पाखण्ड, आडम्बर, स्वार्थ, घृणा और अहंकार।

विज्ञान का संदेश कहा—वीरता के नाम पर विध्वंस, प्रतिहिंसा, संहार।

जनसमूह असंतुष्ट हुआ। वह चिल्लाया, ''यह हमारी कला की वाणी नहीं है। हमारे धर्म ने ऐसा कभी नहीं कहा। हमारे विज्ञान ने विध्वंस कभी नहीं सिखाया। हमारी सच्ची कला हमें दो। हमारा वास्तविक धर्म हमारे बीच आने दो। हमारा सच्चा विज्ञान मुक्त करो।''

रानी उस पुकार को अनसुनी करके चली गयी।

इधर कारावास में धर्म ने विज्ञान से कहा, ''भाई, तुम इतने बलशाली हो। तुम तो एक मंत्र से कारागार को ध्वस्त कर सकते हो।''

विज्ञान ने उत्तर दिया, ''महात्मन्, मैं तो शापित शक्ति हूँ। मैं स्वयं में शून्य हूँ। निष्क्रिय हूँ। जिसका मुझ पर अधिकार होता है, उसी की इच्छा से परिचालित होता हूँ। पहले आप लोगों के अधिकार में था और अब दुष्टा राजनीति के अधिकार में हूँ। इसीलिए उसी की इच्छा से चलूँगा।''

राजनीति ने अपनी योजना चालू रखी। उसने समाज की स्वतंत्र चिन्ता को समाप्त किया। उसमें निष्क्रियता, भोग-लालसा भरी। निराशा में आनन्द लेना सिखाया। देशभक्ति के नाम पर प्रतिहिंसा और घृणा सिखायी। हत्या को वीरता बताया। स्वार्थ और लोभ को मनुष्यता बताया।

एक दिन उसने ग्रामवासियों से कहा, ''तुम्हारा जीवन अत्यंत दरिद्र है। जिसे तुम संतोष कहते हो, वह तुम्हारी पराजित भावना है। जिसे त्याग कहते हो, वह तुम्हारी असमर्थता है। जिसे शान्ति कहते हो, वह तुम्हारी निष्क्रियता है। देखो, उस पास के ग्राम में सोने की खानें हैं। वहाँ के निवासियों के घरों में सोना भरा है। तुम आक्रमण करो, उसे विजित करो और सब स्वर्ण लाकर अपने घरों में भर लो।''

लोगों ने कहा, ''परन्तु दूसरे का भाग छीनना तो उचित नहीं है।''

राजनीति ने कहा, ''तुम मूर्ख हो। वह किसका भाग है? जो छीन सके, उसी का भाग होता है। छीनो, नहीं तो जो तुम्हारे पास है, वह भी कोई छीन लेगा।''

भ्रमित भीड़ ने पूछा, ''पर उस ग्राम के वासी बड़े शक्तिवान हैं। उन्हें हम कैसे जीत पावेंगे?''

राजनीति ने कहा, ''हमारे हाथ में विज्ञान है। उसके एक मंत्र से सारा गाँव नष्ट हो जावेगा।''

दुविधा-भरे ग्रामवासी मैदान में एकत्र हुए। कुछ कहते, 'यह अनुचित है।' कुछ कहते, 'हम तो कुछ समझने-बूझने लायक रह ही नहीं गए। हमें कुछ नहीं सूझता। अब तो जहाँ वह ले जाय, वहीं जाना होगा।'

राजनीति ने विज्ञान का मुख उस ग्राम की ओर करके आदेश दिया, ''विध्वंस का मंत्र पढ़ो!''

विज्ञान ने विध्वंस-मंत्र पढ़ा और उस ग्राम पर अग्नि की बरसा हुई, तप्त लौह बरसा, शूल बरसे। ग्रामवासी जब वहाँ पहुँचे तो उन्होंने अग्नि में तपे हुए सोने की दमक के ऊपर मानव-रक्त का लेप देखा। सर्वत्र चीत्कार सुनायी पड़ा। शव, कटे सिर, धड़, भूमि पर बिखरे दिखे। स्वर्णराशि और मानव-रक्त एक साथ देखकर उसके मन में फिर द्वंद्व आरम्भ हुआ।

वे बहुत क्षुब्ध मन से वहाँ से लौटे। दो-चार मुखिया उस कारावास के पीछे की ओर गये, जिसमें धर्म, कला और विज्ञान बंदी थे। वहाँ उन्होंने उनकी एक झलक देखी। ग्रामीणों को देखकर वे खिड़की के पास आये। ग्रामीणजनों ने सारी घटना बतलाकर कहा, ''महात्माओ, हमें बताओ हम क्या करें? वहाँ रक्त की नदी बह रही है। क्रन्दन से आकाश भर गया है। पर वह सारा स्वर्ण हमारा हो गया है! क्या हम ले आवें? क्या यह उचित हुआ?''

कला और धर्म ने कहा, ''तुम सब हिंसक पशु हो गये हो। स्वर्ण को मनुष्य-जीवन से तौलने लगे हो। तुम मनुष्य के शव पर हेम-मंदिर निर्मित करने लगे हो। तुम धरा को जल के बदले मानव-रक्त से सींचने लगे हो। तुम कैसे हो गये हो?''

ग्रामीण बोले, ''देव, हम स्वयं नहीं जानते हम कैसे हो गये हैं? हमें अपने स्वरूप का ज्ञान ही नहीं रहा। हम यह भी भूल गए कि हम क्या थे? हमें आप लोग मार्ग समझाइए, आप बाहर आइए।''

''पर हम तो बंदी हैं।'' कला ने कहा।

वे बोले, ''आप अलौकिक शक्ति-संपन्न हैं। यह कारागार आपके लिए तृण के समान है। आप में अतुल शक्ति है।''

धर्म और कला ने कहा, ''तुम भूलते हो। यथार्थ शक्ति तो तुम्हारे पास है। तुम्हारे पास जन-शक्ति का समुद्र है। हम तो उसमें उठनेवाली तरंगें मात्र हैं। तुम क्षुब्ध हो जाओ, आंदोलित हो जाओ, तुम अजेय हो जाओगे। पर अभी तो तुम भी बंदी हो। हम भी बंदी

हैं। हम कारावास के भीतर बंदी हैं, तुम कारावास के बाहर बंदी हो। हमारा केवल शरीर बंदी है, तुम्हारा केवल शरीर मुक्त है। तुम्हारे चिंतन, विचार, भावनाएँ, विश्वास, श्रद्धा—सबके पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हैं। पहले तुम मुक्त हो जाओ, फिर हमें मुक्त करना।''

ग्रामीणों ने विस्फारित नेत्रों से सयानों की ओर देखा और बोले, ''तो हम क्या करें ? कैसे मुक्त हों?''

सयानों ने कहा, ''खून से धोया हुआ स्वर्ण कदापि ग्रहणीय नहीं है। जिसने तुम्हें बर्बर बना दिया है और जिसने उस ग्राम के निवासियों का संहार करा दिया है, उसने तुम्हें असहाय पशु की तरह बाँध रखा है। स्वर्ण लूटने जानेवाली भीड़ को राजमहल की ओर मोड़ो और सबसे पहले उस दुष्टा राजशक्ति पर आधिपत्य प्राप्त करो। तब तुम मुक्त हो जाओगे।''

ग्रामीण चले गए। और उस दिन संध्या को ग्राम का समस्त जन-समाज मुक्ति के गाने गाता हुआ, मानवता का जयघोष करता हुआ, राजमहल के सामने एकत्र हुआ।

राजनीति ने जन-शक्ति के इस प्रबल प्रवाह को देखा, तो उसके पाँव काँपे, पर उसने अन्तिम कुटिल प्रयास किया। उसने लोभ दिखाया, क्षमा-याचना की, झूठी प्रतिज्ञा की, रोयी, गिड़गिड़ायी, पर अन्त में अपने ही द्वारा निर्मित प्रासाद में वह बंदिनी हुई।

कारागार के द्वार टूटे और बाहर जन-पथ पर आये—मनुष्य की सच्ची कला, धर्म और विज्ञान!

खाली मकान*

सावित्री देवी की यह मजबूरी ही थी कि वे 'वकीलन' कहलाती थीं। यह मजबूरी हिंदी व्याकरण के उन निगोड़े नियमों का परिणाम थी, जिनके अनुसार सेठ से शादी होते ही स्त्री, 'सिठानी' कहलाने लगती है और पण्डित की पत्नी बेकसूर 'पण्डिताइन' बन जाती है। ये नियम न होते तो सावित्री देवी वकील साहब को ही 'सत्यवान' कहलवा लेती—ऐसी प्रबला अबला थीं वे।

वकील साहब की आमदनी खूब थी। वे एक बड़े बँगले में रहते थे, जिसके भीतर सावित्री देवी का अखण्ड राज था। पहले वकील साहब बँगले के एक कमरे में ही बैठते थे, वहीं उनका दफ्तर था। उसी के पास के कमरे में वकीलन पूजा करती थीं। 2-3 घण्टे सुबह खूब जोर से स्तुति गातीं और शंख-घड़ियाल बजातीं। वही समय वकील साहब का मुवक्किलों से मिलने का था। जब उन्होंने देखा कि वकीलन के परोक्ष भगवान की स्तुति के स्वरों में उनके इन प्रत्यक्ष देवताओं का स्वर डूबने लगा है, तब उन्होंने फाटक के पास ही दफ्तर बनवाया और वहीं बैठने लगे! सावित्री देवी को वैसी ही शान्ति मिली, जैसी

---

* जून, 1956

पुर्तगालियों के गोवा छोड़ देने पर भारत सरकार को मिलेगी।

सावित्री देवी को घर में कुछ काम नहीं था, इसलिए उन्हें वे दो काम करने का समय मिल जाता था, जिनके लिए गृह-देवियाँ अक्सर समय नहीं निकाल पातीं। वे सवेरे 2-3 घण्टे देव-पूजा कर लेती थीं और दोपहर को अपने बरामदे में मुहल्ले की स्त्रियों की पंचायत जोड़ लेती थीं, जिसमें 2-3 घण्टे तक हाजिर की प्रशंसा और गैरहाजिर की निंदा होती थी। यहाँ एक काम और होता था—बदनामियों का कारखाना खुला था, जिसमें रोज अच्छे किस्म का माल बनकर समाज में मुफ्त बँटता था। लोग अपना कच्चा माल यहाँ सौंप जाते और दूसरे दिन उसका बढ़िया पक्का माल बनकर बँटने लगता। जैसे किसी ने आकर यहाँ सूचना दी कि फलाँ स्त्री फलाँ पुरुष से बात कर रही थी—यह कच्चा माल हुआ। पक्का माल बनकर जो बँटेगा वह यह होगा कि वह स्त्री उस पुरुष के साथ भाग गयी।

जैसे आँधी के निकल जाने के बाद चिड़ियाँ अपने-अपने घोंसले से निकलकर जमीन पर फुदकने लगती हैं, वैसे ही पतियों के दफ्तर चले जाने के बाद मुहल्ले की स्त्रियाँ वकीलन के बरामदे में आ इकट्ठी होतीं और 2-3 घण्टे यह दरबार आबाद होता।

नियमित रूप से आनेवाली थी—पड़ोसी वकील रघुनंदन की दूसरे विवाह की पत्नी कमला, जो अपनी अल्हड़ता को बरबस पति की 40 साल की प्रौढ़ता की चादर से ढाँकने का असफल प्रयत्न करती थी। दूसरी थी, जिला कचहरी के बड़े बाबू प्यारेलाल की पत्नी सुभद्रा, जिसके पाँच बच्चे थे, और! खैर, फिलहाल पाँच ही थे। इनमें से 3 माता के सिर पर ताण्डव नृत्य करते इस दरबार में साथ ही पधारते थे। कौशल्या सिठानी थी, जिसके पतिव्रत-धर्म की चर्चा सारे मुहल्ले में दबी जबान होती थी। और जमना कहारिन भी थी, जो इन सबके घर में काम करती थी।

एक दिन इस महिला-मण्डल में बड़ी उत्तेजना व्याप्त थी। कारण था, एक छोटा-सा पत्र जो थोड़ी देर पहले एक आदमी वकीलन को दे गया था। पत्र का मजमून यह था—

प्रिय बहन,

मैं आपसे एक जरूरी काम से मिलना चाहती हूँ। मैं आज लगभग 3 बजे आपके बँगले पर आऊँगी। आशा है, आप उस समय मिलने की सुविधा कर सकेंगी।

आपकी बहन,
भुवनमोहिनी वर्मा

इस पत्र ने बड़ी हलचल मचा दी थी। सावित्री देवी कह रही थीं, ''न जाने किस काम से मिलना चाहती है। मैं तो ऐसी कुलटा का मुँह देखना भी पाप समझती हूँ।''

कमला ने कहा, ''यह वही भुवनमोहिनी है न, जिसने बाबू नरेन्द्रकुमार वर्मा से मुकदमा लड़कर अपने और बेटे के लिए परवरिश ले ली है?''

सावित्री ने कहा, ''हाँ, हाँ, वही है। हमारे यहाँ 'उन्होंने' ही तो उसका 'केस' लड़ा था। न जाने कहाँ से आयी और बेचारे नरेन्द्रकुमार बाबू पर जादू-सा कर दिया। लड़का

हो गया, तो दावा कर दिया।''

कौशल्या सिठानी ने घृणा से कहा, ''ऐसी स्त्री का तो मुँह भी नहीं देखना चाहिए। देखो भला, ब्याहता पति को तो त्याग दिया और दूसरे के घर आकर पड़ गयी। जैसे पति भी कोई कपड़ा हो, एक छोड़ दूसरा पहन लिया।''

जमना कहारिन ने कहा, ''लेकिन बाई, सुनते हैं उसका ब्याहता 'घरवाला' उसे बहुत पीटता था। शराबी-जुआड़ी था, इसलिए इसने छोड़ दिया।''

सिठानी बोली, ''अरी कैसा भी हो! मगर स्त्री का क्या यह धरम है कि छोड़कर चली जाए? इसे तो देखो; किस ठाठ से नाम के आगे 'वर्मा' लगाती है—जैसे वर्मा साहब के साथ सात फेरे फिरे हों!''

जमना फिर बोली, ''बाई, वह कहती है कि उसका वर्मा साहब से विवाह हो गया है। भगवान के सामने उनका हाथ पकड़कर वर्मा साहब ने कसम खायी थी। फिर जब लड़का हो गया, तो परवरिश करने में भी आनाकानी करने लगे। बस इसने नालिश कर दी। बेचारी गरीब, अपना और बेटे का पेट कैसे भरती?''

कौशल्या के पास उत्तर नहीं था। बात पलटी, ''मगर ये आदमी भी कैसे होते हैं? भला, वर्मा साहब को किस बात की कमी थी? अच्छी स्त्री, सुन्दर बाल-बच्चे, लाखों की आमदनी। लेकिन इस चुड़ैल के चक्कर में आ गये।''

कमला अपने अनुभव के आधार पर ही बोली, ''बहनजी, आदमियों का स्वभाव ही ऐसा होता है। घर का गंगाजल नहीं पिएँगे, दूसरे के नाबदान में मुँह डालते फिरेंगे।''

सुभद्रा बोली, ''कमला, तू तो अभी लड़की ही है। तू क्या जाने? देख, सब आदमी एक जैसे नहीं होते। हमारे यहाँ मुन्ना के बाबूजी भी तो आदमी ही हैं। किसी की तरफ आँख उठाकर नहीं देखते। परी भी सामने से निकले, तो भी गर्दन ऊँची नहीं करते।''

पतियों का प्रसंग चल पड़ा, तो कोई भी पीछे नहीं रहना चाहती थी। सुभद्रा की बात सुनकर सावित्री ने भी पति के शील की गीता खोली। बोली, ''हमारे यहाँ वकील साहब भी कभी गलत राह नहीं जाते। घर से कचहरी और कचहरी से घर। न किसी के हँसी-मजाक से मतलब, न यहाँ-वहाँ की घुमाई से। परी भी आकर खड़ी हो जाए, तो आँखें उठाकर नहीं देखेंगे। हमारे पड़ोस के उस मकान में, ऊपर के खण्ड में, एक कोई आ बसी थी। बड़े बनाव-सिंगार से रहती। वकील साहब का कमरा सामने ही पड़ता है। ये ऊपर पहुँचते कि वह खिड़की पर आकर खड़ी हो जाती। एक दिन वे मुझसे बोले कि कमरे की इस तरफवाली खिड़की बंद ही रखो। वह अच्छी औरत नहीं मालूम होती।'' वकीलन ने गर्व से सबकी ओर देखा और तनिक सकुचाकर बोली, ''कचहरी से सीधे घर आते हैं। इधर कुछ दिनों से रामकृष्ण आश्रम जाने लगे हैं। कचहरी से लौटते वक्त रास्ते में एकाध-घण्टे रामकृष्ण आश्रम में ज्ञान-चर्चा करते हैं, और दीन-दुखियों की सेवा करते हैं।''

सिठानी ने पूछा, ''इस आश्रम में कोई ऋषि-मुनि रहते होंगे?''

सावित्री ने कहा, ''नहीं, यह वैसा आश्रम नहीं है। रामकृष्ण परमहंस एक बड़े संत

हो गए हैं। उन्हीं के नाम से जगह-जगह आश्रम खुले हैं, जिनमें ज्ञान-चर्चा होती है और दीन-दुखियों की सेवा होती है। वकील साहब कचहरी से लौटते में एकाध-घंटा वहाँ बैठते हैं। कहते हैं कि वहाँ मन को बड़ी शांति मिलती है।''

वकीलन ने घड़ी की ओर देखा और बोली, ''लो, 2-30 बज गया। वह आती ही होगी। मैं जरा कपड़े बदल डालूँ।''

कौशल्या बोली, ''हाँ, वकीलन बहन, कपड़े जरूर बदल डालो। सुना है, उसे अपने रूप का बड़ा गर्व है।''

सावित्री भीतर गयी। थोड़ी देर बाद सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजकर बाहर आयी और लजाती हुई बैठ गयी।

सिठानी बोली, ''क्या रूप पाया है, तुमने बहन! मेरी कसम, आँख नहीं ठहरती। ज्यों-ज्यों उमर बढ़ती जाती है, रूप निखरता ही जाता है!''

सावित्री ने लजाते हुए प्रशंसा स्वीकार की। फिर पान का बीड़ा मुँह में दबाती हुई जमना से बोली, ''देख जमना, एक चटाई लाकर उधर दूर बिछा दे। मैं उसे इस दरी पर नहीं बिठाऊँगी। सब घर को छूत नहीं लगाऊँगी।''

जमना ने चटाई बिछा दी।

ठीक 3 बजे भुवनमोहिनी छटा बिखेरती आ पहुँची। वह वास्तव में भुवनमोहिनी थी। मोहक रूप और उस पर सुरुचिपूर्ण सुन्दर वस्त्र–किसी तपस्वी का तप भंग करना होता तो नारद भी इन्द्र को सलाह देते कि लाखों वर्षों की बूढ़ी उर्वशी और मेनका के बदले भुवनमोहिनी को ही भेजो।

उसे देखते ही सावित्री देवी के मुख और वस्त्रों का रंग एक साथ ही उड़ गया। उसकी सहज स्वाभाविक चाल में बड़ी निर्भयता थी। मुख पर आत्मविश्वास था। वह निःसंकोच भाव से आकर सावित्री देवी के ठीक बगल में बैठ गयी। शेष स्त्रियाँ उठकर उस चटाई पर बैठ गयीं।

सामान्य बातचीत के बाद वह बोली, ''बहनजी, मैंने आपको इसलिए कष्ट दिया कि मुझे एक अच्छा-सा मकान चाहिए। आपके मकान का एक हिस्सा खाली है। अगर आप मुझे किराये पर दे दें तो बड़ी कृपा हो।''

सावित्री देवी यह सुनकर चकित हो गयी। मकान का एक हिस्सा उन्होंने तीन-चार दिन पहले खाली कराया था। उसमें भरा हुआ पुराना सामान एक अलग कमरे में रखवा दिया था। पति-पत्नी ने सोचा कि इतना बड़ा मकान खाली पड़ा है, किसी भले आदमी को दे देंगे, तो पड़ोस हो जाएगा और कुछ आमदनी भी हो जाएगी। उन लोगों ने इस बात की चर्चा किसी से नहीं की थी। उनकी बैठक में रोज बैठनेवाली उन स्त्रियों को भी अभी तक इस योजना का आभास नहीं हुआ था। वकीलन सोचने लगी कि इस भुवनमोहिनी के पास क्या कोई जादू है कि लोगों के मन की बात जान लेती है !

उन्होंने कहा, ''ऐसा तो हमारा कोई इरादा नहीं है। हमने आज तक मकान किराये से नहीं दिया। भगवान की दया से हमें कोई कमी नहीं है, जो मकान किराये पर उठावें।''

भुवनमोहिनी बोली, ''भला, आपको क्या कमी है? वकील साहिब सरीखी 'प्रेक्टिस' तो शहर में किसी की नहीं है। फिर भी एक हिस्सा आपने खाली कराया है। उसे किसी को तो देंगी ही। मुझे ही दे दें।''

सावित्री को और परेशानी हुई। कुछ चिढ़कर बोली, ''किसने कहा आपसे कि हमें मकान किराये से देना है? बड़ी मुसीबत है! हमारे मुँह से बात तो निकली नहीं है, और आप लेने आ पहुँचीं!'' भुवनमोहिनी बड़ी दीनता से बोली, ''आपकी मर्जी है। मैं तो बड़ी दुखिया हूँ। सोचती थी कि आप जैसे लोगों के पड़ोस में रहूँगी, तो बच्चे को पढ़ाकर किसी योग्य बना दूँगी! लेकिन आप शायद मुझे मकान देना नहीं चाहतीं। मैं बुरी हूँ न !''

सावित्री देवी इस विनय से कुछ नरम पड़ीं। बोलीं, ''नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। हम तो जो किराया देगा उसी को मकान देंगे।'' असावधानी में यह बात उनके मुख से निकल गयी।

भुवनमोहिनी को पैर जमाने के लिए आधार मिल गया। तुरन्त बोली, ''तो आखिर कितना किराया रखा है आपने उसका?''

मकान का वह छोटा हिस्सा मुश्किल से चालीस रुपये किराये का होगा। पर सावित्री ने सोचा कि यह बड़ी संपन्न बनती है, इसकी परीक्षा ही हो जाय। और शायद इतना किराया सुनकर वह खुद नाहीं कर दे, तो झंझट ही मिट जाय। इसलिए उन्होंने दुगना करके बताया, ''अस्सी रुपये से क्या कम होगा!''

भुवनमोहिनी ने एकदम बटुए में से सौ रुपये का नोट निकाला और उनके हाथ में देती हुई बोली, ''कोई बहुत नहीं। यह लीजिए एडवांस। मैं दो-चार दिन में यहाँ आ जाऊँगी।''

सावित्री चकित खड़ी रहीं। उन्हें इसकी उम्मीद बिल्कुल नहीं थी। इस स्थिति के लिए वे तैयार नहीं थीं। उन्हें मुँह माँगा दुगना किराया मिल रहा था। अब उनसे लौटाते नहीं बनता था। फिर अस्सी रुपयों का लोभ भी उन पर सवार हुआ। लेकिन यह स्त्री उन्हें बहुत बुरी लगती थी। वे उसे पड़ोस में नहीं रहने देना चाहती थीं। भला कौन कुल-वधू रूपवती पड़ोसिन चाहेगी? परन्तु उन पर जैसे जादू हो गया था। उन्होंने धीरे-से कहा, ''अच्छा ठीक है।''

नोट उनके हाथ में लटक रहा था। वे बड़ी परेशान थीं कि यह क्या हो गया। सबसे अचरज की बात उन्हें यह लग रही थी कि इसने मकान किराये से देने की बात कैसे जानी। वे बोलीं, ''तुम बड़ी अद्‌भुत हो बहन! तुमने कैसे जान लिया कि हमें यह हिस्सा किराये से देना है। सच बताना, तुम्हें कसम है।''

भुवनमोहिनी ने सहज ही कह दिया, ''कल वकील साहिब ही ने जिक्र किया था।''

सावित्री जैसे आसमान से गिरी। बड़ी देर तक वे आँखें फाड़े चेतनाहीन-सी खड़ी

रहीं। फिर टूटते हुए स्वर में पूछा, ''वे तुम्हें कहाँ मिल गये?''

भुवनमोहिनी ने उसी तरह निःसंकोच भाव से कहा, ''वे मुझ अभागिन पर बड़े कृपालु हैं। वे न होते तो मैं यह मुकदमा कैसे जीतती? वे आजकल कचहरी से लौटते वक्त मेरे यहाँ आ जाते हैं, चाय वहीं पीते हैं। एकाध घंटा बैठते हैं। देवता-पुरुष हैं।''

अनुभव-दरिद्र कमला ने चौंककर कहा, ''लेकिन वे तो कहते हैं कि रामकृष्ण आश्रम—''

सावित्री ने आँख तरेरकर कमला को चुप किया।

भुवनमोहिनी चली गयी। सावित्री न जाने कब तक उसी तरह मूर्तिवत, नोट हाथ में लिये खड़ी रहीं। उनकी सब पड़ोसिनें एक-एक कर खिसक गयीं।

भुवनमोहिनी अब कहाँ रहती है? जी, वह बेचारी अपने उसी पुराने मकान में रहती है।

जिंदगी और मौत*

सेनेटोरियम लगभग दो मील दूर है। 7 घंटे एम्बुलेंस कार में बैठे हो गये। भीतर कवि हैं। रह-रहकर उन्हें खाँसी आती है और मैं काँप-काँप उठता हूँ। बगल में बैठा ड्राइवर भी, जो ऐसे अनगिनती मनुष्यों को मौत से मिलने आधे रास्ते तक पहुँचा आया है, 'हे राम!' कहकर गहरी साँस छोड़ता है।

मोटर रुक गयी है—एक आदमी पास के कुएँ से पानी लेने गया है। कवि ने मुझे पास बुलाया। कहा, ''देखो, तुम जीवन से भरपूर हो! मैं खाली हो गया हूँ! मैं नहीं चाहता कि तुम मेरे इतने नजदीक रहो।'' मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही वे क्षीण स्वर में बोले, ''मेरी अंतिम कविता—'जीवन-दान न दो' तुमने सुनी है न?''

''हाँ, मुझे उसके कई पद याद हैं।'' मैंने कहा।

वे बोले, ''उसका अंतिम पद याद है? कहो भला।''

मुझे अंतिम पद याद है; पर दो वर्ष पहले इस पद में जिस चलाचली की तैयारी का संकेत किया था, वह वेला सामने है। अब वह पद जैसे कण्ठ से नहीं निकलना चाहता। कवि की आँखें मेरी ओर लगी हैं। मैंने पद कहा—

'आज धरा के श्रीःचरणों में मेरा नमन चढ़ेगा।
कहते हैं, काफ़िला यहाँ से आगे और बढ़ेगा।।
सब कुछ भूलूँ, मुझसे मेरा अंतिम गान न लो।
जीवन-दान न दो।।'

---

* वसुधा, जून, 1957

वे बोले, "फिर मुझे क्यों जहाँ-तहाँ लिये फिरते हो, भाई? अपने बीच जीने दिया है, तो अपने बीच मरने का हक भी तो दो। यहाँ इस सेनेटोरियम के वीराने में, बिना बिदाई के ही काफिला कूच कर जाएगा।"

उनके नेत्रों में बधिक के बाण से बिद्ध प्राणी की तरह कातरता और विवशता है। मौत के शिकंजे में कसे प्राणों की छटपटाहट झलक रही है। मैं कैसे इस हाहाकार को शान्त करूँ? मेरे पास धीरज के रटे-रटाए दो बोल हैं। उनसे क्या होगा! यह कवि है—शब्दों का बादशाह। उसने शब्दों की असीम शक्ति को देखा है और भारी-भरकम शब्दों के पीछे छिपी दुर्बलता की पहचान भी उसे है। उसे शब्दों से कैसे भुलाऊँ? नहीं, शब्द व्यर्थ हैं।

एक परिचित आ गये हैं। उन्हें समाचार दिया था, इसलिए वे मोटर लेकर शहर से बाहर से साथ हो लेने के लिए आये हैं। उन्होंने कवि को देखा और बोले, "अरे, ये तो स्वस्थ थे। ऐसा कैसे हो गया है?" कवि ने बात सुन ली। झँपती हुई आँखें खुलीं और एक अजब कड़क से वे बोले, 'Poverty! Suffering!' आँखों से दो प्रखर किरणें ऐसी निकलीं, जैसे दो लपलपाती तलवारें गरीबी और दुख को काट फेंकने के लिए चल पड़ी हों।

परिचित ने मुझसे धीरे-से कहा, "पहले क्यों नहीं लाए?"

मैंने कहा, "लाना क्या अपने वश की बात है! लाने का प्रबन्ध करते-करते इतना समय लग गया। पर इधर बीमारी भी तो अपन प्रबन्ध करती रही है। रोग बड़ा बुजदिल दुश्मन है, भाई! निरस्त्र पर वार करता है, सँभलने नहीं देता।"

एम्बुलेंस चल पड़ी है। चारों ओर हरियाली है। सड़क के साथ-साथ एक झरना बह रहा है। साँझ उतरने लगी है। वृक्ष पक्षियों के कलरव से गूँज उठे हैं—यह जीवन का मुक्त कल्लोल है। और इधर निर्बल फेफड़ों से निकली यह मजबूर खाँसी—मृत्यु का क्रन्दन! दोनों ओर के वृक्षों से उठते इस कलरव के बीच से यह खाँसी बढ़ रही है—जैसे मरण के स्वागत में दोनों ओर गीत गाती जिंदगी खड़ी है।

सेनेटोरियम के फाटक पर मोटर रुक गयी। जरूरी पूछताछ करने वे परिचित सज्जन भीतर गये हैं। मैं मोटर के पीछे आ गया हूँ। कवि तकिए के सहारे बैठ गए हैं और उनकी दृष्टि सामने की पहाड़ी पर लगी है। पहाड़ी के सिर पर सूर्य को किसी ने करीने से कस दिया है। कवि की टकटकी लगी है—मुग्ध नयनों से वे उस सम्पूर्ण दृश्य को जैसे आत्मा में समेट रहे हैं। आँखों में बड़ी लालसा, बड़ी जीवनाशा। वे भर-आँख उस छवि को देख रहे हैं—क्या यही है?

उनके ओंठ खुले। वे अपनी ही कविता की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगे—

'हे चिरन्तन! ठहर कुछ क्षण, शिथिल कर ये मर्मबन्धन।
देख लूँ भर-भर नयन, जन, वन, सुमन, उडुगन, किरन, घन।'

सूर्य पहाड़ी में छिप गया—एकदम, एक क्षण में, जैसे कोई बच्चा घर की छत भर खेलते-खेलते सहसा नीचे गिर पड़े। कवि एकदम आँखें बन्द करके बिस्तर पर लुढ़क गए। बड़े आर्त्त-स्वर में बोले, "देखो, यह पहाड़ सूरज को खा गया।" उनकी बन्द आँखों से दो

बूँदें निकलीं और गालों के गढ़ों में समा गयीं। वे अस्फुट स्वर में बड़े भावावेश में बोलते गये, ''यह काला पहाड़ रोज इसी तरह सूरज को खा जाता है, और हम कुछ नहीं कर सकते। मैं तो हार गया, तुम लोग सूरज को बचाना; पहाड़ उसे खा न पाए; हमारी रोशनी न छीन ले। अपने संकीर्ण, अँधेरे, घिनौने पेट में यह जमाने-भर का सूरज छिपा लेता है! घड़ी-भर आराम के लिए रुका था कि यह उसे लील ही गया! तुम सूरज के लिए लड़ना, हमारी रोशनी को निगल जानेवाले से जूझना!'' आवेश-जनित कमजोरी के कारण उन्होंने गर्दन डाल दी और मौन हो गए।

उनकी आँखों से फिर अश्रुधार बहने लगी है—जैसे मृत सूर्य के लिए उनकी आत्मा विलाप कर रही है। मैंने कहा, ''आप में इतनी दुर्दम प्राणशक्ति है, आप ऐसे कच्चे कैसे हो रहे हैं?'' उन्हें ब्राउनिंग की एक कविता बड़ी प्रिय है। उसकी कुछ पंक्तियों पर तो बड़े मुग्ध होते हैं! मैंने कहा, ''आप ब्राउनिंग की इन पंक्तियों को भूल गये क्या?

I was ever a fighter, so—
one fight more—''

मैं चुप हो गया। अंतिम शब्द इस प्रसंग में कैसे कहूँ? पर वे बोले, ''पूरी कहो पंक्ति को—The best and the last!''' सत्य को क्यों छिपाते हो? जिसे तुम जानते हो, जिसे मैं जानता हूँ, उसी को हम आपस में एक-दूसरे से छिपा रहे हैं। So one fight more; the best and the last! ठीक कहते हो; ज़रा सलीके से लड़ूँगा!''

सामने लंबा-चौड़ा मैदान, सर्वत्र हरियाली—लेकिन इस हरियाली में जिंदगी का हरापन कहीं नहीं दिखता। संपूर्ण प्रकृति जैसे किसी आशंका से हर क्षण सहमी रहती है। इतने मनुष्य हैं—मरीज, डॉक्टर, नर्स; लेकिन जीवन का स्पन्दन कहीं अनुभव नहीं होता! ठण्डी हवा हल्की-सी सिहरन पैदा कर रही है। जहाँ-तहाँ 'हट्स' हैं—एक-दूसरी से दूर, अपने-आप में एक भिन्न संसार। हरियाली में बल्बों से जगमगाती वे झोंपड़ियाँ आकाश में झिलमिल करते नक्षत्रों-सी मालूम होती हैं।

'जनरल वार्ड' के सामने हम आ गए हैं। नया मरीज आता देख 50-60 रोगी एकदम बरामदे में आ गए हैं। ये मनुष्य लगते ही नहीं हैं—इतने पास हैं फिर भी लगता है कि ये बहुत दूर से हमें देख रहे हैं। ये मनुष्य लगते ही नहीं हैं—ये केवल अस्तित्व हैं—बिल्कुल वायवी! शून्य आँखों में केवल उत्सुकता! मरीज की मायूसी, पीड़ा, चिंता भी इनकी आँखों में नहीं है। केवल कुतूहल; केवल उत्सुकता—बच्चों की तरह! नये रोगी के माध्यम से ये दुनिया से संबंध जोड़ना चाहते हैं। प्रश्नों की बौछार लग गयी—

''कहाँ से आए हैं?''

''कौन-सी स्टेज?''

''एक लंग?''

''दोनों लंग?''

''कलेप्स करना पड़ेगा?''

ये सब टी. बी. के विशेषज्ञ हो गए हैं। ज़रा देर हलचल रुक गयी है। मैं जवाब दे रहा हूँ, वे कान खोले सुन रहे हैं। फिर हलचल हुई—"अरे राम राम! बड़ी देर कर दी!"

और अब इनमें एक विचित्र व्यस्तता आ गयी है। उनके भटके हुए सामर्थ्य को सहारा मिल गया है। उनके अस्तित्व को सार्थकता मिल गयी है। वे नये मरीज के प्रबंध में लग गये हैं।

"कौन-सा बैड है?"

"सिस्टर को बुलाओ?"

"डॉक्टर को खबर करो?"

"चादर बदलने को बोलो।"

सब बच्चों की तरह दौड़ रहे हैं। एक क्षण को उन्हें लगा कि वे सब स्वस्थ हैं और नये मरीज की परिचर्या कर रहे हैं। मेरा काम कुछ नहीं रह गया। उनके अंदर की मानवी करुणा, संवेदना उमड़ पड़ रही है। वे कुछ कर सकने को आतुर हैं। वे इस घर के वासी हैं और मेहमान की सेवा-चाकरी में लग गये हैं। सामान जमा रहे हैं, बिस्तर ठीक कर रहे हैं, पानी ला रहे हैं। 2-4 कवि के पास खड़े हैं और उन्हें धीरज दे रहे हैं—"कोई चिंता नहीं है। जल्दी ठीक हो जाएँगे। मैं भी ऐसा ही आया था, पर अब देखिए।"

वही धैर्य, जो उन्हें मिला था, वे नये मरीज को दे रहे हैं। वे जान गए हैं कि कोई उम्मीद नहीं है; मगर मरीज मरीज को धोखा दे रहा है। उनकी आत्मीयता उमड़ रही है, उन्होंने नये मरीज को स्वीकार कर लिया है, परिवार में शामिल कर लिया है। मुझसे बोले, "आप चिन्ता न करना। हम सब ठीक कर लेंगे। समझ लो कि घर में आ गये हैं।"

कैसा यह घर? और कैसे उसके ये वासी? इनमें अनेक उस लोक की यात्रा पर निकल पड़े हैं—यह सेनेटोरियम एक पड़ाव है—दो घड़ी रुके हैं और एक क्षीण आशा है कि शायद घर से वापस लौटने की खबर आ जाय; नहीं तो आगे तो बढ़ना ही है।

"सर, नमस्ते!" मैंने चौंककर देखा। एक नव-तरुण है! बोला, "आपने मुझे नहीं पहचाना? मैं आपका विद्यार्थी रहा हूँ। मेरा नाम नगेन्द्रनाथ है।"

'सर, नमस्ते' से मेरा पिण्ड नहीं छूटता। शहर के किसी भी मुहल्ले में जाऊँ, चाहे वीराने में जाऊँ कोई 'सर, नमस्ते' कह ही देता है। अगर शहर में कहीं से चोरी करके भागूँ, तो जगह-जगह 'सर, नमस्ते' होगी और पकड़ लिया जाऊँगा। एक बार मित्रों के साथ सिनेमा में बैठा खूब हल्का फिल्म देख रहा था। हँसी-मजाक-चुहल! इण्टरवल हुई तो पीछे से आवाज आयी, 'सर, नमस्ते!' दो विद्यार्थी ठीक पीछे बैठे थे। डटा रहा—सोचा, 'प्राप्तेषु षोडषे वर्षे।'

यह नगेन्द्र यहाँ! 3 साल पहले इसे पढ़ाया था। अच्छा खूबसूरत, स्वस्थ लड़का; हाकी बढ़िया खेलता था। और आज यह यहाँ?

मैंने पूछा, "अरे तुम यहाँ कैसे?" प्रश्न मेरा निरर्थक था। यहाँ तफरीहन कोई नहीं आएगा। वह बोला, "6 महीने हो गये सर! बी. ए. के बाद ही आ गया।"

"अब?" मैंने पूछा।

"6 महीने और रहना पड़ेगा।" वह बोला।

सेनेटोरियम के भोजन, हवा और आराम ने इसके शरीर को क्षीण नहीं होने दिया। मगर भीतर? इसके तारुण्य को खोखला करनेवाला वह घुन तो लगा है। मैंने उसकी पीठ पर हाथ रखा। उसकी आँखों में आँसू आ गये। वह बोला, "सर, माँ और छोटे भाई का क्या होगा? मैं नौकरी पर जा ही रहा था कि यह हो गया। मुझे अपनी चिंता नहीं, पर उनको कौन पालेगा?"

मैं उसकी पीठ पर हाथ फेर रहा हूँ। उसे धीरज बँधा रहा हूँ। बुजुर्ग कहते थे, यह राज-रोग कहलाता है, राजाओं को हुआ करता था—उन्हें फुरसत थी। पर जो जीवन की कशमकश में उलझे हैं; जो पसीने की एक-एक बूँद से एक-एक दाना कमाते हैं; जिन्हें बीमार पड़ने की फुरसत नहीं है; उन्हें यह क्यों होता है? इसने कब से वर्ग-भेद छोड़ दिया?

डॉक्टर, आ गया है। कवि को देख रहा है। "मैं शांति से विदा होने आ गया हूँ, डॉक्टर! परिवार से, मित्रों से दूर!" डॉक्टर ने कहा, "यह कैसी बात करते हैं। अभी तो कुछ नहीं बिगड़ा है। ज़रा-सा दाग एक लंग पर है।" कवि के मुख पर विश्वास आ गया है, उन बुझी-बुझी आँखों में जीवनाशा जगमगाने लगी है। वे बोले, "एक कप चाय और कुछ बिस्कुट चाहिए!" एक कदम जिंदगी की ओर बढ़ाने का उल्लास उनके मुख पर है। चाय और बिस्कुट उनके लिए जीवन का लक्षण है। चाय और बिस्कुट उनकी जीवन की दुर्दम आकांक्षा का प्रतीक है। जिंदगी की डोर को वे खूब कसकर पकड़े हैं, उनके संघर्ष का प्रयत्न चेहरे पर साफ झलक रहा है।

मैं बरामदे में आ गया हूँ। आसपास मरीज हैं। दुनिया की तमाम बातें पूछ रहे हैं। व्यक्तिगत से लेकर अंतर्राष्ट्रीय तक, जैसे कोई यात्री वर्षों पहाड़ों में भटकता रहा हो और लौटकर वर्षों के हालचाल पूछ रहा हो। वे सब बाहर की दुनिया से संबंध जोड़ना चाहते थे, अनुभव करना चाहते थे कि इस विराट विश्व में उनका अस्तित्व भी है। वे दूर नहीं हैं। विश्व की जीवन-धारा में वे बह रहे हैं।

एक नर्स आयी। चेहरे से चिड़चिड़ी मालूम होती है। बोली, "अरे, तुम लोगों ने यहाँ क्यों भीड़ लगा रखी है? जाओ अपनी जगह पर!" वह मरीजों को बच्चा समझती है, ऊधम करते बच्चों को अपने-अपने बिस्तर पर सुलाना चाहती है। मगर वे इस समय अपने को बच्चा मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे पूर्ण विकसित व्यक्तित्ववाले मनुष्य हैं, वे बाहर से आये एक आदमी से बातचीत कर रहे हैं। उन्हें बुरा लगा। उनका आहत आत्मसम्मान रो पड़ा, बच्चों की तरह। वे बोले, "सिस्टर, तुम्हारी बात से हमारा खून जल जाता है। कैसा बोलती हो तुम? हम क्या आदमी नहीं हैं?" वे सब डाँटे हुए बच्चे की तरह दुबककर रह गये हैं, निर्बल क्रोध और विवशता से एक-दो के गले भर आए। इन्हें मीठी बात चाहिए; स्नेह की वाणी चाहिए। घर से दूर, परिवार से दूर, मित्रों, संबंधियों से दूर इस घेरे में बंद ये आत्माएँ जीवन का संस्पर्श चाहती हैं। उन्हें स्नेह की चाह है; उन्हें रस की भी चाह है,

उन्हें विश्वास की चाह है; आत्मीयता की चाह है, माधुर्य की चाह है—उन्हें वह सब चाहिए जो जीवन को अर्थ देता है। नर्स के नीरस कड़वे बोल जैसे उन्हें जीवन से दूर ढकेलते हैं।

वे मुझे घेरे हैं, जैसे अपने बीच खड़ी जिंदगी को पकड़े हों।

"बड़ी चिड़चिड़ी है।" एक बोला।

दूसरे ने कहा, "कुछ नहीं—Repression (मौन दमन) है।" मैंने उसकी ओर देखा। दक्षिण का आदमी है। मैंने पूछा, "आप कहाँ से आए?"

वह बोला, "मैं टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशलाजी में था। कोर्स का एक साल रह गया था, सो यहाँ काटना पड़ रहा है।"

वे सब बिस्तरों पर आ गए हैं। आठ की घण्टी बजी और वे आरती गाने लगे। डार्मिटरी के दोनों ओर बिस्तरों पर हाथ जोड़कर वे बैठ गए हैं; एक आदमी बिस्तर पर बैठे-बैठे ही आरती की थाली घुमा रहा है।

रोज का क्रम है। विचित्र दृश्य है। वे बड़े करुण कंठ से गा रहे हैं—

'जय जगदीश हरे, जय जगदीश हरे!
भक्त जनों के संकट पल में दूर करे!'

गले उनके रुँधे हैं। पीड़ित आत्मा का आर्तनाद-सा लगता है। टी. बी. के मरीज को इस युग में भी लगता है कि उसका अंत आ गया। ये सब अपने को गया हुआ मान बैठे हैं, जीवन इनका खो गया है। इनका विश्वास गया, आशा गयी, निष्ठा गयी! ये किसी अलक्ष्य, पर सर्वोपरि शक्ति से आसरा चाहते हैं। नदी में गिरे उस आदमी-जैसे हैं, जो आसपास किसी तैरती लकड़ी को न पाकर चीखता है कि किनारे पर कोई कहीं सुन ले और बचा ले। कंठ से घनीभूत पीड़ा प्रवाहित हो रही है।

गाते-गाते दो-तीन आदमी फूट-फूटकर रोने लगे। बच्चों की तरह सिसक रहे हैं।

अब मेरे लौटने का वक्त हो गया है। मैं कवि के पास पहुँचा। "अब मैं चलता हूँ। रात में ही लौटना है।" मैंने कहा।

उन्होंने मेरी ओर देखा। टकटकी लगाकर देख रहे हैं—जैसे अपने इस अंतिम संपर्क को साथ ले जाना चाहते हैं। कुछ ऐसा लग रहा है उन्हें कि मेरे दूर होने से संसार से बाँधनेवाला अंतिम सूत्र भी टूट रहा है।

मैंने कहा, "दो-चार दिन में फिर आऊँगा, मैं। आप चिंता न करें। जल्दी अच्छे हो जावेंगे। सब प्रबंध ठीक हो गया है।"

वे बोले, "हाँ देखो—"

बाहर चलने लगा, तो उन 40-50 मरीजों ने 'नमस्कार', 'जैरामजी की' की झड़ी लगा दी। कैसी आत्मीयता! और दो घंटे के इस परिचित के जाने का कैसा दुख! जैसे जन्म का साथी जा रहा हो।

मैं बाहर आ गया हूँ। मोटर की घर्र में वे क्षीण आवाजें दबी जा रही हैं।

दुःख का ताज*

कोई क्षण ऐसा होता है जब मनुष्य अपनी आत्मा को निकालकर हथेली पर रख लेना चाहता है; उसे पूर्ण निर्वैयक्तिक भाव से निर्लिप्त रहकर, चारों ओर से जी-भर देखना चाहता है; उसे दूसरों को दिखाते हुए घूमना चाहता है। ऐसी घड़ी में संकोच की दीवारें सहसा टूट जाती हैं, लाज-शरम के परदे हट जाते हैं और मनुष्य अपने सच्चे नंगे रूप में खड़ा हो जाता है।

वह रात ऐसी ही थी। दिसम्बर का महीना। कड़ाके की ठण्ड। शाम को तीन घंटे पानी बरसा था। शरीर को छेदनेवाली ठण्डी, गीली हवा सनसना रही थी। दूसरी मंजिल पर उखड़ी सीमेंट के फर्श पर बिस्तर बिछाये वे दोनों एक कंबल में लिपटे पड़े थे। सँकरे कमरे की दीवारें पैर और सिर को लगभग छूती थीं। कंबल दो थे मगर फटे थे और उन दोनों को उन्होंने ऐसी चतुराई से दुनया लिया था कि वे परस्पर एक-दूसरे के छिद्रों को ढाँके हुए थे।

एक-दूसरे के छिद्रों को ढाँकनेवाले कंबलों की तरह ही ये दोनों मित्र थे। एक ही दफ्तर में काम करते थे और एक फर्श पर, एक छत की छाया में, एक बिस्तर पर, एक ही कंबल में लिपटे पड़े रहते थे। मामूली पढ़े-लिखे ये दोनों 'इम्पलायमेंट एक्सचेंज' की धूल महीनों छानकर अब 8-8 महीने के लिए नौकरी पा गए थे। यह पाँचवाँ महीना चल रहा था। तीन महीने बाद फिर दोनों सड़क पर होंगे; फिर कहीं 2-4 माह की नौकरी। वर्षों से यही क्रम चल रहा था।

दिन-भर दफ्तर में काम करते, शाम को किसी सस्ते होटल में खाना खा लेते, थोड़ी देर यहाँ-वहाँ घूमते; सिनेमाघरों में दीवार पर चिपके इश्तिहारों की तस्वीरें जी-भर देखते और आकर फटे दुहरे कंबल में सो जाते। ऐसा नहीं था कि नये सस्ते कंबल खरीद नहीं सकते थे। खरीदने का मन नहीं होता था। 10-5 रुपये ज्यादा देकर बड़े कमरे में भी रह सकते थे, पर इस गंदे अंधे कमरे को वे छोड़ना नहीं चाहते थे। इसका उखड़ा-उखड़ा फ़र्श, खुदी हुई गंदी दीवार; बिना चटखनी की खिड़की; गंदे कोने; भनभनाते मच्छड़; ये सब उन्हें अच्छे लगते थे। खटमल-भरे गंदे बिस्तर पर इस कमरे में सोने में उन्हें एक सुख और गर्व का अनुभव होने लगा था। वे इस गंदगी को; दरिद्रता को गर्वपूर्वक सिर पर धारण किए घूमते थे, जैसे कोई ताज पहने हों।

हवा के झोंके ने खिड़की को धक्का मारा और दोनों पलवों को दबाये जो ईंट रखी थी, उसे गिरा दिया। खिड़की खुल गयी और छुरी जैसी एक वायु-तरंग ने कंबल को चीरकर उनके शरीर को छेद दिया।

गोंविद पड़े-पड़े फुटफुटाया, "धत्तेरी हवा की⋯ यार, ज़रा ईंट फिर से रख देना।"

---

* वसुधा, मई, 1958

रामेश्वर बोला, ''अरे बाप रे, इतनी ठण्ड में मुझसे नहीं उठा जाएगा। घंटे-भर में फिर शरीर गरम होगा।''

गोविंद ने मनाया, ''मैं तुझे गरम कर दूँगा। आकर चिपट जाना। खुली रही, तो सवेरे निमोनिया से दोनों मरे मिलेंगे।''

रामेश्वर बड़बड़ाता उठा। मकान-मालिक को खूब गालियाँ दीं—'साला, हरामखोर, हर महीना किराया झपट लेता है और एक साँकल लगवाने का नाम नहीं लेता। अबकी पहली को आएगा, तो जूते मारकर निकाल दूँगा।' ईंट जमाकर रखी और सी-सी करता एकदम कंबल में घुस गया।

दोनों बड़ी देर मौन पड़े रहे। ठण्ड ने जैसे दोनों के मन को बर्फ-सा जमा दिया था। ठण्ड का अवसाद चारों ओर से हृदय को घेरे था। बड़ी देर तक वे पड़े-पड़े न जाने क्या-क्या सोचते रहे। फिर दोनों के मुँह से अकस्मात निकला, ''यह भी क्या जिंदगी है!'' फिर दोनों मौन हो गये। रात की मौन भयानकता ने उनके मन की पीड़ा को उभार दिया था; भुगते दुःख ऊपर आ गये, लापरवाही से ढँकी उनकी दुर्दशा एकदम उठकर जैसे सामने खड़ी हो गयी थी।

गोविंद कहने लगा, ''तुम नहीं जानते, मैंने कितने दुःख भोगे हैं। मैं मैट्रिक पास हुआ, तभी पिताजी भी बीमार पड़े। मैंने उनकी छटपटाहट देखी है। वे जीना चाहते थे। मगर सहारा कहाँ से आता। दवा-दारू को पैसा ही कहाँ था! उनका वह सूखा हुआ, दयनीय मुख, वे निराश आँखें, अभी मेरी आँखों के सामने झूल जाती हैं। जब किसी बीमार वृद्ध को देखता हूँ, तो मुझे अपने पिता का मरने के पहले का चेहरा याद आ जाता है, मैं रो पड़ता हूँ।''

उसका गला भर आया। जरा रुककर बोला, ''और मरते समय उनकी आँखों की वह लाचारी! मानो कह रहे हों कि बेटा, मैं तुम लोगों के लिए जीना तो चाहता हूँ, पर मौत से लड़ने लायक शक्ति ही नहीं रह गयी है! अब तुम्हारा क्या होगा? और उसके बाद से दोस्त, हम लोग भूखे ही मरते रहे हैं। माँ ने घर के बर्तन बेचकर भाई-बहनों का पेट कुछ दिन भरा। मैं मारा-मारा फिरता रहा, नौकरी की तलाश में। रेलवे-प्लेटफार्म की बेंचों पर 24-24 घंटे भूखा पड़ा रहा हूँ। फिर पेट की आग में झोंकने के लिए होटल से पूड़ियों की चोरी की और पिटा; पर पिटते-पिटते भी पूड़ी मुँह में भर ली।'' रामेश्वर ने टोका, ''छोड़ भी यार! यह तो हमेशा का रोना है। कोई और बात कर।''

गोविंद कराहकर बोला, ''और मेरे पास क्या है? प्यार की बात करूँ? भूख से बचने में ही जिसका हर क्षण लगा रहा है, उसे प्यार करने की फुरसत कैसे मिलेगी? तुम नहीं जानते, तुमने दुःख भोगा कहाँ है। भाई और बहन को दवाई के अभाव में प्राण त्यागते देखा है मैंने! मैं बैठा-बैठा टुकुर-टुकुर देखता रहा और वे एक के बाद एक मरते गए। और अब माँ और एक बहन घर में है। मेरी नौकरी का ठिकाना नहीं। बहन जवान हो गयी है। मैं उसके डर के मारे घर नहीं जाता। उसे देखता हूँ तो जैसे कलेजे में तेज़ाब उतर जाता है। यह उसकी ससुराल में रहने की उम्र है। पर बिना पैसे के कौन उससे शादी करेगा ? और अब तीन महीने बाद बेकार हो जाऊँगा, तब घर क्या मुँह लेकर जाऊँगा?''

उसकी आँखें सजल हो गयीं और गहरी साँस लेकर वह दुःख के आवेग में रामेश्वर से चिपट गया और बोला, “इससे तो मौत अच्छी।”

रामेश्वर जैसे पत्थर हो गया था। वह हिला-डुला तक नहीं। दुखी मित्र के ऊपर सहानुभूति का हाथ तक नहीं फेरा। गोविंद का दुखी मन तड़पकर रामेश्वर का सहारा लेना चाह रहा था, पर उसे लगा कि उसने निष्प्राण पत्थर को कलेजे से लगा लिया हो।

रामेश्वर की समस्त चेतना अपने भीतर के उठ रहे आवेग को सँभालने में लगी थी। वह गोविंद की दुःख-कथा सुन रहा था। सुनते-सुनते उसके हृदय के किसी कोने से दर्द उठा। धीरे-धीरे उसने उसकी पूरी चेतना को अभिभूत कर दिया। उस ठण्डी रात में उसे ऐसा लगा जैसे उसका शरीर जल रहा हो। दुखी वह भी था और शायद वह दुःख ही था, जो इन दोनों को इतने समीप लाया था। परस्पर छिपाने लायक उनके पास कुछ नहीं था। वे एक-दूसरे की दुखती रगों को जानते थे, एक-दूसरे से कितनी बार अपने दुःख कह चुके थे। पर आज तो जैसे उनके दुखी प्राण निकलकर बाहर मँडराना चाहते हैं।

रामेश्वर मौन रहने का प्रयास कर रहा था। वह अपने दुःख नहीं कहना चाहता था। पर उसने सब कुछ कहाँ कहा था? कुछ अनकहा रह गया था! घर की गरीबी, भुखमरी, बेकारी, मौत; ये सब दोनों ने भुगती थीं! पर रामेश्वर को कितने ही दुःख थे, जो उसने अभी तक छिपा रखे थे। पर आज की ठण्डी रात, सनसनाती हवा और गोविंद के हाल ही के दुःख के विवरण से उसके मन के सब बंधन टूट गये।

अपने कलेजे से चिपटे इस मित्र के प्रति उसके मन में करुणा जाग्रत नहीं हुई। और मौकों पर वे एक-दूसरे को समझाते थे, सांत्वना देते थे, धीरज बँधाते थे। पर आज रामेश्वर कुछ और सोच रहा था—‘ऐसा रोता है, जैसे सारी दुनिया का दुःख इसी ने भोगा है! अभी दुःख इसने देखा कहाँ है। यह समझता है कि मैं बहुत मजे में हूँ। और यही दुखी है!’

और तब वह सहसा बोला, “तूने अभी कुछ नहीं भुगता है। जब भीतर पेट की ज्वाला धू-धू करे और बाहर मुँह भी काला हो जाए, तब आदमी को मौत से प्यारा कुछ और लगता नहीं है। मगर मैं जी रहा हूँ। कभी-कभी मरा बाप ज़िंदा बाप से अच्छा होता है। मेरे पिता जिंदा हैं, लेकिन मेरी तनख्वाह के आधे पैसे उनकी दवा और शराब में चले जाते हैं। जिंदगी-भर पीते रहे और एक औरत को रखे रहे। घर जाने में मेरा प्राण क्यों काँपता है, जानते हो? मेरे वे दो भाई-बहन जिनकी आँखों में भूख झाँकती है, मुझसे चिपट जाते हैं, तो मन में आता है कि इसी दम मर जाऊँ। वह भयानक गरीबी और भुखमरी। और भाईसाब, तुम्हें अपनी बिनब्याही बहन की फिक्र है। पर बिनब्याही बहन उस बहन से अच्छी है, जो परिवार के मुँह पर कालिख पोतकर चली जाय। ससुराल से भाग आयी थी मेरी बहन; और न जाने किसके साथ चली गयी। दो साल हो गए। कोई पता नहीं। गाँव-जाति में कोई हमारा मुँह नहीं देखना चाहता। कोई पास बिठाकर चुल्लू-भर पानी पिलानेवाला नहीं। मैं क्या जी रहा हूँ? अरे, मैं तो मर चुका। यह तो मेरी लाश है, जिसको निचोड़कर मेरा बाप शराब पीता है और जिसके मांस को चीथकर परिवार भूख शांत करता है।”

वह ज़रा देर चुप हो गया। न जाने क्या हुआ गोविंद को, वह एकदम उससे दूर हट गया। बिस्तर के दूसरे कोने पर कंबल के अंतिम छोर को दबाये निश्चल पड़ा रहा। एक विचित्र प्रकार की घृणा उसे रामेश्वर से हुई। एक घनीभूत विकर्षण पैदा हो गया। ज्यों-ज्यों रामेश्वर अपने दुःख का तार चढ़ाता जाता, गोविंद के मन से सहानुभूति घटती जाती; क्रोध बढ़ता जाता।

रामेश्वर ने कहा, ''इतना भुगता है मैंने। कोई और होता तो उसकी राख भी उड़ गयी होती।''

गोविंद अनमने भाव से बोला, ''अपना-अपना दुःख सबको बड़ा लगता है।''

रामेश्वर को चिढ़ आ गयी, ''मेरे जैसा भुगतते, तब पता चलता। मेरे पास क्या रह गया? भूख, बेइज्जती, हड्डी-तोड़ काम और समय से पहले मौत! तुझे तो मुझसे एक चौथाई भी नहीं भोगना पड़ा।''

दोनों की स्पर्धा-सी चल रही थी। दोनों दुखी थे और दुःख को गर्वपूर्वक वहन करते थे। जिसके पास कुछ नहीं होता, अनंत दुःख होता है, वह धीरे-धीरे शहादत के गर्व के साथ कष्ट भुगतता है। जीने के लिए आधार चाहिए। और सब अभाव में यह दुःख ही जीवन का आधार हो जाता है। वे उसे जकड़े रहते हैं, उसमें गौरव समझते हैं।

वे दोनों दुःख का आधार पकड़े थे। गोविंद समझता था कि मैंने अधिक दुःख भोगा है और रामेश्वर सोचता था कि अभी यह जानता नहीं है, कि मैंने और क्या भुगता है। कह दूँगा तब जानेगा कि मेरे जैसी जिंदगी वह एक दिन भी नहीं जी सकता।

आज उसने कह दिया और कुछ इस भाव से ताना मारा, जैसे गोविंद के सिर का मुकुट छीनकर अपने सिर पर रख लिया हो।

गोविंद के मन में रामेश्वर के प्रति घोर कटुता भर गयी। उसे लगा कि वह शत्रु के साथ एक ही कंबल में सो रहा है। उसे उस क्षण का अनुभव हुआ, जैसे उसकी रही-सही जीवनी शक्ति भी चली गयी।

तभी रामेश्वर बोला, ''इन 5-6 सालों में जितना दुःख भोगा है, उतना तुम दो जन्मों में भी नहीं भोगोगे।''

गोविंद एक झटके के साथ कंबल को फेंककर खड़ा हो गया। उसके भीतर अपार क्रोध और घृणा भर गयी। दुःख का ताज मानो उसका छिन गया था, शत्रु उसके सामने ताज पहने उसकी हँसी उड़ा रहा था। वह बड़बड़ाया, ''साले, दुःख में भी तू मुझसे बढ़ गया। मेरे पास गर्व करने को दुःख के सिवा और क्या था। तू उस गर्व को भी छीनना चाहता है।''

उसने धमाधम रामेश्वर को लात मारना शुरू किया। 4-6 लात मारकर वह हाँफता हुआ बैठ गया और जोर से रोने लगा।

रामेश्वर चुपचाप लात सहता गया। तनिक भी उसने विरोध नहीं किया। ऐसा प्रसन्न था, जैसे उसके मुकुट में नये हीरे जड़े जा रहे हैं।

सामाजिक की डायरी'*

आज सुबह अनाथालय के लड़के बैण्ड लेकर चंदा लेने आए। मैले-कुचैले लड़के, जिनके तन पर मैल की धारियों से भरे खाकी हाफपैंट-शर्ट, सिर पर मैल से काली बनी हुई सफेद टोपी। बैण्ड और बाँसुरी पर गानों की ट्यून बजा रहे थे—नगरी-नगरी, द्वारे-द्वारे ढूँढ़ूँ रे साँवरिया!

मेरे पास उस समय मेरा दोस्त सुरेश बैठा था। मुझे वह हमेशा से विचित्र लगा है। कभी-कभी वह बिल्कुल 'सिनिक' मालूम होता है और कभी ऐसा समझ में आता है कि वह कुछ ऐसा देख पाता है, जो हम नहीं देख पाते।

लड़कों ने बाजे बंद करके ज्यों ही गिड़गिड़ाना शुरू किया, सुरेश ने रुपया निकाला और उनके मुखिया से कहा, ''लो, सब लोग कुछ लेकर खा लेना।''

लड़कों ने कहा, ''नहीं सा'ब, हम कभी ऐसा नहीं करते। हम पैसा मैनेजर को दे देते हैं। अपने मन से ही कुछ लेकर नहीं खाते।''

सुरेश ने कहा, ''अगर ऐसा नहीं करते, तो तुम बड़े बेवकूफ हो।''

वह लड़का और उलझन में पड़ गया। उसके साथी आँखें फाड़कर मेरे दोस्त की ओर देखने लगे।

मुझे लगा कि इन अनाथों से इस तरह का बर्ताव अनुचित है। मैंने उससे कहा, ''तुम भी यार, आदमी नहीं देखते। ये बेचारे अनाथ लड़के हैं। इनसे क्या उलझते हो ?''

सुरेश पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। वह शैतानी की मुस्कान के साथ बोला, ''अनाथ हैं, इसीलिए मैं उनके भले की बात कह रहा हूँ।'' फिर वह उस बड़े-से लड़के से बोला, ''अगर तुम इस रुपये का कुछ मीठा-नमकीन, चाट वगैरह खा लो, तो मैं तुम्हें देता हूँ।''

अब वे सब लड़के एक साथ चिल्ला उठे, ''नहीं साहब! हम कभी ऐसा नहीं कर सकते। मैनेजर साहब से पूछ लीजिए।'' और उस बड़े लड़के ने रजिस्टर खोलकर सुरेश से कहा, ''इसमें लिख दीजिए और दस्तखत कर दीजिए।'' वे बेचारे यह सिद्ध करने में लगे थे कि वे हर रकम का हिसाब रखते हैं। पर मेरे सिरफिरे दोस्त के मन में न जाने क्या था। उसने रजिस्टर परे हटाते हुए कहा, ''मैं लिखकर तो कभी नहीं दूँगा। देखो बच्चों, मैं यह तुम्हीं को दे रहा हूँ। मैं यह नहीं चाहता कि तुम इसे ले जाकर अनाथालय के अधिकारियों को दे दो। तुम कुछ लेकर खा लेना।''

वे बड़ी देर तक आपस में विचार करते रहे और फिर इस निर्णय पर शायद पहुँचे कि बिना लिखा रुपया भी जब जाकर वे मैनेजर को देंगे तब मैनेजर उनकी ईमानदारी से और खुश होगा।

उस बड़े लड़के ने कहा, ''अच्छा लाइए।''

सुरेश ने रुपया उसे दे दिया और बड़े संतोष का अनुभव किया।

---

* वसुधा, जुलाई, 1958

लड़के चले गए। मैं चुपचाप बैठा था। जानता था कि यह कुछ सनकी-सा आदमी है, पर मुझे यह कतई अच्छा नहीं लगा था कि यह उन मुसीबतज़दा लड़कों से ऐसी आड़ी-तिरछी बातें करे और उन्हें बीच में ही पैसा हड़पने की आदत डाले।

उसने आँख के कोने से मेरी ओर देखा और कहा, ''तुम्हें मेरा ऐसा करना बुरा लगा न? पर बात असल में यह है कि ये लड़के अनाथ हैं ही नहीं। वास्तव में अनाथ तो उस अनाथालय के अध्यक्ष और मंत्री और कमेटी के मेम्बर हैं। ये लड़के तो उनके पालनकर्ता हैं। ये बैण्ड बजाकर पैसे माँगते हैं और उस पैसे से उन लोगों का पेट भरता है। ये तो अनाथालय के प्रबंधकों के माई-बाप हैं। असल अनाथ तो वे हैं जो अनाथालय चलाते हैं। मैं चाहता था कि अपने उन बड़े बच्चों को तो मिठाई और चाट ये लोग खिलाते ही हैं, इस रुपये का खुद खा लें। मैं तो उनको अनाथ मानता ही नहीं, वे तो 'नाग' हैं इनके, जो इनके 'नाथ' बनने का दम भरते हैं। तुम्हीं बताओ—अनाथालय का अध्यक्ष है एक बिना प्रेक्टिस का डॉक्टर और मंत्री है बिना मुकदमों का वकील। दोनों की हालत पहले खस्ता थी। अब दोनों ठाठ से रहते हैं। कैसे रह लेते हैं? पैसा कहाँ से पाते हैं ? ये लड़के जो कमाते हैं तथा इनके नाम से वे जो चंदा इकट्ठा करते हैं, उससे वे जीते हैं।''

मैंने कहा, ''यह कहना तो आम रिवाज हो गया है कि संस्थावाले चंदा खाते हैं।''

वह बोला, ''तो फिर तुम मुझे एक बात समझाओ! जब हाल ही में पदाधिकारियों का चुनाव हुआ, तब उम्मीदवारों ने इतनी दौड़-धूप क्यों की? वाकायदा कैनवासिंग चल रहा था। उम्मीदवार एक-दूसरे की बुराई करते थे; लोभ भी दिया गया था और धमकी भी। मुझे बतलाइए कि निःस्वार्थ सेवा के काम में इतनी धमाचौकड़ी क्यों? चुनाव तो ऐसा लड़ते हैं कि जैसे किसी दुकान का नीलाम हो रहा हो। शिक्षा-संस्थानों की कमेटियों में वे लोग क्यों मेम्बर हो जाते हैं, जिनको शिक्षा से कोई लेना-देना नहीं और तुम्हारे शंकराचार्य गद्दी के लिए हाईकोर्ट में मुकदमा लड़ते हैं। यह सब क्या सेवा और धर्म के लिए होता है।''

उसने तनिक रुककर मेरी ओर देखा और बोला, ''तुम बुरा मत मानो! मैंने अभी रुपया उन लोगों को दिया है, जो अनाथ नहीं, अनाथों के नाथ हैं। सच्चे अनाथ तो बेचारे वे डॉक्टर और वे वकील और वे मेम्बर हैं। एक मेम्बर के मकान की मरम्मत परसों मैंने इन्हीं लड़कों को करते देखा। ये बुजुर्ग हैं। अपने अनाथ बच्चे का मकान टूट गया, तो क्या मरम्मत नहीं करेंगे।''

वह बखिया उधेड़ता गया और मैं सुनता गया। अब अनाथालय के करीब से गुजरता हूँ तो मन होता है कि उन बच्चों से पूछूँ कि कहो अनाथालय के मालिको, उन बड़े अनाथ बच्चों का क्या हाल है? रोटी-पानी की व्यवस्था ठीक है न?

गाँधीजी का ओवरकोट*

ठण्ड में मैं खादी भण्डार का ओवरकोट पहनता हूँ। मैं इसे 'गाँधीजी का ओवरकोट' कहता हूँ। बिल्कुल गाँधीजी की तरह सादा सिला हुआ और राजनीतिज्ञों के गाँधीवाद की तरह सपाट। फिटिंग की जरूरत नहीं। सींकिया यार से लेकर तगड़ा पहलवान—दोनों पहन सकते हैं। कुछ लोग ऐसे लगते हैं, जैसे लबादा शरीर पर डाले हों। ऊँचे किस्म का ऊन लेकर कीमती ओवरकोट सिलवानेवाले दर्जी से कंधे की फिटिंग कराते हैं, पीठ और सीना नपवाते हैं। निचाई तय करते हैं। धागा तय करते हैं। फिर दो-तीन बार ट्रायल देने आते हैं। दर्जी से बहस करते हैं।

मगर इस ओढ़नेवाले गाँधीवाद में, यानी इस ओवरकोट में कोई झंझट नहीं। कोई बिचौलिया नहीं। दो आस्तीनें हैं—साढ़े-चार फुटिए जवान से लेकर 6 फुट वाले तक के लिए एक साइज की। समता का सिद्धांत है यह। सर्वोदय भी यही है। आस्तीनों के अलावा एक लबादा है जो शरीर को आगे-पीछे लपेटे रहता है। बटनें भी ऐसी सर्वहारा कि एक साल में धागा टूटने लगता है। बटनों को फिर लगवाना पड़ता है।

कुल मिलाकर यह सर्वहारा का ओवरकोट है और इसे निकालने के लिए खादी बोर्ड को बधाई दी जानी चाहिए। लोग कहते हैं कि संस्था में घपले हैं। मैं इसे दुष्टों का कुप्रचार मानता हूँ। गाँधीजी के जो भक्त हैं, वे क्या घपला करेंगे? कभी नहीं।

यह गाँधीजी का ओवरकोट अद्भुत है। मैं तो स्वराज्य से ज्यादा इस ओवरकोट को गाँधीजी की देन मानता हूँ। इसे धुलाने की जरूरत नहीं। यह मैला होता ही नहीं। एक मित्र ने कहा—'इस पर इस्तरी हो ही नहीं सकती। इसे पहनकर मैं रात को रेलगाड़ी में सो जाता हूँ। सुबह देखता हूँ, एक भी सलवट नहीं। इसे आप पेटी में बंद रखिए। निकालेंगे तो ताजा का ताजा। और तो और, इसे साल भर आप मटके में रख दीजिए। निकलेगा, तो पहले जैसा ही। कोई फर्क नहीं। जैसा मटके में डाला था, ठीक वैसा ही निकलेगा। ठीक गाँधीवाद की तरह है जो मटके में डाल दिया है। वक्त आने पर मटके में से निकालकर पहन लेते हैं। या कहिए ओढ़ लेते हैं।'

यह अद्भुत सस्ता कोट गाँधीवादियों की एक अनुपम देन है।

यह इतना गरमाता है कि कंबल ओढ़े बिना भी सो सकते हैं।

मैं तो जब इसे पहनता हूँ तब लगता है, गाँधीजी की बकरी की खाल ओढ़े हूँ। और देशभक्तों को ऐसा इसलिए नहीं लगता होगा कि वे गाँधी की बकरी फौरन बेच चुके थे। थोड़ा रुक जाते तो आज बहुत बड़ा धंधा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होता। पब्लिक सेक्टर में कारखाना खोल दिया जाता और दुनिया-भर में विज्ञापन छपवाते—

'गाँधी की बकरी का कोट। रीअल गाँधी कोट। मिंक कोट से ऊँचे दर्जे का।' भारतीय दस्तकारी की दूसरी चीजों के साथ इस कोट की न्यूयार्क, पेरिस, बोन, फ्रांकफर्ट

---

* 10 फरवरी, 1974

और न जाने कहाँ-कहाँ नुमाइश की जाती। नुमाइशी किस्म की जनानियों को विदेश-यात्रा का सुख मिलता। साथ में नेता और अधिकारी लोग भी जाते।

तब मिसेज रावर्ट न्यूयार्क में मिसेज सिम्पसन से कहतीं—'देखा, बड़ा अच्छा मिंक कोट इस साल मैंने खरीदा है। मगर तुम यह क्या पहने हो?'

मिसेज सिम्पसन कहती—'फाइ आन दीज मिंक कोट्स! इन मिंक कोटों को धिक्कार है। मैं गाँधीजी की बकरी का कोट पहने हूँ। इसकी कीमत मिंक कोट से डेढ़ गुनी होती है।'

मिसेज रावर्ट दाँतों तले अँगुली रख लेती—'रीअली! गेंडी कोट। उनकी बकरी के चमड़े का कोट है? माई गाड? सच ए हाली कोट। (इतना पवित्र कोट!) प्लीज गेट मी वन बेन दी नेक्स्ट स्टाक कम्स (अगला स्टाक आये तो मुझे एक जरूर खरीद देना।) आई वाण्ट ए गेंडी कोट।'

मगर गाँधी-भक्तों ने उनके नाम पर छोटे-मोटे धंधे तो किये, पर इस अंतर्राष्ट्रीय धंधे को भूल गए। आज भी समय गुजरा नहीं है। यह जो खादी का ओवरकोट मैं पहने हूँ, इसी को रंग-रँगाकर विदेशों में गाँधीजी के नाम से बेच सकते हैं।

बनावट और मिलावट में हम उस्ताद हैं। इण्डोनेशिया के सुकर्णो जैसे घोर अहंकारी राष्ट्रपति ने भी आत्मकथा में हमें बड़ा ऊँचा दर्जा दिया है। उसने लिखा है—'जब साम्राज्यवादी हमारा देश छोड़कर गए, तब सबकुछ नष्ट कर गए। इसलिए हमने हर मंत्री को अपने विभाग के सिवा किसी चीज की तस्करी का काम भी दिया—जैसे विदेश विभाग तथा खाद्य सामग्री की तस्करी। इसमें भारतीयों ने हमारी बड़ी मदद की क्योंकि भारतीय जन्म से ही तस्कर होता है। इण्डियंस आर बार्ण्ड स्मगलर्स।'

यों सुकर्ण से बाद में हमारे संबंध खराब हो गये थे, पर कितनी बड़ी प्रशंसा की है उसने हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा की।

बहरहाल, मैं बड़े धंधे के योग्य तो हूँ नहीं। उतने पैसे ही नहीं हैं। मैं ज्यादा-से-ज्यादा इतना कर सकता हूँ कि एक छोटी दूकान खोल दूँ। बोर्ड लगा दूँ—'यहाँ गाँधीजी की बकरी के परिवार की बकरियों का शुद्ध, पवित्र, पतित-पावन दूध मिलता है।'

शायद धंधा चल निकले।

खादी-भण्डार का यह ओवरकोट मैं पवित्र रामनामी दुपट्टे की तरह पहनता हूँ।

कल ही एक पुराने गाँधीवादी मिल गए।

पहले मंत्री हो गए थे, एक प्रदेश में। फिर दल-बदल में निर्णय गलत ले लिया तो मंत्री नहीं रहे। विधायक रहे। अब विधायक भी नहीं हैं, क्योंकि टिकट दूसरा झपट ले गया। टिकट के मौसम में गाँधीवादी बाज होता है। झपट्टा मारा और टिकट ले भागे।

पर मजे में हैं। एक-दो एजेंसियाँ हैं। लड़के दुकान देखते हैं। उनका मेरा आमना-सामना कल हो गया।

वह भी खादी-भण्डार का ओवरकोट पहने थे।

मुझे देखा तो रुक गए। हमारे हँसी-मजाक के संबंध हैं। कहने लगे, ''अरे, तुम भी खादी-भण्डार पर आ गए।''

मैंने कहा, ''नहीं, सिर्फ़ यह ओवरकोट पहनता हूँ। आप भी वही पहने हो। बड़ा गर्म होता है।''

वह बोले, ''गाँधी-भण्डार का ओवरकोट गर्म तो होगा ही। इसमें राष्ट्र के लिए बलिदान की गर्मी जो है न। कितने शहीदों की गर्मी है इसमें!''

मैंने कहा, ''इसीलिए मैं इसे पहनता हूँ क्योंकि राष्ट्र के लिए मैंने कोई बलिदान नहीं किया, जिससे गर्मी आए। इसीलिए इस ओवरकोट को पहनता हूँ। मैं इसे गाँधीजी का ओवरकोट कहता हूँ। इसमें दूसरों के बलिदान की गर्मी है। मैं इस गर्मी की चोरी करता हूँ।''

वह बोले, ''ठीक ही कहते हो।''

मैंने कहा, ''बात यह है कि गाँधीजी का सबकुछ तो चला गया, बस यही ओवरकोट बचा है।''

वह बोले, ''पर तुम नहीं जानते, इस ओवरकोट के बड़े फायदे हैं। इससे सब कुछ ढँक जाता है। गाँधीवाद का यह लबादा सब ढँक लेता है।''

मैंने पूछा, ''तुम तो पुराने गाँधीवादी हो, खादी पहनते होगे। मैं खादी की 'थ्योरी' को नहीं मानता। वह एक समय था। गुजर गया। पर तुम तो पक्के गाँधीवादी हो, सबकुछ खादी का ही पहनते होंगे?''

वह हँसे। कहने लगे, ''अरे यार, भीतर सब देशी और विदेशी मिल का पहनते हैं। बनियान फाइन कपड़े की, खादी की नहीं।''

मैंने कहा, ''क्यों?''

वह बोले, ''इसलिए कि गाँधीजी कहीं दिल को स्पर्श न कर जायें, वरना इन एजेंसियों का क्या होगा?''

मैंने पूछा, ''अंडरवेअर?''

वह हँसे। कहने लगे, ''आ गये मजाक पर। गाँधीजी लँगोटी लगाते थे। हम सिली लँगोटी पहनते हैं बढ़िया कपड़े की।''

मैंने पूछा, ''कुरता?''

उन्होंने बटन खोलकर दिखाया—बहुत कीमती फाइन ऊन का कुरता था।

मैंने कहा, ''फिर यह लबादे की तरह भद्दा खादी-भण्डार का ओवरकोट क्यों पहनते हो? बढ़िया विदेशी ऊन का कोट क्यों नहीं पहनते?''

वह कहने लगे, ''अरे तुमने खुद इसे गाँधीजी का ओवरकोट कहा है न। हम इसे इसीलिए पहनते हैं कि इसके नीचे भीतर का सबकुछ दब जाय।''

मैंने कहा, ''जैसे हमारे मैल की बदबू दबती है?''

राम का दुख और मेरा

बादल गरज रहे हैं और मुझे गोस्वामीजी की यह अर्द्धाली याद आ रही है—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा।।

यों रामचरित मानस में पूरा वर्षा-प्रसंग नीति-शिक्षण का एक बहाना है। राम लक्ष्मण को बाढ़ पर आयी क्षुद्र नदी दिखाते हैं और कहते हैं कि इसी प्रकार खल थोड़े धन से ही बौरा जाता है। राम लक्ष्मण को नीति और धर्म में बहलाये रहते हैं, अपने मन में तनिक भी झाँकने नहीं देते। केवल यहीं उनकी सावधानी ढीली हुई है, जब वे कह उठते हैं कि चारों ओर मेघ घमंड से गरज रहे हैं और मैं प्रियाहीन हूँ तो मेरा मन डरता है।

इस अर्द्धाली का क्या अर्थ है? वैसे पेशेवर रामायणी इसके दस अर्थ निकालेंगे पर उनमें वह हरगिज नहीं होगा, जो तुलसीदास का अभिप्रेय है। एक-एक चौपाई के जब ये कई अर्थ निकालते हैं, तो मेरे मन में आता है कि इनसे कहूँ कि भाई, जिसकी बात के एक से अधिक अर्थ निकलें वह संत नहीं होता, लुच्चा आदमी होता है। संत की बात सीधी और स्पष्ट होती है और उसका एक ही अर्थ निकलता है। तुम संत की बात के कई अर्थ निकालकर क्यों अनर्थ करते हो? इनके द्वारा किया गया एक अर्थ यह है—'प्रियाहीन' का अन्वय यों होगा प्रिया-अहि-न, याने राम कहते हैं कि हे लक्ष्मण, बादल गरजते हैं और मेरा मन डरता है। डर लगता है कहीं प्रिया को इस बरसात में सर्प न काट ले। इस अर्थ से चाहे कथावाचक की आरती की थाली पैसों से भर जाय, पर मेरा समाधान कैसे होगा? सीता दूर है, तो राम का मन डरता क्यों है? क्या इसलिए कि न जाने सीता इस बरसात में कहाँ है? या इसलिए कि प्रिया के विछोह से मन कमजोर हो गया? प्रिया पास होने से क्या पुरुष अधिक निडर होता है? लेकिन मेरा पड़ोसी बाबू तो उल्टी बात कहता है—भैया, अपन तो बाल-बच्चेवाले आदमी हैं, डरकर चलते हैं, सबकी सुन लेते हैं।

राम की बात राम जानें। बादलों की गर्जन से डरता मैं भी हूँ, पर इस डर का कारण जानता हूँ और बता भी सकता हूँ। नहीं, रामवाला कारण नहीं है। मेरे डर का कारण कोई हरण की गयी प्रिया नहीं है, यह मकान है, जिसकी छाया-तले बैठा हूँ। राम इस भय को नहीं जानते थे। वे किसी किराये के मकान में चतुर्मास काटते तो भाई को ऐसी बातें थोड़े ही सिखाते कि हे लक्ष्मण, पर्वत बूँदों के आघात को ऐसे सह रहे हैं, जैसे संतजन दुष्टों के वचन सहते हैं। वे कहते हैं कि हे लक्ष्मण! मेरे ठीक सिरहाने एक बड़ा टपका है; मुझे रात को नींद नहीं आयी। आज ठीक कराना। और लक्ष्मण 'जो आज्ञा' कहकर मकानवाले से शिकायत करने चल देते। पर्वत चाहे बूँदों का आघात कितना ही सहें, लक्ष्मण बर्दाश्त नहीं करते। वे बाण मारकर बादलों को भगा देते या मकान मालिक का ही शिरच्छेद कर देते।

हमसे न बादल डरता है, न मकान मालिक। और हम एक कोने में दुबके बैठे छत से प्रगट होनवाली जलधाराओं को देखते रहते हैं। ग़ालिब का मकान भी मेरे ही जैसा रहा

होगा। तभी एक चिट्ठी में लिखा है, 'आसमाँ एक घंटा बरसे तो घर दिन-भर।' कवि रहीम इस कष्ट को कष्ट ही नहीं मानते, बल्कि बड़ा वरदान मानते हैं—

टूट खाट घर टपकत, टटिऔ टूट।
पिय की बाँह उसिसवा, रूख कै लूट।।

रहीम की बात मैं समझता हूँ। सारी महत्ता उस खास किस्म के तकिए की है। उसके सामने टूटी खाट, टपकते घर और टूटी टटिया की नहीं चल पाती। पर रूई के तकिए से यह चमत्कार कैसे पैदा होगा? इस बात को आगे बढ़ाना अच्छा नहीं।

आसमान के और मेरे हृदय में एक साथ धड़कन हो रही है। कविता लिखने के लिए व्यर्थ भय की अनुभूति नहीं बुलाता। यह वास्तविक भय है जिसके सामने कविता नहीं लिखी जाती, जान बचायी जाती है। घर में इतना पानी भर जाता है कि कभी सोचता हूँ कि अगर फर्श पत्थर का न होता, तो इन कमरों में धान बो देता।

मकान-मालिक का अपराध नहीं है। उसने मकान ऐसा बनवाया है कि पानी क्या, हवा तक न घुस सके। एक भी खिड़की नहीं है। अलमारी या ताक भी नहीं है, क्योंकि इनसे दीवार कमजोर होती है। बस दीवारें हैं और ऊपर पत्थर सीमेंट की छत है। दो हजार वर्ष बाद यह पुरातत्त्ववेत्ताओं को ऐसा का ऐसा ही जमीन में गड़ा मिल जाएगा। बरामदे में छत को थामे चार विशाल चौकोर स्तम्भ खड़े हैं। बड़े मजबूत! ग्रीक पुराणों के एटलस को पता लग जाय तो इन स्तम्भों पर आसमान को रखकर तनिक सुस्ता ले। यदि किसी अच्छे पुरातत्त्ववेत्ता को यह मकान दिख जाय तो वह फौरन निष्कर्ष निकाल ले कि वास्तुकला में मोहनजोदड़ों के खँडहरों से मिलता है और खोदकर यहाँ जमा दिया गया है। ऐसा शानदार मकान है। पर यह टपकता है।

वर्षा के पहले दौर में जब पानी टपका तो सोचा कि इतना सह लेंगे। मकान-मालिक से मरम्मत के लिए नहीं कहा। (गरीब आदमी का व्यर्थ पैसा क्यों खर्च हो?) पर ज्यों-ज्यों वर्षा बढ़ी, त्यों-त्यों टपके भी बढ़ते गए। तब हमने मकान-मालिक को कष्ट दिया। उसने अपने सामने दो बार सीमेंट का प्लास्टर पुतवाया। हमें बाद में समझ में आया कि यदि वह इतनी दिलचस्पी न लेता और सामने प्लास्टर न कराता, तो पानी तभी बंद हो जाता। (तब जरा मोटा प्लास्टर हो सकता था) खैर, उस वक्त तो हम प्रभावित हुए थे। पर जब फिर भी पानी आना बंद न हुआ तो हम सब परेशान हुए कि आखिर पानी आता कहाँ से है। किसी अखबार को मालूम हो जाता तो वह छाप देता कि भगवान का चमत्कार देखो, पत्थर में से जलधारा प्रकट हो रही है। श्रद्धालुओं की भीड़ के डर से हमने यह चमत्कार प्रकट नहीं होने दिया। हमें याद था कि कुछ ही साल पहले एक भेड़ चरानेवाले लड़के का चमत्कारी बालक के रूप में प्रचार करके पत्रकारों ने लाखों की भीड़ जमा कर दी। वहाँ हैजा हो गया और कई श्रद्धालु वहीं अंधविश्वास की वेदी पर बलि हो गए।

एक दिन हमने इंजीनियरिंग कालेज से इसी वर्ष डिग्री पानेवाले एक तरुण इंजीनियर को यह चमत्कार दिखाया। उसने ध्यान से जाँचकर कहा, "ठीक है, समझ गया। ऊपर से

प्लास्टर हो ही चुका है। इसमें भीतर से सेंधों में सीमेंट और रेत भरवा दीजिए। भीतर से प्लास्टर हो जाने पर एक बूँद नहीं आयेगी।'' मैं इस युक्ति से प्रभावित हो गया। पर मेरे भाई में व्यवहार-बुद्धि अधिक है। उसने कहा, ''ऐसा करने से दीवारों में पानी घुसता जाएगा और किसी दिन ऊपर दीवार खसक पड़ेगी।'' इंजीनियर ने उत्तर नहीं दिया। उसे एक जरूरी काम याद आ गया। मैं समझ गया कि ज्यों-ज्यों देश में इंजीनियरिंग कालेज खुलते जा रहे हैं, त्यों-त्यों कच्चे पुल और तिड़कनेवाली इमारतें क्यों अधिक बनते जा रहे हैं। और जब हर जिले में इंजीनियरिंग कालेज हो जाएगा, तब हम लोग कहाँ रहेंगे?

किसी ज्ञानी ने हमें एक दिन सांत्वना दी कि इतने परेशान मत हुआ करो। ये किराए के मकान 'कमर्शियल बेसिस' (व्यावसायिक आधार) पर बनवाये जाते हैं। व्यावसायिक आधार का सूत्र है—कम लागत, घटिया माल, अधिक दाम। मक़ान भी दो तरह के होते हैं, रहने के और किराये पर देने के। एक प्रकार के मकान से दूसरे प्रकार का काम नहीं लिया जाता—रहने का मकान किराए पर नहीं दिया जाता, और किराए के मकान में रहा नहीं जा सकता। व्यावसायिक आधार पर तो हम रोज पिट रहे हैं। व्यावसायिक आधारवालों का बस चले तो वे हमारी नसों का गर्म रक्त निकालकर उनमें पानी भर दें।

एक दिन एक परिचित पधारे। इनके भी दो मकान किराए पर चल रहे थे और इस तरह वे हमारे मकान मालिक की 'मौसी के लड़के' होते थे। सगे नहीं, पर सगे से अधिक याने व्यावसायिक आधार पर। उन्होंने छत को ऊपर से देखा और बोले, ''इसमें प्लास्टर कराना चाहिए।'' हमने कहा, ''दो बार तो हो चुका।'' वे हँसकर बोले, ''प्लास्टर नहीं हुआ, सीमेंट पोती गयी है। मकानवाले से कहो कि मोटा प्लास्टर करवाये।'' हमने कहा, ''कितना तो कहा। यहाँ तक कह दिया कि किसी दिन यह छत गिरेगी, तो हमारी जान चली जाएगी।'' यह सुनकर वह दार्शनिक की तरह बोले, ''अपनी जान जाने की बात करने से काम नहीं चलेगा। यह कहो कि तुम्हारी दीवार गिर जाएगी और तुम्हारा नुकसान हो जाएगा। समझे ? तुम देखोगे कि फौरन चार इंच मोटा प्लास्टर हो जाएगा। मकान की मरम्मत कोई तुम्हारी जान बचाने के लिए थोड़े ही की जाएगी, दीवार बचाने के लिए की जाएगी।''

व्यावसायिक आधार पर दीवार और मनुष्य के तुलनात्मक मूल्य के सूत्र की हमने गाँठ बाँध ली। हमने कल जब दीवार गिरने की आशंका मकान मालिक के सामने प्रकट की, तो उसने फौरन नौकर को हुक्म दिया कि पानी खुलते ही अच्छा मोटा प्लास्टर कराना।

हम अब पानी खुलने की राह देख रहे हैं। बादल गरज-गरजकर मन कँपा जाते हैं। राम प्रियाहीन थे, इसलिए डरते थे। हम गृहहीन हैं, इसलिए डरते हैं। किसका अभाव बड़ा है?

कंधे श्रवणकुमार के

एक सज्जन छोटे बेटे की शिकायत करते हैं–कहना नहीं मानता और कभी मुँहजोरी भी करता है। और बड़ा लड़का? वह तो बड़ा अच्छा है। पढ़-लिखकर अब कहीं नौकरी करता है। सज्जन के मत में दोनों बेटों में बड़ा फर्क है और यह फर्क कई प्रसंगों में उन्हें दिख जाता है। एक शाम का प्रसंग है। वे नियमित संध्यावंदन करते हैं (यानी शराब पीते हैं), कोई बुरा नहीं करते। बहुत लोग पीते हैं। गंगाजल खुलेआम पीते हैं, शराब छिपकर–गो शराब ज्यादा मज़ा देती है। आदमी बेमज़ा बात खुलकर करता है। और बामज़ा को छिपकर, याने सुख शर्म की बात मानी जाती है।

लेकिन बात उन सज्जन की उठी थी। उन्हें सोडा की जरूरत पड़ती है। बड़ा लड़का कहते ही फौरन किताब के पन्नों में पेंसिल रखकर सोडा लेने दौड़ जाता था। लाता छोटा भी है, पर फौरन नहीं उठता। पैराग्राफ पूरा करके उठता है। भारतीय पिता को यह अवज्ञा बरदाश्त नहीं। वह सीमांतों पर संबंध रखता है। या तो बेटे को पीटेगा या उसके हाथ से पिटेगा। बीच की स्थिति उसे पसंद नहीं। छोटा बेटा भी हरकत करता है। पिता जल्दी मचाते हैं, तो कह भी देता है 'जाता तो हूँ!' उसके मन में सवाल और शंका भी उठती है। सोचता है–यह पिता फीस रोकर देता है, कपड़े बनवाना टालता जाता है, फिर यह नहीं सोचता कि इसे पढ़ाई के बीच से नहीं उठाना चाहिए।

बड़े लड़के के मन में कभी सवाल और शंका नहीं उठे। वह मेरी ही उम्र का होगा। उसने वही किताबें पढ़ी होंगी, जो मैंने पढ़ी थीं। हम सब गलत किताबों की पैदावार हैं। ये सवालों को मारने की किताबें थीं। स्कूल प्रार्थना से शुरू होता था–'शरण में आए हैं हम तुम्हारी, दया करो हे दयालु भगवन्!' क्यों शरण में आए हैं, किसके डर से आए हैं–कुछ नहीं मालूम। शरण में आने की ट्रेनिंग अक्षरज्ञान से पहले हो जाती थी। हमने गलत किताबें पढ़ीं और आँखों को उनमें जड़ दिया। छोटा लड़का दूसरी किताबें पढ़ता है और आँखें उनमें गड़ाता नहीं है, आसपास भी देख लेता है। वह अपनी आँखों को फूटने से बचाने की कोशिश कर रहा है। इससे सारे पिता-स्वरूप लोग परेशान हैं–भौतिक पिता, गुरु, बड़े-बूढ़े, शासक और नेता। हमारी किताबों में पिता-स्वरूप लोग सवाल और शंका से ऊपर होते थे। शिष्य पक्षपाती गुरु को अगूँठा काटकर दे देता था और दोनों 'धन्य' कहलाते थे। अब शिष्य उपकुलपति से रिपोर्ट कर देता है कि अमुक अध्यापक शिष्यों के अँगूठे कटवाते हैं। यदि उपकुलपति ध्यान नहीं देते, तो वह विद्यार्थियों का जुलूस लेकर विश्वविद्यालय पर धावा बोल देता है।

हमें तो तीसरी कक्षा में ही उस भक्त की कथा पढ़ा दी गयी थी, जो अपने पुत्र को आरे से चीरता है। कुछ लोगों के लिए आदमी और कद्दू में कोई फर्क नहीं। दोनों ही चीरे जा सकते हैं। उस भक्त का नाम मोरध्वज था। ऐसी सारी कथाओं का अंत ऐसा होता है जिससे चिरनेवालों को प्रोत्साहन मिले। भगवान प्रकट होते हैं और जिस पार्टी का जो

नुकसान हुआ है, पूरा कर देते हैं—मृत को जिला देते हैं, जायदाद चली गयी है, तो वापस दिला देते हैं, किसी को मुआवजे के रूप में स्वर्ग भेज देते हैं। कथा के इस अंत ने कितनी पीढ़ियों को आरे से चिरवा दिया होगा।

इस कथा पर न मैंने शंका की थी, न सज्जन के बड़े बेटे ने। मगर छोटा लड़का पूछेगा—पिताजी, चीरने से पहले यह बताइए कि भगवान इससे खुश होते हैं इसका सबूत क्या है? फिर इसकी क्या गारंटी कि वे आ ही जायेंगे? उन्हें हजार काम लगे रहते हैं। फिर इसका क्या भरोसा कि वे कटे को जोड़ देते हैं? अगर यह सब हो भी, तो भी आपके सत्यकल्पित विश्वास आपके अपने हैं। उनके लिए आप अपने को कटवाइए और अपना हठ निभाइए। पहले जन्मे लोग अपनी सही-गलत मान्यता के लिए पीछे जन्मों को क्यों काटें ? एक पीढ़ी के विश्वासों के लिए दूसरी पीढ़ी क्यों चीरी जाए?

लड़के मुँहजोरी करने लगे हैं। कम्बख्तों की किताबें बदल गयी हैं। कोर्स इतनी जल्दी क्यों बदलने लगे हैं? बड़े लड़के से कह दिया था कि अपनी किताबें सँभालकर रखना, छोटे के काम आयेंगी! पर किताबें बदल गयीं। पुरानी किताबें किसी के काम नहीं आ रही हैं। एक ही किताब पीढ़ियों क्यों नहीं चलती?

पिताओं की यह चिंता है। बड़ा लड़का फौरन किताब में पेंसिल रखकर सोडा लेने भाग जाता था। छोटा पैराग्राफ पूरा करके उठता है।

भीष्म की कथा भी हमें तभी पढ़ा दी गयी थी। हमने भीष्म को 'धन्य' कहा था। छोटा लड़का शांतनु को 'धिक्कार' कहेगा। 'धन्य' और 'धिक्कार' की जगहें बदल गयी हैं। लोगों को पता नहीं है। छोटा लड़का भीष्म से कहेगा—क्या तुमने भी वही किताबें पढ़ी थीं, जो हमारे बड़े भाई ने? तुम पिता से क्यों नहीं कह सके कि जीवन-भर के भोग के बाद भी आपकी लिप्सा बनी हुई है, तो मैं क्या करूँ? अपना संयम दे सकता, तो थोड़ा दे देता, जीवन कैसे दे दूँ? राज्य से आप मुझे वंचित कर सकते हैं, पर मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार मैं हरगिज नहीं छोड़ूँगा।

छोटा टिप्पणी करेगा—भीष्म ऐसा नहीं कह सके। उन्हें पिता ने आदमी से तीर चलानेवाली मशीन बना दिया। ऑटोमेटिक धनुष! महाभारत का यह सबसे भला, तेजस्वी, आदरणीय, ज्ञानी व्यक्ति सबसे दयनीय भी है।

मगर देख रहा हूँ कि श्रवणकुमार के कंधे दुखने लगे हैं। यह काँवड़ हिलाने लगा है। काँवड़ में अंधे परेशान हैं। विचित्र दृश्य है यह। दो अंधे एक आँखवाले पर लदे हैं और उसे चला रहे हैं। जीवन से कट जाने के कारण एक पीढ़ी दृष्टिहीन हो जाती है, तब वह आगामी पीढ़ी के ऊपर लद जाती है। अंधी होते ही उसे तीर्थ सूझने लगते हैं। वह कहती है—हमें तीर्थ ले चलो। इस क्रियाशील जन्म का भोग हो चुका है। हमें आगामी जनम के भोग के लिए पुण्य का एडवांस देना है। आँखवाले की जवानी अंधों को ढोने में गुजर जाती है। वह अंधों के बताये रास्ते पर चलता है। उसका निर्णय और निर्वाचन का अधिकार चला

जाता है। उसकी आँखें रास्ता नहीं खोजतीं, सिर्फ राह के काँटे बचाने के काम आती हैं।

कितनी काँवड़ें हैं—राजनीति में, साहित्य में, कला में, धर्म में, शिक्षा में। अंधे बैठे हैं और आँखवाले उन्हें ढो रहे हैं। अंधे में अजब काँइयाँपन आ जाता है। वह खरे और खोटे सिक्के को पहचान लेता है। पैसे सही गिन लेता है। उसमें टटोलने की क्षमता आ जाती है। वह पद टटोल लेता है, पुरस्कार टटोल लेता है, सम्मान के रास्ते टटोल लेता है। बैंक का चेक टटोल लेता है। आँखवाले जिन्हें नहीं देख पाते, उन्हें वह टटोल लेता है।

नये अंधों के तीर्थ भी नये हैं। वे काशी, हरिद्वार, पुरी नहीं जाते। इस काँवड़वाले अंधे से पूछो—कहाँ ले चलें? वह कहेगा—तीर्थ! कौन-सा तीर्थ? जवाब देगा—केबिनेट ! मंत्रिमंडल! उस काँवड़वाले से पूछो, तो वह भी तीर्थ जाने को प्रस्तुत है। कौन-सा तीर्थ चलेंगे आप? जवाब मिलेगा—अकादमी, विश्वविद्यालय!

मगर काँवड़ें हिलने लगी हैं। ढोनेवालों के मन में शंका पैदा होने लगी है। वे झटका देते हैं, तो अंधे चिल्लाते हैं।—अरे पापी! यह क्या करते हो? क्या हमें गिरा दोगे? और ढोनेवाला कहता है—अपनी शक्ति और जीवन हम अंधों को ढोने में नहीं गुजारेंगे। तुम एक जगह बैठो। माला जपो। आदर लो, रक्षण लो। हमें अपनी इच्छा से चलने दो। अनुभव दे दो, दृष्टि मत दो। वह हम कमा लेंगे।

राजनीति, साहित्य आदि तो बड़े प्रगट क्षेत्र हैं। अप्रगट रूप से भी, विभिन्न क्षेत्रों में श्रवणकुमार काँवड़ उतारने के लिए हिला रहे हैं। वे किन्हीं विश्वासों की आरी से चिरने को तैयार नहीं हैं। मैं कॉफ़ी हाउस के कोने में बैठे उस युवक की बात नहीं कह रहा हूँ, जिसने गुस्से में दाढ़ी बढ़ा ली है, जैसे उसकी दाढ़ी एक खास साइज और आकार की होते ही क्रान्ति हो जाएगी। बढ़ी दाढ़ी, ड्रेन पाइप और 'सो ह्वाट' वालों से यह नहीं हो रहा है। चुस्त कपड़े, हेयर स्टाइल और 'ओ वंडरफुल' वालियों से भी यह नहीं हो रहा है। ये तो न विश्वास में सच्चे, न शंका में। यह बिना प्रदर्शन और शोरशराबे के घरों और परिवारों में हो रहा है। सुशील, विनम्र और आज्ञाकारी युवक-युवती काँवड़ें उतारने लगे हैं, किसी के विश्वास के आरे से कटने से इन्कार करने लगे हैं। एक परिचित हैं जिनका ज्योतिष में विश्वास है। उनकी शिक्षिता जवान लड़की है। जिससे वह शादी करना चाहती थी, उससे ग्रह नहीं मिले। एक-दो और योग्य वरों से मिलान किया, पर ग्रह यहाँ भी नहीं मिले। उसके ग्रहों ने किसी नालायक से मिलने के लिए स्थिति सँभाली होगी। लड़की एक-दो साल घुटती रही। एक दिन उसने नम्रता से परिवार से कह दिया—'आप लोगों का इस ज्योतिष में विश्वास है, पर मेरा नहीं है। जो मेरा विश्वास ही नहीं है, उस पर मेरा बलिदान नहीं होना चाहिए।' परिवार कुछ देर तो चमत्कृत रहा, फिर उसकी इच्छा से शादी कर दी।

देख रहा हूँ कि मोरध्वज का आरा छीनकर फेंका जा रहा है। श्रवणकुमार के कंधे दुखने लगे हैं। वह काँवड़ को उतारकर रखने लगा है।

वे सज्जन परेशान हैं। छोटा लड़का पैराग्राफ पूरा करके उठता है। बड़ा तो फौरन पेंसिल रखकर दौड़ जाता था। ☯

'लिटरेचर ने मारा तुम्हें !'

दीवाली पर मैं लक्ष्मी-पूजन नहीं करता। न मेरे घर की दीवारों पर भद्दे अक्षरों में 'श्री लक्ष्मीजी सदा प्रसन्न रहें' लिखा है और न स्वस्तिक का चिह्न बना है। पूजा अपनी प्रकृति से मेल ही नहीं खाती। किसी की पूजा करेंगे, तो या तो उसका नुकसान होगा या अपना। मेरा एक दोस्त है जिसकी प्रकृति भी ऐसी है। उसने एक प्रकाशक के लिए पाठ्य-पुस्तकें लिखीं और उनके छपने तक प्रकाशक के बाप की मृत्यु हो गयी। कई महीने बाद प्रकाशक का मैनेजर मुझे मिला, तो कहने लगा कि उनमें से एक भी पुस्तक बोर्ड में मंजूर नहीं हुई। मैंने कहा—यह बहुत शुभ हुआ। अगर उसकी एक भी पुस्तक मंजूर हो जाती, तो प्रकाशक का पूरा खानदान मर जाता। उस आदमी के संपर्क से हमेशा अशुभ हुआ है (बदनामी के डर से उसका नाम नहीं बताऊँगा)।

मैंने भी 10 से 17 साल की उम्र तक लक्ष्मी की पूजा की। पिताजी मुझसे पूजा कराते थे—शायद यह सोचकर कि लक्ष्मी का बच्चे के प्रति वात्सल्य उमड़ेगा और वह आ जाएगी। पर वह आयी नहीं। साल-दर-साल मैं उसकी पूजा करता गया और उधर पिताजी का धंधा चौपट होता गया। हर साल दीपकों की संख्या और तेल की मात्रा घटने लगी। पटाखों में भी उम्र बढ़ते मेरी दिलचस्पी कम होती गयी। पटाखे बचपन में ही अच्छे लगते हैं। बचपन में मैं वैसे ही शौक के साथ पटाखे फोड़ता जैसे चीन ने अभी अणु बम फोड़ा है। चीन का अभी बचपन है। प्रौढ़ होने पर पटाखे अच्छे नहीं लगते। रूस अब अणु बमों से पिण्ड छुड़ाना चाहता है। कुछ राष्ट्रों और व्यक्तियों का बचपन कभी नहीं जाता। बूढ़े आदमियों को भी मैंने कुत्ते की पूँछ में पटाखे की लड़ी बाँधकर आग लगाते देखा है। अमेरिका भी टोकिन की खाड़ी में अणु-पटाखे लेकर चक्कर लगा रहा है।

विषयान्तर हो रहा है न? अच्छा, लक्ष्मी की ही बात करता हूँ। 7 साल लगातार लक्ष्मी-पूजन का नतीजा यह निकला कि पिताजी का धंधा बिल्कुल चौपट हो गया और लक्ष्मी का यह 'भक्त' मैट्रिक पास करके नौकरी ढूँढ़ने निकल पड़ा। नौकरी भी की तो स्कूल-मास्टरी। न इनकमटेक्स की, न एक्साइज की। फिर नौकरी छोड़कर स्वतंत्र व्यवसाय के क्षेत्र में आया, तो कहाँ आया? न सीमेंट में, न गल्ले में, न हार्डवेअर में। साहित्य में! मतिभ्रष्ट आदमी और क्या करेगा? लक्ष्मी अब इस मुहल्ले में आती भी हैं, तो दूर से मेरी 'नेमप्लेट' पढ़कर सड़क के उस बाजू हो जाती हैं। मुहल्ले के दो-चार घरों में बैठकर चली जाती हैं। किसी से पूछ भी लेती हैं—सुना है, इस मुहल्ले में कोई एक बड़ा बेवकूफ रहता है। कुछ साहित्य-वाहित्य का वाहियात काम करता है। कोई बता देता है कि हाँ, वह उधर रहता है। वह मुँह फेरकर चली जाती हैं।

मेरा एक दोस्त कहता है—तुम्हें लिटरेचर (साहित्य) ने मारा परसाई।

मारा, बिल्कुल मारा। पुस्तक लिखनेवाले से पुस्तक बेचनेवाला बड़ा होता है। कथा लिखनेवाले से कथावाचक बड़ा होता है। सृष्टि निर्माता से सृष्टि का लूटनेवाला बड़ा होता है।

मैं कथा लिखता हूँ और वह चौराहे पर कथावाचक कथा बाँचता है। वह कथा तुलसीदास ने लिखी थी। कथावाचक की आरती की थाली भर जाती है; ऊपर से भेंट मिलती है, सो अलग। मैं, एक कथा लेखक, सड़क पर खड़ा टुकुर-टुकुर देखा करता हूँ।

उस दिन ज्ञानरंजन ने कहा, "यह कथावाचक हिन्दी में एम. ए. है।"

मैंने कहा, "उसे देखो और अपने को देखो। एक वह हिन्दी का एम. ए. है और एक हम हैं। एम. ए. करने से उसे अक्ल आ गयी और अपनी अक्ल मारी गयी। हम लिखने के चक्कर में फँस गए और उसने सिर्फ बाँचने का अभ्यास किया। वह चल निकला और हम? पाठ्यपुस्तक से कुंजी ज्यादा बिकती है।"

लिटरेचर ने मारा तुम्हें—मेरा वह दोस्त कहता है।

यार, पर मैं करता भी क्या? एक तो लक्ष्मी नारी-रूपिणी, फिर उल्लू पर उसकी सवारी। जिसने भी उसकी कल्पना की है, कमाल किया है। जरूर कोई सोशलिस्ट रहा होगा। जो स्त्री हो और जिसका 'गाइड' उल्लू हो वह इधर आ नहीं सकती। उल्लू कह देगा—'देवी, अगर उधर जाना है, तो कोई टैक्सी कर लीजिए। मैं उसके घर नहीं जाऊँगा। वह मेरी पूरी जाति से घृणा करता है।' बेचारी लौट जाती है। मुझे मालूम है, उसने कभी-कभी कुतूहलवश आने का मन किया है। पर उल्लू ने नहीं आने दिया। उसने अपनी 'सिस्टर' और 'क्लासफेलो' को भी इधर भेजा, पर उल्लुओं ने उन्हें भी लौटा दिया। मुझे लगता है, लक्ष्मी ऊबी हुई-सी उल्लू पर बैठ जाती है और ऊँघती हुई फूल सूँघने लगती है। उल्लू उड़ते-उड़ते रुक जाता है, किसी के पास। कहता है—'देवी, यह मेरा साला है। इसे कुछ दे दीजिए।' लक्ष्मी अपने बैंक का चेक काटकर उसे दे देती है। (यों लक्ष्मी बैंक लिमिटेड फेल हो गया है और डाइरेक्टर लोग जेल में बंद हैं। पर उसमें विष्णु की पत्नी के शेयर नहीं थे।) उल्लू फिर किसी के पास रुककर कहता है—देवी, यह मेरा साढ़ू भाई है। लक्ष्मी फिर उसे चेक काट देती है। इस तरह उल्लू, लक्ष्मी को चाचा, मामा, फूफा, भाई-भतीजों के पास ले जाता है और चेक दिलवा देता है।

लक्ष्मी पूछती है—क्यो रे हरिशंकर परसाई तेरा कोई नहीं है?

उल्लू कहता है—वह मेरा दुश्मन है। उसका नाम मत लो, देवी!

लक्ष्मी की उत्पत्ति की कथा ही ऐसी है कि उसे प्राप्त करना अपने वश के बाहर की बात लगती है। लक्ष्मी समुद्र-मंथन के बाद समुद्र से निकली थी। समुद्र-मंथन अकेले देवताओं ने नहीं किया। उन्होंने दानवों का सहयोग लिया। देवता अकेले समुद्र-मंथन करके लक्ष्मी को निकाल लेते, तो मैं उनकी जय बोलता। मगर 'दानवों' के सहयोग के बिना वे लक्ष्मी प्राप्त ही नहीं कर सके। तो अपनी अर्थव्यवस्था का जो समुद्र है उसके मंथन के लिए मैं दानवों से समझौता करूँ, तब लक्ष्मी बाहर निकलेगी। फिर भी क्या ठिकाना कि वह मुझे मिल ही जाएगी। मामूली देवता तो असंख्य थे, पर लक्ष्मी उन्हें कहाँ मिली? वह सीधे विष्णु के पास गयी और गले लग गयी। दूसरे देवताओं ने भी कोई 'प्रोटेस्ट' नहीं किया। करते भी कैसे? विष्णु बहुत बड़े थे—शक्ति में, धन में, रूप में और चातुर्य्य में। स्त्री

बनकर जिसने अपने दोस्त शंकर को ठग लिया, उसकी चतुराई की कोई कमी नहीं थी। लक्ष्मी सीधी 'मोनोपली' में जाकर मिल गयी। मैं अगर दानवों से समझौता करके अर्थव्यवस्था के समुद्र का मंथन करूँ और कहीं लक्ष्मी फिर 'मोनोपली' के पास चली गयी तो? साहित्य में भी तो 'मोनोपली' है। मोनोपली छोटे को पनपने नहीं देती। एक गरीब मुनि नारद को शादी करने के लिए सुंदर चेहरे की जरूरत पड़ी थी, सो विष्णु ने उसे बंदर का चेहरा दे दिया। फिर खुद जाकर स्वयंवर में बैठ गए और जिस लड़की पर उस बेचारे का जी आ गया था, उससे अपने गले में वरमाला डलवा ली। कहते हैं—नारद, वह तुम्हारा मोह था। और हुजूर आपका?

मुझे भी सलाहें मिलती हैं—अहा, कलाकार तो त्यागी होता है। वह धन के लोभ में नहीं पड़ता।

मैं पूछता हूँ—और हुजूर आप? आप पड़ सकते हैं? धन का लोभ बुरा है, तो आप भी उसमें क्यों पड़ते हैं?

ये सब दूसरे को बंदर का चेहरा लगाकर खुद स्वयंवर में बैठनेवाले हैं।

मेरे एक परिचित व्यापारी कहने लगे—पैसे को पैसा कमाता है। यहाँ बाजार में एक पैसा फेंकते हैं तो वह दस साथ लेकर आता है।

मैंने यह नुस्खा आजमाया। बीच बाजार में खड़े होकर मैंने एक पैसा सड़क पर फेंका। सोचता रहा कि अब यह सारे बाजार के चक्कर लगाकर अपने साथ 10-12 पैसे लेकर लौटता ही है। फिर मैं दस का नोट फेंकूँगा और दो-चार दिन में सारा बाजार लूट लूँगा। पर वह पैसा वहाँ से हिला ही नहीं। मैंने उसे वापस जेब में रख लिया।

उस व्यापारी से कहा—पैसा तो मैंने भी बाजार में फेंका था, पर वह तो कुछ नहीं लाया।

उसने कहा—ऐसे नहीं होता। हमारे पैसे में 'हुक' लगा रहता है। वह पैसों को मछली की तरह फँसा लेता है।

अब मैं पैसों में 'हुक' कहाँ से लगवाऊँ?

मेरा वह दोस्त कहता है—तुम्हें लिटरेचर ने मारा। सरस्वती की तरफ गए तो लक्ष्मी ने तुम्हारी पत्ती काट दी।

आखिर इधर क्यों गया? वैसे सच पूछा जाय तो सरस्वती ज्यादा 'कल्चर्ड' (सुसंस्कृत) है। उसके हाथों में वीणा है, पुस्तक है। पक्षी पर ही सवारी करने का मौका आया, तो उसने उल्लू नहीं, हंस चुना। लक्ष्मी का सारा काम फूहड़ है। सवारी से लेकर श्रृंगार तक। तस्वीर में देखो—फूल पर खड़ी है। अरे, फूल जैसी खूबसूरत कोमल चीज क्या खड़े होने के लिए है? सौंदर्य-बोध बिल्कुल नहीं है लक्ष्मी में। उसे अगर सरस्वती की वीणा मिल जाए, तो उसके तार तोड़कर उनसे उल्लू को बाँधने लगे। संपन्न फूहड़ता की तरफ सुरुचि आखिर कैसे आकर्षित हो।

मेरा दोस्त कहता है—नहीं होती, तो भुगतो। मारा न तुम्हें लिटरेचर ने।

कहने दो उसे। अभी बहुत से फैसले बकाया हैं। अभी क्या कहा जा सकता है कि

कौन मरा और कौन जी गया। नहीं, अब लक्ष्मी की पूजा नहीं होगी। वे और होते हैं जिनके देवता जल्दी-जल्दी बदलते हैं। वे राम को भी प्रणाम कर लेते हैं और रावण को भी। वे दिन को हंस की चोंच सहलाते हैं और रात को उल्लू से गपशप करते हैं।

देवता बदलना इतना आसान नहीं है। और फिर देवी बदलना तो और मुश्किल है।

निंदा-रस

'क' कई महीने बाद आए थे। सुबह चाय पीकर अखबार देख रहा था कि वे तूफान की तरह कमरे में घुसे; 'साइक्लोन' की तरह मुझे अपनी भुजाओं में जकड़ा। मुझे धृतराष्ट्र की भुजाओं में जकड़े भीम के पुतले की याद आ गयी। वह धृतराष्ट्र की ही जकड़ थी। अंधे धृतराष्ट्र ने टटोलते हुए पूछा, 'कहाँ है भीम? आ बेटा, तुझे कलेजे से लगा लूँ।' और जब भीम का पुतला उनकी पकड़ में आ गया, तो उन्होंने प्राणघाती स्नेह से उसे जकड़कर चूर कर डाला।

ऐसे मौके पर हम अकसर अपने पुतले को अँकवार में दे देते हैं; हम अलग खड़े देखते रहते हैं। 'क' से क्या मैं गले मिला? क्या मुझे उसने समेटकर कलेजे से लगा लिया ? हरगिज नहीं। मैंने अपना पुतला ही उसे दिया। पुतला इसलिए उसकी भुजाओं में सौंप दिया कि मुझे मालूम था कि मैं धृतराष्ट्र से मिल रहा हूँ। पिछली रात को एक मित्र ने बताया कि 'क' अपनी ससुराल आया है और 'ग' के साथ बैठकर शाम को दो-तीन घंटे तुम्हारी निंदा करता रहा। इस सूचना के बाद जब आज सवेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निस्नेह, कँटीली देह उसकी बाँहों में छोड़ दी। भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाये है। छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पर वह मेरा दोस्त अभिनय में पूरा है। उसके आँसू-भर नहीं आए, बाकी मिलन के हर्षोल्लास के सब चिह्न प्रगट हो गए—वह गहरी आत्मीयता की जकड़, नयनों से छलकता वह असीम स्नेह और वह स्नेह-सिक्त वाणी।

बोला, "अभी सुबह गाड़ी से उतरा और एकदम तुमसे मिलने चला आया, जैसे आत्मा का एक खण्ड दूसरे खण्ड से मिलने को आतुर रहता है।" आते ही झूठ बोला कम्बख्त—कल का आया है, यह मुझे मेरा मित्र बता गया था। इस झूठ में कोई प्रयोजन शायद उसका न रहा हो। कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं; वे आदतन, प्रकृति के वशीभूत झूठ बोलते हैं। उनके मुख से निष्प्रयास, निष्प्रयोजन झूठ ही निकलता है। मेरे एक रिश्तेदार ऐसे हैं। वे अगर बंबई जा रहे हैं और उनसे पूछें, तो वे कहेंगे, "कलकत्ता जा रहा हूँ।" ठीक बात उनके मुँह से निकल ही नहीं सकती। 'क' भी बड़ा निर्दोष,

सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है।

वह बैठा। कब आये, कैसे हो, वगैरह के बाद उसने 'ग' की निंदा आरंभ कर दी। मनुष्य के लिए जो भी कर्म जघन्य हैं, वे सब 'ग' पर आरोपित करके उसने ऐसे गाढ़े काले तारकोल से उसकी तस्वीर खींची कि मैं यह सोचकर काँप उठा कि ऐसी ही काली तस्वीर मेरी 'ग' के सामने इसने कल शाम को खींची होगी।

सुबह की बातचीत के इस 'एजेंडा' में 'ग' प्रमुख विषय था। फिर तो जिस परिचित की बात निकल आती, उसी को चार-छः वाक्यों से धराशायी करके वह बढ़ देता।

अद्भुत है मेरा मित्र। उसके पास दोषों का 'केटलॉग' है। मैंने सोचा कि जब यह हर परिचित की निंदा कर रहा है, तो क्यों न मैं लगे हाथ अपने विरोधियों की 'गत' इसके हाथों करा लूँ। मैं अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हें निंदा की तलवार से काटता चला। जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मजदूर लकड़ी का लट्ठा खिसकाता जाता है और वह चिरता जाता है, वैसे ही मैंने विरोधियों के नाम एक-एक कर खिसकाए और वह उन्हें काटता गया—'फलाँ चापलूस है... अमुक नंबर एक व्यभिचारी है... अमुक अपनी औरत को अफसरों के यहाँ भेजकर तरक्की पाता है।' कैसा आनंद था! दुश्मनों को रण-क्षेत्र में एक के बाद एक कटकर गिरते हुए देखकर योद्धा को ऐसा ही सुख होता होगा।

मेरे मन में गत रात्रि के उस निंदक मित्र के प्रति मैल नहीं रहा। दोनों एक हो गए। भेद तो रात्रि के अंधकार में ही मिटता है; दिन के उजाले में भेद स्पष्ट हो जाते हैं। निंदा का ऐसा ही भेदनाशक अँधेरा होता है। तीन-चार घंटे बाद, जब वह विदा हुआ, तो हम लोगों के मन में ऐसी शांति और तुष्टि थी जैसे चर्च से निकलते हुए धार्मिक ईसाई के मन में होती है।

निंदा की ऐसी ही महिमा है। दो-चार निंदकों को एक जगह बैठकर निंदा में निमग्न देखिए और तुलना कीजिए दो-चार ईश्वर-भक्तों से, जो रामधुन लगा रहे हैं। निंदकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है। इसीलिए संतों ने निंदकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।

कुछ 'मिशनरी' निंदक मैंने देखे हैं। उनका किसी से बैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नहीं सोचते। पर चौबीसों घंटे वे निंदा-कर्म में बहुत पवित्र भाव से लगे रहते हैं। उनकी नितांत निर्लिप्तता, निष्पक्षता इसी से मालूम होती है कि वे प्रसंग आने पर अपने बाप की पगड़ी भी उसी आनंद से उछालते हैं, जिस आनंद से अन्य लोग दुश्मन की। निंदा इनके लिए 'टॉनिक' होती है। हमारी एक पड़ोसिन वृद्धा बीमार पड़ी थी। हमसे पानी माँगकर पीती थी—उठा नहीं जाता था। सहसा किसी ने आकर कहा कि पड़ोसी डॉक्टर साहब की लड़की किसी के साथ भाग गयी। बस, चाची एकदम उठीं और काँखते-काँखते दो-चार पड़ोसियों को यह शुभ संवाद अपने व्यक्तिगत 'कमेण्ट' के साथ सुना आयीं। उस दिन से उनकी हालत सुधरने लगी।

ट्रेड यूनियन के इस जमाने में निंदकों के संघ बन गए हैं। संघ के सदस्य जहाँ-तहाँ

से खबरें लाते हैं और अपने संघ के प्रधान को सौंपते हैं। यह कच्चा माल हुआ। अब प्रधान उनका पक्का माल बनाएगा और सब सदस्यों को 'बहुजन हिताय' मुफ्त बाँटने के लिए दे देगा। उत्पादन की इस प्रक्रिया को यों समझा सकते हैं—'एक सदस्य ने कहा कि विमला और नरेन्द्र ने चुपचाप शादी कर ली।' यह कच्चा माल हुआ। अब पक्का माल जो बनेगा, वह यह होगा—'विमला को पाँच-छः माह का गर्भ था, इसलिए जल्दी से घबड़ाकर ब्याह कर लिया।' यह फुरसत का काम है, इसलिए जिनके पास कुछ और करने को नहीं होता, वे इसे बड़ी खूबी से करते हैं। एक दिन हमसे एक ऐसे संघ के अध्यक्ष ने कहा, "यार, आजकल लोग तुम्हारे बारे में बहुत बुरा-बुरा कहते हैं।" हमने कहा, "आपके बारे में मुझसे कोई भी बुरा नहीं कहता। लोग जानते हैं कि आपके कानों के घूरे में इस तरह का कचरा मजे में डाला जा सकता है।"

ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निंदा भी होती है। लेकिन इसमें वह मजा नहीं जो मिशनरी भाव से निंदा करने में आता है। इस प्रकार का निंदक बड़ा दुखी होता है, ईर्ष्या-द्वेष से चौबीसों घंटे जलता है और निंदा का जल छिड़ककर कुछ शांति अनुभव करता है। ऐसा निंदक बड़ा दयनीय होता है। अपनी अक्षमता से पीड़ित वह बेचारा दूसरे की सक्षमता के चाँद को देखकर सारी रात श्वान-जैसा भौंकता है। ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निंदा करनेवाले को कोई दण्ड देने की जरूरत नहीं है। वह निंदक बेचारा स्वयं दण्डित होता है। आप चैन से सोइए और वह जलन के कारण सो नहीं पाता। उसे और क्या दण्ड चाहिए? निरंतर अच्छे काम करते जाने से उसका दण्ड भी सख्त होता जाता है। जैसे एक कवि ने एक अच्छी कविता लिखी, ईर्ष्याग्रस्त निंदक को कष्ट होगा। अब अगर एक और अच्छी लिख दी, तो उसका कष्ट दुगना हो जाएगा।

निंदा का उद्‌गम ही हीनता और कमजोरी से होता है। मनुष्य अपनी हीनता से दबता है। वह दूसरों की निंदा करके ऐसा अनुभव करता है कि वे सब निकृष्ट हैं और वह उनसे अच्छा है। उसके अहं की इससे तुष्टि होती है। बड़ी लकीर को कुछ मिटाकर छोटी लकीर बड़ी बनती है। ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों निंदा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेष और इनसे उत्पन्न निंदा को मारता है। इन्द्र बड़ा ईर्ष्यालु माना जाता है क्योंकि वह निठल्ला है। स्वर्ग में देवताओं को बिना उगाया अन्न, बे-बनाया महल और बिन-बोये फल मिलते हैं। अकर्मण्यता में उन्हें अप्रतिष्ठित होने का भय बना रहता है, इसलिए कर्मी मनुष्यों से उन्हें ईर्ष्या होती है।

निंदा कुछ लोगों की पूँजी होती है। बड़ा लंबा-चौड़ा व्यापार फैलाते हैं वे इस पूँजी से। कई लोगों की 'रिसपेक्टेबिलिटी' (प्रतिष्ठा) ही दूसरों की कलंक-कथाओं के पारायण पर आधारित होती है। बड़े रस-विभोर होकर वे जिस-तिस की सत्य-कल्पित कलंक-कथा सुनाते हैं और स्वयं को पूर्ण संत समझने-समझाने की तुष्टि का अनुभव करते हैं।

आप इनके पास बैठिए और सुन लीजिए, "बड़ा खराब जमाना आ गया। तुमने सुना ? फलाँ···और अमुक···।" अपने चरित्र पर आँख डालकर देखने की इन्हें फुरसत नहीं होती। चेख़व की एक कहानी याद आ रही है। एक स्त्री किसी सहेली के पति की निंदा

अपने पति से कर रही है। वह बड़ा उचक्का दगाबाज आदमी है। बेईमानी से पैसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती तो ऐसे पति को त्याग देती। तब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है कि वह स्वयं बेईमानी से इतना पैसा कमाता है। सुनकर स्त्री स्तब्ध रह जाती है। क्या उसने पति को त्याग दिया ? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गयी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममें जो करने की क्षमता नहीं है, वह यदि कोई करता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है, हममें हीनता और ग्लानि आती है। तब हम उसकी निंदा करके उससे अपने को अच्छा समझकर तुष्ट होते हैं।

उस मित्र की मुलाकात के करीब दस-बारह घंटे बाद यह सब मन में आ रहा है। अब कुछ तटस्थ हो गया हूँ। सुबह जब उसके साथ बैठा था तब मैं स्वयं निंदा के 'काला सागर' में डूबता-उतराता था, कलोल कर रहा था। बड़ा रस है न निंदा में। सूरदास ने इसलिए इसे 'निंदा सबद रसाल' कहा है।

कबिरा आप ठगाइए···

मनुष्य का जीवन यों बहुत दुखमय है, पर इसमें कभी-कभी सुख के क्षण आते रहते हैं। एक क्षण सुख का वह होता है, जब हमारी खोटी चवन्नी चल जाती है या हम बगैर टिकिट, बाबू से बचकर निकल जाते हैं। एक सुख का क्षण वह होता है, जब मुहल्ले की लड़की किसी के साथ भाग जाती है और एक सुख का क्षण वह भी होता है, जब 'बॉस' के घर छठवीं लड़की होती है।

इनमें कुछ सुख वे होते हैं जिन्हें हम कमाते नहीं हैं, वे हमारे लिए हमारी कोशिश के बिना आ जाते हैं, जैसे 'बॉस' के घर छठवीं लड़की का जन्म। मगर कुछ सुख हम कमाते हैं, जैसे खोटा सिक्का चला देना। जब से नये सिक्के चले हैं, खोटी चवन्नी चलाने का सुख जाता रहा। अब उसकी स्मृति ही शेष है। हम जेब में हाथ डालकर अँगुलियों से टटोलकर खोटी चवन्नी निकालते थे। उसे बेपरवाही से पानवाले की तरफ बढ़ाते थे। भीतर धड़कन होती थी मगर चेहरे पर हम शांति बनाये रखते थे। जब पानवाला उसे अपनी चिल्लर में डाल लेता, तब हमें परम आनंद की उपलब्धि होती थी।

यह ठगने का सुख है। इसे ही ब्रह्मानंद कहा गया है। ब्रह्मानंद तब प्राप्त होता है, जब साधक परमात्मा को ठग लेता है। कई तपस्वी ब्रह्मानंद की प्राप्ति के लिए पूरी जिंदगी साधना में बरबाद कर देते थे। वे अगर स्थानीय पानवाले के पास एक खोटी चवन्नी चला देते, तो उन्हें सहज ही ब्रह्मानंद प्राप्त हो जाता।

ठगते देवता भी हैं। विष्णु ने तो एक सुंदर स्त्री का रूप धारण करके अपने साथी

और मित्र शंकर को ही ठग लिया था—जैसे कोई प्रोफेसर दूसरे प्रोफेसर का पेपर आउट कर दे। ठगने की 'क्लासिक' घटना वह है जब विष्णु चिर एकाक़ी, विगत यौवन, भयंकर विवाहेच्छु नारद को स्वयंवर में जाने के पहले बंदर का चेहरा दे देते हैं। जिंदगी-भर बेचारा मुनि एकतारे पर 'नारायण-नारायण' बोलता रहा और नारायण ने उसे ठग लिया। इन्द्र ने तो तपस्वियों को ठगने के लिए अप्सराओं की एक पलटन ही रखी थी और कई मुनि इसी आशा से तपस्या करते थे कि तपस्या भंग करने के लिए इन्द्र कोई अप्सरा भेजेगा। पर कोई-कोई इसमें भी ठगा जाते थे—वे जिंदगी-भर तपस्या करते और कोई अप्सरा नहीं आती थी। आत्मा पुकारती—देवराज, अप्सरा भेजो! हम तपस्या कर रहे हैं। और इन्द्र जवाब देता—अभी कोई 'स्पेयर' (खाली) नहीं है। कृष्ण तो रोज ही किसी को ठगते थे! ब्रज की गली में कोई गोपी रोज ही 'ठगी-सी' खड़ी रहती थी। प्रेम में ठगना जरूरी है। जब प्रेम बहुत गहरा हो जाता है, तब प्रेमिका प्रेमी को छलिया, कपटी और ठग कहने लगती है। जो जितना बड़ा ठग होगा, वह उतना ही बड़ा प्रेमी होगा।

मगर कबीरदास कहते हैं कि ठगाने में भी सुख है। कहा है—

कबिरा आप ठगाइए और न ठगिए कोय।
आप ठगे सुख होत है और ठगे दुख होय।।

यह बात मेरे गले नहीं उतरती। मैं तो पिछले महीने ही बड़ी सफाई से ठगा गया, मगर मुझे सुख नहीं हुआ।

मैं दिल्ली स्टेशन पर अपने मित्र के साथ पठानकोट एक्सप्रेस में चढ़ा। खिड़की के पास बैठे एक सज्जन ने (जिन्हें आगे मैं सज्जन नहीं कह सका) दस का नोट दिखाते हुए मुझसे पूछा, "दस छोटे नोट होंगे?" मैंने झट जेब में हाथ डाला और नोट निकालकर गिनने लगा। कुल नौ नोट थे। वे बोले, "कोई बात नहीं। एक बाद में ले लूँगा। मुझे नौकर को दो रुपये देना है।" मैंने उन्हें नौ नोट दे दिए। वे झट खिड़की की तरफ मुड़े और नौकर को पुकारा, "रंगनाथ, ये ले।" उसे दो रुपये दे दिए। मैंने सोचा—दस का नोट बाद में ले लूँगा। यह साथ ही तो सफर कर रहा है।

मैं अपने मित्रों से विदा लेने लगा। गाड़ी चल दी। मैंने खिड़की की तरफ देखा, तो वह आदमी गायब था। (यहाँ से मैं उसे सज्जन नहीं, सिर्फ आदमी कहूँगा) मैंने आसपास के लोगों से पूछा तो उन्होंने कहा कि वे यहाँ बैठे जरूर थे, पर अभी कहीं चले गए। मैं उसे पूरी तरह पहचान भी नहीं सका था। मुझे उसके नौकर का नाम अलबत्ता याद था—रंगनाथ। मैंने पूरे डब्बे के दो-तीन चक्कर लगा डाले। जो आदमी मुझे उस-जैसा दिखता, मैं उसी से पूछता—'क्यों साहब, आपने क्या रंगनाथ को दो रुपये दिए थे?' वह पूछता—'कौन रंगनाथ?' मैं चुपचाप आगे बढ़ जाता।

मेरे दोस्त और वे तीन-चार यात्री मेरी हलचल देख रहे थे। उन्होंने पूछा, "आप उन्हें क्यों खोज रहे हैं? क्या दस का नोट नहीं लिया?"

मैंने सोचा, अगर कह दूँगा कि मैंने नोट नहीं लिया तो ये सब मुझे महामूर्ख समझेंगे।

फिर उन लोगों के साथ मैं लंबा सफर कैसे तय करूँगा, जो मुझे बेवकूफ समझते हैं। इससे ज्यादा डर मुझे मेरे उस दोस्त का था। वे मुझे पैसा उड़ाने पर बहुत डाँटते थे। एक हफ्ते में दिल्ली में हम लोग पास का सब पैसा और उधार लेकर भी खर्च कर चुके थे। मेरे पास कुछ चिल्लर ही अब बची थी और उनके पास भी 4-6 रुपये पड़े थे।

मैं झूठ बोल गया। मैंने कहा, ''नहीं, मुझे ही उन्हें एक रुपया देना है।'' उन्हें बड़ा अचरज हुआ कि कोई ऐसा आदमी भी इस धरती पर है, जो पैसा लेनेवाले को ढूँढ़ रहा है। वे लोग बोले, ''तो आप क्यों परेशान हैं? वह खुद आपको ढूँढ़ लेगा।''

हारकर मैं सो गया। झाँसी में जब सुबह हुई, तो मैंने देखा कि सामने से ऊपर की बर्थ से उतरकर एक आदमी मेरे पास आया। मैंने पहचान लिया। वही था। मैंने कहा, ''अरे, आप कहाँ गायब हो गए थे?'' उसने कहा, ''मैं थका था, इसीलिए सो गया था।'' मेरे दोस्त ने कहा, ''ये तो आपको बहुत खोजते रहे।'' उसने सहज भाव से कहा, ''आप क्यों परेशान हुए साहब? एक ही रुपये की तो बात थी। मिल जाता।''

मेरे मन में काँटा चुभा। वह चुपचाप पड़ा-पड़ा मेरी बात सुन रहा था। पर अब मैं उससे दस का नोट कैसे माँगूँ? मैं सबसे कह चुका था कि मुझे ही उसे एक रुपया देना है। अब अगर मैं उससे दस का नोट माँगूँ, तो ये सब मुझे ही ठग समझेंगे। मैंने चिल्लर इकट्ठी करके उसे एक रुपया और दे दिया।

मैं ठगा गया। पर जिस सुख का संकेत कबीरदास ने किया है, वह मुझे नहीं हुआ। चाय और नाश्ता तो मेरे मित्र ने अपने पैसे से करा दिया। वे आगे उसी गाड़ी में बढ़ गए और मैं दूसरी गाड़ी में जबलपुर तक भूखा बैठा रहा।

कबीर के इस दोहे पर मैं बार-बार विचार करता रहा। आखिर उसका मतलब क्या है? उन्होंने उलटबासियाँ जरूर कहीं हैं, पर यह तो उलटबासी नहीं है। एकाएक मुझे सूझा कि कबीरदास ने यह नहीं बताया कि किससे ठगने से सुख होता है। आखिर ठगनेवाला कैसा होना चाहिए? दूसरे पदों में इसका पता किया। वह ठगनेवाला नहीं है, ठगनेवाली है। उसका नाम 'माया' है—'माया महा ठगिन हम जानी'। यह माया ब्रह्मा को ठगने के लिए ब्राह्मणी बनी बैठी है और शिव को ठगने के लिए भवानी बनकर बैठी है। कबीरपंथी साधु गाते हैं—'ठगनी क्या नैना मटकावै!' वे सब ठगनेवाली माया को जानते हैं। सिर्फ मैं अभागा नहीं जानता। 'माया महा ठगिन हम जानी'—महात्मा, तुम तो जानी, पर हम तो नहीं जानी कि ठगाना हो तो माया से ठगाना चाहिए। हम तो तैयार बैठे हैं कि हमें माया आकर ठगे। माया खाली न हो तो उसकी 'सिस्टर' ही आकर ठग ले, या कोई माया की सहपाठिनी ही ठग ले। इनसे ठगने से तो सचमुच सुख होगा। पर ये तो नहीं आयीं। ठगा गया रंगनाथ के उस बेईमान मालिक से।

कबीर के इस दोहे का बाकी अर्थ भी मेरे सामने उघड़ गया। दूसरी पंक्ति में कहा है—'आप ठगे सुख होत है, और ठगे दुख होय'—याने आप अगर किसी को ठगेंगे तो आपको सुख होगा। कोई और उसे ठग लेगा तो आपको दुख होगा कि हम उसे नहीं ठग पाए।

एक प्रकाशक मुझसे उस दिन कह रहा था कि अमुक प्रकाशक तो आपको ठग रहा है। उसे दुख हो रहा था कि दूसरा प्रकाशक मुझे ठग रहा था और वह नहीं ठग पा रहा था।

मगर यह प्रचार कि मैं तो ठगा जाता हूँ—दूसरे को ठगने की भूमिका बन सकता है। एक आदमी ने अपना प्रचार कर रखा था कि मैं तो बालक की तरह भोला हूँ और मुझे कोई भी ठग लेता है। उसके प्रशंसक कहते थे—अरे, भई, उसे तो कोई भी ठग लेता है। कोई उससे उसकी लँगोटी भी माँगे, तो वह उतारकर दे देगा।

मैं एक दिन उस संत के पास गया। मैंने देखा कि उनके पास ही दूसरों की उतरवायी हुई 15-20 लँगोटियाँ रखी हैं। बात यह थी कि उसके सामने लोग जब जाते, तो यह मानकर कि वह तो बहुत भोला है, अपनी लँगोटी की तरफ से असावधान हो जाते और वे धीरे-से गफलत में उनकी लँगोटी उतार लेते। मैं फौरन अपनी लँगोटी बचाकर भागा।

मैं भी सोचता हूँ कि जब ठगा गया हूँ तो एक बार किसी को ठगकर देखूँ। अगर अब भी माया ठगने नहीं आयी तो मैं खुद रंगनाथ के मालिक को ढूँढ़कर ठगूँगा।

प्रेम की बिरादरी

उनका सब कुछ पवित्र है। जाति में बाजे बजाकर शादी हुई थी। पत्नी ने 7 जन्मों से किसी दूसरे पुरुष को नहीं देखा। उन्होंने अपने लड़के-लड़की की शादी सदा मंडप में की। लड़की के लिए दहेज दिया और लड़के के लिए लिया। एक लड़की खुद पसंद की और लड़के की पत्नी बना दिया।

सब कुछ उनका पवित्र है। प्रापर्टी है। फुरसत में रहते हैं। दूसरों की कलंक-चर्चा में समय काटते हैं। जो समय फिर भी बच जाता है उसमें मूँछ के सफेद बाल उखाड़ते हैं और बर्तन बेचनेवाली की राह देखते हैं।

पवित्रता का मुँह दूसरों की अपवित्रता के गंदे पानी से धुलने पर ही उजला होता है। वे हमेशा दूसरों की अपवित्रता का पानी लोटे में ही लिये रहते हैं। मिलते ही पवित्रता का मुँह धोकर उसे उजला कर लेते हैं। वे पिछले दिनों 2 लड़कियों के भागने, 3 स्त्रियों के गर्भपात, 4 की गैर-बिरादरी में शादी और 2 पतिव्रताओं के प्रणय-प्रसंग बता चुके हैं।

अभी उस दिन दाँत खोदते आए। भोजन के बाद कलंक-चर्चा का चूर्ण फाँकना जरूरी होता है। हाज्मा अच्छा होता है। उन्होंने चूर्ण फाँकना शुरू कर दिया—"आपने सुना, अमुक साहब की लड़की अमुक लड़के के साथ भाग गयी और दोनों ने इलाहाबाद में शादी कर ली। कैसा बुरा जमाना आ गया।" मैं जानता हूँ कि वे बुरा जमाना आने से दुखी नहीं, सुखी हैं। जितना बुरा जमाना आएगा वे उतने ही सुखी होंगे—तब वे यह महसूस करके और कहकर गर्व अनुभव करेंगे कि इतने बुरे जमाने में भी हम अच्छे के अच्छे हैं। कुछ

लोग बड़े चतुर होते हैं। वे सामूहिक पतन में से निजी गौरव का मुद्दा निकाल लेते हैं और अपने पतन को समूह का पतन कहकर बरी हो जाते हैं।

मैंने अपनी दुष्ट आदत के मुताबिक कहा—"इसमें परेशान होने की क्या बात है ? अपने देश में अच्छी शादियाँ लड़की भगाकर ही हुई हैं। कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया था और अर्जुन ने कृष्ण की बहन सुभद्रा का। इसमें कृष्ण की रजामंदी थी। भाई अगर कोआपरेट करे तो लड़की भगाने में आसानी होती है।"

वे नहीं जानते थे कि मैं पुराण उनके मुँह पर मारूँगा। सँभलकर बोले, "भगवान कृष्ण की बात अलग है।" मैंने कहा, "हाँ, अलग तो है। भगवान अगर औरत भगाए तो वह बात भजन में आ जाती है। साधारण आदमी ऐसा करे तो यह काम अनैतिक हो जाता है। जिस लड़की की आप चर्चा कर रहे हैं, वह अपनी मर्जी से घर से निकल गयी और मर्जी से शादी कर ली, इसमें क्या हो गया?"

वे कहने लगे, "आप हमेशा उल्टी बातें करते हैं—रीति, नीति, परम्परा, विश्वास क्या कुछ नहीं है? आप जानते हैं, लड़का-लड़की अलग जाति के हैं?"

मैंने पूछा, "मनुष्य जाति के तो हैं न?"

वे बोले, "हाँ, मनुष्य होने में क्या शक है?"

मैंने कहा, "तो कम-से-कम मनुष्य जाति में तो शादी हुई। अपने यहाँ तो मनुष्य जाति के बाहर भी महान पुरुषों ने शादी की है—जैसे भीम ने हिडिम्बा से।"

ये घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। क्या कारण है कि लड़के-लड़की को घर से भागकर शादी करनी पड़ती है? 24-25 साल के लड़के-लड़की को भारत की सरकार बनाने का अधिकार तो मिल चुका है, पर अपने जीवन-साथी बनाने का अधिकार नहीं मिला।

घटनाएँ मैं रोज सुनता हूँ। दो तरह की चिट्ठियाँ पेटेंट हो गयी हैं। उनके मजमून ये हैं। जिन्हें भागकर शादी करना है वे, और जिन्हें नहीं करना वे भी इनका उपयोग कर सकते हैं।

चिट्ठी नं. 1

पूज्य पिताजी,

मैंने यहाँ रमेश से वैदिक रीति के अनुसार शादी कर ली है। हम अच्छे हैं। आप चिंता मत करिए। आशा है आप और अम्मा मुझे माफ कर देंगे।

आपकी बेटी
सुनीता

चिट्ठी नं. 2

प्रिय रमेश,

मैं अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकती। तुम मुझे माफ कर देना। तुम जरूर शादी कर लेना और सुखी रहना। तुम दुखी रहोगे तो मुझे जीवन में सुख नहीं

मिलेगा। हृदय से तो मैं तुम्हारी हूँ। (4-5 साल बाद आओगे तो पप्पू से कहूँगी—बेटा, मामाजी को नमस्ते करो)

तुम्हारी
विनीता

इसके बाद एक मजेदार क्रम चालू होता है। माँ-बाप कहते हैं—वह हमारे लिए मर चुकी है। अब हम उसका मुँह नहीं देखेंगे। फिर कुछ महीने बाद मैं उनके यहाँ जाता हूँ तो वही लड़की चाय लेकर आती है।

मैं उनसे पूछता हूँ—''यह तो आपके लिए मर चुकी थी ?'' वे जवाब देते हैं—''आखिर लड़की ही है।'' और मैं सोचता रह जाता हूँ कि जो आखिर में लड़की है वह शुरू में लड़की क्यों नहीं थी?

माता-पिता की भावनाओं को मैं जानता हूँ। विश्वास और परम्परा के टूटने में बड़ा दर्द होता है। जब शेरपा तेनसिंह गौरीशंकर की चोटी पर होकर आया था तब उससे किसी ने पूछा कि क्या वहाँ शंकर भगवान हैं? तो उसने कहा था कि नहीं हैं। एक सज्जन बड़े दर्द से मुझसे बोले, ''तेनसिंह को ऐसा नहीं कहना चाहिए था।'' मैंने कहा, ''वहाँ शंकर भगवान उसे नहीं दिखे तो उसने कह दिया कि नहीं हैं।'' वे बोले, ''फिर भी उसे ऐसा नहीं कहना चाहिए था।'' मैंने कहा, ''जब हैं ही नहीं तो…''

वे बोले, ''फिर भी उसे नहीं कहना था।'' मैंने उनसे पूछा, ''क्या आप मानते हैं कि वहाँ शंकर जी हैं?'' उन्होंने कहा, ''यह हम भी जानते हैं कि वहाँ शंकरजी नहीं हैं। पर एक विश्वास हृदय में लिए हैं कि शंकरजी हैं, वे ओढ़रदानी हैं। कभी कोई संकट हम पर आएगा तो वे आकर हमें उबार लेंगे।''

झूठे विश्वास का भी बड़ा बल होता है। उसके टूटने का भी सुख नहीं, दुख होता है।

एक सज्जन की लड़की दूसरी जाति के लड़के से शादी करना चाहती थी। यहाँ माँ-बाप का जाति-प्रथा की शाश्वतता में विश्वास आड़े आ गया। लड़का अच्छी-ऊँची नौकरी पर था, परंतु लड़की के माता-पिता ने उसकी शादी अपनी ही जाति के एक लड़के से कर दी जो कम तो कमाता ही था, अपनी पत्नी को पीटता भी था। एक दिन मैंने उन सज्जन से कहा कि सुना है, लड़की बड़ी तकलीफ में है। वह उसे पीटता है। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। जवाब देते भी तो क्या देते, सिवा इसके कि—इतना तो संतोष है कि जातिवाले से पिट रही है।

आखिर ये हमारे लोग किस परंपरा को, किस आदर्श को मान रहे हैं? राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। सीता महासती हैं। इनसे श्रेष्ठ स्त्री-पुरुष की कल्पना और ऐसे अच्छे विवाह की कल्पना इस समाज में नहीं है। मर्यादा पुरुषोत्तम का निर्माण करने वाले तुलसीदास कहते हैं कि पुष्पवाटिका में 'कंकण किंकिणि नूपुर' की ध्वनि सुनकर लक्ष्मण के सामने राम 'कन्फेस' करते हैं कि ऐसा लगता है जैसे मदन ने दुंदुभि दे दी है। यानी राम के मन का

धनुष वहीं टूट गया। विवाह-पूर्व प्रेम भी हो गया और फिर विवाह भी हो गया। आज जिन मूल्यों को इस मामले में माना जा रहा है उनको देखकर मुझे लगता है कि तुलसीदास ने जो लिखा है, वैसा न हुआ होगा। हुआ ऐसा होगा—राम ने लक्ष्मण से पूछा होगा कि यह कंकण, किंकिणि और नूपुर की ध्वनि किसकी है? लक्ष्मण ने कहा होगा—यह जनक की लड़की सीता की है। तब राम ने पूछा होगा कि क्या जनक अपनी ही बिरादरी के हैं ? लक्ष्मण ने कहा होगा—हाँ, राजा जे. के. सिंह अपनी ही बिरादरी के हैं। राम ने कहा होगा—तभी तो मेरा मन डोल उठा। दूसरी बिरादरी के होते तो मेरे मन पर कोई असर नहीं होता।

इन लड़के-लड़कियों से क्या कहा जाए! यही न कि प्रेम की जाति होती है। एक हिन्दू प्रेम है, एक मुसलमान प्रेम, एक ब्राह्मण प्रेम, एक ठाकुर प्रेम, एक अग्रवाल प्रेम। एक कोई जावेद आलम किसी जयंती गुहा से शादी कर लेता है, तो सारे देश में लोग हल्ला कर देते हैं और दंगा भी करवा सकते हैं।

इस सबको देखते हुए आगे चलकर तरुण-तरुणी के प्रेम का दृश्य ऐसा होगा। तरुण-तरुणी मिलते हैं और यह वार्तालाप होता है—

तरुण—क्या आप ब्राह्मण हैं, और ब्राह्मण हैं तो किस प्रकार के ब्राह्मण हैं?

तरुणी—क्यों, क्या बात है?

तरुण—कुछ नहीं! जरा आपसे प्रेम करने का इरादा है।

तरुणी—मैं तो खत्री हूँ।

तरुण—तो फिर मेरा आपसे प्रेम नहीं हो सकता, क्योंकि मैं ब्राह्मण हूँ।

लोग कहते हैं कि आखिर स्थायी मूल्य और शाश्वत परंपरा भी तो कोई चीज है। सही है, पर मूर्खता के सिवाय कोई भी मान्यता शाश्वत नहीं है। मूर्खता अमर है। वह बार-बार मरकर फिर जीवित हो जाती है।

इधर मैं लड़के-लड़की से पूछता हूँ कि वेद तो यहाँ भी हैं और यहाँ भी वैदिक रीति है, फिर तुम लोगों ने यहीं क्यों नहीं शादी कर ली? भागकर दूसरी जगह क्यों गए?

वे कहते हैं—यहाँ माता-पिता बाधा डालते।

मैं समझ गया। क्रांति ये तरुण जरूर करेंगे पर यथास्थिति की नजर बचाकर।

वे सज्जन जो मुझे खबर दे गए थे, कह रहे थे कि आखिर हम बुजुर्गों के जीवन-भर के अनुभव का भी तो कोई महत्त्व है। मैंने कहा—अनुभव का महत्त्व है। पर अनुभव से ज्यादा इसका महत्त्व है कि किसी ने अनुभव से क्या सीखा। अगर किसी ने 50-60 साल के अनुभव से सिर्फ यह सीखा हो कि सबसे दबना चाहिए तो अनुभव के इस निष्कर्ष की कीमत में शक हो सकता है। किसी दूसरे ने इतने ही सालों के अनुभव से शायद यह सीखा हो कि किसी से नहीं डरना चाहिए।

आप तो 50-60 साल की बात करते हैं। केंचुए ने अपने लाखों सालों के अनुभव से कुल यह सीखा है कि रीढ़ की हड्डी नहीं होनी चाहिए।

बैरंग शुभकामना और जनतंत्र

नया साल राजनीतिवालों के लिए मतपेटिका और मेरे लिए शुभकामना का बैरंग लिफाफा लेकर आया है। दोनों ही बैरंग शुभकामनाएँ हैं जिन्हें मुझे स्वीकार करने में 10 पैसे लग गए और राजनीतिज्ञों को बहुत बैरंग चार्ज चुकाना पड़ेगा।

मेरे आसपास 'प्रजातंत्र बचाओ' के नारे लग रहे हैं। इतने ज्यादा बचानेवाले खड़े हो गए हैं कि अब प्रजातंत्र का बचना मुश्किल दिखता है। जनतंत्र बचाने के पहले सवाल उठता है—किसके लिए बचाएँ? जनतंत्र बच गया और फालतू पड़ा रहा, तो किस काम का। बाग की सब्जी को उजाड़ू ढोरों से बचाते हैं, तो क्या इसलिए कि वह खड़ी-खड़ी सूख जाए? नहीं, बचानेवाला सब्जी पकाकर खाता है। जनतंत्र अगर बचेगा तो उसकी सब्जी पकाकर खाई जाएगी। मगर खानेवाले इतने ज्यादा हैं कि जनतंत्र के बँटवारे में आगे चलकर झगड़ा होगा।

पर जनतंत्र बचेगा कैसे? कौन-सा इंजेक्शन कारगर होगा? मैंने एक चुनावमुखी नेता से कहा, "भैयाजी, आप तो राजनीति में माँ के पेट से ही हैं। ज़रा बताइए, जनतंत्र कैसे बचेगा? कोई कहता है, समाजवाद से जनतंत्र बचेगा। कोई कहता है समाजवाद से मर जाएगा। कोई कहता है, गरीबी मिटाए बिना जनतंत्र नहीं बच सकता। तब कोई कहता है, गरीबी मिटाने का मतलब तानाशाही लाना है। कोई कहता है, इंदिरा गांधी के सत्ता में रहने से जनतंत्र बचेगा। पर कोई कहता है—इंदिरा ही तो जनतंत्र का नाश कर रही है। आप बताइए, जनतंत्र कैसे बचेगा?"

भैयाजी ने कहा, "भैया, हम तो सौ बात की एक बात जानते हैं कि अपने को बचाने से जनतंत्र बचेगा। अपने को बचाने से दुनिया बचती है। ज़रा चलूँ, टिकिट की कोशिश करनी है।"

सोचता हूँ, मैं भी चुनाव लड़कर जनतंत्र बचा लूँ। जब जनतंत्र की सब्जी पकेगी तब एक प्लेट अपने हिस्से में भी आ जाएगी। जो कई सालों से जनतंत्र की सब्जी खा रहे हैं, कहते हैं बड़ी स्वादिष्ट होती है। 'जनतंत्र' की सब्जी में जो 'जन' का छिलका चिपका रहता है उसे छील दो और खालिस 'तंत्र' को पका लो। आदर्शों का मसाला और कागजी कार्यक्रमों का नमक डालो और नौकरशाही की चम्मच से खाओ! बड़ा मजा आता है—कहते हैं खानेवाले।

सोचता हूँ, जब पहलवान चंदगीराम और फिल्मी सितारे-सितारिन जनतंत्र को बचाने को आमादा हैं, तो मैं भी क्यों न जनतंत्र को बचा लूँ। मास्टर को तो बादाम पीसने से फुरसत नहीं मिलेगी और सितारों को किसी-न-किसी के बैकग्राउंड म्यूजिक पर होंठ हिलाना पड़ेगा। मेरे बिना जनतंत्र कैसे बचेगा?

पर तभी यह बैरंग लिफाफा दिख जाता है और दिल बैठ जाता है। मैंने ग्रीटिंग कार्डों को बिछाकर देखा है—लगभग 5 वर्गमीटर शुभकामनाएँ मुझे नए वर्ष की मिली हैं। अगर

इतने कार्ड मुझे कोरे मिल जाते, तो मैं इन्हें बेच लेता। पर इन पर मेरा नाम लिखा है, इसलिए कोई नहीं खरीदेगा। दूसरे के नाम की शुभकामनाएँ किस काम की ?

इनमें एक बैरंग लिफाफा भी है। कार्ड पर मेरी सुख-समृद्धि की कामना है। सही है। पर इस शुभकामना को लेने के लिए मुझे 10 पैसे देने पड़े। जो शुभकामना हाथ में आने के दस पैसे ले ले, वह मेरा क्या मंगल करेगी? शुभचिंतक मुझे समृद्ध तो देखना चाहता है, पर यह मुझे बतलाने के ही 10 पैसे ले लेता है।

शुभ का आरंभ अक्सर मेरे साथ अशुभ हो जाता है। समृद्ध होने के लिए लाटरी की दो टिकटें खरीदीं—हरियाणा और राजस्थान की। खुली तो अपना नंबर नहीं था। दो रुपए गाँठ के चले गए। सोचा, बंसीलाल और सुखाड़िया का एक-एक रुपया किसी जन्म का कर्ज होगा! चुक गया। अपने को ऐसे समृद्धि नहीं मिलेगी। वह पगडंडी से आती-जाती है। लजीली कुलवती है। पर्दा भी करती है। मेरे एक छात्र ने वह पगडंडी ढूँढ़ ली है। एक दिन मिला, तो मैंने पूछा—'तुम्हारे ऐसे ठाठ कैसे हो गए? बड़ा पैसा कमा रहे हो।' उसने कहा—'सर, अब मैं बिजनेस लाइन में आ गया हूँ।' मैंने पूछा—'कौन-सा बिजनेस करते हो?' उसने कहा—'सट्टा खिलाता हूँ।' इस देश में सट्टा, बिजनेस लाइन में शामिल हो गया है। मंथन करके लक्ष्मी को निकालने के लिए दानवों को देवों का सहयोग अब नहीं चाहिए। पहले समुद्र-मंथन के वक्त तो उन्हें टेकनीक नहीं आती थी, इसलिए देवताओं का सहयोग लिया। अब वे टेकनीक सीख गए हैं।

हर अच्छी चीज बैरंग हो जाती है। पिछले साल सफाई सप्ताह का उद्घाटन मेरे घर के पास ही हुआ था। अच्छी 'साइट' थी। वहाँ कचरे का एक बड़ा ढेर लगाया गया। फोटोग्राफर कोण और प्रकाश देख गया और तय कर गया कि मंत्रीजी को किस जगह खड़े होकर फावड़ा चलाना है। अफसर कचरे की सजावट करवाने में लग गए। एक दिन मंत्रीजी आए और दो-चार फावड़े चलाकर सफाई सप्ताह का उद्घाटन कर गए। इसके बाद कोई उस कचरे के ढेर को साफ करने नहीं आया। उम्मीद थी कि हर साल यहीं सफाई सप्ताह का उद्घाटन होगा और हर साल चार फावड़े मारने से लगभग एक शताब्दी में यह कचरा साफ हो जाएगा। मैं इंतजार कर सकता हूँ, पर इस साल दूसरी जगह चुन ली गई।

सफाई सप्ताह कचरे का ढेर दे जाता है और नया साल बैरंग शुभकामना लेकर आता है। फिर भी संसद में जाने को लालायित हूँ। एक साहब से अपनी इच्छा प्रकट करता हूँ तो वह कहता है—चुनाव लड़ने से भी क्या होगा? मैंने कहा—संसद सदस्य हो जाऊँगा।

वह—संसद सदस्य होने से भी क्या होगा?

मैं—मंत्री हो जाऊँगा।

वह—मंत्री होने से भी क्या होगा?

मैं—मैं प्रधानमंत्री हो जाऊँगा।

वह—प्रधानमंत्री होने से भी क्या होगा?

मैं—मैं गरीबी मिटा दूँगा।

वह—गरीबी मिटाने से भी क्या होगा?

मैं—लोग खुशहाल हो जाएँगे।

वह कहता है—पर भैया, खुशहाल होने से भी क्या होगा?

मेरे पास इसका जवाब नहीं। यह भारतीय जन कैसा हो गया है। कैसा हो गया इसका मन? लगता है, मुझे ही नहीं सारे देशवासियों को बैरंग शुभकामनाएँ आती रही हैं और आज उसका यह हाल हो गया है कि कहता है—खुशहाल होने से भी क्या होगा?

मित्र कहते हैं—तुम तो जनता के उम्मीदवार हो जाओ। जनसमर्थित उम्मीदवार ! पर मैं इसी भारतीय जन की तलाश में हूँ वर्षों से। वह मिलता नहीं है। कहते हैं, वह चुनाव के वक्त मिलता है—भारतीय जन। पर अभी के एक चुनाव में मैं उसे तलाशता रहा। लगभग हर पार्टी ने मुसलमानों के मत पाने के लिए मौलाना को बुलाया। मौलाना ने फतवा दिया—मुसलमानो, जब तुम ईद के चाँद के बारे में मेरी बात मानते हो तो वोट के बारे में भी मेरी बात मानो। अमुक को वोट दो। जैनियों के मत पाने के लिए कोई आल इंडिया जैन नेता बुला लिया। दिगंबरों के लिए दिगंबर और श्वेतांबरों के लिए श्वेतांबर। स्थानकवासी और तेरापंथी और मिल जाते तो ठीक रहता। तेलियों के लिए अखिल भारतीय तेली और नाइयों के लिए ऑल इंडिया नाई। क्षेत्र के ब्राह्मणों से कहा गया—यहाँ से हमेशा ब्राह्मण चुनाव जीता है। देख लो, 20 सालों का रिकार्ड। धिक्कार है हम ब्राह्मणों को अगर कोई गैर-ब्राह्मण जीत गया तो।

कहाँ है भारतीय जन? कौन-सा है? क्या वह, जो कहता है—खुशहाल होने से भी क्या होगा? या यह जो भारतीय होने के लिए चलता है, कि रास्ते में कोई उसे रोककर कहता है—चल वापस, तू भारतीय नहीं, ब्राह्मण है।

बैरंग मंगल कार्ड मेरी आँखों में घूरकर देखता है और कहता है—वक्त के इशारे को समझ और बाज़ आ। तुझसे प्रजातंत्र नहीं बचेगा। अगर तुझे ही चुनाव जीतकर प्रजातंत्र बचाने का काम नए साल ने सौंपा होता, तो मेरे ऊपर पूरी टिकटें न चिपकतीं।

साहित्य और नंबर दो का कारोबार

मैं भी सांस्कृतिक क्रांति के दौर से गुजर लिया। छीन-छपट की संस्कृति को आखिर स्वीकार लिया। पहले अपना कमाया पैसा भी अपना नहीं लगता था। अब सिर्फ दूसरों का खाया पैसा ही अपना कमाया लगता है। सारे मूल्यों में क्रांति हो गई। पहले समारोहों में फूलमाला पहनते खुशी होती थी। अब वह गर्दन में लटका फालतू बोझ मालूम होती है। सांस्कृतिक क्रांति ने फूलों की सुगंध छीन ली है और मैं माला पहनते हुए हिसाब लगाता रहता हूँ कि अगर हर फूल की जगह नोट होता तो इस वक्त कितने रुपए मेरे गले में लिपटे होते। मैं

माला से उस लिफाफे की रकम का अंदाज लगाता रहता हूँ, जो बाद में दिया जाएगा। मुझे गुलाब की माला पहनाओ, चाहे गेंदे की, चाहे भटकटैया की—सब एक है। फूल की पंखुड़ी सिक्के का एहसास देती है। बीच में मूल्यों का विघटन हो गया था; अब वे सिक्के से जुड़ गए हैं। अपना मूल्यहीनता का युग समाप्त। जिनका चल रहा है, वे इस पुरानी बीमारी का इलाज कराएँ। साहित्य में अच्छे-अच्छे अनुभवी हकीम मौजूद हैं।

मेरा इलाज साहित्य के बाहर के हकीम ने किया है। एक व्यवसायी मित्र ने किया है। उसकी नई हवेली बनी देखकर मैंने कहा, ''बड़ी कमाई हो रही है।'' उसने कहा, ''सब नंबर दो का पैसा है।''

मैं नंबर दो नहीं समझा। उसकी आदत कूटाक्षरों में बोलने की है। बढ़िया भारतीय नामों को वह अंग्रेजी के अक्षरों से बिगाड़ देता है। शैलेंद्र कुमार को एस.के. कहता है और भुवनमोहिनी को मिस बी. एम.। उसका वश चले तो भगवान श्रीकृष्ण को एस.के. यादव कहे और भगवान रामचंद्र को आर.सी. रघुवंशी। कहाँ जा रहे हो बंधु? जरा एस.के. यादव के मंदिर जा रहा हूँ।

मैंने उससे पूछा, ''यह नंबर दो का कारोबार क्या होता है?''

उसने मुझे धिक्कारा, ''तुम क्या इस देश में नहीं रहते? या सभ्य समाज को छोड़कर आदिवासियों में रहने लगे हो? अरे, नंबर दो तो राष्ट्रगीत की तरह लोकप्रिय है। मगर तुम नहीं जानते। तुम्हारे इस अज्ञान को मातृभूमि कभी माफ नहीं करेगी।''

उसने मुझे नंबर दो का कारोबार समझाया। पाठक भी अगर मेरी तरह अज्ञानी हैं, तो किसी भी व्यवसायी से पूछ लो। मैं यहाँ नहीं बताऊँगा।

मेरे उस मित्र के यहाँ लक्ष्मी-पूजन समारोह होता था। मुझे भी कार्ड आता था। दो-तीन सालों से कार्ड नहीं आ रहा है। मैंने उससे पूछा तो उसने कहा, ''पहले नंबर एक की लक्ष्मी की पूजा खुलेआम करता था। अब गुप्त रूप से नंबर दो की लक्ष्मी की पूजा करता हूँ।''

एक दिन उसने मुझसे कहा, ''तुम कब तक नंबर एक का काम करते रहोगे? तुम्हारे साहित्य में क्या नंबर दो का काम नहीं होता?''

शाम को मैं घुटने टेक, हाथ जोड़, आँखें बंद कर बैठा और प्रार्थना की—'हे नंबर दो की लक्ष्मी, मुझे राह बता। तू सबको नंबर दो की प्रेरणा देती है। मेरे चारों तरफ नंबर दो हो रहा है। एक तरफ से गोली चलती है और दूसरी तरफ से नापाम बम आबादी पर फेंक दिया जाता है—युद्ध में नंबर दो हो रहा है। आदमी एक पार्टी के टिकट पर विधायक बनता है और फिर जिस पार्टी की सरकार बननेवाली होती हैं, उसी में चला जाता है—राजनीति का नंबर दो। भक्त मंदिर-निर्माण के लिए चंदा करता है और उसमें से अपना गुसलखाना भी बनवा लेता है—धर्म का नंबर दो। लड़का प्रेम करके लड़की से 'आदर्श विवाह' कर लेता है और अपने बाप को उसके बाप के पास दहेज माँगने भेज देता है—प्रेम का नंबर दो।'

प्रार्थना फलवती हुई। मेरी मेधा तीव्र हुई और मुझे याद आया—एक कवि कवि-सम्मेलनों

में बिना रजाई पहुँच जाते थे। वहाँ संयोजकों से कहते, 'रास्ते में बिस्तर चोरी चला गया।' वे कहते, 'हम अपने घर की रजाई उढ़ा देंगे।' तो कवि कहते, 'नहीं, मैं किसी की ओढ़ी हुई रजाई नहीं ओढ़ता।' ठंड से कवि की प्राणरक्षा के लिए वे लोग नई रजाई लाते और कवि एक रात उसे ओढ़कर घर ले आते। एक सीजन में पूरे परिवार के लिए वे रजाइयाँ ले आते। आगे चलकर उन्होंने कविता छोड़कर रजाइयों की दूकान कर ली। नाम रखा—'कविता रजाई भंडार'।

उक्त कवि को मैंने गुरु माना और पहले ही मौके पर दो नंबर का काम कर डाला। एक जगह साहित्य-सम्मेलन हो रहा था। स्वागत मंत्री ने मुझसे कहा था कि आप साहित्य-परिषद में अवश्य भाषण दें। हम आपको किराया सौ रुपए दे देंगे। मायाराम की कार में एक तरफ का पेट्रोल भराकर हम पहुँच गए। निवास-भोजन का प्रबंध संयोजकों ने किया था। खुफिया विभाग का एक आदमी पहचान का था। उससे चंदे की स्थिति का पता लगाया। काफी हुआ था। भोजन पर बैठे तो खाना अच्छा नहीं था। मायाराम ने कहा, 'ये लोग अपने पर दो नंबर करने का इरादा रखते हैं। इसके पहले कि वे हम पर करें, हमें उन पर नंबर दो कर देना चाहिए।' मैंने पूछा, 'इस वक्त क्या ढंग होगा दो नंबर का?' उन्होंने कहा, 'गुस्सा। गुस्सा करने का क्षण उपस्थित है।' और वे थाली फेंककर खड़े हो गए। चिल्लाए, 'हम लोगों को क्या जानवर समझ रखा है? यह कचरा खाएँगे हम? इतना चंदा और ग्रांट मिले हैं और इंतजाम यह है?'

हम चार मित्र बिना खाए कमरे में आ गए। हम टेढ़े के रूप में बदनाम हैं ही। वहाँ भाग-दौड़ मच गई। मंत्रीजी आए और कमरे पर ही हमें दोनों बार अलग से बना हुआ अच्छा खाना स्टेनलेस की थालियों में भेजा जाने लगा।

समस्या खाने की उतनी नहीं थी। मुख्य समस्या सौ रुपयों की थी। अफवाह उड़ रही थी कि वे लोग नंबर दो करनेवाले हैं। मायाराम ने कहा, 'खाने के लिए दो नंबर मैंने किया। अब रुपयों के लिए तुम करो।' मैंने मन में प्रार्थना की—'प्रभु, तुम्हें याद होगा, मैंने प्राथमिकशाला में आपकी प्रार्थना की थी।' मैंने तब कहा था—'हम सब बालक हैं नादान। मैं अभी भी वैसा ही हूँ, प्रभु! मैं एक उदीयमान दो नंबरी हूँ। तू मेरी प्रतिभा को जाग्रत कर। इस वक्त साहित्य-रचना से ज्यादा नंबर दो के लिए प्रतिभा की जरूरत है।'

प्रतिभा सचमुच जागी। भाषण के लिए जब मेरा नाम पुकारा, तो मैंने माइक हाथ में लेकर कहा, 'मेरी तबीयत रात से खराब है। मैं बोलना नहीं चाहता था। मगर मजबूरन इसलिए बोल रहा हूँ कि अगर बोलूँगा नहीं तो ये लोग मुझे 150) वादे के मुताबिक नहीं देंगे।'

लोग हँसे। फिर गंभीर हुए। संयोजक परेशान हुए। राजनीति में जिसे सीधे जनता के पास जाना कहते हैं, वही मैंने कर दिया। सीधे जनता के पास जाना भी एक प्रकार का नंबर दो हो सकता है।

नंबर दो चला। मंत्री महोदय शाम को मेरे पैसे दे गए। सुना, वे कई दूसरे लोगों

को पैसे बिना दिए, रात की गाड़ी से बाहर चले गए।

सफलता से मैं प्रोत्साहित हुआ। अगर इसी तरह चलता रहा, तो एक दिन सड़क पर मुझे देखकर लोग कहेंगे—'वह दो नंबरी जा रहा है।'

मेरा एक नैतिकतावादी मित्र कहता है, 'पैसे के मामले में आदमी को साफ होना चाहिए।' मैं कहता हूँ, 'यह संभव नहीं है। सागर-मंथन क्या अकेले देवों ने किया था। एक तरफ से दानव भी तो खींच रहे थे। आखिर दानवों के सहयोग से ही तो लक्ष्मी निकली थीं। तब धन के मामले में दानवी विचार मनुष्य के मन में क्यों नहीं आएँगे ?

मैं ऐसे कोरे नैतिकतावादियों के बहकावे में नहीं आ सकता। मैं बराबर नंबर दो की तरकीबें खोजता रहता हूँ। एक समारोह में गया। रात को समारोह था और मैं होटल में मन को एकाग्र करके नंबर दो करने की तरकीब सोच रहा था। मुझे क्या पता कि उसी वक्त आयोजकों की मेधा भी इसी काम में लगी थी। तीसरे पहर आयोजन समिति के सदस्य आए। बड़े व्यस्त। उनके हाथ में चंदे की रसीद-बही थी। थोड़ी देर बाद बोले, 'क्षमा कीजिए। मुझे चंदा वसूलने जाना है। इस साल ठीक चंदा ही नहीं मिला।' वे चले गए। दूसरे आए। उनके हाथ में भी रसीद-बही। बोले, 'देखने आया था कि कोई तकलीफ तो आपको नहीं है। अब चलता हूँ। कुछ चंदा वसूल करना है। लोगों को बुला तो लिया है, पर पैसा कम इकट्ठा हुआ है।' वे भी चले गए। तीसरे आए। उनके हाथ में भी रसीद-बही। बोले, 'लोग चंदा देने में बड़ी आनाकानी करते हैं। कई दिनों से दौड़ रहे हैं, पर पर्याप्त चंदा ही नहीं कर पाए। चलूँ, कुछ जगह और 'टिराई' कर लूँ।'

मामला क्या है? ये मुझे रसीद-बही बनाकर चंदा लेने क्यों जा रहे हैं। इन्होंने मेरे ऊपर नंबर दो चालू कर दिया। ये पूरे पैसे नहीं देंगे। क्या करूँ? ठंड होती तो कहता—'एक पुलोवर खरीद दो।' मन ने कहा—'क्या अच्छा हो अगर स्टेज पर मुझे मिरगी आ जाए।' मगर मिरगी भी तो बड़े लेखकों को आती है। मुझ छोटे को वह भी नहीं आई। मैंने अपना फर्ज अदा किया।

सुबह मंत्रीजी आए। बड़ी देर यहाँ-वहाँ की बातें करते रहे। मैंने कहा, ''मैं दोपहर की गाड़ी से जाऊँगा।'' वे कहने लगे, ''क्या बताएँ, हम तो बड़े शर्मिंदा हैं।''

मैं समझ गया। मैंने कहा, ''जो कुछ भी हो, मुझे दो। मैं घर जाऊँ।'' उन्होंने कुछ रुपए दिए। बोले, ''बाकी हम आठ-दस दिनों में भेज देंगे। हमें बड़ी ग्लानि हो रही है। लोगों ने वादा करके भी नहीं दिए।''

वे बड़े पसोपेश में बैठे थे। मैंने कहा, ''ठीक है। आप जाइए।''

वे बोले, ''हम बहुत लज्जित हैं, आपके सामने।''

मैंने कहा, ''देखिए, अभी तो आपका इरादा रुपए भेजने का है। फिर आप क्यों लज्जित हैं? अगर आप अभी लज्जित हैं, तो आपने अभी ही तय कर लिया है कि रुपए नहीं भेजेंगे।''

वे बोले, ''नहीं, हम पक्का भेजेंगे।''

मैंने कहा, ''तो फिर लज्जित होने का कारण ही नहीं है। आगे अगर न भेज पाएँ

तो एक दिन लज्जित हो लीजिए। आप अभी लज्जित हो रहे हों, तो बात खत्म हो जाती है। बोलिए।''

उन्होंने कहा, ''नहीं, अभी हम लज्जित नहीं हैं।''

मैंने कहा, ''तो फिर आप जाइए। आराम कीजिए। स्वास्थ्य बड़ी चीज है। मैं गाड़ी में बैठ जाऊँगा।''

उन्होंने कहा, ''नहीं, हम आपको पहुँचाने आएँगे।''

मैंने कहा, ''नहीं, आपको देखकर मुझे कष्ट होगा।''

पूछने लगे, ''आपको क्यों कष्ट होगा?''

मैंने कहा, ''आपको देखकर फिर याद आ जाएगी कि आपने मेरे पैसे दबा लिये।''

वे दुःखी मन से चले गए। मेरे ऊपर उनका नंबर दो चल गया। उनका उसी वक्त लज्जित हो लेना उचित था। रुपए उन्होंने मुझे नहीं भेजे।

इस नंबर दो की चोट से मैं विफल हो गया। तभी मुझे नंबर दो का एक सफल मौका मिला और मन अब प्रसन्न है। एक शहर में मेरे साहित्य-प्रेमी मित्र आबकारी अफसर थे। आबकारी अफसर साहित्य-प्रेमी हो, तो साहित्य का भी विकास होता है और आबकारी का भी। उन्होंने शराब के ठेकेदारों को साहित्यिक समारोह करने के लिए प्रेरित किया। मुझे तार से रुपए मिले। मित्र का पत्र मिला कि आ जाओ, और दिलाएँगे। पर समारोह के वक्त बीमार पड़ गया और वे रुपए इलाज में खर्च हो गए। कुछ दिनों बाद मित्र का तबादला हो गया। लगभग छह महीने बाद मुझे ठेकेदार सचिव का पत्र मिला कि मैं वे रुपए लौटा दूँ।

मैंने जवाब में अत्र कुशलं तत्रास्तु के बाद लिखा—'आपके पत्र के उत्तर में इतना ही कहना है कि मेरे मित्र जल्दी ही तबादले पर वहीं आ रहे हैं।'

तर्क लाजवाब था। मेरा नंबर दो चल गया।

दीवाली पर मैं हिसाब लगाता हूँ कि मुझ पर कितने का नंबर दो हुआ और मैंने कितने का नंबर दो किया। इस साल दूसरों ने मेरे ऊपर 480) का नंबर दो किया और मैंने दूसरों पर 650) का। रोकड़ बाकी 170)। अंकन एक सौ सत्तर रुपए श्री लक्ष्मीजी सदा सहाय।

☯

ठिठुरता हुआ गणतंत्र

चार बार मैं गणतंत्र-दिवस का जलसा दिल्ली में देख चुका हूँ। पाँचवीं बार देखने का साहस नहीं। आखिर यह क्या बात है कि हर बार जब मैं गणतंत्र-समारोह देखता, तब मौसम बड़ा क्रूर रहता। छब्बीस जनवरी के पहले ऊपर बर्फ पड़ जाती है। शीत-लहर आती है, बादल छा जाते हैं, बूँदाबाँदी होती है और सूर्य छिप जाता है। जैसे दिल्ली की अपनी अर्थनीति

नहीं है, वैसे ही अपना मौसम भी नहीं है। अर्थनीति जैसे डालर, पौंड, रुपया, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष या भारत-सहायता क्लब से तय होती है, वैसे ही दिल्ली का मौसम कश्मीर, सिक्किम, राजस्थान आदि तय करते हैं।

इतना बेवकूफ भी नहीं हूँ कि मान लूँ, जिस साल मैं समारोह देखता हूँ, उसी साल ऐसा मौसम रहता है। हर साल देखने वाले बताते हैं कि हर गणतंत्र-दिवस पर मौसम ऐसा ही धूपहीन ठिठुरनवाला होता है।

आखिर बात क्या है? रहस्य क्या है?

जब कांग्रेस टूटी नहीं थी, तब मैंने एक कांग्रेसमंत्री से पूछा था कि यह क्या बात है कि हर गणतंत्र-दिवस को सूर्य छिपा रहता है? सूर्य की किरणों के तले हम उत्सव क्यों नहीं मना सकते? उन्होंने कहा—'जरा धीरज रखिए। हम कोशिश में लगे हैं कि सूर्य बाहर आ जाए। पर इतने बड़े सूर्य को बाहर निकालना आसान नहीं है। वक्त लगेगा। हमें सत्ता के कम-से-कम सौ वर्ष तो दीजिए!'

दिए। सूर्य को बाहर निकालने के लिए सौ वर्ष दिए, मगर हर साल उसका कोई छोटा कोना निकलता तो दिखना चाहिए। सूर्य कोई बच्चा तो है नहीं जो अंतरिक्ष की कोख में अटका है, जिसे आप एक दिन ऑपरेशन करके निकाल देंगे।

इधर जब कांग्रेस के दो हिस्से हो गए तब मैंने एक इंडिकेटी कांग्रेसी से पूछा। उसने कहा—'हम हर बार सूर्य को बादलों से बाहर निकालने की कोशिश करते थे, पर हर बार सिंडिकेटवाले अड़ंगा डाल देते थे। अब हम वादा करते हैं कि अगले गणतंत्र-दिवस पर सूर्य को निकालकर बताएँगे।'

एक सिंडिकेटी पास खड़ा सुन रहा था। वह बोल पड़ा—'यह लेडी (प्रधानमंत्री) कम्युनिस्टों के चक्कर में आ गई है। वही उसे उकसा रहे हैं कि सूर्य को निकालो। उन्हें उम्मीद है, बादलों के पीछे से उनका प्यारा 'लाल सूरज' निकलेगा। हम कहते हैं कि सूर्य को निकालने की क्या जरूरत है? क्या बादलों को हटाने से काम नहीं चल सकता?'

मैं संसोपाई भाई से पूछता हूँ। वह कहता है—'सूर्य गैर-कांग्रेसवाद पर अमल कर रहा है। उसने डाक्टर लोहिया के कहने से हमारा पार्टी-फार्म भर दिया था। कांग्रेसी प्रधानमंत्री को सलामी लेते वह कैसे देख सकता है? किसी गैर-कांग्रेसी को प्रधानमंत्री बना दो, तो सूर्य क्या, उसके अच्छे भी निकल पड़ेंगे।'

जनसंघी भाई से भी मैंने पूछा। उसने साफ कहा—'सूर्य सेक्युलर होता तो इस सरकार की परेड में निकल आता। इस सरकार से आशा मत करो कि वह भगवान अंशुमाली को निकाल सकेगी। हमारे राज्य में ही सूर्य निकलेगा।'

साम्यवादी ने मुझसे साफ कहा—'यह सब सी.आई.ए. का षड्यंत्र है। सातवें बेड़े से बादल दिल्ली भेजे जाते हैं।'

स्वतंत्र पार्टी के नेता ने कहा—'रूस का पिछलग्गू बनने का और क्या नतीजा होगा!'

प्रसोपा के भाई ने अनमने ढंग से कहा—'सवाल पेचीदा है। नेशनल कौंसिल की अगली

बैठक में इसका फैसला होगा। तब बताऊँगा।'

राजाजी से मैं मिल न सका। मिलता, तो वह इसके सिवा क्या कहते कि इस राज में तारे निकलते हैं, यही गनीमत है।

मैं इंतजार करूँगा, जब भी सूर्य निकले।

स्वतंत्रता-दिवस भी तो भरी बरसात में होता है। अंग्रेज बहुत चालाक हैं। भरी बरसात में स्वतंत्र करके चले गए। उस कपटी प्रेमी की तरह भागे, जो प्रेमिका का छाता भी ले जाए। वह बेचारी भीगती बस-स्टैंड जाती है, तो उसे प्रेमी की नहीं, छाता-चोर की याद सताती है।

स्वतंत्रता-दिवस भीगता है और गणतंत्र-दिवस ठिठुरता है।

मैं ओवरकोट में हाथ डाले परेड देखता हूँ। प्रधानमंत्री किसी विदेशी मेहमान के साथ खुली गाड़ी में निकलती हैं। रेडियो टिप्पणीकार कहता है—'घोर करतल-ध्वनि हो रही है।' मैं देख रहा हूँ, नहीं हो रही है। हम सब तो कोट में हाथ डाले बैठे हैं। बाहर निकालने का जी नहीं होता। हाथ अकड़ जाएँगे।

लेकिन हम नहीं बजा रहे हैं, फिर भी तालियाँ बज रही हैं। मैदान में जमीन पर बैठे वे लोग बजा रहे हैं, जिनके पास हाथ गरमाने के लिए कोट नहीं है। लगता है, गणतंत्र ठिठुरते हुए हाथों की तालियों पर टिका है। गणतंत्र को उन्हीं हाथों की ताली मिलती है, जिनके मालिक के पास हाथ छिपाने के लिए गर्म कपड़ा नहीं है।

पर कुछ लोग कहते हैं—'गरीबी मिटनी चाहिए।' तभी दूसरे कहते हैं—'ऐसा कहनेवाले प्रजातंत्र के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं।'

गणतंत्र-समारोह में हर राज्य की झाँकी निकलती है। ये अपने राज्य का सही प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। 'सत्यमेव जयते' हमारा मोटो है मगर झाँकियाँ झूठ बोलती हैं। इनमें विकास-कार्य, जनजीवन, इतिहास आदि रहते हैं। असल में हर राज्य को उस विशिष्ट बात को यहाँ प्रदर्शित करना चाहिए जिसके कारण पिछले साल वह राज्य मशहूर हुआ। गुजरात की झाँकी में इस साल दंगे का दृश्य होना चाहिए, जलता हुआ घर और आग में झोंके जाते बच्चे। पिछले साल मैंने उम्मीद की थी कि आंध्र की झाँकी में हरिजन जलाते हुए दिखाए जाएँगे। मगर ऐसा नहीं दिखा। यह कितना बड़ा झूठ है कि कोई राज्य दंगे के कारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति पाए, लेकिन झाँकी सजाए लघु उद्योगों की। दंगे से अच्छा गृह-उद्योग तो इस देश में दूसरा है नहीं। मेरे मध्यप्रदेश ने दो साल पहले सत्य के नजदीक पहुँचने की कोशिश की थी। झाँकी में अकाल-राहत कार्य बतलाए गए थे। पर सत्य अधूरा रह गया था। मध्यप्रदेश उस साल राहत-कार्यों के कारण नहीं, राहत-कार्यों में घपले के कारण मशहूर हुआ था। मेरा सुझाव माना जाता तो मैं झाँकी में झूठे मस्टर-रोल भरते दिखाता, चुकारा करनेवाले का अँगूठा हजारों मूर्खों के नाम के आगे लगवाता, नेता, अफसर, ठेकेदार के बीच लेन-देन का दृश्य दिखाता। उस झाँकी में वह बात नहीं आई।

पिछले साल स्कूलों की 'टाट-पट्टी कांड' से हमारा राज्य मशहूर हुआ। मैं पिछले साल की झाँकी में यह दृश्य दिखाता—मंत्री, अफसर वगैरह खड़े हैं और टाट-पट्टी खा रहे हैं।

जो हाल झाँकियों का, वही घोषणाओं का। हर साल घोषणा की जाती है कि समाजवाद आ रहा है। पर अभी तक नहीं आया। कहाँ अटक गया? लगभग सभी दल समाजवाद लाने का दावा करते हैं, लेकिन वह नहीं आ रहा।

मैं एक सपना देखता हूँ। समाजवाद आ गया है और बस्ती के बाहर टीले पर खड़ा है। बस्ती के लोग आरती सजाकर उसका स्वागत करने को तैयार खड़े हैं। पर टीले को घेरे खड़े हैं कई तरह के समाजवादी। उनमें से हरेक लोगों से कहकर आया है कि समाजवाद को हाथ पकड़कर मैं ही लाऊँगा।

समाजवाद टीले से चिल्लाता है—'मुझे बस्ती में ले चलो।'

मगर टीले को घेरे समाजवादी कहते हैं—'पहले यह तय होगा कि कौन तेरा हाथ पकड़कर ले जाएगा!'

समाजवाद की घेराबंदी कर रखी है। संसोपा-प्रसोपावाले जनतांत्रिक समाजवादी हैं, पीपुल्स डेमोक्रेसी और नेशनल डेमोक्रेसीवाले साम्यवादी हैं, दोनों तरह के कांग्रेसी हैं, सोशलिस्ट यूनिटी सेंटरवाले हैं। क्रांतिकारी समाजवादी हैं। हरेक समाजवाद का हाथ पकड़कर उसे बस्ती में ले जाकर लोगों से कहना चाहता है—'लो, मैं समाजवाद ले आया।'

समाजवाद परेशान है। उधर जनता भी परेशान है। समाजवाद आने को तैयार खड़ा है, मगर समाजवादियों में आपस में धौल-धप्पा हो रहा है। समाजवाद एक तरफ उतरना चाहता है कि उस पर पत्थर पड़ने लगते हैं। 'खबरदार, उधर से मत जाना!' एक समाजवादी उसका एक हाथ पकड़ता है, तो दूसरा हाथ पकड़कर उसे खींचता है। तब बाकी समाजवादी छीना-झपटी करके हाथ छुड़ा देते हैं। लहूलुहान समाजवाद टीले पर खड़ा है।

इस देश में जो जिसके लिए प्रतिबद्ध है, वही उसे नष्ट कर रहा है। लेखकीय स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध लोग ही लेखक की स्वतंत्रता छीन रहे हैं। सहकारिता के लिए प्रतिबद्ध इस आंदोलन के लोग ही सहकारिता को नष्ट कर रहे हैं। सहकारिता तो एक स्पिरिट है। सब मिलकर सहकारितापूर्वक खाने लगते हैं और आंदोलन को नष्ट कर देते हैं। समाजवाद को समाजवादी ही रोके हुए हैं।

यों प्रधानमंत्री ने घोषणा कर दी है कि अब समाजवाद आ ही रहा है।

मैं एक कल्पना कर रहा हूँ।

दिल्ली में फरमान जारी हो जाएगा—'समाजवाद सारे देश के दौरे पर निकल रहा है। उसे सब जगह पहुँचाया जाए। उसके स्वागत और सुरक्षा का पूरा बंदोबस्त किया जाए।'

एक सचिव दूसरे सचिव से कहेगा—'लो, ये एक और वी.आई.पी. आ रहे हैं। अब इनका इंतजाम करो। नाक में दम है।'

कलेक्टरों को हुक्म चला जाएगा। कलेक्टर एस.डी.ओ. को लिखेगा, एस.डी.ओ.

तहसीलदार को।

पुलिस-दफ्तरों में फरमान पहुँचेंगे, समाजवाद की सुरक्षा की तैयारी करो।

दफ्तरों में बड़े बाबू छोटे बाबू से कहेंगे—'काहे हो तिवारी बाबू, एक कोई समाजवादवाला कागज आया था न! जरा निकालो!'

तिवारी बाबू कागज निकालकर देंगे। बड़े बाबू फिर से कहेंगे—'अरे वह समाजवाद तो परसों ही निकल गया। कोई लेने नहीं गया स्टेशन। तिवारी बाबू, तुम कागज दबाकर रख लेते हो। बड़ी खराब आदत है तुम्हारी।'

तमाम अफसर लोग चीफ-सेक्रेटरी से कहेंगे—'सर, समाजवाद बाद में नहीं आ सकता? बात यह है कि उसकी सुरक्षा का इंतजाम नहीं कर सकेंगे। दशहरा आ रहा है। दंगे के आसार हैं। पूरा फोर्स दंगे से निपटने में लगा है।'

मुख्य सचिव दिल्ली लिख देगा—'हम समाजवाद की सुरक्षा का इंतजाम करने में असमर्थ हैं। उसका आना अभी मुल्तवी किया जाय।'

जिस शासन-व्यवस्था में समाजवाद के आगमन के कागज दब जाएँ और जो उसकी सुरक्षा की व्यवस्था न करे, उसके भरोसे समाजवाद लाना है तो ले आओ। मुझे खास एतराज भी नहीं है। जनता के द्वारा न आकर अगर समाजवाद दफ्तरों के द्वारा आ गया तो एक ऐतिहासिक घटना हो जाएगी।

◆

बेईमानी की परत

कपड़ा पहनते-पहनते छोटा हो जाता है, यह मैं भूल चुका था। कई सालों से ऐसी घटना ही नहीं घटी थी। मैं उनमें से नहीं रहा, जो इस साल पैंट सिलवाते हैं और अगले ही साल उसे पत्नी की पुरानी साड़ी की किनार से बाँधने लगते हैं। उच्चवर्गी और मध्यवर्गी में यही अंतर है। उच्चवर्गी का पैंट जब छोटा होता है, तो वह उसे आगे के लिए छोड़ देता है। पर मध्यवर्गी का कुछ 'आगे' के लिए नहीं होता; इसलिए वह स्त्री की फटी साड़ी की किनार खोजने लगता है।

ठंड शुरू होने पर मैंने गरम शेरवानी निकालकर पहनी तो देखा कि बटनें नहीं लगतीं। पिताजी जब मेरे कपड़े सिलाने देते थे, तो दर्जी से कह देते थे—जरा बढ़ते शरीर का बनाना। जब से अपने कपड़े बनवाने का जिम्मा खुद लिया है, हर बार दर्जी से कहना चाहता हूँ—जरा घटते शरीर का बनाना। शरीर जब तक दूसरों पर लदा है, तब तक मुटाता है। जब अपने ही ऊपर चढ़ जाता है, तब दुबलाने लगता है। जिन्हें मोटे रहना है, वे दूसरों पर लदे रहने का सुभीता कर लेते हैं—नेता जनता पर लदता है, साधु भक्तों पर, आचार्य महत्वाकांक्षी छात्रों पर और बड़ा साहब जूनियरों पर।

मुझे ऐसा कोई आसन नहीं मिला। फिर भी कुछ मोटा हो जाने की इच्छा मरी नहीं। जब भी सफर करता, रेलवे प्लेटफार्म पर वजन तौलने की मशीन में दस पैसे डालकर वजन का टिकिट निकलता। टिकिट के दूसरे तरफ भाग्य-फल लिखा है, जो अकसर दस पैसे के बदले में की गई चापलूसी होता है। इस देश की मशीनें भी चापलूसी करना सीख गई हैं। सिर्फ दस पैसे में कुछ ऐसी बातें कहती हैं—'आपके विचार बहुत ऊँचे हैं। आप उनके अनुसार कार्य करेंगे, तो सफल होंगे।' मैं कहता हूँ—सिस्टर, कभी तो सच बोला करो। यह कोई तुम्हारा 'स्टैंडर्ड' है कि सिर्फ दस पैसे में—! मशीनों की राय पर मैं ज्यादा भरोसा नहीं करता, विशेषकर उन पर जो आदमी को तौलने के लिए जगह-जगह रखी हुई हैं। इनके मुँह में दस पैसे डाल दो तो तारीफ का एक वाक्य बोल देती हैं।

इसीलिए मैं किसी इनाम के लिए कभी किताब नहीं भेजता। और समीक्षकों के घरों में पुत्र-जन्म होते रहते हैं, पर मैं बधाई के कार्ड नहीं लिख पाता। नतीजा यह कि वजन बढ़ता भी है तो किसी मशीन की टिकिट पर रिकार्ड नहीं होता। जमाने में वजन से ज्यादा उसके रिकार्ड का महत्त्व है। इसीलिए चतुर लोग दूसरे की गोद में बैठकर अपने को तुलवा लेते हैं, और बढ़े वजन का टिकिट जेब में रखे रहते हैं।

इस बार जरूर वजन बढ़ा है। अब मशीन की धाँधली नहीं चलेगी। मुटाई के अहसास ने शरीर में ऐसी सनसनी पैदा की कि जी हुआ फैलकर शेरवानी को तार-तार कर दूँ और ठंड उघाड़े बदन गुजार दूँ।

फिर मैं झेंपा भी। वजन बढ़ना तो लड़कपन की हरकत है। कोई प्रौढ़ आदमी भी इस जमाने में क्यों मोटा होगा? लोग क्या सोचेंगे? अनाज की दूकानों के सामने थैला हाथ में लिये कतार में खड़ा आदमी सूख रहा है। जब तक उसका नंबर आता है, दाम बढ़ जाते हैं और घर से लाए पैसे कम पड़ जाते हैं। साधारण आदमी भी जहाजों के टाइम-टेबिल याद रखने लगा है। अमेरिका से जहाज आएगा तो उसमें हमारे लिए गेहूँ होगा; जापान से आएगा तो चावल होगा। अमेरिका में जहाजी कर्मचारियों की हड़ताल से भारतीय जन चिंतित हो जाता है। भुखमरी से हममें अंतर्राष्ट्रीय चेतना आ गई। अगर अकाल पड़ जाय, तो हर भारतीय अपने को विश्व-मानव समझने लगेगा।

यह वक्त भी कहीं मोटे होने का है! मैं शर्म से कमरे में छिपा बैठा रहा, जैसे कुमारी गर्भ को छिपाती है। मेरे देशवासियो, मुझ बेशर्म को माफ करना। भारत माता, क्षमा करना, तेरा यह एक कपूत मोटा हो गया। मैं तीसरी पंचवर्षीय योजना का एक झूठा आँकड़ा हूँ, जो तुम्हें धोखा दे रहा है। सुब्रमन्यम, माफ करना यार, तुम्हारी खाद्य-व्यवस्था के बावजूद मैं मोटा हो गया। टी.टी. भाई, तुम भी मुझे माफ करो; मैंने तुम्हारी अर्थनीति का अपमान किया है। कन्हैयालाल मुंशी, अजितप्रसाद जैन, साधोबा पाटिल—मेरे पिछले खाद्य मंत्रियो, तुम्हारे सामने मैं शर्मिंदा हूँ। चिंतामन देशमुख और मोरारजी भाई, मेरे भूतपूर्व अर्थ मंत्रियो, मैं तुम्हें मुँह दिखाने के काबिल नहीं रहा। मैं पिछले 15 वर्षों की उलझी अर्थ-नीति और खाद्य-नीति के प्रति अपराधी हूँ।

ग्लानि से दुबला होने में देर लगती है और पानीदार ही दुबला होता है। मुझे इस बढ़े शरीर की व्यवस्था करनी ही होगी। शेरवानी को खुलवाना ही पड़ेगा। मैंने छोटे भाई से कहा। वह बहुत खुश हुआ और मुहल्ले में जितने लोगों को सूचित कर सकता था, कर आया कि मेरा भाई मोटा हो गया है। मैं डरा कि अभी लोग आएँगे और कहेंगे–सुना है साहब, आप मोटे हो गए। बधाई है। ईश्वर सबको इसी तरह मोटा करे।

लेकिन शाम तक मैंने लज्जा-भाव को जीत लिया। इसमें क्या शर्म की बात है। मोटा हुआ है, तो मेरा ही शरीर हुआ है। मेरे कारण कोई दूसरा तो मोटा नहीं हुआ। मैं इशारे से इस उपलब्धि को बताने भी लगा। दोस्त ठंड की बात करते तो मैं बीच में कह देता–हाँ, ठंड सिर पर आ गई और हमारे गर्म कपड़े छोटे पड़ गए। बटनें नहीं लगतीं।

दो-तीन दिनों में यह बात फैल गई और मेरे एक बुजुर्ग रिश्तेदार यह कहते मेरे घर आए–लड़के ने बताया कि तुम मोटे हो गए। मैंने सोचा, चलो, देख आएँ।

दुर्बलता का मैं अभ्यस्त हो गया था। गर्वपूर्वक दुबला रह लेता था। कोई ऋषि मोटा नहीं हुआ। वे सब सूखे और क्रोधी होते थे। कोई उनके चरण न छुए तो उसे शाप देकर बंदर बना देते थे। पर न मैं वैसा दुबला था, न वैसा क्रोधी। मैं 'आजानुभुज' और 'आकंठटाँग' वाला हूँ–याने बैठने में टाँगें कंठ तक आ पहुँचती हैं। सोचता था, भुजाओं और टाँगों का जो अतिरिक्त भाग है, वह बाकी शरीर में चिपका दिया जाय, तो ठीक हो जाय। पुराने जमाने में सुंदरियों के लिए ऐसी सर्जरी होती होगी कि इस अंग का कुछ काटकर उस अंग में चिपका दिया। प्रमाण चाहिए तो बिहारी की यह पंक्ति काफी है–'कटि को कंचन काटि कै, कुचन मध्य धरि दीन।' (इससे दोनों ठीक हो गए) एक और तरह की सर्जरी है, जिनमें बिना चाकू के पेट काटा जा सकता है। वर्तमान सभ्यता में इस रक्तहीन सर्जरी ने काफी उन्नति की है। जो दस-पाँच के पेट काट सके उसका पेट बड़ा हो जाता है। वे सारे पेट उसके पेट में चिपक जाते हैं। इस विद्या के विद्यालयों में मुझे प्रवेश नहीं मिला, वरना मैं भी यह सर्जरी सीख लेता और पेट बढ़ा लेता।

यों हमारी पूरी दार्शनिक ट्रेनिंग देह के खिलाफ जाती है। देह की सेवा बड़ी हीन बात मानी गई है। दो-तीन साल पहले एक मठाधीश स्वामीजी ने हमें यह बात अच्छी तरह समझा दी थी। वे अच्छे पुष्ट और गौरवर्ण संन्यासी थे। तख्त पर बैठे थे और देह की तुच्छता पर ऐसा जोरदार प्रवचन कर रहे थे कि हमें अपने शरीर से घृणा होने लगी थी। अच्छे उपदेशक वे, जो अच्छी-से-अच्छी चीज के प्रति नफरत पैदा कर देते हैं। वे कह रहे थे–'यह मलमूत्र की खान, यह गंदा शरीर मिथ्या है, नाशवान है, क्षणभंगुर है। मूरख इसे स्वादिष्ट पकवान खिलाते हैं, इसे सजाते हैं, इस पर इत्र चुपड़ते हैं। वे भूल जाते हैं कि एक दिन यह देह मिट्टी में मिलेगी और इसे कीड़े खाएँगे।' इतने में एक सेवक केसरिया रबड़ी का गिलास लाया और स्वामीजी ने उसे गटक लिया। मेरे पापी

मन में शंका उपजी। पर पास में बैठे एक भक्त ने समझाया—यह मत समझ लेना कि स्वामीजी स्वादिष्ट रबड़ी खाते हैं। अरे, वे तो कीड़ों-मकोड़ों के खाने के लिए देह को पुष्ट और स्वादिष्ट बना रहे हैं। इस मृत देह को कीड़े खाएँ, तो उन्हें भी मजा आ जाय—यही सोचकर स्वामीजी रबड़ी पीते हैं। श्रद्धाहीन सोचते हैं कि स्वामीजी माल खाते हैं; यह नहीं जानते कि वे तो कीड़ों के लिए 'डिनर' बनाने में लगे हैं।

वह उपदेश आज काम आया। संतोष भी हुआ कि अगर स्वामीजी का 'मेनू' पहले दर्जे का है तो मेरा भी दूसरे का तो हो ही गया। मैं मिथ्या गर्व से बच गया। जो खुशी थी, वह लोगों के सवालों ने छीन ली। लोग पूछने लगे—मोटे हो रहे हो। क्या बात है ? मैं क्या जवाब देता। कह दिया—स्वास्थ्य का खयाल रखता हूँ। वह जो स्वामी शिवानंद की किताब है न, उसी के मुताबिक चल रहा हूँ। उसमें लिखा है—समय पर भोजन करना चाहिए, सूर्यास्त के बाद चाय नहीं पीनी चाहिए, अधिक रात तक नहीं जागना चाहिए, हल्का भोजन करना चाहिए, मदिरा आदि मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए, मिर्च-मसाले नहीं खाना चाहिए, मन में बुरे विचारों को नहीं आने देना चाहिए।

किसी को संतोष नहीं हुआ। लोग कहते—मजाक छोड़ो। सच बताओ, मोटे क्यों हो रहे हो? पीठ-पीछे जब कोई यह प्रश्न करते, तो वह कँटीला हो जाता। वे आपस में कहते—वह आजकल मुटा रहा है। क्या बात है? मैं इस सवाल से घबरा उठा। मैं जब दुबला था, तब किसी ने प्रधानमंत्री से नहीं पूछा कि यह शख्स दुबला क्यों है। किसी ने संविधान नहीं देखा कि इसमें नागरिकों के कर्तव्यों में दुबला होना लिखा है या नहीं ? हम सबने दुबले होने को अपनी नियति मान लिया है। कोई मोटा हो जाता है, तो हजार अँगुलियाँ उठने लगती हैं। लोग यह समझ रहे थे कि या तो मैं गाँजा-शराब के 'स्मगलिंग' में लगा हूँ या किसी संस्था का मंत्री बनकर चंदा खा रहा हूँ, या कहीं से काला पैसा ले रहा हूँ, या घूसखोरी के लिए किसी का एजेंट हो गया हूँ। रोटी खाने से कोई मोटा नहीं होता, चंदा या घूस खाने से मोटा होता है। बेईमानी के पैसे में ही पौष्टिक तत्त्व बचे हैं।

पिछले 17 सालों से मोटे होनेवालों ने ऐसी परंपरा डाली है कि ईमानदार को मोटे होने में डर लगता है। स्वस्थ रहने की हिम्मत नहीं होती।

मेरे एक दोस्त ने मुझे बताया है कि जिनकी तोंदें इन 17 सालों में बढ़ी हैं, जिनके चेहरे सुर्ख हुए हैं, जिनके शरीर पर मांस आया है, जिनकी चर्बी बढ़ी है—उनके भोजन का एक प्रयोगशाला में विश्लेषण करने पर पता चला है कि वे अनाज नहीं खाते थे; चंदा, घूस, काला पैसा, दूसरे की मेहनत का पैसा या पराया धन खाते थे। इसलिए जब कोई मोटा होता दिखता है, तो सवाल उठते हैं। कोई विश्वास नहीं करता कि आदमी अपनी मेहनत से ईमान का पैसा कमाकर भी मोटा हो सकता है।

बेईमानी की तरह यह थोड़ा-सा मांस मेरे ऊपर चिपक गया है। मेरे दुश्मनो, एक वैज्ञानिक तथ्य तुम्हारे सामने है। मैं मोटा होकर कमजोर हो गया हूँ। मेरी बदनामी उड़ाने

का ऐसा सुनहला अवसर तुम्हें कभी नहीं मिलेगा। तुम जल्दी करो। मेरा क्या ठिकाना है ? मैं चार दिनों बाद फिर दुबला हो जाऊँगा। तब तुम हाथ मलते रह जाओगे।

अन्न की मौत

बाजार में जब गेहूँ का दाना न मिलता हो, तब कोई मित्र अगर 25-30 किलो गेहूँ दे दे, तो देश का भविष्य एकदम उज्ज्वल दिखने लगता है। कल एक मित्र ने 25-30 किलो आटा एक बोरे में भेज दिया था और दुनिया के प्रति मेरी दृष्टि बदल गई थी। दुनिया मुझे उस वक्त बुरी नहीं लग रही थी। जिन मनीषियों ने संसार को दुखमय कहा है, उन्होंने यह तब कहा होगा, जब उनके घर में आटा नहीं होगा। आटा मिलने के बाद भी उन्होंने अपने मत को नहीं बदला। अगर मनीषी भी हम छोटे लेखकों की तरह अपनी रचना को एक बार फिर देख लें, तो दुनिया बहुत-से गलत मंतव्यों से बच जाए। आटा देखते ही मुझे भविष्य बहुत आशावान लगा। मुझे लगा, वियतनाम में शांति होने ही वाली है, निःशस्त्रीकरण होने में अब बहुत देर नहीं है, चीन और पाकिस्तान खुद समझौता करने के लिए भागे आनेवाले हैं। मुझे ऐसी आशा भी हुई कि मेरे घर में आटा आ गया है, तो राष्ट्रसंघ का अर्थ-संकट भी आज हल हो जाएगा।

हम सब खुश और आशावान हो गए। बहन ने सोचा कि कुछ दिन चैन मिलेगा। भांजों ने सोचा कि कुछ दिन गेहूँ की तलाश करने से बचे। हम आटे के बोरे को घेरकर बैठ गए और जैसे जन्म-दिन की 'केक' लोग काटते हैं, वैसे बोरे को खोलने लगे। बोरा खुला तो बदबू का झोंका आया। आटे को पलटा, तो उसमें मरकर सड़ा हुआ चूहा निकला। हम सब सन्न—जैसे जन्म-दिन की 'केक' काटते हुए कोई मर गया हो। सारा आटा रोग बन गया था। हम मुँह लटकाए बैठे थे। कोई किसी से न बोल रहा था, न किसी की तरफ देख रहा था। मुझे लगा, अब वियतनाम-समस्या खतरनाक मोड़ लेगी, राष्ट्रसंघ कर्ज में डूब जाएगा, निरस्त्रीकरण नहीं हो सकता और एटमी युद्ध की अब पूरी संभावना है।

याद आया, दो साल पहले जब चाचा मरे थे, तब उनकी लाश भी इसी कमरे में यहीं रखी थी और हम इसी तरह सिर लटकाए मौन, आसपास बैठे थे। तब कोई पूछता था, तो बताते कि चाचा निमोनिया से मर गए। आज कोई पूछे तो बताएँगे कि हमारा गेहूँ चूहे से मर गया। चाचा जब उस लोक पहुँचे होंगे तो वहाँवालों ने पूछा होगा, 'कहिए, पंडित श्यामलाल परसाई, कितने किलो पर चले आए?' चाचा ने कहा होगा, 'भैया, हम तो रुपए के ढाई किलो पर ही चले आए। पता नहीं आगे क्या हो। जीनेवाले भुगतें।' पिता ने, जो रुपए के 20 सेर पर ही चले गए थे, जब सुना होगा, तो परेशान हुए होंगे कि बच्चे बड़ी मुसीबत में हैं।

मैं चूहे को देख रहा था और आटे को। चूहों ने सड़कर हर जीवनदायिनी चीज को प्राणघातक बना दिया है। चूहों ने मेरे ही नहीं, सारे देश के गेहूँ को मार डाला है। ये चूहे खाद्य-व्यवस्था के बारे में घुसकर वहीं मोटे होकर मर गए और सड़कर सारी व्यवस्था को नष्ट कर दिया। अन्न सब दफना दिया गया। हमें सिर्फ सड़ाँध का अनुभव हो रहा है। मुझे लगता है, सभ्यता के बोरे में ये चूहे घुसकर सड़ गए हैं। मैं कहता हूँ कि तुम अगर उसे आसपास से कुतरो, तो एक हद तक बर्दाश्त किया जा सकता है। मगर कम्बख्तो, उसमें घुसकर सड़ते क्यों हो? खुद तो मरते ही हो, हमारे लिए बदबू और रोग फैलाते हो। हम हर बोरे को खोलकर देखते हैं कि तुम मरकर सड़ रहे हो। क्या तुम हमें इस निष्कर्ष तक पहुँचाना चाहते हो कि हम इस समूची व्यवस्था को दफन कर दें?

सरकार कहती है कि हमने चूहे पकड़ने के लिए चूहेदानियाँ रखी हैं। एकाध चूहेदानी की हमने भी जाँच की है। उसमें घुसने के छेद से बड़ा छेद पीछे से निकलने के लिए है। चूहा इधर से फँसता है और उधर से निकल जाता है। पिंजड़े बनानेवाले और चूहे पकड़नेवाले चूहों से मिले हैं। वे इधर हमें पिंजड़ा दिखाते हैं और चूहे को छेद दिखा देते हैं। हमारे माथे पर सिर्फ चूहेदानी का खर्च चढ़ रहा है।

इस व्यापक षड्यंत्र से घबड़ाकर सोचा था कि इस साल घर का गेहूँ खाएँगे। जो अमरीका और कनाडा को अपना घर मानते हैं, वे अपने घर का खाएँ। कोई अनाथालय को अपना घर माने तो मैं क्या करूँ? मेरे भाई की थोड़ी-सी जमीन है। उसने मुझसे कहा था कि अपना दो बोरा गेहूँ इटारसी में रखा है। उसे रेलगाड़ी से जबलपुर भेज देंगे। पर वह आया नहीं। मालूम हुआ कि जिलेबंदी हो गई है। परमिट लेना होगा। साधारण तरीके से परमिट लेना खेती करने से ज्यादा मेहनत लेता है। असाधारण तरीकों से जल्दी मिलता है—इन्हें सब जानते हैं। सोचा, जितनी मेहनत परमिट लेने में लगाएँगे, उतनी मेहनत से तो घर के सामने के मैदान में फसल खड़ी कर लेंगे। हजारों मील दूर अमरीका से पराया गेहूँ तो आ सकता है, पर 150 मील दूर से अपना गेहूँ नहीं आ सकता। अपनी हर चीज की रफ्तार कम हो गई है। विदेशी पैसा कैसे दौड़कर आता है, अपना पैसा रेंगता है। मुझे एक ज्ञानी ने बताया कि अगर तुम यह कह देते कि गेहूँ खाने के लिए नहीं, काला बाजार में बेचने के लिए ले जा रहे हैं तो आ जाने दिया जाता।

हमसे यह नहीं हुआ। गेहूँ और पेट में 150 मील का अंतर बना हुआ है। भावना से हम उन बोरों से चिपके हुए हैं। कहते हैं, देवताओं का पेट सिर्फ भावनाओं से भर जाता है। देवता होने का फायदा अब समझ आ रहा है। लेकिन शुरू से आदमी बनने की कोशिश में उधर ध्यान नहीं दिया और अब हो गई बहुत देर। यह पेट आदमी का रह गया, जो भोजन डालने से ही भरता है। पर डेढ़ सौ मील दूर का गेहूँ कैसे खाया जा सकता है? दो तरकीबें हैं। एक तो यह कि हम सब इटारसी जाएँ और जब तक दो बोरे पूरें, उन्हें खाकर वापस लौट आएँ या फिर हर हफ्ते इटारसी जाएँ और हफ्ते-भर

के लिए गेहूँ खाकर लौट आएँ। इसमें एक डर है। हम गेहूँ खाकर गाड़ी पर चढ़ने स्टेशन आए, तभी कोई अधिकारी हमारा पेट टटोलकर कहे—'तुम नहीं जा सकते। भरे पेट पर जिलाबंदी हो गई है।' तब तो हमें पेट खाली होने तक वहीं रुकना पड़ेगा। नहीं, दोनों तरीके अपने काम के नहीं हैं।

अपनी चिंता से बचने के लिए मैं अखबार उठाकर देखता हूँ कि दूसरी जगह क्या हाल है। सब कहीं यही हाल है। मुझे सहसा राष्ट्र की एकता का बोध होता है। हे भारत भाग्यविधाता, पंजाब, सिंध, गुजरात, मराठा, द्राविड़ उत्कल बंग—सब जगह अन्न को मारकर दफना दिया गया। कोटि-कोटि नर-नारी अन्न-संकट के सूत्र में बँधकर एक हो गए हैं। भुखमरी और भ्रष्टाचारी हमारी राष्ट्रीय एकता के सबसे ताकतवर तत्त्व बन गए हैं। धर्म, संस्कृति और दर्शन कमजोर पड़ गए हैं। कैसी अद्‌भुत एकता है। पंजाब का गेहूँ गुजरात के कालाबाजार में बिकता है और मध्यप्रदेश का चावल कलकत्ता के मुनाफाखोर के गोदाम में भरा है। देश एक है। कानपुर का ठग मदुराई में ठगी करता है, हिंदीभाषी जेबकतरा तमिलभाषी की जेब काटता है और रामेश्वरम का भक्त बद्रीनाथ का सोना चुराने चल पड़ा है। सब सीमाएँ टूट गईं। अब जरूरी नहीं है कि हैदराबाद का रेड्डी वहीं भूखा मरे। वह पटना में भी मर सकता है, क्योंकि देश एक है। मुनाफाखोरी, कालाबाजारियों, भ्रष्टाचारियों ने मिलकर राष्ट्र को एक कर दिया है। सुंदर सपनेवाले रवींद्रनाथ की उल्लासमयी जिज्ञासा थी कि ये हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई सब किसके आह्वान पर भारत-महामानवसागर में एकत्र हो गए है? मैं पूछता हूँ, कवि, वे तो ठीक आए, मगर ये सब जातियों के लुच्चे किसके आह्वान से इधर आए?

एक मन्त्री ने अभी कहा है कि यदि गरीबी और भुखमरी है, तो इतने लोग सिनेमा क्यों देखते हैं। उन्हें नहीं मालूम कि भोजन से सिनेमा सस्ता पड़ता है। एक बार के साधारण भोजन में जितना लगता है, उससे आधे दाम में सिनेमा देखा जा सकता है। मन खुश होता है और तीन घण्टे भूख भाग जाती है। आदमी एक खाना छोड़कर सिनेमा क्यों न देखे ?

तर्क तो मैंने दे दिया, पर यह कैफ़ियत मुझे ही बड़ी डरावनी लग रही है। जो कौम भूखी मारी जाने पर सिनेमा में जाकर बैठ जाए, वह अपने दिन कैसे बदलेगी! अद्‌भुत सहनशीलता है इस देश के आदमी में! और बड़ी भयावह तटस्थता! कोई उसे पीटकर उसके पैसे छीन ले, तो वह दान का मन्त्र पढ़ने लगता है।

चावल से हीरे तक

परसों ही तो हम पन्ना में थे। आज यहाँ अखबार में पढ़ा कि कल वहाँ दो हीरे मिले। मैं बहुत

दुखी हूँ। ऐसा लगा कि बारात पहुँचने पर मालूम हुआ हो कि लड़की किसी के साथ भाग गई। ये हीरे हमारे रहते क्यों नहीं निकले? क्या वे इंतजार कर रहे थे कि इनकी पीठ फिरे, तो हम निकलें? अपनी ही धरती का यह कैसा व्यवहार हमारे साथ है कि वह यह देखकर हीरे उगलती है कि कहीं हम आसपास तो नहीं हैं। रत्न-प्रसू ऐसा कर सकती है। पाषाण-प्रसू ऐसा नहीं करती। ज़रा-सा खोदते हैं कि पत्थर निकल आते हैं।

मेरे साथ दो-तीन मित्र भी गए थे। एक ने मेरा दुख कम करने के लिए कहा, ''ऐसा भी तो हो सकता है कि तुम्हारे चरणों के स्पर्श से धरती हीरे उगलने लगी हो। शायद तुम्हारी आहट पाकर ही हीरे झाँकने लगे हों और किसी ने उन्हें निकाल लिया हो।'' मैंने कहा, ''ऐसा मुगालता तुम्हीं पालो। वे और होते हैं जिनके चरण-स्पर्श से पत्थर भी स्त्री बन जाता है। वे अपनी स्त्री को छोड़ देनेवाले होते हैं। हमें देखकर हीरे पर्दा करने लगते हैं। और फिर यह कैसी बात है कि हीरे झाँकें तो हमें, और निकाल कोई और ले जाए!''

सौभाग्य इसी तरह हमेशा कुछ घंटे आगे या पीछे हो गया है। दुर्भाग्य कभी समय नहीं चूका। पिछले साल भानजा 'मनीप्लांट' ले आया था। दूसरे दिन ही पोस्टमैन मनीआर्डर ले आया। मैंने कहा, ''इतने वर्षों में यह सच्चा मनीप्लांट मिला है।'' पर पोस्टमैन रुपए देकर ज्योंही गया, टाइफाइड आ गया। उसे मालूम होगा कि दूसरी डिलीवरी में मनीआर्डर आते हैं। वह कोने पर खड़ा-खड़ा देख रहा होगा। पोस्टमैन इधर मुड़ा, तो वह पीछे-पीछे चला आया। सब रुपए ले गया। इससे तो अच्छा यह होता कि मैं उसे चिट्ठी दे देता और वह सीधे पोस्टमास्टर से ही रुपए ले लेता। कहता—अमुक आदमी के नाम मनीआर्डर आया है न ! मैं टाइफाइड हूँ। उनकी 'अथॉरिटी' लाया हूँ। मुझे दे दीजिए। मैंने मनीप्लांट घर के बाहर फिंकवा दिया। कहा, ''भई, मनीप्लांट शायद दो तरह का होता है—पैसा लानेवाला और पैसा ले जानेवाला। यह ले जानेवाला मालूम होता है।'' उसने कहा, ''नहीं, यह एक ही तरह का होता है।'' मैंने कहा, ''तो फिर आदमी दो तरह के होते हैं। किसी को यह देता है और किसी से ले जाता है। कारखाना भी तो मनीप्लांट है। मगर जो मालिक को देता है वह मजदूरों को नहीं देता। आदमी में ही फर्क है। तभी तो देखता हूँ कि जिन घरों में पचीसों तरह के 'कैक्टस' हैं, वे अभी तक 'वेस्टलैंड' (बंजर) नहीं हुए, बल्कि फूलते-फलते जा रहे हैं।''

पूछा जाएगा कि इतना रो रहे हो, तो क्या सचमुच हीरे खोजने पन्ना गए थे? नहीं, गए बारात में थे। लड़केवाले जानते थे कि ये सच्चे बराती नहीं हैं, पर्यटक हैं। पास ही खजुराहो है, इसीलिए चले आए हैं। हम भी पूरे ईमान से इसका प्रतिवाद नहीं कर सकते। रही हीरे की बात, तो वह यों थी जैसे मंदिर जाने पर मन में आए कि अगर किसी के अच्छे जूते हाथ लग जाएँ, तो देव-दर्शन और शुभ हो। न हाथ लगें, तो कोई बात नहीं। पर दुख तब होता है, जब सुनते हैं कि अमुक के नए जूते मंदिर से कोई ले गया। ऐसा ही दुख पन्ना की इस खबर में है। यों तो सब ठीक चलता जाता

है, पर 'कोई' नहीं होना अखरता है। कोई चोरी करता है, कोई मुनाफा कमाता है, कोई घूस खाता है, कोई इनाम पाता है—मगर इनमें से एक भी 'कोई' अपना सर्वनाम नहीं! इनमें से किसी की व्यक्तिवाचक संज्ञा हम नहीं।

खैर, खजुराहो देख लिया। सरकार के पर्यटक विभाग ने और पश्चिम में बिकने के लिए अंग्रेजी किताबें लिखनेवालों ने खजुराहो का जो रूप प्रचारित किया है, उसे सच मानकर जो मिथुन-रत जोड़ों की मूर्तियाँ देखने ही खजुराहो आना चाहते हैं उन्हें मेरी सलाह है कि व्यर्थ पैसा खर्च न करें। वे हमारी तरह ही निराश होंगे। स्थानीय पुस्तक-विक्रेता से इस विषय की सचित्र पुस्तक खरीदें जो हर शहर में छिपकर बिकती हैं। यह तासीर को ज्यादा रास आएगी। खजुराहो में वैसी मूर्तियाँ बहुत कम हैं और प्रभावहीन भी। हाँ, इसके सिवा और बहुत-कुछ है। पर वह क्या है इसे पश्चिम को न पर्यटक-विभाग बतलाता है, न ये लेखक। जो उन्हें अच्छा लगे, वही पश्चिमवालों को बताकर पर्यटक खींचे जाने चाहिए न! पश्चिम यह जानकर अगर खुश हो कि हम बहुत पतित लोग हैं, तो आधुनिक भारत पर किताब लिखनेवाला यही लिखेगा। तभी तो पश्चिम का पाठक उसकी किताब खरीदेगा और चूम लेगा और कभी पतितों को देखने भी आ सकता है। पतितों को देखना बड़ा दिलचस्प अनुभव होता है।

खजुराहो की कई मूर्तियाँ चोरी चली गई हैं। अभी भी चुराई जाती हैं। हमें एक स्थानीय अधिकारी ने बताया कि कुछ महीने पहले एक अमरीकी मूर्ति चुरा ले गया और अभी कुछ दिन पहले एक अंग्रेज महिला मूर्ति ले जाते पकड़ी गई। हमने कहा—चौकीदार तो होगा। उन्होंने कहा—वह इधर-उधर हो गया होगा। भारत के चौकीदार का यह स्वभाव हो गया है कि अमरीकी या अंग्रेज चोरी करने लगें, तो वह इधर-उधर हो जाता है। हमने ईमान और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए भी चौकीदार रखे हैं पर वे इनकी भी चोरी कर लेते हैं। चौकीदार उन्हें देखकर हट जाता है। दो महीने पहले खाद्यमंत्री सुब्रह्मण्यम की गर्दन तनी हुई रहती थी और वे कहते थे—आत्मसम्मान खोकर हम एक दाना भी किसी से नहीं लेंगे। अब गर्दन ढीली हो गई है और वे कहते हैं—चाहे हमें झुकना पड़े, पर अन्न तो लेना ही होगा। वैसे तो चौकीदार वर्दी पहनकर, बंदूक लेकर अकड़ा खड़ा रहता है, पर अमरीकी और अंग्रेज चोरी करने आते हैं, तो वह पान खाने चला जाता है।

ये विदेशी भी व्यर्थ 'रिस्क' लेते हैं। चोरी करने की जरूरत ही नहीं है। हममें से ही कुछ लोग खोमचे में ईमान और आत्मसम्मान भरकर बेचने बैठे रहते हैं। उनसे खरीद लें। सस्ता पड़ेगा। या घर बैठे भी मिल सकता है। हमारे यहाँ फेरीवाले भी हैं। वे ईमान और आत्मसम्मान की गठरी पीठ पर लादकर विदेशों में फेरी लगाते हैं। घर पर 'डिलीवरी' का भी इंतजाम है हमारे यहाँ।

लौटे तो थोड़ी दूर जाकर ही देखा कि दुर्भाग्य पीछे चला आ रहा है। प्राइवेट बस का हर हिस्सा बाकी से स्वतंत्र था। सीट स्वतंत्र, ऊपर का ढाँचा स्वतंत्र, इंजन स्वतंत्र।

जब पहियों के नट-बोल्ट ने भी स्वतंत्रता का नारा लगाया, तो बस रुकी और बाहरी हस्तक्षेप से उनकी आजादी की माँग दबाई गई। साम्राज्यवादी षड्यंत्र हो गया। कुछ मील आगे चलकर डीजल ने भी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। ड्राइवर ने उसे निकालकर बाल्टी में भरा और उसे अपने पास रख लिया। बाल्टी में नली डालकर तेल इंजन तक पहुँचाया जाने लगा। हमें लगा, थोड़ी देर बाद ड्राइवर इंजन को भी निकालकर गोद में रख लेगा। ऐसा होने के पहले ही हमें दूसरी बस मिल गई। हमने बस के मालिक से कहा—सरदारजी, रोड ट्रांसपोर्ट आफिसवाले कब तक आपको बचाने का वायदा कर चुके हैं? उन्होंने कहा—नहीं जी, गाड़ी तो बहुत अच्छी है। आज इत्तफाक की बात ही है, जो ऐसा हो गया।

यह क्या इत्तफाक था? यही होगा कि हम बस में बैठे थे। दो दिन पन्ना के आसपास घूमकर भी एक हीरा नहीं पाया। ऐसे अभागों के बैठने से कौन-सी बस ठीक रह सकती है। वह तो बेचारी बस ही है। रेलगाड़ी तक आधा घंटा पहले डर के मारे जा चुकी थी। हम दूसरी गाड़ी के इंतजार में सो गए। सुबह मित्रों की राय हुई कि भोजन यहीं कर लिया जाए। एक दोस्त की कोई महीने-भर से चावल खाने की महत्त्वाकांक्षा है। वे शादी में वर के भाई को सलाह दे रहे थे कि बताशों के बदले हर मेहमान को सौ ग्राम चावल दे दो। हम बड़ी आशा से रेलवे के भोजनालय में घुसे। सामने ही तख्ती लगी थी, जिस पर लिखा था—'राइस नॉट अवेलेबल !' अंग्रेजी के कारण धक्का कम लगा। यही बात हिंदी में यों लिखी जाती—'चावल नहीं मिलेगा।' कितना कर्कश होता। इसका मतलब होता—चावल नहीं मिलेगा। खाना हो तो खाओ, वरना बाहर निकल जाओ। अंग्रेजी में कैसी नम्रता से बात कह दी—राइस नॉट अवेलेबल! छुपाने के मामले में अंग्रेजी भाषा कमाल करती है। विल्सन ने कह दिया था कि भारत ने पाकिस्तान पर हमला कर दिया। हम सब हिंदी में इसे 'झूठ' कहने लगे। मगर अंग्रेजी में उन्होंने कहा—हम 'अनइनफार्म्ड' थे! कैसा भोलापन आ गया अंग्रेजी में!

दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा। यहाँ आए, तो यह समाचार दुख दे रहा है। अगर 10-15 दिन बाद हीरे मिलते तो कोई बात नहीं थी। पर हमारी पीठ फिरते ही निकल आए! चावल से लेकर हीरा तक हमारी नजर बचाता है।

'वो ज़रा वाइफ़ हैं न'

अच्छा भोजन करने के बाद मैं अक्सर मानवतावादी हो जाता हूँ। अपना पेट भरकर मानवतावादी होने में सुभीता भी है। दूसरे के घर भोजन करने के बाद तो बड़े ऊँचे और पवित्र विचार मेरे मन में आते हैं। कुछ लोग भूखे होते हैं, तब ऊँचा चिंतन होता

है। तपस्वी को पेट भरने पर बदमाशी सूझती थी और खाली पेट दर्शन। मेरी प्रकृति तपस्वियों से बिल्कुल मेल नहीं खाती। भूखा होता हूँ; तब चाट की दूकान से आगे चिंतन बढ़ता ही नहीं। खैर, इतना निश्चित है कि विचार पेट से ही पैदा होते हैं—वह भरा हो, चाहे खाली। मुख्य बात है अपने पेट को पहचानना। वरना भूल हो सकती है। मेरे एक गाँधीवादी मित्र कांग्रेस की शुद्धि के लिए साल में एक-दो बार उपवास कर डालते थे। हर उपवास के बाद कांग्रेस की हालत और बिगड़ती जाती। वे गुस्से में अगली बार 10 की जगह 15 दिनों का उपवास कर डालते। कांग्रेस की हालत डेवढ़ी खराब हो जाती। मेरे समझाने से उन्होंने यह सिलसिला बंद कर दिया, तो इधर कांग्रेस की हालत कुछ सुधरी है। मैंने उनसे कहा कि उपवास से सुधार का जमाना गया, अब खाने से सुधार होता है। एक महीने किसी दूसरे का खाकर देखो कि संस्था में कैसी वृद्धि होती है। उन्होंने कहा—यानी हरामखोरी से अब तरक्की होती है? मैंने कहा—शब्दों के प्रयोग के बारे में बहुत सावधान हूँ। उपवास का कोई ठिकाना नहीं। क्या पता सोमवार की शाम को उपवास रखकर सारा देश अच्छा सोचता है या बुरा। सवेरे सामने की झोंपड़ी की एक स्त्री लड़के को इसलिए मार रही थी कि वह रोटी माँग रहा था। लड़के ने विचार किया कि भूख में ज्यादा कष्ट है या मार में। उसने तय किया कि मार में ज्यादा कष्ट है। वह भूख को लेकर माँ को गाली देता हुआ भाग गया। मैंने इन लोगों में सोमवार के उपवास की अपील का प्रचार करने का इरादा किया था। अब मुझे उस लड़के से डर लगता है। वह बुरी गाली देता है।

मगर मैं यह बताना भूल ही जा रहा हूँ कि कैसे अच्छे विचार मेरे मन में आ रहे थे। मेरे एक दोस्त की शादी की दावत थी। मैंने उसे बधाई दी—शाबाश, तुमने वह कर दिखाया, जो हमसे नहीं बना। फिर वहीं भोजन हुआ। आजकल किसी के घर भोजन करने में वही सुख मिलता है, जो अनाज की 'स्मगलिंग' में। खिलानेवाले को भी लगता है कि मेरे घर में सरासर चोरी हो रही है। खाकर लौटा और लेट गया। मन में महीनों से रुके ऊँचे विचार उमड़ने लगे। सोचा, दुनिया का भला मैं किस तरह कर दूँ। चाहता हूँ, सब सुखी रहें। सारे पति-पत्नी सुखी रहें। परस्पर विश्वास अटल रहे। किसी के तीन से ज्यादा बच्चे न हों।

इन्हीं ऊँचे संकल्पों में डूबा था कि एक शरीफ आदमी आ गए। जो लेखक नौकरी नहीं करता, वह ऐसी गाय होता है, जिसे कोई भी पकड़कर दुह सकता है। मैं समझ गया कि इन सज्जन को चाय के लिए दूध की जरूरत पड़ गई है, इसलिए स्तन झँझोड़ने आए हैं। उनके हाथ में एक पाठ्य-पुस्तक थी। कहने लगे, "थोड़ी-सी तकलीफ दूँगा। इसमें से कबीरदास के पदों का अर्थ समझा दीजिए।" मैंने कहा, "आप क्या किसी इम्तहान में बैठ रहे हैं?" वे बाले, "जी नहीं, 'वाइफ' बैठ रही हैं।" मैंने कहा, "लेकिन अर्थ तो आप समझ रहे हैं।" उन्होंने कहा, "मैं समझ लूँगा। फिर उन्हें समझा दूँगा।" मैंने

कहा, "वे ही क्यों नहीं समझ लेतीं?" वे चुप हो गए। मैंने सोचा—यह या तो मुझे लम्पट समझता है या अपनी पत्नी को कुलटा। इसे डर है कि कबीर समझाते-समझाते मैं विद्यापति न समझाने लगूँ। मैंने कहा, "देखिए, आप साहित्य के विद्यार्थी कभी रहे नहीं। मैं जो समझाऊँगा उसका 50 प्रतिशत आपके पास रह सकेगा। उसमें से 25 प्रतिशत अपनी पत्नी को आप दे पाएँगे। मगर पास होने के लिए 33 प्रतिशत चाहिए। यानी आपके अर्थ समझने से तो वे फेल हो जाएँगी।" उन्होंने सोचा। फिर कहा, "आप ठीक कहते हैं। उन्हें ही समझना चाहिए।" कबीर पर तो वे राजी हो गए। मैंने धीरे से कहा, "इसमें विद्यापति भी तो है।" वे सावधान थे। तपाक से बोले, "उसे जाने दीजिए। वह तो अश्लील है।" मैं समझ गया। मन में कहा—तू क्या कबीर को भला आदमी समझता है? अरे, कबीर अगर ढंग से कोई समझ ले, तो विद्यापति से ज्यादा खतरनाक हो सकता है। 'मन फूला-फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे'—अगर ठीक से पत्नी समझ ले, तो तेरी गृहस्थी ही टूट जाए।

एक आचार्य हमें हिंदी काव्य पढ़ाते थे। उन्हें भी अश्लील का बहुत डर था। जहाँ भी सुंदर काव्य-पंक्तियाँ आ जातीं, वे मुँह बनाकर कहते—छोड़ दो। अश्लील हैं। वे लड़कियों को अलग से वह अंश समझाने के लिए तत्पर रहते थे। कुछ लोगों के लिए हर सुंदरता अश्लीलता है। जो कुरूप है, वही उनके लिए पवित्र है। कुरूपता के सिवा पवित्रता की कल्पना उन्हें होती ही नहीं है।

मुझे एक घटना और याद आ रही है। तब हम 'वसुधा' निकालते थे। एक दिन एक सज्जन कुछ कविताएँ लेकर आए। मुझे दिखाईं। मैंने पूछा, "आपने लिखी हैं?" वे बोले, "नहीं 'वाइफ' ने लिखी हैं। ज़रा देख लीजिए।" मैंने देख लीं। कहा, "ठीक है।" वे बोले, "तो पत्रिका में छाप दीजिए।" मैंने कहा, "छापी नहीं जा सकतीं।" उन्होंने पूछा, "क्यों?" मैंने कहा, "कमजोर हैं।" वे बोले, "तो जो खराबी है, मुझे बता दीजिए। जो सुधार आप बताएँगे, मैं उन्हें बता दूँगा। वे सुधार कर लेंगी।" मैंने कहा, "यह कविता है। गणित नहीं है कि मैं सवाल हल करने की रीति बता दूँ और उत्तर निकाल दूँ और आप समझ लें। इसे तो जो लिखता है वही समझ सकता है।" वे फिर आग्रह करने लगे। मैंने कहा, "मैं उन्हीं को बता दूँगा।" वे परेशान हुए। बोले, "वे कैसे आएँगी?" मैंने पूछा, "क्यों?" उनका जवाब था—"बात यह है कि वो ज़रा वाइफ़ हैं न!"

चकराने की मेरी बारी थी। 'वो ज़रा वाइफ़ हैं न!' सोचा, इसकी पत्नी बीमार होती होगी और डॉक्टर आता होगा, तो यह स्टेथेस्कोप अपने सीने में लगवाता होगा। डॉक्टर कहता होगा—मगर बीमार तो वे हैं। यह कहता होगा—हाँ, लेकिन मेरी ही जाँच कर लीजिए। वो ज़रा वाइफ़ हैं न! डॉक्टर कहता होगा—उनकी जीभ भी देखनी है। यह जीभ निकाल देता होगा—मेरी जीभ ही देख लीजिए। वो ज़रा वाइफ़ हैं न!

मैंने उनसे कहा, "देखो भाई, ये कविताएँ ले जाओ। पतिव्रताओं को इन झंझटों में नहीं पड़ना चाहिए।"

आदमी सचमुच मुश्किल में पड़ गया है। दरवाजे खुल गए हैं। सामने बहुत-से रास्ते दिखने लगे हैं। इन पर बढ़ने की महत्त्वाकांक्षाएँ जाग उठी हैं। मगर इन पर बढ़ें कैसे? यह कठिन सवाल है। स्त्री को आगे बढ़ानेवाले कुछ अति उत्साही लोगों से मेरा परिचय है। इन सबकी परेशानी मैं समझता हूँ और सहानुभूति भी रखता हूँ। आगे बढ़ी हुई स्त्री का पति कहलाने का गौरव बहुत स्वस्थ और जायज है। मगर वह बढ़े कैसे? कुछ लोग उसकी आँखों पर पट्टी बाँधकर, उसे पीठ पर लादकर आगे ले जाकर रख देना चाहते हैं। जब पट्टी खुले तो वह कहे—अहा, हम तो इतने आगे बढ़ गए। वैसे यह तरीका कोई बुरा नहीं है। सिर्फ यही कि आदमी जिंदगी-भर कुली का काम करता है।

जानता हूँ, ऐसी बातें करना नाराजगी पैदा करना है। पिछले दिनों वे लोग नाराज हो गए थे। एक सांस्कृतिक संस्था का वार्षिकोत्सव था। उसमें गया था। संगीत, नाटक हुआ। बाद में संस्था के लोगों के साथ चाय पीते वक्त मैंने पूछा—साल में कितने नाटक खेल लेते हैं? वे बोले—ज्यादा नहीं हो पाते। बात यह है कि पार्ट करने के लिए स्त्रियाँ मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। मैंने कहा—आप अपनी पत्नी को स्टेज पर ले आइए न! आप लोगों की पत्नियाँ अगर नाटक में काम करने लगें, तो दूसरी भी आ जाएँगी। आपमें से किनकी पत्नी स्टेज पर आती हैं? किसी की नहीं। मैंने कहा—हमारी मुश्किल यह है कि हम हमेशा दूसरे की बीवी की खोज करते हैं। दूसरे की स्टेज पर आ जाए; अपनी न आए। दूसरे की नहीं आती, तो कहते हैं कि बड़े पिछड़े हुए लोग हैं। हम पिछड़े हुए नहीं हैं, जिन्होंने उसका मुरब्बा बनाकर घर में रख छोड़ा है।

वे लोग नाराज हुए। यों ऊपर से कहा कि आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। मगर आँखों से वे वही कह रहे थे—वह कैसे आएँगी? वो ज़रा 'वाइफ़' हैं न!

बात कहाँ तक चली गई और अब सिमट नहीं रही है। सारा दोष उस कबीर के पद समझनेवाले का है। मैं तो भोजन करके सीधे और भले विचारों में डूबा था। उसने आकर मन को बहका दिया। मुझे इन सब उलझनों से क्या मतलब! और फिर इन्हें समझना क्या आसान है? जैनेंद्र कुमार ने इन मामलों को समझने में जिंदगी गुजार दी, फिर भी नहीं समझ सके। मेरी क्या बिसात!

चाँद पर नहीं जा सका

आर्मस्ट्रांग पहला आदमी नहीं है, जो चाँद पर गया। जिस प्रेमी ने पहली बार प्रेमिका के मुख को चाँद कहा था, वह चाँद को घूम-फिरकर देख आया था। उसकी प्रेमिका के चेहरे पर चेचक के गड्ढे थे। वह पास से चाँद को देख आया था, इसीलिए बोला—'तुम्हारा चेहरा चाँद की तरह है।' प्रेमिका ने यहीं से चाँद को देखा था। वह खुश हो गई। अगर

वह भी पास से देख लेती तो?

इधर कवि परेशान है कि चाँद की पोल खुल गयी। जिससे सुंदरी के मुख की उपमा देते थे, उस पर ज्वालामुखी है। तो इससे क्या हुआ? क्या हर सुंदरी ज्वालामुखी नहीं होती?

अकवि को कोई शिकायत नहीं है। वह चाँद को अंतरिक्ष के शरीर पर मवाद-भरा फोड़ा कह ही रहा है।

देवनागरी लिपि से अंग्रेजी का उच्चारण करनेवाले शास्त्रीजी कह रहे थे—''कोई खास चमत्कार तो हुआ नहीं। हमारे यहाँ इससे बड़ा काम त्रेता में हो चुका है। अरे, यह तो चंद्र है, हनुमानजी ने तो सूर्य को ही लील लिया था।''

मैंने पूछा, ''सूर्य को ही क्यों?''

शास्त्रीजी ने कहा, ''उन्हें गर्म नाश्ता पसंद था। ह़ी लायक्ड ईट हाट!''

मैंने कहा, ''फिर उगल क्यों दिया?''

कहने लगे, ''फूँककर नहीं खाया था। हाट पोर्टेटो!''

चाँद पर जाने का इरादा मेरा भी था। फिर अलाली आ गयी। अमर होने इतनी दूर नहीं जायेंगे। तीन लाख किलोमीटर की दूरी और आठ दिनों का सफर! कोई चतुर आदमी इतनी दूर अमर होने नहीं जाएगा। आप उधर जाइए और इधर केजुअल लीव मंजूर न हो तो? आप उधर गए हैं और इधर विश्वविद्यालय में कोई दूसरा रीडर हो जाए! आप चंद्रमा में हैं और इधर आपकी प्रेमिका को कोई दूसरा पटा ले! वह उससे कहे—'पगली, दूसरे मोहल्ले का तो भरोसा है नहीं। दूसरे नक्षत्र का क्या भरोसा? और फिर वहाँ चाँद में एक-से-एक बढ़कर होंगी। किसी को लेकर आएगा वह।' स्त्री 'प्रैक्टिकल' होती है। फिडेल कास्त्रो उधर क्रांति में लगा था, इधर बीवी ने तलाक दे दिया—'क्रांति बिना सब ठीक है, मियाँ! कोई दूसरा कर लेगा। तुम तो सीधे-से बच्चों को पालो। पप्पू का शर्ट फट गया है।'

चाँद में जाओ चाहे क्रांति में—दुनियादारी नहीं छोड़ती। पहला स्पूतनिक छूटने के पहले एक इतालवी कहानी पढ़ी थी—'चाँद से वापसी'। एक आदमी चंद्रयान बना लेता है और चाँद पर पहुँच जाता है। वहाँ साक्षात् स्वर्ग है। वह परम आनन्द में लीन है। सुध-बुध खो देता है। एकाएक उसे याद आता है, परसों तो इन्कम-टैक्स की पेशी है। वह फौरन यान चालू करता है और घर लौट आता है। लोग पूछते हैं—'कैसा है चाँद?' कहता है—'बिल्कुल स्वर्ग!' लोग कहते हैं—'फिर तुम इतनी जल्दी क्यों लौट आए?' जवाब देता है—'कल इन्कम-टैक्स की पेशी है न!'

यह कमबख्त इन्कम-टैक्स स्वर्ग से भी आदमी को खींच लाता है। स्वर्ग में इन्कम-टैक्स लगता हो और नर्क में नहीं, तो कम-से-कम मैं तो नर्क में रहना पसन्द करूँगा, आप अपनी जानें। स्वर्ग वहीं है, जहाँ इन्कम-टैक्स का झगड़ा न हो। प्राचीन काल के

लोग इतना तत्त्वचिंतन कर लेते थे। अगर तब इन्कम-टैक्स मुहकमा होता तो वे तत्त्वचिंतन छोड़कर हिसाब बनाने में ही त्रिकालदर्शी बुद्धि का उपयोग करते। वेदव्यासजी, क्या महाभारत लिख रहे हैं? नहीं वत्स, गणेशजी से इन्कम-टैक्स रिटन बनवा रहा हूँ।

मैं अमर होने इतनी दूर और ऐसी जगह नहीं जाता। मेरे घर से कुल सौ गज की दूरी पर अमर होने की सम्भावना पैदा हो गई है। बगल में ओमती नाला बहता है, जो बरसातों में गोमती बनने का हौसला रखता है। हर बरसात में एक-दो बार किनारे बसनेवालों के दरवाजों पर आकर घर से निकाल देने की धमकी देता है मगर हम बेशर्म हैं।

इस नाले पर एक पुल बन गया है, कुल सौ गज दूर। पुल लोगों के सुभीते के लिए बनवाया गया है, मगर दुष्ट लोग कहते हैं—'देख लेना, इधर के खाली प्लाट में किसी 'बड़े' का मकान बनेगा। ऐसा न होता तो पुल क्यों बनता?' इस देश के आदमी की मानसिकता ऐसी कर दी गई है कि अगर उसका भला भी करो, तो उसे शक होता है कि किसी और का भला किया गया है।

मैं लालच से इस पुल को देखता रहता हूँ। आखिर इस पुल का कोई नाम तो रखा ही जाएगा। इसी नाले पर एक लोहे का पुल है। लोहे का होने के कारण उसका नाम लोहिया पुल हो गया है। डॉ. लोहिया अगर कुछ भी न करते तो भी यह पुल उन्हें अमर कर देता। शहर में बेईमानों के नाम से सड़कें हैं। कार्पोरेशन ने एक बार जब सड़कों के नाम रखे तब कुछ अच्छी सड़कें छोड़ दीं। मैंने पूछा तो किसी ने बताया कि ये सड़कें कुछ खास सदस्यों ने अपने लिए छोड़ रखी हैं। ये नाम के लिए उनके मरने की राह देखेंगी। यह भी अजब बात है—नाथ जीवित हैं, तो सड़क विधवा है। मर जायेंगे तब सधवा हो जाएँगी। एक म्यूनिसिपल अध्यक्ष ने अपने नाम का स्तंभ सड़क पर ही बनवा लिया था। रिक्शे, साइकिलें टकराते तो उन्हें गाली पड़ती—कमबख्त, बीच सड़क पर अड़ा हुआ है। गाली खाकर अमर होना भी एक तरीका है।

मैं इस पुल के सहारे अमर होना चाहता हूँ। कोई नाम इसका अभी तक नहीं रखा गया। 'परसाई पुल' कैसा रहेगा? उच्चारण में अच्छा। अनुप्रास भी है। मगर हो कैसे? लोगों को पुल पर से निकलते देखता हूँ और हाय करता हूँ कि कहीं ये जान पाते कि यह मेरे नाम का पुल है।

कैसे अपना नाम इस पर चिपकवा लूँ? चाहता हूँ यहाँ कोई दुर्घटना हो जाए। उसकी खबर अखबारों में जाएगी ही। मैं पत्रकार मित्रों से कहूँगा—यारो, जिंदगी में एक अहसान माँगता हूँ। बस, यह छाप दो कि दुर्घटना परसाई-पुल पर हुई। सारा शहर इस पुल की तलाश करेगा। अपना नाम चिपक जाएगा। यों मैं मानवतावादी हूँ। सबका भला चाहता हूँ। पर मामूली चोटवाली दुर्घटना माँगता हूँ, तो कोई ज्यादा नहीं माँगता।

कुछ नहीं हो रहा है। उस दिन बाढ़ में कई पुल डूब गए थे। यह बदमाश नहीं डूबा। डूब जाता तो अखबारों में छपवा देता—तिलवारा घाट, गौर, हिरन आदि के पुल

तो डूबे ही, परसाई-पुल भी डूब गया। कुछ दिन और इंतजार करता हूँ। कुछ नहीं हुआ तो मैं ही कोई छोटी-मोटी दुर्घटना का इंतजाम करूँगा। बिना खतरा उठाए अमर होना अपने भाग्य में शायद नहीं है।

यों पुल अमर कर देगा, यह भी निश्चित नहीं है। न जाने कब टूट जाए और मेरा नाम ले डूबे। इस देश में पुल बनाने की एक नई तकनीक चल पड़ी है, जिसमें सीमेंट की जगह ईमान का इस्तेमाल किया जाता है—और ईमान अच्छी क्वालिटी का अभी बनता नहीं है। इसीलिए निर्माण के बिल के साल-भर बाद गिराने के बिल का भुगतान भी हो जाता है।

इसी पुल की आशा के कारण मैं चाँद पर नहीं गया। डर था, मैं उधर जाता और इधर कोई दुश्मन इसे अपने नाम करा लेता। यों चाँद मुझे पसन्द नहीं है। चमचे अच्छे नहीं लगते। फिर चाँद तो उपचमचा है। सूर्य का चमचा—नहीं चमची—पृथ्वी, जैसे सूर्य मुख्यमंत्री हो और पृथ्वी कोई धरणी देवी विधायिका। और धरणी देवी विधायिका के चक्कर लगानेवाला यह मंडलेश्वर चाँद!

फिर उधार की रोशनीवाले भी मुझे अच्छे नहीं लगते। चाँद उधारी की रोशनी से चमकता है। बहुत-सी हस्तियाँ मात्र 'रिफ्लेक्टर' होती हैं। इधर एक कुलपति थे तो कुछ ग्रह चमकते थे। दूसरे कुलपति आ गए, तो दूसरे ग्रह चमकने लगे। पोल बड़ों-बड़ों की रोशनी की खुल रही है। किसी दिन शायद विज्ञान बताए कि यह सूर्य भी उधारी की रोशनीवाला है। यों राजनीति में लोग कहते ही हैं कि सब दूसरे की रोशनी से चमक रहे हैं।

इधर इस पुल पर नाम करा लूँ, तो ज़रा फुरसत पाकर अगली ट्रिप में चाँद पर जाऊँगा। मुझे उस झूठ को नष्ट करना है, जो आर्मस्ट्रांग वहाँ छोड़ आए हैं। आदमी दूसरे ग्रह पर जाएगा, तो भी झूठ साथ ले जाएगा। ये लोग वहाँ मानवता, मानव-एकता, मानव-कल्याण वगैरह के संदेश छोड़ आए हैं। ये चीजें अपनी दुनिया का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। मैं अपने साथ एक एटम बम और एक जहरीली गैस की शीशी जरूर ले जाऊँगा। मैं हिरोशिमा के उन कुछ लोगों के चित्र भी ले जाऊँगा, जो विकलांग तथा कोढ़ी हो गए हैं। साथ ही विश्व-न्यायालय के सामने दिया गया एक 'एफिडेविट' ले जाऊँगा, जिसमें लिखा होगा—'मैं हल्फिया कहता हूँ कि मैं मनुष्य जाति का हूँ। मेरा भरोसा नहीं किया जा सकता।' पृथ्वी की तरफ़ से ये चीजें मैं चाँद पर छोड़ आऊँगा।

देख रहा हूँ, दुनिया के सयाने नेता भी चाँद के मामले में प्रेमियों की तरह भावुक हो उठते हैं। प्रेमी प्रेमिका से कहता है—'मैं तुझे तारों का हार पहनाऊँगा।' ये नेता भी भावुकता से कहते फिर रहे हैं—'मनुष्य की महान् विजय! मनुष्य चाँद पर पहुँच गया। अब मानवता का कल्याण होगा। सम्पूर्ण मानवजाति एक है। शांति और समृद्धि!'

यह सब युवा प्रेमी का प्रलाप है। पूछता हूँ—'चंद्र-विजय से अरब-इज़राइल युद्ध

कैसे शांत होगा? मानव की चंद्र-विजय के बाद ही फ्रांस की फ्रेंक का आठवीं बार अवमूल्यन क्यों करना पड़ा? और नीग्रो?'

किशोर किशोरी को तारों का हार पहनाने का सदियों से वादा कर रहा है। दुनिया के नेता उसकी भावुक झूठ की नकल आखिर क्यों कर रहे हैं? दुनिया क्या तुम्हारी प्रेमिका है, जो उसे तारों का हार पहना रहे हो?

◆

सद्‌गुरु का कहना है

किसी का हजार में भी नहीं कटता, अपना फोन कुल दो सौ में कट गया था। पानीदार ऐसे ही होते हैं। बड़ी आनबानवाला था। लगने के बाद पहला ही बिल देखा और दम तोड़ दिया। ऐसा नहीं था कि बिल पर बिल लात मारे जाते हैं, रिमाइंडर मुँह पर थूकते जाते हैं और घनघनाते हुए जिए जा रहे हैं।

अपना फोन ऐसा बेशर्म नहीं। इसने आते ही अपने मालिक की प्रकृति पहचान ली। समझ लिया कि मालिक बिल बर्दाश्त नहीं करता। ज्यों ही बिल आया, उसने इस असार संसार से कूच का डंका बजा दिया।

किसी का हजार में भी नहीं कटता, अपना कुल दो सौ में कट गया। कोई दस साल इन्कम-टैक्स न देकर भी बाइज्जत मंत्री बना रहता है और पोल खुल जाने के तुरंत बाद हँसते हुए फोटो खिंचाता है। प्रधानमंत्री दस साल नहीं देनेवाले को लाड़ से 'भुलक्कड़' कह देती हैं। एक साल नहीं देनेवाला बेईमान कहलाता है।

सद्‌गुरु का कहना है—बेटा, जो भी करना है 'लार्ज स्केल' पर कर, चाहे उद्योग हो, चाहे बेईमानी और हमेशा किसी की छाया में कर।

बड़ों की झंझट में यह छोटा मारा गया। दिल्ली बड़ा शहर है। बड़े शहर के कुछ बड़ों पर हजारों के बिल बकाया थे। संसद में बैठनेवाले दूसरे बड़ों ने सवाल उठा दिए कि इनके फोन क्यों नहीं कटते? डिपार्टमेंट में हलचल मच गई और छोटे शहर में छोटों के फोन कटने लगे। पिछले साल विधानसभा में सदस्यों ने शिकायत की थी कि एक मंत्री का भयंकर कुत्ता राहगीरों को काटता है, उसे गोली क्यों न मार दी जाय। नतीजा यह हुआ कि मेरे मुहल्ले के मरियल पिल्ले मार डाले गए। जिस बड़े कुत्ते पर सवाल उठे थे, वह अभी भी राहगीरों को काट रहा है। शासन का घूँसा किसी बड़ी और पुष्ट पीठ पर उठता तो है, पर न जाने किस चमत्कार से बड़ी पीठ खिसक जाती है और किसी दुर्बल पीठ पर घूँसा पड़ जाता है।

सद्‌गुरु का कहना है—बेटा, तंत्र कोई भी हो, अपनी पीठ पर हमेशा वेसलीन चुपड़े

रहो। घूँसा तुम्हारी पीठ से फिसलकर किसी सूखी पीठ पर पड़ जाएगा।

स्पन्दनहीन, शांत यह फोन की लाश पड़ी है। इसके कलेजे पर कान रखता हूँ—टिक-टिक बंद हो गई है। ओम शांति, शांति, शांति! यह मुझे मरे हुए कुत्ते-जैसा लगता है, पंजों के बीच सिर रखे हुए लुढ़क गया है। पिल्ले, आखिर तू डिपार्टमेंट बहादुर के ट्रक के सामने क्यों आ गया? कोई पट्टेवाला अलसेशियन होता तो ड्राइवर बचाकर जाता, पर तुझ मरियल पिल्ले को कुचलकर निकल गया।

इसकी प्राण-रक्षा की कोशिश वैसे काफी हुई थी मगर धर्मादा अस्पताल में जितनी होती है, उतनी ही। उस दिन के राशिफल से मैं जान गया था कि आज कुछ बुरा होगा। लिखा था—प्रियजनों पर संकट के योग हैं। मेरा अंदाज था, वार्निंग आएगी। पर दोपहर को एक्सचेंज और दफ्तर से हितैषियों के फोन आने लगे कि चार बजे कट जाएगा, चेक ही दे दीजिए। मैं जवाब देता रहा—कट जाने दो। पैसे कम हों, तो आदमी परमहंस हो जाता है। सच्चा संन्यासी पैसे की तंगी का शुभ परिणाम है। फोन पर फोन, जल्दी कुछ करिए। मुझे लगा, शहर पर कोई संकट आ गया। मैंने कहा—मैं तो परेशान नहीं हूँ, तुम क्यों परेशान होते हो। कट जाने दो। फिर लग जाएगा। हितैषियों ने मान लिया कि यह बड़ा 'मट्ठर' आदमी है।

मेरा एक पत्रकार मित्र भी फोन लगाए बैठा है। उसका भी कट रहा था। उसने भर-दोपहर में दौड़-धूप करके पैसा जमा कर दिया। उसका भी कट जाता तो मेरा दुख आधा रह जाता, पर उसने मित्र का कर्तव्य नहीं निभाया। शाम को मिला तो बोला—तुमने फोन कटने की कोई परवाह ही नहीं की! मैंने कहा—मैं कोई आढ़तिया हूँ या सट्टा खिलाता हूँ, जो फोन बिना धंधा चौपट हो जाएगा? उसने कहा—फिर भी फोन का कटना ज़रा वैसी बात है। मैंने कहा—मैं समझ गया। इज्जत का सवाल न? वह तुम्हारी बुर्जुआ 'रिस्पेक्टेबिलिटी' है, जो भर-दोपहर में तुमसे जूते घिसवाती रही।

अपनी इज्जत की क्या रखवाली करूँ? किसकी इज्जत इस देश में सुरक्षित है ? साहित्य, कला, संगीत के परकोटे इज्जत के आसपास उठा दो, तो उनमें भी सुरंग लग जाती है। रसूलन बाई संगीत-साधिका हैं। उनके दादरा और ठुमरी पर सब झूमते हैं। वे पद्मश्री हैं। इज्जतदार हैं। मगर अहमदाबाद के दंगे में उनका घर जला दिया गया, क्योंकि वे रसूलन बाई हैं। रामकली बाई नहीं। और उन्होंने भागकर जान बचाई, वरना वे मार डाली जातीं। उनके कंठ के दादरा और ठुमरी भी मार डाले जाते। जिनका कंठ है वह रसूलन है, रामकली नहीं। जल्दी ही इस देश में हिंदू ठुमरी, मुस्लिम ठुमरी और सिख ठुमरी होगी। अकाली दादरा और द्रमुक दादरा भी हो सकता है।

मुक्तिबोध कहते थे—पार्टनर, रिस्पेक्टेबिलिटी की ऐसी-तैसी। वे और भी कहते थे—पार्टनर, चारों तरफ देखो, सफलता की चाँदनी रात में उल्लू बोल रहे हैं।

आप कितने भी बेपरवाह हों, इज्जत बचानेवाले पीछा नहीं छोड़ेंगे। लेनेवाले हैं तो बख्शनेवाले

भी हैं। जब कोई मेरा नम्बर माँगता, तो कह दिया जाता—फोन खराब है या बाहर गए हैं। मुझसे जो मिलने आते, कहते—फोन में कुछ खराबी आ गई। मैं ठंडाई से कह देता—नहीं, बिल नहीं चुकने से कट गया है। कोई आदमी सही बात जानते हुए भी मुझ पर कृपा करके कहता—आप कहीं बाहर चले गए थे। मैं कहता—नहीं, फोन कट गया है। वे निराश होते, सोचते—हम तो तेरी इज्जत बचाने की कोशिश कर रहे हैं। तुझे ही मंजूर नहीं है तो जा भाड़ में। परिवार के लोग कुढ़ते—जब कोई कह रहा है कि फोन खराब हो गया है, तो अपनी तरफ से क्यों कहना कि कट गया है।

मगर इसमें भी एक तरकीब है। सद्गुरु का कहना है—बेटा, बेइज्जती को खोल दो तो वह इज्जत हो जाती है। जूते पड़ गए हैं, इस बात को छिपाओगे तो बदनामी फैलेगी। खुद ही कहते फिरोगे, तो बदनामी करनेवालों की सेवा की जरूरत नहीं पड़ेगी और इज्जत रह जाएगी।

मैंने एक तरकीब और की। जब फोन कटने की बात उठती तो मैं एक संपन्न बंधु का नाम और जोड़ देता—हाँ, देखा ना, बेचारे नायर का भी कट गया था। जब मैं कई लोगों से कह चुका, तब वह एक दिन गुस्से में बोला—तुम लोगों से यह क्यों कहते हो कि मेरा फोन कट गया था? मैंने कहा—मैं तो यह कहता हूँ कि सिर्फ मेरा ही नहीं, तुम्हारा भी कट गया था। उसने कहा—तुम अपनी ही कहो न, मुझे क्यों घसीटते हो? हमारी बेइज्जती होती है न! मैंने कहा—उसमें एक सिद्धांत है। सद्गुरु का कहना है—बेइज्जती में अगर दूसरे को भी शामिल कर लो, तो अपनी आधी इज्जत बच जाती है। मैं तुम्हारे सहारे अपनी आधी इज्जत बचाता हूँ, तुम मेरे सहारे आधी बचाओ।

दिलचस्प है, इज्जत का मामला। प्रतिष्ठित होने का एहसास करने के लिए आदमी न जाने क्या-क्या करता है। सदर में उच्चवर्गियों के लिए मशहूर दूकान है—'मॉडर्न स्टोर्स'। कभी अंग्रेज अफसरों के लिए खुली थी। दूकान में सब अंग्रेजी बोलते हैं। एक मध्यमवर्गीय बंधु दो मील रिक्शा में वहाँ चले जाते हैं। खरीदना क्या है? झाड़ू। मगर खरीदेंगे 'मॉडर्न स्टोर्स' से। जब वे झाड़ू खरीदने 'मॉडर्न स्टोर्स' जाते हैं, तो अपनी इज्जत को बहुत बढ़ी हुई पाते हैं। और हम सब साधारण दूकानों से झाड़ू खरीदनेवाले उन्हें बेहद घटिया हिंदुस्तानी लगते हैं। रिक्शा-किराया दो रुपया खर्च करके पचास पैसे में 'मॉडर्न स्टोर्स' से लाई गई झाड़ू जब फर्श पर चलती है तो उन्हें लगता है, वे ताजमहल में रह रहे हैं और बेगम सलमा सोने की झाड़ू से संगमरमर बुहार रही है।

दिल्ली में जनपथ पर ईस्टर्न कोर्ट के दफ्तर से लंच टाइम में बाहर निकली टाइपिस्ट लड़की से युवा मित्र कहता है—'पाँच बजे। गेलार्ड! टिल देन—' वह भी कहीं क्लर्क है। वह तनख्वाह का कम-से-कम दसवाँ हिस्सा ऐसे महँगे होटल में खर्च करेगा—इज्जत के लिए, प्रतिष्ठित दिखने के लिए। वहाँ एक रुपए की कॉफ़ी के साथ पाँच रुपए की इज्जत भी मिलती है।

और एक साहब पाइप और कुत्ते के सहारे बाइज्जत जिंदगी जी रहे हैं। उनके बंगले के फाटक पर एक तरफ उनका नेमप्लेट लगा है—आर.के. दास। दूसरी तरफ बोर्ड लगा है—कुत्ते से सावधान! दोनों बोर्डों को एक साथ पढ़ने पर अजब अर्थ निकलता है। बहुत दिनों तक मैं इसी धारणा में रहा कि मुझे दास साहब से सावधान रहना चाहिए। यों उनके मातहत कर्मचारी कहते हैं कि दोनों बोर्ड अपनी जगह सही हैं, पर एक दिन मैं उनके घर किसी काम से चला गया। एक लाइन में दस-बारह पाइप रखे थे। वे एक पाइप साफ कर रहे थे और अपने कुत्ते की 'सेक्स लाइफ' का वर्णन कर रहे थे। तीन-चार लोग सुन रहे थे। मैं भी सुनने लगा। वे उस वक्त पाइप और कुत्ते के सहारे बहुत-बहुत रिस्पेक्टेबिल हो गए थे।

इज्जत बड़ी मशक्कत लेती है। न जाने क्या-क्या करवाती है। अपनी इज्जत जब जमती दिखती है, तब हम चौराहे के ठेले पर पकौड़े खाते दिख जाते हैं या कोई नोटिस बुलवा लेते हैं। साल के पहले की उधारी वसूलने जब दूकानदार का दूत चार-छह बार आया और मैंने हर बार टाला, तो एक दिन वह बड़ा खिन्न होकर बोला, ''आप जैसे इज्जतदार आदमी से तगादा करने में हमें खुद शर्म महसूस होती है।'' मैंने खुश होकर कहा, ''बस, बस, यही सुनने के लिए मैं रुपए नहीं दे रहा था। अब ले जाओ।'' उसने ज़रा हकबकाकर पूछा, ''इसका क्या मतलब?'' मैंने कहा, ''मतलब यह कि मैं जाँच करना चाहता था कि अभी भी इज्जत वक्त पर बिल चुकाने पर निर्भर है या नहीं।''

है। अभी वहीं खड़ी है इज्जत की सवारी। सद्गुरु का कहना है—बेटा, मैदान से भागकर शिविर में आ बैठने की सुखद मजबूरी का नाम इज्जत है। इज्जतदार ऊँचे झाड़ की ऊँची टहनी पर दूसरे के बनाए घोंसले में अंडे देता है।

◆

अपनी-अपनी बीमारी

हम उनके पास चंदा माँगने गए थे। चंदे के पुराने अभ्यासी का चेहरा बोलता है। वे हमें भाँप गए। हम भी उन्हें भाँप गए। चंदा माँगनेवाले और देनेवाले एक-दूसरे के शरीर की गंध बखूबी पहचानते हैं। लेनेवाला गंध से जान लेता है कि यह देगा या नहीं। देनेवाला भी माँगनेवाले के शरीर की गंध से समझ लेता है कि यह बिना लिए टल जाएगा या नहीं। हमें बैठते ही समझ में आ गया कि ये नहीं देंगे। वे भी शायद समझ गए कि ये टल जाएँगे। फिर भी हम दोनों पक्षों को अपना कर्तव्य तो निभाना ही था। हमने प्रार्थना की तो वे बोले—आपको चंदे की पड़ी है, हम तो टैक्सों के मारे मर रहे हैं।

सोचा, यह टैक्स की बीमारी कैसी होती है। बीमारियाँ बहुत देखी हैं—निमोनिया,

कालरा, कैंसर, जिनसे लोग मरते हैं। मगर यह टैक्स की कैसी बीमारी है जिससे वे मर रहे थे! वे पूरी तरह से स्वस्थ और प्रसन्न थे। तो क्या इस बीमारी में मजा आता है? यह अच्छी लगती है, जिससे बीमार तगड़ा हो जाता है। इस बीमारी से मरने में कैसा लगता होगा? अजीब रोग है यह। चिकित्सा-विज्ञान में इसका कोई इलाज नहीं है। बड़े-से-बड़े डॉक्टर को दिखाइए और कहिए—यह आदमी टैक्स से मर रहा है। इसके प्राण बचा लीजिए। वह कहेगा—इसका हमारे पास कोई इलाज नहीं है। लेकिन इसके भी इलाज करनेवाले होते हैं, मगर वे एलोपैथी या होमियोपैथी पढ़े नहीं होते। इसकी चिकित्सा-पद्धति अलग है। इस देश में कुछ लोग टैक्स की बीमारी से मरते हैं और काफी लोग भुखमरी से।

टैक्स की बीमारी की विशेषता यह है कि जिसे लग जाए वह कहता है—हाय, हम टैक्स से मर रहे हैं। और जिसे न लगे वह कहता है—हाय, हमें टैक्स की बीमारी ही नहीं लगती। कितने लोग हैं जिनकी महत्त्वाकांक्षा होती है कि टैक्स की बीमारी से मरें, पर मर जाते हैं निमोनिया से। हमें उन पर दया आई। सोचा, कहें कि प्रापर्टी समेत यह बीमारी हमें दे दीजिए। पर वे नहीं देते। यह कमबख्त बीमारी ही ऐसी है कि जिसे लग जाए, उसे प्यारी ही हो जाती है।

मुझे उनसे ईर्ष्या हुई। मैं उन जैसा ही बीमार होना चाहता हूँ। उनकी तरह ही मरना चाहता हूँ। कितना अच्छा होता अगर शोक-समाचार यों छपता—बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हिंदी के व्यंग्य लेखक हरिशंकर परसाई टैक्स की बीमारी से मर गए। वे हिंदी के प्रथम लेखक हैं जो इस बीमारी से मरे। इस घटना से समस्त हिंदी संसार गौरवान्वित है। आशा है, आगे भी लेखक इसी बीमारी से मरेंगे।

मगर अपने भाग्य में यह कहाँ। अपने भाग्य में तो टुच्ची बीमारियों से मरना लिखा है।

उनका दुख देखकर मैं सोचता हूँ, दुख भी कैसे-कैसे होते हैं। अपना-अपना दुख अलग होता है। उनका दुख था कि टैक्स मारे डाल रहे हैं। अपना दुख है कि प्रापर्टी ही नहीं है, जिससे अपने को भी टैक्स से मरने का सौभाग्य प्राप्त हो। हम कुल 50 रुपया चंदा न मिलने के दुख से मरे जा रहे थे।

मेरे पास एक आदमी आता था, जो दूसरों की बेईमानी की बीमारी से मरा जाता था। अपनी बेईमानी प्राणघातक नहीं होती, बल्कि संयम से साधी जाय तो स्वास्थ्यवर्द्धक होती है। कई पतिव्रताएँ दूसरी औरतों के कुलटापन् की बीमारी से परेशान रहती हैं। वह आदर्श-प्रेमी आदमी था। गांधीजी के नाम से चलनेवाले किसी प्रतिष्ठान में काम करता था। मेरे पास घंटों बैठता और बताता कि वहाँ कैसी बेईमानी चल रही है। कहता—युवावस्था में मैंने अपने को समर्पित कर दिया था। किस आशा से इस संस्था में गया और क्या देख रहा हूँ। मैंने कहा—भैया, युवावस्था में जिन्होंने समर्पण कर दिया वे सब रो रहे हैं। फिर तुम आदर्श लेकर गए ही क्यों? गांधीजी दूकान खोलने का आदेश तो मरते-मरते

दे नहीं गए थे। मैं समझ गया, उसके कष्ट को। गांधीजी का नाम प्रतिष्ठान में जुड़ा होने के कारण वह बेईमानी कर नहीं पाता था और दूसरों की बेईमानी से बीमार था। अगर प्रतिष्ठान का नाम कुछ और हो जाता तो वह भी औरों जैसा करता और स्वस्थ रहता। मगर गांधीजी ने उसकी जिंदगी बरबाद की थी। गांधीजी विनोबा-जैसों की जिंदगी बरबाद कर गए।

बड़े-बड़े दुख हैं! मैं बैठा हूँ। मेरे 2-3 बंधु बैठे हैं। मैं दुखी हूँ। मेरा दुख यह है कि मुझे बिजली का 40 रु. का बिल जमा करना है और मेरे पास इतने रुपए नहीं हैं।

तभी एक बंधु अपना दुख बताने लगता है। उसने 8 कमरों का मकान बनाने की योजना बनाई थी। 6 कमरे बन चुके हैं। 2 के लिए पैसे की तंगी आ गई है। वह बहुत-बहुत दुखी है। वह अपने दुख का वर्णन करता है। मैं प्रभावित नहीं होता। मगर उसका दुख कितना विकट है कि मकान को 6 कमरों का नहीं रख सकता! मुझे उसके दुख से दुखी होना चाहिए, पर नहीं हो पाता। मेरे मन में बिजली के बिल के 40 रु. का खटका लगा है।

दूसरे बंधु पुस्तक-विक्रेता हैं। पिछले साल 50 हजार की किताबें पुस्तकालयों को बेची थीं। इस साल 40 हजार की बिकीं। कहते हैं—बड़ी मुश्किल है। सिर्फ 40 हजार की किताबें इस साल बिकीं। ऐसे में कैसे चलेगा? वे चाहते हैं, मैं दुखी हो जाऊँ, पर मैं नहीं होता। इनके पास मैंने अपनी 100 किताब रख दी थीं। वे बिक गईं। मगर जब मैं पैसे माँगता हूँ, तो वे ऐसे हँसने लगते हैं जैसे मैं हास्यरस पैदा कर रहा हूँ। बड़ी मुसीबत है व्यंग्यकार की। वह अपने पैसे माँगे, तो उसे भी व्यंग्य-विनोद में शामिल कर लिया जाता है। मैं उनके दुख से दुखी नहीं होता। मेरे मन में बिजली कटने का खटका लगा हुआ है।

तीसरे बंधु की रोटरी मशीन आ गई। अब मोनो मशीन आने में कठिनाई आ गई है। वे दुखी हैं। मैं फिर दुखी नहीं होता।

अंततः मुझे लगता है कि अपने बिजली के बिल को भूलकर मुझे इन सबके दुख से दुखी हो जाना चाहिए। मैं दुखी हो जाता हूँ। कहता हूँ—क्या ट्रेजडी है मनुष्य-जीवन की कि मकान कुल 6 कमरों का रह जाता है! और कैसी निर्दय यह दुनिया है कि सिर्फ 40 हजार की किताबें खरीदती है! कैसा बुरा वक्त आ गया है कि मोनो मशीन ही नहीं आ रही है!

वे तीनों प्रसन्न हैं कि मैं उनके दुखों से आखिर दुखी हो ही गया।

तरह-तरह के संघर्ष में तरह-तरह के दुख हैं। एक जीवित रहने का संघर्ष है और एक संपन्नता का संघर्ष है। एक न्यूनतम जीवन-स्तर न कर पाने का दुख है, एक पर्याप्त संपन्नता न होने का दुख है। ऐसे में कोई अपने टुच्चे दुखों को लेकर कैसे बैठे?

मेरे मन में फिर वही लालसा उठती है कि वे सज्जन प्रापर्टी समेत अपनी टैक्सों

की बीमारी मुझे दे दें और मैं उससे मर जाऊँ। मगर वे मुझे यह चांस नहीं देंगे। न वे प्रापर्टी छोड़ेंगे, न बीमारी, और मुझे अंततः किसी ओछी बीमारी से ही मरना होगा।

माना कि रहेंगे दिल्ली

पर खाएँगे क्या?—मैंने पूछा। जवाब मिला—खाने की दिल्ली में क्या कमी है? 'गेलर्ड' में खा लेना, 'ला वोहेम' में खा लेना, 'एम्बैसी' में खा लेना।

—और जब पैसे जेब में कम हों तब?

उसने मेरे कान में मुँह लगाकर एक होटल का नाम बताया, जो सस्ता है, पर जहाँ जाने से इज्जत नहीं घटती।

—पैसे और भी कम हों, तब?

उसने गुमटियों और खोमचों की तरफ इशारा किया।

मैं सब जगह खा चुका। दो दिन एक दोस्त के साथ बहुत महँगे होटल में खाना खाया। खाकर निकले, तो ऐसा लगा जैसे हम कनॉट प्लेस के सिर पर पाँव रखकर उसे कुचलते चल रहे हैं। मगर थोड़ी देर बाद मुझे बड़ी दीनता का बोध हुआ। दिल्लीवाले को ऐसा शायद न होता हो। उसे शायद ऐसा लगता हो कि जिंदगी में इतनी सार्थकता तो आई। आसपास से गँवार संपन्नता जब तमाचे जड़ रही हो, तब उचटकर तमाचा जड़ने को जी चाहता है। पर उसकी अपेक्षा यह ज्यादा सम्मानपूर्ण लगता है कि तमाचा मारनेवालों की तरफ से हम भी किसी को एक चाँटा मार दें। हम घबड़ाकर डरते-डरते एक चाँटा किसी बेखबर को मारकर सम्पन्नता की आड़ में छिप जाते हैं और इसके पहले कि वह पलटकर हमें फिर एक चाँटा मारे, हम भाग जाते हैं।

हम मुँह छिपाकर भागे। हमारे साथ जो वहाँ बैठे थे, वे अपनी मोटर में बैठ कर 'एस्प्रेसो बार' जाएँगे, फिर गुलकंद (या गुड़) डला हुआ पान खाएँगे और मोटर में घर जाएँगे।

हमे पाँच पैसे का पान खाकर किसी चार-सीटर स्कूटर में चार आने में घर जाना था।

तमाचे पर तमाचा पड़ता। हम डरे हुए भागे जा रहे थे।

दिल्ली का आदमी यह न करे, तो आत्महत्या कर ले। कितने ही जवान आदमियों को देखता हूँ, जो इस होटल से उस होटल जाते हैं। रेस्तराँ में कॉफ़ी का एक कप लेकर घंटे-भर बैठते हैं। फिर दूसरे में चले जाते हैं। रात-भर खुला रहनेवाला रेस्तराँ खोजते हैं। घर जाने में इन्हें डर लगता है। लगातार तनाव में जीते हैं ये! ये कभी-कभी कनॉट प्लेस के सिर को कुचलते हुए न चलें, तो मर जाएँ।

कह यह रहा था कि तीसरे दिन हम लोग सस्ते होटल में गए और पाँचवें दिन एक गुमटी में। एक-दूसरे से छिप रहे थे। मुझे भी छोले पसंद आ रहे थे और उसे भी। (यह सबसे सस्ता रोटी का संगी है।) हम एकमत थे कि भिंडी इस मौसम में खराब आती है और आलू पेट खराब कर देते हैं।

खोमचे पर पहुँचने के पहले मैंने दिल्ली छोड़ दी।

मैं मित्रों से पूछता हूँ—दिल्ली आकर क्यों रहूँ?

वे कई कारण बताते हैं। एक बंधु कहता है—जहाँ हो, वह जगह 'प्राविंशल' है। प्राविंशल समझते हो?

बहुत नहीं समझता, इतना समझता हूँ कि यह गाली है, जो 'मेट्रापालिस' का नकल-नवीस और पोस्टर चिपकानेवाला भी छोटे शहरों के लेखक और चित्रकार को देता है।

मैंने पूछा—प्रयाग प्राविंशल नहीं है?

जवाब मिला—प्रयाग, प्रयाग है। वहाँ संगम है; गंगा, जमना और सरस्वती मिलती हैं। सरस्वती गुप्त है, इसी का महत्त्व है। अगर सरस्वती प्रकट होकर बहती, छिपकर न बहती, तो प्रयाग का भी माहात्म्य न होता।

प्रयाग की सरस्वती की गुप्त गति से मैं कुछ-कुछ परिचित हूँ।

मैंने पूछा—चिरगाँव भी प्राविंशल है?

वे चुप। चिरगाँव को प्राविंशल कहते, तो देशद्रोह में बँध जाते। वहाँ राष्ट्रकवि रहते हैं न!

—और खंडवा तथा भागलपुर भी प्राविंशल है, जहाँ दो असिस्टेंट राष्ट्र-कवि रहते हैं?

मैंने धमकी दी। मेट्रापालिस निरुत्तर हो गया।

ओ रीयली! ओ वंडरफुल!!—मुझे पीछे से सुरीली आवाज सुनाई देती है।

पलटकर देखता हूँ, अपने-अपने पति के साथ वे दोनों मोटरों के बीच में खड़ी हैं। एक के पास छोटा लड़का है। पतियों के हाथ कारों के दरवाजों के हैंडिल पर हैं। वे औरतों की बातों को बिना सुने ऊबी मुस्कराहट चेहरों पर लाते हैं और फिर एक-दूसरे से दूर कहीं देखने लगते हैं। वे अपनी-अपनी बीवी से, एक-दूसरे की बीवी से और एक-दूसरे से नफरत कर रहे हैं—मगर मुस्कुराए जा रहे हैं।

—कल तो 'रीगल' गए थे फिल्म देखने।

—ओ रीयली? ओ वंडरफुल!! हम इस संडे को पिकनिक पर हो आए।

—ओ रीयली? ओ वंडरफुल! हमें तो अब एक अच्छा 'कुक' मिल गया है।

—ओ रीयली? ओ वंडरफुल!

—ओ रीयली?

—ओ वंडरफुल!

सोचा, अगर एक कहे कि हमने तो आज खाना खाया था, तो दूसरी कहेगी—ओ रीयली? ओ वंडरफुल!

और दूसरी कहे कि हमने तो आज दो पाँव का आदमी देखा, तो पहली कहेगी—ओ रीयली? ओ वंडरफुल!

—आंटी को 'टा-टा' करो पप्पू।

—आंटी, टा-टा!

दिल्ली राजधानी है—डिप्लोमेसी, कूटनीति की जगह। जिंदगी के रगो-रेशे में यह डिप्लोमेसी घुस गई है। पालम हवाई अड्डे पर भुट्टो और स्वर्णसिंह कैसे पिघलकर हँसते हुए गले मिलते हैं, मगर दोनों एक-दूसरे की जेब काटने का इरादा रखते हैं।

सब जगह डिप्लोमेसी है।

'ओ रीयली? ओ वंडरफुल!' में वह है।

और वह वहाँ भी है जब कॉफी या टी-हाउस में एक लेखक दूसरे से ललककर पूछता है—बोलो, क्या खाओगे?

मन में होता है कि अगर यह एक प्लेट जहर माँग ले, तो अच्छा हो।

पर वह कमबख्त सेंडविच माँग लेता है हाय!

हिसाब से और डिप्लोमेसी से काम होता है, दिल्लीवाले का। उसके टाइम-टेबिल में 15 मिनट सहानुभूति के, 10 दया के और 10 मनुष्यता के भी होते हैं। तटस्थ भाव से सोचता है कि सहानुभूति भी जिंदगी में जरूरी है, इसलिए 15 मिनट इसे दे दो। बीमार दोस्त के पास 15 मिनट वह बैठ आएगा। अगर दोस्त ने 20 मिनट बिठा लिया, तो पछताएगा कि सहानुभूति में 5 मिनट 'ओवरटाइम' हो गया। किसी की मौत पर घड़ी देखते हुए 10 मिनट दुखी होगा। ग्यारहवें मिनट पर नाचने चला जाएगा। रोते हुए फोटो नहीं खिंचेगी, तो रोना व्यर्थ समझेगा।

ग़ालिब की पहली समस्या यह थी कि खाएँगे क्या? मेरी पहली समस्या यह है कि रहेंगे कहाँ। ग़ालिब का एक घर तो था, यद्यपि उसके 'दर-ओ-दीवार पर सब्जा' उग आता था। पर फिर भी था। इधर एक गरीब कवि हर साल बरसात के पहले टूटे घर का रोना रोकर मरम्मत के लिए मदद माँगते थे। मैंने कहा—बंधु, तुम फिर भी भाग्यवान हो। तुम्हारा एक घर तो है जो हर साल टूटता है। मेरे पास तो वह भी नहीं है। मेरा क्या टूटे ? मैं किसका रोना रोऊँ और किसकी मरम्मत कराऊँ!

भारत में जिस हिसाब से बच्चे पैदा हो रहे हैं, उस हिसाब से मकान नहीं बन रहे हैं। सरकार को कानून बना देना चाहिए कि हर बच्चा पैदा होने पर बाप को एक मकान बनवाकर देना होगा। इससे संतति-नियमन एकदम हो जाएगा और कुछ मकान भी बन जाएँगे। कुछ लोग तो ऐसे निकलेंगे ही जो मकान क्या, अनाथालय बनवा देंगे, पर संतति-निरोध नहीं करेंगे।

मुझे दिल्ली में मकान खोजना होगा। मकान-मालिक पूछते हैं—फेमिली है?

क्यों पूछते हैं? डरते हैं, बेचारे! उनकी भी जवान लड़कियाँ होती हैं। कहीं कुछ हो जाए तो? मालिकों में आपस में 'मामले' हो जाएँ, तो कोई बात नहीं, पर किराएदार से तो नहीं होना चाहिए। मगर शादी-शुदा आदमी की क्या गारंटी? वह एक बार तो संयम टूटने का सबूत दे ही चुका है। तभी तो शादी की। क्या निश्चित कि बार-बार उसका संयम नहीं टूटेगा?

तर्क को कोई नहीं मानता। गलतफहमी का ज़माना है। फेमिली न होने के कारण बेचारा नहुष स्वर्ग से निकाल दिया गया था। मेरा राजधानी में क्या ठिकाना होगा?

मकान-मालिक पूछेगा—फेमिली है?

मैं यह तो कह नहीं सकूँगा कि आप चाहेंगे, तो यहीं 'फेमिली' हो जाएगी।

अगर खाने और रहने की समस्या हल हो जाए, तो भी और कठिनाइयाँ हैं। दिल्ली के ट्रॉफिक से मैं बहुत डरता हूँ। बंबई की तुलना में दिल्ली का ट्रॉफिक बहुत कम है, पर बंबई में मुझे कम डर लगता है। बंबई में अनुशासन है। वहाँ चोरी भी अनुशासन से होती है, स्मगलिंग भी अनुशासन से। दिल्ली में ऐसा नहीं है। यहाँ जाट का दुस्साहस और ऊबड़-खाबड़पन है। हर बार जब सवारी में बैठता हूँ, तो लगता है, मौत की बराबरी से भाग रहा हूँ। बंबई में जब डरते हुए सड़क पार करता, तो डॉ. भारती ने कहा कि पहले मैं भी डरता था। एक दिन (शायद) गंगाधर गाडगिल ने मुझसे कहा कि बंबई के ट्रॉफिक से बिल्कुल मत डरो। एक बार गाँव की एक अंधी बुढ़िया दिन-भर सड़कों पर घूमती रही, पर उसे खरोंच तक नहीं लगी। बस, आँखें बंद करके अपने को सड़क पर डाल दो।

मेरी हिम्मत बढ़ी। पर यह प्रयोग दिल्ली में नहीं किया जा सकता। यहाँ की मोटरें इतनी संयमी मुझे नहीं लगतीं। यहाँ तो मैं नार्थ एवेन्यू चलने के लिए कहता हूँ, तो वह साउथ एवेन्यू घुमाकर ले जाती है। मैंने सोचा, साउथ एवेन्यू कहूँगा, तो यह जरूर नार्थ एवेन्यू घुमाएगी। मुझे नार्थ एवेन्यू जाना था। मैंने कहा—साउथ एवेन्यू! टैक्सी जब नार्थ एवेन्यू पहुँची, तब मैंने कहा—रोको! टैक्सी रुक गई। उसने पूछा—क्या बात है साहब?

मैंने कहा—पेशाब करना है।

मैं उतर गया और मीटर देखकर पैसे दिए। वह बोला—आपको साउथ एवेन्यू जाना था न! कुछ समझ में नहीं आया!

मैंने कहा—मुझे आ गया।

अपना शहर भी कोई बुरा नहीं है। अब तो मशहूर भी हो गया है। सन् '62 के दंगे के बाद अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में इसका उल्लेख होता है। राष्ट्रसंघ में, जहाँ मास्को और वाशिंगटन के नाम ही अक्सर लिए जाते हैं, मेरे इस शहर का भी नाम लिया जा चुका है। समकालीन एशिया पर हर पुस्तक में इस शहर का उल्लेख मिलता है। ताकतवर शहर है।

मैं यहाँ सबको जानता हूँ और सब मुझे जानते हैं। दिन-भर में हजार बार 'नमस्कार' होती है।

फिर अपने शहर से शिकायत किसे नहीं होती। ग़ालिब भी कलकत्ता गए थे, तो स्थानीय प्रतिभाओं ने उन्हें तंग किया था। मीडियाकरों की यही साहित्य-सेवा है। तब उन्हें दिल्ली की याद आई थी। तभी खयाल आया कि दिल्लीवालों का सलूक भी तो कोई अच्छा नहीं था।

हो जाता है, कभी कुछ। कभी दो-चार लोग कोई लेख लेकर कलेक्टर के पास पहुँच जाते हैं कि इसे गिरफ्तार करो, वरना शांति भंग हो जाएगी। लेख से शांति तो उन दो-चार की ही भंग होती है, पर वे उसे शहर की शांति-भंग समझते हैं। कुछ लोग अपने को पूरा शहर ही नहीं, पूरी दुनिया ही समझे बैठे रहते हैं।

पर सबसे बड़ी चोट मुझे एक होटल-मालिक ने दी थी। इधर सड़कों पर मैं लोकप्रिय लेखक के गर्व में फूला-फूला फिरता था। एक दिन मित्रों ने कहा, चलो इस नए होटल में चाय पिएँ। होटल में घुसे तो मालिक ने मुस्कराहट से स्वागत किया। मैं उसके पहलेवाले छोटे होटल में 2-3 महीने खाना खा चुका था। मेरे एक मित्र भी उसके परिचित थे।

मित्र ने उससे पूछा—आप इन्हें जानते हैं?

उसने कहा—हाँ साहब, जानता हूँ।

मैं फूल उठा। कौन ऐसा है, जो मुझे न जाने? उसे शहर से निकलवा दूँ।

मित्र ने कहा—अच्छा बताइए, कौन हैं ये।

मैं खुशी से फूटा पड़ता था कि यह कहता ही है कि वाह साहब, इन्हें न जानूँ, तो धिक्कार है। ये इतने बड़े लेखक—

तभी होटल-मालिक ने कहा—ये तो हमारे ग्राहक रहे हैं।

मेरा पानी उतर गया। यह मुझे इतना ही जानता है कि मैं इसका ग्राहक था! बस ?

मैंने उसी रात शहर छोड़ देने का फैसला किया था, पर छोड़ नहीं सका।

दिल्ली खींचती जरूर है। पुराने जमाने में आक्रमणकारियों को खींचती रही है। अभी भी जो दिल्ली जाता है, उसे जीतने के इरादे से ही जाता है। पर दिल्ली उसे जीतकर एक कोने में डाल देती है।

मैं दोस्तों से कहता हूँ—अच्छा यारो, कुछ दिन दिल्ली में रहकर देखूँगा। नहीं जमा तो लौट जाऊँगा।

मित्रों ने कहा—अरे, दिल्ली जाकर कोई नहीं लौटता।

मैं सोचने लगता हूँ—जैसे मुक्तिबोध।

◆

दो छोटी इच्छाएँ

मेरी सिर्फ दो महत्त्वाकांक्षाएँ हैं, जो पूरी होती नहीं दिखतीं। वैसे नये साल में फिर कोशिश करूँगा। शायद महत्त्वाकांक्षा का लक्षण ही यह है कि वह अक्सर पूरी नहीं होती। वैष्णव भक्तों का विश्वास है, उनके ईश्वर ने मत्स्यावतार के बाद महत्त्वाकांक्षा की थी कि अबं मैं एकदम मनुष्य का रूप लूँगा। पर अगली बार बेचारे अधिक-से-अधिक वाराह बन पाए। एकदम आदमी बन जाना ईश्वर की औकात से भी बाहर की चीज है।

मेरी ऐसी कोई असंभव महत्त्वाकांक्षा नहीं है। वे इतनी छोटी-छोटी इच्छाएँ हैं कि लोग उन्हें महत्त्वाकांक्षा ही नहीं मानेंगे। पहली तो यह है कि मैं इन्कम-टैक्स दूँ और दूसरी यह कि चेक काटूँ। यह पागलपन कहा जाएगा कि जब आमतौर पर इन्कम-टैक्स बचाने की इच्छा की जाती है, तब मैं देने को उत्सुक हूँ। ऐसा भी होता है। सूखे मरुस्थल में रहनेवाले की इच्छा कभी-कभी समुद्र में डूब मरने की होती है। मैंने भरसक आमदनी बढ़ाने की कोशिश की है और आशा लगाए बैठा रहा हूँ कि कभी सरकार अपने खास इन्कम-टैक्स इंस्पेक्टर से कहेगी कि जाओ, परसाईजी से हिसाब पूछ आओ। मगर अभी तक कोई नहीं आया।

आखिर इन्कम-टैक्स विभाग मुझसे कतराता क्यों है? वह शायद जानता है कि हम और तरह से हिसाब से ज्यादा टैक्स दे चुके। हम तो पूरी जिंदगी इस युग को टैक्स के रूप में दे रहे हैं। हर युग टैक्स माँगता है, जिंदगी के सिक्कों में। ज़माने ने कहा—हमें नयी दुनिया बनानी है। जाओ, निर्माण कर दो! हमने स्वेच्छा से तिल-तिल करके ज़िंदगी देना शुरू कर दिया—बचपन दिया, जवानी दे रहे हैं और आगे भी देंगे। सरकार का इन्कम-टैक्स विभाग शायद जानता है कि मैं हैसियत से ज्यादा दे चुका। अब वह मुझसे क्या माँगे और किस मुँह से माँगे! वह बेचारा शर्म के मारे मेरे पास नहीं आता। मैंने उसे माफ किया और यह महत्त्वाकांक्षा भी छोड़ी।

पर चेक काटने की इच्छा मन में बार-बार सिर उठाती है। चाहता हूँ, बैंक में खाता हो और मैं चेक काटूँ। नगद लेन-देन बंद! मकान-किराया चेक से दूँ। किराया देने में देर हो जाती है, तो मकान-मालिक कहता है, किसी आगे की तारीख का चेक दे दीजिए। मैं 'हाँ-हूँ' करके बात टाल जाता हूँ और अभी तक उसका यह भ्रम कायम है कि इस आदमी का बैंक में खाता है, पर यह इतना कंजूस है कि पैसा निकालता नहीं है। चाहता हूँ, उसे चेक देकर चकित कर दूँ। दूधवाले और सब्जीवाले को चेक से पैसा चुकाऊँ। पान खाऊँ तो पाँच पैसे का चेक काटकर दूँ। भिखारी पैसा माँगे तो एक पैसे का चेक काटकर उसके कटोरे में डालूँ। दूसरों के मेरे नाम काटे चेक भुनाते बहुत साल हो गए। अब मेरे दिए चेक दूसरे भुनाएँ। दूसरे का चेक लिये मैं बैंक की खिड़की पर कब से खड़ा हूँ। अब मेरा चेक लेकर कोई खिड़की पर खड़ा हो। बाबू दस्तखत पहचानकर कहे—'अच्छा, परसाईजी का चेक है।' फिर

रजिस्टर में देखकर कहे—'मगर उनका तो कुछ ओवर-ड्राफ्ट है। ठहरिए, मैनेजर से पूछता हूँ।' वह मैनेजर से पूछे तो वह कहे—'हाँ-हाँ दे दो। साउंड पार्टी है।' साउंड पार्टी कहलाना कितना बड़ा गौरव है। मैं कब साउंड पार्टी कहलाऊँगा? अभी तो यह स्थिति है कि कोई साउंड पार्टी भी मेरे नाम चेक दे, तो वह 'अनसाउंड' मालूम होता है।

बैंक के संस्कार मुझमें बचपन से ही हैं। बैंकिंग व्यवसाय को भारत में प्रोत्साहन देनेवाला वह दोहा मुझे सातवीं कक्षा में ही पढ़ा दिया गया था। किसी मध्ययुग के कवि का दोहा है—

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम ।
दोऊ हाथ उलीचिए, यही सयानो काम।।

इस दोहे के अर्थ में एक उलझन थी, जिसे हमारे अध्यापक नहीं सुलझा सके। यह तो स्पष्ट है और सही है कि अगर नाव के छेद में से भीतर पानी आ जाए, तो उसे पुनः दोनों हाथों से उलीचकर नदी में डाल देना चाहिए। पर घर में दाम यानी धन बढ़ जाए, तो उसे उलीचकर सयाना आदमी कहाँ डाल दे? बचपन में तो मैंने कल्पना कर ली थी कि कवि की मंशा है कि उसे बैंक में डाल देना चाहिए। बड़ा हुआ, तब सोचा कि सामंती व्यवस्था का कवि बैंक क्या जाने? इसमें कोई दूसरा अर्थ है। नाव का पानी उलीचकर नदी में डाल दो। नदी के पास पानी की 'मोनोपोली' है—यानी यदि 'मोनोपोली' का पानी किसी छेद में सरककर तुम्हारी नाव में आ जाये, तो उसे फिर 'मोनोपोली' में डाल दो! यही बात धन के बारे में होगी। घर में धन बढ़ जाए तो उसे दोनों हाथों से उलीचकर फिर 'मोनोपोली' में डाल दो। इसे आध्यात्मिक आधार देना है तो यों कहो कि विराट में लघु का विलय होने दो—यही लघु की चरम सफलता और सार्थकता है। अंश-अंशी का यही संबंध है। सलाह अच्छी है। पर इस अर्थव्यवस्था की नदी पर जो हमारी डोंगी बह रही है, उसमें छेद तो है, पर उसमें 'बाल्ब' लगा है—बाहर से कुछ नहीं आ सकता, अंदर का ही बाहर जाता है। ये जो दो-चार बूँदें दिखती हैं, आसमान से टपकी हैं। पुराने कवि को हमारी व्यवस्था का ज्ञान नहीं था। उसकी सलाह हमारे किसी काम की नहीं है। युग के अनुकूल सलाह तो हम किसी भी आधुनिक कवि के काव्य से निकाल लेते हैं, जैसे यह सलाह कि यह जो एक 'गर्वभरा मदमाता' दीप अकेला अलग खड़ा है, इसे भी पंक्ति को दे दो। दरवाजे के सामने जो दीनता से सिर झुकाए दीपकों की कतार खड़ी है, उसी में इस गर्वभरे मदमाते को भी खड़ा कर दो। बहुत अकड़ता है कम्बख्त। (अर्थ-विपर्यय हो तो 'अज्ञेय' माफ करें) !

मैं फिर बहका। मेरे आलोचक ठीक कहते हैं कि मैं वैयक्तिक निबंध में भी निर्वैयक्तिक हो जाता हूँ। अच्छा, अब फिर वैयक्तिक होता हूँ।

ऐसा नहीं है कि मैंने पैसा जमा करने का प्रयत्न ही न किया हो। जमा करने की पहली शिक्षा देने के लिए पोस्ट आफिस सेविंग्ज बैंक है। मैंने एक बार पूरे 200 रुपये जमा कर दिए। पास-बुक मिल गयी। उसी के साथ मैंने पैसा निकालने के फार्म भी ले लिए।

यह शायद शुक्रवार था या शनिवार। सोमवार को 10-30 बजे जब सेविंग्ज बैंक के बाबू ने खिड़की खोली तो काउंटर से सटा मुझे पाया। मुस्कराया वह। पूछा, "जमा कराना है ?" मैंने कहा, "नहीं, निकालना है।" वह बोला, "पर आपने तो अभी परसों ही...!" मैंने कहा, "एकदम जरूरत आ पड़ी।" मैंने 50 रुपये निकाल लिए। अब मुश्किल यह पैदा हुई कि सप्ताह में सिर्फ एक बार पैसा निकालने का नियम है। अगले सोमवार तक मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी। फिर तो कुछ हफ्ते यही होता रहा कि ज्यों ही बाबू सोमवार को खिड़की खोलता, मुझे पाता। पहचानने लगा था मुझे। देखते ही मुस्कराकर कहता, "अच्छा, आप डटे हैं!" वह मुझे प्यार करने लगा था। एक सोमवार को मैं नहीं पहुँचा तो दूसरे सोमवार को उसने शिकायत की कि पिछले सोमवार आपके दर्शन नहीं हुए! मैंने 7-8 हफ्ते में बैंक को जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया।

चट्टानों में गढ़ा खोदने से कुआँ नहीं बनता। बैंक में खाता खोलना निरर्थक है, यदि उसमें पैसा न डालते जाओ। और पैसा तभी डाला जाएगा, जब बचेगा। बचत के भी बहुत नुस्खे हैं। सबसे लोकप्रिय नुस्खा यह है कि खर्च का हिसाब लिखने से बचत होती है। देखता हूँ कि लोग एक पैसे की धनिया की पत्ती भी लेते हैं, तो उसे लिख लेते हैं और महीने के आखिरी सप्ताह में किसी दोस्त से पाँच रुपये उधार माँगते हैं। मैंने भी एक माह हिसाब लिखा। दूसरे महीने उस हिसाब को देख-देखकर मैं दुबला हो गया। खर्च देखता और हाय करता—हाय, सब्जी इतने रुपयों की खा गए! दूध में इतना खर्च हो गया! हाय, इतनी चाय पी गए। ऐसे खर्च होगा, तो किसी दिन भीख माँगेंगे। दूसरे महीने सब खर्च कम कर दिए। सोचा, अब मन प्रसन्न रहेगा और पैसा भी बचेगा। पर जब महीने के बाद हिसाब देखा तो रोना आ गया। यह दूसरे किस्म की हाय थी—हाय, इतना कम दूध पिया! हाय, इतनी-सी सब्जी खायी! ऐसे भोजन से तो जल्दी मर जाएँगे! हिसाब रखने का मेरे स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा।

यह तरकीब नाकामयाब रही। और भी कई नुस्खे आजमाए। बचत हुई नहीं। न बचा पाने की क्षमता की मैंने तारीफ भी सुनी। कोई-कोई प्रशंसा के भाव से मुझसे कहते हैं—'आपको पैसे का मोह नहीं है।' यह बात एकदम गलत है और ऐसी तारीफ करनेवालों के इरादे भी अच्छे नहीं हैं। या तो वे मुझसे पैसा लेना चाहते हैं या मेरा पैसा दबाना चाहते हैं। तभी तो मुझे सुझाते हैं कि भाई तुम तो संत हो, तुम्हें पैसे का मोह ही नहीं है। ह्वेन-सांग ने अपने भारत-यात्रा-वर्णन में लिखा कि इस देश में लोग घरों में ताले नहीं लगाते। यह प्रोपेगेंडा उस समय चोरों ने कर रखा था, जिससे उन्हें खुले घर मिल जायें। चीनी यात्री चोरों के प्रोपेगेंडा में पड़ गया और निष्कर्ष गलत निकाल लिया—उस समय चोरों का बहुत जोर था, पर वह भोला चीनी समझा कि ईमानदारी फैली है। अपने बारे में निर्मोह के प्रोपेगेंडा से मैं पथ-भ्रष्ट नहीं होता।

मैंने पूरे प्रयत्न करके देख लिए, पर खाता खुला नहीं। तब मैंने उस सिद्धांत को अपनाया

जो असमर्थता को नैतिकता बना देता है—कि इच्छाओं का दमन करो! मैंने चेक काटने की इच्छा को दबा लिया, पर यह झूठा दंभ था। एक घटना ने इच्छा को दुगुने वेग से उठा लिया। मैं सौ रुपये का चेक भुनाने बैंक गया। खिड़की पर चेक देकर, 'टोकन' हाथ में लिये मैं कैशियर की खिड़की के सामने खड़ा हो गया। और कुछ लोग भी खड़े हुए चेक पास होकर आने की राह देख रहे थे। कैशियर ने मुझे देखा। बोला, "परसाईजी, ऐसे कब तक खड़े रहेंगे! कितने का चेक है?" मैंने रकम बतायी, तो उसने सौ रुपये मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहा, "आप तो ले जाइए। चेक पास होकर आएगा, तब आएगा।" मैं नोट लेकर मुड़ा तो वहाँ खड़े वे लखपति मुझे कीड़े-मकोड़े नजर आए। बेईमानो, खड़े रहो। तुम्हारा कोई विश्वास नहीं करता। यहाँ मेरा विश्वास किया जाता है। मैंने गर्व से उन्हें देखा और उनके सिर आदर से झुक गए। मैं ज़ब बैंक की सीढ़ियाँ उतरने लगा तो मन में आया कि कोई लखपति ऊपर चढ़ रहा हो, तो उसे धक्का मारकर गिरा दूँ। गनीमत है कि कोई उस वक्त सीढ़ियाँ चढ़ा नहीं, वरना शहर में एक लखपति कम हो जाता।

चेक काटने की इच्छा ने मुझे फिर बेचैन कर दिया। जिसकी बैंक में इतनी इज्जत है, उसका खाता जरूर होना चाहिए। एकाध ईमानदार आदमी का भी तो खाता हो। एक दिन एक मित्र के साथ मैं इसी बात पर चर्चा कर रहा था। हम लोगों ने सोचा कि जिसकी बैंक में इतनी प्रतिष्ठा है, उसे खाता क्या, बैंक ही खोल देना चाहिए। सलाह पक्की हो गयी कि हम दोनों मिलकर एक बैंक खोल दें। पिछले दो-तीन सालों में दो-तीन बैंक फेल हो चुके हैं और जनता को इस समय एक विश्वसनीय बैंक की जरूरत भी है। बैंक चलता रहा, तो जनता को फायदा होगा। फेल हो गया, तो अपने को लाभ होगा। हमारी योजना बन चुकी थी। हमारे एक मित्र एक बैंक में मैनेजर हैं। उन्होंने वायदा भी कर लिया था कि मैं यह नौकरी छोड़कर आपके बैंक में आ जाऊँगा। तैयारी हमारी पूरी हो गयी थी कि इतने में चीनी हमला हो गया और योजना ठप्प हो गयी। बैंक खोलने के चक्कर में न पड़ते, तो शायद इस बार खाता खुल ही जाता।

प्रेम-प्रसंग में फादर

'नयी कहानियाँ' के प्रेम-कथा विशेषांक में छपी प्रेम-कहानियाँ और प्रेम पर परिचर्चा मैंने भी बड़ी सावधानी से पढ़ी। मेरा विचार है कि प्रेम-प्रसंग के कई महत्त्वपूर्ण पक्ष लेखकों और विचारकों की दृष्टि में नहीं आए। कई मुद्दे तो ऐसे हैं कि उन पर चर्चा नहीं, शोध होनी चाहिए। मैं कुछ खास चीजों की तरफ आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

यह विचारणीय है कि जिन तरुणियों को चरित्र-रक्षा के लिए माता-पिता नौकरानी के साथ कॉलेज भेजते हैं, उनके प्रेम-कांड अकेली जानेवालियों से अधिक क्यों होते हैं।

प्रेम जोड़ने में लोक कर्म विभाग और इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के योगदान का अध्ययन होना भी जरूरी है। सड़कें जहाँ से जाती हैं, वहाँ से न जातीं; तो कितने वर्तमान प्रेम-संबंध कहीं और जुड़ते? जिस प्रेम को आत्मा का संबंध कहते हैं, वह किस हद तक सड़क का संयोग है? वह सड़क रंजना के बँगले के सामने से न जाती या राकेश का मकान उसके छोर पर न होता, तो दोनों की आत्माएँ 'जनम-जनम का संबंध' कहाँ जोड़तीं?

प्रेम-प्रसंग में चिट्ठी भेजने के तरीकों पर भी विचार होना चाहिए। चिट्ठी भेजने के कुछ क्लासिकल तरीके हैं, जैसे छोटे भाई-बहन को चाकलेट खिलाना या माँगकर चिट्ठीमय पुस्तक पढ़ने की आदत डालना, जिससे बच्चे कहें कि दीदी को पढ़ने का बड़ा शौक है।

यह भी विचारणीय है कि लड़की को पढ़ाने के लिए माता-पिता रिटायर्ड शिक्षक क्यों खोजते हैं। इससे स्त्री-शिक्षा के स्तर पर क्या प्रभाव पड़ता है? साथ ही नवयुवक शिक्षकों के 'फ्रस्ट्रेशन'—विफल आशा के लिए माता-पिता की यह प्रवृत्ति कहाँ तक उत्तरदायी है?

प्रेम साहित्य पर भी नयी दृष्टि से विचार होना चाहिए। शायर ने कहा—'मेरे महबूब कहीं और मिलाकर मुझसे!'—तो ऐसा क्यों कहा? वहाँ क्या पकड़े जाने का डर था? या प्रेमिका के पिता ने, उनके पड़ोसी ने अथवा दफ्तर में उनके साथ काम करनेवाले ने दोनों को देख लिया था? इसी तरह जब रीतिकाल के कवि ने कहा—'तुम कौन-सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहू पै देहु छटाँक नहीं'!—तो शोध होनी चाहिए कि उस ज़माने में ऐसे स्कूल कहाँ-कहाँ थे, जिनमें प्रेमियों के 'मन' लेने मगर छटाँक भी न देने की शिक्षा मिलती थी? इन स्कूलों को सरकार से ग्रांट मिलती थी या नहीं?

प्रेम-प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण और विचारणीय विषय 'फादर' है—प्रेमिका के पिता को प्रेम की भाषा में 'फादर' कहते हैं।

'फादर' का महत्त्व घोषित करनेवाले ये उद्गार किसने नहीं सुने :

—मैं क्या करूँ, फादर ने नहीं आने दिया।
—उस दिन फादर को शक हो गया था।
—फादर शाम को अकसर घर में रहते हैं।
—फादर को कैसे समझाऊँगी कि इतनी देर क्यों हुई?
—अरे बाप रे, फादर सुनेंगे तो मार ही डालेंगे।
—उसने कहीं फादर को बता दिया तो?
—तुम्हीं न एक दिन फादर से बात कर लो।

इस पर पूरी शोध होनी चाहिए कि 'फादर' की परंपरा कहाँ से शुरू हुई? प्रागैतिहासिक 'फादर' कैसे होते थे? क्लासिकल 'फादर' के क्या लक्षण हैं? मध्य फादर कैसा होता है और आधुनिक फादर की क्या विशेषता है? रिटायर्ड और गैर-रिटायर्ड फादर में क्या भेद है। फादर की सामान्य प्रकृति कैसी होती है? वे प्रेम के प्रति सामान्यतः क्या प्रतिक्रिया करते हैं? फादर को किस तरह प्रसन्न किया जाता है? उससे बचने, उसे टालने और उसे धोखा देने के क्या तरीके हैं? फादर में कौन-से सुधार अपेक्षित हैं? ये सब प्रश्न लेखक और विचारक

की दृष्टि की माँग करते हैं।

मेरे एक मित्र ने 'फादर' का काफी अध्ययन किया है। उसका निष्कर्ष है कि ईश्वर की मंशा थी कि 'फादर' नाम का अस्तित्व जो प्रेम में अक्सर बाधक होता है, हो ही नहीं। इसलिए उसने ईव का निर्माण आदम की पसली से किया। ईव का कोई 'फादर' नहीं था। परमपिता जरूर था, पर उसकी गिनती फादर में नहीं होती। इसीलिए जब आदम ने उससे कहा कि फल खा लो, तो उसने चट खा लिया। अगर ईव का फादर होता, तो वह कहती, 'नहीं, नहीं, कहीं फादर को मालूम हो गया तो हमारी बड़ी आफत होगी।' ईश्वर ने जब आदम और ईव को निषिद्ध-फल खाने के जुर्म में स्वर्ग से निकाला था, तब ईव के बहाने समस्त स्त्री-जाति को शाप दे दिया था। मेरे दोस्त की शोध है कि एक शाप-वाक्य बाइबिल में न जाने क्यों नहीं लिखा गया। वह था—'ओ अधम, आगे तेरी जाति का फादर हुआ करेगा जिससे तू हर कदम पर आशंकित रहेगी।'

पुराने ज़माने में बड़े हठी फादर होते थे। वे तभी नरम पड़ते थे, जब इनका कोई स्वार्थ पड़ा होता। शीरीं के फादर की फरहाद के फादर से अनबन थी, तो वह हठी के साथ स्वार्थी और अव्यावहारिक भी था। उसने फरहाद से कहा कि तू पहाड़ खोदकर नहर बना दे। यह शर्त तो वैसी ही ऊटपटाँग है जैसी यह कि भाखड़ा बाँध बना दे, तो लड़की से शादी कर दूँगा या यह कि मैं उसी से लड़की की शादी करूँगा, जो चंबल हाइड्रोइलेक्ट्रिक योजना को पूरी कर देगा। प्रेमियों को भारत सरकार का आभार मानना चाहिए कि बिजली और सिंचाई की योजनाएँ उसने अपने हाथ में ले ली हैं। वरना कोई फादर किसी प्रेमी से कहता कि तुंगभद्रा से नहर निकालो, तो बेचारा प्रेमी क्या करता?

मेरे दोस्त का विचार है कि 'फादर' आजकल मुख्यतः दो तरह के होते हैं—रिटायर्ड फादर और गैर-रिटायर्ड फादर। दोनों में बड़ा फर्क है। गैर-रिटायर्ड फादर सुबह से शाम तक काम पर रहता है, उसके पास समय नहीं होता। वह घर के मामलों में स्त्री के माध्यम से जानकारी हासिल करता है। इसके विपरीत रिटायर्ड फादर के पास समय ही समय है और वह घर के मामलों में इतनी सीधी दिलचस्पी लेता है कि शाम तक घड़ी देखकर कहता है—बड़ी देर हो गयी, अभी तक मुन्नी कालेज से नहीं आयी? इतवार को मुन्नी यह कहकर नहीं जा सकती कि—'एक्स्ट्रा क्लास' है। रिटायर्ड फादर एक्स्ट्रा क्लास की भी जानकारी रखता है। वह यह भी समझता है कि एक लड़का सामने के घर में अपने दोस्त को पुकारकर फिर हमारे घर की तरफ क्यों देखता है! इधर तो उसका दोस्त नहीं रहता। फिर पुकारता वहाँ और देखता यहाँ क्यों है?

रिटायर्ड फादर से निभाना तलवार की धार पर चलना है। गैर-रिटायर्ड फादर 'पार्ट-टाइम' फादर होता है, जबकि रिटायर्ड फादर 'फुल टाइम' फादर। गैर-रिटायर्ड फादर के पास बात करने को वक्त नहीं होता, मगर रिटायर्ड फादर को बात करनेवालों का टोटा पड़ जाता है। प्रेमी, फादर को प्रसन्न रखने की हर कोशिश करता है और उसके लिए उसे जो कष्ट भुगतने पड़ते हैं, वे अवर्णनीय हैं। वह कल्पना में प्रेमिका का सुंदर

मुख लेकर जाता है, मगर फाटक पर ही उसे फादर मिल जाते हैं। उसका दिल रोता है, उसे गुस्सा भी आता है, पर वह अत्यंत विनय से मुस्कराकर इस तरह मिलता है, जैसे वह उनकी लड़की से नहीं, उनसे ही प्रेम करता है। फादर उसे बिठाकर संस्मरण सुनाने लगते हैं। उसे ऊब को दिलचस्पी करके दिखाना पड़ता है। प्रेम में वह उसी अनुपात तक सफल होता है, जिस अनुपात तक वह फादर से 'बोर' होने की क्षमता रखता है। कितने प्रेम इस कारण असफल हो जाते हैं कि प्रेमी फादर को 'स्टैंड' नहीं कर सका। कितनी अच्छी-अच्छी तरुणियाँ इसलिए अच्छे प्रेमी प्राप्त नहीं कर पातीं कि 'फादर' की छाया से अच्छे नवजवान बचते हैं। बेचारी !

प्रेमी को फादर के लिए बड़े पापड़ बेलने पड़ते हैं। एक दिन मेरा एक मित्र, जो दर्शन शास्त्र का अध्यापक है, 'इंडियन पेनल कोड'—'भारतीय दंड संहिता' पढ़ रहा था। मैंने पूछा—तू यह क्यों पढ़ रहा है? उसने कहा—फादर पुलिस अफसर थे न! वे पुराने अपराधों की बातें करते रहते हैं। कहते हैं, 'मैंने उसका दफा 302 में चालान कर दिया। 307 उस पर पहले चल चुका था। एक बार दफा 500 की भी उस पर नालिश हुई थी।' मुझे यह सबकुछ नहीं मालूम। सोचता हूँ थोड़ा पढ़ डालूँ। मैंने उस फादर को नमन किया, जिसने दर्शन शास्त्र के अध्यापक से 'इंडियन पेनल कोड' रटवा दिया।

मेरे इस दर्शन-शास्त्री प्रेमी का अनुभव है कि फादर को खुश करते हुए सावधानी से काम लेना चाहिए, ताकि वही तुमसे प्रेम करने लगे और पूरा समय बिठाए रखे।

उसने 'पेनल कोड' रट ली, फादर को खुश कर लिया, पर प्रेम में वह असफल हो गया।

बड़ी दर्दनाक कहानी है उसकी। उसी के शब्दों में सुनाता हूँ—

मैंने फादर की कोई बात नहीं टाली। वे जो भी कहते, उसमें मैं 'हाँ' कहता। कभी उनकी बात का प्रतिवाद नहीं किया और न कभी बहस की। फादर मुझे लड़के की तरह मानने लगे थे।

वे बेहद अंग्रेज-भक्त हैं। मैं उनके पास बैठता तो वे कहते, 'शासन तो अंग्रेज करते थे। ये जो धोतीवाले राज कर रहे हैं, इन्हें तो कुछ आता-जाता नहीं। मैं कहता हूँ, अंग्रेज ठीक कहते थे कि हम लोग स्वराज के लायक नहीं हैं। आज अंग्रेज होते तो ऐसी धाँधली नहीं चल सकती थी। मगर इन कांग्रेसवालों ने हुल्लड़ करके उन्हें भगा दिया। अंग्रेज एक सुसंस्कृत कौम है। उन्हें हुल्लड़ पसंद नहीं आयी और वे चले गए।'

मेरे मन में इन बातों के प्रति विरोध तो उठता, पर इस डर से कि फादर नाराज न हों, मैं समर्थन करता जाता।

वे राष्ट्रीय आंदोलन के दमन में अपने कार्य का भी वीरता से बखान करते। कहते, 'मैं अमुक जगह था, कांग्रेसवालों ने जुलूस निकाला। क्या जाने कि मैं वहाँ हूँ। मैंने फायरिंग करा दी। दो-चार गिरे। बाकी को मैंने जेल में ठूँस दिया कि ले लो स्वराज! हंटर साहब बहुत खुश हुए। मैंने डरते-डरते कहा कि साहब मजिस्ट्रेट के हुक्म के बिना मैंने गोली चलवा

दी थी। तो हंटर साहब बोलते हैं—ओ, उसका फिकर मत करो। वो मजिस्ट्रेट को हम ठीक कर लेगा।—ऐसा रोब था मेरा। ये धोतीवाले स्वराजी तो मेरे नाम से काँपते थे।'

मेरे मन में विद्रोह उठता। जी होता कि फादर को उठाकर जमीन पर दमच दूँ। पर यह सोचकर कि वे बुरा न मान जाएँ, मैं हाँ-हाँ करता जाता। अपनी तरफ से मैं भी कह देता था कि अंग्रेज अच्छे थे और स्वराज्य आना अच्छा नहीं हुआ।

जब पक्का विश्वास हो गया कि फादर मुझे चाहते हैं, तब मैंने एक दिन लड़की से 'प्रपोज' कर दिया।

उसने मुझे तिरस्कार से देखा और कहा, 'तुम जैसे राष्ट्रद्रोही और गुलाम मनोवृत्ति के आदमी पर तो मैं थूकूँगी भी नहीं। फादर से जो तुम्हारी बातें होती हैं, वे मैंने सुन ली हैं।'

मुझे पसीना आ गया। सँभलकर मैंने उसे समझाने की कोशिश की, 'देखो मैं वैसा नहीं हूँ, जैसा तुम सोचती हो। मैं फादर का मन रखने के लिए वैसा कह देता था। ज़रा सोचो कि मैंने तुम्हारे लिए ही तो ऐसा किया।'

उसने जवाब दिया, 'मेरे लिए?...हाँ, ठीक है। मुझसे अच्छी लड़की के लिए तो तुम देश के साथ गद्दारी भी कर सकोगे। तुम्हारा क्या भरोसा!'

वह दर्शन-शास्त्री प्रेमी फादर को खुश करने के फेर में प्रेमिका को ही खो बैठा। मुझसे कह रहा था, 'मुझे क्या मालूम कि स्त्रियों में भी देश-भक्ति होती है!'

फादर का मामला बड़ा जटिल है। इसीलिए चाहता हूँ कि 'प्रेम-प्रसंग में फादर : एक अध्ययन' जैसा कोई शोध-प्रबंध निकल जाए, तो सभी को सुभीता हो जाए—प्रेमी को, प्रेमिका को और फादर को भी।

आँगन में बैंगन

मेरे दोस्त के आँगन में इस साल बैंगन फल आए हैं। पिछले कई सालों से सपाट पड़े आँगन में जब बैंगन फल उठा तो ऐसी खुशी हुई जैसे बाँझ को ढलती उम्र में बच्चा हो गया हो। सारे परिवार की चेतना पर इन दिनों बैंगन सवार है। बच्चों को कहीं दूर भी बकरी दिख जाती है, तो वे समझते हैं कि वह हमारे बैंगन के पौधों को खाने के बारे में गंभीरता से विचार कर रही है। वे चिल्लाने लगते हैं। पिछले कुछ दिनों से परिवार में बैंगन की ही बात होती है। जब भी जाता हूँ, परिवार की स्त्रियाँ कहती हैं—'खाना खा लीजिए। घर के बैंगन बने हैं।' जब वे 'भरे भटे' का अनुप्रास साधती हैं, तब उन्हें काव्य-रचना का आनंद आ जाता है। मेरा मित्र भी बैठक से चिल्लाता है—'अरे भई, बैंगन बने हैं कि नहीं!' मुझे लगता है, आगे ये मुझसे 'चाय पी लीजिए' के बदले कहेंगी—'एक बैंगन खा लीजिए। घर के हैं।'

और तश्तरी में बैंगन काटकर सामने रख देंगी। तब मैं क्या करूँगा? शायद खा जाऊँ, क्योंकि बैंगन चाहे जैसा लगे, भावना स्वादिष्ट होगी और मैं भावना में लपेटकर बैंगन की फाँक निगल जाऊँगा।

ये बैंगन घर के हैं और घर की चीज का गर्व विशेष होता है। अगर वह चीज घर में ही बनायी भी गयी हो, तो निर्माण का गर्व उसमें और जुड़ जाता है। मैंने देखा है, इस घर के बैंगन का गर्व स्त्रियों को ज्यादा है। घर और आँगन में जो है वह स्त्री के गर्व के क्षेत्र में आता है। इधर बोलचाल में पत्नी को 'मकान' कहा जाता है। उस दिन मेरा एक दोस्त दूसरे दोस्त को सपत्नीक भोजन के लिए निमंत्रित कर रहा था। उसने पूछा—'हाँ, यह तो बताइए आपका 'मकान' गोश्त खाता है या नहीं?' पत्नी अगर 'मकान' कही जाती है, तो पति को 'चौराहा' कहलाना चाहिए। दोनों की पत्नियाँ जब मिलें, तो एक का 'मकान' दूसरे के 'मकान' से पूछ सकता है—'बहन, तुम्हारा 'चौराहा' शराब पीता है या नहीं?'

लोग पान से लेकर बीवी तक घर की रखते हैं। इसमें बड़ा गर्व है और बड़ी सुविधा है। जी चाहा तब पान लगाकर खा लिया और जी हुआ तब पत्नी से लड़कर जीवन के कुछ क्षण सार्थक कर लिए। कुछ लोग मूर्ख भी घर के रखते हैं। और मेरे एक परिचित तो जुआड़ी भी घर के रखते हैं। दीवाली पर अपने बेटों के साथ बैठकर जुआ खेल लेते हैं। कहते थे—'भगवान की दया से अपने चार बेटे हैं, सो घर में ही जुआ खेल लेते हैं।'

घर की चीज आपत्ति से भी परे होती है। आदम स्वर्ग से इसलिए निकाला गया कि उसने दूसरों के बगीचे का सेब खा लिया था। माना कि वह बगीचा ईश्वर का था, पर फिर भी पराया था। अगर वह सेब उसके अपने बगीचे का होता, तो वह एतराज करनेवाले से कह देता—'हाँ, हाँ, खाया तो अपने बगीचे का ही खाया। तुम्हारा क्या खा लिया?' विश्वामित्र का 'वैसा' मामला अगर घर की औरत से होता, तो तपस्या भंग न होती। वे कह देते—'हाँ जी, हुआ। मगर वह हमारी औरत है। तुम पूछनेवाले कौन होते हो?' अगर कोई अपनी स्त्री को पीट रहा हो और पड़ोसी उसे रोकें, तो वह कैसे विश्वास से कह देता है—'वह हमारी औरत है। हम चाहे उसे पीटें, चाहे मार डालें। तुम्हें बीच में बोलने का क्या हक है।' ठीक कहता है वह। जब वह कद्दू काटता है, तब कोई एतराज नहीं करता, तो औरत को पीटने पर क्यों एतराज करते हैं? जैसा कद्दू वैसी औरत। दोनों उसके घर के हैं। घर की चीज में यही निश्चिंतता है। उसमें मजा भी विशेष है। ये बैंगन चाहे बाजार के बैंगन से घटिया हों, पर लगते अच्छे स्वादिष्ट हैं। घर के हैं न। मैंने लोगों को भयंकर कर्कशा को भी प्यार करते देखा है, क्योंकि वह घर की औरत है।

वैसे मुझे यह आशा नहीं थी कि यह मेरा दोस्त कभी आँगन में बैंगन का पौधा लगाएगा। कई सालों से आँगन सूना था। मगर मैं सोचता था कि चाहे देर से खिले, पर इस आँगन में गुलाब, चंपा और चमेली के फूल ही खिलेंगे। बैंगन और भिंडी जैसे भौंड़े पौधों को वह

अपने आँगन में जमने नहीं देगा। पर इस साल जो नहीं होना था, वही हो गया। बैंगन लग गया और वह रुचि से खाया भी जाने लगा। मेरे विश्वास को यह दोस्त कैसे धोखा दे गया! उसने शायद घबराकर बैंगन लगा लिया। बहुत लोगों के साथ ऐसा हो जाता है। गुलाब लगाने के इंतजार में साल गुजरते रहते हैं और फिर घबड़ाकर आँगन में बैंगन या भिंडी लगा लेते हैं। मेरे एक परिचित ने इसी तरह अभी शादी की है—गुलाब के इंतजार से ऊबकर बैंगन लगा लिया है।

लेकिन इस मित्र की सौंदर्य-चेतना पर मुझे भरोसा था। न जाने कैसे उसके पेट से सौंदर्य-चेतना प्रकट हो गयी! आगे हो सकता है, वह बेकरी को स्थापत्यकला का श्रेष्ठ नमूना मानने लगे और तंदूरी रोटी की भट्ठी में उसे अजंता के गुफा-चित्र नज़र आएँ।

इसे मैं बर्दाश्त कर लेता। बर्दाश्त तब नहीं हुआ, जब परिवार की एक तरुणी ने भी कहा—'अच्छा तो है। बैंगन खाए भी जा सकते हैं।' मैंने सोचा, हो गया सर्वनाश ! सौंदर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया। सुंदरी गुलाब से ज्यादा बैंगन को पसंद करने लगी। मैंने कहा—'देवी, तू क्या उसी फूल को सुंदर मानती है, जिसमें से आगे चलकर आधा किलो सब्जी निकल आए? तेरी जाति कदंब के नीचे खड़ी होने वाली है, पर तू शायद हाथ में बाँस लेकर कटहल के नीचे खड़ी होगी। पुष्पलता और कद्दू की लता में क्या तू कोई फर्क नहीं समझती? तू क्या वंशी से चूल्हा फूँकेगी? और क्या वीणा के भीतर नमक-मिर्च रखेगी?'

तभी मुझे याद आया कि अपने आँगन में तो कुछ भी नहीं है। दूसरे पर क्या हँसूँ! एक बार मैंने गेंदे का पौधा लगाया था। यह बड़ा गरीब, सर्वहारा फूल होता है। कहीं भी जड़ें जमा लेता है। मैंने कहा—'हुजूर, अगर आप जम जाएँ और खिल उठें, तो मैं गुलाब लगाने की सोचूँ।' मगर वह गेंदा भी मुरझाकर सूख गया। उसका डंठल बहुत दिनों तक जमीन में गड़ा हुआ मुझे चिढ़ाता रहा कि गेंदा तो आँगन में निभ नहीं सका, गुलाब रोपने की महत्त्वाकांक्षा रखते हो! और मैं उसे जवाब देता—'अभागे, मुझे ऐसा गेंदा नहीं चाहिए जो गुलाब का नाम लेने से ही मुरझा जाए। गुलाब को उखाड़कर वहाँ जम जाने की जिसमें ताकत है, ऐसा गेंदा मैं अपने आँगन में लगने दूँगा।' मेरे घर के सामने के बँगले में घनी मेहँदी की दीवार-सी उठी है। इसकी टहनी कहीं भी जड़ जमा लेती है। इसे ढोर भी नहीं खाते। यह सिर्फ सुंदरियों की हथेली की शोभा बढ़ाती है और इसलिए इस पशु तक के लिए बेकार पौधे की रूमानी प्रतिष्ठा लोक-गीतों से लेकर नयी कविता तक में है। नेल पालिश के कारखानों ने मेहँदी की इज्जत अलबत्ता कुछ कम कर दी है! तो मैंने मेहँदी की कुछ कलमें आँगन में गाड़ दीं। दो-तीन दिन बाद आवारा ढोरों ने उन्हें रौंद डाला। मैं दुखी था। तभी अखबार में पढ़ा कि किसी 'हाइड्रो-इलेक्ट्रिक प्लांट' का पैसा इंजीनियर और ठेकेदार खा गए और उसमें ऐसी घटिया सामग्री लगाई कि प्लाण्ट फूट गया और करोड़ों बरबाद हो गए। जो हाल मेरे मेंहदी के प्लांट का हुआ, वही सरकार के उस बिजली के 'प्लांट' का हुआ—दोनों को उजाड़ ढोरों ने रौंद डाला।

मैंने इस एक ही अनुभव से सीख लिया कि 'प्लांट' रोपना, तो उसकी रखवाली का इंतजाम पहले करना। भारत सरकार से पूछता हूँ कि मेरी सरकार, आप कब सीखेंगी? मैं तो अब 'प्लांट' लगाऊँगा, तो पहले रखवाली के लिए कुत्ता पालूँगा। सरकार की मुश्किल यह है कि उसके कुत्ते वफादार नहीं हैं। उनमें से कुछ आवारा ढोरों पर लपकने के बदले, उनके आसपास दुम हिलाने लगते हैं।

फिर भी भारत सरकार के प्लांट तो जम ही रहे हैं और आगे जम जाएँगे। उसके आँगन की जमीन अच्छी है और 'प्लांट' सींचने को 45 करोड़ लोग तैयार हैं। वे प्लांट भी उन्हीं के हैं। सरकार तो सिर्फ मालिन है।

मेरे इस आँगन का भी कुछ निश्चित नहीं है। बगल के मकान के अहाते से गुलाब की एक टहनी, जिस पर बड़ा-सा फूल खिलता है, हवा के झोंके से दीवार पर से गर्दन निकालकर इधर झाँकती है। मैं देखता रहता हूँ। कहता हूँ—'तू ताक चाहे झाँक। मैं इस आँगन में अब पौधा नहीं रोपूँगा। यह अभागा है। इसमें बरसाती घास के सिवा कुछ नहीं उगेगा। सभी आँगन फूल खिलने लायक नहीं होते।' फूलों का क्या ठिकाना ! वे गँवारों के आँगन में भी खिल जाते हैं। एक आदमी को जानता हूँ, जिसे फूल सूँघने की तमीज नहीं है, पर उसके बगीचे में तरह-तरह के फूल खिले हैं। फूल भी कभी बड़ी बेशर्मी लाद लेते हैं और अच्छे खाद पर बिक जाते हैं।

मेरा एक मित्र कहता है कि तुम्हारे आँगन में कोमल फूल नहीं लग सकते। फूलों के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबंद के आँगन में जम जाएँ, पर तुम्हारे आँगन में नहीं जम सकते। वे कोमल होते हैं; तुम्हारे व्यंग्य की लपट से जल जाएँगे। तुम तो अपने आँगन में बबूल, भटकटैया और धतूरा लगाओ। ये तुम्हारे बावजूद पनप जाएँगे। फिर देखना कौन किसे चुभता है—तुम बबूल को या बबूल तुम्हें? कौन किसे बेहोश करता है—धतूरा तुम्हें या तुम धतूरे को?

पगडंडियों का जमाना

मैंने फिर ईमानदार बनने की कोशिश की और फिर नाकामयाब रहा।

एक सज्जन ने मुझसे कहा कि एक परिचित अध्यापक से कहकर मैं उनके लड़के के नंबर बढ़वा दूँ। यों मैं उनका काम कर देता, पर बहुत अरसे बाद उसी दिन मुझे ईमान की याद आयी थी और मैंने पूरी तरह ईमानदार बन जाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। सज्जन की बात सुनकर मुझे पुरानी कथाएँ याद आ गयीं और मैंने सोचा कि प्रतिज्ञा करते मुझे देर नहीं हुई कि ये इंद्र या विष्णु मेरी परीक्षा लेने आ पहुँचे। उन्हें विश्वास नहीं है कि कोई इस ज़माने में लंबी तपस्या करेगा। चार कहानियाँ लिखकर लोग युग-प्रवर्तक की लिस्ट में

नाम खोजने लगते हैं। इसलिए ये देवता अब तपस्या शुरू होते ही परीक्षा लेने आ पहुँचते हैं।

मैंने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया और प्रकट कहा, "मैं इसे अनुचित और अनैतिक मानता हूँ। मैं यह काम नहीं करूँगा।"

मुझे आशा थी कि अब ये अपने मौलिक देव-रूप में प्रकट होंगे और कहेंगे–'वत्स, तू परीक्षा में खरा उतरा। बोल, तुझे क्या चाहिए? हम वर देने के 'मूड' में हैं। बोल, हिन्दी साहित्य के इतिहास में तेरे ऊपर एक अध्याय लिखवा दूँ? या कहे, तो किसी समीक्षक की तेरे घर में पानी भरने की ड्यूटी लगा दूँ?'

वे मौलिक रूप में तो आए, पर वह प्रसन्नता का न होकर रोष का था। भुनभुनाकर चले गए। मैंने सुना, वे लोगों से मेरे बारे में कह रहे थे–'आजकल वह साला बड़ा ईमानदार बन गया है।'

मैं जिसे देवता समझ बैठा था, वह तो आदमी निकला। मैंने अपनी आत्मा से पूछा–'हे मेरी आत्मा, तू ही बता! क्या गाली खाकर, बदनामी करवाकर मैं ईमानदार बना रहूँ?'

आत्मा ने जवाब दिया–'नहीं, ऐसी कोई जरूरत नहीं है। इतनी जल्दी क्या पड़ी है? आगे ज़माना बदलेगा, तब बन जाना।'

मेरी आत्मा बड़ी सुलझी हुई बात कह देती है कभी-कभी। अच्छी आत्मा 'फोल्डिंग' कुर्सी की तरह होनी चाहिए। जरूरत पड़ी तब फैलाकर उस पर बैठ गए; नहीं तो मोड़कर कोने में टिका दिया। जब कभी आत्मा अड़ंगा लगाती है, तब मुझे समझ में आता है कि पुरानी कथाओं के दानव अपनी आत्मा को दूर किसी पहाड़ी पर तोते में क्यों रख देते थे। वे उससे मुक्त होकर बेखटके दानवी कर्म कर सकते थे। देव और दानव में अब भी तो यही फर्क है–एक की आत्मा अपने पास ही रहती है और दूसरे की उससे दूर।

मैंने ऐसे आदमी देखे हैं, जिनमें किसी ने अपनी आत्मा कुत्ते में रख दी है, किसी ने सूअर में। अब तो जानवरों ने भी यह विद्या सीख ली है और कुछ कुत्ते और सूअर अपनी आत्मा किसी-किसी आदमी में रख देते हैं।

आत्मा ने कह दिया, तो मैंने ईमानदार बनने का इरादा त्याग दिया।

राधेश्याम ने भी कोशिश की थी और वह भी असफल हो गया। उसकी एक छोटी-सी दूकान है। उसने पैसे-पैसे की बिक्री का सही हिसाब रखा और उसे बिक्री-कर के दफ्तर ले गया। वहाँ उससे कहा गया कि हिसाब झूठा है। तब उसे सच्चे हिसाब को सच्चा मनवाने के लिए घूस देनी पड़ी। कह रहा था–मैं भी अब झूठा हिसाब रखूँगा। उसे घूस देकर सच्चा बनवा लिया करूँगा। सचाई के लिए घूस देने की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा है कि झूठ के लिए घूस दूँ। इतना महँगा ईमान अपनी हैसियत के बाहर है। इससे तो बेईमानी सस्ती पड़ेगी।

एक स्त्री नौकरी के सिलसिले में एक बड़े आदमी के पास सच्चरित्रता का प्रमाणपत्र

लेने गयी थी। बड़े आदमी ने उसे पहले अपने शयन-कक्ष में ले जाना चाहा और बाद में सच्चरित्रता का प्रमाणपत्र देना चाहा। पहले देवता आदमी बनकर ठगते थे, अब आदमी देवता बनकर ठगते हैं।

देखता हूँ कि हर सत्य के हाथ में झूठ का प्रमाणपत्र है। ईमान के पास बेईमानी की सिफारिशी चिट्ठी न हो, तो कोई उसे दो कौड़ी को न पूछे। यही सब सोचकर मैं ढीला हो गया। अब मैं बड़े खुले मन से नंबर बढ़वाता हूँ।

इन दिनों मुझे बहुत स्नेही मिलते हैं। जो कभी-कभी ही मिलते हैं, साल में एक-दो बार, उन्हें आते देखते ही समझ जाता हूँ कि वे किस काम से आए हैं। मैं मौसम देखकर ऐसे आनेवाले का काम बता सकता हूँ। जुलाई के पहले हफ्ते में, जब घटा छायी हो, धरा ने हरी चूनर ओढ़ रखी हो, आसपास मोर-पपीहा बोल रहे हों, बिजली नीग्रो सुंदरी के दाँतों की तरह चमक रही हो, ऐसे सुहावने समय में कोई कई महीने बाद आता दिखे, तो समझ जाता हूँ कि यह गीत गाने नहीं आया, बच्चों को स्कूल-कॉलेज में भर्ती कराने में मदद लेने आया है।

इधर मार्च से जो आता है, नंबर बढ़वाने या 'पेपर आउट' करवाने आता है। बात यह है कि सारे 'सिलेबस' और 'प्रास्पेक्टस' गलत हैं। उनमें उन दो पर्चों का उल्लेख नहीं होता, जो जरूरी होते हैं। एक पर्चा शुरू का और दूसरा आखिरी। पहला पर्चा 'पेपर आउट' करने का होता है और आखिरी नंबर बढ़वाने का। जो इन्हें अच्छी तरह कर ले, वह पास हो जाता है, पहला दर्जा भी पा सकता है। इन पर्चों को कुछ विद्यार्थी खुद कर लेते हैं। वे प्रतिभावान हैं और उनका भविष्य उज्ज्वल है। कुछ के अभिभावक ये पर्चे करते हैं। ऐसे परमुखापेक्षी विद्यार्थियों का भविष्य संदिग्ध है। उनकी अपेक्षा उनके अभिभावक का फिर भी कुछ भविष्य है।

अध्यापकों से संबंध होने के कारण मेरे पास दोनों पक्षोंवाले काफी आते हैं। कल जो आए थे, वे मुझे बारात में दो साल पहले पहली और अंतिम बार मिले थे। मुझे यह पता नहीं था कि उस छोटी मुलाकात में ही उन्होंने इतनी आत्मीयता पैदा कर ली थी कि भाई परीक्षा में बैठने लगा, तो उन्हें मेरी याद सताने लगी। सुना है, विरहिन को बरसात में प्रिय की बड़ी याद सताती है। परीक्षा के मौसम में भी कुछ लोगों का विरह जाग उठता है और उन्हें किन्हीं विशेष परिचितों की याद सताने लगती है। वे कहने लगे—'अमुक प्रोफेसर आपके मित्र हैं। उन्होंने एक पर्चा निकाला है। कुछ 'हिंट' दिला दीजिए न !' मैंने सोचा, किसी से मित्रता है, तो इसका कुल इतना उपयोग है कि जब जरूरत पड़े, उससे गलत काम करा लिया जाए। कोई यह तो कहता नहीं है कि अमुक से आपकी मित्रता है, तो उन्हें समझाइए न कि ऐसा गलत काम न करें। न कोई यह कहता है कि अमुक आपका दुश्मन है तो उससे पेपर आउट करवाकर उस साले का ईमान बिगाड़ दीजिए। नहीं, दुश्मन सब सुरक्षित हैं। ईमान तो हमेशा मित्र का बिगाड़ा जाएगा। किसी दिन कोई आकर मुझसे कहेगा—'अमुक पुलिस अफसर से आपके अच्छे संबंध हैं। उनसे कहिए न कि घर में हमें

सेंध लगा लेने दें।'

इन सब पर्चा आउट करवानेवालों और नंबर बढ़वानेवालों पर हँसा भी नहीं जा सकता। इनमें अधिकांश दया के पात्र हैं। ये बेहद परेशान और घबड़ाए हुए लोग हैं। कोई चाहता है कि लड़का पास हो जाए, तो उससे नौकरी करा दें, जिससे परिवार की दुर्दशा कुछ कम हो। किसी को चिंता है कि लड़का फेल हो गया, तो और एक साल उसकी पढ़ाई का खर्च कैसे चलाऊँगा। कोई चाहता है कि लड़की पास हो जाए, तो उसकी शादी करके बोझ हल्का करूँ। बहुत दुखी और परेशान लोग होते हैं, इनमें कुछ तो इतने दीन होते हैं कि जी होता है, पहले इनके गले लगकर रो लिया जाय!

मेरी परेशानी का कारण दूसरा है। ये अब बेझिझक, निस्संकोच और निर्लज्जता से काम करने लगे हैं। दस साल पहले भी मैं यह काम करा देता था। तब देखता था, नंबर बढ़वानेवाला बड़ी झिझक, लज्जा और संकोच से कहता था। लोग खुलकर नहीं कहते थे। तब ऐसी दबी-छिपी चिट्ठी आती थी—'अपने दोस्त, रमेशचंद के भाई सुरेश की मोटर साइकिल, जिस पर अंग्रेजी में नंबर 2431 लिखा है, बिगड़ गयी है। वह आपके मित्र सिन्हा के पास सुधरने गयी है। आप उसे सुधरवा दें कि कम-से-कम 40 प्रतिशत तो काम देने लगे।' इसका मतलब है कि सुरेश का रोल नंबर 2431 है। उसका अंग्रेजी का पर्चा बिगड़ा है। सिन्हा उसे जाँच रहे हैं और उनसे 40 प्रतिशत नंबर दिलवाना है। अब सीधी चिट्ठी आ जाती है। खुला कार्ड तक आ जाता है। तब नंबर बढ़वानेवाला बड़ी देर संकोच से बैठा रहता था, दुविधा में पड़ा रहता था, यहाँ-वहाँ की बातें करता था और तब कहीं शरमाकर बगलें झाँकता हुआ नंबर बढ़वाने की बात कहता था। अब नंबर बढ़वानेवाला इस तरह आता है, जैसे बाजार में सब्जी खरीदने जाता है। सीधा मेरी आँखों में देखता है और अधिकारपूर्वक कहता है कि नंबर बढ़वाने हैं।

दस सालों में यह जो प्रगति हो गयी है, यह मुझे परेशान करती है। भयंकर संकोचहीनता है यह। यह साहस मुझे डराता है। मैं इंतजार करता हूँ कि कोई तो थोड़ा संकोच लेकर आए कि मैं कुछ आश्वस्त हो जाऊँ।

कोई नहीं आता। मुझे लगता है, हम सबने मान लिया है कि आम सड़कें सब बंद हो गयी हैं। उन पर तख्ती टँग गयी है—'सड़क मरम्मत के लिए बंद है।' सालों से ये सड़कें बंद हैं और सब पगडंडियों से जा रहे हैं। चलते-चलते पगडंडियों के काँटे और झाड़ियाँ साफ हो गयी हैं और वे सड़कों जैसी चिकनी और चौड़ी हो गयी हैं। बेझिझक, नंगे पाँव इन पर लोग चल रहे हैं। आम सड़क पर चलनेवाला अब बेवकूफ या पागल समझा जाएगा। अब आम सड़कें खुल भी जाएँ, तो लोग उन पर चलने में झिझकेंगे। मरम्मतवाले भी इसलिए ढीले पड़ गए हैं। मगर उपयोग न होने से आम सड़कों पर झाड़ियाँ और जंगली पौधे उगेंगे और वे ढक जाएँगी। तब किसी को आभास भी न होगा कि इस देश में कहीं आम सड़कें भी हैं।

लगता है, आम सड़कें अब भविष्य के पुरातत्त्ववेत्ता को ही मिलेंगी। वही इन्हें

खोजेगा। वह निष्कर्ष निकालकर बताएगा कि उस ज़माने में इस देश में आम सड़कें तो थीं, पर कोई उन पर चलता नहीं था। सब पगडंडी पकड़ते थे। अनुपयोग के कारण सड़कें दब गयी थीं।

सफलता के महल का सामने का आम दरवाजा बंद हो गया है। कई लोग भीतर घुस गए हैं और उन्होंने कुंडी लगा दी है। जिसे उसमें घुसना है, वह रूमाल नाक पर रखकर नाबदान में से घुस जाता है। आसपास सुगंधित रूमालों की दूकानें लगी हैं। लोग रूमाल खरीदकर उसे नाक पर रखकर नाबदान में से घुस रहे हैं।

जिन्हें बदबू ज्यादा आती है और जो सिर्फ मुख्य द्वार से घुसना चाहते हैं, वे खड़े दरवाजे पर सिर मार रहे हैं और उनके कपालों से खून बह रहा है।

पहला सफेद बाल

आज पहला सफेद बाल दिखा। कान के पास काले बालों के बीच से झाँकते इस पतले रजत-तार ने सहसा मन को झकझोर दिया।

ऐसा लगा जैसे वसंत में वनश्री देखता घूम रहा हूँ कि सहसा किसी झाड़ी से शेर निकल पड़े;

या पुराने जमाने में किसी मजबूत माने जानेवाले किले की दीवार पर रात को बेफिक्र घूमते गरबीले किलेदार को बाहर से चढ़ते हुए शत्रु के सिपाही की कलगी दिख जाय;

या किसी पार्क के कुंज में अपनी राधा को हृदय से लगाए प्रेमी को एकाएक राधा का बाप आता दिख जाय।

कालीन पर चलते हुए काँटा चुभने का दर्द बड़ा होता है। मैं अभी तक कालीन पर चल रहा था। रोज नरसीसस जैसी आत्म-रति से आईना देखता था, घुँघराले काले केशों को देखकर, सहलाकर, सँवारकर, प्रसन्न होता था। उम्र को ठेलता जाता था, वार्द्धक्य को अँगूठा दिखाता था। पर आज कान में यह सफेद बाल फुसफुसा उठा, 'भाई मेरे, एक बात 'कानफिडेंस' में कहूँ—अपनी दूकान समेटना अब शुरू कर दो!'

तभी से दुखी हूँ। ज्ञानी समझाएँगे—जो अवश्यंभावी है, उसके होने का क्या दुःख ? जी हाँ, मौत भी तो अवश्यंभावी है। तो क्या जिंदगी-भर मरघट में अपनी चिता रचते रहें ? और ज्ञान से कहीं हर दुख जीता गया है? वे क्या कम ज्ञानी थे, जो मरणासन्न लक्ष्मण का सिर गोद में लेकर विलाप कर रहे थे—'मेरो सब पुरुषारथ थाको!' स्थितप्रज्ञ दर्शन अर्जुन को समझानेवाले की आँखें उद्धव से गोकुल की व्यथा-कथा सुनकर, डबडबा आयी थीं। मरण को त्योहार माननेवाले ही मृत्यु से सबसे अधिक भयभीत होते हैं। वे त्योहार का हल्ला करके अपने हृदय के सत्य भय को दबाते हैं।

मैं वास्तव में दुखी हूँ। सिर पर सफेद कफन बुना जा रहा है; आज पहला तार डाला गया है। उम्र बुनती जाएगी इसे और यह यौवन की लाश को ढँक लेगा। दुःख नहीं होगा मुझे? दुःख उन्हें नहीं होगा, जो बूढ़े ही जन्मे हैं।

मुझे गुस्सा है, इस आईने पर। वैसे तो यह बड़ा दयालु है, विकृति को सुधारकर चेहरा सुडौल बनाकर बताता रहा है। आज एकाएक यह कैसे क्रूर हो गया! क्या इस एक बाल को छिपा नहीं सकता था? इसे दिखाए बिना क्या उसकी ईमानदारी पर बड़ा कलंक लग जाता? उर्दू-कवियों ने ऐसे संवेदनशील आईनों का जिक्र किया है, जो माशूक के चेहरे में अपनी ही तस्वीर देखने लगते हैं; जो उस मुख के सामने आते ही गश खाकर गिर पड़ते हैं; जो उसे पूरी तरह प्रतिबिंबित न कर सकने के कारण चटक जाते हैं। सौंदर्य का सामना करना कोई खेल नहीं है। मूसा बेहोश हो गया था! ऐसे भले आईने होते हैं, उर्दू-कवियों के। और यह एक हिंदी लेखक का आईना है!

मगर आईने का क्या दोष? बाल तो अपना सफेद हुआ है। सिर पर धारण किया, शरीर का रस पिलाकर पाला, हजारों शीशियाँ तेल की उँड़ेल दीं—और ये धोखा दे गए। संन्यासी शायद इसीलिए इनसे छुट्टी पा लेता है कि उस विरागी का साहस भी इनके सामने लड़खड़ा जाता है।

आज आत्मविश्वास उठा जाता है; साहस छूट रहा है। किले में आज पहली सुरंग लगी है। दुश्मन को आते अब क्या देर लगेगी!

क्या करूँ? इसे उखाड़ फेंकूँ? लेकिन सुना है, यदि एक सफेद बाल को उखाड़ दो, तो वहाँ एक गुच्छा सफेद हो जाता है। रावण जैसा वरदानी होता है, कमबख्त। मेरे चाचा ने एक नौकर सफेद बाल उखाड़ने के लिए ही रखा था, पर थोड़े ही समय में उनके सिर पर काँस फूल उठा था। एक तेल बड़ा 'मनराखन' हो गया है। कहते हैं उससे बाल काले हो जाते हैं। (नाम नहीं लिखता, व्यर्थ प्रचार होगा), उस तेल को लगाऊँ ? पर उससे भी शत्रु मरेगा नहीं, उसकी वर्दी बदल जाएगी। कुछ लोग खिजाब लगाते हैं। वे बड़े दयनीय होते हैं। बुढ़ापे से हार मानकर, यौवन का ढोंग रचते हैं। मेरे एक परिचित खिजाब लगाते थे। शनिवार को वे बूढ़े लगते और सोमवार को जवान—इतवार उनका रँगने का दिन था। न जाने वे ढलती उम्र में काले बाल किसे दिखाते थे! शायद तीसरे विवाह की पत्नी को! पर वह उन्हें बाल रँगते देखती तो होगी ही। और क्या स्त्री को केवल काले बाल दिखाने से यौवन का भ्रम उत्पन्न किया जा सकता है? नहीं, यह सब नहीं होगा। शत्रु को सिर पर बिठाए रखना पड़ेगा। जानता हूँ, यह धीरे-धीरे सब वफादार बालों को अपनी ओर मिला लेगा।

याद आती है, मेरे समानधर्मा, कवि केशवदास की, जिसे 'चंद्रवदन मृगलोचनी' ने बाबा कह दिया, तो वह बालों पर बरस पड़ा था। हे मेरे पूर्वज, दुखी, रसिक कवि! तेरे मन की ऐंठन मैं अब बखूबी समझ सकता हूँ। मैं चला आ रहा हूँ, तेरे पीछे। मुझे 'बाबा' तो नहीं, पर 'दादा' कहने लगी है—बस, थोड़ा ही फासला है!

मन बहुत विचलित है। आत्म-रति के अतिरेक का फल नरसीसस ने भोगा था, मुझे भी भोगना पड़ेगा। मुझे एक अन्य कारण से डर है। मैंने देखा है, सफेद बाल के आते ही आदमी हिसाब लगाने लगता है कि अब तक क्या पाया, आगे क्या करना है और भविष्य के लिए क्या संचय किया। हिसाब लगाना अच्छा नहीं होता। इससे जिंदगी में वणिक-वृत्ति आती है और जिस दिशा से कुछ मिलता है, आदमी उसी दिशा में सिजदा करता है। बड़े-बड़े 'हीरो' धराशायी होते हैं। बड़ी-बड़ी देव प्रतिमाएँ खंडित होती हैं। राजनीति, साहित्य, जन-सेवा के क्षेत्र की कितनी महिमा-मंडित मूर्तियाँ इन आँखों ने टूटते देखी हैं; कितनी आस्थाएँ भंग होते देखी हैं। बड़ी खतरनाक उम्र है यह; बड़े समझौते होते हैं सफेद बालों के मौसम में। यह सुलह का झंडा सिर पर लहराने लगा है। यह घोषणा कर रहा है—'अब तक के शत्रुओ ! मैंने हथियार डाल दिए हैं। आओ, संधि कर लें।' तो क्या संधि होगी—उनसे, जिनसे संघर्ष होता रहा? समझौता होगा उससे, जिसे गलत मानता रहा?

पर आज एकदम ये निर्णायक प्रश्न मेरे सामने क्यों खड़े हो गए? बाल की जड़ बहुत गहरी नहीं होती। हृदय से तो उगता नहीं है यह! यह सतही है, बेमानी? यौवन सिर्फ काले बालों का नाम नहीं है। यौवन नवीन भाव, नवीन विचार ग्रहण करने की तत्परता का नाम है; यौवन साहस, उत्साह, निर्भयता और खतरेभरी जिंदगी का नाम है; यौवन लीक से बच निकलने की इच्छा का नाम है। और सबसे ऊपर, बेहिचक बेवकूफी करने का नाम यौवन है। मैं बराबर बेवकूफी करता जाता हूँ। यह सफेद झंडा प्रवंचना है। हिसाब करने की कोई जल्दी नहीं है। सफेद बाल से क्या होता है?

यह सब मैं किसी दूसरे से नहीं कह रहा हूँ, अपने आपको ही समझा रहा हूँ। द्विमुखी संघर्ष है यह—दूसरों को भ्रमित करना और मन को समझाना। दूसरों से भय नहीं। सफेद बालों से किसी और का क्या बिगड़ेगा? पर मन तो अपना है। इसे तो समझाना ही पड़ेगा कि भाई तू परेशान मत हो। अभी ऐसा क्या हो गया है! यह तो पहला ही है। और फिर अगर तू नहीं ढीला होता, तो क्या बिगड़नेवाला है!

पहले सफेद बाल का दिखना एक पर्व है। दशरथ को कान के पास सफेद बाल दिखे, तो उन्होंने राम को राजगद्दी देने का संकल्प किया। उनके चार पुत्र थे। उन्हें देने का सुभीता था। मैं किसे सौंपूँ? कोई कंधा मेरे सामने नहीं है, जिस पर यह गौरवमय भार रख दूँ। किस पुत्र को सौंपूँ? मेरे एक मित्र के तीन पुत्र हैं। सवेरे यह मेरा दशरथ अपने कुमारों को चुल्लू-चुल्लू पानी मिला दूध बाँटता है। इनके कंधे ही नहीं हैं—भार कहाँ रखेंगे? बड़े आदमियों के दो तरह के पुत्र होते हैं—वे जो वास्तव में हैं, पर कहलाते नहीं हैं और वे जो कहलाते हैं, पर हैं नहीं। जो कहलाते हैं, वे धन-संपत्ति के मालिक बनते हैं और जो वास्तव में हैं, वे कहीं पंखा खींचते हैं या बर्तन माँजते हैं। होने से कहलाना ज्यादा लाभदायक है।

अपना कोई पुत्र नहीं। होता तो मुश्किल में पड़ जाते। क्या देते? राज-पाट के दिन गए, धन-दौलत के दिन हैं। पर पास ऐसा कुछ नहीं है, जो उठाकर दे दिया जाय। न उत्तराधिकारी है, न उसका प्राप्य। यह पर्व क्या बिना दिए चला जाएगा।

पर हम क्या दें? महायुद्ध की छाया में बढ़े हमलोग; हम गरीबी और अभाव में पले लोग, केवल जिजीविषा खाकर जिए हम लोग। हमारी पीढ़ी के बाल तो जन्म से ही सफेद हैं। हमारे पास क्या है? हाँ, भविष्य है, लेकिन वह भी हमारा नहीं, आनेवालों का है। तो इतना रंक नहीं हूँ—विराट भविष्य तो है। और अब उत्तराधिकारी की समस्या भी हल हो गयी। पुत्र तो पीढ़ियों के होते हैं। केवल जन्मदाता किसी का पिता नहीं होता। विराट भविष्य को एक पुत्र ले भी कैसे सकता है? इससे क्या कि कौन किसका पुत्र होगा, कौन किसका पिता कहलाएगा! मेरी पीढ़ी के समस्त पुत्रो! मैं तुम्हें वह भविष्य ही देता हूँ। यद्यपि वह अभी मूर्त्त नहीं हुआ है, पर हम जुटे हैं, उसे मूर्त्त करने। हम नींव में धँस रहे हैं कि तुम्हारे लिए एक भव्य भविष्य रचा जा सके। वह तुम्हारे लिए एक वर्तमान बनकर ही आएगा—हमारा तो कोई वर्तमान भी नहीं था। मैं तुम्हें भविष्य देता हूँ और इसे देने का अर्थ यह है कि हम अपने-आपको दे रहे हैं, क्योंकि उसके निर्माण में अपने-आपको मिटा रहे हैं। लो, सफेद बाल दिखने के इस पर्व पर यह तुम्हारा प्राप्य सँभालो। होने दो हमारे बाल सफेद। हम काम में तो लगे हैं—जानते हैं कि काम बंद करने और मरने का क्षण एक ही होता है।

हमें तुमसे कुछ नहीं चाहिए। ययाति-जैसे स्वार्थी हम नहीं हैं जो पुत्र की जवानी लेकर युवा हो गया था। बाल के साथ, उसने मुँह भी काला कर लिया।

हमें तुमसे कुछ नहीं चाहिए। हम नींव में धँस रहे हैं; लो हम तुम्हें कलश देते हैं।

गेहूँ का सुख

मुझे याद नहीं इस घर में इतना गेहूँ इकट्ठा कभी आया हो—विवाह और गमी के मौकों को छोड़कर। पर विवाह पिछले दस सालों से कोई नहीं हुआ। गमी एकाध हुई, पर श्राद्ध और ब्राह्मण-भोजन मैंने होने नहीं दिए। हमारे यहाँ रोज ही ब्राह्मण-भोजन होता है क्योंकि हम रोज ही करते हैं—और हमारे पुरखे ब्राह्मण कहलाते थे। मुझे याद है कि प्राथमिक शाला में कापी पर मैं लिखता था—

नाम—हरिशंकर
जाति—ब्राह्मण

आगे चलकर मुझे यह मानना संभव नहीं हुआ कि शरीर से स्वतंत्र कोई आत्मा होती है, जो किसी लोक में बैठी-बैठी देखा करती है कि मेरे परिवारवालों ने किस-किस ब्राह्मण को भोजन कराया; डालडा का उपयोग किया कि शुद्ध घी का और मोतीचूर के लड्डू खिलाए कि नहीं। मेरी अल्प बुद्धि में यही आया कि अगर आत्मा कहीं स्वतंत्र रूप से रहती भी हो, तो वह, जो शुद्ध-बुद्ध रूप में स्थित है, यह देखकर बड़ी कुढ़ती होगी कि कितने नालायक

हैं मेरे बेटे, जो इतने निठल्लों को अकारण ही माल खिला रहे हैं। यों सयानों ने मुझे डर दिखाया कि पुरखों की सद्‌गति नहीं होगी, पर मैंने सोचा कि अपात्रों-कुपात्रों को खिलाने और दान देने के पाप से पुरखों की सद्‌गति तो नहीं, दुर्गति जरूर हो जाएगी।

तो इतना गेहूँ कई सालों से नहीं आया। आज छोटा भाई जब एक साथ तीन बोरे ले आया, तो मेरी हालत उस मुफलिस प्रेमी जैसी हो गयी, जिसके घर एकाएक उसकी ऐश्वर्यशालिनी प्रेमिका आ जाए, जिस पर उसने यह रंग बाँध रखा है कि मैं भी रईसजादा हूँ। बड़ी झेंप लगी, इन बोरों के सामने। इनका सत्कार कैसे करें? कैसी अभ्यर्थना करें ? गेहूँ की मात्रा की उस महत्ता के सामने हम सब अपने को बहुत हीन समझने लगे। मेरे मन में प्रार्थना उठी—पधारो देव! हम नहीं जानते, कैसे तुम्हारा स्वागत करें! हमने कल्पना नहीं की थी कि आप कभी इस मात्रा में हमारे द्वार आएँगे। गरीब की कुटी में तीन बोरे आकर आपने मुहल्ले में हमारी इज्जत काफी बढ़ायी है और हम आपको भीतर लाने में इसलिए देर कर रहे हैं कि लोग देख लें कि हमारे घर आप आए हैं। हम कैसे इस सौभाग्य को बटोरें? आपको कहाँ आसन दें? कभी हम आपको देखते हैं और कभी घर को देखते हैं। हमारे पास एक मन से अधिक की कोठी है ही नहीं। पता था कि कभी इस ठाठ से भी आप आएँगे।

हम सब अभिभूत थे। भाई ने ठेले पर से बोरे उतरवाकर बरामदे में रखवाए और एक हाथ कमर पर रख दूसरे से पसीना पोंछते हुए कुछ इस तरह मेरी ओर देखा मानो कह रहा हो, 'तुमने मुझे कभी किसी योग्य नहीं समझा। आज देखो, मेरी सामर्थ्य। तुम कभी इतना गेहूँ लाए?'—ठीक कहता है। मुझसे कभी यह नहीं बना। जो-जो मुझसे नहीं बना, वह सब भाई कर दिखा रहा है।

मैं अपने मन को इस नयी परिस्थिति के अनुकूल नहीं कर पा रहा हूँ। प्रसन्न हूँ, पर एक भयानक शिथिलता भी मेरे मन में है। वर्षों से जब-तब थोड़ी-थोड़ी मात्रा में गेहूँ के प्रबंध के प्रयत्न और चिंता का अभ्यासी मन आगामी कुछ महीनों की निश्चिंतता की कल्पना से सहम गया है। अपने प्रयत्नों को अब कौन राह मिलेगी? मैं सुखी भी हूँ और दुखी भी। निःसंतान के घर, उमर चढ़े, पुत्र हो पर प्रसव में स्त्री मर जाए, तो उसे कैसा लगेगा? अपनी सत्ता का एक भाग जो हमेशा गेहूँ में उलझा रहता था, एकदम बेकार हो गया और मुझे उस समय लगा कि जिस मात्रा में जी रहा था, उससे कुछ कम मात्रा में जीना पड़ेगा। मन के कितने ही कोठे हैं जिनमें जरूरतें भरी हैं—एक गेहूँ का कोठा है, एक वस्त्रों का, एक मकान का। आज गेहूँ का कोठा खाली हो गया। मन कुछ रीता हो गया।

मेरा एक दोस्त मुझसे कहा करता है—'पुराने ज़माने में किसी राजा के पास अगर एक महीने की रसद भी होती थी, तो वह दूसरे राज्य पर हमला कर देता था। तुम्हारे पास अगर एक हफ्ते की रसद हो, तो तुम सारी दुनिया पर हमला बोल देते हो।' उसका खयाल है कि मुझे बोरों की चाह नहीं है। लेकिन गलत है। चाह न होती, तो इन तीन बोरों को

द्वार पर देखकर कबीर की तरह माथा न ठोंक लेता—

> 'बूढ़ा बंस कबीर का, उपजे पूत कमाल!'

संचय के बिना भी जो बेखटके जी सके, ऐसा बिरला होता है। सामान्य आदमी के लिए यह तभी संभव है, जब उसके भाग की प्राप्ति निश्चित हो। ऐसी व्यवस्था में जहाँ अपना प्राप्य बिल्कुल अनिश्चित हो, कोई संतों की तरह कैसे जिए कि—

> चाह गयी चिंता घटी, मनुआ बेपरवाह ।
> जिनको कछु न चाहिए, ते शाहनपति शाह ।।

जिसे घर भरे बिना सुरक्षितता की अनुभूति होती है और जो निर्भय, निर्द्वंद्व जीता है, उसका मन कितने कठोर अनुशासन में से गुजरता होगा। कबीर था ऐसा, जो 'आठों पहर मस्तानमाता' रहता था क्योंकि 'काल को निचोरिकै अमृत' पीने का दम था उसमें। उसके लिए गेहूँ का बोरा छोटी चीज थी।

हमारे लिए नहीं। हमारे उस आदि पुरुष आदम ने गेहूँ के लिए स्वर्ग को लात मार दी थी। उसने गेहूँ खा लिया था तो उसे जन्नत से ही निकाल दिया गया। गेहूँ खाना इतना बड़ा अपराध कैसे हो गया? धर्म की नजर अकसर ऐसी विसंगत हो जाती है। जो पानी छानकर पीते हैं, वे आदमी का खून बिना छना पी जाते हैं। तब, जब गेहूँ के निर्यात पर प्रतिबंध था, एक जून का आटा अँगोछे में बाँधकर चलनेवाले किसान को सजा हो जाती थी और उधर हजारों बोरे गेहूँ रातों-रात सीमा पार हो जाता था, काले बाजार में बिकने के लिए। न्याय को अंधा कहा गया है—मैं समझता हूँ, न्याय अंधा नहीं, काना है, एक ही तरफ देख पाता है। आदम इस न्याय-धर्म का शिकार हुआ। स्वर्ग के निवासियों को गेहूँ खानेवाले से इतनी नफरत क्यों हुई? मुझे लगता है—स्वर्ग के वासियों ने सोचा होगा कि आदमी को गेहूँ का चसका लग गया है; अब यह गेहूँ पैदा करेगा, खेत जोतेगा, अनाज बोएगा, फसल काटेगा—यानी परिश्रम करेगा। वे स्वयं तो बिना खुद पैदा किया खाद्य खाते थे। जिन्हें पसीना सिर्फ गरमी और भय से आता है, वे श्रम के पसीने से बहुत डरते हैं। स्वर्ग के आलसी, निठल्ले, परोपजीवी निवासी, कर्मी मनुष्य से डरे होंगे और घबड़ाहट में उसे बाहर निकाल दिया होगा।

गेहूँ व्यर्थ बदनाम हुआ। उसका कोई अपराध नहीं। यहाँ तो उसने हमारी मनःस्थिति ही बदल डाली। मैंने बोरे में हाथ डालकर मुट्ठी-भर गेहूँ निकाला और देखकर कहा—'अच्छा है!' कुछ ऐसी अदा से राय जाहिर की, गोया जिंदगी-भर गेहूँ की दलाली करता रहा हूँ। मेरे एक प्रौढ़ मित्र, जो गेहूँ से लेकर राजनीति तक की दलाली करते हैं, मुझे निहायत बेवकूफ आदमी समझते हैं, क्योंकि मैं दलाली नहीं करता और जो करता हूँ, वह बहुत बेमतलब है। वे दलाली को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। पर मैं इस मौके पर बिल्कुल दलाल का अभिनय कर उठा। बहुत-से गेहूँ में हाथ डालने को मिले, इस लोभ में कोई भी दलाल हो सकता है।

इस गेहूँ में सबसे अच्छा गुण यह है कि यह इसी भूमि का है। आगे तो विदेशी गेहूँ

खाना पड़ेगा। गेहूँ के साथ न जाने किन-किन बीमारियों के कीटाणु चले आते हैं। बाहर से आनेवाले गेहूँ में एक खास जीवन-पद्धति के कीटाणु बड़ी संख्या में आ रहे हैं और इन कीटाणुओं को मारने की ताकत सिर्फ प्रतिफलित संस्कृति में होती है—उस संस्कृति में जो आचरण में प्रतिफलित हो गयी है। (किताब में लिखी हुई में नहीं)। जिनकी रोग-निवारण शक्ति कम है, वे बीमार भी पड़ रहे हैं। यों लोग विश्वास दिलाना चाहते हैं कि इस गेहूँ में कोई कीटाणु नहीं; यह शुद्ध है। पर हमें विश्वास नहीं, हम देख चुके हैं कि मेंचेस्टर से आनेवाले कपड़े में कहीं 'यूनियन ज़ैक' छिपा था, जो मौका पाते ही फहराने लगा। बड़ा डर लगता है, बाहर के गेहूँ से।

यह अपना गेहूँ बड़ा सुखदायी है। इसने जादू कर दिया है। कल भाई-बहन में किसी बात पर खटपट हो गयी थी। आज दोनों ने बोरे का एक-एक सिरा पकड़कर जब घसीटा, तो मन मिल गए। बोरा सेतु बन गया। बच्चे अधिक आज्ञाकारी और शिष्ट हो गए हैं। हम अधिक उदार भी हो गए हैं। टूटी संदूक कहारिन कई दिनों से माँग रही है और हम उसे टाल रहे हैं। आज उसे बिना माँगे ही दे दी।

गेहूँ के तीन बोरों ने ऐसा परिवर्तन कर दिया। मनुष्य-जीवन पर कितने ही मनीषियों ने, दार्शनिकों ने सोचा है और लिखा है, पर गेहूँ की बात अकसर भूल गए हैं। कुछ लोग गेहूँ की बात को 'भौतिक' कहकर मुँह चिढ़ाते हैं। अगर भौतिक बुरा है, तो सबसे बड़ी भौतिक क्रिया तो जन्म धारण करना ही है। तो भाई, भौतिकता से पिंड छुड़ाने के लिए मरते क्यों नहीं? उपनिषद् का वह ब्रह्मचारी मूर्ख नहीं था, जिसने छूटते ही कहा था कि अन्न ब्रह्म है। लेकिन अब कुछ लोग गेहूँ से गुलाब की ओर इस तरह ले जाते हैं, जैसे गेहूँ जरूरत से ज्यादा हो गया, इसलिए गुलाब की खेती करना चाहिए। जहाँ उजड़े हुए गेहूँ के खेत हों, वहाँ गुलाब की फसल किस काम आएगी? जिंदगी के बारे में जो सोचेगा वह भला गेहूँ को छोड़ देगा? सबसे पहले सोचेगा।

☯

विज्ञापन में बिकती नारी

अखबार में भविष्य-फल और विज्ञापन जरूर पढ़ता हूँ। जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें भी भविष्य-फल पढ़ना चाहिए। कभी-कभी फल में से भविष्य निकल पड़ता है, जैसे अकाल में से राहत-कार्य अधिकारियों के बँगले निकल पड़ते हैं। मेरी राशि के सामने लिखा रहता है, 'इस सप्ताह आर्थिक तंगी रहेगी, पर पैसे का प्रबंध हो जाएगा।' मेरे और भारत सरकार के ग्रह एक-से पड़े हैं। उसका भी यही स्थायी भविष्य-फल है, आर्थिक तंगी रहेगी, पर पैसे का इंतजाम हो जाएगा। मैं पास का पैसा खर्च करने निकल पड़ता हूँ। तंगी होगी तब पैसे का इंतजाम होगा—ऐसा ज्योतिषी कहते हैं। तंगी ही न होगी, तो ग्रह क्यों इंतजाम करेंगे!

भारत सरकार तंगी पैदा करती है, तो ग्रह कहीं अमरीका के, कहीं रूस के, कहीं विश्व-बैंक के पीछे पड़कर पैसे का इंतजाम करवा देते हैं।

उस दिन भविष्य-फल पढ़ते ही मैं तंगी पैदा करने निकल पड़ा। पास में कुछ रुपये थे। ये अगर बने रहे, तो ग्रह कहीं से पैसा नहीं दिलवाएँगे। मैंने तय किया, एक पंखा खरीदकर तंगी पैदा कर ली जाए। मैंने अखबार में पंखों के विज्ञापन देखे। हर कंपनी के पंखे के सामने स्त्री है। एक पंखे से उसकी साड़ी उड़ रही है और दूसरे से उसके केश। एक विज्ञापन में तो सुंदरी पंखे के फलक पर ही बैठी हुई है। मुझे डर लगा, कहीं किसी ने स्विच दबा दिया तो? ऐसी बदमाशियाँ आजकल होती रहती हैं। मैं सुंदरी के लिए बहुत चिंतित हुआ। पिछले साल मेरा एक महीना ऐसी ही चिंता में कटा था। एक पत्रिका ने मुखपृष्ठ सजाने के लिए चित्र छापा था—तीसरी मंजिल की खिड़की पर स्त्री पैर लटकाए बैठी है। मैं परेशान हो गया। ज़रा झोंका आए तो यह गिर पड़ेगी। रात को एकाएक नींद खुल जाती और मैं सोचता—पता नहीं उसका क्या हुआ! कहीं गिर तो नहीं पड़ी। अगला अंक जब आया और मैंने देख लिया कि लड़की उतर गयी है, तब चैन पड़ा।

सोचा, यही पंखा खरीद लूँ। स्त्री को उतारकर घर पहुँचा दूँ और कहूँ—बहनजी, इस तरह पंखे पर नहीं बैठा करते। पंखे तो बिक ही जाएँगे। तुम उनके लिए जान जोखिम में क्यों डालती हो?

मैंने बहुत पंखे देखे। किसी के सामने कोई पुरुष बैठा हुआ हवा नहीं ले रहा है। कोई पंखा कोई पुरुष इसलिए क्यों खरीद ले कि उससे सुंदर स्त्री की साड़ी उड़ रही है? अगर उसका पुरुष पर कोई असर न हो तो? धोखा हो जाएगा।

लेकिन कमोबेश हर चीज का यही हाल है। टूथपेस्ट के इतने विज्ञापन हैं, मगर हर एक में स्त्री ही 'उजले दाँत' दिखा रही है। एक भी ऐसा मंजन बाजार में नहीं है, जिससे पुरुष के दाँत साफ हो जाएँ। या कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस देश का आदमी मुँह साफ करता ही नहीं है। यह सोचकर बड़ी घिन आयी कि ऐसे लोगों के बीच में रहता हूँ, जो मुँह भी साफ नहीं करते।

इस विज्ञापन में लड़के ने एक खास साइकिल खरीद ली है। पास ही लड़की खड़ी है। बड़े प्रेम से उसे देखकर मुसकरा रही है। अगर लड़का दूसरी कंपनी की साइकिल खरीद लेता, तो लड़की उससे कहती—हटो, हम तुमसे नहीं बोलते। तुमने अमुक साइकिल नहीं खरीदी।

यह एक और लड़की है, जो प्रेमी को एक खास सिगरेट पिलवा रही है। वह सिगरेट पी रहा है और यह मुग्ध-भाव से देख रही है—तू यह मत समझ लेना कि मैं तेरे रूप और गुण पर मुग्ध हूँ। मैं तो इसलिए तुझे प्यार करने आयी हूँ कि तू यह सिगरेट पीता है।

ये चार-पाँच सुंदरियाँ उस युवक की तरफ एकटक देख रही हैं।

—सुंदरियो, तुम उस युवक पर क्यों मुग्ध हो? वह सुंदर है, इसलिए?

—नहीं, वह अमुक मिल का कपड़ा पहने है, इसलिए। वह किसी दूसरी मिल का

कपड़ा पहन ले, तो हम उसकी तरफ देखेंगी भी नहीं। हम मिल की तरफ से मुग्ध होने की ड्यूटी पर हैं।

सुंदरी को ट्रक और टायर से क्या मतलब? मगर इस विज्ञापन में ट्रक खड़ा है, ट्रक के मालिक सरदारजी खड़े हैं, एक टायर रखा है और सुंदरी इशारा कर रही है कि वह टायर लगाओ। यह बात बरदाश्त नहीं की जा सकती। पेस्ट, कपड़ा, सिगरेट में दखलंदाजी चल सकती है, मगर ट्रक का मामला खतरनाक है। ट्रक को अमृतसर से बंबई गेहूँ भरकर ले जाना है। अगर स्त्री के कहने से रद्दी टायर लगा लिया और वह कहीं बीच जंगल में धोखा दे गया, तो सरदारजी का क्या होगा? इसकी जिम्मेदारी किस पर?

मैंने कोई विज्ञापन ऐसा नहीं देखा जिसमें पुरुष स्त्री से कह रहा हो कि यह साड़ी या यह स्नो खरीद ले। अपनी चीज वह खुद पसंद करती है, मगर पुरुष की सिगरेट से लेकर टायर तक में दखल देती है।

ऐसा लगता है, सारी अर्थव्यवस्था पर नारी-सौंदर्य ने कब्जा कर रखा है।

मैं नहीं जानता, स्त्रियाँ इन विज्ञापनों में अपने 'रोल' के बारे में क्या सोचती हैं। मगर इनसे ये निष्कर्ष निकलते हैं :

- इस देश की सारी सुंदर स्त्रियाँ कंपनियों की नौकरानियाँ हैं। उनका काम कंपनी की तरफ से पुरुष को फुसलाना है।
- सुंदर स्त्री के जीवन का महान उद्देश्य है : किसी कारखाने का माल बिकवाना।
- सौंदर्य की परिभाषा : सौंदर्य स्त्री की वह मोहिनी शक्ति है, जिसके वशीभूत होकर पुरुष रद्दी सामान खरीद लेता है।
- इस देश का पुरुष बौड़म है। उसे किसी चीज की परख नहीं है। उसमें सुरुचि का भी अभाव है।
- स्त्री सिगरेट और टायर के मामले में भी विशेषज्ञ होती है।
- इस देश का पुरुष स्त्री का गुलाम है। वह जो चीज बता देती है, उसी को खरीद लेता है।
- स्त्री अपने उपयोग के किसी सामान में पुरुष को दखल नहीं देने देती। वह साड़ी अपनी इच्छा से खरीदेगी, मगर पुरुष को टायर अपनी इच्छा से नहीं खरीदने देगी।
- कोई सुंदर स्त्री किसी पुरुष से सच्चा प्रेम नहीं करती। वे उसी पुरुष से प्रेम करने लगती है, जो उसकी बतायी कंपनी का माल खरीदता है।
- सच्चा प्रेम सिर्फ कुरूप स्त्रियाँ करती हैं, क्योंकि वे किसी कंपनी का माल नहीं बिकवातीं।

अब सिर्फ कुरूप स्त्री भरोसे के लायक रह गयी। सुंदरी का कोई भरोसा नहीं। कोई सुंदरी अगर मेरी तरफ मुग्ध होकर देखती है, तो मैं समझ जाता हूँ कि मैं उस कंपनी के जूते पहने हूँ, जिसकी तरफ से यह मुग्ध होने की ड्यूटी कर रही है। अगर कोई सुंदरी पुरुष से लिपट जाए तो यह सोचना भ्रम है कि वह तुमसे लिपट रही है। वह शायद रामप्रसाद

मिल्स के सूट के कपड़े से लिपट रही है। अगर कोई सुंदरी तुम्हारे पाँवों की तरफ देख रही है, तो वह 'सतयुगी समर्पिता' नारी नहीं है, जिसके लिए कहा गया है—'एकहि धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा।' वह तुम्हारे पाँवों में पड़े धर्मपाल शू कंपनी के जूते पर मुग्ध है। सुंदरी आँखों में देखे, तो जरूरी नहीं कि वह आँख मिला रही है। वह शायद 'नेशनल आप्टिशियंस' के चश्मे से आँख मिला रही है। प्रेम व सौंदर्य का सारा स्टॉक कंपनियों ने खरीद लिया है। अब ये उन्हीं के मारफत मिल सकते हैं।

घायल वसंत

कल वसंतोत्सव था। कवि वसंत के आगमन की सूचना पा रहा था—'प्रिय, फिर आया मादक वसंत।'

मैंने सोचा, जिसे वसंत के आने का बोध भी अपनी तरफ से कराना पड़े, उस प्रिय से तो शत्रु अच्छा। ऐसे नासमझ को प्रकृति-विज्ञान पढ़ाएँगे या उससे प्यार करेंगे। मगर कवि को न जाने क्यों ऐसा बेवकूफ पसंद आता है।

कवि मग्न होकर गा रहा था—
'प्रिय, फिर आया मादक वसंत।'

पहली पंक्ति सुनते ही मैं समझ गया कि इस कविता का अंत 'हा हंत' से होगा, और हुआ। अत, संत, दिगंत आदि के बाद सिवा 'हा हंत' के कौन पद पूरा करता? तुक की यही मजबूरी है। लीक के छोर पर यही गहरा गढ़ा होता है। तुक की गुलामी करोगे तो आरंभ चाहे 'वसंत' से कर लो, अंत जरूर 'हा हंत' से होगा। सिर्फ कवि ऐसा नहीं करता। और लोग भी, सयाने लोग भी, इस चक्कर में होते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में तुक पर तुक बिठाते चलते हैं और 'वसंत' से शुरू करके 'हा हंत' पर पहुँचते हैं। तुकें बराबर फिट बैठती हैं, पर जीवन का आवेग निकल भागता है। तुकें हमारा पीछा छोड़ ही नहीं रही हैं। हाल ही में हमारी समाजवादी सरकार के अर्थमंत्री ने दबा सोना निकालने की जो अपील की, उसकी तुक शुद्ध सर्वोदय से मिलायी—'सोना दबानेवालो, देश के लिए स्वेच्छा से सोना दे दो।' तुक उत्तम प्रकार की थी; साँप तक का दिल नहीं दुखा। पर सोना चार हाथ और नीचे चला गया। आखिर कब हम तुक को तिलांजलि देंगे? कब बेतुका चलने की हिम्मत करेंगे?

कवि ने कविता समाप्त कर दी थी। उसका 'हा हंत' आ गया था। मैंने कहा, 'धत्तेरे की!' 7 तुकों में ही टें बोल गया। राष्ट्रकवि इस पर कम-से-कम 51 तुकें बाँधते। 9 तुकें तो उन्होंने 'चक्र' पर बाँधी हैं। (देखो 'यशोधरा' पृष्ठ 13)। पर तू मुझे क्या बताएगा कि वसंत आ गया। मुझे तो सुबह से ही मालूम है। सवेरे वसंत ने मेरा दरवाजा भी खटखटाया

था। मैं रजाई ओढ़े सो रहा था। मैंने पूछा—'कौन?' जवाब आया—'मैं वसंत।' मैं घबड़ा उठा। जिस दूकान से सामान उधार लेता हूँ, उसके नौकर का नाम भी वसंतलाल है। वह उधारी वसूल करने आया था। कैसा नाम है, और कैसा काम करना पड़ता है इसे! इसका नाम पतझड़दास या तुषारपात होना था। वसंत अगर उधारी वसूल करता फिरता है, तो किसी दिन आनंदकर थानेदार मुझे गिरफ्तार करके ले जाएगा और अमृतलाल जल्लाद फाँसी पर टाँग देगा!

वसंतलाल ने मेरा मुहूर्त बिगाड़ दिया। इधर से कहीं ऋतुराज वसंत निकलता होगा, तो वह सोचेगा कि ऐसे के पास क्या जाना जिसके दरवाजे पर सवेरे से उधारीवाले खड़े रहते हैं! इस वसंतलाल ने मेरा मौसम ही खराब कर दिया।

मैंने उसे टाला और फिर ओढ़कर सो गया। आँखें झँप गयीं। मुझे लगा, दरवाजे पर फिर दस्तक हुई। मैंने पूछा—'कौन?' जवाब आया—'मैं वसंत!' मैं खीझ उठा—'कह तो दिया कि फिर आना।' उधर से जवाब आया—'मैं बार-बार कब तक आता रहूँगा ? मैं किसी बनिए का नौकर नहीं हूँ; ऋतुराज वसंत हूँ। आज तुम्हारे द्वार पर फिर आया हूँ और तुम फिर सोते मिले हो। अलाल, अभागे, उठकर बाहर तो देख। ठूँठों ने भी नव पल्लव पहन रखे हैं। तुम्हारे सामने की नीम प्रौढ़ा तक नवोढ़ा-से हाव-भाव कर रही है—और बहुत भद्दी लग रही है।'

मैंने मुँह उघाड़कर कहा—'भई, माफ करना, मैंने तुम्हें पहचाना नहीं। अपनी यही विडंबना है कि ऋतुराज वसंत भी आए, तो लगता है, उधारी के तगादेवाला आया। उमंगें तो मेरे मन में भी हैं, पर यार, ठंड बहुत लगती है।' वह जाने के लिए मुड़ा। मैंने कहा—'जाते-जाते एक छोटा-सा काम मेरा करते जाना। सुना है तुम ऊबड़-खाबड़ चेहरों को चिकना कर देते हो; 'फेसलिफ्टिंग' के अच्छे कारीगर हो तुम। तो ज़रा यार, मेरी सीढ़ी ठीक करते जाना, उखड़ गयी है।'

उसे बुरा लगा। बुरा लगने की बात है। जो सुंदरियों के चेहरे सुधारने का कारीगर है, उससे मैंने सीढ़ी सुधारने के लिए कहा। वह चला गया।

मैं उठा और शाल लपेटकर बाहर बरामदे में आया। हजारों सालों के संचित संस्कार मेरे मन पर लदे हैं; टनों कवि-कल्पनाएँ जमी हैं। सोचा, वसंत है तो कोयल होगी ही। पर न कहीं कोयल दिखी न उसकी कूक सुनायी दी। सामने की हवेली के कंगूरे पर बैठा कौआ 'काँव-काँव' कर उठा। काला, कुरूप, कर्कश कौआ—मेरी सौंदर्य-भावना को ठेस लगी। मैंने उसे भगाने के लिए कंकड़ उठाया। तभी खयाल आया कि एक परंपरा ने कौए को भी प्रतिष्ठा दे दी है। यह विरहणी को प्रियतम के आगमन का सँदेसा देनेवाला माना जाता है। सोचा, कहीं यह आसपास की किसी विरहणी को प्रिय के आने का सगुन न बता रहा हो। मैं विरहणियों के रास्ते में कभी नहीं आता; पतिव्रताओं से तो बहुत डरता हूँ। मैंने कंकड़ डाल दिया। कौआ फिर बोला। नायिका ने सोने से उसकी चोंच मढ़ाने का वायदा कर दिया होगा। शाम की गाड़ी से अगर नायक दौरे से वापस आ गया, तो कल नायिका बाजार से आनेवाले

सामान की जो सूची उसके हाथ में देगी, उसमें दो तोले सोना भी लिखा होगा। नायक पूछेगा—'प्रिये, सोना तो अब काला बाजार में मिलता है। लेकिन अब तुम सोने का करोगी क्या?' नायिका लजाकर कहेगी—'उस कौए की चोंच मढ़ाना है, जो कल सवेरे तुम्हारे आने का सगुन बता गया था।' तब नायक कहेगा—'प्रिये, तुम बहुत भोली हो। मेरे दौरे का कार्यक्रम यह कौआ थोड़े ही बनाता है; वह कौआ बनाता है जिसे हम 'बड़ा साहब' कहते हैं। इस कलूटे की चोंच सोने से क्यों मढ़ाती हो? हमारी दुर्दशा का यही तो कारण है कि तमाम कौए सोने से चोंच मढ़ाए हैं, और इधर हमारे पास हथियार खरीदने को सोना नहीं है। हमें तो कौओं की चोंच से सोना खरोंच लेना है। जो आनाकानी करेंगे, उनकी चोंच काटकर सोना निकाल लेंगे। प्रिये, वह बड़ी गलत परंपरा है, जिसमें हंस और मोर की चोंच तो नंगी रहे, पर कौए की चोंच पर सुंदरी खुद सोना मढ़े!' नायिका चुप हो जाएगी। स्वर्ण-नियंत्रण कानून से सबसे ज्यादा नुकसान कौओं और विरहणियों का हुआ है। अगर कौए ने 14 कैरट के सोने से चोंच मढ़ाना स्वीकार नहीं किया, तो विरहणी को प्रिय के आगमन की सूचना कौन देगा?

कौआ फिर बोला। मैं इससे युगों से घृणा करता हूँ; तब से, जब इसने सीता के पाँव में चोंच मारी थी। राम ने अपने हाथ से फूल चुनकर, उनके आभूषण बनाकर सीता को पहनाए। इसी समय इंद्र का बिगड़ैल बेटा जयंत आवारागर्दी करता वहाँ आया और कौआ बनकर सीता के पाँव में चोंच मारने लगा। ये बड़े आदमी के बिगड़ैल लड़के हमेशा दूसरों का प्रेम बिगाड़ते हैं। यह कौआ भी मुझसे नाराज है क्योंकि मैंने अपने घर के झरोखों में गौरैयों को घोंसले बना लेने दिए हैं।

पर इस मौसम में कोयल कहाँ है? वह अमराई में होगी। कोयल से अमराई छूटती नहीं है, इसलिए इस वसंत में कौए की बन आयी है। वह तो मौकापरस्त है; घुसने के लिए पोल ढूँढ़ता है। कोयल ने उसे जगह दे दी है। वह अमराई की छाया में आराम से बैठी है। और इधर हर ऊँचाई पर कौआ 'काँव-काँव' कर रहा है। मुझे कोयल के पक्ष में उदास पुरातन प्रेमियों की आह भी सुनायी देती है—'हाय, अब वे अमराइयाँ यहाँ कहाँ हैं कि कोयलें बोलें। यहाँ तो ये शहर बस गए हैं और कारखाने बन गए हैं।' मैं कहता हूँ कि सर्वत्र अमराइयाँ नहीं हैं, तो ठीक ही नहीं हैं। आखिर हम कब तक जंगली बने रहते? मगर अमराई और कुंज और बगीचे भी हमें प्यारे हैं। हम कारखाने को अमराई से घेर देंगे और हर मुहल्ले में बगीचा लगा देंगे। अभी थोड़ी देर है। पर कोयल को धीरज के साथ हमारा साथ तो देना था। कुछ दिन धूप तो हमारे साथ सहना था। जिसने धूप में साथ नहीं दिया, वह छाया कैसे बँटाएगी? जब हम अमराई बना लेंगे, तब क्या वह उसमें रह सकेगी? नहीं, तब तक तो कौए अमराई पर कब्जा कर लेंगे। कोयल को अभी आना चाहिए। अभी जब हम मिट्टी खोदें, पानी सींचें और खाद दें, तभी से उसे गाना चाहिए।

कौआ फिर बोला। विरहणी की भावना का खयाल करके मैं सह रहा हूँ।

मैं बाहर निकल पड़ता हूँ। चौराहे पर पहली वसंती साड़ी दिखी। मैं उसे जानता हूँ।

यौवन की एड़ी दिख रही है—वह जा रहा है—वह जा रहा है। अभी कुछ महीने पहले ही शादी हुई है। मैं तो कहता आ रहा था कि चाहे कभी ले, 'रूखी री यह डाल वसन वासंती लेगी'—(निराला)। उसने वसन वासंती ले लिया। कुछ हजार में उसे यह बूढ़ा हो रहा पति मिल गया। वह भी उसके साथ है। वसंत का अंतिम चरण और पतझड़ साथ जा रहे हैं। उसने माँग में बहुत-सा सिंदूर चुपड़ रखा है। जिसकी जितनी मुश्किल से शादी होती है, वह बेचारी उतनी ही बड़ी माँग भरती है। उसने बड़े अभिमान से मेरी तरफ देखा। फिर पति को देखा। उसकी नजर में ठसक और ताना है, जैसे अँगूठा दिखा रही है कि ले, मुझे तो यह मिल ही गया। मगर यह क्या? वह ठंड से काँप रही है और 'सीसी' कर रही है। वसंत में वासंती साड़ी को कँपकँपी छूट रही है।

यह कैसा वसंत है जो शीत के डर से काँप रहा है? क्या कहा था विद्यापति ने—'सरस वसंत समय भल पाओलि दछिन पवन बहु धीरे!' नहीं मेरे कवि, दक्षिण से मलय पवन नहीं बह रहा। यह उत्तर से बर्फीली हवा आ रही है। हिमालय के उस पार से आकर इस बर्फीली हवा ने हमारे वसंत का गला दबा दिया है।[1] हिमालय के पार बहुत-सा बर्फ बनाया जा रहा है जिसमें सारी मनुष्य जाति को मछली की तरह जमाकर रखा जाएगा। यह बड़ी भारी साजिश है—बर्फ की साजिश! इसी बर्फ की हवा ने हमारे आते वसंत को दबा रखा है।

यों हमें विश्वास है कि वसंत आएगा। शैली ने कहा है—अगर शीत आ गयी है, तो क्या वसंत बहुत पीछे होगा? वसंत तो शीत के पीछे लगा हुआ ही आ रहा है। पर उसके पीछे गरमी भी तो लगी है। अभी उत्तर से शीत-लहर आ रही है तो फिर पश्चिम से लू भी तो चल सकती है।[2] बर्फ और आग के बीच में हमारा वसंत फँसा है। इधर शीत उसे दबा रही है और उधर से गरमी। और वसंत सिकुड़ता जा रहा है।

मौसम की मेहरबानी पर भरोसा करेंगे, तो शीत से निपटते-निपटते लू तंग करने लगेगी। मौसम के इंतजार से कुछ नहीं होगा। वसंत अपने-आप नहीं आता; उसे लाया जाता है। सहज आनेवाला तो पतझड़ होता है, वसंत नहीं। अपने-आप तो पत्ते झड़ते हैं। नये पत्ते तो वृक्ष का प्राण-रस पीकर पैदा होते हैं। वसंत यों नहीं आता। शीत और गरमी के बीच से जो जितना वसंत निकाल सके, निकाल ले। दो पाटों के बीच में फँसा है, देश का वसंत। पाट और आगे खिसक रहे हैं। वसंत को बचाना है तो जोर लगाकर इन दोनों पाटों को पीछे ढकेलो—इधर शीत को, उधर गरमी को। तब बीच में से निकलेगा हमारा घायल वसंत।

---

[1] चीन की युद्ध और शांति संबंधी नीति और भारत की सीमा पर 1962 में चीनी हमला।

[2] पाकिस्तान।

अपनी-अपनी हैसियत

अखबार खत्म हो जाता है तो विज्ञापन पढ़ने लगता हूँ। यों अखबारों में होता भी क्या है ? रोज-रोज वही-वही समाचार—उसने पैसा खाया था, उसकी पोल खुल गयी, उसकी तलाशी हो गयी, वह गिरफ्तार हो गया। मैं न तब उन केंद्रों के इर्द-गिर्द था जहाँ पैसे खाए जाते थे और न अब उन केंद्रों के इर्द-गिर्द हूँ जो पोल खोल रहे हैं। मैं वहाँ भी कहीं नहीं हूँ जहाँ पैसे खाने के नये अड्डे खुल गए हैं। यानी अपने जमाने के इतिहास के निर्माण में अपना कोई योगदान नहीं है। मेरे हिस्से में सिर्फ इतिहास की कसम खाने का काम पड़ा है। तो समाचारों पर सरसरी निगाह डालकर मैं विज्ञापन पढ़ने लगता हूँ—खासकर दिल्ली के होटलों के। इसमें बड़ा रस आता है। अशोक होटल में फ्रेंच पकवान। वाह! जनपथ होटल के गुलनार रेस्तराँ में मुगलाई भोजन। अकबर होटल में बार-ए-कबाब! पढ़ते-पढ़ते लगता है मेरे मुँह में चिकन मुगलाई घुस गया है और—मैं इस स्वाद के साथ घर की दाल-रोटी खा लेता हूँ। वंचित की यही 'संपूर्ण क्रांति' होती है कि वह अपनी दाल-रोटी के साथ कल्पना में अशोक होटल चबाकर संतुष्ट और चुप हो जाए।

आज सब होटलों में जीम चुका तो एक खास विज्ञापन पर ध्यान दिया। ऐसा कोई विज्ञापन रोज ही छपता है पर पहले मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया था। विज्ञापन में अक्सर किसी वृद्ध का चित्र होता है। मैं समझता था यह 'गुमशुदा की तलाश' का विज्ञापन होगा, जैसा उन लड़कों के बारे में छपता है जो फिल्मी हीरो बनने बंबई भाग जाते हैं। बूढ़े भी घर से भागने लगे, मैं सोचता। लड़कों ने छपाया होगा—पिताजी, आप जहाँ भी हों लौट आइए। आप गए हैं तब से माँ की हालत बहुत खराब है। (इस वाक्य को पढ़कर तो बुढ़ऊ कभी नहीं लौटेंगे)

नहीं! बुढ़ऊ भागे नहीं हैं। ऊपर बड़े अक्षरों में छपा है—इन मेमोरियम—याने स्मृति में! नीचे बुढ़ऊ के बेटों के नाम हैं। साथ ही कंपनी का नाम-पता और फोन नंबर है, जिससे वृद्ध की याद में किसी को रोना आ जाए तो वह फौरन कंपनी से सामान खरीद ले। दुख दूर हो जाएगा।

ये कोई लालाजी थे। लाला ने कोई कंपनी खोल डाली थी। अच्छा किया। लाला कोई बाल काटने की दूकान थोड़े ही खोलते। लालाजी की यह कंपनी खूब चल निकली। यह भी शुभ हुआ, वरना बेटों को बाप की खर्चीली अखबारी याद का कोई कारण नहीं होता। इसी तारीख को लालाजी की मृत्यु हुई थी। यह भी अच्छा हुआ—क्या पता आगे कंपनी डूब भी सकती थी। लालाजी की कंपनी की बेटों ने खूब तरक्की की। सपूत ऐसे ही होते हैं। बेटे लालाजी को आज ऐलानिया याद कर रहे हैं। क्यों नहीं। ऐसा बाप ही तो याद करने लायक होता है जो कंपनी जमाकर फौरन दुनिया छोड़ दे। लालाजी गए कहाँ? लड़कों को यह भी ठीक मालूम है। छपा है—हू लेफ्ट फार हिज हेवनली एबोड—याने जो अपने स्वर्गीय निवास को पधार गए। स्वर्ग में लालानगर कालोनी का बँगला नंबर पाँच लालाजी के लिए

पहले से रिजर्व होगा।

मेरे पिता की मृत्यु को भी कई साल हो गए। मुझे अभी तक पता नहीं कि वे कहाँ हैं? स्वर्ग में या नरक में? पुनर्जन्म हो गया या कहीं नहीं हैं? मुझे उनकी याद में उनका फोटो छपाने की भी प्रेरणा नहीं हुई, क्योंकि वे धंधा जमाकर नहीं, उजाड़कर मृत्यु को प्राप्त हुए थे। उन्होंने सही पितापन स्थापित ही नहीं किया। लालाजी ने सही पितापन स्थापित करके यह असार संसार छोड़ा और सार-रूप धंधा जमा गए। लालाजी स्वर्गीय हो गए और मेरे पिता सिर्फ मरे। अंग्रेजी में मरे को 'दी लेट' कह देते हैं। हम उसे 'स्वर्गीय' या 'दिवंगत' कहते हैं। विश्वासों और संस्कारों का छल भाषा में आ ही जाता है।

बेटों को क्या पक्का पता है? मुझे शक है। शायद लालाजी का पुनर्जन्म हो चुका है। मनुष्य जन्म दुबारा चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद मिलता है। लालाजी इतने जल्दी मनुष्य तो बने न होंगे। हो सकता है श्वान योनि में चले गए हों और अपने कारखाने के फाटक पर ही हों। बेटों को क्या पता कि वे जो कारखाने के फाटक पर भौंकते हैं, वे पूज्य पिताजी ही हैं। वे मजमून नहीं पढ़ेंगे और घबराहट में अखबार छिपा लेंगे कि कहीं कोई देवता इनाम के लोभ में उन्हें पकड़वा न दे।

ये बेटे लालाजी को क्यों दुखी और परेशान करते हैं।

इस अखबार को उस कारखाने के कर्मचारी भी देखेंगे। वे शायद कहें—यही है वह दुष्ट लाला। मजदूरों का खून चूसता था। कितनी कम तनखा देता था और कितना काम लेता था। मजदूर एक दिन बीमार पड़ जाए तो पैसा काट लेता था। अब रौरव नर्क भोग रहा होगा।

व्यापारी भी इसे देखेंगे। वे शायद कहें—अरे, आज सवेरे किसका मुँह देख लिया। अरे, इस लाला ने जिसका पैसा लिया, वापस नहीं किया। इसके नाम को कई लेनदार रो रहे हैं।

मेरी सलाह मानते तो मैं इन पिता-भक्तों से कहता—उमर-दराज, पिताजी की फोटो इस तरह मत छपाया करो। लोग उनके बारे में बुरी-बुरी बातें कहते हैं। उनकी दबी हुई बदनामी उभर आती है।

पर लड़के मेरी बात नहीं मानते। पिता का फोटो छपाना उनके लिए सजावट और विज्ञापन है। जिस दिन लालाजी मरे उस दिन उनका फोटो छपाना लड़कों के लिए वैसा ही है जैसे दिवाली पर नया रंगीन साइन-बोर्ड बनवाना। वरना लालाजी को कौन जानता? किसे मतलब है कि उन्होंने कौन-सा पराक्रम किया। किसे इससे गरज है कि वे मरे कि नहीं और कब मरे। मगर लड़कों ने लालाजी की याद को राष्ट्रीय महत्त्व दे डाला।

पैसा ऊपर हो जाता है तो वह अपना रूप प्रकट करना चाहता है। वह अकुलाता है कि मैं हूँ और दिख नहीं रहा हूँ। मैं अपने को अभिव्यक्त करूँ। और पैसा इस तरह फूटकर प्रकट हो जाता है जैसे पके फोड़े का मवाद।

फूहड़पन के लिए भी हैसियत चाहिए। मेरी हैसियत नहीं है तो लालाजी के बेटों पर

हँस रहा हूँ। पैसा और फूहड़पन दोनों आ जाएँ तो मैं गहरा रंग खरीदकर चेहरे को रँगवा लूँ—एक गाल पीला, दूसरा लाल, नाक हरी, कपाल नीला।

मेरे सामने एक पैसेवाले युवक की शादी का निमंत्रण-पत्र रखा है। कई रंगों का है। इतने गहरे रंग हैं कि पढ़ा नहीं जाता कि शादी के बारे में लिखा है या श्राद्ध के। वर की तस्वीरें भी हैं—बैठे हुए, सोचते हुए, लिखते हुए, सितार बजाते हुए। मुझे मालूम है यह युवक लेन-देन के मामलों में एक बार पिट भी चुका है। एक फोटो इसका भी छपना था—वर जूते खाते हुए। इस निमंत्रण-पत्र को देखकर मतली आती है। फोड़ा पककर फूट गया है और मवाद बिखर रहा है।

कल इधर एक बारात आयी थी। मजदूरों के सिर पर कई गैस-बत्तियाँ रखी थीं। दूल्हे की सजावट ऐसी कि वधू को उसे देखकर उल्टी हो जाए। दो बैंड और इनके साथ ही लाउडस्पीकर। बड़ा घमासान कोलाहल। बारातियों को विभिन्न रंगों से पोत दिया होता तो अच्छा होता।

मेरी दीवार पर एक कैलेंडर टँगा था जो मैंने निकलवा दिया। बड़े व्यापारी का कैलेंडर था। उसमें धन की देवी लक्ष्मी फूल पर बैठी हैं। फूल में सौंदर्य होता है, गंध होती है, कोमलता होती है। मगर ये लक्ष्मी फूल को कुर्सी समझकर उस पर बैठी हैं। धन की देवी हैं न। जब इनका यह हाल है तो देवी के कृपापात्र फूहड़पन क्यों नहीं करेंगे, फिर भी मैं कहता हूँ—देवी, तू अपनी बैठक बदल दे। सिंहासन पर बैठ और हाथ में फूल ले ले। या फूल जूड़े में खोंस ले। फिर तू जिसे चाहे धन दे। मगर उसके साथ ही थोड़ी-सी सुरुचि एकाध किलोग्राम दे दिया कर इससे इन्फेक्शन नहीं होगा और संपन्नता के फोड़े से बदबूदार मवाद नहीं बहेगा।

◆

विकलांग श्रद्धा का दौर

अभी-अभी एक आदमी मेरे चरण छूकर गया है। मैं बड़ी तेजी से श्रद्धेय हो रहा हूँ, जैसे कोई चलतू औरत शादी के बाद बड़ी फुर्ती से पतिव्रता होने लगती है। यह हरकत मेरे साथ पिछले कुछ महीनों से हो रही है कि जब-तब कोई मेरे चरण छू लेता है। पहले ऐसा नहीं होता था। हाँ, एक बार हुआ था, पर वह मामला वहीं रफा-दफा हो गया। कई साल पहले एक साहित्यिक समारोह में मेरी ही उम्र के एक सज्जन ने सबके सामने मेरे चरण छू लिए। वैसे चरण छूना अश्लील कृत्य की तरह अकेले में ही किया जाता है। पर वह सज्जन सार्वजनिक रूप से कर बैठे, तो मैंने आसपास खड़े लोगों की तरफ गर्व से देखा—तिलचट्टो, देखो मैं श्रद्धेय हो गया। तुम घिसते रहो कलम।… पर तभी उस श्रद्धालु ने मेरा पानी उतार दिया। उसने कहा, ''अपना तो नियम है कि गौ, ब्राह्मण, कन्या के चरण जरूर छूते हैं।'' यानी

उसने मुझे बड़ा लेखक नहीं माना था। बम्हन माना था।

श्रद्धेय बनने की मेरी इच्छा तभी मर गयी थी। फिर मैंने श्रद्धेयों की दुर्गति भी देखी। मेरा एक साथी पी.-एच. डी. के लिए रिसर्च कर रहा था। डॉक्टरेट अध्ययन और ज्ञान से नहीं, आचार्य-कृपा से मिलती है। आचार्यों की कृपा से इतने 'डॉक्टर' हो गए हैं कि बच्चे खेल-खेल में पत्थर फेंकते हैं तो किसी डॉक्टर को लगता है। एक बार चौराहे पर यहाँ पथराव हो गया। पाँच घायल अस्पताल में भर्ती हुए और वे पाँचों हिंदी के 'डॉक्टर' थे। नर्स अपने अस्पताल के डॉक्टर को पुकारती : 'डॉक्टर साहब', तो बोल पड़ते थे ये हिंदी के डॉक्टर।

मैंने खुद कुछ लोगों के चरण छूने के बहाने उनकी टाँग खींची है। लँगोटी धोने के बहाने लँगोटी चुरायी है। श्रद्धेय बनने की भयावहता मैं समझ गया था। वरना मैं समर्थ हूँ। अपने आपको कभी का श्रद्धेय बना लेता। मेरे ही शहर में कालेज के एक अध्यापक थे। उन्होंने अपने नेमप्लेट पर खुद ही 'आचार्य' लिखवा लिया था। मैं तभी समझ गया था कि इस फूहड़पन में महानता के लक्षण हैं। आचार्य बंबई-वासी हुए और वहाँ उन्होंने अपने को 'भगवान रजनीश' बना डाला। आजकल वह फूहड़ से शुरू करके मान्यता-प्राप्त भगवान हैं। मैं भी अगर नेम-प्लेट में नाम के आगे 'पंडित' लिखवा लेता तो कभी का 'पंडितजी' कहलाने लगता।

सोचता हूँ, लोग मेरे चरण अब क्यों छूने लगे हैं। यह श्रद्धा एकाएक कैसे पैदा हो गयी? पिछले महीनों में मैंने ऐसा क्या कर डाला? कोई खास लिखा नहीं है। कोई साधना नहीं की। समाज का कोई कल्याण भी नहीं किया। दाढ़ी नहीं बढ़ायी। भगवा भी नहीं पहना। बुजुर्गी भी कोई नहीं आयी। लोग कहते हैं, ये वयोवृद्ध हैं। और चरण छू लेते हैं। वे अगर कमीने हुए तो उनके कमीनेपन की उम्र भी 60-70 साल की हुई। लोग वयोवृद्ध कमीनेपन के भी चरण छू लेते हैं। मेरा कमीनापन अभी श्रद्धा के लायक नहीं हुआ है। इस एक साल में मेरी एक ही तपस्या है—टाँग तोड़कर अस्पताल में पड़ा रहा हूँ। हड्डी जुड़ने के बाद भी दर्द के कारण टाँग फुर्ती से समेट नहीं सकता। लोग मेरी इस मजबूरी का नाजायज फायदा उठाकर झट मेरे चरण छू लेते हैं। फिर आराम के लिए मैं तख्त पर लेटा ही ज्यादा मिलता हूँ। तख्त ऐसा पवित्र आसन है कि उस पर लेटे दुरात्मा के भी चरण छूने की प्रेरणा होती है।

क्या मेरी टूटी टाँग में से दर्द की तरह श्रद्धा पैदा हो गयी है? तो यह विकलांग श्रद्धा है। जानता हूँ, देश में जो मौसम चल रहा है, उसमें श्रद्धा की टाँग टूट चुकी है। तभी मुझे भी यह विकलांग श्रद्धा दी जा रही है। लोग सोचते होंगे—इसकी टाँग टूट गयी है। यह असमर्थ हो गया। दयनीय है। आओ, इसे हम श्रद्धा दे दें।

हाँ, बीमारी में से श्रद्धा कभी-कभी निकलती है। साहित्य और समाज के एक सेवक से मिलने मैं एक मित्र के साथ गया था। जब वह उठे तब उस मित्र ने उनके चरण छू लिए। बाहर आकर मैंने मित्र से कहा, "यार, तुम उनके चरण क्यों छूने लगे?" मित्र ने

कहा, ''तुम्हें पता नहीं है, उन्हें डायबटीज हो गया है।'' अब डायबटीज श्रद्धा पैदा करे, तो टूटी टाँग भी कर सकती है। इसमें कुछ अटपटा नहीं है। लोग बीमारी से कौन फायदे नहीं उठाते। मेरे एक मित्र बीमार पड़े थे। जैसे ही कोई स्त्री उन्हें देखने आती, वह सिर पकड़कर कराहने लगते। स्त्री पूछती, ''क्या सिर में दर्द है?'' वे कहते, ''हाँ, सिर फटा पड़ता है।'' स्त्री सहज ही उनका सिर दबा देती। उनकी पत्नी ने ताड़ लिया। कहने लगी, ''क्योंजी, जब कोई स्त्री तुम्हें देखने आती है तभी तुम्हारा सिर क्यों दुखने लगता है?'' उसने जवाब भी माकूल दिया। कहा, ''तुम्हारे प्रति मेरी इतनी निष्ठा है कि परस्त्री को देखकर मेरा सिर दुखने लगता है। जान प्रीत-रस इतनेहु माहीं।''

श्रद्धा ग्रहण करने की भी एक विधि होती है। मुझसे सहज ढंग से अभी श्रद्धा ग्रहण नहीं होती। अटपटा जाता हूँ। अभी 'पार्ट टाइम' श्रद्धेय ही हूँ। कल दो आदमी आए। वे बात करके जब उठे तब एक ने मेरे चरण छूने को हाथ बढ़ाया। हम दोनों ही नौसिखुए। उसे चरण छूने का अभ्यास नहीं था, मुझे छुआने का। जैसा भी बना उसने चरण छू लिए। पर दूसरा आदमी दुविधा में था। वह तय नहीं कर पा रहा था कि मेरे चरण छुए या नहीं। मैं भिखारी की तरह उसे देख रहा था। वह थोड़ा-सा झुका। मेरी आशा उठी। पर वह फिर सीधा हो गया। मैं बुझ गया। उसने फिर जी कड़ा करके कोशिश की। थोड़ा झुका। मेरे पाँवों में फड़कन उठी। फिर वह असफल रहा। वह नमस्ते करके ही चला गया। उसने अपने साथी से कहा होगा—तुम भी यार, कैसे टुच्चों के चरण छूते हो। मेरे श्रद्धालु ने जवाब दिया होगा—काम निकालने को उल्लुओं से ऐसा ही किया जाता है। इधर मुझे दिन-भर ग्लानि रही। मैं हीनता से पीड़ित रहा। उसने मुझे श्रद्धा के लायक नहीं समझा। ग्लानि शाम को मिटी जब एक कवि ने मेरे चरण छुए। उस समय मेरे एक मित्र बैठे थे। चरण छूने के बाद उसने मित्र से कहा, ''मैंने साहित्य में जो कुछ सीखा है, परसाईजी से।'' मुझे मालूम है, वह कवि सम्मेलनों में हूट होता है। मेरी सीख का क्या यही नतीजा है? मुझे शर्म से अपने आपको जूता मार लेना था। पर मैं खुश था। उसने मेरे चरण छू लिए थे।

अभी कच्चा हूँ। पीछे पड़नेवाले तो पतिव्रता को भी छिनाल बना देते हैं। मेरे ये श्रद्धालु मुझे पक्का श्रद्धेय बनाने पर तुले हैं। पक्के सिद्ध-श्रद्धेय मैंने देखे हैं। सिद्ध मकरध्वज होते हैं। उनकी बनावट ही अलग होती है। चेहरा, आँखें खींचनेवाली। पाँव ऐसे कि बरबस आदमी झुक जाए। पूरे व्यक्तित्व पर 'श्रद्धेय' लिखा होता है। मुझे ये बड़े बौड़म लगते हैं। पर ये पक्के श्रद्धेय होते हैं। ऐसे एक के पास मैं अपने मित्र के साथ गया था। मित्र ने उनके चरण छुए जो उन्होंने विकट ठंड में भी श्रद्धालुओं की सुविधा के लिए चादर से बाहर निकाल रखे थे। मैंने उनके चरण नहीं छुए। नमस्ते करके बैठ गया। अब एक चमत्कार हुआ। होना यह था कि उन्हें हीनता का बोध होता कि मैंने उन्हें श्रद्धा के योग्य नहीं समझा था। हुआ उलटा। उन्होंने मुझे देखा। और हीनता का बोध मुझे होने लगा—हाय, मैं इतना अधम हूँ कि अपने को इनके पवित्र चरणों को छूने के लायक नहीं समझता। सोचता हूँ, ऐसा बाध्य

करनेवाला रोब मुझ ओछे श्रद्धेय में कब आएगा।

श्रद्धेय बन जाने की इस हल्की-सी इच्छा के साथ ही मेरा डर बरकरार है। श्रद्धेय बनने का मतलब है 'नान परसन्'—'अव्यक्ति' हो जाना। श्रद्धेय वह होता है जो चीजों को हो जाने दे। किसी चीज का विरोध न करे—जबकि व्यक्ति की, चरित्र की, पहचान ही यह है कि वह किन चीजों का विरोध करता है। मुझे लगता है, लोग मुझसे कह रहे हैं—तुम अब कोने में बैठो। तुम दयनीय हो। तुम्हारे लिए सबकुछ हो जाया करेगा। तुम कारण नहीं बनोगे। मक्खी भी हम उड़ाएँगे।

और फिर श्रद्धा का यह कोई दौर है देश में? जैसा वातावरण है, उसमें किसी को भी श्रद्धा रखने में संकोच होगा। श्रद्धा पुराने अखबार की तरह रद्दी में बिक रही है। विश्वास की फसल को तुषार मार गया। इतिहास में शायद कभी किसी जाति को इस तरह श्रद्धा और विश्वास से हीन नहीं किया गया होगा। जिस नेतृत्व पर श्रद्धा थी, उसे नंगा किया जा रहा है। जो नया नेतृत्व आया है, वह उतावली में अपने कपड़े खुद उतार रहा है। कुछ नेता तो अंडरवियर में ही हैं। कानून से विश्वास गया। अदालत से विश्वास छीन लिया गया गया। बुद्धिजीवियों की नस्ल पर ही शंका की जा रही है। डाक्टरों को बीमारी पैदा करनेवाला सिद्ध किया जा रहा है। कहीं कोई श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

अपने श्रद्धालुओं से कहना चाहता हूँ—'यह चरण छूने का मौसम नहीं, लात मारने का मौसम है। मारो एक लात और क्रांतिकारी बन जाओ।'

◆

दुर्घटना-रस

इरादा तो था कि अगले ओलम्पिक में हिस्सा लेने जाएँगे। दौड़ में। मगर टाँग तोड़कर पहुँच गए अस्पताल के बिस्तर पर। दिल्ली स्टेशन पर साहित्य के युवाओं ने उतारा और स्ट्रेचर पर लेकर एंबुलेंस तक चले तो मैंने कहा—लो, मुझसे बड़े लोग टापते रह गए और मैं नयी पीढ़ी पर लद गया।

पिछले माण्ट्रियल ओलंपिक में भारत का 'शानदार' शौर्य प्रदर्शित हुआ कि एक टीन का मेडिल भी इस उदार हृदय देश ने किसी का नहीं छीना। कहा, दूसरे लोग मेडिल ले जाओ। हमारा धर्म और संस्कृति त्याग के हैं। चिड़िया न फँसे तो हम कहते हैं कि हमने दया वश छोड़ दी। अक्षमता को त्याग बनाने की हममें सिफत है। और फिर, ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। ये सोने, चाँदी, काँसे के मेडिल आखिर माया हैं, झूठ हैं। हमारा मेडिल तो दूसरे लोक में रखा है। जाकर ले लेंगे।

पर माण्ट्रियल की उस चोट का दर्द अभी भी सबको अखर रहा है। जाँच हो रही है। सिंकाई भी हो रही है। मेरी टाँग के दर्द के लिए एक गुनी ने सुझाया कि गधे की लीद

की सिंकाई कीजिए। मैं किसी अच्छे गधे की तलाश में हूँ, पर सच्चा गधा नहीं मिल रहा। दो पाँववाले मिल रहे हैं। ये गधे तो मुझे दुलत्ती मारते रहे हैं। इनकी लीद से क्या सिंकाई करूँ। पर खेल-कूद के मालिक तो एक-दूसरे की लीद से सिंकाई कर रहे हैं। खिलाड़ी मैनेजर और 'कोच' को दोष दे रहे हैं। मैनेजर खिलाड़ियों का चुनाव करनेवालों को, चुनाव करनेवाले भारत सरकार की खेल नीति को। हमारी चारित्रिक विशेषता है कि हम दोष के तबादले के माहिर हैं।

रोनेवाले भी रो रहे हैं—हाय, साठ करोड़ का देश और एक टीन का मेडिल भी नहीं। जैसे आबादी में से खिलाड़ी पैदा होते हों। वैज्ञानिक पैदा होते हों। पाँच करोड़ के देश में एक वैज्ञानिक पैदा हो तो साठ करोड़ के देश में बारह होने चाहिए। आबादी तो मुर्गी है न? यह देश कोई मुर्गीखाना है, जिसकी मुर्गियाँ अंडे देंगी जिनमें से खिलाड़ी निकलेंगे।

मैंने कहा—खैर, अब मुझे ही कुछ करना होगा। देश का गौरव मुझे ही बढ़ाना होगा। मैं निश्चिंत था कि दूसरे लोग देश का गौरव बढ़ा लेंगे तो मैं देश का मुँह काला कर सकता हूँ। पर जब दूसरे देश का नाम डुबो रहे हैं तो मैं यह कहकर कूदना चाहता था कि खैर, मैं तो हूँ। वैसे देश का भाग्य-विधायक बन जाने का मैंने पहले भी सोचा था, पर मैं डर गया। गाँधीजी, लुमुम्बा, अनवर बेन बेला, सुकर्ण, मुजीब, इनका क्या कर दिया गया! भाई, अपने को डर लगता है। जो मुक्ति दिलाए, वही मार डाला जाए या जेल में डाला जाए। मैंने मसीहा बनने का इरादा भी डर के मारे छोड़ दिया, वरना मैं ईसा हो सकता था। सूली बरदाश्त कर लेता। कितने लेखक हैं, जो घोषणा कर रहे हैं कि हम अभिशप्त हैं, हम अपनी सूली लादे घूम रहे हैं। इन बेचारों को कोई सूली पर टाँग क्यों नहीं देता। मेरे साथ दूसरी मुश्किल है। मैं ईसा की तरह सूली पर से यह नहीं कहता—पिता, उन्हें क्षमा कर। वे नहीं जानते वे क्या कर रहे हैं। मैं कहता—पिता, इन्हें हरगिज क्षमा न करना। ये कमबख्त जानते हैं कि ये क्या कर रहे हैं।

मैं भाग्य-विधाता नहीं बन सका। डर के कारण बहुत लोग बड़ा आदमी होने से बाल-बाल बच जाते हैं। कुछ मुगालते में भी जिंदगी काट देते हैं। भ्रमहीन जिंदगी बोझ होती है। वे कितने सुखी हैं, जो अपने कचरा लेखन को महान साहित्य मान लेते हैं। और एक मैं दुखी हूँ कि लिखता हूँ और उस पर रोता हूँ।

बहरहाल, ओलंपिक में देश का नाम ऊँचा करने का एक मौका चूक गया। मेरी टाँग में फ्रेक्चर हो गया। हड्डी बहुत लोगों की टूटती है। पर मेरा फ्रेक्चर भी श्रेष्ठ ही हुआ। कहा जाता है कि मेरा व्यंग्य-लेखन श्रेष्ठ है। मेरी बदनामियाँ भी श्रेष्ठ हैं। और नेकनामियाँ भी। कद श्रेष्ठ, नाक-नक्श श्रेष्ठ। जाति श्रेष्ठ—ब्राह्मण-कुल में जन्मा हूँ। हिमालय की ऊँचाई तक उदार और पाताल-जैसी गहराई तक नीच—मूर्ख-जैसा वीर और मनीषी जैसा कायर हूँ। बहादुरी और बेवकूफी में बहुत कम फर्क होता है। डॉक्टरों ने कहा—यह सबसे खराब फ्रेक्चर है, 'नेक हेमर'। मैं खुश था कि श्रेष्ठता बनी रही। कोई टुच्चा फ्रेक्चर नहीं हुआ है। अपना सबकुछ 'सुपरलेटिव' में होता है।

लेखक का अस्पताल में भरती होना एक दिलचस्प घटना होती है। टाँग टूटना तो और भी दिलचस्प। सच कम, झूठी अधिक चिंताएँ बोलने लगती हैं—हाय, साहित्य का अब क्या होगा! यह चिंता दसवें दर्जे के लेखकों को अधिक होती है। वे प्रार्थना और चंदे की अपीलें करने लगते हैं। हमारे यहाँ लेखक को गरीब तब मानते हैं जब वह बीमार हो। इसके पहले भूखा मरता हो तब भी उसे गरीब नहीं मानते। साहित्य का क्या होगा? अच्छा ही होगा। चींटियाँ साहित्य का तंबू तानेंगी। यों ही मेरी टाँग टूटने से, सुना है, कुछ की टाँगें जुड़ गयीं। उनकी साहित्य की टूटी टाँग पर मेरे फ्रेक्चर की खबर का प्लास्टर चढ़ गया। हीनता के रोग में किसी के अहित का इंजेक्शन बड़ा कारगर होता है। अस्पताल के बिस्तर पर भी ऐसी खबरें मुझे मिलती थीं और मैं मजा लेता था। उन पर गुस्सा क्या करूँ? उनके पास बिगड़ने को कुछ है ही नहीं तो बिगाड़ूँ क्या? भिखमंगे को धमकी देना कि तेरा धन लूट लूँगा, एक बेवकूफी ही है। यह बेवकूफी मैंने नहीं की।

रही चंदे की बात। तो यह भी शांत हो गयी, इस खबर से कि शासन इलाज का सब खर्च उठा रहा है। इस खबर से, सहानुभूति रखनेवाले बेझिझक आने लगे। उन्हें डर नहीं रहा। लेखक के प्रति क्या कर्तव्य बचा? सिवा फल ले जाने के और यह पूछने के कि अब तबीयत कैसी है। पूछा जाता—तबीयत कैसी है? मैंने कहा—मैं बीमार नहीं हूँ। न बुखार, न निमोनिया, न तपेदिक, न दिल का दौरा। हड्डी टूटना कोई बीमारी नहीं है। तबियत के क्या हाल बताऊँ? दूसरी मुसीबत यह सवाल पैदा करता था—यह फ्रेक्चर कैसे हो गया? कैंसर हो तो जवाब भी दे सकते हैं कि ब्रश कर रहा था कि एकदम कैंसर हो गया। पर हड्डी टूटने से लोगों की बड़ी उम्मीदें होती हैं। मोटरसाइकिल पलट गयी होगी, रिक्शे से ट्रक टकराया होगा, ऊपर से गिरा होगा, कारें भिड़ गयी होंगी। ये ऊँचे किस्म के फ्रेक्चर होते हैं। मैं कहता, कुछ नहीं। पाँव फिसल गया। गिर गए तो हड्डी टूट गयी। और पूछनेवाला सोचता—टुच्चा आदमी है। टुच्चा ही फ्रेक्चर हुआ। अरे कोई दुर्घटना होती, तो एक स्तर का फ्रेक्चर होता, जैसे दुर्घटना से किसी-किसी का लेखन स्तर का हो जाता है। मगर इसका भी क्या—टुच्चा फ्रेक्चर है। पाँव फिसलने से ही हो गया। हम तो राष्ट्रीय स्तर के कवि-सम्मेलन की उम्मीद से आए थे, पर यहाँ तो मुहल्ले की वर्षा-गोष्ठी है जिसमें तुक्कड़ गा रहा है—आयी वर्षा, आयी वर्षा, देखो मयूर का मन हर्षा। कवि ने मयूर नहीं देखा। उसे क्या पता कि मयूर बादल देखकर खूब रोता है। नाचने से उसकी टाँग में फ्रेक्चर हो गया। काना लड़का हो, है तो अपना ही। टुच्चा फ्रेक्चर हो, पर अपनी ही टाँग का है। कभी हीनता भी आती, जब प्रतिष्ठित फ्रेक्चरवालों को वार्ड में देखता। किसी को ऐसा बाँधा है कि वह हेलीकॉप्टर लगता है। कोई भरत-नाट्य की मुद्रा में है—और मैं स्वाभाविक ढंग से बिस्तर पर पड़ा हूँ। हाँ, एक बात प्रतिष्ठा की हुई। मुझे एक पत्र मिला। लिखा था—तुमने जिंदा भगवानों के खिलाफ लिखा था! देख लिया। सत्य साईं बाबा ने टाँग तोड़ दी। सचमुच लगता है 'रिमोट कंट्रोल' से मेरी हड्डी तोड़ी गयी है, तो फ्रेक्चर उतना टुच्चा भी नहीं है।

हड्डी टूटने में एक बड़ी असुविधा है। दिखाने को कुछ नहीं होता। हड्डी भीतर टूटी

है। ऊपर से सब ठीक-ठाक है। टूटी हड्डी दिखा सकते नहीं। एक स्टेज के बाद दर्द भी बंद हो जाता है। मिजाजपुर्सी करनेवालों के सामने कराह भी नहीं सकते। जो दिखाया न जा सके, वह घाव बेकार चला जाता है। जिस दर्द को भुना न सके, वह खोटा सिक्का है। 20-25 साल लिखते और तरह-तरह के सामाजिक काम करते हो गए। अस्पताल में भरती कई को कराया। पर मैं पहली बार अस्पताल में भरती हुआ हूँ। बड़ी घटना है। हलचल मचनी थी। कुछ धन मिलना था। पर सरकार ने मदद की घोषणा करके मेरा सारा बाजार ही चौपट कर दिया। मैं तो बात को दबा जाता और पैसे बटोर लेता। पर सरकार ने रेडियो और अखबारों में कुछ इस तरह खबर प्रसारित कर दी—सुन लो लोगो, सरकार ने इस परसाई को पैसे दे दिए हैं। और चाहिए तो और दे देंगे। अब तुम लोग उसके चक्कर में मत पड़ना। उसे हरगिज एक पैसा भी मत देना। नतीजा घातक हुआ। किसी ने मदद की बात ही नहीं की। हाँ, अखबारों में समाचार और फोटो जरूर छपे। थोड़ा संतोष हुआ, पर कसर रह गयी, मेरे नाम के आगे लगाने को लोगों को विशेषण ही नहीं मिले। मुझसे पूछ लेते तो मैं ही बता देता।

बात मैंने कहाँ से शुरू की थी। देश का गौरव बढ़ाने की, देश का भाग्य-विधाता बनने की, मसीहा बनने की। मगर आ गए लौटकर अपने ओछेपन पर। टाँग, टाँग, टाँग। और पैसा, पैसा, पैसा। सारा दर्शन टाँग में समा गया। ऊँचे खयालात में 'इन्फेक्शन' हो गया। उनमें मवाद निकलने लगा। मसीहा पैसे पर बिक गया। मेरे देशवासियो, अगले ओलंपिक के लिए मुझ पर भरोसा मत करो। कोई दूसरा लँगड़ा तलाशो।

सचमुच टाँग टूटना बड़ी बुरी बात है। सिर का फ्रेक्चर उतना बुरा नहीं। टाँग ठीक हो और सिर याने दिमाग का फ्रेक्चर हो गया हो, तो भी गति रहती है—हालाँकि वह दिशाहीन गति होती है। लेकिन आदमी ही नहीं, महादेश तक हैं जो दिशाहीन गतिवाले हैं। कहाँ जा रहे हैं वे? पता नहीं। बस चल रहे हैं। एक महाशक्ति है। वह भी दिशाहीन गति के फेर में रहती है। चल रहे हैं, चल रहे हैं। टाँग ठीक है, पर दिमाग में फ्रेक्चर है। चलते-चलते पाया कि वियतनाम के दलदल में फँस गए हैं। निकलने की मुश्किल पड़ रही है।

टाँग तोड़कर अस्पताल के बिस्तर पर पड़े हुए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की बात करना भी बड़ी बेशर्मी है। टाँग पर ही लौटता हूँ। दर्द तो है, चिंताएँ भी हैं। असहाय स्थिति में पड़े हैं। धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपतकाल परखिए चारी। आपतकाल याने 'इमरजेंसी'। मेरा इमरजेंसी का दौर चल रहा है। धीरज मजबूरी है। धीरज की ही एकमात्र पूँजी है धर्म? धर्म का मतलब ही अभी तक समझ में नहीं आया। नारी अपनी तो है नहीं, पर नारी कोई कभी-कभी हाल देखने आ जाती थी। मित्रों की सचमुच परीक्षा है। सुबह से ही लौ लग जाती है कि कोई आएगा। जब कोई आता तो कैसा लगता है? ऐसा जैसे उस सुरसा को लगा था। हनुमान वायु-मार्ग से लंका जा रहे थे। समुद्र में सुरसा राक्षसी ने उन्हें देखा। खूब पुष्ट बड़ा-सा जीवधारी। दो टन का तो होगा। सुरसा ने खुश होकर कहा—आज सुरन मोहि दीन्ह अहारा। आज देवताओं ने मुझे आहार दिया। मिलने आनेवाले को देखते ही कह

उठता—आज सुरन मोहि दीन्ह अहारा। ये बैठें दो-तीन घंटे और मैं इनका भोजन करूँ।

कभी घोर निराशा में डूब जाते। इधर पास ही तो गालिब अकादमी है। गालिब याद आते। एक आलिम फाजिल दोस्त मिलने आए। पूछा—क्या हाल है। मैंने कहा—हाल क्या बताएँ? यही है—

जिंदगी अपनी जब इस तौर से गुजरी गालिब,
हम भी क्या याद करेंगे कि खुदा रखते थे।

और व्यंग्य? हाँ, व्यंग्य बरबस उठता था। मेरे डॉक्टर ने ही कहा—आप लिखवाइए। इससे आपका मन अच्छा रहेगा। अस्पताल के अनुभव ही लिखा डालिए। मैंने कहा—डॉक्टर साहब, उसमें अस्पताल की कुछ आलोचना हो गयी तो ठीक नहीं होगा। डॉक्टर ने कहा—आलोचना होने दीजिए। उससे अस्पताल में सुधार होगा। मैंने जवाब दिया—मैं चाहता हूँ कि सुधार मेरे अस्पताल छोड़ने के बाद हो।

◆

पवित्रता का दौरा

सुबह की डाक से चिट्ठी मिली, उसने मुझे इस अहंकार में दिन-भर उड़ाया कि मैं पवित्र आदमी हूँ क्योंकि साहित्य का काम एक पवित्र काम है। दिन-भर मैंने हर मिलनेवाले को तुच्छ समझा। मैं हर आदमी को अपवित्र मानकर उससे अपने को बचाता रहा। पवित्रता ऐसी कायर चीज है कि सबसे डरती है और सबसे अपनी रक्षा के लिए सचेत रहती है। अपने पवित्र होने का अहसास आदमी को ऐसा मदमाता बनाता है कि वह उठे हुए साँड की तरह लोगों को सींग मारता है, ठेले उलटाता है, बच्चों को रगेदता है। पवित्रता की भावना से भरा लेखक उस मोर जैसा होता है जिसके पाँव में घुँघरू बाँध दिये गए हों। वह इत्र की ऐसी शीशी है जो गंदी नाली के किनारे की दूकान पर रखी है। यह इत्र गंदगी के डर से शीशी में ही बंद रहता है।

वह चिट्ठी साहित्य की एक मशहूर संस्था के सचिव की तरफ से थी। मैं उस संस्था का, जिसका लाखों का कारोबार है, सदस्य बना लिया गया हूँ। स्थायी समिति का सदस्य हूँ। यह संस्था हम लोगों को बैठकों में शामिल होने का खर्च नहीं देती, क्योंकि पैसा साहित्य के पवित्र काम में लगे हुए पवित्र पदाधिकारियों के हड़पने में ही खर्च हो जाता है। सचिव ने लिखा है कि साहित्य भवन के सामने एक सिनेमा बनने की मंजूरी मिल रही है। सिनेमा बनने से साहित्य भवन की पवित्रता, सौम्यता और शांति भंग होगी। वातावरण दूषित होगा। हम मुख्यमंत्री को सिनेमा निर्माण न होने देने के लिए ज्ञापन दे रहे हैं। आप भी इस पर दस्तखत कर दीजिए।

इस चिट्ठी से मुझे बोध हुआ कि साहित्य पवित्र है, हम साहित्यकार पवित्र हैं और

साहित्य की यह संस्था पवित्र है। मेरे दुष्ट मन ने एक शंका भी उठायी कि हो सकता है किसी ऐसे पैसेवाले ने, जिसे उस जगह दूकान खोलनी है, हमारे पवित्र साहित्य के पवित्र सचिव को पैसा खिला दिया हो कि सिनेमा न बनने दो। पर मैंने इस दुष्ट शंका को दबा दिया। नहीं, नहीं, साहित्य की संस्था पवित्र है, सिनेमा अपवित्र है। हमें अपवित्रता से अपना पल्ला बचा लेना चाहिए।

शाम की डाक से संस्था के विपक्षी गुट के नेता की चिट्ठी आयी, जिसमें संस्था में किए जा रहे भ्रष्टाचार का ब्यौरा दिया गया था।

इस पत्र ने मुझे झकझोरा। अपनी पवित्रता पर मुझे शंका हुई। साहित्य के काम की पवित्रता पर शंका हुई। साहित्य की संस्था की पवित्रता की मेरी उठान शांत हुई और मैं नार्मल हो गया।

इतने साल साहित्य के क्षेत्र में हो गए। मैं कई बार पवित्र होने की दुर्घटना में फँसा, पर हर बार बच गया। मुझे लिखते जब कुछ ही समय हुआ था, तभी बुजुर्ग साहित्यकार मुझसे कहते थे—आपने साहित्य-रचना का कार्य अपने हाथ में लिया है। माता वीणा-पाणि के मंदिर की पवित्रता बनाए रखिए। मैं थोड़ा फूलता था। सोचता था, सिगरेट पीना छोड़ दूँ क्योंकि इस धुएँ से देवी के मंदिर के धूप की सुगंध दबती होगी। पर मैं उबर आया। वे बुजुर्ग कहते—माँ भारती ने आपके सामने अंचल फैलाया है। उसे मणियों से भर दीजिए। (वैसे कवि, 'अंचल' उस दिन कह रहे थे कि हम तो अब 'रजाई' हो गए)। जी हाँ, माँ भारती के अंचल में आप कचरा डालते जाएँ और उसी में मैं मणि छोड़ता जाऊँ। ये पवित्र लोग और पवित्र ही लिखनेवाले लोग बड़े दिलचस्प होते हैं। एक मुझसे बार-बार कहते—आप अब कुछ शाश्वत साहित्य लिखिए। मैं तो शाश्वत साहित्य ही लिखता हूँ। वे सट्टे का फिगर रोज नया लगाते थे, मगर साहित्य शाश्वत लिखते थे। वे मुझे वाल्मीकि की तरह दीमकों के बमीठे में दबे हुए लगते थे। शाश्वत साहित्य लिखने का संकल्प लेकर बैठनेवाले मैंने तुरंत मरते देखे हैं। एक शाश्वत साहित्य लिखनेवाले ने कई साल पहले मुझसे कहा था—अरे, आप स्कूल में मास्टर होकर भी इतना अच्छा लिखते हैं। मैं तो सोचता था, आप प्रोफेसर होंगे। उन्होंने स्कूल-मास्टर लेखक की हमेशा उपेक्षा की। वे खुद प्रोफेसर रहे। पर आगे उनकी यह दुर्गति हुई कि उन्हें कोर्स में लगी मेरी रचनाएँ क्क्षा में पढ़ानी पड़ीं। उनका शाश्वत साहित्य कोर्स में नहीं लगा।

सोचता हूँ, हम कहाँ के पवित्र हैं। हममें से अधिकांश ने अपनी लेखनी को रंडी बना दिया है, जो पैसे के लिए किसी के भी साथ सो जाती है। सत्ता इस लेखनी से बलात्कार कर लेती है और हम रिपोर्ट तक नहीं करते। कितने नीचों की तारीफ मैंने नहीं लिखी। कितने मिथ्या का प्रचार मैंने नहीं किया। अखबारों के मालिकों का रुख देखकर मेरे सत्य ने रूप बदले हैं। मुझसे सिनेमा के चाहे जैसे डॉयलाग कोई लिखा ले। मैं इसी कलम से बलात्कार की प्रशंसा में भी फिल्मी गीत लिख सकता हूँ और भगवद् भजन भी लिख सकता हूँ। मुझसे आज पैसे देकर मजदूर-विरोधी अखबार का संपादन करा लो और कल मैं उससे

ज्यादा पैसे लेकर ट्रेड यूनियन के अखबार का संपादन कर दूँ। इसी कलम से तो मैंने पहले 'इंदिरा गाँधी जिंदाबाद' लिखा था, फिर 'इंदिरा गाँधी मुर्दाबाद' लिखा, और अब फिर 'इंदिरा भारत है' लिख रहा हूँ।

क्या हमारी पवित्रता है? साहित्य भवन की पवित्रता को सिनेमा भवन क्या नष्ट कर देगा? पर होता तो है पवित्रता, शराफत, चरित्र का एक गुमान। इधर ही एक मुहल्ले में सिनेमा बननेवाला था, तो शरीफों ने बड़ा हल्ला मचाया—यह शरीफों का मुहल्ला है। यहाँ शरीफ स्त्रियाँ रहती हैं और यहाँ सिनेमा बन रहा है। गोया सिनेमा गुंडों के मुहल्ले में बनना चाहिए, ताकि इनके घरों की शरीफ औरतें सिनेमा देखने गुंडों के बीच जाएँ। मुहल्ले में एक आदमी रहता है। उससे मिलने एक स्त्री आती है। एक सज्जन कहने लगे—यह शरीफों का मुहल्ला है। यहाँ यह सब नहीं होना चाहिए। देखिए, फलाँ के पास एक स्त्री आती है। मैंने कहा—साहब, शरीफों का मुहल्ला है, तभी तो वह स्त्री अपने पुरुष मित्र से मिलने बेखटके आती है। वह क्या गुंडों के मुहल्ले में उससे मिलने जाती?

पवित्रता का यह हाल है कि जब किसी मंदिर के पास से शराब की दूकान हटाने की माँग लोग करते हैं, तब पुजारी बहुत दुखी होता है। उसे लेने के लिए दूर जाना पड़ेगा। यहाँ तो ठेकेदार भक्ति-भाव में कभी-कभी मुफ्त भी पिला देता था।

मैं शामवाले पत्र से हल्का हो गया। पवित्रता से मेरा नशा उतर गया। मैंने सोचा, साहित्य भवन के सचिव को लिखूँ—मुझे दूसरे पक्ष का पत्र भी मिल गया है, जिसमें बताया गया है कि अपनी संस्था में कितना भ्रष्टाचार है। अब तो सिनेमा-मालिक को ही माँग करनी चाहिए कि यह साहित्य की संस्था यहाँ से हटायी जाए, जिससे हमारे दर्शकों की नैतिकता पर बुरा असर न पड़े। इसमें बड़ा भ्रष्टाचार है।

◆

तीसरे दर्जे के श्रद्धेय

बुद्धिजीवी बहुत थोड़े में संतुष्ट हो जाता है। उसे पहले दर्जे का किराया दे दो ताकि वह तीसरे में सफर करके पैसा बचा ले। एकाध माला पहना दो, कुछ श्रोता दे दो और भाषण के बाद थोड़ी तारीफ—वह मान जाता है, इतने में। मैं भी विश्वविद्यालय में भाषण देकर संतुष्ट था। उस शहर से बीस मील इधर के स्टेशन से मैं तीसरे से पहले दर्जे में आ गया था, जिससे मेजबानों को बुद्धिजीवी को तीसरे दर्जे से उतारने की शर्म न झेलनी पड़ी। मैं दरवाजे पर हैंडिल पकड़े तब तक खड़ा रहा, जब तक उन्होंने मुझे देख नहीं लिया। ऐसा हो चुका है कि स्वागतकर्ता मुझे पहले दर्जे में तलाश कर रहे हैं और मैं चुपचाप तीसरे दर्जे से उतरकर उनका इंतजार कर रहा हूँ। जब वे मिलते हैं, तो दोनों पार्टियों को शर्म महसूस होती है। वे सोचते हैं, किस थर्ड-क्लासिए को बुला लिया। और मैं सोचता हूँ—इन्होंने मुझे

पकड़ लिया। कभी मौका मिला तो नजर बचाकर प्लेटफार्म पर तीसरे दर्जे के सामने से सरककर पहले के सामने आ जाता हूँ और फिर बाबू को टिकिट इस तरह देता हूँ कि मेजबान जान न सके कि वह तीसरे दर्जे का है।

श्रद्धेय के भी दर्जे होते हैं। तीसरे दर्जे का श्रद्धेय प्रेरणा नहीं देता। वह शर्म देता है। गाँधीजी की बात अलग थी। वे तीसरे को भी पहले दर्जे की महिमा दे देते थे। हम तो पहले दर्जे में बैठकर भी तीसरे की हीनता अनुभव करते हैं। संत और बुद्धिजीवी में यही फर्क है। मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है। पाठ्यक्रम में आ गया हूँ। कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवों में घुँघरू बाँध दिये गए हैं। उसे ठुमककर चलना पड़ता है। ये आभूषण भी हैं और बेड़ियाँ भी। रायल्टी मिलने लगती है, तो जी होता है कि 'सत्साहित्य' ही लिखो, जिससे लड़के-लड़कियों का चरित्र बने। उसे आचार्यगण तुरंत गले लगा लेंगे। परेशानी यही है कि 'सत्साहित्य' कुल आठ-दस वाक्यों में आ जाता है, जैसे—सत्य बोलो, किसी को कष्ट मत दो, ब्रह्मचर्य से रहो, परायी स्त्री को माता समझो, आदि।

एक तो बुद्धिजीवी, फिर कोर्स का बुद्धिजीवी—मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है। कितना ही प्रखर बुद्धिजीवी हो, अगर तीसरे दर्जे से उतरता हुआ देख लिया जाता है, तो उसका मनोबल घट जाता है। तीसरे दर्जे से उतरा और बुद्ध (नहीं, अबुद्ध) शाकाहारी होटल में ठहरा बुद्धिजीवी आधा बुझ जाता है। मैं मनोबल बनाए रखने के लिए पंद्रह-बीस मील पहले तीसरे से पहले दर्जे में आ जाता हूँ और पेट चाहे पचा न सके, अच्छे मांसाहारी होटल में ठहरता हूँ। पहला दर्जा और गोश्त बुद्धिजीवी को प्रखर बनाते हैं।

लौटते में मैं तीसरे दर्जे में यह कहकर बैठ जाता हूँ कि पहला दर्जा रात को असुरक्षित रहता है। यही बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थव्यवस्था है, जो देश की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही है। देश के प्रति बुद्धिजीवी बहुत जागरूक है। वह पहले दर्जे से उतरता है और तीसरे में चढ़ता है।

मेरे भाषण का विषय था—'आजादी के पच्चीस वर्ष'। सामने लड़कियाँ बैठी थीं, जिनकी शादी बिना दहेज के नहीं होनेवाली थी। बैल की तरह मार्केट में उनके लिए पति खरीदना ही होगा। वर का बाप जचकी तक का खर्च जोड़कर ले लेगा। स्त्री के लिए अभी भी पत्नी के पद पर नौकरी सबसे सुरक्षित जीविका है। और लड़के बैठे थे, जिन्हें डिग्री लेने के बाद सिर्फ सिनेमाघर पर पत्थर फेंकने का काम मिलनेवाला है। आजादी के पच्चीस वर्षों का यही हिसाब है। पर पिछले दो वर्षों से कहा जा रहा है कि देश में क्रांति हो रही है। बुद्धिजीवी इसे समझे और इस प्रक्रिया में सहयोगी बने। बुद्धिजीवी को क्रांति की बात करने में क्या लगता है। वह सारा गुस्सा सरकार पर उतार देता है। इससे वाहवाही मिलती है, वह साहसी कहलाता है, लोकप्रिय होता है—मगर वह छद्म क्रांतिकारिता है। ऐसा लेखक सरकार पर नाटकीय हमले करके सारी क्रांतिविरोधी बुर्जुआ ताकतों को बचा ले जाता है। इस तरह वह बुर्जुआसमर्थक हो जाता है। लुकाच का तो यही निष्कर्ष है। माँग है तो मैंने

क्रांतिकारिता की बात की। पहले दर्जे का किराया और पेट में मुर्गा बुद्धिजीवी को क्रांतिकारी बना देता है। मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति का आह्वान करता है। क्रांति की बाँग देता है और फिर घूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवी का भी यही हाल है। क्रांति की बाँग, घूड़े पर दाने चुगना और हलाल होने का इंतजार करना। यों दूध और कलाकंद खानेवाले (नहीं, सेवन करनेवाले) भी अपने को क्रांतिकारी बुद्धिजीवी कहते हैं, पर मैं नहीं मानता।

लौटने के लिए स्टेशन पहुँचा तो टहलते हुए सोचने लगा—इन पच्चीस वर्षों ने क्या दिया? इस समय मेरी क्या चिंता है। क्या मैं क्रांति की बात सोच रहा हूँ? नहीं, मुझमें यात्रा की घबराहट है। बर्थ की घबराहट है। मैं बार-बार टिकिट निकालकर देखता हूँ। आज का ही है? कहीं जाली तो नहीं है ? रिजर्वेशन सही है कि नहीं? कोई भरोसा नहीं।

मुझे गाड़ी के समय की चिंता है। मैं चिपका हुआ टाइम-टेबिल देखता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं है कि गाड़ी निकल गयी हो। टाइम-टेबिल देखता हूँ। पर मुझे इस पर भरोसा नहीं। यह पुराना भी हो सकता है। मैं वहीं खड़े बाबू से पूछता हूँ। वह कहता है, 'आपने अभी तो वह चिपका हुआ टाइम-टेबिल देखा है!'' मैं कहता हूँ, ''चिपके का क्या भरोसा! पच्चीस सालों से क्या-क्या नहीं चिपका है इस देश में! संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गाँधीजी का वाक्य—'स्वराज्य में हर आँख का आँसू पोंछा जाएगा।' मगर यही तय नहीं हो पा रहा है कि रुला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथों में एक-एक रूमाल दे दिया गया है कि लो, एक-दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज का क्या भरोसा! समाजवादी ढंग का नारा चिपका था। पर काम सब बेढंगा हो रहा था। फिर 'जनतांत्रिक समाजवाद' चिपक गया। फिर 'समाजवाद' चिपका। अब 'गरीबी हटाओ' चिपका है। मगर कीमतें बढ़ रही हैं। चिपके कागज का कोई भरोसा नहीं रह गया।''

बाबू मुझे गाड़ी का समय बताता है। पर मैं एक बार बाबू पर भरोसा नहीं करता। एक पर भरोसा करके नागपुर में भुगत चुका हूँ। उसने कहा था कि यह गाड़ी बैतूल रुकती है। पर बाद में मालूम हुआ कि नहीं रुकती। मैं दूसरे बाबू से पूछता हूँ। थोड़ा आश्वस्त होता हूँ।

मैं अब काले तख्ते पर देखता हूँ। लिखा है—'राइट टाइम'। मुझे भरोसा नहीं होता। कल का लिखा हो और मिटाया न गया हो। या कोई और गाड़ी 'राइट टाइम' हो लेकिन लिख इसके सामने दिया गया हो। मैं फिर दो बाबुओं से पूछता हूँ, जो कहते हैं कि गाड़ी 'राइट टाइम' है। फिर भी मुझे विश्वास नहीं होता। गाड़ी समय से पहले भी आ सकती है और लेट भी।

अब मुझे समय की चिंता लग गयी है। रेलवे की घड़ी का भरोसा नहीं। महीनों बंद पड़ी रहती हैं ये घड़ियाँ। अपनी घड़ी देखता हूँ, पर उस पर भी मुझे भरोसा नहीं। पता नहीं, कब चाबी दी। फिर इन घड़ियों का कोई ठिकाना है! मैं एक-दो लोगों से समय और पूछ लेता हूँ।

अब मैं प्लेटफार्म पर खड़ा गाड़ी का इंतजार कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ, गाड़ी पूर्व से आती है, पर मैं पश्चिम की तरफ भी देखता हूँ। दोनों तरफ से गाड़ी का इंतजार करता हूँ। कोई ठिकाना नहीं है। पूर्व से आनेवाली गाड़ी पश्चिम से भी आ सकती है।

सोचता हूँ–मुझे हो क्या गया है? इतना अनिश्चय, इतना अविश्वास! क्या आजादी के पच्चीस वर्षों ने यही अनिश्चय और अविश्वास की मानसिकता दी है हमारी पीढ़ी को ? और यही हम आगामी पीढ़ी को विरासत में दे रहे हैं?

जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह 'समाजवाद मार्ग' है, पर ले कहीं और जा रहा है। महात्मा गाँधी मार्ग पर सारे ठग रहते हैं। रवींद्र मार्ग पर बूचड़खाना खुला है। परीक्षा में कोई बैठता है और पास दूसरा हो जाता है। सारे देश में शक्कर के दाम दो रुपये किलो निश्चित किए गए हैं, पर इस घोषणा के बाद ही उसका दाम चार रुपये से बढ़कर सवा-चार रुपये हो जाता है। सहकारी दूकान के सामने कतार लगी है और पीछे के दरवाजे से चीजें कालाबाजार में चली जा रही हैं। क्षेत्र में काम कोई करता है और टिकिट दूसरे को मिल जाती है। हम किसी को महान भ्रष्टाचारी घोषित करते हैं और वह सदाचार-अधिकारी बना दिया जाता है।

अनिश्चय और अविश्वास!

दवा की शीशी पर नाम सही है, पर पता नहीं क्या खा रहे हैं। 'हनुमानभक्त' मेरा एक मित्र कहता है, "अब आदमी पर भरोसा नहीं रहा। कुछ निश्चित नहीं है। अब तो हनुमानजी से प्रार्थना करते हैं कि अब के जब राम के काम से गंधमादन जाओ तो हमारे लिए भी पेचिश की दवा लेते आना।"

गाड़ी आती है। तीसरे दर्जे के श्रद्धेय जब अपनी सुरक्षित बर्थ पर जाते हैं, तो देखते हैं कि वहाँ कोई दूसरा बिस्तर फैला रहा है।

भारत को चाहिए : जादूगर और साधु

हर 15 अगस्त और 26 जनवरी को मैं सोचता हूँ कि साल-भर में कितने बढ़े। न सोचूँ तो भी काम चलेगा–बल्कि ज्यादा आराम से चलेगा। सोचना एक रोग है, जो इस रोग से मुक्त हैं और स्वस्थ हैं, वे धन्य हैं।

यह 26 जनवरी 1972 फिर आ गया। यह गणतंत्र-दिवस है, मगर 'गण' टूट रहे हैं। हर गणतंत्र-दिवस 'गण' के टूटने या नये 'गण' बनने के आंदोलन के साथ आता है। इस बार 'आंध्र' और 'तेलंगाना' है। अगले साल इसी पावन दिवस पर कोई और 'गण' संकट आएगा।

इस पूरे साल में मैंने दो चीजें देखीं। दो तरह के लोग बढ़े–जादूगर और साधु। मेरा

अंदाज था, सामान्य आदमी के जीवन के सुभीते बढ़ेंगे—मगर नहीं। बढ़े तो जादूगर और साधु-योगी। कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या ये जादूगर और साधु 'गरीबी हटाओ' प्रोग्राम के अंतर्गत ही आ रहे हैं। क्या इसमें कोई योजना है?

रोज अखबार उठाकर देखता हूँ। दो खबरें सामने आती हैं—कोई नया जादूगर और कोई नया साधु पैदा हो गया है। उसका विज्ञापन छपता है। जादूगर आँखों पर पट्टी बाँध स्कूटर चलाता है और 'गरीबी हटाओ' वाली जनता कामधाम छोड़कर, तीन-चार घंटे आँखों पर पट्टी बाँधे जादूगर को देखती हजारों की संख्या में सड़क के दोनों तरफ खड़ी रहती है। ये छोटे जादूगर हैं। इस देश में बड़े-बड़े जादूगर हैं, जो छब्बीस सालों से आँखों पर पट्टी बाँधे हैं। जब वे देखते हैं कि जनता अकुला रही है और कुछ करने पर उतारू हैं, तो वे फौरन जादू का खेल दिखाने लगते हैं। जनता देखती है, ताली पीटती है। मैं पूछता हूँ, "जादूगर साहब, आँखों पर पट्टी बाँधे राजनैतिक स्कूटर पर किधर जा रहे हो? किस दशा को जा रहे हो—समाजवाद? खुशहाली? गरीबी हटाओ? कौन-सा गंतव्य है?" वे कहते हैं, "गंतव्य से क्या मतलब? जनता आँखों पर पट्टी बाँधे जादूगर का खेल देखना चाहती है। हम दिखा रहे हैं। जनता को और क्या चाहिए?"

जनता को सचमुच कुछ नहीं चाहिए। मुझे लगता है, ये दो छोटे-छोटे जादूगर रोज खेल दिखा रहे हैं, इन्होंने प्रेरणा इस देश के राजनेताओं से ग्रहण की होगी। जो छब्बीस सालों से जनता को जादू के खेल दिखाकर खुश रखे हैं, उन्हें तीन-चार घंटे खुश रखना क्या कठिन है! इसीलिए अखबार में रोज फोटो देखता हूँ, किसी शहर में नए विकसित किसी जादूगर की।

सोचता हूँ, जिस देश में एकदम से इतने जादूगर पैदा हो जाएँ, उस जनता की अंदरूनी हालत क्या है? वह क्यों जादू से इतनी प्रभावित है? वह क्यों चमत्कार पर इतनी मुग्ध है? वह जो राशन की दूकान पर लाइन लगाती है और राशन नहीं मिलता, वह लाइन छोड़कर जादू के खेल देखने क्यों खड़ी रहती है?

मुझे लगता है, छब्बीस सालों में देश की जनता की मानसिकता ऐसी बना दी गयी है कि जादू देखो और ताली पीटो। चमत्कार देखो और खुश रहो।

बाकी हम पर छोड़ो।

भारत-पाक युद्ध एक ऐसा ही जादू था। ज़रा बड़े 'स्केल' का जादू था, पर था जादू ही। जनता अभी तक ताली पीट रही है।

उधर राशन की दूकान की लाइन बढ़ती जा रही है।

देशभक्त मुझे माफ करें। पर मेरा अंदाज है, जल्दी ही एक शिमला शिखरवार्ता और होगी। भुट्टो कहेंगे—'पाकिस्तान में मेरी हालत खस्ता। अलग-अलग राज्य बनना चाह रहे हैं। गरीबी बढ़ रही है। लोग भूखे मर रहे हैं।'

हमारी प्रधानमंत्री कहेंगी—'इधर भी गरीबी हट नहीं रही। कीमतें बढ़ती जा रही हैं। जनता में बड़ी बेचैनी है। बेकारी बढ़ती जा रही है।'

तब दोनों तय करेंगे—क्यों न पंद्रह दिनों का एक और जादू हो जाए। चार-पाँच साल दोनों देशों की जनता इस जादू के असर में रहेगी। (देशभक्त माफ करें—मगर ज़रा सोचें)।

जब मैं इन शहरों के इन छोटे जादूगरों के करतब देखता हूँ तो कहता हूँ, ''बच्चो, तुमने बड़े जादू नहीं देखे। छोटे देखे हैं तो छोटे जादू ही सीखे हो।''

दूसरा कमाल इस देश में साधु है। अगर जादू से नहीं मानते और राशन की दूकान की लाइन लगातार बढ़ रही है, तो लो, साधु लो।

जैसे जादूगरों की बाढ़ आयी है, वैसे ही साधुओं की बाढ़ आयी है। इन दोनों में कोई संबंध जरूर है।

साधु कहता है, ''शरीर मिथ्या है। आत्मा को जगाओ। उसे विश्वात्मा से मिलाओ। अपने को भूलो। अपने सच्चे स्वरूप को पहचानो। तुम सत्-चित्-आनंद हो।''

आनंद ही ब्रह्म है। राशन ब्रह्म नहीं। जिसने 'अन्नं ब्रह्म' कहा था, वह झूठा था। नौसिखिया था। अंत में वह इस निर्णय पर पहुँचा कि अन्न नहीं 'आनंद' ही ब्रह्म है।

पर भरे पेट और खाली पेट का आनंद क्या एक-सा है? नहीं है तो ब्रह्म एक नहीं, अनेक हुए। यह शास्त्रोक्त भी है—'एको ब्रह्म बहुस्याम!' ब्रह्म एक है पर वह कई हो जाता है। एक ब्रह्म ठाठ से रहता है, दूसरा राशन की दूकान की लाइन में खड़ा रहता है, तीसरा रेलवे के पुल के नीचे सोता है।

सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

शक्कर में पानी डालकर जो उसे वजनदार बनाकर बेँचता है, वह भी ब्रह्म है और जो उसे मजबूरी में खरीदता है, वह भी ब्रह्म है।

ब्रह्म, ब्रह्म को धोखा दे रहा है।

साधु का यही कर्म है कि मनुष्य को ब्रह्म की तरफ ले जाए और पैसे इकट्ठे करे; क्योंकि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'

26 जनवरी आते-आते मैं यही सोच रहा हूँ कि 'हटाओ गरीबी' के नारे को, हटाओ महँगाई को, हटाओ बेकारी को, हटाओ भुखमरी को, क्या हुआ?

बस, दो तरह के लोग बहुतायत से पैदा करें—

जादूगर और साधु!

ये इस देश की जनता को कई शताब्दी तक प्रसन्न रखेंगे और ईश्वर के पास पहुँचा देंगे।

भारत-भाग्य-विधाता! हममें वह क्षमता दे कि हम तरह-तरह के जादूगर और साधु इस देश में लगातार बढ़ाते जाएँ।

हमें इससे क्या मतलब कि 'तर्क की धारा सूखे मरुस्थल की रेत में न छिपे' (रवींद्रनाथ), वह तो छिप गयी। इसलिए जन-गण-मन अधिनायक! बस हमें जादूगर और पेशेवर साधु चाहिए। तभी तुम्हारा यह सपना सच होगा कि हे परमपिता, उस स्वर्ग में मेरा यह देश जाग्रत

हो (जिसमें जादूगर और साधु जन को खुश रखें)।

यह हो रहा है, परमपिता की कृपा से!

◆

एक अशुद्ध बेवकूफ

बिना जाने बेवकूफ बनना एक अलग और आसान चीज है। कोई भी इसे निभा देता है।

मगर यह जानते हुए कि मैं बेवकूफ बनाया जा रहा हूँ और जो मुझसे कहा जा रहा है, वह सब झूठ है—बेवकूफ बनते जाने का एक अपना मजा है। यह तपस्या है। मैं इस तपस्या का मजा लेने का आदी हो गया हूँ। पर यह महँगा मजा है—मानसिक रूप से भी, और इस तरह से भी। इसलिए जिनकी हैसियत नहीं है, उन्हें यह मजा नहीं लेना चाहिए। इसमें मजा-ही-मजा नहीं है—करुणा है, मनुष्य की मजबूरियों पर सहानुभूति है, आदमी की पीड़ा की दारुण व्यथा है। यह सस्ता मजा नहीं है। जो हैसियत नहीं रखते, उनके लिए दो रास्ते हैं—चिढ़ जाएँ या शुद्ध बेवकूफ बन जाएँ। शुद्ध बेवकूफ एक दैवी वरदान है, मनुष्य जाति को। दुनिया का आधा सुख खत्म हो जाए, अगर शुद्ध बेवकूफ न हों। मैं शुद्ध नहीं, 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ। और शुद्ध बेवकूफ बनने को हमेशा उत्सुक रहता हूँ।

अभी जो साहब आए थे, निहायत अच्छे आदमी हैं। अच्छी सरकारी नौकरी में हैं। साहित्यिक भी हैं। कविता भी लिखते हैं। वे एक परिचित के साथ मेरे पास कवि के रूप में आए। बातें काव्य की ही घंटा-भर होती रहीं—तुलसीदास, सूरदास, गालिब, अनीस वगैरह। पर मैं 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ, इसलिए काव्य-चर्चा का मजा लेते हुए भी जान रहा था कि भेंट के बाद काव्य के सिवाय कोई और बात निकलेगी। वे मेरी तारीफ भी करते रहे और मैं बरदाश्त करता रहा। पर मैं जानता था कि वे साहित्य के कारण मेरे पास नहीं आए।

मैंने उनसे कविता सुनाने को कहा। आमतौर पर कवि कविता सुनाने को उत्सुक रहता है, पर वे कविता सुनाने में संकोच कर रहे थे। कविता उन्होंने सुनायी, पर बड़े बेमन से। वे साहित्य के कारण आए ही नहीं थे—वरना कविता की फरमाइश पर तो मुर्दा भी बोलने लगता है।

मैंने कहा, "कुछ सुनाइए।"

वे बोले, "मैं आपसे कुछ लेने आया हूँ।"

मैं समझा, ये शायद ज्ञान लेने आए हैं।

मैंने सोचा—यह आदमी ईश्वर से भी बड़ा है। ईश्वर को भी प्रोत्साहित किया जाय तो वह अपनी तुकबंदी सुनाने के लिए सारे विश्व को इकट्ठा कर लेगा।

पर ये सज्जन कविता सुनाने में संकोच कर रहे थे और कह रहे थे, "हम तो आपसे कुछ लेने आए हैं।"

मैं समझता रहा कि ये समाज और साहित्य के बारे में कुछ ज्ञान लेने आए हैं।

कविताएँ उन्होंने बड़े बेमन से सुना दीं। मैंने तारीफ की, पर वे प्रसन्न नहीं हुए। यह अचरज की बात थी। घटिया-से-घटिया साहित्यिक सर्जक, प्रशंसा से पागल हो जाता है। पर वे ज़रा भी प्रशंसा से विचलित नहीं हुए।

उठने लगे तो बोले, ''डिपार्टमेंट में मेरा प्रमोशन होना है। किसी कारण अटक गया है। ज़रा आप सेक्रेटरी से कह दीजिए, तो मेरा काम हो जाएगा।''

मैंने कहा, ''सेक्रेटरी क्यों? मैं मंत्री से कह दूँगा। पर आप कविता अच्छी लिखते हैं।''

एक घंटे मैं जानकर भी साहित्य के नाम पर बेवकूफ बना—मैं 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ।

एक प्रोफेसर साहब—क्लास वन के। वे इधर आए। विभाग के 'डीन' मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, यह वे नहीं जानते थे। यों वे मुझसे पचीसों बार मिल चुके थे। पर जब वे 'डीन' के साथ मिले तो उन्होंने मुझे पहचाना ही नहीं। डीन ने मेरा परिचय उनसे करवाया। मैंने भी ऐसा बर्ताव किया, जैसे यह मेरा उनसे पहला परिचय है।

डीन मेरे यार हैं। कहने लगे, ''यार परसाई, चलो कैंटीन में, अच्छी चाय पी जाए। अच्छा नमकीन भी मिल जाय तो मजा आ जाय।''

अब क्लास वन के प्रोफेसर साहब थोड़ा चौंके।

हम लोगों ने चाय और नाश्ता किया। अब वे समझ गए कि मैं 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ।

कहने लगे, ''सालों से मेरी लालसा थी कि आपके दर्शन करूँ। आज वह लालसा पूर्ण हुई।'' (हालाँकि वे कई बार मिल चुके थे। पर डीन सामने थे।)

अँगरेजी में एक बड़ा अच्छा मुहावरा है—'टेक इट विथ ए पिंच ऑफ साल्ट'—याने थोड़े नमक के साथ लीजिए। मैंने अपनी तारीफ थोड़े 'नमक' के साथ ले ली।

शाम को प्रोफेसर साहब मेरे घर आए। कहने लगे, ''डीन साहब तो आपके बड़े घनिष्ठ हैं। उनसे कहिए न कि मुझे पेपर दे दें, कुछ कापियाँ भी—और 'माडरेशन' के लिए बुला लें तो अच्छा है।''

मैंने कहा, ''मैं ये सब काम डीन से आपके करवा दूँगा। पर आपने मुझे पहचानने में थोड़ी देर कर दी थी।''

बेचारे क्या जवाब देते? अशुद्ध बेवकूफ मैं—मजा लेता रहा कि वे क्लास वन के अफसर नहीं, चपरासी की तरह मेरे पास से विदा हुए। बड़ा आदमी भी कितना बेचारा होता है।

एक दिन मई की भरी दोपहर में एक साहब आ गए। भयंकर गर्मी और धूप। मैंने सोचा कि कोई भयंकर बात हो गयी है, तभी ये इस वक्त आए हैं। पसीना पोंछकर वियतनाम की बात करने लगे। वियतनाम में अमरीकी बर्बरता की बात करते रहे। मैं जानता था कि मैं निक्सन नहीं हूँ। पर वे जानते थे कि मैं बेवकूफ हूँ। मैं भी जानता था कि इनकी चिंता वियतनाम नहीं है।

घंटे-भर राजनैतिक बातें हुईं।

वे उठे तो कहने लगे, "मुझे ज़रा दस रुपये दे दीजिए।"

मैंने दे दिए और वियतनाम की समस्या आखिर कुल दस रुपये में निपट गयी।

एक दिन एक नीतिवाले भी आ गए। बड़े तैश में थे।

कहने लगे, "हद हो गयी। चेकोस्लोवाकिया में रूस का इतना हस्तक्षेप! आपको फौरन वक्तव्य देना चाहिए।"

मैंने कहा, "मैं न रूस का प्रवक्ता हूँ न चेकोस्लोवाकिया का। मेरे बोलने से क्या होगा?"

वे कहने लगे, "मगर आप भारतीय हैं, लेखक हैं, बुद्धिजीवी हैं। आपको कुछ कहना ही चाहिए।"

मैंने कहा, "बुद्धिजीवी वक्तव्य दे रहे हैं। यही काफी है। कल वे ठीक उलटा वक्तव्य भी दे सकते हैं क्योंकि वे बुद्धिजीवी हैं।"

वे बोले, "याने बुद्धिजीवी बेईमान होता है?"

मैंने कहा, "आदमी ही तो ईमानदार और बेईमान होता है। बुद्धिजीवी भी आदमी ही है। वह सूअर या गधे की तरह ईमानदार नहीं हो सकता। पर यह बतलाइए कि इस समय क्या आप चेकोस्लोवाकिया के कारण परेशान हैं? आपकी पार्टी तो काफी नारे लगा रही है। एक छोटा-सा नारा आप भी लगा दें और परेशानी से बरी हो जाएँ।"

वे बोले, "बात यह है कि मैं एक खास काम से आपके पास आया था। लड़के ने रूस की लुमुम्बा यूनिवर्सिटी के लिए दरख्वास्त दी है। आप दिल्ली में किसी को लिख दें तो उसका सिलेक्शन हो जाएगा।"

मैंने कहा, "कुल इतनी-सी बात है। आप चेकोस्लोवाकिया के कारण परेशान हैं। रूस से नाराज हैं। पर लड़के को स्कालरशिप पर रूस भेजना भी चाहते हैं।"

वे गुमसुम हो गए। मुझ अशुद्ध बेवकूफ की दया जाग गयी।

मैंने कहा, "आप जाइए। निश्चिंत रहिए—लड़के के लिए जो मैं कर सकता हूँ, करूँगा।"

वे चले गए।

बाद में मैं मजा लेता रहा। जानते हुए बेवकूफ बननेवाले 'अशुद्ध' बेवकूफ के अलग मजे हैं।

मुझे याद आया गुरु कबीर ने कहा था—'माया महा ठगनि हम जानी।'

पिटने-पिटने में फर्क

[यह आत्म-प्रचार नहीं है। प्रचार का भार मेरे विरोधियों ने ले लिया है। मैं बरी हो गया। यह ललित निबंध है]

बहुत लोग कहते हैं—तुम पिटे। शुभ ही हुआ। पर तुम्हारे सिर्फ दो अखबारी वक्तव्य छपे। तुम लेखक हो। एकाध कहानी लिखो। रिपोर्ताज लिखो। नहीं तो कोई ललित निबंध लिख डालो। पिट भी जाओ और साहित्य-रचना भी न हो। यह साहित्य के प्रति बड़ा अन्याय है। लोगों को मिरगी आती है और वे मिरगी पर उपन्यास लिख डालते हैं। टी-हाउस में दो लेखकों में सिर्फ माँ-बहन की गाली-गलौज हो गयी। दोनों ने दो कहानियाँ लिख डालीं। दोनों बढ़िया। एक ने लिखा कि पहला नीच हैं। दूसरे ने लिखा—मैं नहीं, वह नीच है। पढ़नेवालों ने निष्कर्ष निकाला कि दोनों ही नीच है। देखो, साहित्य का कितना लाभ हुआ कि यह सिद्ध हो गया कि दोनों लेखक नीच हैं। फिर लोगों ने देखा कि दोनों गले मिल रहे हैं। साथ चाय पी रहे हैं। दोनों ने माँ-बहन की गाली अपने मन के कलुष से नहीं दी थी, साहित्य-साधना के लिए दी थी। ऐसे लेखक मुझे पसंद हैं।

पिटाई की सहानुभूति के सिलसिले में जो लोग आए, उनकी संख्या काफी होती थी। मैं उन्हें पान खिलाता था। जब पान का खर्च बहुत बढ़ गया, तो मैंने सोचा पीटनेवालों के पास जाऊँ और कहूँ—'जब तुमने मेरे लिए इतना किया है, मेरा यश फैलाया है, तो कम-से-कम पान का खर्च दे दो। चाहो तो एक बेंत और मार लो। लोग तो खरोंच लग जाए तो भी पान का खर्च ले लेते हैं।'

मेरे पास कई तरह के दिलचस्प आदमी आते हैं।

आम तौर पर लोग आकर यही कहते हैं—'सुनकर बड़ा दुख हुआ। बड़ा बुरा हुआ।'

मैं इस 'बुरे लगने' और 'दुख' से बहुत बोर हो गया। पर बेचारे लोग और कहें भी क्या?

मगर एक दिलचस्प आदमी आए। बोले, "इतने सालों से लिख रहे हो। क्या मिला ? कुछ लोगों की तारीफ! बस! लिखने से ज्यादा शोहरत पिटने से मिली। इसलिए हर लेखक को साल में कम-से-कम एक बार पिटना चाहिए। तुम छह महीने में एक बार पिटो। फिर देखो कि बिना एक शब्द लिखे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के होते हो कि नहीं। तुम चाहो तो तुम्हारा यह काम मैं ही कर सकता हूँ।"

मैंने कहा, "बात सही है। जब जरूरत होगी, आपको तकलीफ दूँगा। पर यार, ज्यादा मत मारना।"

पिटा पहले भी हूँ।

मैट्रिक में था तो एक सहपाठी रामेश्वर से मेरा झगड़ा था। एक दिन उसे मैं ढकेलते-ढकेलते कक्षा की दीवार तक ले गया। वह फँस गया था। मैंने उसे पीटा। फिर दोनों में अच्छे संबंध हो गए। स्कूली-लड़ाई स्थायी नहीं होती। पर वह गाँठ बाँधे था। हमारे घर से स्कूल डेढ़ मील दूर था। एक दिन हम दोनों गपशप करते शाम के झुटपुटे में आ रहे थे कि वह एकाएक बोला, "अरे, यह रामदास कहाँ से आ रहा है? वह देखो।" मैं उस तरफ देखने लगा। उसने बिजली की तेजी से मेरी टाँगों में हाथ डाला और वह पटकनी दी कि मैं नाले के पुल से नीचे गिर पड़ा। उठा। शरीर से, ताकत से, मैं डेवढ़ा पड़ता था। सोचा, इसे दमचूँ। पर उसने बड़े मजे की बात कही। कहने लगा, "देखो, अदा-बदा हो गए। अपन अब पक्के दोस्त। मैंने तुम्हें कैसी बढ़िया तरकीब सिखायी है।" मैंने भी कहा, "हाँ यार, तरकीब बढ़िया है। मैं काफी दुश्मनों को ठीक करूँगा।" फिर मैंने चार विरोधियों को वहीं आम के झुरमुट में पछाड़ा। तरकीब वही—साथ जा रहे हैं। एकाएक कहता—अरे, वह उधर से श्यामसुंदर आ रहा है। वह उधर देखने लगता और मैं उसकी टाँगों में हाथ डालकर सड़क के नीचे के गढ़े में फेंक देता।

यह तो स्कूल की पिटाई हुई।

लिखने लगा, तो फिर एक बार पिटाई हुए। आज से पंद्रह-बीस साल पहले। मैं कहानियाँ लिखता और उसमें 'कमला' नाम की पात्री आ जाती। कुछ नाम कमला, विमला, आशा, सरस्वती ऐसे हैं कि कलम पर यों ही आ जाते हैं।

मुझे दो चिट्ठियाँ मिलीं—'खबरदार, कभी कमला कहानी में आयी तो ठीक कर दिए जाओगे। वह मेरी प्रेमिका है और तुम उससे कहानी में हर कुछ करवाते हो। वह ऐसी नहीं है।'

मैं बात टाल गया।

एक दिन सँकरी गली से घर आ रहा था। आगे गली का मोड़ था। वहीं मकान की पीछे की दीवार थी। एक आदमी चुपचाप पीछे से आया और ऐसे जोर से पीछे से धक्का दिया कि मैं दीवार तक पहुँच गया। हाथ आगे बढ़ाकर मैंने दीवार पर रख दिए और सिर बचा लिया, वरना सिर फूट जाता। बाद में मालूम हुआ कि वह शहर का नंबर एक का पहलवान है। मैंने कमला को विमला कर दिया। लेखक को नाम से क्या फर्क पड़ता है।

पर यह जूनवाली ताजा पिटाई बड़ी मजेदार रही। मारनेवाले आए। पाँच-छः बेंत मारे। मैंने हथेलियों से आँखें बचा लीं। पाँच-सात सेकेंड में काम खत्म। वे दो वाक्य राजनीति के बोलकर हवा में विलीन हो गए।

मैंने डिटाल लगाया और एक-डेढ़ घंटे सोया। ताजा हो गया।

तीन दिन बाद अखबारों में खबर छपी तो मजे की बातें मेरे कानों में शहर और बाहर से आने लगीं। स्नेह, दुख की आती ही थीं। पर—

—अच्छा पिटा।

—पिटने लायक ही था।

—घोर अहंकारी आदमी।

—ऐसा लिखेगा तो पिटेगा ही।

—जो लिखता है, वह साहित्य है क्या? अरे, प्रेम-कहानी लिख। उसमें कोई नहीं पिटता।

कुछ लेखकों की प्रसन्नता मेरे पास तक आयी। उनका कहना था—अब यह क्या लिखेगा? सब खत्म। हो गया इसका काम तमाम। बहुत आग मूतता था। पर मैंने ठीक वैसा ही लिखना जारी रखा और इस बीच पाँच कहानियाँ तथा चार निबंध लिख डाले और एक डायरी-उपन्यास तिहाई लिख लिया है।

सहानुभूतिवाले बड़े दिलचस्प होते हैं। तरह-तरह की बातें करते हैं। बुजुर्ग-बीमार-वरिष्ठ साहित्यकार बाबू रामानुजलाल श्रीवास्तव ने अपनी मोटी छड़ी भेजी और लिखा, ''अब यह मेरे काम की नहीं रही। मेरी दुनिया अब बिस्तर हो गयी है। इस छड़ी को साथ रखो।''

लाठी में गुन बहुत हैं, सदा राखिए संग...

एक अपरिचित आए और एक छड़ी दे गए। वह गुप्ती थी, पर भीतर का फलक नहीं था। मूठ पर पैने लोहे का ढक्कन लगा था, जिसके कनपटी पर एक वार से आदमी पछाड़ खा जाए।

मेरे चाचा नंबर एक के लठैत थे। वे लट्ठ को तेल पिलाते थे और उसे 'दुखभंजन' कहते थे। मुहल्ले के रंगदार को, जो सबको तंग करता था, उन्होंने पकड़ा। सामने एक पतले झाड़ से बाँधा और वह पिटाई की कि वह हमेशा के लिए ठीक हो गया। मैंने ही कहा, ''दादा, इसे अब छोड़ दो।'' उन्होंने छोड़ दिया, मगर कहा, ''देख, मैंने 'दुखभंजन' से काम नहीं लिया। गड़बड़ की तो 'दुखभंजन' अपना काम करेगा।''

वह 'दुखभंजन' पता नहीं, कहाँ चला गया। उनकी मृत्यु हो गयी पर वे शीशम की अपनी छड़ी छोड़ गए हैं।

एक साहब एक दिन आए। एक-दो बार दुआ-सलाम हुई होगी। पर उन्होंने प्रेमी मित्रों से ज्यादा दुख बताया। मुझे आशंका हुई कि कहीं वे रो न पड़ें।

वे मुझे उस जगह ले गए, जहाँ मैं पिटा था। जगह का मुलाहजा किया।

—कहाँ खड़े थे?

—किस तरफ देख रहे थे?

—क्या वे पीछे से चुपचाप आए?

—तुम सावधान नहीं थे?

—कुल पाँच-सात सेकेंड में हो गया?

—बिना चुनौती दिए हमला करना कायरता है। सतयुग से चुनौती देकर हमला किया जाता रहा है, पर यह कलियुग है।

मैं परेशान। जिस बात को ढाई महीने हो गए, जिसे मैं भूल जाना चाहता हूँ, उसी की पूरी तफतीश कर रहा है। कहीं यह खुफिया विभाग का आदमी तो नहीं है? पर जिसका सब खुला है, उसे खुफिया से क्या डर!

वे आकर बैठ गए।

कहने लगे, ''नाम बहुत फैल गया है। मंत्रियों ने दिलचस्पी ली होगी?''

मैंने कहा, ''हाँ ली।''

वे बोले, ''मुख्यमंत्री ने भी ली होगी। मुख्यमंत्री से आपके संबंध बहुत अच्छे होंगे?''

मैंने कहा, ''अच्छे संबंध हैं।''

वे बोले, ''मुख्यमंत्री आपकी बात मानते हैं?''

मैंने कहा, ''हाँ, मान भी लेते हैं।''

मैं परेशान कि आखिर ये बातें क्यों करते हैं। क्या मकसद है?

आखिर वे खुले।

कहने लगे, ''मुख्यमंत्री आपकी बात मानते हैं। लड़के का तबादला अभी काँकेर हो गया है। ज़रा मुख्यमंत्री से कहकर उसका तबादला यहीं करवा दीजिए।''

पिटे तो तबादला करवाने, नियुक्ति कराने की ताकत आ गयी—ऐसा लोग मानने लगे हैं। मानें। मानने से कौन किसे रोक सकता है! यह क्या कम साहित्य की उपलब्धि है कि पिटकर लेखक तबादले कराने लायक हो जाए। सन् 1973 की यह सबसे बड़ी साहित्यिक उपलब्धि है। पर अकादमी माने तो।

फिर उसी नर्मदा मैया की जय

[होशंगाबाद के जल-प्रलय पर लेखक के नोट्स]

भाई की ससुराल होशंगाबाद में है और उसकी पत्नी तब वहीं प्रलय के बीच थी। होशंगाबाद सरीखा महाविनाश खड़गवासला के बाद दूसरा नहीं हुआ।

मेरी ननिहाल होशंगाबाद के उस पार शाहगंज में है। 1926 का पूरा महा-प्रलय कहलाता था। विशेषज्ञ कहते थे—एक शताब्दी में ऐसा पूर नहीं आया। अब कहते हैं—पाँच शताब्दियों में इस साल सरीखा पूर नहीं आया। विशेषज्ञ को आदमी से नहीं, आँकड़ों से मतलब है। पाँच सौ साल पहले होशंगाबाद बसा था, इसका क्या सबूत? इसका सबूत कबीरदास के पास ही होगा। पर इस बार के पूर और विनाश-लीला के लिए शब्द नहीं हैं। व्यंग्यलेखक ने देखा, तो सारा व्यंग्य भूल गया।

मैं 1926 में ननिहाल में था। दो-ढाई साल का था। नर्मदा बढ़ रही थी। मैं पानी में डूब रहा था। हर आदमी आत्म-रक्षा में लगा था। जब मैं डूब रहा था, मेरी माँ एकदम कूद पड़ी। मेरी टाँग पकड़ी और खींच लायी। उस समय माँ-बेटे दोनों बह जाते और मर

जाते। पर मेरी माँ ने जान देने का तय करके मुझे बचा लिया। माँ इसी तरह की होती है। सबकी माँ। इस वीरबाला सरस्वती ने भी उसी 'माँ' भावना से सैकड़ों लोगों को बचाया। यह 'माँ' ही कर सकती है।

तब माँ जान की कीमत पर मुझे नहीं बचाती तो हरिशंकर परसाई जैसा आदमा इस दुनिया में न होता। मेरे होने से कुछ मित्रों, देशवासियों को खुशी है, पर बहुत लोगों को दुख भी है। वे सोचते हैं—यह बदमाश 1926 में ही क्यों नहीं मर गया? झंझट ही दूर हो जाता।

'नर्मदा मैया' से मेरा लगाव इस तरह का है। मैं नर्मदा के तट पर पैदा हुआ, उसी नर्मदा में डूब रहा था और अब उसी नर्मदा को दो बार देखकर आ चुका हूँ। मैं नर्मदा-पुत्र ही हूँ।

जिनके घर-बार बह गए, बच्चे डूबकर मर गए, वे मेरे साथ रेल के डब्बे में थे। पर जब नर्मदा रास्ते में आयी तो वे पाँच पैसे डालकर, हाथ जोड़कर कहते– 'जै नर्मदा मैया'!

मैं सोचता रह गया। जिनका सबकुछ अभी इसी नर्मदा ने नष्ट कर दिया है, उसी की 'जय' बोल रहे हैं। यह क्या मामला है? मुझे याद आया, कृषि-सभ्यता से यह श्रद्धा चली आ रही है। यह भारतीय मानस से मिटेगी नहीं। नदी जीवन-दायिनी भी है और विनाशकारिणी भी। पर विनाश के बाद जीवन वहीं फिर बस जाता है और नये विनाश की राह देखता है। विनाश को भूलकर जीवन फिर वहीं आ जाता है। जिजीविषा बड़ी प्रबल होती है। मनुष्य मृत्यु पर विजय पाने की हर क्षण कोशिश करता है, घायल हो जाता है, पर फिर लड़ने को तैयार हो जाता है।

नर्मदा से मेरा बड़ा घना लगाव है। उन घाटों पर हमने कितनी बार बैठकर आधी रात तक गीत गाए हैं? कितनी बार हमने पूर्ण चंद्र को नर्मदा में देखा है? कितनी बार बरसात में डोंगी या लाठी के सहारे या चट्टानों पर से लहर को बचाकर मैंने पार नहीं किया है? कितनी बार मैंने नर्मदा में सैर नहीं की है, तैरा नहीं हूँ? मैं बिल्कुल नर्मदा-पुत्र हूँ। लेखक देखने गया था, मगर भावुक हो गया। इसी पूज्या नदी का पुत्र, इसी का पानी पिया, इसी में नहाया-तैरा, इसी ने विनाश कर दिया। मैं थोड़ी देर तो स्तब्ध खड़ा रहा।

मेरा एक भावात्मक लगाव नर्मदा से है। पर ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि भी है। कृषि-युग में पंप नहीं थे, बिजली नहीं थी, ट्यूबवेल नहीं थे। तब नगर नदियों के किनारे बसते थे—पीने को पानी भी, सिंचाई भी, फसल भी और आवागमन का मार्ग भी। तभी से यह श्रद्धा चली आ रही है कि जिसने विनाश कर दिया, उसे भी 'जय नर्मदे'। पर इस जमाने में भी बाढ़ से बचाव का इंतजाम न हो, यह बात प्राकृतिक मानकर भी शर्मनाक है।

आदमी जगह छोड़ेगा नहीं। पर विज्ञान और टैक्नालाजी कहाँ चली गयी? जहाँ हर कभी बाढ़ आती है, वहाँ पहले से इंतजाम क्यों नहीं? आसपास सर्वे क्यों नहीं? खतरे के

स्तर पर पहुँचने पर नीची बस्तियाँ खाली क्यों नहीं करायीं?

खैर, छोड़ूँ। मैं बताऊँ कि एक मनुष्य के पतन की जितनी गहराई है, उससे अधिक ऊँचाई मनुष्यता के उत्थान की है। मुझे लोगों ने बताया कि इटारसी के लोगों ने घर खोल दिए थे : 'दुखी भाइयो और बहनो—आओ। हमारे घर में जो है, तुम्हारा है। जितना है, बनाओ और खाओ। आगे हम इंतजाम करते हैं।' ट्रकें भरकर पका भोजन जाता था। मध्यवर्ग की महिलाओं ने गहने बेच दिए और कहा—'गहने के बिना आदमी नहीं मरता। अन्न के बिना मरता है। बेच दो इन गहनों को और खाने का सामान लाओ।' लोगों ने कहा—'इटारसी नहीं होता और ऐसे मानवी लोग न होते, तो न जाने कितने हजार लोग मर जाते!' जो दूकान करते हैं, मुनाफा कमाते हैं, उन लोगों में से भी जो पशु नहीं, आदमी थे, दूकानें और गोदामें खोल दीं। भोपाल तक से लोग खाने का सामान लाकर दे जाते थे। न जाने कहाँ-कहाँ से सहायता आयी।

इधर मेरे शहर में मीठे तेल में बेकार हुए डीजल को मिलाया जाता है, पर उधर कुछ लोग दूकानें खोल देते हैं कि 'ले जाओ! कोई भूखा न मरे।' कैसा विरोधाभास है ! आदमी कब लकड़बग्धा हो जाए और कब करुणा-सागर—ठिकाना नहीं है।

मनुष्य कितना जटिल है। कितना समस्यामूलक है। कितना क्रूर है, कितना दयालु है ! मैं उन सबकी जय बोलता हूँ, जिनने सिद्ध किया कि मैं अभी भी मनुष्य हूँ!

लेकिन बाकी जो बचे वे बिलबिलाते कीड़े हैं, जो सभ्यता के सड़े भात में पैदा हो जाते हैं।

मैं दूरबीन से आसपास देख रहा था। कहीं गाँव का निशान नहीं।

मैंने जानबूझकर नहीं बताया कि शाहगंज मेरी ननिहाल है। फायदा भी क्या? परिवार यहाँ-वहाँ नौकरी कर रहा है। घर होगा, जो खत्म हो गया होगा। पचासों गाँवों का निशान नहीं है। कोई बूढ़ी नानी या मौसी मर गयी होगी। क्या होता है? इतनी नानियाँ और मौसियाँ मर गयीं। मेरी भी मर गयी हो।

मगर फिर भी मेरी आँखों में आँसू आ गए। यहाँ मालाखेड़ी था, इस तरफ शाहगंज, उस तरफ बुदनी है—पचासों गाँव मेरे ध्यान में आए। कितने दिनों मैं इस धूल में लोटा हूँ। पर अब यहाँ कुछ नहीं।

दिल्ली में यमुना के उस पार सैकड़ों गाँव हर साल बहते हैं, पर लोग बरसात के बाद फिर वहीं झोंपड़ी-झुग्गी बना लेते हैं। मुसीबत को जिसने बंधु बना लिया है, उससे आदमी को क्या डर?

फिर मुझे याद आता है—मेरी ननिहाल कहाँ गयी? बची कि वह गयी? लोग मरे कि बचे? मेरे परिवार के लोग बचे कि मर गए?

मैंने किसी से नहीं पूछा। बताया भी नहीं। इतनी ननिहालें नष्ट हो गयीं, इतने बच्चे मर गए, इतनी औरतें एक के बाद दूसरा बच्चा नदी में छोड़ती जाती थीं कि कम-से-कम एक तो बच जाए। वहाँ अपना छोटा-सा दुख लेकर मैं क्यों बैठूँ?

मैंने कालिज के लोगों की तारीफ सुनी। बहुत अच्छा राहत-कार्य किया। लोग आते और पका या बिना पका खाना देकर बिना नाम बताए चले जाते। फोटोग्राफर नहीं लाते थे। इसी तरह के कई राहत-कार्य चले।

आँसू पोंछकर मैं जब निपटा तो एक सज्जन ने कहा, "कुछ तो कहिए।"

मैंने कहा, "शब्द कहने में समर्थ नहीं हैं। समर्थ कर्म है। कर्म करो। जीवन मृत्यु पर विजय पाएगा। विज्ञान से, आंदोलन से, क्रांति से। इस बीच कितने ही लोग मरेंगे। पर जीने के लिए कितने लोग नहीं मरे? जीने के लिए मरना भी पड़ता है।"

और फिर याद आया, मेरी ननिहाल···

मैंने कहा—छोड़ो। आत्म-रक्षा की कोशिश कीड़ा भी कर लेता है। फिर वे तो मनुष्य हैं।

फिर किनारे पर लोगों का समवेत स्वर—'जय नर्मदे'!

आदमी और नदी का संबंध हमेशा रहेगा।

उस बहादुर मत्स्यगंधा सरस्वती की याद आयी। वह बाहर गयी थी।

मंत्री उईके ने साहस और आदमियत का काम किया कि क्रुद्ध भीड़ में चले गए। वह भीड़ किसी को भी चीरकर फेंक देती। अफसरों का पिटना स्वाभाविक है।

पर लोग खुश-फुस कर रहे थे कि पुलिस अफसर को सट्टेवालों ने पीटा था। खैर, जाँच चल रही है। यह भी लोगों ने बताया कि हिंसा को राजनीति का सिद्धांत माननेवाले एक दल ने उपद्रव कराए।

मैं सोचता हूँ, सोलह वर्ष की केवट बच्ची में यह साहस कहाँ से आया? साहस और लोग भी जताते हैं। दूसरों की प्राण-रक्षा भी करते हैं।

पर आत्म-रक्षा आदमी पहले करता है। जब खुद सुरक्षित हो जाता है, तब दूसरे की रक्षा करता है। दूसरा वह होता है, जो थोड़ा खतरा उठाकर दूसरे को बचाता है। इतना खतरा नहीं लेता कि अपनी जान चली जाय।

पर यह साहस बिल्कुल अलग है। समुद्र-सरीखा हाल है। तेज लहरें हैं। चट्टानें छिपी हैं। ऐसे में कोई लड़की यह मानकर कि मैं तो निश्चित मरूँगी, दूसरों को बचाने निकल पड़े। अपनी मौत के बारे में तय करके दूसरों की प्राण-रक्षा करने निकल पड़ना— यह कैसा साहस है!

मुझे लगता है—इसमें वही भावना है, जो मेरी माँ में मुझे बचाते वक्त थी—मातृत्व की भावना। छोटी केवट लड़की उस वक्त माँ हो गयी होगी और सोचा होगा—बच्चों को बचाना है। साथ ही मानवी करुणा। इस भीतरी भावना ने बाहरी शारीरिक सामर्थ्य से मिलकर उसके हाथों से डोंगी चलवायी होगी। यह केवल शारीरिक साहस नहीं है, गहरा है, भीतरी है।

उसका सम्मान हो रहा है। उसने वे रुपये बाढ़-पीड़ितों के लिए दे दिए।

तब कलेक्टर ने बैंक में उसका खाता खुलवाया और उसे ड्राफ्ट या चेक दिए

जाने लगे।

इधर मेरे शहर में भी सार्वजनिक सम्मान हुआ। पचासों मालाएँ गले में डल रही हैं। जय बोली जा रही है। पर लड़की न प्रसन्न, न उत्तेजित, न भावुक। ऐसे बैठी रही, जैसे झोंपड़े में, घर में बैठी है और उसने कोई खास काम नहीं किया है।

स्कूली बच्चे पच्चीस-पचास पैसे जेब-खर्च का लाकर दे रहे थे।

पर बड़ी-बड़ी संस्थावाले, जो चार-छः हजार का डिनर करते हैं, वायदा करके भी नहीं आए। और भी लखपति, करोड़पति नहीं आए। उनके दस्तखतों-सहित लिस्ट आयोजन के मंत्री के पास थी। संचालन मैं कर रहा था। भोला-सा मंत्री बोला, ''अब दानदाताओं के नाम पढ़ते जाएँ। वे आकर माला पहनाएँगे और ड्राफ्ट देंगे।''

मैंने कहा, ''वे तुम्हारे दानदाता यहाँ मुझे नहीं दिख रहे हैं। नाम पढ़ेंगे और कोई नहीं आया तो बड़े शर्म की बात होगी। वे तो अपनी शर्म ऊँचे दामों पर बेच चुके, पर अपनी अभी बची है।''

यह समाचार अखबारों में छप गया।

मैंने सोचा—इनकी आत्मा बीमार तो है, पर अभी मरी नहीं है। साँस चल रही है। शायद ये उसे कुछ भेजें।

फिर याद आयी मुझे—ननिहाल!

नर्मदा से ही नष्ट लोगों की—'नर्मदा मैया की जय!'

और याद आता है—मनु!

> हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
> बैठ शिला की शीतल छाँह,
> एक पुरुष भीगे नयनों से
> देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

☯

इनाम और ईमान

ज्याँ पाल सार्त्र नाम का जो वह आदमी पेरिस में रहता है, बड़ा बदमाश है। वह मेरे पाँच सौ रुपये डुबाए दे रहा था।

अभी मुझे एक किताब पर एक राज्य सरकार ने पाँच सौ रुपये का पुरस्कार दे दिया। जनता का पैसा इसी तरह बरबाद किया जाता है। अपनी जिंदगी का यह दूसरा इनाम है। पहला इनाम स्कूल में 'लांग-जम्प' यानी लंबी कूद पर मिला था और दूसरा यह साहित्य की 'हर्डल' रेस पर!

बीच के बीस-पचीस साल मैं बिना इनाम के जिंदा रह लिया। जीवन-शक्ति बेशर्मी

का दूसरा नाम है।

स्कूल में दूसरी बार इनाम नहीं मिला, क्योंकि फिर कूदा ही नहीं। इधर साहित्य में अभी तक इनाम नहीं मिला, क्योंकि ज़रा अकड़ू तबीयत का आदमी हूँ। किताबें इनाम के लिए नहीं भेजता। हर साल हवाई जहाज की तरह लाखों रुपये मेरे सिर पर से उड़ जाते हैं। देखता हूँ, कुछ लोगों को इनाम लेने की आदत पड़ जाती है। न मिले तो तबीयत खराब हो जाती है। दिल्ली में मेरे दोस्त नौटंकीलाल बता रहे थे कि एक साल उन्हें इनाम नहीं मिला तो पेचिश हो गयी थी।

इस बार किताब भेजे बिना इनाम कैसे मिल गया? क्या सरकारें ज्यादा सुसंस्कृत हो गयी हैं? नहीं, सरकारें तो वैसी ही असंस्कृत हैं। पर बिना किताब भेजे भी इनाम लेने की एक तरकीब है, जो आगे खुलेगी।

इनाम तो मिल गया। पर वह जो ज्याँ पाल सार्त्र नाम का आदमी पेरिस में रहता है, वह मेरे पाँच सौ रुपये डुबाए दे रहा था। हम उसके विचारों के नहीं, अदा के दीवाने हैं। यों तो वह कहता है—'दमन और शोषण से मुक्त होने पर मनुष्य जिससे परिभाषित होता है, उसे 'संस्कृति' कहते हैं।' मगर हम न दमन से मुक्त होते, न शोषण से—और सुसंस्कृत हैं। उसकी वह जाने! हम तो लेखक की अदा देखते हैं। किस अदा से उसने नोबुल पुरस्कार ठुकरा दिया था। उसने कहा था, इस पुरस्कार को लेने से यह आभासित होगा कि मेरी सहानुभूति पश्चिम के साथ है। हिंदी में इसे यों कहेंगे—लोग समझेंगे मैं पश्चिम के हाथ बिक गया।

मुझे इनाम की खबर मिली, तो सार्त्र की यह अदा एकदम ध्यान में आयी। सोचा, मैं भी एक वक्तव्य देकर पुरस्कार लेने से इंकार कर दूँ। ऐसा करने ही वाला था कि एकाएक आत्मबोध हो गया। आत्मबोध क्या है? स्वार्थ की रक्षा के लिए मनुष्य की अंतरात्मा से जो तर्क उठता है, उसे आत्मबोध कहते हैं। तर्क ऐसा उठा—बिकते वे हैं, जो नमकहलाल होते हैं। जिसका खा लेंगे, उसी के हो जाएँगे। बेचारे बड़े कमजोर होते हैं। पर नमकहराम कभी नहीं बिकते। जिसका खाएँगे उससे लड़ेंगे। सार्त्र होगा नमकहलाल—उसे बिकने का डर है। हम हैं नमकहराम। हम नहीं बिक सकते। जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना—यह आत्मविश्वास जिसे हो, वह कभी नहीं बिक सकता।

वैसे लेखक को बिकने का डर हमेशा लगा रहता है। अभी पंजाब सरकार ने डेढ़ लाख रुपये पत्रकारों और लेखकों को बाँट दिए हैं, तो बड़ा हल्ला मचा है कि यह सरकार हमें खरीदना चाहती है। मैं कहता हूँ, नमकहराम हो जाओ। पैसा खाओ और मत बिको। मगर लेखकों की मुश्किल यह है कि बाजार में खड़े हैं और डर भी रहे हैं कि कहीं बिक न जाएँ। जिसे बिकने का इतना डर है उसे बाजार में नहीं, गौशाला में होना चाहिए। हिंदी में तो बाजार-इंस्पेक्टर भी हैं, जो छड़ी और डायरी लेकर बाज़ार में घूम रहे हैं और रिकार्ड कर रहे हैं कि किसे किसने खरीद लिया। असफल लेखक अक्सर बाजार-इंस्पेक्टर हो जाते हैं। जो अच्छी कीमत पर बिकने में सफल नहीं हुए, वे भी बाजार-इंस्पेक्टर हो जाते हैं।

मेरे एक दोस्त ही हो गए हैं। वे हर दस-पंद्रह दिनों में किसी के बिकने की खबर मुझे दे जाते हैं। सुना है, मेरे बिकने की खबर भी वे दूसरों को देते हैं।

वह बात रही जा रही है कि बिना किताब भेजे इनाम कैसे मिल गया। प्रकाशक ने पूछा कि किताब भेज दें। मैंने लंबी चिट्ठी लिखी कि मैं किताब नहीं भेजता। लेखकों से किताबें मँगवाना और वह दरख्वास्त जैसा फार्म भरवाना अपमानकारक है। प्रकाशक ने कहा—आप मत भेजिए, हम भेजे देते हैं। मैंने जवाब दिया—आप जो उचित समझें, करें। मैं पीठ फेरकर बैठ गया। मगर गर्दन घुमाकर बार-बार देख लेता था कि इनाम सड़क पर आ रहा है या नहीं। इसी को लेखक की ईमानदारी कहते हैं—पीठ फेर ली, मगर गर्दन घुमाकर देख भी रहे हैं। यह तरकीब मैंने बचपन में ही सीख ली थी। मेरे पिताजी ब्राह्मण कहलाते थे। मैं ब्राह्मण-भोजों में जाया करता था। पचीस-तीस सालों के अनुभवी ब्राह्मणों को खाते देखता था। लड्डू परोसनेवाला आता, तो वे 'नहीं-नहीं' कहते हुए जोर से गर्दन हिलाते और पत्तल को दोनों हाथों से ढाँप लेते। पर दोनों हाथों के बीच में लड्डू डालने की जगह छोड़े रखते।

परोसनेवाला उस जगह में से लड्डू डाल देता। ब्राह्मण देवता लड्डू खा लेते, क्योंकि अन्न ब्रह्म है और ब्रह्म को खाना ब्राह्मण का धर्म है। वह ट्रेनिंग आज काम आयी। प्रकाशक के पास वह मेरी चिट्ठी साहित्य के इतिहास-लेखकों के लिए सुरक्षित है। वे लिख सकेंगे कि यह बड़ा निर्लिप्त लेखक था। इधर पाँच सौ का ड्राफ्ट भी मैंने भुना लिया है और एक बढ़िया पंखा खरीद लिया है। साहित्य के मुनीम लोग जब 1969 की जनवरी में 1968 के साहित्य की रोकड़ मिलाएँ, तब इस पंखे को न भूलें। यह पंखा 1968 के हिंदी साहित्य की महान उपलब्धि है।

इज्जत से रहना है, तो छोटे शहर में रहना चाहिए। जहाँ से निकल जाता हूँ, लोग कहते हैं—इन्हें इनाम मिला है। बंबई, कलकत्ता में नोबुल पुरस्कारवाला भी दिन-भर घूमे, तो उसे कोई पहचानेगा नहीं। कुछ लोग इसे शहर का गौरव मान रहे हैं। मेरे मुहल्ले के लोग इसे मुहल्ले का गौरव मान रहे हैं—हमारे नेपियर टाउनवाले को इनाम मिला है। राइट टाउनवाले किसी को नहीं मिला।

मुझसे ज्यादा खुशी उस दूकानदार को हुई, जिसकी उधारी पड़ी है। उन्होंने मुझे बड़े प्रेम से पान खिलाया। बोले—बड़ी खुशी हुई हमें। मैं खुशी का कारण जानता हूँ—बकाया चुकने की उम्मीद। उनके हृदय से उद्गार निकल रहे होंगे—धन्य है यह लेखक, जो बकाया चुकाने लायक हो गया। धन्य है साहित्य जो लेखक को हमारी उधारी चुकाने लायक बनाता है। साहित्य सचमुच महान है।

◆

ग़ालिब की पारसाई

तमाम दुबों, चौबों, तिवारियों, वर्माओं, श्रीवास्तवों, मिश्रों को चुनौती है—बता दे कोई, अगर ग़ालिब के पूरे दीवान में कहीं किसी का जिक्र हो। कबीरदास ने अलबत्ता हमारे पड़ोसी पांडेजी का नाम लिया है—''साधो पांडे निपट कुचाली।'' इससे पांडेजी कबीर से बहुत नाराज हैं। मगर ग़ालिब ने लगातार दो शे'रों में परसाईजी को याद किया है। मुलाहजा हो—

पए-नज्रे-करम तोहफ़ा है शर्मे-ना-रसाई का।
ब-खूँ-गल्तीदा-ए-सद-रंग दावा पारसाई का।
न हो हुस्ने-तमाशा दोस्त रुसवा बेवफाई का।
बमुहरे-सद-नजर साबित है दावा पारसाई का।

(पारसाई का अर्थ है पवित्रता)

मेरा दावा इन शे'रों से साबित हो जाता है। कहता हूँ सच कि झूठ की आदत नहीं मुझे।

ग़ालिब ने मेरे लिए इतना किया है कि खुदा और प्रेमिका के बाद परसाई को याद किया है। मेरा भी उनके प्रति कुछ फर्ज हो जाता है। मैं पूरी कोशिश कर रहा हूँ कि उनकी याद के जलसे कामयाब हों। इस साल टोटल 17,315 समारोह ग़ालिब की याद में होंगे। इतने समारोहों के उद्घाटन के लिए इतने साधारण विद्वान नहीं मिलेंगे। पर देश में पंचायती विद्वानों की कमी नहीं है। कल ही एक पंचायती विद्वान का भाषण सुन रहा था। वे कह रहे थे—'ग़ालिब? अहा! ग़ालिब महान कवि थे, अहा! ग़ालिब महान शायर थे, अहा ! मिर्ज़ा ग़ालिब का क्या कहना है, अहा!'

मैं पंचायती विद्वान की तकलीफ देखकर बहुत दुःखी हुआ। तय किया कि इस तकलीफ को दूर करूँगा। मैं सारे पंचायती विद्वानों के लिए एक नमूने का भाषण लिख दे रहा हूँ जिससे उनकी तकलीफ दूर होगी, ग़ालिब के समारोह सफल होंगे और ग़ालिब के प्रति मेरा फर्ज भी निभ जाएगा—हक़ तो ये है कि हक़ अदा न हुआ।

जो वेद नहीं पढ़े, वे भी वैदिक धर्म मानते हैं। जो शास्त्र नहीं पढ़े, वे शास्त्रों में विश्वास रखते हैं। जो ग़ालिब को नहीं समझते, वही ग़ालिब को समझा सकते हैं। ग़ालिब ने खुद कहा है—

जो ग़ालिब को नहीं समझे
वही उसे सही समझे ।

अगर ग़ालिब इस उम्दा शे'र को अपने गले डालने से इन्कार करें तो यह मीर को दे दिया जाय। अगर मीर भी इसकी जोखम न उठाना चाहें तो इसे मेरा ही मान लिया जाय।

इस बुनियाद पर अब भाषण खड़ा होता है—

भाइयो और बहनो,

बड़ी खुशी की बात है कि सौ साल पहले ग़ालिब की मृत्यु हो गयी थी। अगर वे

सौ साल पहले न मरते, तो आज हमें यह समारोह करने का सुनहला अवसर न मिलता। हम ग़ालिब के आभारी हैं कि उन्होंने हमें यह चांस दिया।

आप पूछेंगे कि ग़ालिब कौन है? यह प्रश्न ग़ालिब के समय में भी लोग पूछते थे। ग़ालिब प्रचार से दूर रहते थे। कोई नहीं जानता था कि ग़ालिब कौन है।

ग़ालिब खुद भी नहीं जानते थे कि वे ग़ालिब हैं। एक दिन एक आदमी ग़ालिब के घर आया और उसने नौकर से पूछा—क्यों जी, यह तो बताओ, ग़ालिब कौन है? नौकर पड़ोसियों के पास जाकर बोला—

पूछते हैं वे कि ग़ालिब कौन है।
कोई बतलाए कि हम बतलाएँ क्या।

पड़ोसियों को भी नहीं मालूम था। नौकर ने उस आदमी से कहा—यहाँ कोई ग़ालिब-फ़ालिब नहीं रहता। उधर लकड़ी के टाल पर पूछो। ऐसे थे ग़ालिब। और आज के इन कवियों को देखो जो खुद अपना ढोल पीटते फिरते हैं।

मैं आज आपको एक रहस्य की बात बताता हूँ। ग़ालिब शायर थे। शायर ही नहीं, कवि भी थे। मुसलमान जिसे शायर कहते हैं, हिन्दू उसे कवि कहते हैं। बात एक ही है—राम कहो चाहे रहीम। मैं तो हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई का सिद्धांत मानता हूँ। हमारे महात्मा गाँधी कहा करते थे—

एक साथ सब मिलकर गाओ
प्यारा भारत देश हमारा
झंडा ऊँचा रहे हमारा।

भाइयो, ग़ालिब विश्व के महान कवि थे। वे विश्व के ही नहीं, भारत के भी महान कवि थे। सिर्फ भारत के ही क्यों उर्दू के भी महान कवि थे। मैं तो उन्हें हिंदी का कवि भी मानता हूँ। हिंदी-उर्दू में कोई भेद नहीं है। हिंदू लोग जिसे हिंदी कहते हैं, मुसलमान उसे उर्दू कहते हैं। सच पूछा जाय तो ग़ालिब महान भारतीय परंपरा के कवि थे, क्योंकि वे जुआ खेलते थे। हमारे यहाँ जुआ खेलनेवाले को 'धर्मराज' कहते हैं। ग़ालिब कलियुग के 'धर्मराज' ही थे।

अब मैं ग़ालिब की शायरी पर प्रकाश डालूँगा। ग़ालिब ग़ज़ल लिखते थे। वे ग़ज़ल ही नहीं, शे'र भी लिखते थे। शे'र लिखना बड़ा खतरनाक काम है। ग़ालिब खानदानी सिपाही थे, इसलिए शे'र से डरते नहीं थे और उसे लिख देते थे। दुनिया में सिकंदर सरीखे बहादुर हो गए हैं, पर शे'र एक भी नहीं लिख सके। यह तो ग़ालिब का ही दम था। और आज के ये कवि कुत्ते से डर जाते हैं। ये कायर क्या शे'र लिखेंगे!

भाइयो, ग़ालिब ने बहुत दुःख भोगे। एक कोई गुंडा तो खंजर लेकर उनके पीछे ही पड़ा रहता था। उसका नाम 'सितमगर' था। सितमगर नाम का यह गुंडा ग़ालिब को जिंदगी-भर तंग करता रहा। दिल्ली की पुलिस उससे मिली हुई थी, और उस पर कोई कार्यवाही नहीं करती थी। धिक्कार है चह्वाण साहब की पुलिस को।

ग़ालिब को पुलिस भी तंग करती थी। एक दिन वे थककर सड़क पर बैठ गए। पुलिसवाला आया और उन्हें उठाने लगा। ग़ालिब ने बड़ी लाचारी से कहा—'बैठे हैं रहगुज़र पे हम कोई हमें उठाए क्यों?' पुलिसवाले ने उन्हें घसीटकर किनारे कर दिया। ग़ालिब रोने लगे। किसी राहगीर ने पूछा—'अरे, भाई, रो क्यों रहे हो?'

ग़ालिब ने जवाब दिया—'रोएँगे हम हज़ार बार कोई हमें सताए क्यों?' यानी अगर पुलिसवाला हमें सताएगा, तो हम क्यों नहीं रोएँगे!

दिल्ली में दूसरे शायर ग़ालिब को द्वेष के कारण तंग करते थे। वे ग़ालिब की बदनामी करने के लिए कविताएँ लिखते थे और उन्हें फैलाते थे। एक शायर कहता था कि दिल्ली में ग़ालिब की आबरू ही नहीं है। वह लिखता है—

बना है शह का मुसाहिब फिरे है इतराया
वर्ना शहर में ग़ालिब की आबरू क्या है।

ज़रा सुनिए, ये बदमाश कैसी-कैसी बातें उस महान कवि के बारे में कहते थे—

काबा किस मुँह से जाओगे ग़ालिब
शर्म तुमको मगर नहीं आती ।

ये दिलजले कवि-सम्मेलनों में ग़ालिब को अपने लोगों से हूट करवाते थे। परेशान होकर ग़ालिब कलकत्ता के कवि-सम्मेलन में चले गए। वहाँ भी स्थानीय प्रतिभाओं ने उन्हें हूट किया। कलकत्ता में भी वे उखड़ गए।

ये ऐसे नीच लोग थे कि जब ग़ालिब मर गए और उनके प्रशंसक रोने लगे, तो इन्हें बुरा लगा। ग़ालिब के लिए इतने लोग रोएँ! कलेजे पर साँप लोट गया। कहने लगे—

ग़ालिबे-खस्ता के बग़ैर कौन से काम बंद हैं
रोइए ज़ार-ज़ार क्या, कीजिए हाय-हाय क्यों।

आखिर ग़ालिब ने भी इन दुष्टों से निपटने का निश्चय कर लिया। उन्होंने कहा—

कोई दिन गर ज़िंदगानी और है
हमने जी में अपने ठानी और है

यानी हमने ठान ली है कि जितनी जिंदगी बची है, उसमें इन दुष्टों से गिन-गिनकर बदला लेना है।

भाइयो, ग़ालिब के कष्टों का अंत नहीं था। उन्हें दिल की बीमारी भी थी। उनके हार्ट में हमेशा दर्द होता रहता था और वे इतने परेशान थे कि जो मिलता उसी से पूछते—'आखिर इस दर्द की दवा क्या है?' दिल्ली में उन दिनों कोई अच्छा हार्ट-स्पेशलिस्ट नहीं था। उन्होंने कलकत्ता में जाँच करायी, दवा भी ली, पर कोई फायदा नहीं हुआ। आखिर निराश होकर उन्होंने कह दिया—'मौत से पहले आदमी ग़म से नज़ात पाए क्यों?'

धिक्कार है हेल्थ मिनिस्टर को! इतने बड़े कवि के इलाज का इंतजाम नहीं कर सके। संसद में इस बात पर किसी को प्रश्न उठाना चाहिए।

दिल की ही नहीं, ग़ालिब को पेट की बीमारी भी थी। उनके पेट में दर्द होता रहता

था। दिल्ली के एक हकीम से उन्होंने दवा ली थी। एक दिन हकीम चाँदनी चौक में मिल गए। पूछा—'ग़ालिब साहिब, पेट का दर्द कैसा है?' ग़ालिब ने जवाब दिया—

दर्द मिन्नतकशे-दवा न हुआ
मैं न अच्छा हुआ बुरा न हुआ।

यानी तबीयत में कोई फर्क नहीं है। दर्द जैसा-का-तैसा है। उर्दू साहित्य के एक विद्वान ने खोज की है कि ग़ालिब के पेट के दर्द का कारण शराब थी। हाय! अपने डॉक्टर बनर्जी साहब उस वक्त दिल्ली में होते, तो ग़ालिब को अच्छा कर देते। कवि का दुर्भाग्य देखिए कि डॉक्टर बनर्जी उनके मरने के बाद पैदा हुए। इसी को विधि की विडंबना कहते हैं।

अब मैं आपको बताता हूँ कि मैं ग़ालिब को बड़ा कवि क्यों मानता हूँ। दुनिया के किसी कवि ने मरने के बाद कविता नहीं लिखी। ग़ालिब एकमात्र कवि हैं, जिन्होंने मरने के बाद भी कविता लिखी। गेटे, शेक्सपियर, कालिदास, रवींद्रनाथ, किसी ने भी मरने के बाद एक लाइन नहीं लिखी। पर ग़ालिब मरने के बाद भी लिखते रहे। उन्होंने मरने के बाद अपनी लाश के बारे में यह लिखा—

यह लाश बेकफ़न असद-ख़स्ता जाँ की है
हक़ मगफ़रत करे अजब आज़ाद मर्द था।

इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी बता दिया कि वे परदेश में मरे थे। वे मरे नहीं थे, बल्कि मारे गए थे। इस शे'र को देखिए—

मुझको दयारे-ग़ैर में मारा वतन से दूर
रख ली मेरे खुदा ने मेरी बेकसी की शर्म।

शासन क्या सो रहा है। वह पता क्यों नहीं लगाता कि परदेश में ले जाकर किसने ग़ालिब को मारा?

भाइयो, अब मैं अत्यंत भरे हृदय से ग़ालिब का एक संस्मरण सुनाता हूँ। शाम उतर रही थी। दिल्ली में हल्की सर्दी पड़ने लगी थी। मैं चौक में घूम रहा था। मैंने देखा, फर्गुसन साहब की दूकान से ग़ालिब शराब खरीद रहे हैं। मैं उनके पास गया। मैंने कहा—'ग़ालिब साहब, तुझे हम वली समझते जो न बादाख्वार होता।' ग़ालिब थोड़ा झेंप गए। बोले—'आप इधर कैसे?' मैंने कहा—'मैं घंटेवाले हलवाई के बगल की दूकान पर भाँग पीने ज़ा रहा हूँ। चलिए, आपको भी पिलाऊँ।' ग़ालिब मेरे साथ हो लिए। मैंने उन्हें बढ़िया केसरिया भंग पिलवायी। बाद में उन्होंने कहा—'भंग तो शराब से भी ज्यादा मजा देती है।' मैंने कहा—'यही तो भारतीय संस्कृति का मजा है।'

यह मेरी उनसे आखिरी मुलाकात थी। इसके बाद मैं जबलपुर आकर रहने लगा। सोचता हूँ, यदि मैं दिल्ली में ही रहता तो ग़ालिब की शराब पीने की आदत छुड़वा देता। मगर होता है वही, जो मंजूरे-खुदा होता है।

भाइयो, ऐसे थे ग़ालिब जिनकी शताब्दी आज हम मना रहे हैं।

क्या भगवान भी टाँग खींचते हैं?

इस बार सचमुच सबकुछ बैठे-ठाले ही हो रहा है। बैठे-ठाले रिक्शा दुर्घटना में फँस गए, बैठे-ठाले टाँग तोड़ ली और अब बैठे-ठाले यह लिखा जा रहा है।

चोट-खायी टाँग को मलहम से लीपते हैं और सेंकते हैं। तन का यह हाल है। और मन का? कुछ लोगों को दर्द होता है, तब मन में अच्छी बातें आती हैं। उनकी टाँग तोड़ दीजिए, तो वे अच्छी बातें करने लगते हैं। गला दबाने से तो उनके बहुत ऊँचे विचार हो जाते हैं। मुझे ऐसा नहीं होता। दर्द में भी वैसी ही बुरी बातें सूझती हैं। कोई अच्छी बात मन में उठती है, तो टाँग तड़क उठती है और अच्छी बात दब जाती है। देख रहा हूँ, सारी अच्छी बातें किसी तड़क से दब रही हैं। इस देश के सारे शरीर में अंदरूनी चोटें हैं, वे तड़कती हैं और अच्छी बातें दबा देती हैं। लगानमाफी की अच्छी बात उठती है, तो फौरन दो-चार जगह दंगे हो जाते हैं। यह पुरानी चोट है, जो जब-तब तड़क उठती है।

पर बात मुझे अपनी चोट की करनी है। पहला सवाल पूछा जाता है—कहाँ यह दुर्घटना हो गयी? मुझे बताने में शर्म आती है। ठीक चर्च के सामने रिक्शा उलट गया। देवस्थान को बदनाम करने का मेरा इरादा नहीं है। चर्च कभी-कभी जायका बदलने के लिए ऐसा कुछ कर बैठती है। ओ. हेनरी की एक कहानी का आवारा ठंड और भूख से बचने के लिए जेल जाना चाहता है। वह तरह-तरह के उपद्रव करता है, पर गिरफ्तार नहीं होता। वह चर्च के फाटक पर आता है। वहाँ प्रार्थना हो रही है। उसका हृदय बदल जाता है और वह अच्छा आदमी बनने का निश्चय कर लेता है। इसी वक्त पुलिसमैन आता है और उसे आवारागर्दी में गिरफ्तार कर लेता है।

मेरी इस दुर्घटना में दोष चर्च का नहीं, मेरी प्रकृति का है। मेरी तीन दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं और तीनों देवस्थान के सामने हुईं। साधारण जगह मेरी दुर्घटना होती नहीं है, तो मैं क्या करूँ? पहली दुर्घटना राम मंदिर के सामने हुई। एक डॉक्टर मित्र के स्कूटर पर से गिर पड़ा था। डॉक्टर ने पटका था, इसीलिए चोट नहीं आयी। दूसरी बार भैंसासुर बाबा की मढ़िया के सामने गिरा था। तब चेहरे पर चोट आई थी। असुर लोग मेरे चेहरे से नफरत करते हैं। और तीसरी यह चर्च के सामने, जब भगवान का ध्यान मेरे पाँवों की तरफ चला गया। अब तो मुझे ऐसा लगता है, ये सारे मंदिर-मस्जिद मेरे हाथ-पाँव तोड़ने के लिए ही बने हैं।

एक शुभचिंतक कह रहे थे—अभी तो बहुत-से देवस्थान बचे हैं। अगर हर देवस्थान के सामने तुम्हें पटकनी खानी ही है, तो एक दिन जान-बूझकर सहकारी बैंक के पास के चौराहे पर गिर लो, वहाँ आमने-सामने चार देवस्थान हैं—गुरुद्वारा, मस्जिद, शिव मंदिर और देवी का मंदिर। एक पटकनी में चार देवस्थान निपट जाएँगे।

मुझे क्या मालूम कि भगवान भी आजकल टाँग खींचने लगे हैं। जानता तो उनके घर के सामने से निकलता ही नहीं!

मित्रों का कहना है कि यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसमें भगवान की योजना है। तुम कहते हो, वह है ही नहीं। उसने बता दिया कि मैं इतना तो जिंदा हूँ ही कि तुम्हारी टाँग तोड़ सकूँ। मेरा खयाल था कि भगवान पाँच लड़कियों के बाद लड़का देकर अपने होने का सबूत देता रहता है। मगर वह तो टाँग तोड़कर अपना होना सिद्ध करने लगा!

चर्च पर बड़े अक्षरों में लिखा है—'एसेम्बली ऑफ गॉड!' शायद उस वक्त भगवान की संसद का अधिवेशन चल रहा होगा! संसद ने सोचा होगा कि यह आदमी भगवान पर ही नहीं, संसदीय लोकतंत्र पर भी विश्वास खोता जा रहा है। लिहाजा यह ईश्वरीय संसद निश्चय करती है कि इस आदमी का रिक्शा यहीं उलट दिया जाय और इसकी टाँग तोड़ दी जाय।

दूसरा सवाल पूछा जाता है—कैसे? जवाब देता हूँ, रिक्शा बहुत तेज भाग रहा था। दो साइकिलों को बचाने में एक से टकराया और उलट गया। अकारण तेजी से यह सब हुआ। पता नहीं बिना कारण के खतरनाक तेजी को लोग क्यों पसंद करते हैं। एक युवक बहुत तेज स्कूटर चलाता है, खतरनाक 'कट' लगाता है। मैंने समझाया, धीरे और सावधानी से चलाया करो। अगर तुम्हारी मरने की ही इच्छा हो, तो मुझे बताना। मैं कोई बड़ा उद्देश्य बता दूँगा, उसके लिए मर जाना। अभी अपने को बचाकर रखो। शायद आगे किसी अच्छे कारण से मरने का मौका मिल जाय। इसमें क्या लुत्फ है कि स्कूटर से या साँप के काटने से मर गए। कितने लोग हैं, जिन्हें मरना किसी और कारण से था मगर मर किसी और कारण से जाते हैं। मरना किसी क्रांतिकारी आंदोलन में था। मगर इस बीच प्रेमिका धोखा दे गयी, तो नदी में कूदकर मर गए।

बहुत-से लोग नहीं जानते कि बहादुरी और बेवकूफी में फर्क है। वे समझते हैं, बहादुरी कर रहे हैं, मगर हो रही है बेवकूफी। वे साहस के किस्से सबने पढ़े होंगे, जिनमें साहसी कहता है—बरसात की उफनती नदी आमंत्रण दे रही थी। जी हाँ, उफनती नदी बेवकूफों को तो आमंत्रण देती ही है।

तीसरा सवाल पूछा जाता है—कब? मैं कहता हूँ—दिन में चार बजे। इससे कुछ लोग निराश होते हैं। दिन की दुर्घटना में कोई संभावना नहीं होती। रात की दुर्घटना होती, तो उसमें बहुत सुखद संभावनाएँ होतीं। एक खास तरह के शुभचिंतक कहते—हूँ...रात की बात है। इतनी रात को ये हजरत कहाँ से आ रहे थे? उधर क्यों गए थे? भई, अपने को यह रिक्शेवाली बात तो झूठ मालूम होती है। मामला कुछ और ही है। मगर बात दिन की है, और काफी लोग निराश हैं। गवाह पक्के न होते, तो मैं खुद इनके सुख के लिए कह देता कि रात की बात है। मगर मजबूर हूँ। मुझे दुख है कि मैं रात को नहीं गिरा। आगे खयाल रखूँगा। रात को ही दुर्घटनाग्रस्त होने की कोशिश करूँगा।

पहले दो दिन घटना का जो वर्णन मैंने किया, वह काफी अच्छा रहा। बड़ा प्रभाव पैदा करता था। रिक्शा उलटना रेलगाड़ी उलटने जैसा लगता था। लेकिन अब दर्द के साथ वर्णन का रस भी कम हो गया है। उस रोमांचक घटना का वर्णन अब सपाट हो गया है।

पहले दो दिन जो सुन गए, वही फायदे में रहे। लेकिन कुछ दुष्ट भी होते हैं। एक मित्र छठवें दिन देखने आए। बोले—यों तो मैं सबकुछ लोगों से सुन चुका हूँ। मगर आप चाहें तो आप भी कह लें। अब तो वर्णन पाँचेक वाक्यों में निपट जाता होगा, कह डालिए।

लेकिन एक सच्चे मित्र ने एक शाम को बड़ी गंभीरता से कहा—तुम्हारी अखबारवालों से बड़ी दोस्ती है। तुमने अखबार में समाचार क्यों नहीं छपा दिया? अच्छा रहता। मैंने कहा—लोभ मेरे मन में भी आया था पर चाय और पान के खर्च के कारण इच्छा को दबा लेना पड़ा। मुझे खुद शर्म है कि इतनी चोट भी खायी और वह अखबार में भी न छपी।

दर्द की प्रकृति भी बड़ी विचित्र होती है। पाँव और जाँघ में सबसे ज्यादा चोट लगी थी। इन दो जगहों में बहुत दर्द था। बस यही दो दर्द हैं। मगर ये दर्द अब कम हुए तो मालूम हो रहा है, कुहनी में, घुटने में और कंधे में भी दर्द है। बड़ा दर्द छोटे दर्दों को दबा रखता है। जब वह कम होता है, तब छोटे दर्द उभर आते हैं। चीन और पाकिस्तान से जब लड़ाई होती है, तो अन्न-आंदोलन नहीं होते। भूख का दर्द दब जाता है, हर देश का कोई बड़ा दर्द होता है, जो छोटे दर्दों को दबाए रखता है। कुछ देश तो एकाध बड़ा दर्द पाले ही रहते हैं। अमरीका साम्यवाद का दर्द पाले है, तो नीग्रो-समस्या, बेकारी और गंदी बस्तियों की समस्या के दर्द दबे रहते हैं। मगर छोटे दर्द भी होशियार हो गए हैं। बीच-बीच में एकाध तड़क दे देते हैं।

असफल कवि-सम्मेलनों का सफल अध्यक्ष

पैसे के लोभ में आदमी अध्यक्ष बन जाता है। ऐसा एक आदमी मैं हूँ। कोई पैसा दे तो मैं फौरन आदमी से अध्यक्ष हो जाता हूँ, जैसे बड़े वेतन के लोभ में कई लोग आदमी से हेडमास्टर हो जाते हैं। सैकड़ों समारोहों की अध्यक्षता मैं कर चुका हूँ। इनमें ज्यादा कवि-सम्मेलन हैं। कवि-सम्मेलन मैं अच्छा जमा देता हूँ। सब कवियों को ऐसा जमा देता हूँ कि श्रोता यह तय ही नहीं कर पाते कि कौन कवि अच्छा है और कौन घटिया। ऐसे घटिया कवियों का मैं बड़ा प्यारा अध्यक्ष हूँ। जितना भी घटिया कवि हो, उसे मैं उतना ही ज्यादा जमा देता हूँ। जब वह पढ़ता है, तब मैं मग्न होकर खूब जोर से सिर हिलाकर दाद देता हूँ। लोग समझते हैं कि रचना विशिष्ट है। अभी लोगों को यह भ्रम बना हुआ है कि अध्यक्ष उनसे ज्यादा समझदार होता है। वे मेरा सिर हिलता देखकर या तो दाद देने लगते हैं या चुपचाप सुन लेते हैं—यह सोचकर कि चीज ऊँची है और अपने सिर पर से निकली जा रही है।

अध्यक्षता के काफी संकटपूर्ण क्षणों में से गुजर चुका हूँ। एक शहर के कालेज के स्नेह-सम्मेलन में पहुँचा था। कालेज में प्रवेश करने लगा तो देखा कि फाटक के दोनों तरफ

'स्वागतम्' के बदले प्रिंसिपल का कार्टून बना था और उन्हें गालियाँ लिखी थीं। समझ गया कि अपनी कब्र यहाँ खुदकर तैयार है। कवि-मंडली के साथ मंच पर पहुँचा तो सामने विकट हुल्लड़ करते हजारेक लड़के। कई के हाथों में हाकी-स्टिक। कवि पढ़ने के लिए खड़ा होता, तो तरह-तरह की बोलियाँ चालू हो जातीं और गगनभेदी हूटिंग होती। ऐसी व्यवस्थित हूटिंग मैंने कहीं और नहीं देखी। कोई कवि दो पंक्तियों से ऊपर नहीं पढ़ सका। मैं कहता—'कवि-सम्मेलन समाप्त कर दिया जाय?' वे जोर से चिल्लाते—'नहीं, चलने दीजिए।' एक प्रोफेसर साहब को सूझा कि मंच पर बैठी एकमात्र कवयित्री को पेश कर दिया जाय, तो लड़के शांत हो जाएँगे। कवयित्री अधेड़ थी। पर प्रोफेसर साहब ने माइक पर कहा—'अब कलेजा थामकर बैठिए। जिनका आप बड़ी बेताबी से इंतजार कर रहे थे, वह आपके सामने आ रही हैं।' गुरु आखिर गुरु ही है। इस हल्के रिमार्क से हुल्लड़ और बढ़ा। अधेड़ कवयित्री को जवान लड़कों की आवाजकशी का सुख मिला। तभी बिजली गुल हो गयी। कवयित्री से मैंने पूछा—'क्या आप अब भी कविता पढ़ेंगी?' वह बोलीं—'हाँ, लेकिन लाइट तो आ जाने दीजिए।' मैंने मान लिया कि रानी लक्ष्मीबाई के बाद यह दूसरी वीर नारी इस देश में हुई। लक्ष्मीबाई अंग्रेजों की फौज से लड़ी होंगी, पर ऐसे माहौल में कविता पढ़ने की हिम्मत उनकी भी न होती। वह माइक के सामने खड़ी हुईं, तो खूब जोर की आवाजें आने लगीं। दो पंक्तियों पर वह बैठ गयीं। इस वक्त मुझे पकड़ सूझ गयी। मैंने कहा—'दोस्तो, मैं जबलपुर का रहनेवाला हूँ और जो यह मामला आप कर रहे हैं, उसमें हमारे शहर के लोग उस्ताद माने जाते हैं। हमारे शहर के लड़के भी बड़े जोरदार हैं, पर आप उनसे बहुत ऊँचे निकल गए। हमारे लड़के तो जवान लड़कियों को छेड़ते हैं, पर आप तो अम्मा को भी छेड़ लेते हैं।'

बात कुछ ऐसी चिपकी कि सन्नाटा छा गया। मैंने बगल में बैठे कवि रामविलास शर्मा से कहा—'यह जो सेंध बन गयी है, इसमें तो तुम फौरन निकल जाओ।' रामविलास तीन मिनट की कविता सकुशल पढ़कर शान से बैठ गए।

मुसीबत यह कि लड़के न सुन रहे थे, न कार्यक्रम खत्म करने देते थे। आखिर अलौकिक शक्ति ने रक्षा की। इंद्र ने जोर की वर्षा भेजी और हमारी जान बचायी।

एक कवि-सम्मेलन में मेरे एक मित्र कवि ने मेरी बड़ी आफत की। विरोधी गुट के लोगों ने उन्हें खूब पिलायी और जब कवि-सम्मेलन जोर पर था, उन्हें लाकर छोड़ गए—जैसे सभा बिगाड़ने को साँड़ छोड़ दिया जाता है। वह झूमते हुए मंच पर चढ़े और पढ़ रहे कवि से माइक छीनने लगे। बोले—'मैं पढ़ूँगा।' मैंने समझाया—'इनके बाद पढ़ना।' वह बोले—'नहीं, मैं पढ़ँगा। मैं इस क्षेत्र का लाड़ला कवि हूँ। जनता मुझे सुनने आयी है।' मैंने फिर उसे रोका तो वह उखड़ गया—'तुम्हें किसने अध्यक्ष बनाया? तुम गद्य लेखक हो। तुम कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष कैसे हो सकते हो? मैं अध्यक्ष हूँ। मैं पढ़ूँगा।' वह मेरा दोस्त है। बेतकल्लुफी के संबंध हैं। मैंने कान में कहा—'मैं तुझे लात मारूँगा।' उसने माइक पर जोर से कहा—'सुन लीजिए, यह कहते हैं, मुझे लात मारेंगे। इस क्षेत्र के लाड़ले कवि को यह लात मारेंगे और आप देखते रहेंगे।'

मैंने तथा और लोगों ने भी बहुत कोशिश की, मगर क्षेत्रीय लाड़ले ने कवि-सम्मेलन उखाड़ दिया। अध्यक्ष की ऐसी गत और कहीं नहीं हुई होगी।

एक और समारोह में मैंने देखा कि दस-पंद्रह लोग जहाँ-तहाँ खड़े हैं और बार-बार आवाज लगा रहे हैं। वे पेशेवर उखाड़ू थे। मैंने समझाया, प्रार्थना की, डाँटा भी, पर वे बाज नहीं आए। मैं असहाय हो गया था। आखिर एक तरकीब सूझी। मैंने कहा—'ये आवाज करनेवाले सुनना नहीं चाहते, पर उनके आसपास के लोग सुनना चाहते हैं।' अब जब कोई बीच में आवाज करे, तो आसपास के चार-छः लोग उसके चरणों पर गिरकर कहें—'प्रभो, हमें सुन लेने दीजिए।' कुछ लोगों ने मेरी इस सलाह को गंभीरता से ले लिया। अगली बार जब आवाजें आयीं तब दो जगह लोग सचमुच आवाजक के चरणों पर गिर पड़े। वह झेंपकर वहाँ से चले गए। बाकी विघ्नकारी इस डर से चुप खड़े रहे कि कहीं लोग उनके चरणों पर न गिर पड़ें।

हाल में ही एक असफल कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करके लौटा हूँ। इस बदनामी से बाजार में साख को बड़ा धक्का पहुँचा है। उस शहर में अच्छे कवि-सम्मेलनों की लंबी परंपरा है। सारा शहर कवि-सम्मेलन की मानसिकता से ग्रस्त है। बड़े शौक से, बहुत पैसा खर्च करके वे लोग कवि-सम्मेलन करते हैं। मंच पर कवियों से घिरा पहुँचा। एक कवि ने फौरन एक चार पंक्तियों का पद लिखा, जिसमें मेरी प्रशस्ति थी। मैं अध्यक्ष था न! मैंने कहा-'मैं यहाँ हाजिर हूँ। यहाँ मत पढ़िए। कहीं और पढ़िए और मुझे कार्ड लिखकर सूचित कर दीजिए कि पढ़ दिया।' वह बोले—'इसमें क्या हर्ज है। ये तो मेरे हृदय के उद्गार हैं।' मैंने कहा—'मगर आपके हृदय के उद्गार से मेरा तो नाश हो जाएगा।'

खैर, कविता-पाठ शुरू हुआ। एक, दो, तीन—सब उखड़ा-उखड़ा। संयोजक मेरे पास आकर घबराकर बोले—'कुछ करिए साहब! कवि-सम्मेलन जम नहीं रहा। लोग शिकायत कर रहे हैं।' मैंने कवियों से कहा। उन्होंने सारी तरकीबें लगायीं। एक ने खूब जोर से कविता पढ़ी—'ऐ अयूब, माओ और चाऊ, सुनो, तुम्हें भारत का नौजवान कच्चा चबाने आ रहा है!' इससे भी कुछ खास नहीं हुआ। तब दूसरा फार्मूला काम में लाया गया—'आजा मोरे बालमा तेरा इंतजार है।' इससे भी स्कूली लड़के ही हँसे। संयोजकों के चेहरे उतर रहे थे। मैंने सोचा, मैं ही कुछ करूँ। मैंने अपनी दो-तीन लघु कथाएँ सुना दीं। दो जमीं, तीसरी सपाट हो गयी। थोड़ी देर बाद मेरे पास चिट आ गयी कि हम कविता सुनने आए हैं। आप कहानी सुनाकर समय क्यों नष्ट करते हैं। मैं और पस्त हो गया। एक काव्य-प्रेमी बेहद पीकर मंच पर बैठ गए। वह विचित्र आवाज करके एकदम टिटहरी हो गए—टाँगें आसमान की तरफ तान दीं। यह देखकर श्रोताओं में हलचल मच गयी। एक आदमी उन्हें लेकर बाहर चला और मैंने माइक पर कहा—'उन्हें तमाखू लग गयी है।' उधर से सैकड़ों आवाजें आयीं—'तमाखू नहीं लगी।' थोड़ी देर और खींचकर मैंने कवि-सम्मेलन समाप्त कर दिया। श्रोता निराश और संयोजक दुखी।

रात का एक बजा होगा। संयोजक लोग दरियाँ, गद्दे, तकिए लेकर जो गए, तो सुबह

दस बजे तक लौटे ही नहीं। जहाँ कवि उतरे थे, वहाँ का नौकर भी गायब। उसे भी कवि-सम्मेलन की असफलता का आघात लगा था। कवि सवेरे बाल्टी लेकर कुएँ से पानी लाए और शौचादि से निवृत्त हुए। मैं ज़रा अघोरी प्रवृत्ति का आदमी हूँ। तमाखू मुँह में डाले बिस्तर पर बैठा-बैठा देख रहा था। कवि परेशान थे। गाड़ियों का वक्त हो रहा था, बिस्तर बँधे रखे थे, मगर संयोजक पैसा देने नहीं आ रहे थे। सुबह से कई खबरें भेज चुके थे। पर कोई नहीं आ रहा था। कवि मुझसे बोले—'आप अध्यक्ष हैं। हमारे पैसे दिलाइए।' मैंने कहा—'अध्यक्ष तो मैं रात को था। अब नहीं हूँ। वैसे भी काम सफाई का दारोगा करता है, पर मजदूरी ओवरसियर देता है। मैं तो दारोगा हूँ। वह ओवरसियर है।'

एक कवि 'पान के ठेले' से लौटकर आये, तो बहुत घबराये हुए थे। कहने लगे—'ठेले पर लोग बात कर रहे थे कि कवि-सम्मेलन फेल हो गया है, इसलिए संयोजक लोग कवियों-के आधे पैसे काटनेवाले हैं।'

इस बात से सन्नाटा खिंच गया। कवि क्रोधित थे और दुखी भी। आखिर ग्यारह बजे संयोजक लोग आए—निहायत पस्त और परेशान, जैसे महीने-भर से बीमार हों। मैंने कहा—'आप लोगों ने कवियों की कोई खबर ही नहीं ली।' वे बोले—'अरे साहब, हमारा तो मुँह काला हो गया। शहर में मुँह नहीं दिखा सकते। चंदा देनेवालों को क्या जवाब देंगे ?' एक कवि ने कहा—'इसमें हमारा क्या कसूर? आपके श्रोता ही ऐसे थे।' संयोजक तैश में बोले—'श्रोता हमने कल ही तो पैदा करके नहीं बैठा दिए थे। पचीसों सालों से श्रोता हैं वे। पर ऐसा कभी नहीं हुआ।'

इसके बाद वे लोग सचमुच आधा-आधा पैसा देने लगे। तब चख-चख शुरू हुई। कवियों ने कहा—'हमें इतने रुपये देने की चिट्ठी लिखी थी।' संयोजक ने कहा—'नहीं साहब, इतने की चिट्ठी नहीं लिखी। चिट्ठी दिखाइए।'

एक कवि चिट्ठी लेते आए थे। उन्होंने मुझे दे दी। मैंने दिखाकर कहा—'इसमें दो सौ रुपये देना लिखा है। अब आप शायद खुफिया-विभाग की रिपोर्ट बुलाएँगे। चाल-चलन अच्छा होगा, तो पूरे पैसे देंगे।'

लगभग एक घंटे तक बहसबाजी के बाद पैसा मिला और कविगण स्टेशन चले गए।

मैं सिर पकड़कर बैठ गया। काफी दर्द था। वह क्षण उपस्थित था, अब मैं तय कर लेता कि अब कभी अध्यक्षता नहीं करूँगा। पर कर नहीं सका। अध्यक्ष की पतंगे की तरह स्मृति नहीं होती। बार-बार लौ से जलता है, पर हर बार भूल जाता है कि इससे जला था। फिर लौ से लिपटने पहुँच जाता है।

परमात्मा का लोटा

एक छोटे-से आलोचक ने उस दिन मुझसे कहा—अब आप कुछ शाश्वत साहित्य लिख डालो।

मैंने फौरन तय किया कि सूर्य पर लिखूँगा। पुराना बहुत-सा कथा साहित्य इसीलिए तो आज तक पढ़ा जाता है कि उसका पहला वाक्य होता है—पूर्व में भगवान भुवन भास्कर उदित हो रहे थे। या यह होता था—पश्चिम में भगवान अंशुमाली अस्ताचलगामी हो रहे थे। ये लेखक भगवान भुवन भास्कर को चैन नहीं लेने देते थे। जब लेखक के आसपास ऊँची अटारियाँ बन गयीं, और सूर्य का उगना-डूबना नहीं दिखा, तब भगवान अंशुमाली को फुरसत मिली। फिर भी कुछ हठी हाथी-दाँत की मीनार पर बैठकर उसका उदय देखने लगे।

समीक्षक ने कहा है, तो मुझे मानना ही होगा। सनद रहे कि साहित्य में मैं उस लड़के की तरह आज्ञाकारी रहा, जिसकी स्कूल में फीस माफ रहती है।

अपनी तरफ से कोशिश करके हमने कभी सूर्य नहीं देखा। वह और हम साथ-साथ नहीं उठते। दिख गया तो देख भी लेते हैं। यों तो उस मंत्री को भी अक्सर देख लेते हैं, जो चार दल बदल चुका है। ईमान को लपेटकर उसने कुर्सी की गद्दी के नीचे रख लिया है। देख लेते हैं, तो कोई दोष नहीं लगता। लगा भी तो घर जाकर नहा लेते हैं।

रात की गाड़ी से भोपाल जाता हूँ, तो सुबह बुदनी स्टेशन के आगे की पहाड़ियों में होती है। किस काली पहाड़ी के शिखर पर उगता हुआ सूर्य दिख जाता है। मुझे यह दृश्य अच्छा नहीं लगता। लगता है, कोई काली कुरूपा स्त्री माथे पर रेखड़ी पहने हो। यह दृश्य जिन्हें लुभाता है, उनके घर में काली कुरूपा पत्नी होगी, जो फूहड़ श्रृंगार करती होगी। कुरूपा पत्नी आदमी के सौंदर्य-बोध का दायरा बढ़ाती है। सुंदर पत्नीवाले की सौंदर्यानुभूति सीमित हो जाती है।

पिछले महीने मैंने सूर्य को निकलते देखा, तो लगा जैसे राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। चंद्रमा का सप्तर्षि मंत्रिमंडल और नक्षत्रों की विधान-सभा भंग। संविद के घटकों में पटी नहीं। अब गृहमंत्री का किरणों का डंडा है और हम।

पुराने जमाने के ऋषि उगते सूर्य को इसलिए देख लेते थे कि जंगल में रहते थे और जानवरों के डर के मारे नींद नहीं आती थी। डर भी सौंदर्यानुभूति को बढ़ाता है। जेबकट पुलिस की पगड़ी के लाल तुर्रे को उत्सव का वंदनवार समझता है। हम ऋषि नहीं है, इसलिए घर में देर तक सोते हैं और उधर जब सूर्य निकलता है, तब हम उसे सपने में देख लेते हैं। सपना बड़ी सुभीते की चीज है। जो हो रहा है, उसमें हिस्सा न लेकर उसे सपने में देखा जा सकता है। सपनों में क्रांतियों में भाग लेकर लहूलुहान हुए बहुत लोग मिल जाएँगे। उनसे खून का सबूत माँगना नासमझी है, क्योंकि रक्तपात सपने में हुआ था।

शहर में सूर्य अटारियों के पीछे छिपकर उगने लगा है। देख रहा हूँ, बड़ों-बड़ों का उदय छिपकर अटारियों के पीछे होने लगा है। मेरा एक दोस्त एकाएक कहीं चला गया। महीने-भर बाद मालूम हुआ कि वह दिल्ली में छिपकर उदित हो चुका है। अब वह सिर

पर आ गया है और तप रहा है।

उगते सूर्य को देखना हो तो किसी अटारी की ऊपरी मंजिल पर चढ़ो। ऊपरी मंजिल पर तो हम किसी मामले में नहीं गए। फिर किसी का उदय देखने के लिए ऊँचा उठ जाना आसान नहीं है।

एक बात और है। उगते सूर्य को देखने की ताब नहीं है। हम तो चाँदनी में छाता लगाकर चलनेवाले लोग हैं। सदियों से हम चाँदनी में छाता लगाते आए हैं। एक बार मैं एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में विदेश गया था। देखा कि विदेशी लोग रात को बड़ी देर तक नाचते, गाते, आनंद मनाते रहते। मगर भारतीय ठीक वक्त पर सात्विक भोजन करके, कुनकुने पानी के साथ तीन चुटकी त्रिफला चूर्ण लेकर सो जाता या छिपकर औरत को देखता। चाँदनी में वह हमेशा छाता लगा लेता है। हम दो-तीन मित्र विदेशियों का गाना, बजाना, नाचना देखते रहे। नाचनेवाले को हम भगवान 'नटराज' मानते हैं, मगर खुद नाचना बुरा समझते हैं। सारी चाँदनी देवताओं को दे रखी है, सारी धूप आदमी ने ले ली है।

एक रात विदेशियों ने हम लोगों से भी कुछ गाने को कहा। क्या गायें? उन्होंने सुझाया—कोई राष्ट्रीय भावनावाला गीत गाइए। मन में जो गीत आया वह था—'शरण में आए हैं हम तुम्हारी, दया करो हे दयालु भगवन!' स्कूल में कई साल यह प्रार्थना-गीत गाया था। मगर लगा कि वर्तमान में भी यही गीत वास्तविक राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करता है। किस-किसको भगवान नहीं मानते? किस-किस की शरण नहीं गए? बड़े अमेरिका से गेहूँ ले लिया और छोटे-से थाईलैंड से भी चावल ले लिया। दया करो हे दयालु भगवन्। यह सच्चा राष्ट्रीय गीत है—'शरण में आए हैं हम तुम्हारी, दया करो हे दयालु भगवन्।'

पर इस गीत को गाने का मन नहीं हुआ। मेरे साथी का खूब मजे का मूड था। वे बोले—ये कोई अपनी भाषा नहीं समझते। वही नौटंकीवाला गा दो—'मैंने लाखों के बोल सहे, सितमगर तेरे लिए।' और उन्होंने गाना चालू कर दिया। विदेशी लोगों ने अपने साजों से संगत दी। वे बड़े श्रद्धाभाव से भर गए थे, क्योंकि उनकी समझ से यह कोई राष्ट्रीय गीत था। खत्म होने पर वे वही औपचारिक वाक्य बोलने लगे—वाह, राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत गीत है। इसमें आपके देश की लंबी उज्ज्वल परंपरा के तत्त्व हैं।

हम उनसे क्या कहते? नासमझो, जिस लंबी उज्ज्वल परंपरा की तारीफ कर रहे हो, वह तो चाँदनी में छाता लगाकर चलती है। वह कुनकुने पानी के साथ तीन चुटकी त्रिफला खाकर बिस्तर पर लेटी है। उसका हाजमा खराब है—सदियों से। जब हाजमा अच्छा था तब समूची जातियों को पचा लेती थी। जब से हाजमा बिगड़ा है, उसे उलटी हो रही है। हम तो इस परंपरा से नफरत करते हैं और लाखों के बोल सहते हैं।

अभी ग्वालियर से रात की बस से सफर करके सुबह उतरा, तो फिर उगता सूरज दिख गया। मैंने कहा—यार, इतने साल हो गए। पूर्व से निकल रहे हो। बड़े दकियानूस हो।

वह बोला बड़ी गंभीरता से—रोशनी देनेवाले दिशा नहीं बदला करते। और जो दिशा तथा फोक़स बदलते रहते हैं वे क्या रोशनी नहीं देते? नहीं, वे रंगमंच के स्पॉट लाइट होते

हैं। मेरे बहुत भ्रम टूटे। कई समीक्षकों को मैं सूर्य समझता था। वे मात्र स्पॉट लाइट हैं। रंग बदलते हैं और फोक़स। कभी कोई पत्रिका 'नयी कहानी' आंदोलनवालों के हाथ थी तो नयी कहानी का दर्शन लिखकर छपाते थे। फिर प्रगतिवादी के हाथ में आ गयी तो फौरन सामाजिक यथार्थवाद पर फोक़स साध लिया। अगर दिगंबर पीढ़ी की कोई बड़ी पत्रिका हो जाय, तो फौरन कपड़े उतारकर नंगे हो जाएँगे। स्पॉट लाइट के ईमान की बराबरी सूर्य क्या करेगा।

उदय होते सूर्य की बात बहुत हो गयी। अब अस्त होते सूर्य की बात करता हूँ। मेरे बरामदे से यह दिख जाता है। जब फुरसत होती है, देख लेता हूँ। शाम को डूबते सूरज को देख रहा था। निर्मल मन का कवि होता, तो सोचता कि नीले सरोवर में कमल खिला है। इतना निर्मल मन हम कहाँ से लाएँ। मुझे सूर्य उस पुलिस अफसर के कपाल के टीके की तरह लग रहा था जिसने मेरे एक दोस्त को झूठे फौजदारी मामले में फँसा दिया है। वह बड़ा-सा लाल टीका लगाता है। शायद हनुमान का सिंदूर है। मैंने उससे कहा था—साहब, यह टीका क्या झूठ पचाने के लिए लवणभास्कर चूर्ण है? वह हँस दिया।

मेरे सामने की झोंपड़ी के सामने एक आदमी बैठा हुआ, एकटक डूबते सूर्य को देख रहा था। वह बड़ा सौंदर्य-प्रेमी मालूम होता है। पर ज्यों ही सूर्य डूबा, वह लोटा उठाकर पास के नाले में उतर गया।

इस आदमी के मन में क्या प्रतीक उभरता होगा? वह सूर्य को परमात्मा का लोटा समझता है। सूर्य के लोटे को उठाकर परमात्मा क्षितिज के नाले में उतर जाता है, क्योंकि परमात्मा के घर में पाखाना नहीं है। जब तक इस आदमी का अपना पाखाना नहीं बन जाता, यह सूर्य को परमात्मा का लोटा समझता रहेगा। सूर्य को कुछ अपनी इज्जत का खयाल है या नहीं? किसी का लोटा होना, चाहे वह परमात्मा का ही क्यों न हो, बड़ी बेइज्जती की बात है।

शिकायत मुझे भी है

मगर मेरी शिकायत यह नहीं है कि वैज्ञानिक को देश में ही नौकरी और अनुसंधान की सुविधा क्यों नहीं मिली? क्यों उसे दूसरे देश में अनुसंधान करके विदेशी की हैसियत से नोबुल पुरस्कार मिला? क्यों नहीं यह गौरव इसी देश को मिला?

डॉ. खुराना के मामले को लेकर ये शिकायतें कुछ लोग सोच रहे हैं। मगर मुझे शिकायत नहीं। विदेशों से हम गेहूँ, चावल वगैरह मँगाकर खाते हैं मगर उसके दाम चुकाने की हैसियत है नहीं। उसके चुकाने में अगर प्रतिभाएँ दे देते हैं, तो क्या बुरा है? तुमने गेहूँ दिया—लो, चार वैज्ञानिक ले जाओ। मुझमें कोई प्रतिभा नहीं है, मगर मेरे बदले में अगर एक किलो

गेहूँ भी मिलता हो तो मैं बिकने को तैयार हूँ। प्रतिभा को यहीं रखकर क्या करेंगे? वह खाने के काम भी तो नहीं आती।

मगर लोग हैं कि चिल्ला रहे हैं—नौकरशाही जीनियस (महान् प्रतिभा) को पनपने नहीं देती।

यह शिकायत बेबुनियाद है। मैंने बड़े बाबू से पूछ लिया है। उन्होंने कहा—वैज्ञानिक के पास 'एम्प्लायमेंट एक्सचेंज' का कार्ड था? मैंने कहा—बहुत करके नहीं था। बड़े बाबू बोले—तो फिर कैसे नौकरी मिलती? कार्ड लेकर आता, तो मैं ही कहीं 'चिपका' देता।

थूक लगाकर बड़े बाबू टिकिट चिपकाते हैं तो थोड़ा थूक ज्यादा लगाकर प्रतिभा को भी चिपका देते। मगर कार्ड चाहिए और प्रतिभा पर थोड़ी गोंद तो होनी चाहिए। किसी को चिपकाने के लिए कोई पास से गोंद थोड़े ही खर्च करेगा। लोग क्या मिलते नहीं हैं ? ऐसे-ऐसे मिलते हैं जिनके शरीर से गोंद के झरने बहते रहते हैं।

कार्ड तो मैं ही सौ-पचास लिखाकर किसी रोजगार दफ्तर से दिलवा देता। इसमें 'सदाचार' वगैरह की बात करना व्यर्थ है। लोग बकते बहुत हैं, पर इसका ठीक अर्थ नहीं जानते। एक साहब ने मुझे समझा दिया था। उनके पास मैं पाँच सौ रुपया घूस लेकर पहुँचा, तो वे बोले—सदाचार सप्ताह चल रहा है। कुछ तो शर्म करो। हजार रुपये के काम के लिए पाँच सौ दे रहे हो। यही तुम्हारा सदाचार है? मैं शरमा गया था।

प्रतिभाओं के बड़े साहब की भी मुझसे बात हो चुकी है। उन्होंने समझाया—भई, ये तुम्हारे प्रतिभावान लोग, एल. डी. सी. और यू. डी. सी. को बरकाकर निकलना चाहते हैं। एक वैज्ञानिक को मैंने चिपका दिया था। एक दिन वह बड़ी फुर्ती में कहीं चला जा रहा था। हमारे एल. डी. सी. ने उसे पकड़ लिया। पूछा—कहाँ जा रहे हो? उसने कहा—प्रयोगशाला। एक बढ़िया चीज सूझ गयी है। एल. डी. सी. ने उसका हाथ पकड़कर कहा—ऐसे नहीं जा सकते। 'थ्रू प्रापर चैनल' जाओ। लौटो। वह 'थ्रू प्रापर चैनल' समझा ही नहीं। वह उसे इंग्लिश चैनल समझा और पार कर गया। सुना है इंग्लिश चैनल अपनी 'प्रापर चैनल' से कम चौड़ी है। सैकड़ों सालों की मेहनत से हमारी यह 'प्रापर चैनल' बनी है। तुम्हारी ये प्रतिभाएँ उसे तोड़ना चाहती हैं। राष्ट्रीय संपत्ति का ऐसा नुकसान कौन बरदाश्त करेगा?

मैंने एक मंत्रीजी से भी इस मामले में बात करके देखी है। उन्होंने कहा—हमने तो जी, छठवीं कक्षा की किताब में पढ़ा था कि न्यूटन ने सेव गिरते देखकर ही कोई खोज कर ली थी। और वाट नाम के लड़के ने जी, उबलती केतली से ही खोज कर ली थी और वह कौन था जी, हाँ, आर्कमेडीज़, उसने तो नहाते-नहाते खोज कर ली थी। पर आज के इन वैज्ञानिकों को तो बड़ा तामझाम चाहिए। मैं कहता हूँ जी, इतने आम गिरते हैं, पर उन्हें देखकर कोई खोज क्यों नहीं करता? वैज्ञानिक रोज नहाता है, पर खोज नहीं करता। हमने तो जी छठवीं की किताब में पढ़ा था⋯

मैंने कौम के रहनुमा से भी बात कर ली है। उसने कहा—यह देश पछतावे पर जी रहा है। यह पछतावा खाता है। पछतावा इसका 'स्टेपल फूड' (मुख्य खाद्य) है। अगर पछतावे

में कमी पड़ जाएगी तो देश मर जाएगा। पछतावों की नयी-नयी फसल जरूरी है, देश के ज़िंदा रहने के लिए।

अगर प्रतिभाओं की कद्र होने लगे, तो पछतावा कम हो जाएगा और देश भूखा मर जाएगा। इसलिए जो हुआ, देश के स्वास्थ्य के लिए अच्छा हुआ।

सबसे मैंने पूछ लिया है। मेरी शिकायत यह नहीं है कि अपनी प्रतिभाओं की कद्र यहाँ क्यों नहीं होती।

मेरी शिकायत है कि 'इंडियन पेनल कोड' याने भारतीय दंड संहिता को साहित्य का नोबुल पुरस्कार क्यों नहीं मिला अभी तक?

भारतीय दंड संहिता अपना महान् महाकाव्य है। वह एकमात्र 'क्लासिक' है। वह काव्य है और धर्मग्रंथ भी। सारा जातीय जीवन इसी ग्रंथ से संचालित हो रहा है। इसी की प्रेरणा से हम राष्ट्रीय जीवन की सिर्फ एक ही साधना कर रहे हैं। उसे 'लॉ एंड आर्डर' याने 'कानून और व्यवस्था' कहते हैं। सारी प्रतिभा हमने कानून और व्यवस्था की साधना में लगा दी, फिर भी 'भारतीय दंड संहिता' को अभी तक नोबुल पुरस्कार नहीं मिला—यह मेरी शिकायत है।

'भारतीय दंड संहिता' अगर महाकाव्य है, तो जब-तब रचे जानेवाले अध्यादेश ललित गीत हैं। इनका संग्रह अगर 'नव गीतांजलि' के नाम से छप जाय, तो पश्चिम के मनीषी 'गीतांजलि' के धोखे में इसे नोबुल पुरस्कार दे देंगे। वे समझेंगे रवींद्रनाथ अपनी प्रतिभा के शिखरकाल में अध्यादेश लिखा करते थे। सच्चे कवि की पहचान यही है कि वह अध्यादेश लिख सकता है या नहीं।

मेरी शिकायत यह भी है कि जिसने सबसे पहले पुलिस की लाठी के दोनों सिरों पर लोहे के गुट्टे लगाए, उसे भौतिकशास्त्र का नोबुल पुरस्कार क्यों नहीं मिला?

उस दिन अखबारों में पढ़ा कि देश अश्रुगैस में आत्मनिर्भर हो गया, तो समझ गया कि 'रिनॉसाँ' हो गया। यों तो पिछले बीस सालों से इस देश में हर चीज अश्रुगैस में बदलती जा रही है। यह अजब रासायनिक क्रिया चल रही है। दुनिया के वैज्ञानिक शोध करें कि देश में गेहूँ और शक्कर अश्रुगैस में कैसे बदल जाते हैं। महँगाई, कालाबाजारी, सूखा और बाढ़ भी अश्रुगैस में बदल जाते हैं। मुझे तो लगता है, पूरा देश ही अश्रुगैस का एक कारखाना है। दुनिया-भर को हम सप्लाई कर सकते हैं। फिर भी अश्रुगैस कम पड़ती थी, तो दूसरे देशों से मँगाते थे। ऐसे देश भी हैं, जिनकी अश्रुगैस में यह खूबी है कि उससे दूसरे लोगों के आँसू ही निकलते हैं। हम ऐसी बहुत-सी गैस बाहर से मँगाते थे। खिलाने का इंतजाम चाहे न हो, पर रुलाने का इंतजाम तो सरकारों को पूरा रखना ही पड़ता है। विदेशी गैस से आँसू आते थे, तो राष्ट्र को शर्म आती थी। अब अपनी ही गैस से जितना चाहो रोओ और रुलाओ।

मेरी यह भी शिकायत है जिसने अश्रुगैस में देश को आत्मनिर्भर बना दिया उसे शांति का नोबुल पुरस्कार क्यों नहीं मिला?

पुलिस मंत्री महाकवि है। 'मेघदूत' लिखता है। लिखता है—'आषाढस्य प्रथम दिवसे'—(आगे सरल हिंदी में)—आषाढ़ के प्रथम दिन जब आकाश में श्याम मेघ छाए थे, सुहावना मौसम देख, यक्ष ने गोली चलाने का हुक्म दे दिया। थोड़ी देर में आकाश ने मनुष्य के रक्त से धरती की माँग भर दी। यह देख यक्ष को प्रिया की याद सताने लगी। उसने मेघ के द्वारा प्रिया को संदेश भेजा। हे मेघ, तू उड़कर उत्तर में मेरी प्रिया के पास जा। जब तू तीर्थराज प्रयाग पहुँचेगा, तब वहाँ विश्वविद्यालय में पुलिस अश्रुगैस छोड़ रही होगी। तू वहाँ बरसना मत। पानी से गैस का असर खत्म हो जाएगा। अगर बरसा तो सख्त कार्यवाही की जाएगी। जब तू कानपुर पहुँचेगा तब वहाँ लाठीचार्ज हो रहा होगा। तू वहाँ भी मत बरसना। पानी गिरने से भीड़ तितर-बितर हो जाएगी और पुलिस को सिर फोड़ने का सुख नहीं मिलेगा। जब आगरा पहुँचेगा, तब मूसलाधार बरसना, जिससे सड़क पर का खून धूल जाए। वहाँ जाँच-कमीशन आनेवाला है। जब तू सुंदर इंद्रप्रस्थ पर पहुँचेगा तब वहाँ गोली चल रही होगी। तू नीचे मत उड़ना। गोली लग जाएगी।

हे मेघ, उड़ता हुआ तू मेरी प्रिया के पास पहुँचकर कहना—प्रिये! (यह मेरी तरफ से कहना। अपनी तरफ से नहीं, वरना साले, दस साल जेल में सड़ा दूँगा)। कहना, यक्ष ने संदेश कहलाया है कि इधर 'लॉ एंड आर्डर' की हालत अभी अच्छी नहीं है, इसीलिए कुछ दिन और 'कंट्रोल रूम' में रहूँगा।

मेरी शिकायत है कि इस काव्य पर साहित्य का नोबुल पुरस्कार क्यों नहीं मिलता ?

◆

डेंगू, अध्यात्म और लेखक

इधर एक बीमारी फैली है। नाम उसका भयंकर है—'डेंगू'। तेज बुखार और शरीर में बहुत पीड़ा। जोड़ टूट जाते हैं। जनभाषाओं में 'हड्डीतोड़ बुखार' कहलाती है। हिम्मततोड़ भी है। अगर इस बीमारी का नाम 'डेंगू' न होकर 'मधुरिमा' होता, तो बीमारी के पहले कोई डरता नहीं। हो जाती, तो दर्द कम अखरता। मरीज सोचता, यह तो मधुरिमा है। तपेदिक का नाम 'राज्यक्ष्मा' कितना अच्छा है। और 'कारोनरी थ्राम्बासिस' से रोगी समझ ही नहीं पाता कि जरा देर में खटिया खड़ी होनेवाली है। रोग कितना ही बुरा हो, नाम अच्छा होना चाहिए। अमरीकी शासक हमले को 'सभ्यता का प्रसार' कहते हैं, तो वह इतने बुरे नहीं लगते। बम बरसते हैं, तो मरनेवाले सोचते हैं कि सभ्यता बरस रही है। चीनी नेता लड़कों के हुल्लड़ को 'सांस्कृतिक क्रांति' कहते हैं, तो पिटनेवाला नागरिक सोचता है कि मैं सुसंस्कृत हो रहा हूँ। सांस्कृतिक क्रांतिवाले सुंदर बालवाले नागरिक को पास की नाई की दूकान में घसीटकर उसका सिर घुटवा देते हैं। बाल सँवारना बुर्जुआ प्रवृत्ति है न! घुटे सिर पर जब नागरिक हाथ फेरता होगा, तो कहता होगा—वाह, सिर पर सांस्कृतिक क्रांति हो गई। धन्य है नाई

का क्रांतिकारी उस्तरा! यह 'सांस्कृतिक क्रांति' और आगे बढ़ी, तो कभी आदमी की तरह रहना भी बुर्जुआ प्रवृत्ति घोषित हो जाएगा। तब किस जानवर की तरह जीना क्रांतिकारी जीवन कहलाएगा? अभी मालूम हो जाए तो शुरू कर दिया जाए।

कह रहा था कि रोग कितना ही बुरा हो, उसकी कठोरता कम करने के लिए हम कम-से-कम इतना तो कर ही सकते हैं कि उसका मीठा-सा नाम रख दें। आश्रम के नाम से चकलाघर चले तो भला ही लगता है। नैतिक सुधार के नाम से अगर लड़कियाँ भगाई जाएँ, तो किसी को एतराज नहीं होता। डेंगू का नाम 'मधुरिमा' होता, तो मेरा यह दोस्त घबड़ाकर न कहता—अरे यार, हमें भी डेंगू हो गया। दृश्य दूसरा होता। मैं पूछता—क्यों? बिस्तर पर क्यों पड़े हो? वह मुस्कराकर कहता—थोड़ी मधुरिमा है। मीठा-मीठा दर्द हो रहा है। मगर नाम के डर के कारण वह 101 डिग्री बुखार में ही आध्यात्मिक ज्ञान बड़बड़ा रहा था। यों बिना बुखार के वह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की बात करता है। बुखार में वह जीव, ब्रह्म और माया की बात कर रहा था। संसार असार है। शरीर नाशवान है। आत्मा अमर है। ब्रह्म ही सत्य है। मैंने कहा—यार, तू बड़ा भाग्यवान है। ऋषि-मुनि जिंदगी-भर तपस्या करते थे, तब उन्हें अध्यात्म-बोध होता था। और बाधाएँ कितनी थीं—अप्सरा की, दूसरे ऋषि से ईर्ष्या की। मगर तुझे सिर्फ 101 डिग्री बुखार में ही अध्यात्म-बोध हो गया। क्या डेंगू आध्यात्मिक बीमारी है? तपस्या और बुखार में क्या कोई फर्क नहीं है? क्या अध्यात्म एक तरह का 'डिलीरियम' है? अगर है तो इस वक्त शहर में हजारों ज्ञानी हैं। वे डेंगू के बुखार के जरिए आध्यात्मिक भूमिका में पहुँच गए हैं।

यों मुझे शक हुआ कि यह कुछ अभिनय कर रहा है। मैंने कहा भी कि यार, 101 डिग्री में इतना अध्यात्म नहीं आता। 105 या 106 में आ सकता है। तुम थोड़े बुखार में नाटकीय संभावनाएँ खोज रहे हो। राजनीति से लेकर बुखार तक में नाटकीयता प्रभावित करती है। चुनाव में ऊँची जाति का संपन्न उम्मीदवार किसान के घर जाकर कहता है—दद्दा, आज तो हम तुम्हारे घर रोटी खाकर ही जाएँगे। बाद में किसान सारे गाँव में कहता फिरता है—इत्ते बड़े आदमी हैं, पर घमंड बिलकुल नहीं है। (सावधान! यह नुस्खा पहले आम चुनाव का है। आगामी चुनाव में कोई उम्मीदवार या नाउम्मीदवार इसे काम में न लाए। नुकसान का जिम्मेदार मैं नहीं। बात यह है कि जनता की समझ लगातार बढ़ती गई है, पर नेता की उतनी ही रह गई)। बात चुनाव की नहीं, नाटकीयता की है। बिना नाटक के बड़े काम करो, कोई चर्चा नहीं होती। इसका सबसे 'ट्रेजिक' उदाहरण शत्रुघ्न है। दशरथ के चारों लड़कों में सबसे कम नाम इसी का हुआ। बाकी तीनों भाइयों में खूब नाटकीयता थी। मर्यादापुरुषोत्तम की तो बात ही निराली है। लक्ष्मण अजब नाटकीयता से पत्नी को छोड़कर भाई के साथ हो लिये। उन्हें तो अमर होना था। भरत खड़ाऊँ रखकर नंदी ग्राम जा बसे। सब जिम्मेदारी से बरी। बेचारा शत्रुघ्न एक तो गृहस्थी चलाता रहा—गृहस्थी चलाना वनवास से बड़ा पराक्रम है। फिर राज्य का शासन चलाता रहा। यह बड़ा काम था। अगर वह ऐसा न करता, तो राम लौटकर क्या पा लेते? पर शत्रुघ्न की कोई खास कद्र नहीं हुई। उसने

नाटकीय अंदाज में कुछ नहीं किया।

शत्रुघ्न का दृष्टांत मैंने इसलिए दिया कि यह अध्यात्म में डूबे मेरे मित्र के डिपार्टमेंट का जान पड़ता है। वह भुनभुनाया—जिसे डेंगू नहीं हुआ, वह इस कष्ट को नहीं समझ सकता। तुम्हें (ईश्वर चाहेगा) होगा, तब जानोगे कि यह नाटक है या नहीं। जानने के लिए होना जरूरी है। इसलिए लोग लेखक के लिए दुख भोगना जरूरी समझते हैं। नहीं होता तो देने लगते हैं। मुझे डेंगू के दुख की अनुभूति होनी चाहिए। तुलसीदास को बालतोड़ हुआ था। वे पके बालतोड़ को छूने की पीड़ा को चरम पीड़ा मानते थे। लिखा है कि राम के राज्याभिषेक की तैयारी की बात सुनकर कैकयी को ऐसी पीड़ा हुई जैसे पका बालतोड़ छू दिया हो। महाकवि को जरूर बालतोड़ हुआ था, वरना वे ऐसा न लिखते। यह रिसर्च डॉक्टरेट के लायक है।

मुझे डर पैदा हो गया। मित्र आध्यात्मिक भूमिका में था और कह रहा था कि तुम्हें डेंगू होगा। शुद्ध मन से कही गई बुरी बात जरूर फलवती होती है। क्षुब्ध कामना उतनी कारगर नहीं होती। पुराणों में तपस्वियों के वर और शाप का अनुपात 1 : 3 है। कोई भी टोटल करके देख सकता है। सिद्ध पुरुष गाली ज्यादा देते हैं और भक्त सुनकर खुश होते हैं। मैं डरा कि कहीं इस बीमार मित्र की बात सही न हो जाए। डर मेरे चारों तरफ है। शहर की आबादी का लगभग एक तिहाई हिस्सा हमेशा बिस्तर पर पड़ा रहता है। कम्पाउंडरों को डॉक्टरों का दर्जा मिल गया है। जिन डॉक्टरों के पास कोई टिंक्चर लगवाने भी नहीं जाता था, उनके दिए हुए 'एंटी बायोटिक्स' लोग खा रहे हैं।

कहते हैं, डेंगू अपनी मौलिक बीमारी नहीं है। बाहर से आई है। फ्लू भी सुना है, जापान से आया है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान की संधियाँ होती हैं, मगर रोग आ जाते हैं। बीमारियाँ अंतर्राष्ट्रीय हो गईं। हम बाहर की बीमारी ग्रहण करने के लिए बहुत तत्पर रहते हैं। हमने अपनी कोई बीमारी किसी को दी हो, मैं नहीं जानता। निर्यात अपना कमजोर है—सामान का हो, चाहे बीमारी का। सुना है, भारतीय गाँजा और भाँग पश्चिम में बहुत पसंद किए जाते हैं। ये धार्मिक नशे हैं। साधु गाँजा पीकर त्रिकालदर्शी हो जाता है। आल्डस हक्सले भी मानता था। नशों के बदले में हम बीमारी ले लेते हैं। पश्चिम को और नशा चाहिए, पूर्व को और बीमारी चाहिए। ज्यों-ज्यों पश्चिम का नशा बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इधर ज्यादा बीमारी भी बढ़ती जाती है। अपनी अर्थव्यवस्था को डेंगू हो चुका है। लेटती है तो उठा नहीं जाता। बिठा दो, तो लुढ़क जाती है। पूछता हूँ—माताजी, यह क्या हो गया? कहती है—बेटा, डेंगू हो गया। बाहर से 'इनफेक्शन' आया था। मेरे बेटे रुपए को भी डेंगू हो गया था। कितना दुबला गया बेचारा।

यह 'इनफेक्शन' कौन फैलाता है? कहते हैं, आम तौर पर मच्छर इसे फैलाते हैं। मच्छरों को बीमारी ढोने के सिवा कोई काम नहीं। शेर, हाथी या बैल 'इनफेक्शन' नहीं ढोते। मच्छरों से सावधान रहना चाहिए। वे अब अंतर्राष्ट्रीय संपर्कवाले हो गए हैं। जो बीमारी की जगहें हैं, वहाँ अपने यहाँ से मच्छरों को नहीं जाने देना चाहिए। वे बीमारी ले

आएँगे। भारत सरकार को इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। बीमारी देनेवाले देशों को अपने यहाँ से मच्छर न भेजा करे। पहले की असावधानी का नतीजा भुगत रहे हैं। डेंगू लग गया अर्थ-व्यवस्था को।

(लेखक को डेंगू हो गया। यह लेख इतना ही लिखा हुआ 8-10 दिनों तक पड़ा रहा।)

बीमारियाँ असहनशील हो गई हैं। वे अपना मजाक और आलोचना बर्दाश्त नहीं करतीं। मैं डेंगू के संबंध में मजाक कर रहा था। उसने बदला ले लिया। मुझे दबोच लिया। मेरा डर बढ़ गया है। बीमारियाँ बदले पर उतर आई हैं। मैंने कई बीमारियों को नाराज किया है। अगर वे सब सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक बीमारियाँ जिनका मैंने उपहास किया, बदला लेने लगीं तो लेखक का क्या होगा? क्या बीमारियों से समझौता कर लूँ? कह दूँ कि तुम सब खूब फैलो। तुम्हारी जय हो। बस, मुझे बचाती जाओ।

क्षणवाद का चक्कर

प्रियवर,

पिछले अंक के लिए मैं आपको स्तंभ नहीं भेज सका और आपने संपादकीय चातुर्य से दुनिया को यह बता दिया कि मेरे नीम में कोंपलें नहीं आईं। सच यह है कि कोंपलें तो आ गई थीं; पर लेखक की और मजबूरियाँ भी होती हैं। मैंने स्तंभ लिख लिया था, लिफाफे में बंद करके जीभ से गोंद-दानी का काम भी ले चुका था और डाक में छोड़ने जा ही रहा था कि अचानक आसमान में घटाएँ छा गईं। मैं वहीं बैठ गया। 'मन मत्त मयूर' होकर अनुप्रास साधने लगा। मैं जानता हूँ कि यह छायावादी संस्कार है और नए लेखक के नाते मुझे घटाएँ नहीं देखनी चाहिए थीं, बल्कि किसी के बगीचे में जाकर 'कैक्टस' को सहलाना था। पर मैं उस क्षण छायावादी संस्कारों से आक्रांत था। एक छायावादी कवि के साथ 3-4 महीने रहने का अपराध मैंने किया था। जब घटा उमड़ती, तो वे वहीं ढेर होकर बैठ जाते और आत्म-विभोर हो पूछते, "भाई, क्या तुम मुझे बता सकते हो कि बादलों में से वह कौन आभामय झाँकता है?" मैं कहता, "कोई नहीं है; बिजली चमक रही है।" वे कहते, "नहीं, बिजली में कौन हँसता है? तारों में कौन झिलमिलाता है?" मैं उत्तर दे नहीं पाता, तो वे मेरी संवेदनहीनता पर तरस खाकर कहते, 'तुम्हारी आँखें केवल स्थूल देख पाती हैं; मेरी स्थूल के भीतर की सूक्ष्म सत्ता को खोजती हैं।' बादलों में, नक्षत्रों में, विद्युत् में, फूलों में, फूलवालियों में कौन है? हिंदी कविता के उस 'कुतूहल-युग' में कौन, क्या, कोई, किसी आदि सर्वनामों ने कवियों का बड़ा साथ दिया। यों इन सर्वनामों ने हर युग के कवि को संकट से बचाया है। 'फिर किसी की याद आई!'—इसमें जिसकी याद आई है, उसका नामोल्लेख करने से कवि झंझट में पड़ सकता है। मान लीजिए, विभा की याद आ रही है। अब अगर

कवि लिखे, 'फिर विभा की याद आई!' तो विभा के पिता, भाई या पति बेचारे से मारपीट करने आ पहुँचेंगे। इसलिए अनिश्चयवाचक सर्वनाम 'किसी' से काम चलाया गया।

हाँ, तो छायावादी-संस्कारों से बाध्य होकर मैं लिफाफा लिये बैठ गया और बादलों की ओर देखने लगा। लेखकों के लिए बादलों से खाद्य-पदार्थ किसी दिन बरसेंगे—मुझे विश्वास है। विश्वास का आधार है—एक कवि ने हाल ही में भुखमरी से तंग आकर आत्महत्या कर ली थी, तब हिंदी की सबसे वयोवृद्ध पत्रिका के वयोवृद्ध संपादक ने लिखा था कि कवि ने आत्महत्या क्यों कर ली? जीने के कितने आधार हैं—ये उमड़ते-घुमड़ते मेघ, ये झिलमिलाते तारे, यह उफनता सागर, यह हँसती चाँदनी, ये मुस्कुराते फूल! संपादक, फिर वयोवृद्ध संपादक, कभी झूठ नहीं बोलते। मैं आशा से बादलों को देखता रहा। सहसा युग-परिवर्तन हो गया और मैं नई कविता के युग में आ गया। अब तो नए 'आयाम' खुल गए। 'अव्यक्त सत्ता' से छूटा, तो 'क्षण की सत्ता' में फँस गया। मैं तुरंत उस क्षण की गहराई में डूब गया और यह कविता लिख डाली—

मेघ, नाला, मेंढक, बिच्छू और मैं

!
!!— — — ... ...
! ...! ...!—!!!!
... ...
क ख
ग घ!!
— — — —
य र ल व
श ष स ह
क्ष त्र ज्ञ!!!

छायावादियों का सहारा अनिश्चयवाचक सर्वनाम था, तो नए कवि का सहारा विस्मयादिबोधक चिह्न हैं—यह रहस्य मैं उसी क्षण समझ गया। कविता पूरी करते ही एक नए कवि जो नई कविता के व्याख्याकार भी हैं, आ पहुँचे। रचना देखकर बोले, "वाह, तुमने क्षण को उसकी पूरी गहराई, गरिमा और संपूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया है। मैं कहता हूँ, तुम कहानी निबंध का पचड़ा छोड़ो। कविता लिखो। तुम्हें क्षण की अच्छी पकड़ है।"

बस भाई, उस क्षण की सत्ता के प्रभाव में आकर मैंने लिफाफा फाड़ डाला। मैं उस क्षण भूल गया कि पिछले क्षण मैंने ही वह स्तंभ लिखा है और अगले क्षण उसे डाक में छोड़नेवाला हूँ। यदि पीछे और आगेवाले क्षण की याद रखूँ और यह मानूँ कि प्रस्तुत क्षण पिछले से संबद्ध है और आगेवाले क्षण से उसका कारण बनकर जुड़ेगा, तो सच्चा 'क्षणवादी' हो ही नहीं सकता। मुझे हर क्षण को अलग पकड़ना है। यह बड़ा कठिन है; एकदम हठयोग

है। धूल मुट्ठी में भरकर तो उठाई जा सकती है, पर कोई अगर रस्सा लेकर एक-एक कण को बाँधने लगे, तो कण तो नहीं बँधेगा, रस्सी में गाँठें अलबत्ता पड़ जाएँगी। जैसा कण, वैसा क्षण! मैं एक-एक क्षण को चेतना की रस्सी से बाँधने का प्रयत्न कर रहा हूँ और अभी तक कितनी ही गाँठों का धनी हो गया हूँ। अब क्या करूँ? एक ही रास्ता है—इन गाँठों को प्यार करने लगूँ, इनकी जय बोलूँ और इन्हें गौरव से सजाऊँ।

मैंने कहा न, क्षण की साधना हठयोग है। आज एक क्षण की असावधानी में मेरी उँगली में पिन चुभ गई। ज्यों ही रक्त निकला, मैं पिछले क्षण से टूट गया और भूल गया कि पिन चुभी है। चिल्ला उठा कि साँप ने काट खाया। संयोग से पास ही बैठे एक मित्र ने स्थिति सँभाल ली, वरना पागल समझ लिया जाता।

क्षणवादियों को यदि किसी देवता की आवश्यकता हुई, तो मैं पतंगे को कुलदेवता बनाने का सुझाव दूँगा। पतंगा हर क्षण को अलग-अलग जीता है। इस क्षण दीपक से झुलसता है और अगले क्षण भूल जाता है कि यह लौ है, जिससे अभी जला है। वह फिर लौ से टकराता है। वह पूर्ण क्षणवादी है। हर क्षण उसी क्षण की गहराई में डूबा रहता है।

बंधु, क्षण-साधना के लाभ मुझे दिखने लगे हैं। मुझ जैसे गैर-जिम्मेदार आदमी की गैर-जिम्मेदारी को एक दर्शन मिल गया है और जिस कमजोरी से आज तक लज्जित होता रहा, उससे अब गौरवान्वित हो सकूँगा। बाहर समाज में हारने पर घर में क्षण की चादर ओढ़, चैन से सो सकूँगा। पुराने जमाने में पराजित राजा को रनिवास में ही चैन मिलता था; क्षण आज के हारे योद्धा का रनिवास ही है। जब युग ललकारेगा, माँग करेगा, तब मैं क्षण की सीपी में बंद होकर मोती बनाऊँगा। सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि पीठ पर से इतिहास का बोझ उतरता है और पंचवर्षीय योजनाओं की व्यर्थता समझ में आने लगती है।

सुना है, आप कशमीर हो आए। तब तो 2-4 सौ कहानियों के लिए सामग्री ले आए होंगे। लोग तो एक दिन कश्मीर में रहकर जिंदगी-भर कश्मीर की कहानियाँ लिखते हैं।

क्षण-साधक

ह.शं.प.

जैनेन्द्र का अदर्शन

प्रिय बंधु,

पिछले महीने पत्र नहीं लिख सका। यों बंधुवर रेणुजी के 'उत्साहवर्धक' पत्र के बाद लिखना लाज़िमी था। पर मैं बहुत व्यस्त और परेशान रहा। व्यस्त किस काम में था और परेशान क्यों रहा, यह समझाऊँगा। मैं अपने राज्य की राजधानी के चक्कर काटने में व्यस्त

रहा। आपको यह बात पटेगी नहीं। आप कहेंगे कि राजधानी है, तो वहीं बस जाना लेखक का कर्तव्य है। चक्कर क्यों लगाते हो? मैं बसने का सिलसिला ही जमाने का प्रयत्न कर रहा था। जब से सुना कि पंजाब सरकार ने दो 'राजकवि' नियुक्त कर दिए हैं तब से मेरा मन बड़ा चंचल हो उठा है। मैं कोशिश में था कि मेरी राज्य सरकार को भी सुमति आ जाए और वह मुझे 'राजलेखक' नियुक्त कर दे। पर सब व्यर्थ! मेरी राज्य सरकार बहरी है। उधर पंजाब में 'प्रतापसिंह रासो' की रचना पूरी हो चुकी है और इधर 'राजकवि' की अभी नियुक्ति ही नहीं हुई।

राजधानी से निष्फल श्रम करके लौटा तो मुझे सपने आने लगे। बड़ा परेशान रहा। तरह-तरह के सपने, जिनका अर्थ मैं समझ ही नहीं सकता। ऐसी चीजें दिखती हैं, जो फ्रायडीय प्रतीकों के भी दायरे में नहीं आतीं। आप बड़े दादा बनते हैं—भला बताइए, सपने में अगर जैनेंद्र कुमार दिखें तो क्या अर्थ हुआ? हाँ, एक रात मुझे साक्षात् जैनेंद्र दिखे। दिखे ही नहीं, मेरी बातचीत भी उनसे हुई। पूरा सपना बताता हूँ। मैं रास्ता भूल गया हूँ। मुझे स्टेशन जाना है। मैं सड़क पर खड़ा हूँ कि कोई मिले, तो उससे स्टेशन का रास्ता पूछ लूँ। इतने में एक छोटे कद का शुभ्र खादीधारी व्यक्ति वहाँ से निकला। मैंने कहा—''जरा सुनिए।'' वह रुका और उसने मेरी ओर देखा। मैंने पहचाना—अरे, ये तो जैनेंद्रकुमार हैं ! सोचा कि जो जैनेंद्र जीव और ब्रह्म का; श्रेय और प्रेय का; अस्ति और नास्ति का, नीति और अनीति का पता बताते हैं, उनसे स्टेशन-जैसी तुच्छ भौतिक वस्तु का पता क्या पूछूँ ! मैं हिचकिचाया। वे बोले, ''पूछो!'' मैंने कह दिया, ''मुझे कुछ नहीं पूछना, माफ कीजिए।'' वे कहने लगे, ''रोका है तो पूछना होगा। सभी पूछते हैं।'' मैंने कहा, ''मुझे कुछ नहीं पूछना।'' वे बोले, ''पर मुझे तो उत्तर देना है। अपने लिए नहीं, तो कम से कम उत्तर के लिए पूछो। प्रश्न चाहे तुम्हारी मजबूरी न हो; पर उत्तर मेरी मजबूरी है।'' जब मैंने देखा कि जैनेंद्र स्वयं हठ कर रहे हैं, तब मैंने सोचा कि स्टेशन का पता पूछ लूँ। इसके पहले निश्चित करने के लिए मैंने कहा, ''माफ कीजिए। आपका नाम जैनेंद्र कुमार है न?'' उन्होंने क्षितिज पर दृष्टि जमाते हुए कहा, ''नाम ? सो कैसे कहूँ? नाम गुणवाचक है कि व्यक्तिवाचक ? हाँ, हूँ भी और नहीं भी हूँ। कह दिया जाता हूँ, तो जैनेंद्र हूँ! कोई न पुकारे तो नहीं हूँ!'' मेरा समाधान नहीं हुआ। मैंने पूछा, ''त्यागपत्र, परख, विवर्त आदि उपन्यास आपने ही लिखे हैं न?'' वे मुस्कराए। कहने लगे, ''लिखे हैं—यह कैसे कहूँ? हाँ, दो-चार उपन्यास मेरे नाम भी हैं। लिखे गए हैं। न लिखा जाना क्या वश की बात है?''

मैं बड़ी दुविधा में पड़ा कि स्टेशन का रास्ता पूछूँ या नहीं। आखिर पूछ ही बैठा, ''जैनेंद्रजी, कृपाकर मुझे स्टशेन का रास्ता बता दें, किस तरफ है?'' प्रश्न सुनकर वे चिंतन में डूब गए। अर्धोन्मीलित नयनों से शून्य में देखते रहे। फिर बोले, ''स्टेशन ? हाँ, होगी तो रास्ता भी होगा। स्टेशन हो भी सकती है और नहीं भी। होने का क्या अर्थ? और नहीं होना क्या? स्टेशन है—यदि कोई साक्षी है। साक्षी के बिना अस्तित्व कैसा? मैं किस ओर बताऊँ!'' मैं बड़ी उलझन में पड़ गया। घबड़ाकर कहा, ''मुझे सिर्फ यह बतला दीजिए कि

इधर पूर्व की ओर है या उधर पश्चिम की तरफ। फिर मैं आगे किसी से पूछ लूँगा।'' जैनेंद्र हँसे। बोले, ''पूर्व और पश्चिम का निर्णायक मैं कौन? दिशाएँ तो सापेक्ष हैं। पूरब क्यों पूरब है? पश्चिम के संबंध से ही पूरब हुआ। ऐसे ही पश्चिम। तो कैसे कहूँ? दिशाएँ सत्य हैं; स्टेशन यथार्थ है। सत्य के संदर्भ में यथार्थ की स्थिति कैसे निश्चित हो?''

मुझे याद है, इसके बाद मैं चिल्ला उठा था। नींद खुली तो रोशनी करके अपने कमरे को अच्छी तरह पहचाना; तब कहीं सो सका।

सपनों की कोई शुमार है! एक दिन प्रेमचंद की परंपरा पर बहस करते-करते सो गया। सपने में गोबर आ पहुँचा, होरी का लड़का। अब तो बूढ़ा हो गया है। कहने लगा, ''मेरी परंपरा कहाँ है? मेरा लड़का कहाँ है?'' मैंने कहा, ''भई, मैं नहीं जानता। जिस चाल में तू रहता है, उधर से मैं एक बार निकला था। मुझे चाल के जीवन पर एक कहानी लिखनी थी। तब तेरा लड़का कारखाने जाता दिखा था। गोबर, तुमने व्यर्थ ही गाँव छोड़ दिया। आज सरपंच बनने का मौका तुम्हें मिल सकता था।'' गोबर बोला, ''मेरा एक लड़का गाँव में ही है। मालगुजार ने जो परती जमीन भूदान में दी थी, उसका एक हिस्सा उसे मिल गया है। उसकी परंपरा के बारे में ही मैं तुमसे पूछ रहा हूँ।'' मैंने कहा, ''सो मैं कुछ नहीं जानता। मैं गाँवों की तरफ नहीं जाता। शहर में रहता हूँ। प्रेमचंद की बात अलग थी। अब उनकी परंपरा का बँटवारा हो गया है। अगर गाँव की तरफ जाऊँगा, तो मार्कण्डेय मुझे गिरफ्तार करवा देगा और इधर मोहन राकेश शहर बदल करा देगा। कहीं का न रहूँगा। किसी कस्बे में शरण लेना चाहूँगा, तो कमलेश्वर मोटर-स्टैंड के गुंडे पीछे लगा देगा और सड़क के भागे को सत्तावन में से किसी गली में शरण नहीं मिलेगी। अगर तुम्हें अपने गाँववाले बेटे के विषय में जानना है, तो नागार्जुन, रेणु, मार्कण्डेय या शिवप्रसाद सिंह के सपने में जाओ। यहाँ क्यों आए?''

मुझे क्या मालूम कि गोबर के पीछे खड़े हुए प्रोफेसर मेहता सुन रहे हैं। गोबर को हटाकर वे आगे आए और बोले, ''अगर तुम शहरी हो, तो बताओ कि मेरी परंपरा कहाँ है? मेरा बेटा?'' मैंने हँसकर कहा, ''क्या मजाक करते हैं, प्रोफेसर साहब! आपका बेटा भी था? आप तो क्वाँरे रहे। डॉक्टर मालती ने आपको टरका दिया था।'' मेहता ने कहा, ''मैं अपने मानस-पुत्र के बारे में पूछ रहा हूँ। मेरे उस प्रिय शिष्य के क्या हाल हैं, जिसका मैंने अपने अनुरूप निर्माण किया था?'' मुझे याद आया। कहा, ''हाँ, मेहता साहब, उसे मैं जानता हूँ। वह बड़ा उदास रहता है।'' ''उदास क्यों रहता है?'' मेहता परेशान हो गए। मैंने कहा, ''यह मैं भी नहीं जानता। मैंने एक दिन उससे पूछा कि भाई, उदास क्यों रहते हो? उसने कहा कि मैं बुद्धिजीवी हूँ, इसीलिए उदास हूँ। मेहता साहब मैं उसकी बात नहीं समझा। और प्रश्न किए, तो उसने सिगरेट के धुएँ के छल्ले बनाए और उन्हें देखता हुआ कहने लगा कि प्रसन्न रहना गँवारी है; उदास रहना बौद्धिकता का लक्षण है।'' प्रोफेसर मेहता दुखी हुए। कहने लगे, ''मैंने तो उसे काम करना और खुश रहना सिखाया था।'' मैंने कहा, ''मेहता साहब, वह कहता है कि काम करना और खुश रहना पुरानापन है। काम नहीं करना

और उदास रहना आधुनिकता है। आपका मानस-पुत्र जब शहर में उदासी की सुविधा नहीं पाता, तब पहाड़ों पर उदास रहने के लिए चला जाता है। वह कहता था कि उसके पास पश्चिम से बुद्धिमानों की चिट्ठी आई है कि इधर हम सब उदास हो गए हैं; तुम भी उदास हो जाना। बस, तभी से वह उदास रहने लगा है। उसे आधुनिकता ग्रहण करना है न!" मेहता सन्नाटे में आ गए। बोले, "यह बात मेरी समझ में नहीं आई। हाँ भई, मैं पुराना आदमी हूँ। अच्छा वह जो बड़े उद्योगपति थे, तनखा साहब; उनके बेटे के क्या हाल हैं?" मैंने बताया, "वह कभी-कभी आपको पुत्र के साथ दिखता है। वह कभी-कभी आधुनिक हो जाता है। एक बार हम तीनों भिलाई का इस्पात कारखाना देखने गए। आपका बेटा और मैं तो उस निर्माण को देखकर प्रसन्न हुए पर तनखा का बेटा उदास हो गया। मैंने कारण पूछा, तो आपके बेटे ने बताया कि इसे आधुनिक भावबोध हो गया है? मैंने कहा कि कारखाने को देखकर मुझे जो प्रसन्नता हो रही है, वह क्या आधुनिक भावबोध नहीं है? उसने उत्तर दिया कि आधुनिकता भी कई तरह की होती है। तनखा का लड़का मानता है कि हम जब आधुनिक होंगे, तब विदेशी पूँजीवाद चला जाएगा और भारतीय पूँजीवाद विकसित होगा, व्यक्तिगत उद्योग चलेंगे, व्यक्ति स्वतंत्र होगा। उसकी यही आधुनिकता है। जब यहाँ वह सार्वजनिक उद्योग को फलते-फूलते देखता है, तब उदास हो जाता है। यही उसका आधुनिक भावबोध है। आप भी आधुनिक हैं; वह भी आधुनिक है। पर दोनों की आधुनिकता के अलग-अलग अर्थ हैं। मेरी आधुनिकता आप दोनों से भिन्न है।"

मेहता को यह सब बातें समझ में नहीं आईं। वे कुछ बड़बड़ाते हुए चले गए।

बंधु इस-इस तरह के साहित्यिक सपने आते हैं, जिनसे परेशान हूँ। ऐसे में स्तंभ कैसे लिखा जाय?

और क्या हाल है?

सस्नेह
ह.शं.प.

◆

देशभक्ति से गद्दारी

प्रिय बंधु,

उस दिन जब अखबार में पढ़ा कि आपके शहर में एक बेचारा गरीब आदमी रहता है, तो आप सब लोगों के प्रति सहानुभूति से मन भर गया। उस गरीब आदमी की करुण कथा से दुष्ट चीनियों के कठोर दिल भी पानी-पानी हो जाएँगे।

चीनी आक्रमण के बाद से अब तक, अजीब चीजें देख रहा हूँ। अमीर गरीब हो गए और गरीब अमीरों-जैसा व्यवहार करने लगे। मजदूरनी ने कान की बाली उतारकर दे दी और सेठानी ने हार देखकर कहा कि हाय, यह नहीं रहा, तो जिंदा कैसे रहेंगी। जिसे नीचा

समझते थे वह ऊँचा हो गया और जिसे ऊँचा समझ रहे थे, वह जाने कैसे सिकुड़कर बालिश्त-भर का हो गया। जनता एकदम एक होकर, बलिदान की भावना से तनकर खड़ी हो गई, मगर नेता और सिकुड़ गया। पहले जनता ऊँचा मुँह बा करके नेता की बात सुनती थी; अब जनता को नीचा मुँह करके नेता को देखना पड़ता है।

बंधु, अवसर को पकड़ना बड़ा भारी विद्या है। द्वितीय महायुद्ध में 'बने' बूढ़े सेठ ने बेटे से कहा, "बेटा, मैं उस लड़ाई में बना था; तू इस लड़ाई में बन जाना।" बेटा योजना बनाने लगा। पैसेवालों ने जब देखा कि 'राष्ट्रीय सुरक्षा कोष' के नाम से फिर हमारे पैसे पर संकट आया तो वे जगह-जगह खुद माँगनेवाले हो गए—यानी राष्ट्रीय सुरक्षा समितियों में घुस गए। जो माँगनेवाला है, वह या तो देने से बच जाता है या कम देकर छूट जाता है। जिनसे भारी रकम लेनी थी, जब वे ही याचक बनकर माँगने निकल पड़े, तो अपने वर्ग के आर्थिक हितों की काफी रक्षा हो गई। कुछ ऐसे दृश्य दिखने लगे—जिससे कम-से-कम एक हजार की उम्मीद है और जो बड़ी आसानी से इतना दे देगा, उसके पास सधे-बधे माँगनेवाले पहुँचे और कहा, "भैयाजी, सौ रुपए से एक कौड़ी कम नहीं लेंगे।" भैयाजी, जो एक हजार तक देने के लिए जी कड़ा कर चुके हैं, यह सुनकर पहले तो खुशी सँभाल नहीं पाते, फिर नाटक करते हैं, "नहीं, नहीं सा'ब, सौ बहुत हो जाएगा। आजकल धंधे में क्या रखा है?" माँगनेवाले जोर देंगे, तो वह महान् बलिदान की मुद्रा में सौ का नोट देकर हाथ जोड़ लेगा। वह मन-ही-मन कहेगा, "अपने ही लोग माँगनेवाले हैं तो नौ सौ बच गए!" इस तरह मध्यम वर्ग और मजदूर वर्ग को बचानेवाले कोई नहीं थे। वास्तव में, इन लोगों ने देश-रक्षा के काम में किफायत करने की कल्पना भी नहीं की।

जगह-जगह जो समितियाँ बनीं, उनमें वे लोग प्रमुख रूप से शामिल हुए, जो दूसरे महायुद्ध में अंग्रेज सरकार की 'वार फंड कमेटी' में थे। इस सरकार की 'वार फंड कमेटी' बनी, तो इसमें भी वे हैं। और अगर चीन का कब्जा हो जाए (जो कभी नहीं, कभी नहीं होगा), तो वे उसकी 'वार फंड कमेटी' में भी हो जाएँगे और कहेंगे, "सा'ब, हम उन लोगों में नहीं हैं जो बार-बार अपने सिद्धांत बदलते हैं। हम तो शुरू से सरकार के साथ थे, सो अब हैं। अंग्रेज सरकार थी, तो हम उसके साथ थे फिर देशी सरकार बनी, तो हम उसके साथ भी थे। और अब आप आए हैं, सा'ब, तो हम आपके साथ भी हैं। हम सिद्धांत के पक्के हैं, सा'ब!"

एक जगह से जब हम दस रुपए राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिए लेकर चलने लगे, तो देनेवाले ने दूसरे से कहा, "यहाँ तो यह लगा ही रहता है। कभी दुर्गा-पूजा का चंदा, कभी गणेशोत्सव का, कभी ये!"

जिसके घर में हजारों तोले सोना है और जिसकी पत्नी चलता-फिरता सराफा बाजार है, वह एक तोला लेकर सुरक्षा-कोष में देता है और फौरन अखबार की तरफ भागता है कि दूसरे दिन 'स्तुत्य दान' के नीचे नाम छप जाए।

मगर बंधु, यह सब कहना खतरनाक हो गया है। आप कहें, तो आरोप लगा देंगे

कि यह एकता भंग करता है, वर्ग-द्वेष पैदा करता है—यह 'गद्दार' है! यह शब्द खूब जबान पर चढ़ा है। यदि कोई सौदा लेने जाय और दूकानदार कम तौले, तब यदि ग्राहक कहे, "यार, पूरा तौलो। डंडी क्यों मारते हो?" तो दूकानदार हल्ला मचा सकता है, "यह गद्दार है।" भीड़ इकट्ठी हो जाएगी। जगह-जगह डंडी मारी जा रही है और इसकी तरफ इशारा करनेवाला 'गद्दार' कह दिया जाता है।

इधर मैंने एक बहुत बड़े नेता का भाषण सुना। अखिल भारत में वे दूसरी श्रेणी के नेता होंगे। प्रचारित हुआ था कि वे चीनी आक्रमण का विश्लेषण करेंगे, भारतीय जनता के कर्तव्य बतलाएँगे और इस संदर्भ में जनमत को शिक्षित करेंगे। मैं बड़ी आशा से सुनने गया। उनका शिक्षाप्रद भाषण हो रहा था। वे कह रहे थे, "चीनी में न माँ होती है, न बहन, न स्त्री। सब गोलमाल रहता है। और चीनी लोग मेंढक खा जाते हैं, कुत्ता खा जाते हैं। साँप-बिच्छू न जाने क्या-क्या खाते रहते हैं।" जाग्रत और काफी समझदार जनता को इस तरह वे शिक्षित और उत्साहित कर रहे थे। मैंने उनके कई भाषण सुने हैं और मेरा अभी तक खयाल था कि जब वे खुशी से बोलते हैं, तब मूर्खता के चरम बिंदु पर पहुँचते हैं। मेरी धारणा बदल गई। वे जोश में चरम बिंदु छूते हैं। यों जहाँ अथाह सागर है वहाँ क्या हिसाब लगाना कि यहाँ दस फुट कम गहरा और यहाँ पाँच फुट अधिक गहरा!

चीन से लड़ने की तैयारी का पहला कदम क्या हो? मेरी अल्पमति के अनुसार पहले यह तय हो जाना चाहिए कि सबसे पहले चीन के इस इरादे की चेतावनी किसने दी थी। पचीसों आदमी कह रहे हैं कि देखो, हमने पहले ही आगाह कर दिया था। कोई कहता है, मैंने सन् '70 में ही चेतावनी दे दी थी। दूसरा कहता है मैंने सन् '56 में कह दिया था। तीसरा कहता है, मैंने तो सन् '50 में बता दिया था। और चौथा कहता है कि मैं तो बचपन में ही कहता था कि देखो, एक दिन चीन हमला करेगा। बंधु, चीन की लड़ाई से बड़ी लड़ाई यह है कि किसने पहले कहा था। इसका निर्णय कैसे हो? मैं सोचता हूँ कि कागज के टुकड़ों पर कहनेवालों के नाम लिखकर किसी बच्चे से एक टुकड़ा उठवा लिया जाय। जिसकी किस्मत जोरदार होगी, उसे श्रेय मिल जाएगा और तब हम चीन से लड़ने की तैयारी करेंगे।

सब दलों के नेताओं के मुँह से दो वाक्य सुनता हूँ—(1) हमें मतभेद भुलाकर एक हो जाना चाहिए और; (2) इस समय किसी दल को अपने हितों को आगे नहीं बढ़ाना चाहिए। ये बड़े अच्छे उद्‌गार हैं। लेकिन इन दो वाक्यों के बाद के जो 100 वाक्य होते हैं, वे भेद डालनेवाले और अपना हित आगे बढ़ानेवाले होते हैं। इसलिए जब मैं किसी के श्रीमुख से ये वाक्य सुनता हूँ, तो समझ जाता हूँ कि इनका मतलब है कि हम भेद डाल रहे हैं, मगर तुम मतभेद भुला दो। और यह कि हमारे सिवा कोई और अपने हित आगे न बढ़ाए, सिर्फ हमें अपने हित आगे बढ़ाने दो।

बंधु, इस हल्ले के बीच जब सुनता हूँ कि राष्ट्रीय एकता हो गई तो सोचता हूँ कि जनता तो एक हो गई, मगर नेता और बिखर गए। पक्की एकता अगर किसी की हुई तो वह है, प्रतिक्रियावादी की। इसे राष्ट्रीय एकता कहना चाहो तो कहो।

बहुत लोग ऐसी बौखलाहट से सरकार को गाली देते हैं, गोया, यह देश केवल सत्ताधारी दल का है और चीन से उसी की लड़ाई हो रही है। मुझे एक सेठ की कहानी याद आती है। सेठ की दूकान के आसपास उसके कुछ दुश्मन रहते थे। वे उसकी दूकान में आग लगाना चाहते थे। सेठ ने एक चौकीदार रख लिया था। एक रात किसी ने आकर सेठ से कहा कि तुम्हारी दूकान में कोई आग लगा रहे हैं। सेठ ने कहा–मैंने चौकीदार तो रख दिया है। अगर आग लग गई तो चौकीदार को निकाल दूँगा। फिर किसी ने आकर कहा कि सेठ, दूकान जल रही है; जाकर बुझाओ। सेठ ने कहा–मेरा चौकीदार वहाँ है। अगर दूकान जली, तो उसे नौकरी से निकाल दूँगा। दूकान स्वाहा हो गई। चौकीदार भी निकल गया। दूकान ही नहीं बची, तो चौकीदार क्या करेगा! इस समय चीनी आक्रमण के संदर्भ में बहुत लोग चौकीदार को बरखास्त करने में अधिक रुचि ले रहे हैं–आग बुझाने में कम।

पत्र लंबा होता जा रहा है। मगर एक जरूरी बात तो लिखूँगा ही। कुछ देशभक्तों को यह लग रहा है कि गांधीजी की हत्या करनेवालों को जेल से रिहा कर दिया जाय, तो चीन को हटाना आसान हो जाएगा। इसी खास मौके पर उनकी रिहाई की माँग करना इस बात का सबूत है कि राष्ट्रपिता के हत्यारों की सहायता के बिना राष्ट्र मजबूत नहीं होगा। मेरा तो विचार है कि चोर-डाकुओं को भी रिहा कर दें, जिससे नागरिक सुरक्षा अपने-आप हो जाएगी।

हो सकता है, आपके विचार दूसरे हों। पर चिट्ठी लिखना, और मन की बात लिखना मेरा फर्ज है। सो लिखी।

आशा है, सब कुशल-मंगल है।

सस्नेह
ह.शं.प.

भाषा, अज्ञान और उन्माद

प्रिय बंधु,

मैं इन दिनों हिंदी के बारे में ही सोचता रहा हूँ। हिंदी–मेरी मातृ-भाषा, मेरी राष्ट्र-भाषा, मुझे रोटी दिलानेवाली भाषा। 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल–' भारतेंदु ने कहा था। सुभाषित तो मुझे बहुत याद आते रहे हैं। तुलसीदास ने प्रतिगामी संस्कृत-भक्तों से कहा था–'संसकिरित है कूप जल भाषा बहता नीर!' और कबीर ने 'प्रेम' से सारा झगड़ा ही खतम कर दिया था–'का भाषा का संसकिरित प्रेम चाहिए साँच!' बंधु, संस्कृत और 'भाषा' यानी लोकभाषा में से लोकभाषा को बुद्धिमानों ने 4-5 सौ साल पहले

ही चुन लिया था। पर मैं अभी भी कुछ लोगों को कहते सुनता हूँ कि संस्कृत को राष्ट्र-भाषा बना दिया जाय। बंधु, ये तुलसी-कबीर के पहले के लोग, अगर इनका वश चले तो, सचिवालय में यज्ञ-वेदी बनवा दें और हम सबको लँगोटी लगाकर घुमाएँ।

सुभाषित अभी भी सुनता-पढ़ता हूँ—कुछ नमूने आप भी देखें—

1. 'हिंदी में दो ही ग्रंथ तो हैं—रामचरितमानस और रेलवे टाइम टेबल।' 'लिंक' साप्ताहिक में छपे एक तमिल 'विद्वान' के पत्र में यह सूक्ति मुझे मिली।

2. 'हिंदी में छः ठो जासूसी उपन्यासों और छः ठो यौन उपन्यासों के सिवा और है क्या?'—यशपाल से बंगला के एक बड़े संपादक ने कहा। जब यशपाल ने कहा कि अच्छा, आप एक भी हिंदी उपन्यास का नाम बताइए, तो विद्वान संपादक ने जवाब दिया—'हम बोला न, हम तो पढ़ा नई। जो सुना सो बोलता।'

3. 'अंग्रेजी के हट जाने से राष्ट्र खंड-खंड हो जाएगा। और दक्षिण पर हिंदी का साम्राज्यवाद प्रसारित होगा।'—राजगोपालाचारी, जो अणु-बम से लेकर क्षय के टीकों तक, सब विषयों के विशेषज्ञ हैं!

हिंदी विरोधी सूक्तियों की गिनती नहीं की जा सकती। अब ज़रा हिंदी नेताओं के तर्क देखिए—

1. 'जिस भाषा में सूर और तुलसी हैं, उस हिंदी के सिवा और कौन राष्ट्रभाषा हो सकती है।'

100 में से 90 हिंदी-भक्त इसे बड़ा प्रबल तर्क मानते हैं और इसे कहकर आसपास देखते हैं कि हिंदी-विरोधी ढेर हुए कि नहीं। तब कोई बंगला-भक्त उठकर कहता है—'जिस भाषा में रोवीन्द्रनाथ नेई हुआ, वह राष्ट्रभाषा कैसे हो सकती है? आमार सोनार बांगला !' हिंदी-भक्त सहम जाता है, 'हाँ यार, रवींद्रनाथ तो सचमुच बंगला में हुए थे।'

2. 'मैं तो कहता हूँ कि जो हिंदी का विरोध करता है, वह राष्ट्र-द्रोही है।'

सबसे बड़े हिंदी-नेता के मुँह से मैंने यह वाक्य प्रवासी बंगला सम्मेलन में सुना।

3. 'बंकिमचंद्र बनर्जी, शरच्चंद्र मुकर्जी, काजी नजरुल मुसलमान और खलील जिब्रान आदि बंगाली के महान लेखकों ने कहा था कि हिंदी भारत की राष्ट्र-भाषा होगी तब ये छोटे-छोटे बंगाली हिंदी का विरोध क्यों करते हैं?'

एक हिंदी नेता ने अपने अविस्मरणीय भाषण में कहा और इस पर ताली भी पिटी।

बंधु, जब संविधान बना था और हिंदी को उसमें प्रतिष्ठा मिल गई थी, तब हिंदी के साहित्यकार तो संयत रहे थे, पर हिंदी के नेताओं ने काफी धमाचौकड़ी मचाई थी। उस दौर में, मुझे भी लगने लगा कि सचमुच हिंदीवाले 'अटक से कटक' और 'कश्मीर से कन्याकुमारी तक' धींगा-मुश्ती मचाकर सबसे हिंदी मनवा लेंगे। उस वक्त कोई अहिंदी भाषी पूछता, ''तोम हिंदी वाला?'' तो हम तनकर कहते, ''हाँ, हाँ, हम हिंदीवाला! गड़बड़ मत करना।'' और अब, मित्र, यह हाल हो गया है कि कोई अहिंदी भाषी पूछता है, ''तोम हिंदीवाला?'' तो हम हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर कहते हैं, ''हाँ साहब, अगर आप माफ

करें, तो हम हिंदीवाला।'' बंधु, आज जो हमारी हालत हो गई है, उसके लाने में 'हिंदी वीरों' की कुछ कम जिम्मेदारी नहीं है।

बंधु, हिंदीवालों ने व्यावहारिक मामला, जो अर्थ और राजनीति से जुड़ गया है, भावुकता से हल करना चाहा—'जय हिंदी, जय हिंदी माता, हे जननी!' अच्छे आजीवन मार्क्सवादी जो 'वैज्ञानिक दृष्टि' की कसमें खाते हैं, 'हे' और 'हाय' के लहजे में हिंदी का पक्ष-समर्थन करते रहे हैं। हिंदी का मसला गौ माता का मसला हो गया। ये भक्त नौटंकी के धरमदास लगते थे जिसने 'धरम' पर जान दे दी—'धरम के कारने जी धरमदास ने देखो जान गँवाई—धरम के कारने जी...गड़-गड़-गड़-गड़-गड़-गड्ड-गड्ड!' (नगाड़ा)। इनमें से अधिकांश हिंदी-भक्तों के बेटे और बेटी हिंदी नहीं पढ़ते, वे अंग्रेजी पब्लिक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ते हैं और घर में भी माँ-बाप से अंग्रेजी बोलते हैं। बड़े-बड़े हिंदी लेखकों के बेटे-बेटी 'डैडी-ममी' करते हैं। अगर आप सूची बनाना चाहें, तो मैं ही 8-10 नाम बता सकता हूँ। मैंने देखा कि हिंदी से रोटी और यश कमानेवाला पिता, जो बाहर हिंदी के लिए हाय-हाय करता है, अपने बेटा-बेटी को हिंदी से अनभिज्ञ और भारतीयता से शून्य देखता है, तब बहुत गर्व का अनुभव करता है—हमारे बच्चे गँवारों की तरह हिंदी नहीं सीखते! बंधु, इसी तरह इन चार हिंदी राज्यों के मंत्रियों और सचिवों और ऊँचे अफसरों के बेटा-बेटी भी अंग्रेजी स्कूलों में ही अंग्रेजी माध्यम से पढ़ते हैं। विधानसभा में शिक्षा-मंत्री वक्तव्य देते हैं कि हमने हिंदी स्कूलों की ऐसी उन्नति कर दी, मगर मंत्री जी अपने बच्चों को इन 'उन्नत' स्कूलों में नहीं भेजते। क्या कारण है? जैसा मैंने सन् 1958 में 'वसुधा' के एक संपादकीय में लिखा था (अपनी ही उक्ति का उद्धरण सिर्फ माचवे ही नहीं देते, मैं भी दे लेता हूँ), 'अंग्रेजी से एन्जीनियर बनता है और हिंदी से पटवारी। उच्चवर्ग का आदमी अपने बेटे को एन्जीनियर बनाएगा और निम्न-मध्यवर्ग का आदमी पटवारी।' बंधु, इस भयंकर मिथ्याचार में हिंदीवाले भी तो फँसे हैं और तब दक्षिणवाला सोचता है कि अगर हिंदी से ही ऊँची नौकरी मिलेगी, हिंदी-पत्रकारिता से ही जीविका चलेगी, हिंदी से ही ऊँची शिक्षा मिलेगी, तब मेरा क्या होगा ? इस मौके पर राजनीतिक नेता प्रकट होता है और मामले को हाथ में लेकर उलझाता जाता है।

बंधु, व्यावहारिक सुविधा, अर्थ और राजनीति का मसला है यह। मगर इसमें प्रेम और घृणा की भावुकता आ गई है। डॉ. रघुवीर ने इसे हिंदू सांप्रदायिकता का रूप ही दे दिया। उन्हें जनसंघ का अध्यक्ष होना था। उन्होंने रूढ़ व्यावहारिक शब्दों को आर्य समाज मंदिर में ले जाकर उनका शुद्धि-संस्कार किया और फकीरेलाल वहाँ से जगत्कारु होकर निकला। हिंदी-विरोधियों ने इस 'रघुवीरी' नाम से जानी जानेवाली शब्दावली को लेकर हिंदी भाषा का कितना उपहास किया है। उपहासकर्ताओं में से अधिकांश ने वे शब्द-कोश देखे तक नहीं होंगे। उनमें सब कुछ निरर्थक नहीं है, काफी श्रम का भी है। मगर रेल, टाई, टेबल—आदि के पर्यायवाची शब्द लेकर खूब मजाक उड़ाया गया। विद्वानों ने भी ऐसा किया। अंग्रेजी आचार्य प्रोफेसर देव का मैंने एक भाषण सुना जिसमें वे हिंदी का मजाक यह कहकर

उड़ा रहे थे कि हिंदी में 'नेकटाई' को 'कंठ लंगोट' कहते हैं। ठेठ सड़क छाप बात विद्वान ने कही। मजा यह है कि यह बहुचर्चित, उपहास साधक 'कंठ लंगोट' शब्द उस अभागे रघुवीर के शब्द-कोश में नहीं है। मगर मजाक के लिए चल रहा है। गर्व ज्ञान का होते देखा है। मगर हिंदी के मामले में अज्ञान गर्व का विषय हो गया है। 'हम तो हिंदी पढ़ा नेई' गर्वपूर्वक कहा जाता है। भारतीय साहित्य के अंग्रेजी व्याख्याताओं का अज्ञान तो बहुत ही भयंकर है। कुछ महीने पहले अंग्रेजी में भारतीय लेखक खुशवंतसिंह ने एडिनबरा के सम्मेलन में भारतीय साहित्य पर जो भाषण दे मारा, उसमें सिर्फ आर.के. नारायण की तारीफ की। नारायण अंग्रेजी में लिखते हैं, जिसे खुशवंत सिंह 'बाँच' लेते हैं, और फिर उनकी एक किताब की भूमिका ग्राहम ग्रीन ने लिखी है। यों नारायण मुझे भी पसंद है, लेकिन क्या भारतीय भाषाओं में और कुछ नहीं लिखा जा रहा है? खुशवंतसिंह को मालूम चाहे कुछ न हो, लेकिन बोले बिना वे रह नहीं सकते—वे विदेशों में 'भारतीय' जो कहलाते हैं। ऐसे व्याख्याता कई हैं। अभी मैंने एक चेक पत्रिका में हिंदी कविता पर लेख पढ़ा, जिसमें केवल निराला और दो फिल्मी गीतकारों के नाम ही थे। लेखक निराला का नाम सुनने से बच नहीं पाया होगा और फिल्मी गीत उसने शौक से सुने होंगे। लेख लिखने को इतना काफी है।

बंधु, यह हिंदी का मामला ही नहीं है, अपनी जमीन से उखड़ जाने का मामला है। श्रीलंका के पत्रकार तर्जी विटार्शा ने 'द ब्राउन साहब' में लिखा है कि ब्रिटेन के नव स्वतंत्र उपनिवेशों से गोरे साहबों के जाने के बाद जिन 'ब्राउन साहबों' का सब जगह कब्जा हो गया है वे अपनी जमीन से उखड़े हुए घोर असंस्कृत लोग हैं। वे इन देशों का अपना सहज राष्ट्रीय सांस्कृतिक रूप ग्रहण ही नहीं करने देते।

अच्छा, जय हिंदी!

सस्नेह
ह.शं.प.

◆

नई कहानी और धंधेवाले

प्रियवर,

महीनों बाद चिट्ठी लिख रहा हूँ और आपको एक झंझट में घसीट रहा हूँ। जिस अखबार पर दो-चार मानहानि के मुकदमे न चलते रहें वह अखबार नहीं, सिनेमा का पर्चा हुआ ! और जिस मासिक पत्रिका में कोई विवाद न चलता रहे, वह पत्रिका नहीं, 'कल्याण' है। 'उर्वशी' की समीक्षा और डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के लेख को लेकर जो विवाद हो रहा है, वह शुभ है। मैं चाहता हूँ कि एक और बहस शुरू करिए। बहस होगी—'नई कहानी'

और 'पुरानी कहानी' पर। इसकी जमीन मैं देता हूँ; इमारत आप तानें।

कुछ लोग कहते हैं कि हम जो कहानी लिखते हैं, वह 'नई कहानी' है। वे यह भी कहते हैं कि कुछ और लोग जो लिखते हैं, वह 'पुरानी कहानी' है। तब वे 'कुछ और' लोग कहते हैं कि तुम लोग जो लिखते हो, वह 'कहानी' ही नहीं है। तीसरा स्वर तब मसीहाई अंदाज से आता है—''अरे भाई, क्यों झगड़ते हो? तुम भी अच्छा लिखते हो, वे भी अच्छा लिखते हैं। सभी अच्छा लिखते हैं। न कुछ नया है, न कुछ पुराना। संसार असार है। दो दिन की जिंदगी है। बने सो भला कर लो। कम-से-कम हमें तो साधु मानो !''

मगर हिंदी में कोई किसी को तब तक साधु नहीं मानता जब तक वह पाठ्य-पुस्तक समिति का सदस्य न हो जाए। साधुओं की बात किसी ने नहीं मानी और झगड़ा इस वक्त खूब जोर पर है। पहले तो मैंने समझा कि यह झगड़ा कहानी से कहानी का है। पर बाद में देखा कि झगड़ा उम्र से उम्र का है। वरना ऐसा क्यों न होता कि पचास से ऊपर की उम्र का कोई कहानीकार ताल ठोंककर कहता कि हाँ, नई कहानी लिखी जा रही है और मैं लिख रहा हूँ। नई कहानी के ये लक्षण हैं, जो मेरी कहानी में पाए जाते हैं। मेरी ही नहीं, मेरी उम्र के इन-इन लेखकों में पाए जाते हैं। अब बोलो 20 से 40 के बीच के बच्चो!

ऐसा किसी ने नहीं कहा। अब भी कह दे, तो बहस का रुख ही पलट जाए। जनसंघ तक ऐसा कर लेता है कि मुसलमानों को सदस्य बनाकर कहता है कि लो हम भी धर्म-निरपेक्ष, असाम्प्रदायिक! अब बोलो, 'सेकुलर डेमोक्रेट्स!'

मैं देख रहा हूँ कि यह झगड़ा आयु-विभागों के बीच ही चल रहा है। इस पर इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए और इसका हल खोजना चाहिए।

इसमें मूल गलती तो समय की है जो बदल जाता है। दूसरी गलती दुनिया की है, जो बदलती रहती है। हमें 'काल देवता' से प्रार्थना करनी चाहिए कि तू बदल मत। ब्रह्मा का एक दिन तो तू हमारे लाखों वर्षों के बराबर बनाता है, पर हमारा वर्ष इतनी जल्दी बदल देता है। इसी तरह दुनिया से प्रार्थना करनी चाहिए कि तू देख कि तेरे बदलने के कारण हिंदी साहित्य पर संकट आ गया है। क्या तू कहानीकारों के भले के लिए कम-से-कम एक शताब्दी भी एक करवट सोई नहीं रह सकती?

अगर समय और दुनिया अपनी विनती नहीं सुनते, तो फिर भारत सरकार का ध्यान इस तरफ दिलाना चाहिए। शांति और सुरक्षा के लिए सरकार को इस मामले में हस्तक्षेप करना भी चाहिए। साहित्य में यह झगड़ा इसलिए खड़ा होता है कि कोई लेखक पहले और कोई पीछे पैदा होता है। अगर लेखकों के जन्म को नियमित कर लिया जाय, तो झगड़ा खतम हो सकता है। चाहे संविधान में संशोधन ही क्यों न करना पड़े, पर यह कानून बन जाय कि हर शताब्दी के किसी निश्चित वर्ष में ही कहानीकार पैदा हो सकता है। ज्योतिषियों से गणना करवा ली जाय कि कौन वर्ष कहानीकारों के जन्म के लिए शुभ है। उस वर्ष जितने कहानीकार चाहें पैदा हो जाएँ, हो जाएँ; आगे-पीछे नहीं। मान लीजिए शताब्दी का नवाँ वर्ष निकला। अब नवें में पैदा होनेवालों में से ही कुछ लोग कहानी लिख सकेंगे। इसके

पहले या बाद में जन्म लेनेवाला कोई कहानी लिखेगा, तो वह कानूनन जुर्म होगा। जब एक ही साल पैदा हुए लेखक कहानी लिखेंगे तो न कोई नई कहानी होगी और न कोई पुरानी। तब हर कहानी शताब्दी की कहानी होगी, जो अभी दशक की कहानी होती है। तब इस पीढ़ी का कहानीकार आगामी पीढ़ी के कहानीकार को नहीं देख सकेगा, क्योंकि हर वर्षगाँठ पर हमारी शुभकामना के बावजूद कौन लेखक 100 साल जीता है। इसी तरह का एक वर्ष कवि के पैदा होने के लिए तय हो जाय, तो नई कवितावालों को भी चैन मिले और डॉ. नामवरसिंह 'क्षण-भर' नहीं, दिन-भर मजे में नई कविता पर बैठें या लेटें या सो जाएँ, कोई कुछ नहीं कहेगा; बल्कि लाकर खाना खिला देगा।

बंधु, इधर एक नए दृष्टिकोण से इस संघर्ष को देखा गया है। किसी ने कहा है कि यह सारा झगड़ा धंधे का है। नया लेखक बाजार में अपना माल खपाना चाहता है, इसलिए जमे हुए व्यापारियों के माल को घटिया कहता है। यह साहित्यिक विवाद नहीं, आर्थिक स्पर्धा है। अगर यही बात है, तो मामला सहज ही हल हो सकता है। एक पत्रिका निकले जिसका नाम 'पुरानी कहानी' हो, जो हर कहानी का पारिश्रमिक 500 रु. दे। अब कौन माई का लाल नया लेखक ऐसा है, जो 500 रु. के लोभ में 'पुरानी कहानी' नामक पत्रिका में 'नई कहानी' न छपाए? बस, इस तरह पैसे से फँसाकर अपने को नया कहनेवाले हर लेखक को 'पुरानी कहानी' की जिल्दों में बाँध दें और तब दुनिया को बता दें कि ये नए कहलानेवाले वास्तव में पुराने हैं। बंधु, इस तरह 'नई कहानी' का नाम ही इस भूतल से मिट जाएगा। झगड़ा भी खतम हो जाएगा।

मुझे ये नाम ही गलत लगते हैं। नए लेखक कहते हैं कि हम नई वास्तविकता का चित्रण कर रहे हैं और पुराने लेखक पुरानी वास्तविकता का। यों मैंने कुछ नयों को भी पुरानी वास्तविकता का चित्रण करते देखा है। अगर नई और पुरानी वास्तविकता का ही भेद है तो पुरानी वास्तविकतावाली कहानी को ऐतिहासिक कहानी क्यों नहीं कहते ? इस तरह दो चीजें रह जाएँगी—कहानी और ऐतिहासिक कहानी। ऐतिहासिक कहानी लिखने का हर एक को हक है और यह कोई बुरी बात भी नहीं है। मुझे तो 25 साल पहले के वे भेद अच्छे लगते हैं—सामाजिक कहानी, धार्मिक कहानी, ग्रामीण कहानी, सास-बहू की कहानी, ऐतिहासिक कहानी, वीरता की कहानी, हास्यरस की कहानी। कुछ इसी तरह के प्रकरण शुरू में नए कहानीकारों ने भी बनाए थे, जब वे शहरी और देहाती कहानी की महत्ता पर बहस करते थे। उस वक्त कस्बे की कहानी भी बन गई थी। मैं उम्मीद कर रहा था कि यह भेद और सूक्ष्म होता जाएगा और आगे तहसील की कहानी, थाने की कहानी, मुहल्ले की कहानी होगी। फिर एक भेद होगा दस हजार की आबादी के कस्बों की कहानी, दूसरा होगा सत्तर हजार के शहर की कहानी, फिर तीस लाख के महानगर की कहानी। आगे चलकर 'हिल स्टेशन' और 'रेडियो स्टेशन' और 'सेनेटोरियम' की कहानियाँ होंगी।

यह हुआ नहीं। साहित्य ने मोड़ ले लिया और झगड़ा नई और पुरानी कहानी में चल पड़ा। इसे बढ़ावा देना हर सचेत संपादक का कर्तव्य है। इसलिए आप भी अखाड़े में मिट्टी

डालें। लड़नेवाले आसपास लँगोट बाँधे खड़े हैं।

तबीयत अब अच्छी है। अगले वर्ष का भविष्य-फल भी एक पत्र के दीपावली अंक में पढ़ा। अच्छा है। सिर्फ दोस्तों और संपादकों से सावधान रहने की चेतावनी दी है।

सस्नेह

ह.शं.प.

सचेतन कहानी

प्रिय बंधु,

आजकल नित्य ही कहीं-न-कहीं 'कहानी' पर बहस होती है और बड़े मजे के वक्तव्य सुनने को मिलते हैं।

एक दिन मैं एक 'क्लासिकल' होटल में चाय पी रहा था। 'क्लासिकल' होटल वह है, जिसमें जलेबी दोने में दी जाती है और पानी ऊपर से पिलाया जाता है। आधुनिक होने के लिए ऐसे होटल चाय भी रखने लगे हैं। मैं बैठा-बैठा एक पत्रिका के पन्ने पलट रहा था। मेरी नजर दिल्ली में हुई 'मनीषा' की गोष्ठी की रपट पर पड़ी। मैंने पढ़ा, डॉ. नामवरसिंह ने कहा कि 'नई कहानी' मेरा दिया हुआ नाम नहीं है। कौन कहता है कि मैंने 'नई कहानी' का नाम चलाया। इसी समय मेरी नजर दीवार पर टँगे रवि वर्मा के उस चित्र पर पड़ी जिसमें मेनका विश्वामित्र को अपनी (और ऋषि की भी) लड़की दे रही है और विश्वामित्र परेशान हो हाथ उठाकर उसे अस्वीकार कर रहे हैं। अवैध संतान के बाप की घबड़ाहट मुझे समझ में आती है। मुझे विश्वामित्र और नामवरसिंह की अदा में एक साम्य दिखा। यों, मैं जानता हूँ कि नामवरसिंह 'नई कहानी' के पिता नहीं हैं, मगर लोग खूबसूरत बच्चे को गोद भी तो ले लेते हैं। अगर 'नई कहानी' खूबसूरत बच्ची है और नामवरसिंह में अतृप्त वात्सल्य है, तो गोद ले लेने में क्या हर्ज है? लोक-लाज से इतना थोड़े ही घबड़ाया जाता है! अब उनका क्या होगा, जो दसों सालों से इस दम पर कहानी लिख रहे थे कि डॉ. नामवरसिंह उसे नई कहानी कहते हैं! जो भरोसा करके साथ हो ले, उसे इस तरह बियावान में तो किताब बेचनेवाले भी नहीं छोड़ते। फिर डॉ. साहब तो आलोचक हैं।

दूसरा आकर्षक वक्तव्य श्रीकांत वर्मा ने दिया। उन्होंने कहा कि कविता लिखना ऊँचे दर्जे का काम है और कहानी लिखना घटिया काम है; कवि जब ऊँचा काम करना चाहता है, तब कविता लिखता है और घटिया काम करना चाहता है, तब कहानी लिखता है। किसी कवि के मन में कोई घटिया काम करने की, जैसे जेब काटने की, इच्छा हो तो वह जेब न काटकर एक कहानी लिख लेगा। मात्र कहानीकार और कवि-कहानीकार में यही अंतर है। मात्र कहानीकार जेब काटने की इच्छा होने पर जेब काटेगा, मगर कवि कहानी लिखेगा।

यही बात कहानीकार कवि पर लागू होती है। 'अश्क' कहानीकार हैं, मगर जब-जब उनकी इच्छा कोई घटिया काम करने की हुई है, जैसे पीछे से किसी को लत्ती मार देने की, उन्होंने कविता लिख दी है। राजेंद्र यादव भी कभी-कभी फौजदारी मामले को टालने के लिए कविता लिखते हैं।

श्रीकांत ने सिर्फ दो को नया कहानीकार माना है। इससे अधिक उदार तो कुँवरनारायण हैं, जिन्होंने पाँच को माना है। कुँवरनारायण ने श्रीकांत का भी नाम लिया है, मगर श्रीकांत ने उनका नाम नहीं लिया। दोस्ती क्या इसी तरह निभती है? श्रीकांत पिछले 10 सालों से मेरा बड़ा प्यारा दोस्त है, मगर उसने मेरा नाम भी नहीं लिया। साहित्य के मूल्यांकन में अगर लोग दोस्तों को ही भूल जाएँगे, तो मान-दंड कैसे स्थिर होंगे? आलोचना के क्षेत्र में अराजकता का यही तो कारण है कि कुछ लोग दोस्तों को हमेशा याद रखते हैं और कुछ लोग हमेशा भूल जाते हैं।

इसी गोष्ठी में एक और कहानी का जन्म हुआ, जिसका नाम रखा गया 'सचेतन' कहानी। अब 'नई कहानी' और 'सचेतन कहानी' की व्यूह-रचना हो रही है। लेकिन आगे हर 6 महीने में कहानी के लिए एक नए नाम की जरूरत पड़ेगी। ऐसे नाम अभी से सोचकर रखने चाहिए। कुछ नाम मैं सुझाता हूँ—

अचेतन कहानी, रेचन कहानी, विरेचन कहानी, विवेचन कहानी, रामावतार चेतन कहानी।

मुझे अब यह समझ में आने लगा है कि कहानी लिखना कोई अच्छा काम नहीं है। मगर अच्छा काम तो जेब काटना भी नहीं है। फिर उसे लोग क्यों करते हैं? क्योंकि पैसे मिलते हैं, कहानी लिखने से भी पैसे मिलते हैं न!

पिछला महीना दिलचस्प वक्तव्य का महीना था। डॉ. प्रभाकर माचवे ने कहीं कहा कि रोटी से आदमी के विचार नहीं बनते। बात बिलकुल ठीक है। मगर मेरा नम्र निवेदन है कि रोटी पर जो घी चुपड़ा जाता है, उससे तो बनते होंगे।

अभी पिछले महीने की 'ज्ञानपीठ पत्रिका' मेरे हाथ में आ गई। कर्तारसिंह दुग्गल ने लेख लिखा है कि मैं क्यों लिखता हूँ। वे क्यों लिखते हैं, देखिए—

"मैं लिखता हूँ क्योंकि दिल के इस कोने में एक दुलहिन छिपी बैठी है। इस हसीना का आशकार करना है। इसके यौवन की एक झलक दिखाना है।"

—हाय-हाय!

काश, हमारे दिल के उस कोने में भी बैठी होती! या हमें वह कोना मालूम होता, जहाँ वह अक्सर बैठा करती है।

बंधु, दुग्गलजी-जैसे सहज भाग्यशाली सब थोड़े ही हैं।

पत्र समाप्त होता है। अब एक मिथ्या औपचारिक वाक्य लिखना बाकी है—आशा है आप सानंद हैं।

सस्नेह, ह.शं.प.

⁂

बीमार मुक्तिबोध और हम

प्रिय बंधु,

कल भोपाल से लौटा। वहाँ पक्षाघात से पीड़ित मुक्तिबोध की चिकित्सा हो रही है।

मुझे माचवे का वह लेख याद आया जो उन्होंने मुक्तिबोध के बारे में 'धर्मयुग' में लिखा था। उस लेख से मेरे विश्वास को बड़ा धक्का लगा। मुझे पूरा विश्वास था कि वे इस घटना पर कविता लिखेंगे। दिल्ली में एक शाम को जब कॉफी-हाउस में लेखक मित्रों में चर्चा चल रही थी कि इस पर कौन, क्या लिखेगा, तब मैंने बड़े विश्वास से कहा था कि बंधुवर माचवे फौरन एक कविता लिखेंगे। कविता का कच्चा मसौदा भी मैंने बताया था। मगर देखता हूँ कि उन्होंने तो लेख लिख दिया। इससे मेरी बड़ी किरकिरी हुई।

इसी सिलसिले में मैंने सोचा कि क्यों न मैं कुछ और लेखकों की तरफ से कवि की बीमारी की प्रतिक्रिया लिख दूँ। यदि उन्हें पसंद आ जाएँ, तो यह उन्हीं की मान ली जाएँ।

जहाँ तक माचवे जी का सवाल है, वे मेरे विश्वास को इस तरह झुठला नहीं सकते। उन्हें कविता तो लिखना ही होगा—चाहे वे हवाई जहाज में सफर करते हुए लिखें या दातौन करते हुए।

फिलहाल यह कविता उनकी मंजूरी के लिए पेश करता हूँ—

मुक्तिबोध की बीमारी पर

प्रभाकर माचवे

तार-सप्तक, लेख, कविता, डायरी, कामायनी
पुनर्विचार

सुन रहा हूँ हो गए तुम बंधुवर बीमार।
याद है उज्जैन, शिप्रा, महाकालेश्वर
नहीं गए कभी रामेश्वर?
    लंदन, टोरंटो, पेरिस, न्यूयार्क, बुडापेस्ट
    जाओगे, जाओगे मेक नो हेस्ट
किया था न्यूयार्क रेडियो से दो घंटे कविता-पाठ
क्या बात है! खूब है इमेज और थाट!
तुम बीमार हो सुनकर दुःखी हम
ट्वीडलडम TWEEDLEDUM

(बस स्टैण्ड पर लिखित)

निवेदन है कि 'कवि न होहुँ नहिं चतुर कहाऊँ'—इसीलिए इसमें भाषा-दोष और छंद-दोष वगैरह हो सकते हैं। पर हमें तो कविता की आत्मा देखनी चाहिए। अब और कुछ लेखकों-कवियों की तरफ से मसौदे पेश करता हूँ—

श्री मैथिलीशरण गुप्त (हिंदी के दद्दा)

रोग-शोक, आधि-व्याधि का घर है मानव-देह,
हे राम, उसे चंगा करो, बरसा औषध-मेह।

श्री जैनेंद्र कुमार

रोग क्या? और नीरोग कैसा? रोग में नीरोग है और नीरोग में रोग है। जीना जिसे कहा जाता है, उसका यही भोग है। हम सभी रोगी हैं। हम स्वस्थ हैं—यह सोचना ही रोग का लक्षण है। रोग नहीं तो स्वस्थ होने की चेतना क्यों? हम न रोगी हैं, न स्वस्थ हैं। हम मात्र हैं। और यह होना भी एक रोग है।

('समय और तुम' से)

श्री माखनलाल चतुर्वेदी (हिंदी के दादा)

मेरे कवि, मेरे मनमोहन, मेरी मनुहारों और दुलारों के देवता! जिसकी सूझें पंख पसारे प्रतिभा के आकाश में उड़ रही हैं, जिसका ईमान पीढ़ियों को बल दे रहा है, जिसके बोल कोटि-कोटि कंठों की जवानी गा रहे हैं, जिसकी आन और बान पर पीढ़ियाँ बलिपंथी होती हैं, जिसके पेट के ऊपर हृदय और उसके भी ऊपर मस्तिष्क है—वह दुलारा कवि बीमार है। वह जल्दी अच्छा हो और तरुणाई के सपने सँजोए।

अमृतराय (हिंदी के राजकपूर)

एक जमाना था, जब मुक्तिबोध और मैं—'हंस' में काम करते थे। मेरा बाप प्रेमचंद उन दिनों जिंदा था ('वसुधा' में प्रकाशित प्रेमचंद-संबंधी एक लेख का शीर्षक अमृतराय ने 'मेरा बाप' दिया था)। प्रेमचंद से मुक्तिबोध ने सरलता सीखी और मैंने भाषा। प्रेमचंद कलम के सिपाही थे; मैं कलम का कप्तान हूँ। सुना है मुक्तिबोध बीमार हैं। मेरी शुभकामनाएँ उनके साथ हैं।

ख्वाजा अहमद अब्बास

(तर्ज हिंदी ब्लिट्ज की 'आजाद कलम')
शायर बीमार है।
जनता का शायर बीमार है; कवि बीमार है।
भूखी जनता, नंगी जनता, बेघर जनता, बेसर जनता,
बेपैर जनता का शायर बीमार है—

आज शेक्सपियर बीमार है, मिल्टन बीमार है, बायरन बीमार है, शेली बीमार है, कीट्स बीमार है, व्हिटमैन बीमार है, मायकोवस्की बीमार है, रवींद्र बीमार है, ग़ालिब बीमार है, जौक बीमार है—

मगर—

जैसा किसी फिल्म के गाने में कहा गया है—'दुनिया के लोग, ए दुनिया के लोगो, लो हिम्मत से काम। सबकी खबर रखनेवाला है राम।' जमाना बदलेगा। यह तारीक रात खतम होगी और सारे जमाने में सेहत का सूरज चमकेगा, आफताब चमकेगा, दिनकर चमकेगा, भगवान भास्कर चमकेगा।

सेहत का सूरज सड़क पर, गली पर, महल पर और झोंपड़ी पर चमकेगा। बागीचे, नदी और तालाब पर चमकेगा। पहाड़ों और समंदरों पर चमकेगा। जेलखाने और कचहरी पर चमकेगा। जच्चाखानों और अस्पतालों पर चमकेगा।

और तब सब सेहत पाएँगे—गरीब और अमीर सेहत पाएँगे, बूढ़े, बच्चे और औरतें सेहत पाएँगी। बाबू, मुंशी मेहनतकश और मजदूर को सेहत मिलेगी। शायर, फनकार, अदीब और नक्काश को सेहत मिलेगी।

जिंदगी हँसेगी—बस चंद दिन और मेरी जान चंद ही दिन और!

हमारे सिर पर सूरज होगा। हम सब खुशी से नाचेंगे, गाएँगे। और हम उस सूरज से कहेंगे—चौदहवीं का चाँद हो, या आफताब हो; जो भी हो तुम खुदा की कसम लाजवाब हो!

सोहनसिंह 'जोश'

(तर्ज लेफ्ट-सेक्टेरियन)

साम्राजी भेड़ियों ने और सरमायादारी के गुर्गों ने आखिर एक तरक्की-पसंद शायर को लकवा लगा ही दिया। हमें जनता के दुश्मन इन साँपों का मुँह कुचलना है। हमें एक होकर इस हमले का मुकाबला करना है। कोई बात नहीं, बाश्शाओ! जिंदाँ से निकलने की खातिर पाबंदये-जिंदाँ और सही!

भई, अभी इतनी ही रचना कर सका हूँ। इतना करके ही मुझे डर लगने लगा है और मैं इन सबसे क्षमा-याचना के 'मूड' में आ गया हूँ। फिर भी इसे भेज तो रहा ही हूँ।

आपका, ह.शं.प.

मुक्तिबोध—मौत और महानता

प्रिय बंधु,

पिछले महीने आपको पत्र नहीं लिख सका। बात यह हुई कि 11 तारीख को मुक्तिबोध जी की मृत्यु हो गई और मैं दिल्ली चला गया। वहाँ जाकर देखा कि मुक्तिबोध तो महान् मान लिए गए। मुझे कल्पना हुई कि मुक्तिबोध अपने खास लहजे में इस पर यों

प्रतिक्रिया व्यक्त करते—'वाह पार्टनर, यह भी बड़े मजे की बात है। वाह साहब! यह भी खूब है!' मुक्तिबोध जब मृत्यु के पास पहुँच गए, तब बतानेवालों ने बताया कि यह तो असाधारण है। और जब उनकी मृत्यु हो गई तब बताया कि वह तो महान् था। जो इतने सालों से कहते रहे थे कि मुक्तिबोध कविता नहीं लिखते, भाषण देते हैं, वे भी जय बोलते पकड़े गए। मार्क्सवादी विश्वासों के कारण जो उन्हें कवि नहीं मानते थे, वे भी कहने लगे कि उन विश्वासों के 'बावजूद' वह बड़ा कवि था। और जो प्रगतिशील कठमुल्ले, सिर्फ नारों की समझ के मालिक होने के कारण, उसके विकट बिंबों को और उन्हें गूँथते विचारों को नहीं समझते थे, वे भी मानने लगे कि हाँ, यह बड़ा कवि था।

मुझे मुक्तिबोध की आवाज सुनाई देती है—'वाह पार्टनर, ज़रा यह मजा भी देखो। वाह साहब, यह भी खूब रही।'

मैं सोचता हूँ, अगर मुक्तिबोध जीवित रह जाते, तो क्या होता? तो क्या लोग सही बात बतलाते? मुझे शक है, अभी और दबाए रहते। और अगर एक मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री उन्हें विशेष व्यक्ति के रूप में मानकर उनकी चिकित्सा में दिलचस्पी न लेते तो? मुझे शक है, बहुत शक है—कि यदि वे मामूली अस्पताल के जनरल वार्ड के किसी बिस्तर पर पड़े-पड़े दम तोड़ते, तो भी लोग कुछ समय और उनके बारे में सत्य को दबाए रहते। सही मूल्यांकन के लिए अभी भी लेखक को कितनी परिस्थितियाँ पैदा करनी पड़ती हैं—कठिन बीमारी, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, मौत! मुझे पता है कि जो 50-60 मील भोपाल देखने नहीं आए, वे विह्वल होकर 400 मील दिल्ली दौड़ते गए—लगभग मूर्च्छित से होकर! प्रधानमंत्री ने मरनेवाले को बुलाया था न!

मुझे मुक्तिबोध का अट्टहास फिर सुनाई देता है—'वाह साहब, यह भी खूब है!'

इस बात को यहीं छोड़ता हूँ।

एक नई बात हुई। अभी उस दिन मुझे कृष्णचंद्र का गधा मिल गया। वही गधा, जिसने अपनी आत्म-कथा लिखी है।[1]

मुझे वह सड़क पर मिल गया। मैंने पूछा—कहिए गधाजी, कहाँ से आ रहे हैं?

वह नाराज-सा होकर बोला—क्या तुम नहीं जानते? तुमने क्या मेरी किताब नहीं पढ़ी? मैं अभी नेफा से आ रहा हूँ।[2]

मैंने पूछा—क्या किया वहाँ?

वह बोला—वहाँ मैंने देशभक्ति का उपदेश दिया। फिर सीमा पार करके चीन चला गया और वहाँ चाऊ-एन-लाई से भी मिला। उससे मैंने बातचीत की।

मैंने कहा—यह तो तुमने ठीक किया। मगर इससे निष्कर्ष ऐसे निकल सकते हैं, जिनसे तुम भी आफत में पड़ सकते हो और अपने लेखक को भी डाल सकते हो।

गधे ने कानों के प्रश्नचिह्न खड़े कर लिए और आदतन उत्सुकता से देखने लगा।

---

1. संदर्भ : 'एक गधे की आत्मकथा'।
2. संदर्भ : 'एक गधा नेफा में' (कृष्णचंद्र)

मैंने कहा—तुम्हारे इस बयान से यह मतलब निकल सकता है कि चीनी हमले के बाद देशभक्ति के उपदेश गधे देते थे और चीनी नेताओं से वार्ता करने भी गधे ही गए थे।

उसने कहा—यह मतलब कहाँ से निकलेगा?

मैंने कहा—तुम्हारे इस प्रकाशित बयान से। अच्छा, बताओ, चीन की तरफ से किसने बात की।

—चाऊ-एन-लाई ने।

—और अपनी तरफ से?

—मैंने

मैंने कहा— फिर?

वह बोला—लेकिन मैंने इस नजरिये से इस चीज को देखा ही नहीं।

मैंने कहा—यही तो बात है, गधा परशादजी, कि जो नजरिया बन गया सो बन गया। दुनिया बदल जाय, पर नजरिया नहीं बदल सकता। पत्थर की आँख है, जिसकी पुतली नहीं हिलती।

मैंने सोचा, यह कृष्णचंद्र का गधा है; इसे बहुत-सी अंदरूनी बातें भी मालूम होंगी। इससे कुछ जानकारी हासिल कर लूँ।

मैंने कहा—एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील लेखक के गधे होने के कारण, तुम्हें प्रगतिवादी आंदोलन की बहुत-सी बातें मालूम होंगी। ज़रा यह तो बताओ, पहले कुछ प्रगतिवादी होते थे और कुछ प्रतिक्रियावादी होते थे और वे एक-दूसरे पर प्रहार करते थे और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते थे। मगर अब ऐसा क्यों होता है कि दोनों तरह के बुजुर्ग एक ही मोर्चे पर आ जाते हैं, एक ही भाषा बोलते हैं और पिछले 10-11 वर्षों के साहित्य को निकृष्ट कहते हैं?

गधे ने कहा—इसमें अचरज की क्या बात है?

मैंने कहा—यही कि अगर मान-मूल्यों की ही बात होती, तो जो प्रगतिवादी के लिए 'बुरा' होगा, वह प्रतिक्रियावादी के लिए 'अच्छा' होगा। ऐसा ही तो होता आया है। अब क्यों नहीं होता? क्या सब सयाने प्रगतिशील प्रतिक्रियावादी हो गए हैं? या सब पुराने प्रतिक्रियावादी प्रगतिशील हो गए हैं?

गधे ने समझदारी से सिर हिलाया। बोला—मैं समझा। तुम्हारा मतलब यह है कि पिछले 10-12 वर्षों के लेखन को शिवदानसिंह चौहान भी कोई 'उपलब्धि' नहीं मानते और वे भी नहीं मानते जो चौहान साहब के विचारों के विरोधी हैं। देखो भाई···।

मैंने टोका—कृपा करके मुझे 'भाई' मत कहो। कोई लेखक सुन लेगा तो बदनामी होगी। लोगों में विनोद-चेतना है नहीं, इसलिए किसी मजाक को लेकर वे महीनों सिर धुनते रहते हैं।

गधा बोला—खैर, तुम्हें भाई नहीं कहूँगा। मगर जो पूछा है, वह समझ तो लो। देखो,

मान-मूल्य कोई साहित्यिक या दार्शनिक ही तो होते नहीं हैं। व्यावसायिक मूल्य भी होते हैं। उनका भी ध्यान रखना पड़ता है। फिर, जैसा तुमने कहा, एक ही तरफ लगातार कई साल देखने से, एक ही बिंदु देखते रहने से, आँख पथरा जाती है। फिर उसकी पुतली नहीं घूमती। जिनकी पथरा गई है, उनके लिए क्या करोगे? तुम दूसरी आँखें लगवाने की कोशिश करोगे, तो वे बुरा मानेंगे। वे अपनी आँखों को ठीक मानते हैं। दूसरी बात यह है कि कोई कितनी ही प्रगति बघारे, 20-25 सालों में वह यथास्थिति से चिपक जाता है। उसे पकड़े रहता है। प्रतिक्रियावादी कहलानेवाला तो पहले से ही उसे पकड़े रहता है। दोनों मिलकर उसे जकड़ लेते हैं कि सब यही थमा रहे। यही हो रहा है।

वह थोड़ी देर सिर नीचा किए चिंतन करता रहा और मैं उसकी बात को समझने की कोशिश करने लगा।

उसने सिर ऊँचा किया। बोला—बात समझ में आई? देखो, यह तो एक चक्र है। हर 10-15 साल में आगे बढ़नेवाला एक ही जगह पाँव पटकने लगता है। वह 'शास्त्री' हो जाता है। शास्त्री वह जो दुनिया के हालात को सच्चा न माने, शास्त्रवचन को सच्चा माने। जिन प्रगतिशीलों की तुम शिकायत कर रहे हो, वे शास्त्री हो गए हैं। शास्त्र में लिखा है कि रोना विदेशी है और बूर्जुआ प्रवृत्ति है, तो तुम उनके सामने घड़ों रो लो तब भी वे यही कहेंगे—नहीं, तुम नहीं रो रहे हो। तुम्हारे भीतर का विदेशी रो रहा है। देशी और खासकर प्रगतिशील देशी, न रोता है, न निराश होता है, न गाना गाता है। वह सिर्फ 'सरफरोशी' करता है।

गधे ने कान फड़फड़ाए। बोला—अब मैं चला। अपने लेखक को आगे का हाल बताना है। वह इंतजार कर रहा होगा। उसे चौथी किताब लिखना है।

गधा चला गया। और मैं थोड़ी देर दुविधा में खड़ा रहा कि इस वार्तालाप की चर्चा किसी से करूँ या न करूँ। चर्चा करने से लोग हँसेंगे कि हम तो शंका-समाधान के लिए परिचर्चा करते हैं, और यह गधे से पूछता है। फिर सोचा कि आपको लिख ही दूँ। लिख रहा हूँ। इसका जो भी मतलब निकले।

सस्नेह

ह.शं.प.

◆

लघुता की कुंठाएँ

प्रिय बंधु,

पिछले पत्र को पढ़कर कुछ लोगों ने मुझसे कहा कि तुमने मुक्तिबोध का विषय उठाकर उसे बीच में ही छोड़ दिया। इस संबंध में और लिखा था। लिखने को बहुत है।

विचित्र प्रतिक्रियाएँ हिंदी जगत् में इन महीनों हुई हैं।

मुक्तिबोध जब तक भोपाल में थे, तब तक हिंदी के लेखक और कवि बेचारे बड़ी दुविधा में थे। जिनकी मुक्तिबोध के प्रति आत्मीयता थी या जो उनके कवि की विराटता को समझते थे, वे तो बिना दुविधा के उनकी सेवा में लगे थे। मगर कुछ के मन में बड़ी धुकधुकी थी। इनमें दो तरह के लोग थे—एक तो वे जो 'अखिल भारतीयता' के लिए बहुत सचेत रहते हैं और दूसरे वे जो जीवन-कला में 'आभिजात्य' के लिए हर क्षण सचेष्ट रहते हैं। जिन्होंने घासलेट के तेल की ढिबरी के प्रकाश में चटाई पर बैठकर पढ़ाई की, वे ज़ब 'अभिजात' बनते हैं, तो सच्चे अभिजात से ज्यादा सचेत होते हैं। बेचारे नहीं जानते कि आभिजात्य के संस्कार कई पीढ़ियों में पड़ते हैं; वे सिर्फ बगीचे में नागफनी लगाने और पर्दों का कपड़ा बदलने से नहीं आते। तो साहब, जो 'अखिल भारतीयता' वाले थे वे सोचते थे कि यह मुक्तिबोध का मामला कुछ 'प्राविंशल' है। (लेखक की प्रार्थना—इस शब्द को बदलकर हिंदी शब्द न रखें!) अगर हमने इसमें दिलचस्पी ली और यह खबर कहीं दिल्ली, प्रयाग और कलकत्ता पहुँची, तो अपनी बड़ी बदनामी होगी। लेखक हम पर हँसेंगे और हमारे स्तर के बारे में शक करने लगेंगे। हम कैसे मुँह दिखाएँगे! तो बंधु, ये बेचारे 'जाऊँ' और 'न जाऊँ' की दुविधा में पड़े बड़े दयनीय लगते थे।

जो 'आभिजात्य' के दीवाने थे, वे इस तरह सहानुभूति का दान करते थे, जैसे कट्टर ब्राह्मण, कपड़े बचाता हुआ हरिजन के कटोरे में ऊपर से रोटी छोड़ता है। उन्हें लगता था कि यह आदमी अपनी जाति का है ही नहीं। उन दिनों तरह-तरह की दिलचस्प बातें सुनाई पड़ती थीं। कहीं से खबर आती थी कि ये लोग मुक्तिबोध का क्या बनाएँगे ? फरिश्ता या पैगम्बर? फिर कहीं से सुनाई पड़ता कि वह तो कवि ही नहीं है। ये पिछड़े हुए लोग हैं, जो उसका आदर्शीकरण कर रहे हैं। फिर कोई निहायत आत्म-पावित्र्य के लहजे में कहता—अरे, यह आदमी तो—'निस्ट' है! (जी हाँ, पूरा शब्द कहते डरते थे और आसपास देख लेते थे।) और यह पट्टी चिपकाकर उसके बारे में अपना अंतिम निर्णय देकर चले जाते थे।

मगर बंधु, खलबली तब मची जब मुक्तिबोध दिल्ली गए। बड़े सवाल हुए—कैसे जा रहे हैं? प्रधानमंत्री ने बुलाया है। अच्छा! खर्च कौन देगा? प्रधानमंत्री! अच्छा ! कहाँ इलाज होगा? मेडिकल इंस्टीट्यूट में। अच्छा! कैसे हो गया यह प्रबंध? प्रधानमंत्री ने खुद दिलचस्पी ली। अच्छा!—अब लगा कि मामला अखिल भारतीय हो गया। अब तो जो इसमें दिलचस्पी लेगा, वह भी अखिल भारतीय होगा, अंतर्राष्ट्रीय भी हो सकता है। इतने में खबर फैली कि आभिजात्य के महासंचालक ने भी मुक्तिबोध को बड़ा कवि मान लिया है और उसे अपना लिया है।

अब बहुत दिलचस्प नाटक शुरू हुए। इसका आनंद दर्शकों ने तो लिया ही, अभिनेताओं ने भी एक-दूसरे की अदाकारी का मजा लिया। इतने में एक और गजब हो गया। अंग्रेजी के एक पत्र में मुक्तिबोध के साहित्य पर अंग्रेजी में एक लेख लिखा गया,

जिसमें उनकी बहुत तारीफ की गई। तो सोचा कि अगर अंग्रेजीवाले भी इसे मानते हैं, तब तो यार, यह बड़ा कवि होगा। यह प्रतिक्रिया ठीक उस देहाती की प्रतिक्रिया-जैसी थी, जो गोरे साहब को देखकर अभिभूत हो जाता था।

अब मजे की बातें हुईं। दार्शनिक अंदाज में कहा जाने लगा कि वह 'शब्द' का नहीं, 'आत्मा' का कवि था। नए अभिजाती ने उस मरकटैया-जैसे व्यक्तित्व के कवि की अमलतास के प्रतीक से श्रद्धांजलि अर्पित की। और तरह-तरह की बातें हुईं। हम सब अपने को बहुत आत्मसचेत और स्वतंत्रचेता साहित्यकार मानते हैं न!

वह तो चला गया। अब अपना और क्या कर्तव्य बचा? अभी कर्तव्य बहुत बकाया है। अब उसके शुभचिंतकों में आपसी खींचतान मचनी चाहिए। अलग-अलग लोग उसके शुभचिंतक रहे, पर अगर एक-दूसरे के शुभचिंतक नहीं हैं तो उनके सामने अभी बहुत काम हैं। वे एक-दूसरे को बदनाम कर सकते हैं और ऐसा वातावरण पैदा कर सकते हैं कि आगे कोई किसी की सहायता करने में डरे। इससे बड़ा काम यह होगा कि कोई लेखक किसी की झंझट में नहीं पड़ेगा और सब अलग-अलग अकेले मरेंगे।

दूसरा काम यह है कि अगर किन्हीं की आपसी लड़ाई चली आ रही है, तो इस प्रसंग में एक-दूसरे से बदला लिया जा सकता है। जो अब प्रतिवाद नहीं कर सकता, उस मुक्तिबोध के शब्द अब बड़े मजे में उपयोग में आ सकते हैं। मुझे यह देखकर खुशी होती है कि हिंदी-लेखक बड़ा सचेत है और उसने फौरन जहाँ-तहाँ यह काम शुरू कर दिया है।

राजनाँदगाँव छोटी जगह है मगर वहाँ के लोगों ने कवि को बहुत प्यार और आदर-सम्मान दिया। पिछले जन्मदिन पर वहाँ महाविद्यालय में एक समारोह किया गया। वहाँ एक पुस्तकालय भी मुक्तिबोध की स्मृति में स्थापित कर दिया गया है। मगर संयोजकों ने बताया कि कुछ लोग कह रहे हैं कि मुक्तिबोध के नाम से ये लोग अपने को आगे बढ़ा रहे हैं! मैंने कहा—भई, वे शायद ठीक कह रहे हैं। तुमने तो काम किया मगर आगे उन्हें बढ़ जाना चाहिए था जिन्होंने कुछ नहीं किया। तुम कुछ ऐसा करो कि तुम्हारे काम से वे आगे बढ़ जाएँ। कोई भी भला काम तब तक पवित्र नहीं होता जब तक हमें उसका श्रेय न मिल जाय। यह बहुत सुलझी हुई विचार-प्रणाली है और इसे ग्रहण करनेवाला हमेशा आश्वस्त रहता है। वह जानता है कि सिर्फ उसी बारात में शामिल होना चाहिए, जिसमें खुद दूल्हा हो। जिस बारात में हम दूल्हा न हों, उस पर अपने छज्जे से पत्थर फेंकना चाहिए।

एक दूसरी तरह के लोग हैं जो स्थायी रूप से 'हाय-हाय' की मनःस्थिति में रहते हैं और सस्ते फिल्मी नायक की तरह नारे लगाते हैं—'हाय रे समाज, तू कितना अन्यायी है। हाय, हम कितने निर्मम और कठोर हैं कि हमने उसे मर जाने दिया और अब हम उसकी जय बोलते हैं!' ये लोग आत्म-पावित्र्य से आक्रांत हैं और एकांगी विचार इनके होते हैं। यह आसान होता है, क्योंकि इसमें सब पक्षों से समस्या पर विचार करने की मानसिक मेहनत नहीं करनी पड़ती। भावुकता से भरी आत्मग्लानि बड़ी अच्छी लगती है, कहनेवाले को भी और सुननेवाले को भी। ये बेचारे चारों तरफ तलवार घुमाते हैं, क्योंकि ये नहीं जानते, शत्रु

कौन है। इनकी बात को भावुकता से अलग करके देखा जाय, तो उसका यह अर्थ निकलेगा कि मुक्तिबोध की चर्चा ही न हो। क्यों न हो। क्योंकि हम 'पापियों' ने पहले नहीं की। तो क्या हम 'पापी' अब भी न करें? नहीं, अगर चर्चा करनी ही होगी, तो 'मैं' करूँगा।

कुछ ऐसे हैं, जो कहते हैं चर्चा तो हो, लेकिन ज़रा हमें बताकर हो। लिखा जाय, तो पहले हमें बता दिया जाय। ये जब भी मुक्तिबोध के बारे में कुछ लिखा पढ़ते हैं, तो कहते हैं—"छिः क्या लिखा है!" इनकी स्थिति ऐसी है कि जो सही है, वह तो इनके पास जादू की डिबिया में बंद है। वे तो डिबिया खोलेंगे नहीं, सिर्फ 'छिः छिः' करेंगे। ये लोग मृतक के गुण-वर्णन को उसके प्रति अन्याय समझते हैं। इनके हिसाब से महाकाव्य-रचयिता टुच्चे आदमी ठहरेंगे।

मगर इन सबसे अलग, वे बैठे हैं जो न भावुक होते हैं, न जिन्हें कोई ग्लानि होती है और न जो शोकग्रस्त होते हैं। वे बहुत निर्लिप्त भाव से, सारी भावनाओं से मुक्त होकर यही देखते रहे हैं कि इस मामले में से अपना क्या बन सकता है। ये हिसाब से चलते हैं और मुनाफे के अंदाज से पूँजी लगाते हैं। ये सटोरिए चालाकी से बाजारभाव के उतार-चढ़ाव देखते हैं और दाँव लगा देते हैं। ये मौके को ज्वार के भुट्टे की तरह डंठल से पकड़कर उसके सारे दाने झाड़ लेते हैं। अर्थी पर फेंके गए पैसे बटोरना भी तो एक काम है, और कुछ लोग करते ही हैं।

बंधु, पिछले दिनों ये सब दिलचस्प बातें होती रही हैं और मैं देखता रहा हूँ कि बात किन्हीं भी मूल्यों की करें, जिन मूल्यों से परिचालित होते हैं, वे साहित्य के बाहर के होते हैं, शायद बाजार के होते हैं।

और सब पहले जैसा ही है। आशा है, आप लोग सानंद हैं।

सस्नेह
ह.शं.प.

ईश्वर और रॉयल्टी

प्रिय बंधु,

कभी-कभी मुझे बड़ी ग्लानि होती है। मुझे लगता है, मैं बहुत निकृष्ट आदमी हूँ और लेखक तो खैर हूँ ही नहीं।

इसी महीने दो-तीन कारण ऐसे हो गए जिनसे मुझे आत्मग्लानि होती रही है। उपयोग कर सको, तो आत्मग्लानि भी बढ़िया चीज है, इसके रस से कविता बनती है। मगर मैं कवि हूँ नहीं, इसलिए भोगता हूँ और उपयोग कर नहीं पाता।

ग्लानि का कारण बताता हूँ। अभी मैंने अपने एक आदरणीय लेखक का लेख पढ़ा,

जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं ईश्वर को खोज रहा हूँ। पढ़कर मैं तो चकरा गया। सोचा, एक मैं हूँ कि रॉयल्टी खोजता हूँ, पारिश्रमिक खोजता हूँ या गेहूँ, चावल और शक्कर खोजता हूँ। और इधर ये हैं कि रॉयल्टी खोजते हैं न पारिश्रमिक। न पुरस्कार की कोशिश करते, न मान-सम्मान चाहते। उन्हें गेहूँ-चावल से भी मतलब नहीं है। वे तो बस ईश्वर खोजते हैं। वही उन्हें रॉयल्टी दिलवाता है, वही पारिश्रमिक बढ़वाता है और वही गेहूँ-चावल पहुँचाता है।

मैंने निश्चय किया कि मैं भी सबकुछ छोड़कर ईश्वर को खोजूँगा। पर फिर सोचा कि जब इन्हें अभी तक वह नहीं मिला, तो मुझ अधम को क्या मिलेगा। ये जब कुछ पता-ठिकाना उसका बता देंगे, तब मैं भी उधर ही उसे खोजूँगा।

मेरे एक मित्र ने मुझे बताया है कि जो लोग ईश्वर को खोजते हैं, खुद उन्हें ईश्वर खोजता फिरता है। ये ईश्वर को खोजते इस गली में मुड़ते हैं, तो पीछे आता ईश्वर उस गली में मुड़ जाता है। इस तरह जिंदगी-भर यह भूल-भुलैया चलती रहती है। आज तक आमना-सामना नहीं हुआ। होता यह है कि दोनों एक-दूसरे को यह बताते हैं कि हम तुम्हें खोज रहे हैं मगर हर बार एक-दूसरे को टरकाते हैं। पता नहीं यह क्या खेल है। अपने से यह आध्यात्मिक खेल नहीं बनता, इसलिए ग्लानि होती है। ऐसी ही ग्लानि मुझे तब होती है जब किसी आत्मान्वेषी का सामना होता है। सालों ये अपनी आत्मा की खोज करते हैं, जैसे वह अफ्रीका का जंगल हो। पूरी जिंदगी में भी अपनी आत्मा की खोज पूरी नहीं होती। अपनी आत्मा से निबटें, तो दूसरों की आत्माओं को खोजें। अनेक आत्माएँ इंतजार करती रहती हैं कि ये हमारी भी खोज करेंगे मगर उन्हें अपनी आत्मा से ही फुरसत कहाँ मिलती है! ऐसे आत्मान्वेषी से मेरा सामना होता है तो मैं उसी तरह अपने को हीन अनुभव करता हूँ जिस तरह शेरपा तेनजिंग के सामने करूँगा। सोचता हूँ, कितनी विराट् यह आत्मा है कि उसकी खोज जिंदगी-भर पूरी नहीं होती। और यह एक मेरी है—छोटी-सी।

ग्लानि मुझे इस महीने तब भी हुई, जब एक आस्थावान लेखक ने मुझे डाँटा। वे कहने लगे—"तुम लोग सबके-सब आस्थाहीन हो। कहीं तुम्हारी आस्था नहीं है। किन्हीं मूल्यों के प्रति तुम आस्थावान नहीं हो।"

मैं चुपचाप उनके पीछे हो लिया कि पता तो लगाऊँ कि इनकी आस्था कहाँ है। मैं भी वहीं आस्था जोड़ लूँगा। तो मैंने देखा कि वे पाठ्य-पुस्तक समिति के सदस्यों के घर एक के बाद एक जा रहे हैं। इसके बाद वे राजधानी पहुँचे और वहाँ शिक्षामंत्री की सीढ़ियों पर घंटे-भर खड़े-खड़े धूप तापते रहे। फिर तीन दिन वहाँ रहकर वे यह प्रयत्न करते रहे कि मुझ पर सिर्फ एक बार मुख्यमंत्री की नजर पड़ जाय। सिर्फ एक कृपा-कटाक्ष के लिए वे लालायित थे। शाम को मैंने उनसे पूछा—आपकी आस्था कहाँ है? उन्होंने कहा—देखा नहीं तुमने? पाठ्य-पुस्तक समिति में, शिक्षामंत्री में और मुख्यमंत्री में मेरी आस्था है। तुम्हारी तो इनमें भी नहीं है। मैंने कहा—मगर किन मूल्यों में आस्था है! वे बोले—जो पुस्तक मैं पाठ्यक्रम में लगवा रहा हूँ, उसका मूल्य पौने पाँच रुपए है। इसमें मेरी कट्टर आस्था है।

मैं इसे कम नहीं करने दूँगा। और जैसा कि शिक्षामंत्री ने आश्वासन दिया है और जैसा मुख्यमंत्री की करुणामय दृष्टि से विदित होता है, अगर मेरी 2 पुस्तकें पुस्तकालयों के लिए खरीद ली गईं, तो कुल मूल्य लगभग 25 हजार रुपए होगा। तुम लोगों-सरीखा मैं नहीं हूँ कि किसी मूल्य में आस्था न हो।

बंधु अमूर्त मूल्य मेरे लिए अब स्थूल हो गए। मैं उन्हें पहचानने लगा। और मूल्यवानों के, आस्थावानों के तमाम चरित्र मेरी समझ में आने लगे। मैं समझ गया कि किन मूल्यों की स्थापना के लिए कोई प्रतिष्ठित लेखक मंत्रियों की आरती उतार रहा है। कोई क्यों किसी कौड़ी के नेता की आरती उतार रहा है? कोई क्यों हिसाब रखता है कि किस राजपुरुष की जन्म-तिथि कब पड़ती है? क्यों कोई सुनामधन्य लेखक राज्यों के मुखमंत्रियों और केंद्र के मंत्रियों के चरितगायन के लिए तुलसीदास से ज्यादा तत्पर रहते हैं? क्यों कोई अपनी बीवी को नौकरी देनेवाले के बारे में लेख लिखते हैं? क्यों कोई अपने को परमश्रेष्ठ और आस्थावान लेखक मानकर प्रकाशन-व्यवसाय के मालिकों के बाबा लोगों को घंटों खिलाते हैं।

ये सब आस्थावान लोग हैं। इन्होंने सारी आस्था को ऐसा पचा लिया कि हमारे लिए बची ही नहीं। आस्था की धारा बहती हुई हम तक आ रही थी कि इन्होंने राह में ही उसे चुल्लू से पी लिया। अब हम कहाँ से पाएँ? सही है कि इधर आस्था नहीं आई।

ईश्वर में आस्था हो सकती थी, मगर उसके नाम से इस आस्थावानों ने सूदखोरी शुरू कर दी। प्रजातंत्र का यह हाल किया कि एक बोतल शराब रात को पिलाकर सवेरे उसने अपनी पेटी में मतपत्र गिरवा लिया। न्याय की संस्थाओं को खरीदकर जेब में रख लिया। भ्रष्टाचार पकड़नेवाले सरकारी कर्मचारी को बरखास्त कर दिया। लुटेरों की रक्षा के लिए पुलिस तैनात कर दी और लुटनेवालों को अध्यात्म सिखाने लगे। लायक को नौकरी नहीं दी और नालायक को ऊँचा पद दिया। पैसा लेकर नंबर बढ़ा दिए। चापलूसों को श्रेष्ठ पुरुष समझकर गले से लगाया। बड़े-बड़े विद्यावान कलावान टुच्चे सत्ताधारियों के आसपास मँडराने लगे और पछताते रहे कि अगर हमारी दुम होती तो कितने काम आती। हर बार असत्य से, अन्याय से, अत्याचार से समझौता किया।

और शाम को किसी सभा में जब उजले कपड़े पहनकर पहुँचे तो बड़े पवित्र अंदाज में बोले—हाय, आज के लोगों में कोई आस्था नहीं है। किन्हीं मूल्यों के प्रति निष्ठा नहीं है।

बंधु, आस्थावानों ने बड़ी आफत कर रखी है। इनके जो मूल्य हैं, उन्हें यदि ग्रहण न करें, तो ये हम जैसे 'मूल्यहीनों' को मिटा देंगे। मिथ्याचार से बड़ा कोई मूल्य अस्तित्व में इस वक्त नहीं है।

तभी तो ग्लानि होती है, जब किसी आस्थावान का सामना हो जाता है। उसकी आस्थाएँ कितनी फलवती निकलीं। और अपनी भटकटैया बंजर में रोपी हुई है।

इसके सिवा बाकी सब ठीक है।

सस्नेह,-ह.शं.प.

मृत्युकामी लेखक

प्रिय बंधु,

पिछले माह पत्र नहीं लिख सका। मुझे उन दिनों चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का डर लगा रहता था कि मैंने लिखा और उनकी धमकी आई कि अगर हिंदी में लिखेगा, तो देश निकाला कर दूँगा। फिर मैंने अखबार में आप लोगों के मुख्यमंत्री का वक्तव्य पढ़ा कि आंध्र में कुछ पुरुषों को कहीं से चूड़ियाँ और कुमकुम भेजा गया, जिससे प्रोत्साहित होकर वे उपद्रव करने लगे। भारतीय नर मर्दानगी दिखाने को जितना उतावला रहता है, उतना विवेक या अक्ल दिखाने को नहीं रहता। इन दिनों जो वक्तव्य मैं पढ़ता था उनसे यह आशंका भी होती थी कि यदि मैंने जनभाषा में लिखा और जन उसे समझ गया, तो देश की एकता खंडित हो जाएगी। इन दिनों बहुत लोग इंग्लैंड के टोरी दल की तरफ से तर्क दे रहे थे। टोरी दल कहता था कि अंग्रेजों के शासन के हटने से यह देश छिन्न-भिन्न हो जाएगा। भारतीय टोरी कहते हैं कि अंग्रेजी भाषा के हटने से देश छिन्न-भिन्न हो जाएगा। उपद्रव तक के लिए अपने पास मौलिक तर्क नहीं होते। कुतर्क भी उन्हीं से उधार।

इन दिनों मुझे दूसरी उलझन परेशान कर रही है। यहाँ बैठे-बैठे मैं बड़े शहरों में रहकर लिखनेवाले तरुणों की रचनाएँ पढ़ रहा हूँ। इनमें अधिकांश मृत्यु-कामी लगते हैं। कोई तो यहाँ तक कहता है कि हम मर गए। कोई कहता है, हम मरना चाहते हैं। कोई कहता है, हम मार डाले गए। एक ने तो मृत्यु की घोषणा कर दी और जब मैं भागता बड़े शहर गया तो देखा कि वे बैठे कलोल कर रहे हैं और साहित्यिक शतरंज की गोटें जमा रहे हैं; वजन बढ़ गया है, चेहरा प्रसन्न है और कपड़े अच्छे हैं। मैं हैरान कि ऐसी कैसी मौत, जिससे वजन बढ़े, प्रसन्नता हो और आदमी संपन्न भी होता जाय। मौत ऐसी अच्छी होती हो, तो हम सौ बार मरने को तैयार हैं।

मैंने एक मित्र से पूछा, तो उसने बताया कि ये मरनेवाले पुरानी मौत नहीं मरते, आधुनिक मौत मरते हैं। आधुनिकता के दो लक्षण हैं—नीचे सँकरी मोरी का पतलून और ऊपर सिर में मौत। मैंने पूछा कि यार, यह मौत इनके सिर के भीतर कैसे आ गई? उसने जवाब दिया कि इनका विश्वास है कि जो अपने को मरा हुआ नहीं समझता, वह आधुनिक नहीं है। इनका यह भी खयाल है कि इन्हें यंत्र ने पीस दिया है। कुछ लोग ऐसे हैं, जो मौत का सीधे विदेशों से आयात करते हैं। ट्रांस एटलांटिक एअरवेज और ब्रिटिश ओवरसीज एअरलाइन्स कारपोरेशन से इनके लिए ताजा मौत आती रहती है।

बंधु, मृत्यु-कामियों का मैंने विश्लेषण करने की कोशिश की है। अधिकांश बड़े शहर के 'यंत्र' से पीड़ित हैं और उन्हें लगता है कि 'यंत्र' उन्हें मार रहा है। पता लगाने से मालूम हो रहा है कि इनमें 90 फीसदी मूल रूप से देहाती हैं, याने देहातों और कस्बों से महत्वाकांक्षा लेकर बड़े शहर में आ गए हैं। शहर का हाल देखकर पहले तो ये चमत्कृत हुए, मगर फिर इन्हें गाँव की याद आने लगी। यादें आने लगीं कि गाँव में अम्माँ बीमार थीं तो सारा गाँव

हमारे आँगन में आ गया था; चाचा मरे थे, तब सारे कस्बे के लोग शव-यात्रा में शामिल थे, कस्बे में मैं बाहर निकलता तो सैकड़ों आदमी 'पालागी' करते थे, कितने ही आदमी मुझसे अपनी चिट्ठी पढ़वाने आते थे। मगर हाय, इस दिल्ली में और इस कलकत्ता में कोई नहीं मिलने आता, कोई 'पालागी' नहीं करता, कोई चिट्ठी नहीं पढ़वाता। हम तो मर गए। इस 'यंत्र-सभ्यता' ने हमें मार डाला! ये उस देहाती की तरह हैं जो बैलगाड़ी पर शहर गया और स्टेशन पर रेलगाड़ी देखने लगा। पहले तो वह रेलगाड़ी देखकर अभिभूत हुआ—वाह, न बैल जुते न घोड़े, पर भागती कैसी सरपट है! लेकिन, जब उसके बैल बिदककर भागे, तो वह चिल्लाया—अरे मार डाला इस राक्षसी ने !

बहुतेरे नवतरुण ऐसे ही देहातीपन के कारण मृत्यु-कामी हो गए हैं। उनके ग्रामीण संस्कार उन्हें परेशान करते हैं। उनके बैल बिदक गए हैं। इन्हें गाँव में रहकर आंचलिक कथाएँ लिखनी चाहिए और देहाती अध्यापक के गौरव के साथ जीना चाहिए। मगर सबसे अधिक यही अपने को 'आधुनिक' बताने में लगे हैं। उन्हें इतनी-सी बात समझ में नहीं आती कि जो यंत्र के साथ न रह सके, वह 'आधुनिक' कैसे हो सकते हैं।

दूसरी एक और बात इसी देहातीपन से जुड़ी है। गाँव की प्राथमिक शाला में जो लड़का प्रथम आकर सरपंच के हाथ से इनाम पाता है, वह इस उम्मीद से शहर आता है कि मुझे पहुँचते ही कम-से-कम उपकुलपति बना दिया जाएगा। यों अब उपकुलपति ऐसे होने भी लगे हैं। इस महत्वाकांक्षा का कुल कारण यह है कि गाँव की पाठशाला में वह पहला आता था। मगर शहर में जब ऐसा नहीं होता, तो उसका जी घबड़ाता है और वह कहता है, हम तो मारे गए। हमारा जीवन निरर्थक, शून्य, रिक्त हो गया। बस, इस झटके में वह 'आधुनिक' हो जाता है।

बंधु, ये मृत्यु-कामी 'आधुनिक' मुझे बहुत पिछड़े हुए, देहाती मालूम होते हैं। इनमें बहुतों को आधुनिक जीवन और उसकी समस्याओं का कोई बोध नहीं होता। वे आधुनिकता को पहनी गई पोशाक कहते हैं और उसी तरह व्यवहार करते हैं, जिस तरह देहात का लड़का शहर की सड़क पर के ठेले से तैयार सस्ती पतलून खरीदकर गाँव लौटता है, तो उसे पहनकर अपने को 'बाबूसाब' कहलवाता घूमता है। कई को निराशा, व्यर्थता और विफलता का अनुभव केवल इसलिए होने लगता है कि और किसी की कोई अच्छी रचना उसे छपी दिख गई है या किसी का वेतन बढ़ गया है या किसी का नाम किसी लेख में आ गया है या किसी के बड़े आकार की तस्वीर कहीं छप गई है। इतना काफी है इन आधुनिकधर्मा लोगों को मौत की प्रेरणा देने के लिए।

बंधु, देहाती भोला भी होता है। वह नहीं जानता कि उसे यंत्र पीस रहा है या यंत्रवाला। कोई उससे कह देता है कि यंत्र जिंदगी को पीस रहा है, तो वह चीखने लगता है। कोई उससे कह देता है कि जिंदगी से बदबू आ रही है, तो वह नाक पर रूमाल रख लेता है। किसी ने उससे कह दिया कि दिल्ली में कुल उतनी ही स्त्रियाँ हैं, जितनी कनॉट प्लेस में घूमती मिलती हैं और होटलों में शराब पीती हैं—तो उसने यह भी मान लिया। उसने

फिर न मुहल्ले में देखा, न घर में। इनमें तो स्त्रियाँ हैं ही नहीं।

बंधु, आखिर इनसे ऐसा कौन कह देता है? मुझे लगता है, दुनिया-भर में जो सभ्यता पर काबिज थे, उनके हाथों से वह छूट रही है। उसे खूब विकृत करके, मानवीयता से रीता करके, खोखला करके, सौंप देना चाहते हैं। जब किसी के मकान पर कब्जा किया जाता है, तो कभी वह गुस्से में फर्श के पत्थर उखाड़कर पलस्तर गिराकर, खिड़की और दरवाजे को बिगाड़कर मकान सौंप देता है। जो उस पर कब्जा करता है, वह इन सब चीजों को अगर सजावट समझकर ग्रहण कर ले, तो उसकी समझ और रुचि को क्या कहा जाय। आज यही हो रहा है। सभ्यता का अमानवीयकरण करके, उसका पलस्तर उखाड़कर, उसे गंदा, बदबूदार और विकृत बनाकर दिया जा रहा है और लेनेवाले इस सबको उसका आधुनिक श्रृंगार समझकर गौरव से ले रहे हैं। जीवन के व्यापक अमानवीयकरण के प्रयत्न से लड़ने के बदले देहाती आधुनिक उसे स्वीकार कर लेता है।

बंधु, मुझे भी तरह-तरह के कष्ट हैं, घोर विपत्तियां आती हैं, अन्याय का भी कुछ कम शिकार नहीं होता। पर मुझे न मौत की कामना होती, न जिंदगी की बदबू आती, न आदमी बिलबिलाता कीड़ा लगता, न व्यर्थत्व का अनुभव होता। तब मुझे डर लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं आधुनिक नहीं हूँ—क्योंकि मरण-कामना तो आधुनिक फैशन ही है। अब तो ममता, सहानुभूति और करुणा मन में पैदा होती हैं, तब भी शंका होती है कि कहीं यह पिछड़ापन तो नहीं है। अमानवीयता भी तो आधुनिक फैशन है।

आजकल इसी उलझन में दिन बीत रहे हैं, अपने। इसके सिवा बाकी सब ठीक है।

आपका
ह.शं.प.

पुनश्च : अभी याद आया, एक 'यौनधर्मा आधुनिकता' भी होती है। उसकी चर्चा अगले पत्र में करूँगा।—परसाई

कथा की आधुनिका

प्रिय बंधु,

मेरे एक परिचित हैं, जिन्हें पढ़ने का शौक है। वे मुझसे पुस्तकें ले जाते हैं और किसी भी भाषा के अच्छे पाठक की तरह अक्सर लौटाना भूल जाते हैं। मैं अभी तक उन्हें इसी दृष्टि से देखता था कि यह उन आदमियों में से हैं, जिसे जो भी पुस्तक मिल जाय, रात को दो घंटे पढ़कर सो जाता है। क्या पढ़ रहा है, और क्यों पढ़ रहा है, इससे उसे मतलब नहीं। जैसे दर्शन की किताब पढ़ लेगा, वैसे ही शिकार की कहानियाँ।

पर कल उसने मुझे एक जोर का धक्का दिया। मैं उसे एक मशहूर लेखक का

उपन्यास देने लगा, जो अपने को बहुत आधुनिक मनवा चुके हैं, और यह भी प्रचार करवा चुके हैं कि मैं आधुनिक मनुष्य की आंतरिकता का चितेरा हूँ। पुस्तक देखकर उस सज्जन ने रख दी और कहा—एक बात मुझे साफ-साफ बताइए कि आप मुझे क्या समझकर टाल देते हैं। मैं इस सवाल के लिए तैयार नहीं था, इसलिए मैंने उन्हें ही कहने के लिए उकसाया। उन्होंने कहा—आप शायद यह समझते हैं कि मैं जो कुछ हाथ पड़ जाय, उसी को पढ़ लेता हूँ। लेकिन ऐसा मैं नहीं हूँ। अभी तक तो मैं अपठनीय किताबों को, आपकी भावना का खयाल करके चुपचाप ले जाता था और रख लेता था। पर अब यह बोझ मुझसे ढोया नहीं जायेगा। मैं आपसे साफ कहता हूँ कि मैं इस उपन्यास को हरगिज नहीं पढूँगा।

मन तो हुआ कि कह दूँ, फिर आप मेरी किताबों का ही बार-बार पाठ किया कीजिए। पर इतना बेशर्म अहंकार बताते नहीं बना। मैंने कहा—इसे क्यों नहीं पढ़ेंगे? ये तो मशहूर लेखक हैं, बिलकुल आधुनिक। ये आधुनिक प्रेम के ही उपन्यास-कहानियाँ लिखते हैं।

उन्होंने कहा—फिर भी मैं इसे इसलिए नहीं पढूँगा कि मेरा नाम कई सालों से मतदाता सूची में आ गया है। जब तक मैं भारत गणराज्य का मतदाता नहीं था, तब तक इनके उपन्यास-कहानी पढ़ लेता था।

मैंने पूछा—क्या संविधान में ऐसा संशोधन हो गया है कि जो मतदाता हो जाय, वह इनकी कृतियाँ न पढ़े?

उन्होंने कहा—नहीं, ऐसा संशोधन तो नहीं हुआ है। पर क्या आप किसी कालेज के तरुण को 'कल्याण' पढ़ने के लिए मजबूर कर सकते हैं तो फिर किसी बालिग को इनकी कृतियाँ पढ़ने के लिए क्यों मजबूर करते हैं? अगर आप जाँच करें तो पाएँगे कि मतदाताओं मं सिर्फ 5 प्रतिशत पाठक इनके हैं। बड़ा सुभीता हो अगर आप लोग अपनी कृतियों के मुखपृष्ठ पर ही छपवा दिया करें—'उच्च माध्यमिक शाला का उपन्यास' या 'बी.ए. प्रथम वर्ष का उपन्यास' या 'बी.ए. अंतिम की कहानियाँ'। इससे यह सुभीता होगा कि जो जिसके योग्य होगा, वह उसे पढ़ लेगा।

बंधु, इस आदमी ने मुझे काफी हैरान कर दिया। मेरे प्रिय लेखकों की मूर्तियों पर उसने हथौड़े मारना शुरू कर दिया। वह मुझे अक्सर मिल जाता है और अटपटी बातें करने लगता है। उसकी बहुत-सी बातें मुझे याद हो गयी हैं। कुछ नीचे दे रहा हूँ—

—तुम्हारे इन आधुनिक लेखकों ने शरच्चंद्र की सावित्री को भोजनालय की नौकरी से इस्तीफा दिलवाकर उसे किसी दफ्तर में 'स्टेनो' या हवाई जहाज में परिचारिका बना दिया है। वे समझते हैं, यह आधुनिक स्त्री हो गई। इनसे ज्यादा होशियार बंगला का नया लेखक शंकर है। उसने सावित्री की उसी जगह तरक्की कर दी है। उसे मामूली भोजनालय से निकालकर चौरंगी के आलीशान होटल 'शाहजहाँ' में कुमारी गुहा के नाम से रखवा दिया है, और बाद में आत्महत्या भी करवा दी है।

—तुम लोग जब प्रेम उपन्यास लिखते हो, तो स्थानीय डिग्री कालेज की प्रथम वर्ष

की लड़कियों को ध्यान में रखकर लिखते हो। इस हिसाब से लिखते हो कि कुसुम, कुमुद और सुधा इसे पढ़कर पसंद करेंगी और लेखक का पता लगाकर उसके घर चली आएँगी और कहेंगी—आपने हमारे लिए लिखा, तो हम चली आईं। जब कुसुम की शादी हो जाती है, उसके बच्चे हो जाते हैं और वह गृहस्थी चलाने लगती है, तब तुम उसे भूल जाते हो।

—मैंने अभी तुम्हारे ही साथी एक लेखक का उपन्यास पढ़ा। उसमें प्रेमिका लगभग 100 पृष्ठों में रेस्तराँ में बैठी है और वही-वही बातें कर रही है; लगभग 25 पृष्ठों में वह फोन पर बात करती है और 40 पृष्ठों में सहेली से लिपटकर उन बातों का सार बताती है। याने लगभग 165 पृष्ठों में वही तीन-चार बातें लिखी गयी हैं। इतने पृष्ठों में वह जहाँ-की-तहाँ है।

—तुम्हारे कुछ लेखक ऐसा सोचते हैं कि जिस औरत को नंगा करा सकें, वही आधुनिक है। अभी तक तो स्त्री का शरीर देखे बिना भी दर्जनों बच्चे होते रहे हैं। अब हर उपन्यास-कहानी की औरत नंगी है, पर बच्चा एक भी नहीं। ऐसे-ऐसे लेखक हैं, जो अगर 5-6 साल की बच्ची को भी बरामदे में फ्रॉक पहनकर खड़ी देखते हैं, तो सड़क पर से नीचे झाँकते हैं।

—कुछ लेखक स्त्री के शरीर का इस तरह अंदाज करते हैं, जैसे कसाई बकरे के शरीर का। कुछ इस तरह देखते हैं, जैसे डॉक्टर आपरेशन करते वक्त देखता है।

इसी तरह की और भी बातें वह करता रहता है। मैं आजकल बड़ा अनमना रहने लगा हूँ। अगर अपना पाठक ऐसा दुष्ट हो गया है, तो हम लेखकों का क्या होगा? अगर पाठक की रुचि और समझ का स्तर उठेगा, तो लेखक को भी समझ का स्तर उठाना होगा। यह काम बड़ा कष्टकर होगा। अभी तक तो 18-19 साल की उम्र से ऊपर जाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। अब तो उम्र भी बढ़ानी पड़ेगी।

यही चिंता आजकल सता रही है। यों बाकी सब ठीक है।

सस्नेह

ह.शं.प.

संवाद का मौसम

प्रिय बंधु,

लगभग ढाई साल बाद फिर चिट्ठी लिख रहा हूँ। आशा है, उधर आंध्र में सब ठीक होगा और हरिजनों को जिंदा जलाने की क्रिया को कानूनी रूप मिल गया होगा।

पूछा जा सकता है, फिर चिट्ठी क्यों लिख रहे हो? स्तंभ को फिर अवतार लेने की

ऐसी क्या जरूरत पड़ गई? क्या इन वर्षों में 'धरम की हानि' हो गई? क्या 'असुर, अधम, अभिमानी' बहुत बढ़ गए?

ऐसा कुछ नहीं हुआ। अभिमान बढ़ा नहीं, टूटा ही है। अपनी हिंदी के पुराने अभिमानी चंदन लगाकर किसी-न-किसी देव-मंदिर में प्रभु के सामने खड़े हो गए हैं। नए अभिमानी टाई की गाँठ ठीक करते साहब या साहबान के कमरे में घुसकर कहते हैं—सर (या मैडम) आप चाहे न मानें, पर आप अकवि हैं। साहब या मैडम उवाच—अगर तुम मुझे अकवि मानते हो, तो अपनी तरक्की के कागजात ले आओ। नौकरी और तरक्की की दरख्वास्त जैसी नई कविता में लिखी जाती है, वैसी ही अकविता में। दोनों में 'अर्थ' की लय होती है।

बंधु, चिट्ठी लिखने का कारण यह है कि इस वक्त हिंदी में 'संवाद' का मौसम चल रहा है। 'आलोचना' में नामवरसिंह ने लिखा है कि अज्ञेय ने कहा था कि हमें नई पीढ़ी से संवाद की स्थिति पैदा करनी चाहिए। शब्द की गेंद अगर उछली है, तो अच्छे खिलाड़ी उसे लोकेंगे ही। देख रहा हूँ, तमाम पत्र-पत्रिकाओं में चतुर खिलाड़ी 'संवाद' की गेंद को लोक रहे हैं। संवाद शुरू भी हो गए हैं 'बुखार में' कविता के बाद नामवरसिंह और श्रीकांत वर्मा में संवाद बंद हो गया था। अब शुरू हो गया लगता है। नामवरसिंह ने सोचा होगा, अब बुखार उतर गया, इसलिए बात हो सकती है। श्रीकांत ने सोचा होगा, इन्होंने बीमारियाँ ढूँढ़ना बंद कर दिया है तो बात हो सकती है। धर्मवीर भारती और नामवरसिंह का जो संवाद चला, सो आपने पढ़ ही लिया होगा। कमलेश्वर के एक तरफ साधारण प्रेत बोलते हैं और दूसरी तरफ अय्याश प्रेत। बेचारे को दोनों तरह के प्रेतों से 'संवाद' करना पड़ता है। दोनों तरह के प्रेत कमलेश्वर से कहते हैं—प्रेत तुम भी हो। फर्क यह हो सकता है कि हम बबूल पर बैठे हैं तो तुम पीपल पर।

संवाद इतने होने लगे हैं कि हिंदी में संविद बनने की संभावना बढ़ गई है। पिछले चुनाव के वक्त दलों में संवाद होने लगे थे, तो जगह-जगह संविद बन गई थी। संविद बनना कोई बुरा नहीं है। पर फिर दल-बदल होता है और अंततः अल्पमत की सरकार बन जाती है। डर है, हिंदी में कहीं अल्पमत की सरकार न बन जाय। जो भगवान को मंजूर होगा वही होगा। मैंने तो यह सोचा कि इस सुहावने संवादी मौसम में हमारा-आपका संवाद भी क्यों न हो जाय। और मैं चिट्ठी लिखने बैठ गया। संवाद जरूर चाहिए। पर इसके संबंध में तीन प्रश्न एकदम उठते हैं—संवाद कैसे होगा? क्या होगा? किस भाषा में होगा? संवाद होने के लिए मुँह आमने-सामने होने चाहिए। आपको याद होगा, 10-12 साल पहले 'कल्पना' में अज्ञेय की एक कविता छपी थी, जिसका सार था—तू मेरे पीछे-पीछे मेरे पगचिह्नों पर पाँव रखता, मुझे मुँह भर-भर गाली देता हुआ चला आ। मेरी तो तुझे पीठ ही दिखेगी, क्योंकि मैं तुझसे आगे हूँ। इस स्थिति में संवाद नहीं हो सकता। पीठ और मुँह में बोलचाल कैसे होगी? तभी से इंतजार हो रहा था कि कभी पीठ में जीभ निकलेगी तो बात करेंगे। आगेवाली पीढ़ी की पीठ में जब जीभ निकल आती है, तब संवाद होने लगता है। देर चाहे लगे, पर पीठ में जीभ निकलती जरूर है। लगता है, हाल ही में जीभ किसी मजबूरी में निकल आई है और संवाद की स्थिति पैदा हो गई है। अगर यही जीभ 6-7 साल पहले निकल आई होती, तो अब तक ढेर सारी बातचीत

हो जाती। मगर जीभ अपना वक्त लेती है।

दूसरी बात है—संवाद क्या होगा। इधर पड़ोस में दो पीढ़ियों का संवाद महीने में एक-दो बार सुनता हूँ। एक वजीफा प्राप्त सज्जन हैं, जिनका बैंक में उत्कोच-अर्जित बहुत पैसा है। उनका जवान लड़का है जो नौकरी करता है। इनमें जब संवाद होता है तो गाली-गलौज होती है। लड़का बाप से स्कूटर खरीदने के लिए रुपए माँगता है और बाप बेटे की तनख्वाह में से पान-सिगरेट के लिए पैसे माँगता है। दोनों में सिर्फ इन मुद्दों पर ही संवाद होता है। साहित्य की दो पीढ़ियों के संवाद की बात उठी तो मुझे ये पड़ोस के संवादी याद आ गए। कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह पीढ़ी की जमा-पूंजी में से स्कूटर के लिए रुपए माँगे और वह पीढ़ी इनसे पान-सिगरेट का खर्च माँगे—और इसी को हम लोग साहित्यिक संवाद कहने लगें।

तीसरी बात है, संवाद की भाषा की। सुन रहा हूँ—इस पीढ़ी को अपना मुहावरा मिल गया है। मगर उस पीढ़ी को भी अपना मुहावरा मिल गया होगा। अलग-अलग मुहावरों में संवाद कैसे होगा? यह पीढ़ी कहेगी—'संत्रास'! तो वह पीढ़ी कहेगी—हमारे 'कोर्स' में यह शब्द नहीं था। वह पीढ़ी कहेगी—आत्मान्वेषण, दायित्व! तो यह पीढ़ी कहेगी—इन शब्दों की पढ़ाई बीस साल पहले बंद हो गई थी।

बंधु, मुहावरा तो खोज लें, लेकिन जिम्मेदार लोग उसे रहने दें, तब न। मैं भी मुहावरा खोजता हूँ। मगर मेरे साधारण मुहावरे भी टिक नहीं पाते। एक रचना में मैंने लिखा—'बलात्कार'। बहुत बड़े सेठजी के पत्र ने उसे छापा—'अपहरण'। बलात्कार को संस्कार दे दिया। बात यह है कि सेठजी की तरफ से लाइसेंस के लिए सचिवों को लड़कियाँ भेंट की जाती हैं। उनके पत्र में अगर 'बलात्कार' छप जाता, तो कितनी अनैतिक और भद्दी बात हो जाती। दूसरी रचना में मैंने लिखा—'पेशाब', मगर वह छपा 'लघुशंका'। मैं मजबूरी समझ गया। अगर 'पेशाब' छप जाता, तो सेठजी को शक्कर की बीमारी हो सकती थी। उन्हें 'डायबिटीज' से बचाने के लिए अगर मेरे मुहावरे का बलिदान हो गया तो कोई हर्ज नहीं।

बंधु, मुहावरे के इस हश्र से डरकर ही कुछ लोग 'देह की राजनीति' जैसे मुहावरे प्राइवेट ढंग से चला रहे हैं। और संवाद भी प्राइवेट कारणों से, प्राइवेट मुद्दों पर, प्राइवेट भाषा में ही ज्यादा हो रहे हैं। इस संबंध में आगे कभी लिखूँगा।

आपका
ह.शं.प.

अपील का जादू

एक देश है! गणतंत्र है! समस्याओं को इस देश में झाड़-फूँक, टोना-टोटका से हल किया जाता है! गणतंत्र जब कुछ चरमराने लगता है, तो गुनिया बताते हैं कि राष्ट्रपति की बग्घी

के कील-काँटे में कुछ गड़बड़ आ गई है। राष्ट्रपति की बग्घी की मरम्मत कर दी जाती है और गणतंत्र ठीक चलने लगता है।

सारी समस्याएँ मुहावरों, नारों और अपीलों से सुलझ जाती हैं। सांप्रदायिकता की समस्या को इस नारे से हल कर लिया गया—हिंदू-मुस्लिम, भाई-भाई!

एक दिन कुछ लोग प्रधानमंत्री के पास यह शिकायत करने गए कि चीजों की कीमतें बहुत बढ़ गई हैं। प्रधानमंत्री उस समय गाय के गोबर से कुछ प्रयोग कर रहे थे। वे स्वमूत्र और गाय के गोबर से देश की समस्याओं को हल करने में लगे थे।

उन्होंने लोगों की बात सुनी। चिढ़कर कहा, ''आप लोगों को कीमतों की पड़ी है ! देख नहीं रहे हो, मैं कितने बड़े काम में लगा हूँ? मैं गोबर में से नैतिक शक्ति पैदा कर रहा हूँ। जैसे गोबर गैस, वैसे 'गोबर नैतिकता'। इस नैतिकता के प्रकट होते ही सब कुछ ठीक हो जाएगा। तीस साल के कांग्रेसी शासन ने देश की नैतिकता खत्म कर दी है।''

एक मुँहफट आदमी ने कहा, ''इन तीस में से बाईस साल आप भी कांग्रेस के मंत्री, मुख्यमंत्री और उप-प्रधानमंत्री रहे हैं। तो तीन-चौथाई नैतिकता तो आपने ही खत्म की होगी !''

प्रधानमंत्री ने गुस्से से कहा, ''बको मत। तुम कीमतें घटवाने आए हो न! मैं व्यापारियों से अपील कर दूँगा।''

एक ने कहा, ''साहब, कुछ प्रशासकीय कदम नहीं उठाएँगे?''

दूसरे ने कहा, ''साहब, कुछ अर्थशास्त्र के भी तो नियम होते हैं।''

प्रधानमंत्री ने कहा, ''मेरा विश्वास न अर्थशास्त्र में है, न प्रशासकीय कार्यवाही में। यह गांधी का देश है। यहाँ हृदय-परिवर्तन से काम होता है। मैं व्यापारियों से नैतिकता की अपील कर दूँगा। वे कीमतें एकदम घटा देंगे। अपील से उनके दिलों में मैं लोभ की जगह त्याग फिट कर दूँगा। मैं सर्जरी भी जानता हूँ।''

रेडियो से प्रधानमंत्री ने व्यापारियों से अपील कर दी—व्यापारियों को नैतिकता का पालन करना चाहिए। उन्हें अपने हृदय में मानवीयता को जगाना चाहिए। इस देश में बहुत गरीब लोग हैं, उन पर दया करनी चाहिए।

अपील से जादू हो गया।

दूसरे दिन शहर के बड़े बाजार में बड़े-बड़े बैनर लगे थे—

'व्यापारी नैतिकता का पालन करेंगे। मानवीयता हमारा सिद्धांत है। कीमतें एकदम घटा दी गई हैं।'

जगह-जगह व्यापारी नारे लगा रहे थे—'नैतिकता! मानवीयता!' वे इतने जोर से और आक्रामक ढंग से ये नारे लगा रहे थे कि लगता था, चिल्ला रहे हैं—'हरामजादे ! सूअर के बच्चे !'

गल्ले की दूकान पर तख्ती लगी थी—गेहूँ सौ रुपए क्विंटल! ग्राहक ने आँखें मलीं। फिर पढ़ा। फिर आँखें मलीं और फिर पढ़ा। वह आँखें मलता जाता और पढ़ता जाता। उसकी

आँखें सूज गईं, तब उसे भरोसा हुआ कि यही लिखा है।

उसने दूकानदार से कहा, "क्या गेहूँ सौ रुपया क्विंटल कर दिया? परसों तक तो दो सौ रुपए था।"

सेठ ने कहा, "हाँ, अब सौ रुपए के भाव से देंगे।"

ग्राहक ने कहा, "ऐसा गजब मत कीजिए। आपके बच्चे भूखे मर जाएँगे।"

सेठ ने कहा, "चाहे जो हो जाए, मैं अपना और परिवार का बलिदान कर दूँगा, पर कीमत नहीं बढ़ाऊँगा। नैतिकता और मानवीयता का तकाजा है।"

ग्राहक गिड़गिड़ाने लगा, "सेठजी, मेरी लाज रख लो। दो सौ पर ही दो। मैं पत्नी से दो सौ के हिसाब से पैसे लेकर आया हूँ, सौ के भाव से ले जाऊँगा, तो वह समझेगी कि पैसे मैंने उड़ा दिए और गेहूँ चुराकर लाया हूँ।"

सेठ ने कहा, "मैं किसी भी तरह सौ से ऊपर नहीं बढ़ाऊँगा। लेना हो तो लो, वरना भूखे मरो।"

दूसरा ग्राहक आया। वह अक्खड़ था। उसने कहा, "ऐ सेठ, यह क्या अंधेर मचा रखा है। भाव बढ़ाओ, वरना ठीक कर दिए जाओगे।"

सेठ ने जवाब दिया, "मैं धमकी से डरनेवाला नहीं हूँ। तुम मुझे काट डालो, मार डालो, पर मैं भाव बढ़ाऊँगा नहीं। नैतिकता और मानवीयता भी कोई चीज है।"

एक गरीब आदमी झोला लिये दूकान के सामने खड़ा था। दूकानदार आया और उसे गले लगाने लगा। गरीब आदमी डर से चिल्लाया—"अरे, मार डाला ! बचाओ! बचाओ !"

सेठ ने कहा, "तू इतना डरता क्यों है?"

गरीब ने कहा, "तुम मुझे दबोच जो रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

सेठ ने कहा, "अरे भाई, मैं तो तुमसे प्यार कर रहा हूँ, प्रधानमंत्री ने मानवीयता की अपील की है न!"

एक दूकान पर ढेर सारे चाय के पैकेट रखे थे। दूकान के सामने लगी भीड़ चिल्ला रही थी—चाय को छिपाओ। हमें इतनी खुली चाय देखने की आदत नहीं है। हमारी आँखें खराब हो जाएँगी।

उधर से सेठ चिल्लाया—मैं नैतिकता में विश्वास करता हूँ। चाय खुली बेचूँगा और सस्ती बेचूँगा। कालाबाजार बंद हो गया है।

एक मध्यवर्गीय आदमी बाजार से निकला। एक दूकानदार ने उसका हाथ पकड़ लिया। उस आदमी ने कहा, "सेठजी, इस तरह बाजार में बेइज्जत क्यों करते हो! मैंने कह तो दिया कि दस तारीख को आपकी उधारी चुका दूँगा।"

सेठ ने कहा, "अरे भैया, पैसे कौन माँगता है? जब मर्जी हो, दे देना। चलो, दूकान पर चलो। कुछ शक्कर लेते जाओ। दो रुपए किलो।"

उस आदमी ने कहा, "दो रुपया किलो! अरे बाप रे! परसों तक तो पाँच रुपए किलो थी। नहीं, मैं इतनी सस्ती नहीं खरीदूँगा।"

सेठ ने कहा, ''खरीदना पड़ेगा। मैं तो तुम्हें शक्कर देकर रहूँगा, मेरा धर्म है।''

सेठ ने जबरदस्ती उसके झोले में शक्कर डलवा दी।

दो दिन बाद सरकारी कर्मचारियों का जुलूस निकला। वे बाँहों पर काला पट्टा लगाए थे। वे कीमतें बढ़ाने की माँग कर रहे थे। उनका कहना था–हमें अभी बोनस और महँगाई-भत्ता मिला है, इसके हिसाब से कीमतें बढ़नी चाहिए। पर इधर कीमतें एकदम घटा दी गई हैं। ऐसा कभी नहीं हुआ। यह हमारा अपमान है। हम कोई भिखमंगे नहीं हैं। हमारी भी नैतिकता है। सस्ता सामान खरीदना बेईमानी है। व्यापारी दाम बढ़ाएँ, वरना हम धरना देंगे।

शाम को बाजार में पथराव हो गया। भीड़ ने नारे लगाए–भाव बढ़ाओ! जनता की माँग पूरी हो! भाव घटानेवालों का नाश हो!

सारे देश में आंदोलन फैला था। व्यापारी अपने हठ पर थे और जनता अपने हठ पर। कोई झुकने को तैयार नहीं था।

विदेशी पत्रकार हैरत में थे। दुनिया के इतिहास में यह नई बात हो रही थी। वे अपने अखबारों में रिपोर्ट भेज रहे थे–यह विचित्र देश है। जो हो रहा है, वह सपना मालूम होता है। दुनिया-भर में कीमतें घटाने के लिए आंदोलन होते हैं, यहाँ कीमतें बढ़ाने के लिए आंदोलन हो रहे हैं। लोग सस्ता माल खरीदने को तैयार नहीं हैं। प्रधानमंत्री की नैतिकता और मानवीयता की एक अपील से व्यापारी एकदम त्यागी हो गए हैं। उधर जनता अपनी नैतिकता पर डटी है। हजारों लोग लाठीचार्ज में घायल हो गए हैं, कितने ही व्यापारी पिट चुके हैं। अराजकता की स्थिति आ रही है।

बड़ी खराब हालत थी।

आखिर जनता के प्रतिनिधि चेम्बर ऑफ कॉमर्स के अध्यक्ष के पास पहुँचे। कहा–भाई जी, अपने व्यापारियों को समझाइए। देश का तों खयाल कीजिए। मुद्रास्फीति का खयाल कीजिए। लोगों की क्रयशक्ति पर ध्यान दीजिए। व्यापारियों के इस रवैये से देश की अर्थव्यवस्था टूटी जा रही है। आप लोग भाव बढ़ाइए।

चेम्बर ऑफ कॉमर्स के अध्यक्ष ने जवाब दिया–अब हम क्या कर सकते हैं? हमारी नैतिकता और मानवीयता को प्रधानमंत्री ने क्यों उकसाया? अब जनता नतीजा भुगते।

प्रतिनिधि मंडल ने हाथ जोड़कर कहा–भाई साहब, जनता की हालत बहुत खराब है। लोगों को पेचिश हो रही है, क्योंकि वे सस्ता अनाज खा रहे हैं। बच्चा दूध का घूँट लेता है और कै कर देता है, क्योंकि उसमें सस्ती शक्कर मिली है। लोग चाय का घूँट लेते हैं तो मतली आती है, क्योंकि चाय सस्ती है। लोग कुरता पहनते हैं, तो शरीर खुजलाने लगता है, क्योंकि कपड़ा कम रेट का है। स्त्री बघार लगाती है, तो उसे चक्कर आ जाता है, क्योंकि तेल सस्ता और शुद्ध है। कुछ कीजिए। देशवासियों की जान खतरे में है।

चेम्बर ऑफ कॉमर्स के अध्यक्ष ने कहा–आप लोग अब प्रधानमंत्री के पास ही जाइए। वही स्थिति को ठीक कर सकते हैं।

प्रतिनिधियों ने प्रधानमंत्री से बात की। सुनकर प्रधानमंत्री ने कहा—आप लोगों ने ही मुझे व्यापारियों से अपील करने को मजबूर किया था। देख लिया मेरी अपील का जादू! खैर, मैं स्थिति को ठीक कर दूँगा।

प्रधानमंत्री ने फिर रेडियो पर व्यापारियों से अपील की—व्यापारियों ने मेरी अपील को गलत समझ लिया था। इस गलतफहमी के कारण ही देश में दुखद स्थिति पैदा हो गई है। मैंने व्यापारियों से सामान्य नैतिकता और मानवीयता का पालन करने को नहीं कहा था। व्यापारी को अपनी विशिष्ट व्यावसायिक नैतिकता का ही पालन करना चाहिए। आशा है, वे अब स्थिति को सामान्य बनाएँगे। मैं अपनी पहले की अपील वापस लेता हूँ।

दूसरे दिन बाजार पहले जैसा हो गया और लोगों ने राहत की साँस ली।

◆

मुंशी एम. ओ. मथाई

मेरे भी शुभचिंतक हैं! जब चौधरी चरणसिंह तक के शुभचिंतक हैं, तो मेरे भी हो सकते हैं। तो मेरे एक शुभचिंतक ने कहा—तुम कब तक यों कलम घिसते रहोगे? अरे जमाने की नब्ज को पहचानो। एकाध किताब ऐसी लिखो कि सनसनी फैल जाए। लोगों के दिल और दिमाग पर छा जाए। तुम्हें तो भारतीय जन की रुचि की पहचान ही नहीं है।

मैंने सोचा, सलाह यह ठीक दे रहा है! ठीक चरणसिंह को राजनारायण की तरह सलाह दे रहा था। मैंने कहा, ''यार, किस विषय पर लिख दूँ? भारतीय मन की चिंता का मुख्य विषय क्या है?''

मेरा खयाल है, आम आदमी की दिलचस्पी इस बात में है कि हेमामालिनी की माँ हेमा की शादी के बारे में क्या तय करती है। हेमा और धर्मेन्द्र के बारे में जो हल्ला है, वह कहाँ तक सच है। क्या कबीर बेदी परवीन बॉबी के पास लौट आएगा? बेचारी परवीन! कितनी दुखी है। और बेचारी नीतूसिंह की वह हिसाबी अनुशासनी माँ कब बेटी पर शिकंजा ढीला करेगी? लोग चक्कर लगाते हैं और नीतू की माँ उसे कसे रहती है। तमाम लड़के-लड़कियाँ इन चीजों से परेशान हैं। उनके माँ-बाप भी बेटा-बेटी की चोरी से परेशान हैं। रेखा शादी करेगी, यह सुनकर बेटा भी बेहोश हो जाता है और बाप भी। अमीर भी इसी में रुचि लेता है और गरीब भी। गरीब जानता है कि एक बार का भोजन जितने पैसों में आता है, उससे कम में सिनेमा का टिकट आता है। बोलो, लिख दूँ कुछ फिल्मी ?

शुभचिंतक ने कहा—''समझ तुम्हारी ठीक है, पर इस समय मार्केट देखो। मार्केट है गांधी, नेहरू और इंदिरा का। इन पर लिखो। फ़िल्मी अंदाज में ही लिखो, सनसनी पैदा करो। देखो, कितनों ने किताबें लिख डालीं।''

मैंने कहा, ''वे तो बहती गंगा में हाथ धो रहे हैं।''

शुभचिंतक ने कहा, ''नहीं, वे बहती गंगा में शौच कर रहे हैं। तुम भी कर डालो।''

मैंने कहा, ''पर गाँधी और नेहरू की नीतियों पर लिखें तो कैसा रहेगा? नेहरू की विदेशनीति, समाजवाद, औद्योगीकरण, विश्व-शांति आदि की सनसनीखेज आलोचना कर दूँ।''

शुभचिंतक ने कहा, ''अरे यार, इन चीजों को कितने लोग समझते हैं? अरे इन नेताओं को औरत और दारू से मारो। औरत और दारू के वार से सारी नीतियाँ पिट जाती हैं। तुमसे चरणसिंह, नानाजी देशमुख, राजनारायण खुश होंगे। मोरारजी को छोड़ो, वे न खुश होते हैं न नाखुश। स्केण्डल! समझे?'' मैंने कहा, ''पर कोई-कोई नए मंत्री और नेता के बारे में भी औरत और दारू की बात सुनते हैं।''

शुभचिंतक ने कहा, ''मैं समझ गया, तुम्हारा मतलब किनसे है। उनकी बात अलग है। वे भारतीय संस्कृति के हिसाब से करते हैं। रखैल रखेंगे मगर सांस्कृतिक ढंग से उससे राखी बँधवाएँगे, उसे धर्म-बहन बनाएँगे, तब वह रखैल होगी। नेता ज्यादा बूढ़े हुए तो धर्म-पुत्री बनाकर रखेंगे। तुम नमूने के लिए एम.ओ. मथाई और वेद मेहता की किताबें पढ़ डालो।''

मथाई पर बहुत लोगों को गुस्सा है, पर मैंने जब उसकी किताब पढ़ी तो मुझे बार-बार आँसू आए। बड़ी दया आई बेचारे मथाई पर। बेचारा नेहरू के बँगले में उनके साथ रहा, मगर पूरे बँगले में सिर्फ गंदी नाली सूँघता रहा। पूरा बँगला छोड़कर बेचारा गटर में सोता रहा। नेहरू का व्यक्तित्व समंदर था। उसमें बेचारा मथाई लोटे की तरह पड़ा रहा, बाल्टी भी नहीं बना। नेहरू अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय हलचलों के केंद्र थे, मगर बेचारा मथाई यही देखता रहा कि कौन दारू पीता है, कौन नशीली गोलियाँ खाता है, कौन औरत पटाता है, कौन औरत मर्द पटाती है। बेचारा! नेहरू तो नीतियाँ बनाते थे, मगर मथाई बेचारा ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी सीने से चिपटाए सोता रहा।

मैं मथाई की लिखी हर बात को सही मानता हूँ और इसीलिए मुझे उस पर दया आती है। इतना योग्य आदमी और बेचारा मुंशी का मुंशी रहा। क्या दुर्घटना है!

मथाई के सामने पंतजी, शास्त्रीजी वगैरह स्वयंसेवक की तरह थे। वह कहता था—तुम इधर बैठो। तुम उधर जाओ, मगर मथाई बेचारा खुद मुंशी का मुंशी बना रहा।

मौलाना आजाद दारू पीकर लड़खड़ाते थे। उन्हें सँभालने के लिए एक तगड़ा आदमी मथाई ने रख दिया था। कितना महान आदमी है, मगर बेचारा मुंशी का मुंशी रहा।

भिलाई इस्पात कारखाना सार्वजनिक क्षेत्र में मथाई ने ही बनवाया था। बचा लिया पब्लिक सेक्टर को, वरना रूसी साम्यवादी भिलाई कारखाना किसी सेठ को दे देते और समाजवादी नेहरू ऐसा हो भी जाने देते। नेहरू 1927 में रूसी योजना समझ आए थे। 1939 में कांग्रेस ने योजना आयोग बना दिया था। नेहरू समाजवादी थे। वे सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र स्थापित करने के लिए कटिबद्ध थे। यह सब गलत है। भिलाई कारखाना तो सार्वजनिक क्षेत्र में खुलवाया मथाई ने, मगर बेचारा मुंशी का मुंशी बना रहा।

नेहरू के भाषणों के मसौदे भी मथाई सुधारता था, पर खुद रहा मुंशी का मुंशी।

मथाई ने चार्ली चैप्लिन के साथ शराब पी थी, पर सिनेमा का गेटकीपर भी नहीं बन पाया। मुंशी का मुंशी रहा !

सबसे ज्यादा दया मथाई पर तब आती है, जब वह कृष्ण मेनन पर लिखता है। कृष्ण मेनन को छोटा आदमी सिद्ध करने के लिए बेचारे की पाँच अध्याय लिखने पड़े। छोटे आदमी को छोटा सिद्ध करने के लिए इतनी मेहनत की। मेनन ने इस मथाई को कितना तंग किया होगा। मेनन के राजनैतिक कामों को ही लोग जानते हैं, मगर सही बात मथाई बताता है। मेनन नशीली गोलियाँ खाता था और लड़कियाँ फँसाता था। कितना छोटा था मेनन और कितना बड़ा है मथाई, पर बेचारा मुंशी का मुंशी रहा।

नेहरू की स्त्रियों की चर्चा करते समय बेचारा मथाई और दीन हो जाता है। वह सोचता है कि कुछ खोल रहा हूँ, पर नेहरू ने खुद ही संसद में एक बार कह दिया था—हाँ, मृदुला साराभाई कुछ साल तक मेरी मित्र थीं। नेहरू खुद ही ऐसा कह गए तो मथाई क्या खोले? बेचारा मुंशी का मुंशी रहा।

◆

निर्भय दर्शन

ग़ालिब को भी नींद रात-भर नहीं आती थी। मुझे भी नहीं आती।

ग़ालिब परेशान थे कि जब मौत का एक दिन मुअय्यन है, तो नींद क्यों रात-भर नहीं आती? मौत की तो चिन्ता नहीं, फिर कौन-सा डर, कौन-सी चिन्ता?

खैर, गालिब के तो और भी मामले थे—यही इश्क-विश्क, उधारी वगैरह। मुझे तो यह कुछ नहीं है। फिर भी रात को तय करता हूँ कि चैन से सोऊँगा, पर नींद बार-बार खुल जाती है।

अब तो आपातकाल नहीं है। दूसरी आजादी आ गयी है। जनता सरकार बन गयी है। हमारे प्यारे-प्यारे नेता मंत्री हो गये। हमारे नेता बार-बार कहते हैं—अब निर्भय हो जाओ, बिल्कुल मत डरो—हम तो हैं!

हाँ, कह सकते हैं कि महँगाई की चिंता से नींद नहीं आती होगी। ऐसा भी नहीं है। हम समझ गये हैं कि ठीक मौसम आने पर महँगाई मिटेगी। हम सरकार से मिले थे। इसी महँगाई की शिकायत लेकर। सरकार ने कहा था—देखो भैया, कैसी झमाझम बरसात हो रही है। जरा बरसात खत्म होने दो।

हम कुछ महीने बाद फिर गये, तो सरकार ने कहा—देखो भैया, कैसी कड़ाके की ठण्डी पड़ रही है। ऐसी ठण्ड में भला महँगाई कैसे घटेगी?

हम फिर थोड़े समय बाद गये, तो सरकार ने कहा—देखो भैया, अब तो बजट का

समय है। ज़रा बजट पास हो जाने दो।

हम थोड़े समय बाद फिर गये तो सरकार ने कहा—देखो भैया, कैसी विकट गरमी पड़ रही है। ज़रा गरमी निकल जाने दो।

तो हम बारह मास रो लिये। अब महँगाई की कोई चिंता नहीं है। मौसम ही नहीं आ रहा।

फिर भी, नींद नहीं आती।

कल की ही बात बताता हूँ। शाम को मन अच्छा था। थोड़ा-सा दुख था कि दिल्ली नगर निगम के उप-चुनाव में जनता उम्मीदवार हार गया। यह छोटी बात है। मुझे चैन था। सोचा, रेडियो पर समाचार सुन लें, फिर मजे में सोयेंगे। रेडियो पर हमारे एक महान् नेता की चेतावनी आयी—आजादी अभी भी खतरे में है, जनतन्त्र पर अभी भी खतरा है।

मेरी नींद गायब हो गयी। मैं दरवाजे पर भीतर से ताला लगाकर सोया था। थोड़ी नींद आती और घबड़ाकर उठ बैठता। खिड़की से बाहर झाँककर देखता—कहीं कोई हमला तो नहीं कर रहा है, फिर लेटता। झपकी लगती, कुत्ता भौंकता। मैं फिर घबड़ाकर बाहर देखता। जरूर हमला हो गया। गयी आजादी, गया जनतन्त्र!

हम पूरे विश्वास से इन सरकारी नेताओं से पूछते हैं—हुजूर, हमें बता तो दीजिए कि किससे इस देश की आजादी को खतरा है? हमें हमले की दिशा तो मालूम हो जाए। हम पत्थर जमा कर लेंगे और हमलावर पर पत्थर फेंकेंगे। सच बताओ, क्या रानी एलिजाबेथ फिर से यहाँ वाइसराय भेज रही हैं? या मुहम्मद गोरी हमला करनेवाला है? चंगेजख़ा तो नहीं आ रहा है? कहीं क्लाइव फिर से अवतार धारण करके ब्रिटिश साम्राज्यवाद जमाने तो नहीं आ रहा? हमें सच बता दो, हम तैयार रहेंगे। आखिर देश की आजादी को किससे खतरा है?

ये सरकारी नेता तीन-चार दिन कहते हैं—डरो मत। और पाँचवें दिन कहते हैं—डरो ! तो हमारा तीन-चार दिन का खाया-पिया भस्म हो जाता है और हमारी नींद उड़ जाती है।

और जनतन्त्र को किससे खतरा है? केंद्र में चुनी हुई सरकार है और वह आपकी है। राज्यों में चुनी हुई सरकारें हैं। वोट हम दे रहे हैं। आप ले रहे हैं। फिर जनतन्त्र को किस कोने से कौन नष्ट करनेवाला है? कौन संसद भंग कर देगा? कौन तानाशाही कायम करेगा ?

क्या भगवान ऐसी हरकत करेगा? पर भगवान तो मोरारजी भाई की सलाह से चलते हैं।

एक रहस्य और मुझे तंग करता है। जिस दिन इन्दिरा गाँधी कहीं भीड़ देखकर कह देती हैं कि जनता पार्टी की नीतियाँ गलत हैं, उसी दिन सरकारी जनता पार्टी के नेता दिल्ली से चिल्ला पड़ते हैं—आजादी खतरे में है। जनतन्त्र खतरे में है!

शायद इन्दिरा गाँधी उधर हिन्द महासागर के किसी द्वीप में फौज इकट्ठी कर रही हैं। वे दिल्ली पर हमला करेंगी, दिल्ली जीत लेंगी, फिर अपने उसी द्वीप को लौट जायेंगी

और दिल्ली में अपना वाइसराय रखेंगी। भारत गुलाम हो जायेगा। जनतन्त्र खत्म हो जायेगा।

ऐसा होनेवाला हो, तो हमें डरानेवाले ये नेता हमें साफ बता दें। हम सोच लेंगे कि गुलाम तो होना ही है—चैन से तो सोओ।

हमें निर्भय बनानेवालों से बड़ी परेशानी है। हमने मुहल्ले में रखवाली के लिए एक जंगबहादुर पहरेदार रखा था। हर घर से उसे पैसा मिलता था।

उसने कहा था—सा'ब, आप लोग बिल्कुल मत डरना। चैन से सोओ। मैं तो हूँ।

पर कुछ दिन बाद जंगबहादुर ने एक हरकत चालू की। वह रात को दरवाजे खटखटाकर लोगों को जगा देता। रात में दो-तीन बार ऐसा करता।

हमने कहा, "जंगबहादुर, तूने तो कहा था कि आप लोग बेफिक्र सोओ। पर अब तू हमें डराकर जगाता है। तेरे जैसे बहादुर के रहते हुए हम डरते हैं।"

जंगबहादुर ने कहा, "सा'ब, सही बात तो यह कि मुझे डर लगता है, इसलिए अपना डर भगाने को मैं आपको जगा लेता हूँ।"

कहीं ये सरकारी नेता हमारे जंगबहादुर की तरह तो नहीं कर रहे हैं? इन्हें डर लगता है तो ये चिल्लाते हैं—लोगो, जागते रहो। आजादी खतरे में है। जनतन्त्र पर संकट है।

कुछ समझ में नहीं आता कि कौन जनतन्त्र नष्ट करनेवाला है। जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि फासिस्टवाद बढ़ रहा है। वे सही कहते हैं, फासिस्ट सत्ता में हिस्सेदार हो गये हैं।

ये जितने भूतपूर्व कांग्रेसी और समाजवादी जनता पार्टी में हैं, इन्हें ये फ़ासिस्ट अपने संघ के 'सरस्वती शिशु मंदिर' में दूध पिलाने ले जानेवाले हैं। मोरारजी शुद्ध दूध सेवन करते हैं न!

कहीं और से जनतन्त्र को खतरे का डर बतानेवाले कहीं इस तरकीब से खुद हमारे जनतन्त्र का हरण न कर लें। मेरे साथ ऐसा हो चुका है। मैं स्कूल में पढ़ता था, तब रामेश्वर नाम के एक लड़के से मेरी नहीं पटती थी। वह मुझे पीटना चाहता था।

एक दिन वह और मैं सड़क पर खड़े थे। रामेश्वर ने कहा, "देख, तेरे पीछे कोई तुझे मारने को आ रहा है।" मैंने पीछे देखा, तभी उसने मेरी टाँग में हाथ डालकर मुझे पटक दिया।

जनता पार्टी के नेता उसी रामेश्वर-सरीखी तो हमारे साथ नहीं करनेवाले हैं? इधर कह रहे हैं—देख, उधर से कोई तेरी आजादी छीनने आ रहा है। हम उधर देखने लगें तो यही हमारी आजादी छीन लें।

मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ—मालिको, हमें क्यों डराये मारते हो? आखिर तुम उस बात को इतना गुप्त क्यों रखे हो? इतना छिपाते क्यों हो? साफ बता दो न कि हमारी आजादी कौन छीननेवाला है? कौन जनतन्त्र के लिए खतरा है?

☯

कविवर अटलबिहारी

कह गिरिधर कविराय
सुनो हो धुर के बाठी...

(अर्थात् क्या अटलबिहारी कवि हैं? कैसे हैं? क्यों हैं?)

बहुत लोग मुझसे पूछते हैं—क्या अटलबिहारी वाजपेयी कवि हैं? मैं कहता हूँ—अगर सिर्फ कवि कहोगे तो पिटोगे। वे महाकवि हैं, मगर टेम्परेरी महाकवि हैं।

कुछ कवि होते हैं और कुछ माने जाते हैं। निराला, पंत कवि थे, अटलबिहारी कवि माने जाते हैं। निराला, पंत परमानेंट कवि थे, अटलबिहारी पदेन यानी 'एक्स ऑफीशियो' कवि हैं, टेम्परेरी हैं।

वे मंत्री हैं, राजा हैं। जब तक मंत्री हैं, कवि माने जाएँगे। जिस दिन मंत्री नहीं रहेंगे, उस दिन वही लोग जो हें-हें कर रहे हैं और गर्दन हिलाकर वाह-वाह कर रहे हैं, उन्हें हूट करेंगे।

यह बात अटलबिहारी जानते हैं। वे चतुर हैं।

छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी कवि होते थे, इधर एक नई इमर्जेंसी काव्य-धारा बही है और बहुत-से इमर्जेंसी कवि हो गए हैं।

ये इमर्जेंसी में जेल में थे। वहीं उन्होंने कविताएँ लिखीं। ये कवि, फिर भी, न माने जाते, अगर नई सरकार में मंत्री या मुख्यमंत्री न होते।

मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

इन इमर्जेंसी कवियों के लिए कहा जाएगा—कारागार निवास स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

ऐसे कवि अटलबिहारी हैं, हिमाचल प्रदेश के मुख्यमंत्री शांताकुमार हैं, मध्यप्रदेश कला परिषद के अध्यक्ष और सहकारिता मंत्री हरिभाऊ जोशी हैं।

यह वही 'कुख्यात' कला परिषद है, जिसके 'कुख्यात' सचिव अशोक वाजपेयी हैं, जिन्हें निकालने की कोशिश में भोपाल की जुम्मन मियाँ की गली के लेखक से लेकर आल इंडिया स्तर के लेखक, संपादक, बुद्धिजीवी लगे हैं।

ये ईमानदार लोग हैं। पहले कहते थे, यह अशोक वाजपेयी इमर्जेंसी का समर्थन नहीं करता, इसे निकालो। अब कहते हैं, यह इमर्जेंसी का समर्थन करता था, इसे निकालो।

ये ईमानदार बुद्धिजीवी हैं। आम बुद्धिजीवी कुछ शर्मीले होते हैं, ये बड़े बेहया ईमानदार बुद्धिजीवी हैं। खैर, मुझे अशोक वाजपेयी से मतलब नहीं।

मैं तो देख रहा हूँ कि बड़े-बड़े साहित्य-मनीषी मंत्रियों को घेरते हैं। कहते हैं—साहब, आप कवि हैं।

मंत्री कहता है—नहीं भाई, मैं कवि नहीं हूँ। मैंने कोई कविता नहीं लिखी।

मनीषी कहते हैं—महामना, आप अपने को नहीं जानते। हम जानते हैं, आप कवि हैं। आपके बँगले के आसपास जो सुगंध फैल रही है, उसी से हम जान गए कि यहाँ कोई कवि रहते हैं। कालिदास जहाँ रहते थे, वहाँ अभी भी सुगंध आती है।

मंत्री कहते हैं—भई, वह तो रातरानी की सुगंध है।

मनीषी कहते हैं—आपके सामने क्षुद्र रातरानी क्या है? आप रात-राजा हैं। आपकी सुगंध है।

तभी मंत्री जी आवाज देते हैं—बैरा, चाय जल्दी लाओ। थोड़ा नाश्ता भी बनाओ।

मनीषी चौंककर कहते हैं—अहा, क्या काव्य है! इसे जरा यों तो कहिए—

'जल्दी चाय बनाओ बैरा
नाश्ता फौरन लाओ मेरा!'

मंत्री दुहराते हैं। मनीषी कहते हैं—और काव्य कहते किसे हैं? दो पंक्तियों की गागर में आपने हिंद-महासागर भर दिया है। अरब सागर भी इसी गागर में है। कैसी उदात्त भावना, कैसा ललित शब्द-चयन, कैसी उत्तम तुक! वाह! इसे छपना चाहिए।

लो, एक इमर्जेंसी कवि और पैदा हो गए।

राजा लोग हैं, वे जो कहें सो कविता। दरबारी सिर धुनते हैं।

किस्सा है। एक छोटी रियासत दतिया के राजा थे। दतिया के राजा के दरबार में एक कवि आया। सोचा होगा, कविता सुनाकर कुछ इनाम पा जाऊँगा।

राजा साहब ने कहा—हाँ, कविजी, सुनाओ कविता।

कवि ने एक अच्छी कविता सुनाई। राजा ने मुँह बिगाड़ लिया। वे खुद कवि थे न ! कहने लगे—अरे, यह भी कोई कविता है! क्या रखा है इसमें! हमसे कविता सुनो—

'पेरिस की शान क्या मेरी दतिया के सामने
तख्ते सुलेमाँ क्या मेरी खटिया के सामने
फिरंगी की तोप क्या मेरी लठिया के सामने
जन्नत की हूर क्या मेरी पठिया के सामने!'

सारे दरबारी झूमने लगे, कवि भाग गया।

अटलबिहारी चतुर आदमी हैं। वे समझेंगे कि मंत्रियों की कविता वैसी ही होती है, जैसी श्रेष्ठ यह दतिया के राजा की कविता है। राजा लोगों की बात निराली है।

अब सवाल है कि अटलबिहारी 'कैदी कविराय' के नाम से कुंडलियाँ ही क्यों लिखते हैं? अगर प्राचीन कवियों की ढब पर ही लिखना है, तो तुलसीदास हैं, सूरदास हैं, कबीरदास हैं। तुलसीदास की लाइन पर ही लिख सकते थे—

'मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जो पद दियो ताहि को भूल्यो, ऐसो नमकहरामी!'

पर अटलबिहारी ने गिरिधर कविराय के ढंग पर ही कुंडलियाँ क्यों लिखीं? कारण है। गिरिधर कविराय की सबसे प्रसिद्ध कुंडलिया है—

'लाठी में गुन बहुत हैं, सदा राखिये संग।'

इस कुंडलिया का अंत यों है—

'कह गिरिधर कविराय सुनो हो धुर के बाठी
सब हथयारन छोड़ हाथ में रखिये लाठी।'

अटलबिहारी राष्ट्रीय स्वयंसेवक हैं। बचपन से संघ की शाखा में लाठी भाँजते रहे हैं। लाठी का यह मोह छूटता नहीं है। उन्होंने पाया कि गिरिधर कविराय के पास अपनी वह संगिनी लाठी है, तो तय किया कि अपने कवि गिरिधर कविराय हैं। हम भी 'कैदी कविराय' बनेंगे और कुंडलियाँ लिखेंगे।

अटलबिहारी राजा हैं, चतुर हैं, बात समझेंगे वे। चमचे नहीं समझेंगे, वे मनीषी हैं। गँवार चमचा समझता है, मनीषी चमचा कुछ नहीं समझता।

लाल बुझक्कड़

मेरे मुहल्ले में कुत्ते ने एक आदमी को काट लिया। बात आई-गई हो जानी चाहिए थी, पर हुई नहीं।

देश का जैसा राजनीतिक वातावरण है, उसमें कोई बात आई-गई नहीं हो रही है।

तो लोगों में चर्चा चल रही है—इन्हें उसी कुत्ते ने क्यों काटा, दूसरे कुत्ते ने क्यों नहीं काटा ? फिर कुत्ते ने इन्हीं को क्यों काटा? दूसरे आदमी को क्यों नहीं काटा ? ऐन होली के मौके पर क्यों काटा? पहले भी काट सकता था।

रोज ही इस आदमी का और कुत्ते का आमना-सामना होता रहा है, पर कुत्ते ने दक्षिण में इंदिरा गांधी की जीत के बाद ही क्यों काटा? यह मरियल, दब्बू, पिलपिला कुत्ता इसी वक्त काटने पर उतारू क्यों हो गया?

बड़े अहम सवाल हैं ये। कुत्ते के इस काटने में राजनीतिक दाँव-पेंच मालूम होते हैं।

साल-भर से देशवासियों की मानसिकता ऐसी हो गई है कि जो चीज जैसी है, वैसी नहीं मानी जाती। उसमें राजनीति तलाशी जाती है।

इधर मच्छर बहुत तंग कर रहे हैं। मेरे पड़ोसी कहते हैं बहुत मच्छर हैं और बड़े-बड़े हैं।

मैं कहता हूँ—गर्मी आ गई है और पास में नाला लगा हुआ है। मच्छर तो होंगे ही।

पड़ोसी कहते हैं—नहीं साहब, यह बात उतनी 'सिम्पल' नहीं है। अभी कुछ दिन पहले ही लखनऊ विधानसभा में हुल्लड़ हुआ है। उसके बाद ही मच्छरों की यह विध्वंसक कार्रवाई तेज हुई है। यह खुलेआम हिंसा है।

सामने मैदान में घास है और एक डबरा। डबरा हाल की बारिश में भर गया है।

दो भैंसें धूप से परेशान होकर डबरे में लोट रही थीं। मेरे साथ जनता पार्टी का एक आदमी था, वह भैंसों को पत्थर मारने लगा।

मैंने कहा—लोटने दो भैंसों को, तुम्हारा क्या लेती हैं?

उसने कहा—कर्नाटक, आंध्र में इंदिरा जीत गई हैं, तो साली भैंसें किल्लोल कर रही हैं।

ऐसा माहौल है। मैं किससे पूछूँ? एक लाल बुझक्कड़ हैं, राजनारायण। वे ही बूझते हैं—

लाल बुझक्कड़ बूझते और न बूझे कोय,
पाँव में चक्की बाँध के हिरना कूदा होय।

मैं क्या राजनारायण से पूछूँ कि कुत्ते ने क्यों काटा? मच्छर क्यों भनभनाए? भैंसें क्यों लोटीं? राजनारायण जनता पार्टी के मुँह हैं, जो चरणसिंह के सिर पर लगा है। सिर चरणसिंह खुद हैं। अफवाह है कि इस सिर में दिमाग भी है। भुजाएँ जनसंघ है। ऐसी यह मूर्ति है।

राजनारायण बूझेंगे—उस कुत्ते को इंदिरा गांधी ने भड़काया था। उसने एक कुत्ता-ब्रिगेड बनाई है। वह उपद्रव कराके फिर अपनी तानाशाही कायम करना चाहती है। मच्छरों तक को उसने खून-खराबा करने के लिए उकसा दिया है। देखते नहीं हो, घोड़े किस कदर हिनहिनाते हैं। गधे रेंकते हैं, कौए काँव-काँव करते हैं। सब वही करा रही है।

मेरी बड़ी मुश्किल है। मैं मानना चाहता हूँ कि इंदिरा गांधी खत्म हो गईं। उनमें कोई शक्ति नहीं है, कोई उनके साथ नहीं है, जनता ने उन्हें त्याग दिया है।

मगर ये जनता के नेता मुझे यह मानने का संतोष नहीं लेने देते। इन्हें कहना तो यह चाहिए था कि इस देश में इंदिरा गांधी के कराए कुछ नहीं हो रहा है, मगर ये कहते हैं कि जो कुछ भी हो रहा है, वह उन्हीं के कराए हो रहा है।

पटना में लोकनायक के सम्मान में ऊँची जाति के लोगों ने शानदार हुल्लड़ किया। जनता नेताओं ने कहा—यह इंदिरा गांधी ने कराया।

फिर नीची जाति के लोगों ने हुल्लड़ किया। जनता नेताओं ने कहा—यह भी इंदिरा गांधी ने कराया।

सही बात यह है कि दोनों हुल्लड़ों का नेतृत्व जनता पार्टी के नेताओं और 'संपूर्ण क्रांतिकारियों' ने किया।

दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति के दफ्तर पर छात्र संघ के नेताओं ने हमला किया। ये लोग आर.एस.एस. के हैं। जनता पार्टी के नेताओं ने कहा—हमला इंदिरा गांधी ने करवाया।

यानी आर.एस.एस. भी इंदिरा गांधी के कहने पर चल रहा है।

फिर छात्र संघ के दफ्तर पर हमला हुआ। जनता नेता कहते हैं—यह भी इंदिरा गांधी ने कराया।

कर्नाटक में ग्रोवर आयोग के सामने प्रदर्शन हुआ। जनता नेता कहते हैं—यह इंदिरा गांधी ने कराया।

कहीं हड़ताल हो गई—इंदिरा गांधी ने कराई।

गुंडों ने बाजार लूट लिया—इंदिरा गांधी ने लुटवाया।

कहीं डाका पड़ा—इंदिरा ने डाका डलवाया।

कहीं चोरी हो गई—इंदिरा गांधी ने करवाई।

किसी की जेब कट गई—इंदिरा गांधी ने कटवाई।

मैं यह नहीं कहता कि इंदिरा गांधी संन्यासिनी हो गई हैं, वे सिर्फ भगवद्‌भजन करती हैं।

मेरा रोना तो यह है कि जनता पार्टी के नेता यह कहते हैं कि जो कुछ इस देश में हो रहा है, वह इंदिरा गांधी करवा रही हैं। हम कुछ नहीं करवा रहे हैं। कुछ करवाने की ताकत उनमें है, हममें नहीं है।

लोग उनके कहने से जूता-पत्थर फेंकते हैं, हमारे कहने से शांत नहीं रहते। हम कहते हैं, महँगाई घटी है, पर वह नहीं घटी है। हम कहते हैं, भ्रष्टाचार मिटा है, जो नहीं मिटा है। हम कहते हैं, कानून-व्यवस्था की हालत अच्छी है, जबकि वह बहुत खराब है। यानी जो-जो नहीं है, उस-उसकी जिम्मेदारी तो जनता नेता ले लेते हैं; और जो है, उसका श्रेय इंदिरा गांधी को दे देते हैं।

आखिर इंदिर गांधी की वापसी के लिए राह में फूल क्रौन बिखेर रहे हैं? यही जनता पार्टीवाले।

इस देश का आदमी फिर सोचने लगा है। एक दिन लोग जनता नेताओं से कहेंगे—भैया लोगो, तुम कहते हो कि इस देश में जो भी होता है, वह इंदिरा गांधी कराती हैं, उनकी मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। तो भैया, तुम्हें राज करने का क्या हक है ? तुम उसी को सत्ता सौंप दो और रूमाल से हाथ पोंछ लो।

☯

महान नेता : महान चिंता

बात में से बात निकलती है। अमरीकी अखबारों में एक सनसनीखेज खबर छपी कि नंदादेवी पर 1966 में सी.आई.ए. ने प्लूटोनियम यंत्र रखा था, जिससे गंगा का पानी तथा वातावरण रेडियोधर्मी हो जाएगा।

अब हम जैसे नासमझ करोड़ों देशवासियों को यह चिंता हुई कि इससे पानी और हवा द्वारा जहर फैलेगा। दूसरी चिंता यह हुई कि सी.आई.ए. की इस देश में खतरनाक घुसपैठ है।

मगर हम नीचे दर्जे के देशभक्त हैं, ऊँचे दर्जे के देशभक्त ये हमारे नेता हैं। उन्हें हमारे जैसी ओछी चिंता नहीं हुई। हम ओछे हैं, तो हमारी चिंता ओछी है। ये नेता महान हैं, इनकी चिंताएँ महान हैं।

इनकी चिंता गंगा का पानी नहीं थी। वह यह थी कि यह पाप का घड़ा किसके सिर पर फोड़ दिया जाय। यही फर्क है।

हमारी ओछी चिंता पंतनगर का नरसंहार है, मगर जिस चिंता से चरणसिंह दौड़कर लखनऊ गए, वह चिंता थी रामनरेश यादव की गद्दी बचाने की। दो-चार सौ आदमी और मार डाले जाएँ, मगर अपने रामनरेसवा को मुख्यमंत्री रहना चाहिए।

चिंता चिंता में फर्क है। मोरारजी भाई की चिंता थी कि देशवासियों को आश्वस्त कर दिया जाय कि वह यंत्र भारत और अमरीका की सरकारों के समझौते से रखा गया था।

मगर अटलबिहारी वाजपेयी की चिंता थी कि इससे ऐसा बम फोड़ा जाय कि इंदिरा गांधी की धज्जियाँ उड़ जाएँ।

उन्होंने माचिस भी लगाई, पर मोरारजी ने बम को सुर्र-फटाका बना दिया था और यह फिस्स करके रह गया।

अटलबिहारी ने तैश में कहा कि इंदिरा गांधी हम विरोधियों को अमरीकापरस्त वगैरह कहती हैं, और खुद सी.आई.ए. से यह यंत्र रखवा लिया।

अटलबिहारी की तैश जायज है, अगर बात में से बात निकलती है।

इंदिरा के विरोधी तो मोरारजी भाई, लिमये, जॉर्ज, चंद्रशेखर आदि भी हैं। इन्हें तैश नहीं आया, अटलबिहारी को ही क्यों आया?

इंदिरा अक्सर कहा करती थीं कि इस देश में सी.आई.ए. की गतिविधियाँ चल रही हैं, देश में बहुत से लोग अमरीकापरस्त हैं, मगर उनके इतना कहने से कोई नहीं भड़का। अटलबिहारी ही क्यों भड़के?

जैसा कि अब्राहम लिंकन कहा करते थे, 'एंड दैट रिमाइंड्स मी आफ ए स्टोरी।'

ख्रुश्चेव राष्ट्रसंघ में भाषण दे रहे थे। उस समय राष्ट्रसंघ में अमरीकी प्रतिनिधि रिचर्ड निक्सन थे।

ख्रुश्चेव के किसी रिमार्क से निक्सन उत्तेजित हो खड़े हो गए और कहा—अध्यक्ष महोदय, ये हमारे राष्ट्रपति का अपमान कर रहे हैं।

ख्रुश्चेव ने कहा—इससे मुझे एक पुरानी कहानी याद आ रही है। रूस में क्रांति के पहले जब सम्राट जार का राज था, दो देहाती रेल में बैठे बातें कर रहे थे। एक देहाती ने कहा—जार बेवकूफ है। वहीं एक पुलिसवाला बैठा था, उसने देहाती से कहा—तुम हमारे जार को बेवकूफ कहते हो?

देहाती ने घबड़ाकर कहा—नहीं-नहीं, मैं तो जर्मन जार के बारे में कह रहा था। पुलिसमैन ने कहा—मुझे धोखा मत दो। अगर बेवकूफ है, तो वह अपना जार ही है। तुमने

अपने जार को गाली दी है।

निक्सन भी समझते हैं कि कोई अपमान के लायक है, तो उनका राष्ट्रपति है।

यह सही है कि इंदिरा गांधी कहती थीं कि देश में अमरीकापरस्त लोग गड़बड़ कर रहे हैं, यह भी कहती थीं कि सी.आई.ए. के लोग तोड़फोड़ में लगे हैं।

पर ये भी नहीं बोले, वे भी नहीं बोले, बोले तो अटलबिहारी कि हमें बदनाम किया जा रहा है।

अगर बेवकूफ है, तो वह हमारा जार ही है। तुम जार को गाली दे रहे हो।

पर बात-से-बात निकली है। इंदिरा गांधी 74-75 में और भी कई बातें कहती थीं।

अमरीका टेलीविजन के एक इंटरव्यू में इंदिरा गांधी ने कहा था—जनसंघ कुछ नहीं है, वह आर.एस.एस. है। इसका लोकतंत्र में विश्वास नहीं है। ये लोग लोकतंत्र की दुहाई दे रहे हैं।

यह ऐसा ही है जैसे एक लड़के ने अपने माँ-बाप को मार डाला। जब वह अदालत में पेश किया गया तो उसने न्यायाधीश से कहा—हुजूर, मुझे माफ किया जाए। मैं अनाथ हूँ।

इसका जवाब अटलबिहारी के खाते में बकाया है।

अगर बेवकूफ है, तो वह अपना जार है। तुमने अपने जार को गाली दी।

वाजपेयीजी के गुरु की किताबों में लिखा है कि लोकतंत्र अच्छी पद्धति नहीं है। इसमें एक-दूसरे की आलोचना की जाती है और दोष निकाले जाते हैं। हिटलर की तारीफ भी है। कहा गया है कि हिटलर ने जर्मन जाति का गौरव बढ़ाया और उसे शक्तिशाली बनाया।

अटलबिहारी के सामने दो साफ रास्ते हैं—(1) वे कह दें कि मैं अपने गुरु के इन विचारों का विरोधी हूँ। मैं हिटलरशाही को बुरा मानता हूँ और लोकतंत्र में विश्वास रखता हूँ; क्योंकि संघ की विचारधारा से मेरा विरोध है, इसलिए मैं संघ से इस्तीफा देता हूँ। या (2) वे कह दें, मैं पूरी तरह गुरु के विचारों को मानता हूँ। मैं तथा संघ, जो लोकतंत्र में हिस्सा ले रहे हैं, यह हमारा ढोंग है। हम लोकतंत्र का नाश करने के लिए लोकतंत्र में घुसे हैं।

अटलबिहारी न यह कहेंगे न वह और हम अपने भाग्य को सराहेंगे कि कितने ऊँचे दर्जे का, सुसंस्कृत सच्चा आदमी हमें विदेश मंत्री के रूप में मिला है! दोनों तरफ के फौजी तानाशाहों को देखकर उसके नयनों से कैसे स्नेह के आँसू झरने लगते हैं!

अपने पास कोई सबूत नहीं है कि कौन अमरीकापरस्त है और कौन सी.आई.ए. का सहयोगी है।

हम तो यह देखते आ रहे हैं कि कुछ काम इस देश में ऐसे होते रहे हैं जो अमरीकी शासन और सी.आई.ए. को पसंद आते थे।

देश में सांप्रदायिक दंगे जब-तब होते रहे हैं, इन्हें कराने में संघ के रोल के बारे में अखबारों में छपता रहता है। पुलिस और खुफिया-विभाग की फाइलों में भी ये तथ्य हैं।

जो जाँच कमीशन बैठे, उनकी रिपोर्टों में भी संघ पर दंगों की जिम्मेदारी डाली गई है।

वाजपेयी के संघ ने सी.आई.ए. के इशारे पर दंगे नहीं कराए होंगे, अपने विवेक से कराए होंगे।

पर ये दंगे सी.आई.ए. को बहुत पसंद आए, यह संयोग ही है।

मगर अगर बेवकूफ है, तो वह अपना जार है।

संघ ने हिंदी-पागलपन से उत्तर और दक्षिण में भेद डालने की कोशिश की। यह सी.आई.ए. के कहने से नहीं, अपने विवेक से किया होगा।

पर सी.आई.ए. को उत्तर और दक्षिण के विभाजन का प्रयास पसंद आता है।

जनसंघ और उसके वाजपेयी भारत की विदेश नीति की हमेशा आलोचना करते रहे हैं। यह भी सी.आई.ए. के इशारे पर नहीं, अपने विवेक से किया होगा।

सी.आई.ए. को यह बात पसंद आई। सी.आई.ए. ने हमारी विदेश नीति कभी पसंद नहीं की।

गोरक्षा को लेकर जनसंघ ने अटलबिहारी के नेतृत्व में जो संसद पर हमला करवा दिया था, यह संसदीय लोकतंत्र पर एक प्रहार था। ऐसा सी.आई.ए. के कहने से नहीं, अपने विवेक से किया होगा।

पर यह विवेक सी.आई.ए. को पसंद नहीं आया। सी.आई.ए. हर देश में लोकतंत्र को खत्म करना चाहती है।

यह संयोग की बात है कि जो-जो संघ करता रहा है, वह सी.आई.ए. को पसंद आता रहा है। इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि संघ सी.आई.ए. का एजेंट है।

पर वाजपेयी को तैश में आकर इस तरह प्रतिवाद भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि, अगर बेवकूफ है तो वह अपना जार है।

और क्या कहूँ! काबा किस मुँह से जाओगे ग़ालिब?

कैकेयी कुपित है

कैकेयी फिर अस्पताल के कोपभवन में है। जनता पार्टी फिर संकट में है। पर जब तक मेरा यह लिखा छपेगा, तब तक यह संकट टल जाएगा और नया संकट पैदा हो जाएगा। एक संकट से दूसरे संकट तक लुढ़कना ही जनता पार्टी की गतिशीलता है।

रिकार्ड रहे, इसलिए लिख रहा हूँ।

कैकेयी, यानी चरणसिंह फिर अस्पताल के कोपभवन में हैं। कोपभवन से चिट्ठी लिखना कैकेयी की पुरानी आदत है। जब रानी लखनऊ में थीं, तब बलरामपुर अस्पताल के कोपभवन से धमकी देती थीं। कैकेयी दिल्ली आई, तो प्रधानमंत्री के चुनाव के वक्त,

मार्च 1977 में, विलिंग्डन अस्पताल के कोपभवन से चिट्ठी लिख दी थी।

कैकेयी ने विधान सभाओं के चुनावों के समय चुनाव आयोग की फाइल से अपनी चिट्ठी ही उड़ा ली थी, जिससे जनता उम्मीदवारों को किसान चुनावचिन्ह ही न मिलता। यह काम ऐसा ही हुआ जैसे पड़ोसिन की मुरगी चुराना।

इस बार कैकेयी आल इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट के कोपभवन से चिट्ठी लिखती हैं—जाओ, मैंने तलाक दे दिया! त्यागपत्र!

बूढ़े राजा दशरथ, यानी मोरारजी भाई परेशान होते हैं—सामंतों में हलचल मचती है। कैकेयी तलाक दे रही हैं, उसके साथ काफी संख्या में दरबारी हैं।

बूढ़े राजा दशरथ कैकेयी को मनाने कोपभवन पहुँचे। बड़े प्यार से उन्होंने कैकेयी का हाथ पकड़ा, तो कैकेयी ने हाथ झटक दिया—'मानहुँ सरोष भुजंग भामिनि विषम भाँति निहारई।'

सर्पिणी की तरह बिफरकर कैकेयी ने राजा की तरफ देखा।

राजा दशरथ ने मनाना शुरू किया। तुलसीदास पहले ही इस प्रसंग को लिख गए हैं—

'बार-बार कह राउ सुमुखि
सुलोचनि, पिकवचनि
कारन मोहि सुनाउ
गजगामिनी निज कोप कर।'

दशरथ ने कितने विशेषण लगा दिए, चरणसिंह कैकेयी के लिए—सुंदर मुखवाली, सुंदर आँखोंवाली, कोयल जैसे स्वरवाली, हथिनी जैसी चालवाली जो कहे, वही कर देता हूँ।

'कहु केहि रंकहि करौं नरेसू,
कहु केहि नृपहिं निकासौं देसू।'

बोल प्यारी कैकेयी, किस रंक को राजा बना दूँ, और किस राजा को देश निकाला दे दूँ।

कैकेयी नहीं पिघली। तब दशरथ ने कहा—बोल, तेरे लिए क्या करूँ!

तब कैकेयी ने भन्नाकर कहा—राजन, तुम कपटी हो। दिल्ली के सामंत और हरियाना के कुछ दरबारी मिलकर मेरे भरत, यानी देवीलाल को गद्दी से उतारना चाहते हैं। तुम भी इस षड्यंत्र में शामिल हो। हाय, मेरा कोई नहीं है। मेरे भरत के पीछे सब पड़े हैं। मैं रो-रोकर मर जाऊँगी, मैं राज्य छोड़ दूँगी।

दशरथ ने कहा—प्रिये, मैं कपट नहीं कर रहा हूँ।

कैकेयी ने कहा—कपट नहीं कर रहे हो तो हरियाना के दरबारियों की मीटिंग अपने महल में क्यों बुलाई?

दशरथ ने कहा—हे कोमल कंठवाली, तेरे भरत को यह सिद्ध करना है न कि दरबारियों का बहुमत उसके साथ है।

कैकेयी ने कहा—क्यों? वह राजा है। राजा को बहुमत नहीं चाहिए। वह चंडीगढ़ में अपना बहुमत बता देगा। तुम्हारे महल में तो मेरा भरत कदम नहीं रखेगा।

दशरथ ने फिर समझाया—हे मृगनयनी! लोग कहते हैं कि चंडीगढ़ में तुम्हारा भरत दरबारियों को दबाएगा, कुछ को देश-निकाला दे देगा, कुछ को झूठे मामलों में फँसा देगा। वह असंवैधानिक काम करेगा।

कैकेयी ने कहा—हमारे चौधरी कुल में संविधान को कोई नहीं मानता। संविधान मानना तुम्हारे कुल की रीति होगी। मेरा भरत हरियाना में कुछ भी कर सकता है। दिल्ली के सामंत उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते!

दशरथ ने माथा नीचा कर लिया। धीरे-से कहा—वह तलाक की चिट्ठी तो वापस ले लो प्रिये!

कैकेयी ने कहा—उसकी बात मत करो। अब तुम जाओ। हमारा जी अच्छा नहीं है। हमें तंग मत करो। और सुन लो, मेरे गोद-लिये रामनरेश का बाल बाँका नहीं होना चाहिए। ये हरियाना और उत्तर प्रदेश मेरे पिता ने मेरे दहेज में दिए थे। यह इलाका मेरा है। यह तुम्हारे साम्राज्य का हिस्सा नहीं है। इस जागीर पर तुम्हारी हुकूमत नहीं चलेगी।

दाढ़ीवाले चंद्रशेखर गए। बोले—काकी, क्यों नखरे करती है। जब देखो, तब पाँव पटकने लगती है। तू तो ऐसे तिरिया चरित्र में राज ही डुबा देगी। इस्तीफा वापस ले ले।

कैकेयी ने कहा—सुन चंद्रशेखर, मेरा हठ बालहठ है। तेरी दाढ़ी नोच लूँगी, देवीलाल गया तो तू भी जाएगा।

कैकेयी के कोप से सारे सामंत परेशान हैं। क्षत्रप अपनी सेना सजा रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं, इसमें मंथरा राजनारायण हैं। वे कहते हैं—

काने खोड़े कूबड़े, कुटिल कुचाली जान,
तिय विशेष पुनि चेरि कहि, भरत मातु मुसकान।

पर राजनारायण कुछ नहीं बोल रहे हैं। वे मनाने भी नहीं गए।

अधिकांश जनता सामंत कहते हैं—चरणसिंह का इस्तीफा दुर्भाग्यपूर्ण है।

अंग्रेजी के अनफार्चुनेट ने यह जो दुर्भाग्यपूर्ण शब्द दे दिया है, इससे आदमी कहीं भी बिना बँधे साफ निकल जाता है।

अटलबिहारी चतुर हैं। कहते हैं—कुछ नहीं है, कुछ स्वभावगत मामला है। काकी कैकेयी का स्वभाव कुछ तीखा है, बाकी तो पार्टी में पूरी एकता है।

मगर जार्ज फर्नांडिस ने मुँहफट बात कह दी है—यह सारा झंझट सत्ता हड़पने के लिए है।

यानी सब सत्ता हड़पने में लगे हैं। चरणसिंह अपने खास जाट के तरीके से, जनसंघ अपनी कुटिल मिठास से।

और इस देश की बीमार जनता? इस बीमार जनता से इन डॉक्टरों ने, नेताओं ने कहा था—तेरी सब बीमारियाँ हम दूर कर देंगे। गरीबी का रोग मिटा देंगे। बेकारी की बीमारी

दूर होगी। छुआछूत का बुखार उतरेगा।

जनता अस्पताल के बिस्तर पर पड़ी कराह रही है।

और डॉक्टर लोग एक-दूसरे को गाली देते हुए एक-दूसरे में इंजेक्शन की सुई छुरी की तरह घुसेड़ रहे हैं।

◆

प्रधानमंत्रित्व ही जीवन है

मोरारजी भाई विदेश हो आए। अच्छा हुआ। न जाते तो भी अच्छा होता। वे अच्छी-अच्छी बातें कह आए, न कहते तो भी अच्छा होता। अच्छी बातों से निःशस्त्रीकरण नहीं होता। वे अच्छी-अच्छी प्राइवेट बातें भी कह आए।

उन्होंने कहा—मैंने तीस साल की उम्र में ब्रह्मचर्य-व्रत ले लिया था। हर आदमी को दो-तीन बच्चों के बाद ब्रह्मचर्य-व्रत ले लेना चाहिए। यह भी अच्छी बात है। एक ही समस्या है, अगर पत्नी ब्रह्मचर्य-व्रत न ले तो क्या होगा? पति व्रत लिये बैठे हैं और पत्नी ने नहीं लिया है। इस शारीरिक जरूरत के लिए कौन-सा नैतिक रास्ता मोरारजी भाई निकालेंगे?

इधर भारत में असंतोष है कि ब्रिटिश पत्रों ने मोरारजी भाई की यात्रा को महत्त्व नहीं दिया।

लोग पत्रकारों और विदेशी राजनेताओं की कठिनाई नहीं समझते। वे लोग तो हर मिनट दिल्ली पर कान लगाए थे। दिल्ली में क्या हो रहा है?

दिल्ली में तो राजनारायण, चरणसिंह के हुक्म से सबको बरखास्त कर रहे थे। चंद्रशेखर बरखास्त! जनता कार्यसमिति डिसमिस! 1969 से इंदिरा गांधी का साथ देनेवाले जगजीवनराम और बहुगुणा डिसमिस! भूतपूर्व कांग्रेसी बरखास्त!

वे लोग तो हर मिनट इंतजार कर रहे होंगे कि अब खबर आई कि मोरारजी भाई डिसमिस! वे अखबार तो समाचार बनाकर रखे हुए होंगे—मोरारजी देसाई आउस्टेड इन ब्लडलेस कूप! याने, रक्तहीन सत्ता-झपट में मोरारजी भाई निकाल फेंके गए।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री केलेहन सोचते होंगे—जब मैं इनसे बात करूँगा तब तक ये प्रधानमंत्री रहेंगे भी कि नहीं। ऐसा भी हो सकता था—केलेहन द्वारा दिए गए भोज में मोरारजी भाई दूध पी रहे हैं, तभी केलेहन का सचिव आकर उनके कान में कुछ कहता है। केलेहन उठकर मोरारजी भाई के पास आकर कहते हैं—मिस्टर देसाई, दिल्ली से खबर आई है कि आप प्रधानमंत्री नहीं रहे। अब आप खाना-पीना बंद कर दीजिए, क्योंकि यह भोज प्रधानमंत्री के लिए है, और आप प्रधानमंत्री रहे नहीं। आप ये फल रूमाल में बाँध लीजिए, और रास्ते में खा लीजिएगा।

यह अनहोनी नहीं है। ऐसा हो चुका है। एन्क्रूमा इसी तरह गए थे। सुकर्ण एक

से अधिक बार विदेश थे, तब अपदस्थ कर दिए गए थे। पर वे स्वदेश लौटकर फिर राष्ट्रपति हो जाते थे। तो केलेहन की यह चिंता सही थी कि मैंने मोरारजी से बातें तो कर लीं, पर पता नहीं वे न्यूयार्क पहुँचने तक प्रधानमंत्री रहते हैं या नहीं। समुद्र के ऊपर, जब हवा में हों, तभी न निकाल दिए जाएँ।

मोरारजी न्यूयार्क पहुँचे होंगे तब जिमी कार्टर को खबर दी गई होगी कि वे आ गए। कार्टर ने पूछा होगा, आ तो गए, पर वे अभी प्रधानमंत्री हैं या नहीं। मोरारजी का भाषण राष्ट्रसंघ में था। राष्ट्रसंघवाले भी बड़े संकट में पड़े होंगे। महासचिव कुर्त वाल्डहीम बार-बार पूछते होंगे—क्यों? क्या खबर है? ये अभी प्रधानमंत्री हैं न! जब मोरारजी का भाषण हो गया होगा, तब इन्हें चैन मिला होगा।

अपनी पार्टी के प्रधानमंत्री की ऐसी दुर्गति पार्टी के नेताओं ने कभी नहीं बनाई होगी। जिमी कार्टर ने अपने सहायकों से कह रखा होगा—दिल्ली का ध्यान रखना। अगर ये प्रधानमंत्री न रहें तो फौरन बताना। मैं बात बंद कर दूँगा। न्यूयार्क से मोरारजी भाई सान फ्रांसिसको गए थे। वह तो राजकीय यात्रा थी, पर बीच में दिल्ली से खबर आती कि वे प्रधानमंत्री नहीं रहे, तो अमरीकी शासन उनसे हवाई यात्रा का किराया और दूध, फल आदि के दाम वसूल कर लेता।

बड़ी कठिनाई थी। जिमी कार्टर भी पसोपेश में होंगे कि मैं यूरेनियम किसे दे दूँ? दिल्ली में इनकी पार्टी और सरकार का तो यह हाल है। मैं यूरेनियम दे दूँ और वहाँ चरणसिंह और नानाजी देशमुख आधा-आधा बाँट लें तो? जगजीवनराम कहेंगे—हमारी लोकतंत्री कांग्रेस के साथ हमेशा अन्याय किया गया है। अब हम आगे बरदाश्त नहीं करेंगे। हम कम-से-कम एक टन यूरेनियम लेंगे। और कहीं शाही इमाम ने ऐलान कर दिया कि आधा टन यूरेनियम जामा मस्जिद भेजो, वरना जेहाद बोल दिया जाएगा और सरकार को गिरा दिया जाएगा, तो?

अमरीकी पूँजीपति भी बेचारे संकट में पड़े थे। विदेशी पूँजी के लिए पूरे दरवाजे खोल दिए गए हैं। सारे सुभीते दिए गए हैं, पर विदेशी पूँजी भारत आने में हिचकिचा रही है। उसे स्थिरता चाहिए, मगर दिल्ली में यह हाल है।

अंग्रेजी में कहते हैं, पूँजी 'शाई' यानी शर्मीली है। जनता शासन विदेशी पूँजी से कहता है—तू चल न मेरे साथ। मगर विदेशी पूँजी किसी पत्नी की तरह कहती है—पहले तुम्हारी नौकरी तो पक्की हो जाए, तब तुम्हारे साथ चलकर रहूँ। अभी तो तुम रोजनदारी पर हो। किसी भी दिन मालिक कह सकता है कि कल से काम पर मत आना, तब तुम मुझे कैसे पालोगे? मुझे तो अभी मायके में ही रहने दो।

मेरी सलाह है कि एक स्थायी प्रधानमंत्री रखा जाए और एक अस्थायी, संविधान में संशोधन कर लिया जाए। लोक सेवा आयोग द्वारा एक स्थायी प्रधानमंत्री की नियुक्ति कर ली जाए। यह बाकायदा स्थायी सरकारी नौकर हो। यही स्थायी प्रधानमंत्री विदेश यात्रा पर जाया करे। इससे विदेशी राजनेता बिना हिचक के बातें करेंगे, आखिर उसकी नौकरी पक्की है।

मोरारजी भाई या जो भी हो, प्रधानमंत्री बन रहें, पर दिल्ली न छोड़ें। वे रोजनदारी पर हैं, पक्की नौकरी पर नहीं हैं। किसी भी दिन चरणसिंह और नानाजी उनसे कह सकते हैं कि कल से काम पर मत आना, हिसाब कर लो। मोरारजी भाई ने राष्ट्रसंघ में कठोपनिषद् के नचिकेता-यम संवाद का उल्लेख किया था। यह संवाद जीवन और मृत्यु के रहस्यों के बारे में है।

नचिकेता ने पूछा—मृत्यु क्या है? यम ने जवाब दिया—मैं ब्रह्मांड के दौरे पर हूँ और मुझे बताया जाए कि मैं पद से हटा दिया गया। यही मृत्यु है। और जीवन क्या है? यम ने कहा—प्रधानमंत्री रहना ही जीवन है।

मुझे उन दिनों बड़ी भयावह कल्पनाएँ होती थीं। वाशिंगटन में मोरारजी भाई हों और दिल्ली से खबर पहुँचे कि वे प्रधानमंत्री नहीं रहे, तो क्या होगा?

वे कांतिभाई से कहेंगे—कांति, अब वापसी के किराए का कहीं से इंतजाम करो। किसी से उधार लो या भारतीयों से चंदा करो। वापसी का बुकिंग तो प्रधानमंत्री के लिए था, सो हम रहे नहीं। तुम्हारा कोई दो नंबरी सिलसिला यहाँ हो तो उसी में से किराए के पैसे लो।

तब कांतिभाई कहेंगे—सोच लीजिए, वापस लौटें कि यहीं रह जाएँ। वापस लौटें और कहीं शाह कमीशन बैठ गया, तो?

◆

परछाईं-भेदन

मामूली मकान होता, मामूली आदमी रहता और मामूली उठाईगीरे उसे खाली कराने आते, तो मैं ही दो-चार गुंडे भेज देता कि उन्हें पीट-पाटकर भगा दो।

मगर वह राष्ट्रपति भवन है। उसमें रहनेवाले राष्ट्रपति हैं। खाली करानेवाले प्रतिष्ठित गांधीवादी और समाजवादी हैं। मैं कुछ नहीं कर सकता। कांट हेल्प!

वैसे राष्ट्रपति खुद ही उस भवन को छोड़ने की इच्छा प्रकट कर चुके हैं। और अब तो खबर यह है कि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के छोटे बँगले में रहने के इच्छुक हैं। मोरारजी भाई को अपने घर पर जबरन कब्जा किए जाने का डर है। लाइन में पीछे खड़े चरणसिंह और जगजीवनराम भी परेशान हैं।

गांधीवादी कहते हैं—यह गांधी का देश है। इस देश का राष्ट्रपति ऐसे आलीशान भवन में शान-शौकत से रहे, धिक्कार है। राष्ट्रपति को छोटे मकान में सादगी से रहना चाहिए।

समाजवादी कहते हैं—जिस देश के अस्सी फीसदी लोग गरीबी से भी निचले स्तर पर जीवनयापन कर रहे हों, नंगे और भूखे हों, जिनके सिर पर छत न हो, उस देश का

राष्ट्रपति ऐसे शानदार महल में रहे, धिक्कार है!

राष्ट्रपति को घर से निकालने की माँग दोनों कर रहे हैं। किसी गांधीवादी ने किसी प्राइवेट अटारीवाले के सामने अनशन कभी नहीं किया कि तू अपनी इमारत के कमरे गरीबों को रहने के लिए दे, वरना मैं प्राण त्याग दूँगा। किसी समाजवादी ने किसी बड़े मकान-मालिक को चुनौती नहीं दी कि तू अगर यह मकान गरीबों के बच्चों के छात्रावास के लिए नहीं देगा, तो हम हमला बोल देंगे।

गाँधीवादी और समाजवादी, दोनों पगडंडी माँगते हैं। आसान रास्ता माँगते हैं। अखबारों की सुर्खियाँ माँगते हैं, फूल-मालाएँ माँगते हैं, स्टंट माँगते हैं; इसलिए बेचारे राष्ट्रपति भवन के पीछे पड़े हैं। जब यह शोर करने से क्रांति की रस्म अदा हो जाती है कि प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू पर रोज 25 हजार रुपए खर्च होते हैं (थे), तो वर्गसंघर्ष कराके समाजवादी क्रांति की झंझट में कौन पड़े?

पचास शब्दों और पाँच मुहावरों में समाजवाद निपट जाता हो, तो ज्यादा करने की क्या जरूरत? राष्ट्रपति छोटे घर में रहें और हरिजन आग में झोंके जाते रहें, तो भी गांधीवाद निभ जाता है।

गांधीजी की समाधि पर अपने आपको देश के लिए समर्पित करने की शपथ लें, और लौटकर देश को अपने लिए समर्पित करा लें—तो भी गांधीवाद निभ जाता है। हरिजन की जमीन छीन लें, उसे कुएँ से पानी न भरने दें, मगर उसे मंदिर में प्रवेश कर लेने दें, तो भी गांधीवाद का पालन हो जाता है।

गरीब की रोटी छीनी जा रहीं है—यह नारा लगाते रहें, मगर जो रोटी छीनता है, उससे न उलझें, तो समाजवाद की रस्म भी पूरी अदा हो जाती है। सरकार को गरीबों के लिए मकान बनवाने के लिए मजबूर न करें, मगर राष्ट्रपति से भवन खाली करा लें, तो समझो समाजवाद का लक्ष्य पूरा हो गया।

हम प्रतीकों से लड़ते हैं, छाया पर हमला करते हैं। अर्जुन ने मछली की परछाईं पानी में देखकर ही उसे बाण से छेद दिया था, पर आज के हमारे धनुर्धर तो मछली को छोड़कर उसकी परछाईं को ही बाण मारते हैं। शेर उधर खड़ा है, मगर वीर जमीन पर पड़ती उसकी छाया पर गोली दागते रहते हैं।

पूजा में सड़ी सुपारी रखकर, भगवान को धोखा देकर भी धर्मात्मा बने रहते हैं। जमीन छीनते नहीं, भूदान माँगते हैं। संपत्ति पर सार्वजनिक अधिकार कायम नहीं करते, हाथ फैलाकर दे दे राम! दिला दे राम, कहकर संपत्ति दान माँगते हैं।

खादी के थान की आरती करके हल्दी-अक्षत चढ़ाने से गांधीवादी अर्थव्यवस्था कायम हो जाती है। सड़क का नाम 'गांधी मार्ग' रख दिया, सो गाँधीजी के रास्ते पर तो आसानी से चलते ही रहेंगे। हाथ का पिसा आटा और शुद्ध घी खाते हैं, उसे पचाने के लिए पदयात्रा करते हैं। नीम की दातौन करते हैं, तो सर्वोदय क्रांति हो जाती है।

सेठ की गद्दी पर बैठकर उससे चंदा लेते हैं और उसी वक्त चुपचाप गद्दी को ब्लेड

से काट देते हैं—यह पूँजीवाद का नाश हो गया और समाजवादी क्रांति हो गई। गाँधीजी को मैं पाखंडी नहीं कहता, पर सरोजिनी नायडू ने कहा था—लोग नहीं जानते कि गांधीजी को गरीब रखने में हमारा कितना खर्च होता है।

राष्ट्रपति यदि वह भवन खाली कर दें, तो आखिर गांधीवाद और समाजवाद कैसे आ जाएगा? एक हल्ला होगा, और वह भी सिर्फ एक दिन। हल्ला भी नहीं होगा, समाचार मात्र बनेगा कि भारत के राष्ट्रपति अपना भवन छोड़कर मामूली बँगले में रहने लगे।

हमें हल्ला पसंद है, पर इससे ज्यादा हल्ला तो प्रधानमंत्री के मूत पीने का होता है। हर हफ्ते या तो कोई पत्रकार उनसे पूछ लेता है, या वे खुद कहते हैं और दुनिया-भर में छपता है कि भारत के प्रधानमंत्री मूत पीते हैं।

यह राष्ट्रपति भवन अंग्रेज साम्राज्यवादी अपने वाइसराय के लिए बना गए थे। पर वे तो संसद-भवन भी बना गए थे। उन्हें वाइसराय के लिए इतना विशाल भवन नहीं बनाना था, पर वाइसराय नाचते थे, तो डांस-हॉल भी बनवाया। राष्ट्रपति नाचते नहीं हैं, तो वह फालतू है। पर आगे एक एंटनी राष्ट्रपति हो गए तो नाचने का हाल काम आ जाएगा या कोई आदिवासी राष्ट्रपति हो गया तो इसमें लोकनृत्य हुआ करेंगे।

अगर राष्ट्रपति इसे छोड़ दें तो हम इसका क्या करेंगे? क्या इसे गिरा देंगे? गिराएँगे नहीं, तो इसके रख-रखाव में खर्च तो लगेगा ही। फिर वह बगीचा—मुगल गार्डन ? उसे नष्ट कर देंगे, क्योंकि उस पर खर्च होता है? उस अहाते में क्या खेती करेंगे? उस खेती से क्या इतना अनाज पैदा हो जाएगा कि संसद-सदस्यों के पेट भर सकें?

वर्ग संघर्ष के नाम से कँपकँपी आती है। ट्रस्टीशिप अच्छी है। चीन में तो एक ही कपड़ा चेयरमैन माओ और मजूदर पहनते थे। यहाँ रंगीन विज्ञापनों और प्रचार से तरह-तरह के कपड़े बेचे जाते हैं। इस कपड़े के सूट से लड़की प्रेम करने लगती है, और इस साड़ी के पहनने से राजकुमार शादी करने को तैयार हो जाता है।

दस फीसदी के लिए बननेवाले इन कपड़ों से नब्बे फीसदी गरीब और मध्यम वर्ग का शोषण होता है। इन कपड़ों के कारण असंख्य गरीब और मध्यवर्गीय लड़के-लड़कियाँ हीनता की भावना से घुटकर नष्ट हो जाते हैं।

ये अच्छे कपड़े न पहन पाने की शर्म में फेल हो जाते हैं, पढ़ाई छोड़ देते हैं, माँ-बाप को इन कपड़ों की फाँसी लग जाती है।

क्रांति कर लो, तब चीन या किसी समाजवादी देश की बात करो।

मगर व्यवस्था नहीं बदलेंगे, राष्ट्रपति भवन पर नारे लगाकर जयजयकार कर पाएँगे।

संपूर्ण क्रांति की प्याऊ

जब बड़े-बड़े नेता कहते हैं तो वे जरूर बिकते होंगे।

एक अरसे से मेरी भी इच्छा रही है कि एक दो संसद-सदस्य, विधायक या लोकल नेता ही खरीदकर रख लूँ, कभी काम आएँगे। लोग केसर, कस्तूरी और संखिया भी वक्त पर काम आने के लिए घर में रखते हैं।

अभी तक मेरी इच्छा पूरी नहीं हुई। मेरे नगर के सेठ ने तो चुंगी की चोरी के बल पर देशसेवा करने के लिए कार्पोरेशन के दो-तीन सदस्य तिजोरी में रख छोड़े हैं, मेरी हैसियत नहीं है। मैं तो कांग्रेस या जनता पार्टी का एक कर्मठ कार्यकर्ता भी नहीं खरीद सकता।

एक निर्दलीय विधायक पर मेरी नजर थी। चीज अच्छी थी। वह निर्दलीय था, इसलिए 'क्लियरेंस सेल' में सस्ता मिल रहा था।

पर मैंने जब तक पैसे जुटाए, तब तक वह सत्तारूढ़ पार्टी में चला गया। उसकी कीमत दस गुनी हो गई। अब मेरे पैसों से उसके जूते भी नहीं खरीदे जा सकते थे।

अदना आदमी हूँ। छोटा मुँह है। बड़ी बात कहूँ तो मुँह फट जाएगा। मैं नहीं कहता।

बड़े नेता कहते हैं कि ये बिकते हैं। जब स्टाकिस्ट ही कहे कि हमारे गोदाम के माल पर ग्राहक टूट पड़ रहे हैं तब भरोसा करना पड़ता है।

कांग्रेस के नेता लगातार कहते रहे हैं कि हमारी पार्टी के लोगों को देशी और विदेशी थैलीशाह खरीदने की कोशिश करते हैं। जनता पार्टी के नेता भी कहते हैं कि हमारी पार्टीवालों को पैसेवाले खरीदना चाहते हैं।

इंदिरा गांधी कहती थीं कि विरोधियों को सी.आई.ए. ने खरीद लिया है। अब जनता पार्टी के अखबार कहते हैं कि इंदिरा गांधी के बंगले में सी.आई.ए. के लोग आते-जाते पाए जाते हैं। यानी, भारतीय लोकतंत्र का हाल यह है कि हर पार्टी के लोग बिकाऊ हैं; जिसे जरूरत हो, खरीद ले।

बड़ा नेता जब पार्टीवालों को सावधान करता है कि खबरदार, तुम्हें खरीदने की कोशिश हो रही है, वह अपनी पार्टीवालों को आदमी नहीं, कद्दू, बैगन, लौकी समझता होगा। बैंगन और लौकी नहीं जानते कि वे बिकनेवाले हैं।

राजनीतिवाले ये आदमी हैं, छलछंद के उस्ताद हैं, दाँवपेंच करते-करते जिनकी तीसरी दतौड़ी आ गई है, इन्हें क्यों आगाह किया जाता है कि तुम्हें कोई खरीद लेगा ? ये क्या कद्दूभाई बैंगनभाई पटेल और लौकीदेवी हैं? बैल भी अगर किसी के हाथ नहीं बिकना चाहता तो रस्सी तुड़ाता है, और सींग मारता है।

मैं तो मानना चाहता हूँ कि न कोई खरीदता है, न बेचता है। सब ईमानदार हैं, सब त्यागी हैं। मैं मानना चाहता हूँ कि जनता पार्टी के चुनावों में जो सैकड़ों जीपें, कारें दौड़ती हैं, विमान और हेलिकाप्टर उड़ते हैं, कार्यकर्ताओं को थकान हरण के लिए शाम को जो दारू पिलाई जाती है, इस सबके लिए बेहिसाब पैसा गरीब किसानों से दस-दस पैसे के

हिसाब से चंदे में आता है।

इंदिरा कांग्रेस भी चुनाव में सैकड़ों जीपें, कारें दौड़ाती है, प्रचार व खर्च करती है। यह धन भी हाल ही में बँटी कांग्रेस सदस्य पेट काटकर इकट्ठा करते होंगे।

मैं तो विश्वास करना चाहता हूँ कि धन का कहीं हस्तक्षेप नहीं है, मगर मेरे श्रद्धेय नेता मुझे विश्वास नहीं करने देते। लोकनायकजी को संपूर्ण क्रांति के लिए जो लगभग एक करोड़ रुपया मिला, उसके ट्रस्टी कौन हैं? रामनाथ गोयनका और रामकृष्ण बजाज ! मामूली आदमी को तो लोकनायक भी बेईमान मानते हैं, उसे ट्रस्टी नहीं बनाते। लोग तो यह भी कहते हैं कि संपूर्ण क्रांति पूँजीपतियों ने चलाई थी।

इससे भी आगे चलकर लोग कहते हैं कि सन् 1948 से ही जयप्रकाश जी समाजवादी और बाद में प्रजासमाजवादी दल को बिड़ला के पैसे से चलाते थे।

यानी, समाजवादी क्रांति करने की जरूरत नहीं है, पूँजीपति खुद क्रांति खरीदकर हमें बाँट देगा।

क्रांति आखिर क्या है? प्याऊ है, जिसे पैसेवाला खोल देता है और हम उसका खैराती पानी पीते हैं? संपूर्ण क्रांति की प्याऊ भी तो लोकनायक ने गोयनका वगैरह से खुलवा दी है।

विदेशी धन की बात पर भी हम विश्वास नहीं करना चाहते, पर नेता कुछ और कहते हैं। जब पंडित नेहरू के जीवन काल में इंदिरा जी कांग्रेस की बेबी अध्यक्ष थीं, तब उन्होंने कहा था कि प्रजा समाजवादी पार्टी को विदेशी पैसा मिलता है।

पंडित नेहरू ने एतराज किया था कि ऐसी गैरजिम्मेदाराना बात नहीं कहते। तब डॉक्टर लोहिया ने, जिन्होंने प्रजा समाजवादी पार्टी से अलग अपनी एक और समाजवादी पार्टी बना ली थी, कहा था—हो सकता है प्रजा समाजवादी पार्टी विदेशी पैसा लेती हो। मैं जब उस पार्टी का मंत्री था, तब मेरे पास विदेशी पैसे लेने का आफर आया था, जो मैंने ठुकरा दिया था। अब मैं उस पार्टी में नहीं हूँ, शायद वे अब लेने लगे हों।

अशोक मेहता लोहिया के बाद मंत्री हुए थे। वही अशोक मेहता, जो अमरीकी पूँजीपतियों को सलाह देते थे कि भारत में पीछे की सीट से ड्राइव किया करो। अशोक भाई से पूछ लिया जाय।

चौधरी चरणसिंह साहब को यह डर नहीं है कि उनके लोगों को खरीदकर कोई इंदिरा गांधी को भेंट कर देगा कि लो बहनजी, ये संसद-सदस्य और विधायक राजीव के बेटे के खेलने के लिए हैं; और यह भालोद का एक चमकदार गुटनेता है, इसे मेनका गांधी की अँगूठी में जड़वा दीजिए।

चरणसिंह को डर है कि कहीं भालोद के लोगों को खरीदकर जगजीवनराम, बहुगुणा और चंद्रशेखर को प्रेमोपहार में न दे दिया जाए।

चौधरी बेफिक्र रहें। जब वे और जनसंघ मिलकर कब्जा करने की कोशिश करेंगे, तब जनता पार्टी तो टूटेगी ही। अटलबिहारी ने कहा था कि जनता पार्टी का जन्म कारावास

में हुआ है, वह कृष्ण है। तो कृष्ण अपने काम पूरे करेंगे ही।

पदों की माखन चोरी हो गई, पूतनावध हो गया, कंस मारा गया, उग्रसेन सिंहासन पर बैठ गए, कौरव-पांडव युद्ध हो गया, द्रौपदी का चीरहरण भी हो गया।

अब कृष्ण को करने के लिए क्या बचा?

अब बचा यादवों का आपस में लड़कर अपना नाश करना।

वह भी होनेवाला है। कृष्ण-लीला पूरी होकर रहेगी।

नया महाभारत

द्रौपदी का चीरहरण हो गया। द्रौपदी चरणसिंह, दुर्योधन मोरारजी भाई, दुःशासन चंद्रशेखर, शकुनी नानाजी देशमुख। महाभारत चालू हो गया।

कौरव-पांडव सेनाओं के बीच में खड़े अर्जुन अटलबिहारी कह रहे हैं—हे कृष्ण, तुमने द्रौपदी को साड़ी न दी तो कोई बात नहीं, पर मुझे तो बताओ कि मेरी विजय काहे में है?

कृष्ण ने कहा—तू दोनों का बना रह, और मौका पाते ही पार्टी अध्यक्ष या प्रधानमंत्री हो जा। एक तरफ मोरारजी का समर्थन करता जा, और इधर चरणसिंह को भी पटाए रख।

जनसंघ खुद यह अफवाह फैलाता रहे कि नानाजी कांग्रेसियों के बहुत अधिक पास चले गए हैं, इसलिए अटलबिहारी और उनके मतभेद हैं। देख, चंद्रशेखर को कभी अकेला जयप्रकाश के पास मत जाने देना। नानाजी हमेशा उससे चिपके रहें।

भीष्म पितामह लोकनायक पटना में शर-शैया पर पड़े हैं। उन्हें कौरव और पांडव दोनों ने बाणों से छेद दिया है। वे चिल्लाते हैं—मैं भुजा उठा-उठाकर कहता हूँ, पर मेरी कोई नहीं सुनता।

यह नया महाभारत विचित्र है। इसमें कौरण-पांडव समझ में नहीं आते। वे बदलते रहते हैं। आज यह सेना इस तरफ से लड़ रही है, तो कल उस तरफ से।

भीम राजनारायण गदा लेकर दहाड़ रहे हैं—मैं दुःशासन का खून पिऊँगा, मैं दुर्योधन को गदा-प्रहार से मार डालूँगा, मैं इन कौरवों को बता दूँगा कि बनारस की भाँग और मथुरा के पेड़े में क्या ताकत होती है।

द्रौपदी रो रही है—मेरा कुल इतना अपराध है कि मैंने कहा था कि अंधे के बेटे अंधे ही होते हैं। मैंने कांतिभाई के भ्रष्टाचार की जाँच करने को कहा था। इसी पर मुझे भरी सभा में नंगा किया गया।

मैंने इनके लिए क्या नहीं किया? जनता पार्टी तो मैंने बनाई, गाड़ी मैंने स्टार्ट की। गाड़ी चलने लगी, तो ये लोग उसमें चढ़ गए। मैंने ही मोरारजी को प्रधानमंत्री बनाया, नहीं तो जगजीवनराम हो गए होते। और मोरारजी मुझसे चपरासी जैसा व्यवहार करते हैं। मुझे

निकाल दिया, मेरा अपमान किया।

मगर वह रिक्शावाला उस दिन कह रहा था—सा'ब, हफ्ते-हफ्ते दाल खाने को नहीं मिलती।

मैं किसके दर्द पर रोऊँ? इस गरीब को दाल नहीं मिलती इस पर? या चरणसिंह वगैरह के विस्थापन पर? किसका दुख बड़ा है? चरणसिंह इस तरह हल्ला कर रहे हैं जैसे उन्हें भूखा मारा जा रहा हो।

पेट पर हाथ मार-मारकर रो रहे हैं। उनका पद गया, पार्टी पर से कब्जा जा रहा है, सत्ता का रोबदाब जा रहा है, शाही शानो-शौकत जा रही है, जाट-साम्राज्यवाद का सपना टूट रहा है, देश मुट्ठी से छूटा जा रहा है।

मुकुट और सिंहासन जाने का विकट दुख है यह। जो सत्ता ही खाते हैं, सत्ता ही पीते हैं, सत्ता का नाश्ता करते हैं—उनके खानपान छूटने का दुख यह मूर्ख रिक्शावाला क्या जाने?

रिक्शावाला कहता है—सा'ब हफ्ते-हफ्ते दाल खाने को नहीं मिलती।

ये भाग्यविधाता कहते हैं—मेरी पीठ में छुरा भोंक दिया गया! इसी तरह कभी-कभी इंदिरा गांधी चीखती-फिरती थीं—जगजीवनराम ने मेरी पीठ में छुरा भोंक दिया। गोया लोग अपने पेट को छोड़कर इनकी पीठ की रखवाली करें।

अपना पेट खाली रहे, खाली पेट बच्चे बिलबिलाएँ, मगर हमारा कर्तव्य है कि हम इनकी पीठ बचाए रहें। कोई छुरा मारने लगे तो कहें कि तू उनकी पीठ को बख्श दे और हमारे पेट में छुरा घुसेड़ दे?

जनता पार्टी के हमारे इन भाग्यविधाताओं का हाल यह है कि छुरा घुसेड़ने के डर से एक-दूसरे की तरफ पीठ नहीं करते। छुरा हाथ में लिये एक-दूसरे पर नजर रखे गोल-मोल घूमते रहते हैं। जरा किसी की पीठ फिरी, कि छुरा घुसा!

मोरारजी की पीठ जरा फिरी थी कि छुरा चल गया था। वे तो मोटी चमड़ी के आदमी हैं, इसलिए फिसल गया। इधर चरणसिंह ने अपने जाट अक्खड़पन में पीठ फेर दी, तो उसमें छुरा घुस गया। चरणसिंह को मौका लगेगा तो वे चंद्रशेखर और मोरारजी की पीठ में छुरा घुसेड़ देंगे।

जनसंघ की चतुराई यह है कि वह दूसरे को उकसाकर छुरा चलवाता है और फिर घायल की मरहम-पट्टी करने लगता है। बाकी गुट एक-दूसरे को छुरे घुसेड़ चुकेंगे, तब आखिरी छुरा जनसंघ चलाकर कब्जा कर लेगा।

और वह रिक्शावाला कहता है—सा'ब, हफ्ते-हफ्ते दाल खाने को नहीं मिलती !

मैं क्यों रोऊँ चरणसिंह के लिए? वे तो अपील-जैसी कर रहे हैं कि देशवासियो ! मेरे लिए विलाप करो। मगर राजनीति में रोनेवाले के साथ जनता विलाप नहीं करती। इंदिरा गांधी रोई थीं, तब भी लोगों ने उनके साथ विलाप नहीं किया था। फिर आप होते कौन हैं कि आपके साथ लोग रोएँ? क्या हैं आप? बासठ करोड़ आदमी इसीलिए जीते हैं कि

आपके हाथ से सत्ता खिसकने लगे तो वे रोने लगें?

अब तो स्कूली बच्चे भी हँसने लगे। इन बुजुर्ग नेताओं ने हमारे बच्चों का बचपन छीन लिया। बच्चे कहते हैं—जब ये बड़े लोग हमारे सरीखा करने लगे हैं तो हम अब क्या करें।

ये बच्चे ही कल तक इस तरह की शिकायतें करते थे—अम्मा, भैया ने हमें चिमटी काट ली। गुरुजी, इसने हमारी पेंसिल छीन ली। मास्साब, इसने हमें लत्ती मारी थी। आज ये बच्चे गुमसुम गंभीर बैठे हैं। वे देख रहे हैं कि उनका बचपन नेताओं पर सवार हो गया है।

राजनारायण—चंद्रशेखर ने मुझे लत्ती मार दी।

चरणसिंह—मोरारजी ने मेरे कान में पेंसिल कोंच दी।

मगर हमें आपके लिए जरूर रोना चाहिए, क्योंकि—

आप हैं आप, आप सब कुछ हैं।

और हैं और, और कुछ भी नहीं!

रिक्शावाला कुछ भी नहीं में आता है। मगर गुस्ताख कहता है—सा'ब, हफ्ते-हफ्ते दाल खाने को नहीं मिलती।

लोग कहते हैं कि इन्होंने महात्मा गांधी की समाधि पर शपथ ली थी कि हम जनता की सेवा के लिए अपने-आपको अर्पित कर देंगे। शपथ सही ली थी, उसे पूरी भी कर रहे हैं। सचिवालय के अहाते में गांधीजी की दूसरी समाधि बना रहे हैं, सभी खुदाई में लगे हैं।

रिक्शावाला कहता है—सा'ब, हफ्ते-हफ्ते दाल खाने को नहीं मिलती।

मुझे एक डर है, यह रिक्शावाला और इस जैसे करोड़ों लोग कहीं यह न सोचने लगें कि अपने इन नेताओं की ही दाल बना ली जाए।

सुनें, तो इन महामनाओं से कहूँ कि इस देश में सिर्फ जनता पार्टी और इंदिरा गांधी ही नहीं बसते, बासठ करोड़ से ऊपर लोग हैं। आपको पता नहीं है?

तुम्हारी बज्म के बाहर भी एक दुनिया है।

मेरे हुजूर, बड़ा जुर्म है यह बेखबरी, और जुर्म की सजा मिलती है। हुजूर! यह महाभारत फिर रुक जाएगा, क्योंकि सत्ता में रहने के बारे में सब एकमत हैं।

सत्ता-प्रेम के बुनियादी कार्यक्रम पर कोई मतभेद नहीं है। महाभारत की इस तैयारी में योद्धाओं ने एक-दूसरे के हथियार देख लिए हैं और व्यूह-रचना समझ ली है। दूसरी लड़ाई का शंखनाद होनेवाला है। यह एकता का 'रोलिंग प्लान' है।

फुलिशम् वल्गरम् फूहड़म्

भोपाल का समाचार अखबार में छपा है। एक स्त्री फिल्म देखकर लौट रही थी। एक आदमी भी फिल्म देखकर लौट रहा था। रास्ते में आदमी औरत को अपने घर ले गया और बलात्कार कर लिया।

वे कौन-सी फिल्म देखकर लौट रहे थे?

जी, सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्!

राजकपूर को इस फिल्म के प्रचार में इस घटना का उपयोग भी कर लेना चाहिए—सत्यम् शिवम् सुंदरम् की महान सफलता! फिल्म देखकर आदमी ने बलात्कार किया—सत्य की विजय हुई, शिव की स्थापना हुई, सुंदर का सम्मान हुआ।

मेरा दोस्त कहता है—यह फिल्म बड़ी प्रेरणादायक है। नायिका जीनत अमान उतनी ही पोशाक पहनती है जितनी ईडन के बगीचे में ईव ने पहनी थी। ईव ने टाँगों के बीच के हिस्से को जैतून के पत्ते से ढाँका था। यह नायिका रूपा ऊपर चोली सरीखी कुछ पहने है और टाँगों पर भी कुछ कपड़ा लपेटे है। मगर यह ढाँकना खोलने जैसा है। वह बार-बार दिखाती है—ऐ लोगो, तुम जानते हो मैं क्या ढाँके हूँ। ठहरो बताती हूँ। सारी फिल्म में वह बताती है। पूजा, आरती हो रही हो, बड़े-बूढ़े बैठे हों, सड़क चल रही हो, यह लड़की ऊपर और नीचे के दोनों 'पाइंट' मटकाती ऐंठती रहती है। तो फिल्म में एक ही बात बच जाती है, बलात्कार। उस आदमी ने बलात्कार करके फिल्म पूरी कर दी।

सच पूछो तो सिनेमा हाल में बैठे हर आदमी की इच्छा बलात्कार करने की होती है और हर औरत को डर लगता है कि कहीं मुझी से बलात्कार न हो जाए।

मैंने कहा—यार, तुम कुछ थोथे पवित्रतावादी हो। क्या फिल्म बनाने का काम विनोबा भावे को सौंप दें, जिससे हर स्त्री माता के रूप में ही हो और स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करें। शादी के बाद वर, वधू के चरणों में सिर रखकर कहे—तू मेरी माँ है। फिल्म में जरूरत हो तो चुंबन, अंगप्रदर्शन वगैरह होना चाहिए। स्त्री नग्न भी की जाए तो कोई हर्ज नहीं है।

मेरे दोस्त ने कहा—पर जरूरत हो तब तो। जरूरत ही नहीं है। यह पुजारी की लड़की है। अगर लड़की लगभग नंगी रहती है, तो पुजारी जी नंगे क्यों नहीं रहते? फिर कहानी का भी कमाल है। लड़की गाती अच्छा है, पर चेहरा एक तरफ से जला है। उसे जले हिस्से को छिपाकर वह एक इंजीनियर से प्रेम कर लेती है। शादी हो जाती है। शादी के बाद चेहरे का जलापन खुलता है तो इंजीनियर उससे नफरत करने लगता है। तब वह जो पत्नी है, जलापन छिपाकर प्रेमिका बनकर उससे मिलती है। एक ही स्त्री पत्नी भी है और प्रेमिका भी, पर इंजीनियर साहब जान नहीं पाते। फिर उसे बच्चा भी हो जाता है।

मेरे खयाल से कहानी और अच्छी हो सकती थी। वह लड़की पत्नी और प्रेमिका के अलावा गाय भी हो सकती थी। पत्नी के रूप में पति से लड़की, प्रेमिका के रूप में प्रेम

करती और गाय बनकर सुबह-शाम दूध देती। फिल्मों की यही वास्तविकता है।

और जहाँ तक अंग-प्रदर्शन का मामला है—युवती अपनी मरी हुई माँ की लाश के पास बैठी हुई विलाप कर रही है, पर टाँग उघाड़ना नहीं भूलती। और हमारा युवक ! बाप मर गया हो तो कुलाँचें मारकर, बकरे की बोली बोलकर, लड़की को आँख मारकर कहता है—जानेमन, मेरा बाप मर गया है। यह सब हमारे जीवन की स्वाभाविकता है।

फिल्म-कथा में और भी खूबियाँ हैं। बाढ़ आती है, बाँध टूटता है, तब अधजली पत्नी उनके लिए 'सुंदरम्' हो जाती है। वे पुल को छोड़कर औरत को पुकारते फिरते हैं। पता नहीं वह इंजीनियर डिसमिस हुआ या नहीं।

राजकपूर ने उस हृदय-परिवर्तनवाले प्रेमवीर को बचा लिया होता। एक्सीडेंट से कुरूपा सुंदर लगने लगती है, जिससे नफरत करते हैं, वह प्यारी हो जाती है। यह फिल्मी 'सत्यम्' है। रेल पटरी से उतर जाए तो सुंदर युवक सबसे कुरूप स्त्री से कहेगा—तुम कितनी सुंदर हो, मैं तुमसे प्यार करता हूँ। वह कहेगी—अभी तक तो मुझे कुरूप समझकर मेरी तरफ देख भी नहीं रहे थे, अब क्यों? युवक कहेगा—देखो, रेल पटरी से उतर गई न, एक्सीडेंट हो गया, इसलिए। दो साँड लड़ते-लड़ते ठेले को उलटा देते हैं, तो इस एक्सीडेंट से भी हमेशा लड़नेवाले पति-पत्नी घोर प्यार करने लगते हैं।

कहते हैं, राजकपूर सत्यम् शिवम् सुंदरम् फिल्म बनाने की सोलह साल से सोच रहे थे। बेवकूफी भी बहुत तपस्या लेती है। एक ऊँचे दर्जे की बेवकूफी सोचने में सोलह साल लग गए।

इधर दुनिया की हर जाति के मनीषी हजारों सालों से यह समझने की कोशिश कर रहे हैं कि सत्य क्या है, शिव क्या है, सुंदर क्या है? इनमें कौन ग्रहण करने योग्य है? पर वे तो अभी तक नहीं समझ पाए, राजकपूर और उनके कहानी लेखक ने सत्य, शिव और सुंदर का रहस्य समझ लिया। अब राजकपूर अपनी बंदर एक्टिंग छोड़कर ऋषि हो सकते हैं। मियाँ, दार्शनिक फिल्म बना डाली है।

यह तो मैंने कहा, प्रसंगवश कह डाला। आम फिल्म सत्यम् शिवम् सुंदरम् जैसी ही होती है। इनका नाम फुलिशम् वल्गरम् फूहड़म् बड़े मजे में हो सकता है। दूसरे सिरे पर 'जय संतोषी माता' विराजी हैं और भक्तिनियों को और अंधविश्वासी तथा मूर्खा बना रही हैं।

मैं आमतौर पर फिल्में अब नहीं देखता। बिना देखे जान जाता हूँ। ऊटपटाँग कथा, अवास्तविक जिंदगी, भद्दापन, फूहड़पन, संगीतमय मूर्खता—यानी गाने, चोली पलट और साड़ी उलट सौंदर्यबोध, उचक्कापन, कुरुचिपूर्ण रंग-सज्जा, असंभव स्थितियाँ—इन सबसे मिलकर सफल फिल्म बनती है।

मैं एक फिल्म देख लेता हूँ, तो एक सप्ताह इस अपनी दुनिया में लौटने में लगता है। फिल्म ऐसी किसी दुनिया में पहुँचा देती है कि अपनी इस दुनिया में मैं अजनबी अनुभव करता हूँ, त्रास अलग होता है। एक दोस्त के साथ मैं एक फिल्म देखने गया। इतना त्रास

हुआ कि इंटरवल में उठ गए। घर लौटने को रिक्शे में बैठे तो रास्ते-भर बात नहीं की। इसके बाद तो महीने-भर बोलचाल बंद रही। उसे शिकायत थी कि मैं उसे ठेलकर फिल्म में ले गया था और वह मुझे दोषी मानता था।

कहा यह जाता है कि ये फिल्में क्रांति में सहायक हो रही हैं। मान लो, इस देश में कोई लेनिन प्रकट हो जाए और क्रांति की प्रक्रिया शुरू कर दे। लेनिन आवाज दे कि चलो, क्रांति की निर्णायक लड़ाई के लिए बढ़ो आगे वीरो! तो लोग कहेंगे—आप ही करो क्रांति, हम अभी 'जय संतोषी माता' देख रहे हैं। हमें जीनत अमान को पूरा तो देख लेने दो। रंग में भंग मत करो।

कपूर, चोपड़ा, सिप्पी, कुप्पी वगैरह लेनिन से कहेंगे—अरे साहब, यहाँ तो क्रांति की जरूरत ही नहीं है, यहाँ वर्गभेद मिट चुका। यह फिल्म देखिए, इसमें गरीब आदमी की लड़की से रईस का लड़का शादी कर लेता है। इस फिल्म में हरिजन की लड़की से ब्राह्मण का लड़का शादी कर लेता है। नर-नारी की भी बराबरी हो गई। नारी हीन नहीं रही। यह फिल्म देखिए, इसमें लड़की ऐसे हमलावर ढंग से लड़के के पीछे पड़ी है कि लड़का 'ओ अम्मा' चिल्लाकर भागता है। अब क्या जरूरत है क्रांति की कामरेड लेनिन?

◆

कुत्ता : अंदर का और बाहर का

इन दिनों भगवान, सूचना और प्रसारण मंत्री लालकृष्ण आडवाणी पर बहुत खीझे हुए हैं। ये भगवान रजनीश हैं। नाराजी का कारण है। रजनीश के आश्रम पर कुछ विदेशी फिल्म बनाना चाहते थे, मगर आडवाणी ने इसकी अनुमति नहीं दी। भगवान का प्रचार रोक दिया।

अगर किंडरगार्टन के बच्चे की फोटो न खिंचाई जाए, तो वह भी चीखने-चिल्लाने लगता है, फिर यह तो फिल्म का मामला है जिससे पश्चिम में प्रचार होता है। पश्चिम को हमारा सबसे बड़ा निर्यात इन्हीं साधुओं, योगियों, भगवानों का है। पश्चिम में खपत न होती तो इतने चमत्कारी अलौकिक पुरुष यहाँ पैदा नहीं होते।

भगवान की नाराजी जायज है और वे इसे अखबारों में प्रगट भी कर रहे हैं। यों वे तभी से खीझे हैं, जब विदेशी कार के लिए उनका टेंडर नामंजूर हो गया था। किसी सेठ ने उनसे ऊँचा टेंडर भरकर, कार हड़पकर यह सिद्ध कर दिया कि पैसा 'भगवान' से बड़ा होता है। ये सेठ लोग तो ऐसे ही 'भगवान' को खरीदने का टेंडर भी भरते हैं।

लोगों का कहना है कि सेठ उन्हें कभी का खरीद चुके। वैसे मैं तो 'भगवान' के द्वारा टेंडर भरना एक लीला मानता हूँ। उन्हें कारों की कमी थोड़े ही है। भगवान कृष्ण को माखन की कमी नहीं थी, पर वे माखन-चोरी-लीला करते थे। ये टेंडर-लीला करते हैं।

खीझ में रजनीश सबको कोस रहे हैं। अपने को सुकरात और ईसा भी कहते हैं,

जैसे आडवाणी ने उन्हें जहर पिला दिया हो या सूली पर टाँग दिया हो। आडवाणी ने सिर्फ उनकी फिल्म नहीं बनने दी है। रजनीश सुकरात और ईसा की तरह शहीद होना चाहते हैं, पर मुश्किल यह है कि उन्हें शहीद बनाने की किसी को फुरसत नहीं है। उनकी हालत उस आदमी की तरह है जो कफन लिये चिल्ला रहा है कि मेरे ऊपर कफन डालो ताकि मैं शहीद हो जाऊँ, पर कोई कफन डालने कू खालीच नईं। वे कहते हैं—अरे, मुझे सूली पर चढ़ाओ, और लोग कहते हैं—यह फालतू मेहनत कौन करे? हमें अपने काम हैं।

कुल मिलाकर रजनीश एक बेचारे आदमी हैं। जन्म से जैन! उन्होंने जैनों से शुरू-शुरू में कहा होगा—बहुत सालों से कोई तीर्थंकर नहीं हुए हैं। आप लोग चाहो तो मैं पचीसवाँ तीर्थंकर हो जाऊँ। जैनों ने कहा होगा उनसे—हो जाओ, हम मदद करेंगे। पर जैनों की मदद लेकर रजनीश कृष्ण की कुछ ऐसी लीलाएँ करने लगे जो जैनों को पसंद नहीं आईं।

तो जैनों ने अपने भावी तीर्थंकर को छोड़ दिया। तब रजनीश ने लेखक जैनेंद्र की चिलम भरी। उनसे अदाएँ, मुद्रा, अटपटी भाषा, मुहावरे आदि सीखे और 'भगवान' हो गए।

चेले हो गए, चेलियाँ हो गईं। सेठ आने लगे, सेठानियाँ सत्संग करने लगीं। सेठानियाँ ता रसोइया और घरेलू नौकर का भी सत्संग करती हैं। उनका सत्संग दस-पंद्रह रुपए में करती हैं, भगवान का सत्संग हजार में कर लिया। सत्संग खरीदने के मामले में रसोइया और 'भगवान' एक ही जैसे हैं, उनके लिए।

इधर मैंने रजनीश के कुछ खीझ-भरे लेख पढ़े। वे दुखी हैं, निराश भी हैं, 'फ्रस्ट्रेशन' है उन्हें। फ्रस्ट्रेशन शायद महेश योगी के अंतर्राष्ट्रीय कारोबार के कारण हो। जो हो, वे एक बेचारे आदमी लगते हैं। बेचारा आदमी वह होता है जो समझता है कि मेरे कारण तमाम हलचल हो रही है, पर वास्तव में उनके कारण कोई छिपकली भी कीड़ा नहीं पकड़ रही है। बेचारा आदमी वह होता है, जो समझता है कि मेरे सब दुश्मन हैं, पर सही यह है कि कोई उस पर ध्यान नहीं देता। बेचारा आदमी वह होता है जो समझता है कि मैं वैचारिक क्रांति कर रहा हूँ और लोग उससे सिर्फ मनोरंजन करते हैं। वह आदमी सचमुच बड़ा दयनीय होता है जो अपने को केंद्र बनाकर सोचता है।

रजनीश गांधीजी पर खीझे हैं। कहते हैं कि गांधी को राष्ट्रपिता मत कहो, क्योंकि उन्हें बुढ़ापे में स्वप्नदोष होता था और वे औरतों के साथ सोते थे। गांधीजी के 'सेक्स' के मामले धंधे हो गए हैं। हाल में यह धंधा वेद मेहता ने किया है। गांधीजी ने स्त्री के साथ सोने का 'ब्रह्मचर्य का प्रयोग' सबको बताकर किया था। प्रोफेसर निर्मल कुमार बोस की इस पर पहली किताब है। प्यारेलाल ने भी इस पर लिखा है। रजनीश इसी बात को भोंडे तरीके से पीटते हैं।

मैं तो गांधीवादी नहीं हूँ, पर यह तो ऐतिहासिक तथ्य है कि गांधीजी ने दुनिया का एक बड़ा जन-आंदोलन चलाया था और इधर ये 'भगवान' रजनीश जुए के अड्डे-सरीखा एक आश्रम चलाते हैं।

रजनीश कहते हैं—मैं मुक्त हूँ। वे होंगे मुक्त। पूर्ण मुक्त होंगे। मुक्त भी बहुत से

लोग होते हैं। हरामखोर भी मुक्त होता है, क्योंकि वह किसी के प्रति कोई दायित्व अनुभव नहीं करता। उन्हें शिकायत है कि समाज और सरकार उनका विरोध करते हैं। मगर जो वास्तव में समाज है, वह उनकी परवाह नहीं करता। विरोध का सवाल ही नहीं है। अखबारों में उन्हें लेकर जो कभी-कभी विवाद होता है, वह तो पेपर का प्रसार बढ़ाने की तरकीब है। और मेरे-जैसे लेखक जो कभी-कभी लिख देते हैं सो इसलिए कि वे हमारे विषय हैं और इस लिखने का हमें पैसा मिलता है। हम 'भगवान' पर मुफ्त में नहीं लिखते। इसे गंभीरता से नहीं लेना चाहिए कि समाज विरोध कर रहा है।

सेक्स और नर-नारी संबंध, विवाह आदि पर जो वे कहते-लिखते हैं, वह भी कोई हड़कंप मचानेवाला नहीं है। हर कदम पर मानवीय संबंधों का पुनः परीक्षण होता है। बरट्रेंड रसेल, सिमोन डि बाऊवा, सार्त्र वगैरह ने भी इन संबंधों पर नए सिरे से विचार किया।

रजनीश कहते हैं कि वे मानव-भविष्य देखते हैं और भविष्य में उनकी बात मानी जाएगी। मगर मनुष्य का भविष्य तो समाजवाद है। जिसका विरोध रजनीश करते हैं। याने वे अतीतगामी हुए, पतनशील पूँजीवाद के प्रवक्ता एक मर रही व्यवस्था के वकील। समाजवाद का विरोध करना राजनीति है, इसलिए वे खुद राजनीतिक भी हुए।

मगर वे कहते हैं कि मैं अपने आश्रम में राजनीतिकों और कुत्तों का प्रवेश निषिद्ध कर दूँगा, मगर वे खुद भी तो राजनीतिक हैं, यानी भीतर बैठा कुत्ता दूसरे कुत्तों को भीतर नहीं आने देगा।

आडवाणी और रजनीश को नहीं लड़ना चाहिए। दोनों भाई हैं। जो आडवाणी की पार्टी को चंदा देते हैं, वही रजनीश को भी। आडवाणी की पार्टी भी समाजवाद-विरोधी है और रजनीश भी। पूँजीपतिवर्ग की रक्षा के लिए आडवाणी की पार्टी भी है और रजनीश भी हैं। दोनों एक ही सेठ के चौकीदार हैं। एक की दिन की ड्यूटी है और दूसरे की रात की। दो चौकीदारों का झगड़ा मुझे अच्छा नहीं लगता।

पशुपतिनाथ के लिए अफीम

राष्ट्रीय विपदा पर कुछ रस्में निभाना जरूरी होता है, जैसे विवाह में सात फेरे फिरना होता है। अकाल की, बाढ़ की, भूकंप की रस्में तय हैं। पहली रस्म है—दृश्य-दर्शन! प्रधानमंत्री, मंत्री, नेता वगैरह विमान से बाढ़ का लुभावना दृश्य देखते हैं—वाह, एक शताब्दी में ऐसा सुंदर दृश्य किसी को नहीं दिखा था। हमारी आँख धन्य हो गई। इस बार भी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, नेता वगैरह ने सारे जहाँ से अच्छे इस हिंदोस्ताँ के गुलिस्ताँ की बुलबुलों को डूबते, उतराते, पेड़ों और छतों पर टँगे, हाय-हाय करते देखा।

एक्स्ट्रा प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने किराए के विमान से बाढ़ का सौंदर्य देखा—इंडिया

का हाल मुकदमों से घिरी इंदिरा-जैसा ही है। प्रधानमंत्री कोई भी हो, इंदिराजी हमेशा एक्स्ट्रा प्रधानमंत्री रहेंगी। जैसे अमरीका का राष्ट्रपति कोई भी हो, रिचर्ड निक्सन हमेशा एक्स्ट्रा राष्ट्रपति रहेंगे।

मैं विमान किराए से नहीं ले सका। मेरे प्रदेश के मुख्यमंत्री तो अभी एकाएक सरकारी विमान से नेपाल, भगवान पशुपतिनाथ के दर्शन करने चले गए थे। पशुपतिनाथ ने बुलाया होगा। अब कुछ लोगों ने हल्ला कर दिया कि भगवान पशुपतिनाथ ने उनसे अफीम मँगाई थी, सो लेकर गए थे। यह झूठ है। नेपाल में अफीम-गाँजा की कमी नहीं है। कुछ और लोग कहते हैं कि वे राजा महेंद्र से आर.एस.एस. के लिए पैसा लेने गए थे। हिंदू राष्ट्र की स्थापना होने ही वाली है और सम्राट के रूप में राजा महेंद्र का राजतिलक होगा, तो अश्वमेध यज्ञ का खर्च लेने सखलेचा गए थे, यह भी झूठ है।

जिस आर.एस.एस. के तीन मुख्यमंत्री हैं, उसे बाहर से पैसा लाने की जरूरत नहीं है। पर महेंद्र के राजतिलक के मामले में थोड़ा विवाद होगा। बंबई के एक मशहूर साप्ताहिक पत्र, जो 'उड़न छू' पत्रकारिता और सुभीते के ईमान के लिए भी जाना जाता है, के 'मुहावरा वीर'—संपादक आर्य मिहिर रजाशाह पहलवी का क्लेम पेश करेंगे, गो इस समय आर्य मिहिर की दुर्गति हो रही है। खैर, वक्त आने पर देखा जाएगा।

बात राष्ट्रीय विपदा की रस्मों की हो रही थी। बाढ़ आने के बाद उसके कारण बताने की रस्म अदा होती है। हमारे देश में सबसे तेज वैज्ञानिक दिमाग तो राजनारायण का है, जो 'हनुमान चालीसा' से आपरेशन कर सकते हैं।

राजनारायण का कहना है—किसी के पाप के कारण दिल्ली में ऐसी बाढ़ आई। पहले तो इंदिरा गांधी के पाप के कारण विपत्तियाँ आती थीं, इस बार मोरारजी के पाप के कारण बाढ़ आई है। उनका पाप है कि उन्होंने राजनारायण को, ज़ो हनुमान के अवतार हैं, मंत्रिमंडल से निकाल दिया। ऐसे पाप से पहले भी विपत्तियाँ आ चुकी हैं। अकबर के जमाने में काशी में किसी ने हनुमान की मूर्ति खंडित कर दी थी, तो काशी पर हनुमान की सेना ने, लाल मुँह के बंदरों ने धावा बोल दिया था। यह समझ में नहीं आता कि अकबर के महल पर धावा क्यों नहीं बोला?

कारण बताओ की रस्म अदायगी में आगे तकनीकशाह और विशेषज्ञ आते हैं। हमारी आधी जिंदगी नौकरशाही ने तबाह की है और आधी तकनीकशाह ने। ये तकनीकशाह और विशेषज्ञ बताते हैं कि बंगाल की खाड़ी में वायु में जो 'डिप्रेशन' आ गया था, वह बढ़ा है साहब, और राजस्थान पहुँचा और मुड़कर उत्तर-पश्चिम की तरफ आ गया।

समझ गए? नहीं समझे साहब, हम जड़बुद्धि हैं। अच्छा तो इतना समझ सकते हो कि बाढ़ का कारण मानसून का 'मिसबिहेवियर' यानी दुर्व्यवहार है। यानी मानसून का चाल-चलन भी इस देश में बिगड़ गया। क्या सुरेशकुमार—सुषमा का असर पड़ गया ? मर गए क्या एम.ओ. मथाई? जिंदा हैं तो मानसून के चाल-चलन पर लिखें न!

आगे आता है नौकरशाह सचिव, उपसचिव। वह झट फाइल निकालता है, देखता

है। अभी तक बाढ़-नियंत्रण के लिए चार सौ करोड़ रखे थे, अब सात सौ करोड़ कर देते हैं। वह रेडियो के माध्यम से झाड़ पर टँगे, छतों पर अटके, डूबते लोगों को खबर पहुँचाता है—ऐ लोगो! अब बेफिक्र हो जाओ। मरने से बिलकुल मत डरो।

बाढ़ नियंत्रण के लिए सात सौ करोड़ कर दिए हैं। इस निर्भयता-दान से मुझे कुछ याद आ रहा है। स्टेशन पर मुसाफिर उतरा तो एक होटल के एजेंट ने उसे पकड़ा और कमरा तय किया। एजेंट थोड़ा यहाँ-वहाँ हुआ। इतने में दूसरे होटल के एजेंट ने मुसाफिर को पकड़ा। इस होटल का किराया कुछ कम था, तो मुसाफिर उसके साथ चला गया।

मुसाफिर इस दूसरे होटल के अपने कमरे की बालकनी पर खड़ा था कि पहले होटल का वह एजेंट आ गया। वह चिल्लाया—ए मुसाफिर! बेईमान झूठा, मुझे दगा दे गया, मैं तुझे मार डालूँगा।

मुसाफिर डरा तो दूसरे होटल का वह एजेंट बोला—अरे डर मत। यह अगर तुझे मारेगा तो मैं इसके चार मुसाफिर मार डालूँगा।

इसके बाद है आरोप-प्रत्यारोप की रस्म। इंदिरा कांग्रेस ने और कम्युनिस्ट पार्टी ने आरोप लगाया कि दिल्ली प्रशासन ने सारा राहत कार्य आर.एस.एस. को सौंप दिया है। राहत देने में भी पक्षपात हो रहा है। यह तो होगा ही, राज जो उनका है।

मैं तो कहता हूँ, अगर बाढ़ के शुभागमन की आशा पहले से होती तो रोटी लपेटने के लिए भगवा रंग के कागज तैयार कराए जाते, उन पर बालासाहब देवरस का चित्र होता, दीपक का निशान होता। पता नहीं चरणसिंह अपना निशान कब वापस ले लें। ऐसे कागज में लपेटकर रोटी बाढ़ पीड़ितों को दी जाती।

राजनीति है, पोचा मानवतावाद नहीं। जहाँ तक पक्षपात का सवाल है, केदारनाथ साहनी उन मोहल्लों के बाढ़ पीड़ितों को रोटी क्यों दें, जिनमें जनसंघ को कम वोट मिले थे। अराष्ट्रीय तत्त्वों को साँप की तरह कौन पालेगा? कम्युनिस्ट पार्टी को भी यह समझना चाहिए कि साहनी उन मजदूरों को रोटी क्यों देंगे जो दत्तोपंत ठेंगड़ी के भारतीय मजदूर संघ को ठेंगा दिखाकर, लाल झंडा लेकर निकल पड़ते हैं।

अभी तो राजनीतिवाले यह हिसाब लगा रहे होंगे—इस क्षेत्र में अमुक पार्टी के ज्यादा वोटर बरबाद हुए न? अच्छा हुआ, और मर जाते तो और अच्छा होता।

व्यापारी भी अपनी रस्म बखूबी निभा रहा—माल दबा, कीमतें बढ़ा दीं, सड़ा अनाज बेचना शुरू कर दिया होगा। उसकी अपनी नैतिकता है। यह उतराती लाशें इकट्ठा करके कहेगा—यह खाइए साहब। निहायत लजीज। ठंडे पानी में 'फराई' किया हुआ आदमी है। पूड़ी की तरह फूल गया है। बाढ़ की सारी परंपरागत रस्में भी अदा हो रही हैं।

नफरत की राजनीति

गांधी जयंती पर जितना झूठ बोला जाता है, उतना कुल मिलाकर साल-भर में नहीं बोला जाता। दूसरे दिन झूठ बोलने में थोड़ा खटका लगता है। 2 अक्तूबर को बेखटके झूठ बोला जाता है। 2 अक्तूबर को असत्य-पर्व के रूप में मनाना चाहिए। विनोबा अगर प्रस्ताव करें तो यह सरकार भी, जो उनके प्रतिद्वंद्वी पटनावासी 'बाबा' की है, इस दिन को 'असत्य पर्व' घोषित कर देगी।

इस गांधी जयंती को भी सब झूठ बोले। दो गाँधीवादियों—जे.पी. और जे.बी. (बिस्किटवाले नहीं) के असत्य से बने प्रधानमंत्री, दूसरे के बेटे की जाँच करानेवाले और अपने को बचानेवाले सत्यनिष्ठ प्रधानमंत्री से लेकर 1977 के चुनाव के गर्देराह होकर भी 'आँधी' के साथ होनेवाले विधायक तक ने झूठ बोला। मुख्यमंत्रियों ने झूठ बोला। वे सिद्धांत घोषित किए जिनमें उनका विश्वास नहीं है। मंत्री भी झूठ बोले। छल, फरेब, झूठ, झूठे वादे, पाखंड, मिथ्याचार से पूर्ण यह 'असत्य-पर्व' मना लिया गया।

राजघाट पर प्रार्थना झूठी, सूत कातना झूठा, प्रधानमंत्री के संदेश झूठे, अखबारों को दिए गए वे इंटरव्यू झूठे, जिनमें मोरारजी भाई यह जरूर कहते हैं कि मैंने गांधीजी को सलाह दी थी कि वे स्त्रियों के कंधों पर हाथ रखकर न चला करें। बेचारे गांधीजी को आखिर मोरारजी ने डाँट ही दिया। उधर अमरीका में अटलबिहारी गांधी जयंती को झूठ बोले। वे राष्ट्रीय असत्य का विदेश विभाग सँभालते हैं। उन्होंने कहा कि राष्ट्रसंघ की विषयसूची देख लीजिए, इनमें शांति निःशस्त्रीकरण, जातिभेद-विरोध आदि विषय हैं। ये गांधीजी की देन हैं।

दो साल पहले तक अटलबिहारी एटम बम बनाने की माँग करते थे। उनका जीवन मुसलमानों को नंबर दो का आदमी, राष्ट्रद्रोही और विदेशी मानते बीता है।

नफरत की राजनीति से इतने ऊँचे चढ़े वाजपेयी अब जाति-भेद, नस्लभेद के खिलाफ हो गए हैं। वे नए गांधीवादी हैं, पर हम उनकी बात नहीं मानेंगे। वे इतना कर दें कि जिन सरसंघ चालक देवरस के सामने वे पद्मासन में फर्श पर बैठते हैं, उनसे एक बार—सिर्फ एक बार, गांधीजी को सार्वजनिक रूप से 'राष्ट्रपिता' कहलवा दें। वे नहीं कहेंगे। कहेंगे तो स्वयंसेवक पूछेंगे कि इतने सालों तक हमें क्यों सिखाते रहे कि गांधी हिंदू राष्ट्र का शत्रु था, वह मुसलमानों का पक्षधर था, राष्ट्रद्रोही था, अब उसे 'राष्ट्रपिता' क्यों कहते हो?

इतना झूठ! आइंस्टाइन ने प्रतिपादित किया था कि 'इनर्जी' (ऊर्जा) में वजन होता है। बिजली के करंट में वजन होता है, तो झूठ में भी वजन होता होगा।

वैज्ञानिक गांधी-जयंती के झूठ को तौलें। कई टन वजन का झूठ होगा। यह हमारी राष्ट्रीय संपत्ति है। इस धनझूठ में ऊर्जा भी होगी। वे एटम वैज्ञानिक जिन्हें मोरारजी ने अमरीका को खुश करने के लिए बेकार कर दिया है, इस टनों झूठ में से ऊर्जा पैदा करें। हमारे पास अब झूठ ही पूँजी है। झूठ कच्चा माल है, झूठ का कारखाना है, मशीनें हैं और

उत्पादन भी झूठ का है।

इस गांधी जयंती पर कई राष्ट्रीय कार्यक्रम शुरू हुए। प्रौढ़ शिक्षा की बात मैं बाद में करूँगा, अभी 'अंत्योदय' नाम के रहस्यमय अजूबा कार्यक्रम की, जो चल तो पहले से रहा है, पर गांधी जयंती को इसका चरम-बिंदु आ गया।

सर्वोदय के बाद अंत्योदय दूसरा धोखा है—इस देश के गरीबों के साथ। धोखों का आविष्कार करने में यह देश बहुत आगे है। विश्व औद्योगिक मेलों में अगर धोखे भी भेजे जाएँ तो पहला इनाम मिल जाए।

गांधी जयंती को एक कमाल हुआ। फोर्ड फाउंडेशन के साहब जार्ज बंडी ने भैरोंसिंह शेखावत के सामने अंत्योदय कार्यक्रम के अंतर्गत गरीब ग्रामीणों को कर्ज बाँटे और ग्रामीणों ने बंडी साहब के चरण छुए। भैरोंसिंह का भैरव न जाने कहाँ चला गया था जो अपने देशवासियों को एक विदेशी पूँजीवाले के चरणों पर डाल रहे थे। भैरोंसिंह जनसंघी हैं, जहाँ राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रगौरव, राष्ट्रवाद का बड़ा हल्ला है।

या शेखावत के राष्ट्रगौरव की यही ट्रेनिंग है कि जिस गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को खत्म किया उसी के जन्मदिन पर डालर साम्राज्यवाद के सामने सिर झुका रहे थे। इतने साल के भगवा ध्वज-प्रणाम का यही नतीजा कि अमरीका को प्रणाम करने लगे। शेखावत को क्या पता नहीं है कि खुद अमरीकियों ने यह तथ्य खोला है कि फोर्ड फाउंडेशन के मारफत सी.आई.ए. षड्यंत्र करती है।

बड़ा कार्यक्रम चालू हुआ है—राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा का। पाँच साल में पाँच सौ करोड़ का। यह हो जाए तो बहुत अच्छा है। स्वागत योग्य है, पर इसमें होगा क्या? जो शिक्षा चल रही है, उसका यह हाल है कि पुलिस शहर में चोर भी पकड़ती है और विश्वविद्यालयों में परीक्षा भी कराती है, बड़े-बड़े लोग रेडियो पर बोलते हैं, भाषण देते हैं कि शिक्षा से चरित्र का निर्माण होता है। सुनकर, सोचता हूँ कि फिर इस शिक्षा ने बोलनेवाले को चरित्रहीन क्यों बना दिया?

ये राजनैतिक पदों, शासकीय पदों पर आसीन लोग, खाते-पीते सुखी लोग कहते हैं—शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपार्जन या नौकरी पाना नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को चरित्रवान बनाना है—याने हमें इस शिक्षा से चरित्रवान बेकार, चरित्रवान भुखमरे, चरित्रवान चोर, चरित्रवान जेबकतरे मिलेंगे, चरित्रवान जीविका कमानेवाला नहीं मिलेगा। यही शिक्षा का सही उद्देश्य है।

यह सही लगता है कि भारत में मोरारजी भाई ने प्रौढ़ शिक्षा के दो-ढाई करोड़ रुपए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को देकर देवरसजी से सौदा कर लिया है कि उन्हें प्रधानमंत्री बनाए रखा जाएगा। मोरारजी का सत्य, ईश्वर, राष्ट्रहित तो केवल पद है, वे गांधी के नाम पर उसी विकृत राष्ट्रघाती विचारधारा से सौदा करते हैं, जिसने गांधी को मारा।

असल में मोरारजी भाई की एक महत्वाकांक्षा यह भी है कि वे जब स्वर्ग सिधारें तब राजकीय सम्मान के साथ। जिसे राजकीय सम्मान से दफन होना है, वह कुछ भी कर

सकता है। उनका शव तोपगाड़ी पर चले, जुलूस को, सलामी दी जाए, शोक धुन हो और झंडा झुके, यही वे चाहते हैं। देवरस ने उनसे कह दिया कि हमारी बात मानते जाओ तो हम तुम्हारी राजकीय अंत्येष्टि करा देंगे।

मोरारजी का संघ से यह समझौता म्यूनिख-समझौता जैसा है। मोरारजी क़ी इच्छा चेंबरलेन होने की है। वे चेंबरलेन-जैसा एक छाता हाथ में रखा करें। 1938 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री नेविल चेंबरलेन ने नाजियों से अत्यंत अनैतिक, बेईमानी और मूर्खतापूर्ण म्यूनिख-समझौता किया था। इसी समझौते के बाद हिटलर ने विश्वयुद्ध छेड़ा था। म्यूनिख-समझौता समाजवादी रूस के खिलाफ था।

दिल्ली का यह समझौता देश की जनतंत्री और वामपंथी ताकतों के खिलाफ है। म्यूनिख-समझौते ने यूरोपीय फासिस्टों को बढ़ाया, दिल्ली-समझौता भारतीय फासिस्टों को बढ़ाएगा। म्यूनिख-समझौते ने विश्व-युद्ध कराया, जबकि दिल्ली का यह समझौता गृह-युद्ध कराएगा। मोरारजी चेंबरलेन की तरह ही काला मुँह करके इतिहास में जाना चाहते हैं, तो उन्हें कौन रोक सकता है?

बेमिसाल

मोरारजी का अपना अलग सत्य है, बिलकुल व्यक्तिगत—तभी वे अलीगढ़ के विकट दंगे के बाद जनता पार्टी के कार्यकर्ताओं से अहमदाबाद में कहते हैं कि तुम लोग जनता के बीच जाओ और लोगों को समझाओ कि देश में शांति और व्यवस्था की स्थिति अच्छी है। मेरी सलाह है कि जनता पार्टीवाले लोगों को यह समझाने जाएँ तो साथ पुलिस ले जाएँ, वरना वहीं शांति और व्यवस्था भंग हो जाएगी, लोग जूते मारने लगेंगे। ये पुलिस से घिरे नेता लोगों से कहें—भाइयो, आज देश में शांति और व्यवस्था की स्थिति बहुत अच्छी है। इसका यही सबूत देख लो कि तुमसे यह बात कहने के लिए भी हमें पुलिस-संरक्षण की जरूरत पड़ी।

बहुत अच्छी स्थिति है। मोरारजी, लोगों को जैसा नैतिकतावादी और पवित्र बनाना चाहते हैं वैसे वे बन रहे हैं—गुंडों, अपराधियों, उठाईगीरों के डर से नारियाँ शीलवती हो रही हैं। वे घर से बाहर शाम के बाद नहीं निकलतीं। वे फिल्में भी इस डर से नहीं देखतीं कि उन्हें खलनायक उठा ले जाएगा। बदचलन स्त्रियाँ पतिव्रता हो गई हैं, वे गुंडों के डर से अब प्रेमी से मिलने नहीं जातीं।

लोभ और मोह भी छूट रहा है। स्त्रियाँ चेन नहीं पहनतीं और पुरुष अँगूठी नहीं पहनते। मेरे घर शाम को आनेवाले एक मित्र तो घड़ी बाँधकर भी नहीं आते। लोग जेब में पैसे लेकर नहीं चलते। लड़कियाँ स्कूल-कॉलेज नहीं जाएँगी और आगे चलकर प्रौढ़ शिक्षा

योजना को सफल बनाएँगी। आदमी एकदम ऊँचा उठ गया है—'मोरारजी भाई!'

अलीगढ़ में जो हुआ, वह दो संपद्रायों में दंगा नहीं था। यह मुसलमानों पर आर.एस.एस. का हमला था—मंत्रिमंडल और पुलिस के संरक्षण में हुआ गृहयुद्ध था। इसे थोड़ा पहले होना था।

दिल्ली में रंगभेद, नस्लवाद और जातिवाद के खिलाफ एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था। अभी जिस दिन दिल्ली में यह सम्मेलन शुरू हुआ, उसी दिन अगर ये राष्ट्रवादी और सांस्कृतिक लोग अपना मुँह अलीगढ़ में काला कर लेते, तो राष्ट्रपति से इस सम्मेलन का उद्‌घाटन कराने की जरूरत नहीं पड़ती। ये लोग खुद सम्मेलन में जाकर कह सकते थे—हगने अलीगढ़ में सांस्कृतिक विधि से आपके सम्मेलन का उद्‌घाटन कर दिया है, अब आपको राजघाट जाने की भी जरूरत नहीं है। राजघाट में जिसकी समाधि है, उसे हमने ही इसलिए ठिकाने लगा दिया था कि वह कहता था कि मनुष्य सब एक हैं।

अलीगढ़ में अब शांति है! दंगों में शांति स्थापना का भी तरीका बन गया है। दंगाइयों को जिन्हें मारना है, उन्हें पुलिस खुद मार डालती है और कहती है—लो, तुम्हारा काम हमने कर दिया, अब तुम शांत हो जाओ। घर और जलाना हो तो जरा कर्फ्यू लग जाने दो। बलात्कार भी कर्फ्यू में ही कर लेना। कर्फ्यू में ये सब काम बड़े अच्छे ढंग से हो जाते हैं और शोर भी नहीं होता। लूटमार में पुलिस को हिस्सा भी मिल जाता है। मरघट में जब चिताएँ और राख ही है तो शांति अपने आप हो जाती है।

सब लोग कुछ भी चिल्लाएँ, एक स्वर से कहें कि आर.एस.एस. ने दंगा कराया, मगर किसी संघी पर कार्यवाही नहीं होगी।

संघ रामनरेश सरकार में हिस्सेदार है। अगर रामनरेश यादव को अपनी सरकार बनाए रखना है, तो संघ को मुसलमानों, हरिजनों, भूमिहीनों पर हमले करने देने होंगे। वे कितने भी आदमी मार डालें, घर जला दें, लूट लें, जमीन पर कब्जा कर लें, रामनरेश या कर्पूरी ठाकुर उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इन दोनों भूतपूर्व समाजवादियों को राज्य के आधे मुसलमानों और हरिजनों के खून के बदले मुख्यमंत्री पद स्वीकार है।

जिन उत्तर भारत राज्यों में संघ के मुख्यमंत्री हैं, वहाँ तो मुख्यमंत्री खुद मकान में आग लगाकर दंगे का उद्‌घाटन कर सकते हैं। मोरारजी भाई भी कुछ नहीं कर सकते। वे इसी शर्त पर प्रधानमंत्री हैं कि संघ को मनमानी करने दें।

अलीगढ़ का दंगा हिंदू-मुस्लिम दंगा नहीं था। जिस जगह दंगा हुआ वहाँ के मुसलमानों को भगाकर, उनकी जमीन का कब्जा करके वहाँ संघी सेठों की दूकानें या कारखाने खुलने हैं अथवा अटारियाँ खड़ी होनी हैं। यही हिंदू धर्म और संस्कृति के नारे का सही प्रयोजन है।

इंदौर में जब भारत केसरी चदगीराम आए थे तब झूठी अफवाह इन्हीं संघियों ने उड़ाई कि चंदगीराम पर मुसलमानों ने अमुक बाजार में एसिड बल्ब फेंक दिया। उस बाजार पर हमला हो गया। बाजार में मुसलमानों की दूकानों की कतारें थीं। इन मुसलमानों को

भगाकर वहाँ संघियों और उनके साथिय। की दूकानें जो जमानी थीं।

अभी मुझे एक श्रमिक नेता बता रहे थे। एक मुसलमान का बीड़ी उद्योग है। बीड़ी मजदूर भी मुसलमान हैं, क्योंकि वह मुहल्ला ही मुसलमानों का है। मजदूरों ने मजदूरी बढ़ाने के लिए आंदोलन किय। । जब उनका जुलूस मुसलमान उद्योगपति के महल के सामने पहुँचा तो जानते हैं, भीतर से कौन निकले? राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोग। उन्होंने हिंदू-मुसलमान दंगा कराकर आंदोलन को नष्ट करने की कोशिश भी की, याने हिंदू जाति, धर्म और संस्कृति ये रक्षक भाड़े पर मुसलमान उद्योगपति की तरफ से भी दंगा करा सकते हैं। इन्हें ईरान का शाह भी जन-आंदोलन कुचलने के लिए भाड़े पर ले सकता है और जेयरसे मोबुतू भाड़े पर बुलाएँ तो वहाँ भी चले जाएँगे। हिंदू जाति के सबसे बड़े दुश्मन यही हैं, जैसे मुसलमानों के दुश्मन जमायते-इस्लामीवाले।

दोनों का लोकतंत्र पर भी विश्वास नहीं है, इसीलिए दोनों में कोई झगड़ा नहीं है। इन मामलों में अटलबिहारी वाजपेयी की उदार बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस दिन अटलबिहारी संघ के हाई कमान से मतभेद रखने लगेंगे, उसी दिन उनके नाम से 'शोध-संस्थान' खोल दिया जाएगा। इस बात को अटलबिहारी जानते हैं।

जनता पार्टी के संसद सदस्य रामसिंह ने कहा है कि आर.एस.एस. का संबंध सी.आंई.ए. से है। बहुत-से जानकार कहते हैं। अमरीकी राजदूत गोहीन भी मानते हैं कि भारत में सी.आई.ए. का जाल है। सी.आई.ए. का एक बड़ा जासूस स्मिथ भारत में था, वह बाद में रूस चला गया। उसने भारत में सी.आई.ए. की हरकतों का पर्दाफाश किया है। उसने लिखा है कि 1966 का गोरक्षा आंदोलन सी.आई.ए. ने कराया था। हमें याद है, आर.एस.एस. ने साधुओं को लेकर संसद पर हमला किया था। वहाँ अटलबिहारी वाजपेयी ने भाषण किया, गोली चली थी। कई लोग मारे गए। संघियों ने कामराज को मार डालने की कोशिश भी की थी।

यह सब सी.आई.ए. ने कराया था। स्मिथ की बात झूठ नहीं हो सकती, क्योंकि उसके बताए कई भारतीय एजेंटों पर कार्यवाही हो चुकी है और वे जेल में हैं।

एक बड़ा सवाल खड़ा होता है। पहले तो संघ विपक्ष में था, अब राजसत्ता में है। एक तरह से राजसत्ता पर उसी का ही कंट्रोल है।

अगर संघ के सी.आई. ए. से अब भी संबंध हैं और सी.आई.ए. के निर्देश चल रहे हैं, तो क्या भारत सचमुच प्रभुसत्तासंपन्न राष्ट्र है? वियतनाम, चिली, ईरान आदि की तरह ये न जाने कब इस देश में अमरीका को बुला लेंगे। इनके शासन में रहते क्या वास्तव में भारत एक प्रभुसत्तासंपन्न राष्ट्र रह गया है?

राजनीतिक गाँजा

इधर एक बनवारीलाल कई साल रहे। मैं उन्हें जानता था। एक दिन अचानक उन्होंने संन्यास ले लिया। गेरुए वस्त्र धारण किए और एक मंदिर में डेरा डाल दिया। भजन, पूजन, आरती, रामधुन में बनवारी लीन हो गए। एक दिन सुना कि बनवारी गिरफ्तार हो गए। वे मंदिर के अहाते में गाँजे की खेती करने लगे थे। बनवारी जमानत पर छूटे तो मैंने कहा—बनवारी, यह क्या सुनते हैं? उसने कहा—आपने ठीक ही सुना है—भैया।

मैंने पूछा—तो संन्यास लेने के बाद तुम्हें गाँजा उगाने की प्रेरणा हुई। बनवारी ने जवाव दिया—भैया, सच बात यह है कि मैं गाँजा उगाने के लिए ही संन्यासी हुआ था। पहले भी यह गाँजा, चरस का काम चोरी-छिपे करता था। सोचा, संन्यासी बनने से यह काम और अच्छा होगा। पर भैया देखो, धर्म का तो इस देश में नाश हो गया। पुलिस संन्यासियों को पकड़ने लगी है।

जब कोई राजनीतिक संन्यास लेने की घोषणा करता है, तब मुझे अपने इस बनवारी की याद आती है। सोचता हूँ, अब यह राजनीति का गाँजा मंदिर में बेखटके उगाएगा। राजनीति से संन्यास, उससे बड़ी राजनीति करने के लिए लिया जाता है।

दस गरीबों को दाना बाँटा जाता है, हजारों गरीबों को लूटने के लिए भभूत रमाकर नदी के किनारे बैठा साधु नहाती हुई स्त्रियों को देखता है। धूनी लगाए हुए महात्मा डाकुओं को पुलिस की हलचल की जानकारी देते हैं। बम भोले के नाद के साथ अग्नि तपते साधु की धूनी में चोरी का सोना गलाया जाता है। बड़े-बड़े काम होते हैं संन्यास से।

अभी राजनीति से संन्यास नानाजी देशमुख ने लिया है। वे पटना गए। तामझाम, टीम-टाम, प्रचार, जयप्रकाश-आशीष के साथ राजनीति से संन्यास लेने की घोषणा कर दी; साथ ही कह दिया—खबरदार, मुझे मनाने की कोशिश मत करना। मैं अपना निर्णय बदलूँगा नहीं। राजनीति का पिंडदान गया में नहीं, कदमकुआँ पटना में होता है, जहाँ बार-बार राजनीति का पिंडदान करके उसे फिर जीवित कर लेनेवाले जयप्रकाश विराजते हैं।

नानाजी ने जयप्रकाश के आंदोलन का भी बारीकी से अध्ययन किया है। उसकी विशेषताएँ और कमजोरियाँ दोनों वे जानते हैं। वे जानते हैं कि जयप्रकाश ने युवकों के उठाईगीरापन को क्रांति कैसे बनाया था। वे यह कमजोरी भी जानते हैं कि उठाईगीरापन को जयप्रकाश संगठित नहीं कर सके थे, नानाजी कर सकते हैं।

नानाजी अभी तक तो वह हाथ दिखाते रहे हैं, जो वे कहते हैं, जयप्रकाश की पुलिस-लाठी से रक्षा करते हुए उन्होंने तुड़वाया था। यों तो सी.आई.डी. का आदमी जयप्रकाश की रक्षा के लिए तैनात था। उसका कहना है कि उसने पुलिसवाले को पिस्तौल दिखाकर जयप्रकाश को बचाया था और नानाजी वहाँ थे ही नहीं। तो हाथ कैसे, कहाँ टूटा? लोगों के हाथ-पाँव और कर्मों में भी टूटते हैं, पर नानाजी की बुजुर्गी देखते हुए ऐसी कोई कल्पना मुझ-जैसा दुष्ट आदमी भी नहीं कर सकता।

राजनीति से संन्यास, निराशा में जयप्रकाश ने भी बहुत पहले ले लिया था, फिर भी वे लोहिया गुट को हटाने के लिए पार्टी के नागपुर अधिवेशन में चले गए थे। वे बार-बार राजनीति के बाहर-भीतर होते रहे हैं। राजनीति ने उन्हें नहीं छोड़ा।

राँड तो धरम निभा ले, पर रँडुए निभाने दें तब तो। संन्यास मोरारजी भाई को भी जबरदस्ती दिलाया जा चुका है। वे 'कामराज' योजना के तहत मंत्रिमंडल से निकले। मोरारजी कामराजित हुए थे, कोई 'का़मपराजित' न समझ ले।

अटलबिहारी वाजपेयी ने भी साल-भर पहले मंत्रिमंडल से तीन महीने में निकलने की घोषणा की थी। लोगों के दिल बैठे जाते थे कि साजन ने अब 'जोग' लिया, अब लिया। हर तीन महीने बीतने पर हम कलेजे को पत्थर करने लगते थे, पर अटलबिहारी सोचते हैं कि मैं छोड़ तो दूँ, पर उसके बाद जो तूफान उठेगा, उसे कौन सँभालेगा?

लोग अटकल लगाते हैं कि नानाजी ने राजनीति से संन्यास क्यों लिया? क्या निराशा में 'नारि मुई घर सम्पत नासी, मूँड़ मुँड़ाय भये संन्यासी'। पर नानाजी के न नारी है न घर, सम्पत्ति दीनदयाल शोध संस्थान है, जहाँ इस ज्ञान का शोध कराते हैं कि पूरी जाति को अज्ञानी कैसे रखा जा सकता है। विफलाशा में भी उन्होंने संन्यास नहीं लिया, क्योंकि संघ के राजनैतिक हौसले बहुत बुलंद हैं। तो क्या हृदय-परिवर्तन हो गया? पर संघ के स्वयंसेवक का हृदय-परिवर्तन नहीं होता। विचार-परिवर्तन का सवाल नहीं उठता, क्योंकि उसकी विचार करने की मशीन पहले ही निकाल ली जाती है। फिर क्या नानाजी का संघ की हाईकमान में अवमूल्यन हो गया है? क्या उनका 'मधोकीकरण' कर दिया गया?

बलराज मधोक जनसंघ के अध्यक्ष के रूप में भारतीयों का फिर से भारतीयकरण करने में लगे थे, याने दूध को पानी से धोकर शुद्ध कर रहे थे कि उन्हीं का 'मधोकीकरण' कर दिया गया। मधोक ने अलग लोकतांत्रिक जनसंघ बनाया जिसने यह सिद्ध किया कि जिसके वे अध्यक्ष रहे, वह जनसंघ लोकतांत्रिक नहीं है। नहीं, नानाजी का 'मधोकीकरण' नहीं हुआ। फिर क्या हुआ?

संन्यास लेनेवाला राजनीतिक उस साधु की तरह है जो सुबह से ईश्वर-चिंतन के बहाने भोजन-चिंतन करता है, दोपहर को माल खाकर शाम तक ईश्वर-चिंतन के बहाने नारी-चिंतन करता है और अँधेरा होने पर किसी भक्तिन के घर में घुस जाता है।

मुझे फिर अपने उस बनवारी की याद आती है जिसने संन्यास लेकर गाँजे की खेती शुरू कर दी थी। मुझे एक दूसरे संन्यासी का स्मरण होता है, जो भभूत में पर्गोलेक्स मिलाकर लोगों को बाँटता था और उनके पेट साफ होने पर अपनी तपस्या के प्रताप के पैसे वसूलता था। मुझे उस संन्यासी की भी याद आती है, जो किसी घर में चिमटा गाड़कर उसे खाली कराकर दूसरे को कब्जा दिला देता है। एक संन्यासी अभी पकड़ा गया है, जो धर्मपुत्रियों को बकरी की तरह बेचता है।

राजनीति से संन्यास उससे बड़ी राजनीति करने के लिए ही तो लिया जाता है। नानाजी कहते हैं कि वे अब समाज-कल्याण करेंगे। राजनीति की जिसमें छूत न लगे

ऐसा समाज-कल्याण कौन-सा होगा? क्या वे लोगों से समाधि लगवाएँगे? लोगों को अनहद नाद सुनवाएँगे? 'प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो' गवाएँगे? 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' गवाएँगे?

वे कहते हैं, मैं सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए कार्य करूँगा। राजनीति से बिलकुल अछूता सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन कैसा होता है, मैं तो नहीं जानता। नानाजी जानते होंगे।

नानाजी कहते हैं—मैं युवकों को संगठित करके सामाजिक क्रांति करवाऊँगा, पर युवकों से जयप्रकाश पहले ही संपूर्ण क्रांति करा चुके, अब क्रांति बची कहाँ जो आप कराएँगे? और नानाजी, युवक नाम की कोई जाति होती है क्या? जैसे ब्राह्मण या चमार होते हैं? क्या पीढ़ी कोई राजनैतिक दल होती है?

अरे, एक ही पीढ़ी के तो डाँगे और देवरस हैं। कौन-से युवकों से नानाजी क्रांति कराएँगे? बहुत-से युवक साम्यवादी हैं? क्या इन्हें नानाजी क्रांतिवाहिनी में शामिल करेंगे? और सभाजवादी युवकों को, वामपंथी विचारवाले युवकों को, प्रगतिशील युवकों को! यह अधर्म नानाजी नहीं करा सकते। ये सब चांडाल हैं। इनके स्पर्श से पवित्र क्रांति की ऊँची जाति चली जाएगी।

तो फिर कौन युवक बचे? वही 'नमस्ते सदावत्सले मातृभूमे' वाले, यानी नानाजी संघ का संगठन और शक्ति बढ़ाने में लगेंगे। 1982 में दिल्ली पर कब्जा करना है।

दूसरा काम संन्यासी को और करना है। 6 अरब रुपया प्रौढ़ शिक्षा में खर्च होगा। उत्तर भारत में जनसंघ की या तो सरकार है या वह सरकार में शामिल है, तो प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रम के पैसे से नानाजी संघ को फैलाएँगे। यह संन्यास है।

अब जनता पार्टीवाले तो संन्यासी से बेवकूफ नहीं बनेंगे। वे सब चाल जानते हैं। कांग्रेसी भी जानते हैं, कम्युनिस्ट भी जानते हैं। रहे हम सामान्य भारतीय जन। तो नानाजी, हम तो बेवकूफ बनने को तैयार हैं, बनाइए!

मायाविनी! मायाविनी! बनवारी तुम कहाँ हो—भैया! मंदिर के बगीचे में गाँजे के नए पौधे लग रहे हैं, मेरे भाई।

◆

तुसी हुकुम करो जी !

पवनारवाले बाबा ने ताली बजाई! पटनावाले बाबा ने मौन धारण कर लिया!

जबलपुरवाला यह बाबा न पहले बोला, न बाद में।

जब जयप्रकाश ने चिकमगलूर चुनाव पर अपील जारी की, तब कुछ लोगों ने मुझसे कहा कि तुम भी बोलो। मैंने जवाब दिया—भई, बात यह है कि मैं बोल तो दूँ, पर उसके

बाद जो तूफान खड़ा होगा, उसे कौन सँभालेगा? जवाहरलाल नेहरू तो रहे नहीं, जो सँभाल लेते। उन लोगों ने मुझे मूर्ख अहंकारी समझा होगा, पर मौन मूर्ख, मुखर मूर्ख से फिर भी अच्छा होता है। मुखर को बाद में मौन होना पड़ता है।

जो होना था, वह हो गया। जॉर्ज फर्नांडीस अगर चिकमगलूर में मुँह बंद रखते, तो वीरेंद्र पाटिल को लगभग दो हजार वोट और मिलते। जॉर्ज ने तो वीरेंद्र पाटिल की उम्मीदवारी खत्म करके, उन्हें पीछे ढकेलकर, नंदना और उस अभागिन लड़की गायत्री को उम्मीदवार बना दिया था। उसे बेचारी गायत्री के दुखी माता-पिता को अब चैन मिला होगा।

जॉर्ज तो 'गायत्री-ज्योति' निकाल रहे थे। उसके नाम से संस्था खोल रहे थे। ज्योति खत्म हो गई, संस्था भी नहीं खुलेगी, पर लड़की के अध्यापक पिता ने सरकार से जो पाँच हजार रुपए लेने से इनकार कर दिया था, इस नुकसान को जॉर्ज ने पूरा किया या नहीं? लड़की की मृत्यु से सब दुखी थे, मगर जॉर्ज ने कहा होगा—'फाईन! गॉड सेंट!!' चुनावी राजनीति गोबर के पहाड़ की किन ऊँचाइयों तक चढ़ती है!

जॉर्ज कहते हैं कि हार इसलिए हुई कि लोगों को जनता सरकार के कामों की जानकारी नहीं थी। वह तो ठीक ही हुआ। अगर जानकारी हो जाती तो जमानत जब्त हो जाती।

मैं जनता पार्टी नेताओं का आत्मविश्वास और साहस शुरू से देख रहा था, अब भी देख रहा हूँ।

इंदिरा गांधी के जीतने की कोई उम्मीद नहीं है।

—जरा एक गिलास पानी देना।

इंदिरा गांधी कम-से-कम एक लाख मतों से हारेंगी।

—जरा पंखा खोलना।

इंदिरा गांधी के संसद में आने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

—जरा पसीना पोंछ लूँ।

इंदिरा गांधी की जीत से जनता पार्टी पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

—जरा पेय की बोतल देना।

मैंने देखा, सात तारीख की रात से वही लोग मिठाई बाँट रहे थे, रोशनी कर रहे थे, पटाखे छोड़ रहे थे, जिन्होंने 1977 में जनता पार्टी की जीत पर यह सब किया था।

जनता सरकार के बीस महीनों की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि उसने फूल को धूल में, गुलाल को डामर में और जिंदाबाद को मुर्दाबाद में बदल लिया। यही संपूर्ण क्रांति है।

अब बड़बोलापन इंदिरा गांधी के सिवा सब कांग्रेसी कर रहे हैं। बहनजी की शिक्षा बढ़ी है। पहले वे 'म' कहती थीं, अब उन्हें 'हम' कहना भी आ गया।

और जनता पार्टी के नेता कहते हैं—

इंदिरा की जीत तानाशाही प्रवृत्ति की जीत है।

—मगर यह जीत सीमा सुरक्षा बल की मशीनगन से नहीं, मतपेटी से हुई है।

इंदिरा गांधी की जीत लोकतंत्र के लिए शर्म की बात है।

—मगर 'लोक' ने ही तो उन्हें वोट दिए हैं।

वैसे इंदिरा कांग्रेस के बहुत-से नेता जब 'समाजवाद' की बात करते हैं, तो अच्छा मनोरंजन होता है। सी.एम. स्टीफन जब समाजवाद की बात करेंगे तो मनहूस भी हँस देगा। ऐसे ही राजा कर्णसिंह जब चंद्रजीत यादव की बगल में बैठकर समाजवाद की प्रेस कान्फ्रेंस लेते हैं, तब कब्ज का मरीज भी हँस पड़ता है।

कुछ बड़ा उलट-फेर जल्दी तो होता नहीं है। कांग्रेस का भी भला ही होगा, दुविधा मिटेगी। ग्रह-योग ऐसे ही हैं। ए.ओ. ह्यूम द्वारा दरख्वास्तें देने के लिए स्थापित कांग्रेस, जो बाद में लड़ाकू पार्टी हो गई और 1947 तक रही, अद्‌भुत पार्टी है। इसमें ही बाकी सब पार्टियाँ हैं। इसमें गांधीवादी, मार्क्सवादी, समाजवादी, मुस्लिम लीगी, हिंदू महासभाई, अकाली—सब हैं।

पिछले तीस सालों में कांग्रेस-मैन में कुछ आदतें पड़ गई हैं। पहली आदत है—सत्ता में या सत्ता के पास या सत्ता में शामिल रहना। इसके बिना उसकी हालत जल बिन मछली की हो जाती है। कांग्रेसी को मंत्री, संसद-सदस्य, विधायक होना चाहिए; मेयर, नगरपालिका और जनपद-अध्यक्ष होना चाहिए; कमीशनों बोर्डों, कार्पोरेशनों वगैरह का अध्यक्ष होना चाहिए। फिर जो कांग्रेसी बचा वह 'रचनात्मक' कार्य करता रहा है।

रचनात्मक कार्य यानी लोगों को लाइसेंस, परमिट दिलाना, उनके तबादले कराना, उनकी नियुक्ति कराना, कभी-कभी उनकी जमानत कराना, केस उठवाना, सार्वजनिक जमीन पर कब्जा करवाना, तस्करियों, जुआड़ियों को सुरक्षा प्रदान करना वगैरह। ये सब 'रचनात्मक कार्य' ही तो है।

दूसरी आदत है—उसे एक नेता चाहिए, जो फैसले ले और हुक्म दे। उसकी जय बाकी कांग्रेसी बोलें और वोट पाएँ। पहले ऐसे नेता जवाहरलाल नेहरू थे, बाद में इंदिरा गांधी हुईं।

इस समय एक कांग्रेस में हुक्म देनेवाला नहीं है और दूसरी कांग्रेस में हुक्म ही हुक्म है। यही कांग्रेस का संकट है। सरदार स्वर्णसिंह से कहा जाता है कि आप अध्यक्ष हैं, फैसला लीजिए और हुक्म दीजिए, तभी स्वर्णसिंह को याद आ जाता है कि अमरीका में उनकी लड़की और दामाद हैं, जिन्हें अरसे से नहीं देखा। जिन्होंने तीस साल 'तुसी हुकुम करो जी' किया है, उनसे अब खुद हुक्म करते नहीं बनता। कांग्रेस के इन नेताओं ने कभी फैसले नहीं किए, कभी हुक्म नहीं दिया।

जवाहरलाल तो पूछ लेते थे—इस बारे में आपका क्या खयाल है? इंदिराजी ने सोचा कि पापू फालतू पूछते थे। इनका कोई खयाल हो तो पूछा जाए। इनका तो खयाल ही नहीं है। कांग्रेसी नेता को सत्ता से हर हालत में चिपके रहना था। वह जानता था, नेहरू के बाद इंदिरा उसे सत्ता से चिपकाए रखेंगी। तो उससे पूछो या मत पूछो, वह जय बोलेगा

और हाथ जोड़कर कहेगा–‘तुसी हुकुम करो जी!’

इंदिराजी ने एक और कमाल किया। उन्होंने जिले के नेता की तरफ देखा, वह धन्य हुआ। देवी का कृपा-कटाक्ष पड़ा।

यशवंतराव चव्हाण कहते हैं–इंदिराजी को सहयोगी नहीं, अरदली चाहिए। मगर आप जैसे इतने बड़े-बड़े नेता क्या अनाथालय के बच्चे थे, जिन्हें पकड़कर अरदली बना दिया गया? वे अरदली क्यों बना सकीं? और आप क्यों अरदली बने रहे? अनाथालय से निकले लड़के से पूछो कि ‘तू अरदली क्यों बना?’ तो वह कहेगा--पेट के लिए। इन नेताओं से पूछो कि तुम अरदली क्यों बने रहे, तो ये कहेंगे, सत्ता के लिए।

चव्हाण ने यह बात 1977 में तब कही, जब मुगल सल्तनत टूट चुकी थी और जो जहाँ था, वहीं का नवाब बन गया था। चव्हाण महाराष्ट्र के नवाब बनते-बनते सतारा जिले के भी नहीं रहे।

इंदिराजी ने कहा–तुम जिले में क्यों पड़े हो, तुम तो ‘आल इंडिया’ नेता होने के काबिल हो, तो ये जिला-स्तर के लोग दिल्ली पहुँच गए। इंदिराजी इनसे पूछती थीं–क्यों जी, क्या यह सही है कि सूर्य के उगने पर सुबह होता है? ये जवाब देते–नहीं मैडम, सही यह है कि जब आप कहती हैं, तब सुबह होती है। अगर आप न कहें, तो हजार सूरज भी सुबह नहीं ला सकते। इन्हीं में एक कवि थे, देवकांत बरूआ, जो कहते थे–इंदिरा इज इंडिया !

मगर तब क्या होता अगर कांग्रेस 1977 में जीत जाती? चव्हाण अरदली ही बने रहते। खुशी-खुशी बने रहते। चौकस रहते कि मैडम कहीं अरदली बदल न दें। इंदिरा जी कहतीं–जरा राजीव के बच्चे को पार्क में घुमा लाओ, तो चव्हाण बच्चे को पार्क घुमाने चल देते!

कांग्रेसी को उलझन नहीं है। वह सीधा साफ सोचता है। वह तो सत्ता के पास खिसकेगा रेंगता हुआ, अभी देख रहा है। बाकी कांग्रेसी नेता के पास आएँगे, तीस साल से आदत पड़ी है–‘तुसी हुकुम करो जी!’ बाकी बचे समाजवादी–तो तीसरा मोर्चा!

समाजवादी छवि

साथी चंद्रशेखर!

तुम मुझे भूल गए होंगे। मैं भी अपना नाम तुम्हें नहीं बताता। हम दोनों आचार्य नरेंद्रदेव के चेले थे। उन्होंने हमें समाजवाद सिखाया था। मुझे तब पता नहीं था कि तुम्हें, प्रिय चेला होने के कारण, उन्होंने अलग से अपने गुरु के नाम पर बट्टा लगाना भी सिखा दिया था, जो तुम अब कर रहे हो। खैर! हम दोनों ने साथ-साथ ‘प्रजा समाजवाद’ किया।

प्रजा समाजवाद का सिद्धांत था—कांग्रेस में घुसने का रास्ता खोज़ना। पहले अशोक मेहता ने रास्ता खोजा और कांग्रेस में घुस गए। उनकी सीनियर दाढ़ी से अपनी जूनियर दाढ़ी अटकाकर तुम भी घुस गए। फिर तुमने रास्ता बंद कर दिया और मैं नहीं घुस सका। मैंने निराशा में जयप्रकाश नारायण की तरह राजनीति ही छोड़ दी। वे अखबारों में बयान देने लगे और मैं गुमनाम चिट्ठियाँ लिखने लगा। इसी सिलसिले में यह चिट्ठी है। मुझे आशा है गुमनामी में से कोई सूरत निकलेगी और मैं कम-से-कम अपनी तहसील का 'लोकनायक' तो हो ही जाऊँगा।

मेरे युवा तुर्क! इन दिनों तुम्हें दो चिंताएँ हैं—पार्टी की छवि सुधारना और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को बचाना। प्यारे, ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। संघ बचता है, तो पार्टी की छवि बिगड़ती है। पार्टी की छवि सुधारने का मतलब है, संघ से तुम्हारा संबंध टूटना। तुम दोनों असंभवों को साधना चाहते हो। तुम दूध में खटाई भी डालते हो और चाहते हो कि दूध फटे भी नहीं। यह सर्कस भी तुम कर देखो, हाथ-पाँव मत तोड़ लेना।

साथी! तुम्हें जनता पार्टी की छवि की क्यों पड़ी है। जब कोई जनता पार्टी की छवि बनाने की बात करता है, तब मुझे ऐसी बदचलन औरत की याद आती है, जो सिंदूर से जोरदार माँग भरकर पतिव्रता दिखना चाहती है। वह चरित्र नहीं सुधारती, छवि सुधारना चाहती है। वह माँग भरकर यारों की तलाश करती है।

प्यारे! तुम्हारी पार्टी एक प्रकृति-वैचित्र्य है—'फ्रीक ऑफ नेचर'! सब भगवान की गाथा है। भगवान कभी-कभी दो मुँह का बच्चा पैदा कर देता है। तुम्हारी इस पार्टी को भगवान ने ऐसा पैदा किया है, जैसे किसी के तीन कान हों, तीन नाक हों और आँखें तलुए में हों। अब इसकी छवि तुम किस सर्जरी और सौंदर्य प्रसाधन से बनाओगे? मेरे यार ! ऐंचकताना की आँख में सुरमा लगाने से छवि नहीं बनती, फिर यह पार्टी तो कैंसर से पीड़ित बिस्तर पर पड़ी कराह रही है और तुम उसके चेहरे पर स्नो-पाउडर मलकर चाहते हो कि कोई उस पर मुग्ध होकर शादी कर ले! ना, जो पार्टी बूढ़ी ही जन्मी है, और जन्म से बीमार है, तुम चाहते हो वह जवान छोकरी की तरह नखरे करे। वह कितनी भद्दी लगेगी। बुढ़िया के मुँह में गंगाजल और तुलसी डालो और कहो—माई 'राम-राम' कहो! गणिका और अजामिल तर गए थे राम-नाम से!

दोस्त! तुम्हारी पार्टी के कुछ लोग सोचते हैं कि अपनी छवि दूसरे की छवि बिगाड़ने से सुधरेगी। वे जवाहरलाल नेहरू की छवि बिगाड़ने में लगे हैं। बदशक्ल औरत विश्व-सुंदरी के मुँह पर रंग पोतकर ऐलान करती है कि मैं विश्व-सुंदरी हूँ। तुम्हारा जो हाईकमान उज्जैन-सम्मेलन में मंच पर विराजमान था, उसमें से आधे की नाक कटी हुई थी। इन लोगों ने एक-दूसरे की नाक काट ली है, तुम नकटों के तो नेता हो।

नकटों की इस कतार की किस सौंदर्य-प्रसाधन से छवि बनाना चाहते हो? छवि तो और बन जाती, अगर वहाँ राजनारायण आ जाते। तब पार्टी-झंडे को एक तरफ से

राजनारायण खींचते और दूसरी तरफ से तुम। झंडा बीच में से फट जाता। तब नानाजी देशमुख संघ का भगवा ध्वज तुम्हें देकर कहते कि इसे फहराओ, यह भगवान का बनाया हुआ है। यह नहीं फटता। भोले समाजवादी! नकटे तो यह मानने लगे हैं कि नकटेपन में एक आंतरिक आध्यात्मिक सौंदर्य होता है। इनकी छवि अब नहीं सुधरेगी।

साथी! तुम्हारे चेहरे पर संघ की चेचक के जो दाग पड़ गए हैं, उन्हें तुम कैसे मिटाओगे ? वे नानाजी नहीं 'नानीजी' हैं, जिन्होंने तुम्हें राजनीति में अनाथ बालक समझकर गोद ले लिया है। तुम्हें याद है, पूतना राक्षसी ने कृष्ण को दूध पिलाकर मारना चाहा था। यह 'नानीजी' हमारे समाजवादी चंद्रशेखर को दूध पिलाकर मार रही हैं, उन्हें तुम्हारे पूर्व रूप की याद थी।

हम यह मानते थे कि तुम संघ के फासिस्टवाद के कट्टर विरोधी हो। सोचा था, तुम कृष्ण की तरह संघ के नाग का दमन करोगे। पर हम देख रहे हैं कि नाग वंशी बजा रहा है और कृष्ण नाच रहे हैं। हमें उस दिन का इंतजार है जब तुम चड्डी पहनकर, काली टोपी लगाकर, लाठी लिये संघ की शाखा में जाओगे। तुम, जॉर्ज वगैरह सोशल डेमोक्रेट हो। तुम्हारी किस्मत ही यह है कि तुम फासिस्टों का राष्ट्रवाद और अपना समाजवाद मिलाकर 'नात्सीवाद' बनाओ। यह तुम्हारे पुरखे कर चुके हैं, तुम लोग भी करोगे।

सब कह रहे हैं कि मुसलमानों पर हमले संघ आयोजित करता है। दो आदमी इस बात को नहीं मानते—बालासाहब देवरस और चंद्रशेखर। तुम कहते हो कि अगर संघ दंगे करवाता है, तो उन राज्यों में दंगे नहीं होते जहाँ भूतपूर्व संघी मुख्यमंत्री हैं? ऐसा मालूम होता है कि राजनीति में तुम्हारी समझ और हैसियत वालंटियर की है। अरे, यह भी संघ की योजना से हो रहा है, इसे क्या तुम नहीं समझते? जहाँ संघ का मुख्यमंत्री नहीं है, वहीं वे दंगे कराएँगे और इस तरह सिद्ध करेंगे कि संघी के सिवा बाकी मुख्यमंत्री अक्षम हैं, अयोग्य हैं। योग्य और सक्षम केवल संघी मुख्यमंत्री हैं, इसलिए सब जगह संघ का मुख्यमंत्री बनाओ। यह मोटी-सी बात तुम्हारे दिमाग में चोटी के रास्ते नहीं घुसती तो क्या दाढ़ी के रास्ते भी नहीं घुसती।

मैं तुम्हारी कठिनाई समझता हूँ। तुम्हें सरकारें रखना हैं, इसके लिए तुम्हें संघ को मनमानी करने देना होगा। तुम्हें फासिस्टों की गोद में बैठकर उनकी फीडिंग बाटल से दूध पीकर, तोतली बोली में बोलना पड़ेगा—इंदिरा की तानाशाही से सावधान! तो तुम खुलकर कह दो कि रामनरेश यादव की सरकार रखने के लिए तुम्हें दस हजार मुसलमान और पंद्रह हजार हरिजनों की बलि चढ़ानी है। केंद्र में जनता सरकार रखने के लिए तुम्हें दस लाख मुसलमानों, पंद्रह लाख हरिजनों के सिर सत्ता देवी को चढ़ाना है। तुम 'चंद्रशेखर' हो, वैसे भी तुम्हें मुंड-माल चाहिए ही।

तुम्हारी छवि किन लोगों में बिगड़ी है? एक तो मुसलमानों में। तो तुम उनसे कहो कि तुम पर अत्याचार तुम्हारे भले के लिए किए जाते हैं। जो मुसलमान संघ के द्वारा मारा जाता है, वह 'स्वर्ग' जाता है। स्वर्ग जन्नत से अच्छा है, यह हमने एक कमीशन भेजकर

पता लगवा लिया है।

हरिजनों से कहो कि तुम भगवान के पाँव से पैदा हुए हो। जब आदमी चलेगा तो बोझ पाँव पर पड़ेगा, सिर पर नहीं। कुचले जाकर अपना धर्म निभा रहे हो।

भूमिहीनों से कहो—आदमी को कुल कितनी जमीन चाहिए—6 या 7 फुट। इतनी जमीन में ही तो वह गाड़ा जाता है, तो वह जमीन तुम्हें मरने के बाद मिल जाएगी।

लूटपाट, हत्या, अपहरण, बलात्कार खूब हो रहे हैं। तो तुम कहो—लोभ छोड़ो, जो लूट लिया गया, वह तुम्हारा था नहीं। बलात्कार की शिकार स्त्रियों से कहो कि जो हुआ वह रजनीश के विचार से 'समाधि' है, अपना सौभाग्य मानो।

वनाओ छवि प्यारे समाजवादी!

कहते हो कि तुम मंत्रिमंडल में शामिल नहीं होओगे। तो क्या तुम खुद मंत्रिमंडल बनाओगे? है ऐसा चांस? क्या देवरसजी मोरारजी को छोड़कर तुम्हें ले रहे हैं?

शर्म ! शर्म ! संस्कृति

मैं सही संस्कृति सीखना चाहता हूँ। असंस्कृत, बल्कि कुसंस्कृत आदमी हूँ। जनता पार्टी के नेता कहते हैं कि हम देश को नई राजनैतिक संस्कृति दे रहे हैं। संस्कृति अविभक्त यानी 'टोटल' होती है। मैं इस संस्कृति को समझकर ग्रहण करना चाहता हूँ। वैसे तो अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने 'संस्कृति का सदाव्रत' खोल रखा है। पर यह है महासागर और मैं ठहरा फूटा लोटा, संस्कृति का जल ठहरता ही नहीं।

रवींद्रनाथ ने कहा कि भारत महामानव सागर है, जिसके तीर पर अनेक जातियाँ बसी हैं। मगर संघ कहता है कि भारत एक कुआँ है, जिसमें मेढक और साँप रहते हैं। रवींद्रनाथ की बात गलत है, यह संघवाली सही है।

बहरहाल, मैं बड़े ध्यान से जनता पार्टी की इस नई संस्कृति का अध्ययन कर रहा हूँ—यह संस्कृति आचरण में कैसे प्रतिफलित होती है? बड़ी सुंदर है ना!

बाबू जगजीवनराम ने इंदिरा गांधी को, जीत पर बधाई का फोन कर दिया। बाबूजी भारतीय राजनीति के सदाबहार नेता हैं, जैसे अशोककुमार फिल्म के सदाबहार हीरो। बाबूजी जैसा सदाबहार राजनीतिक पुरुष दुनिया में मिलना मुश्किल है। बाबूजी ने लहर में फोन कर दिया होगा, कोई पेंच भी हो सकता है। विशुद्ध मानवीय शिष्टाचारवश फोन किया होगा—जीते को बधाई और हारे को सहानुभूति देना ही चाहिए—मगर जनता-संस्कृति काम करने लगी।

—सुना तुमने! उन्होंने बधाई का फोन कर दिया। सरासर कर दिया, बेधड़क कर दिया।

कौन ने?

—बाबूजी ने, बधाई दे दी इंदिरा गांधी को! बहुत बेजा बात है, कोई चाल है इसमें।

—शर्म नहीं आती, इस आदमी को। देख लेना, यह धोखा देगा।

चरणसिंह का सांस्कृतिक घटना-चक्र और शानदार है। खबर उड़ गई कि चरणसिंह ने भी बधाई का फोन किया था। संस्कृति चालू हो गयी—

—चौधरी ने बधाई का फोन कर दिया, सरासर कर दिया।

—अरे, बड़े कपट से किया। यह चौधरी जाँच के बहाने मेडिकल इंस्टीट्यूट गया और वहाँ से फोन किया।

—अरे, यह चौधरी डूबा गया। इसका भरोसा नहीं। याद है, यह इंदिरा गांधी से समझौता करके मुख्यमंत्री हो गया था।

मगर कितने शर्म की बात है! उन्हें बधाई देता है।

इस नई संस्कृति में मोरारजी भी फँसे। उन्होंने कहीं कह दिया था कि लोकसभा में मैं इंदिरा गांधी का स्वागत करूँगा। इससे पार्टी में हड़कंप मच गया—देखा, उस राक्षसी का स्वागत करेंगे ये, शर्म नहीं आती! अरे ये कांग्रेसी सब एक हैं। तो मोरारजी भाई से कैफियत तलब की जाने लगी। मोरारजी कर्रे आदमी हैं कर्रे! वे गांधीवादी, सत्यवादी, नैतिकतावादी, स्पष्टवादी हैं। अपनी पवित्रता और महानता का उन्हें इतना विश्वास है कि वे श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धन से कह सकते थे—सारनाथ वगैरह आप क्यों भटकते हैं ? मैं तो आपके सामने बुद्ध बैठा हूँ, मगर ऐसे मोरारजी यह जवाब नहीं दे सके!

कोई भी बालिग, जो सजायाफ्ता या पागल न हो, चुनकर लोकसभा में आ सकता है और क्योंकि उसे जनता ने चुना है—उसका स्वागत होना चाहिए। नहीं, मोरारजी ने घिघियाते हुए कहा—मेरा मतलब था कि यहाँ लोकसभा में हम उनसे आमने-सामने निपट लेंगे।

और संस्कृति लीजिए। इंदिरा गांधी लोकसभा में गई तो जनता पार्टीवाले चिल्लाए—शर्म ! शर्म! यह किसके लिए शर्म? क्या इसकी शर्म कि हम हार गए? या चिकमगलूर की जनता को शर्म भेजी जा रही थी? जनता का मनचाहा वोट देने पर शर्म भेजी जाए, यह नई संस्कृति है क्या? इंदिरा गांधी के नमस्ते के जवाब में मोरारजी और जगजीवनराम ने मुस्कराकर नमस्ते कर लिया।

—गजब हो गया। दोनों ने उसके नमस्ते का जवाब दे दिया।

—अरे, मुस्कराकर नमस्ते किया।

संस्कृति और भी है। उसकी बीवी के बारे में पता लगाओ, उसके लड़के की नई कोई अश्लील तस्वीरें हासिल करो। मोरारजी का कोई 'सेक्स' का मामला नहीं है! अरे, 82 साल के होने से क्या होता है। फलाँ की नौकरानी जवान है, पता लगाओ क्या मामला है। अमुक के बँगले में वह कौन औरत आती है?

जनता की नई संस्कृति—यानी ओछापन, टुच्चापन, उथलापन, नीचता, कमीनापन,

नफरत, अविश्वास, अशिष्टता, दोमुँहापन!

क्या इस नई संस्कृति को हम लोग अपना लें?

एक और सांस्कृतिक लहर आई है। इससे मैं अभिभूत हूँ। यह नाथूराम गोडसे की लहर है। आखिर यह क्या बात है कि पिछले साल-डेढ़ साल से गांधी हत्याकांड पर इतना लिखा जा रहा है। गोपाल गोडसे तथा दूसरे साथियों के लेख छप रहे हैं। गोडसे की लेखक माडखोलकर की चिट्ठी छपती है। गोडसे की जेल की दिनचर्या बताई जाती है। उसके अदालत में व्यवहार और फाँसी पर जाने का विवरण छप रहा है।

मैं समझना चाहता हूँ, इस संस्कृति को। किसी की जीत पर बधाई न दें, नमस्ते का जवाब न दें, कोई बीमार पड़ जाए तो उसका हाल न पूछें, बीमार के इलाज का प्रबंध न करें, किसी के बेटे की शादी पर काला पट्टा बाँध लें, क्यों? क्योंकि विरोधी पार्टी या गुट में है। चरणसिंह की तबीयत का हाल मोरारजी नहीं पूछ सकते। राजनारायण, जगजीवनराम के नमस्ते का जवाब नहीं दे सकते।

इस सबका कोण क्या है? यह इतिहास नहीं है। यह ढंग से भी नहीं लिखा जा रहा है कि जिससे यह प्रगट हो कि स्वतंत्रता आंदोलन के महान नेता, एक महान मानवतावादी को संकीर्ण सांप्रदायिक नफरत की मदिरा पिये एक सिरफिरे ने मार डाला।

यह बताया जा रहा है कि गोडसे कितना आदर्शवादी था। वह एक महत् उद्देश्य से प्रेरित था। वह बहुत दयालु था। वह हिंदुओं की हालत से दुखी था। वह श्रेष्ठ देशभक्त था। वह देश का अहित होते नहीं देख सकता था। उसके विचार पवित्र और ऊँचे थे। वह आत्मबलिदानी था, वीर था। वह गीता हाथ में लेकर फाँसी के तख्ते तक गया था। उसकी भस्म एक पात्र में रखी है, जो वज्र बनेगी।

यह सब हमारे दिमागों में अभी ही क्यों बिठाया जा रहा है? क्या इसलिए कि गोडसे के लोग सत्ता पर कब्जा कर चुके हैं।

इसका अर्थ है, वे जीवन-मूल्य घातक हैं जिनके प्रणेता गांधीजी थे। दया, करुणा, मानवीयता, धर्म-निरपेक्षता, प्रेम—इनके लिए गांधीजी थे, पर इनसे देश का नुकसान हो रहा था। इसीलिए गोडसे जैसे महान देशभक्त ने उन्हें मारकर देश को बचा लिया। धन्य है वह बलिदानी वीर!

सांस्कृतिक लहर यह है। गोडसे सही था, उनकी मान्यताएँ सही थीं। वही मान्यताएँ हमारी जाति के हित में हैं, और वे मान्यताएँ हैं—घृणा, नफरत, संकीर्णता, सांप्रदायिकता, हिंसा, द्वेष, हत्या! तो क्या हम जनता पार्टी की इस नई संस्कृति को मान लें, जिसके तत्त्व हैं—ओछापन, टुच्चापन, नफरत, अविश्वास, नीचता, कमीनापन, संकीर्णता, द्वेष, हिंसा, हत्या।

मान लें तो हम क्या आदमी रह जाएँगे? शायद हम कुत्ते हो जाएँगे। नहीं, कुत्ते भी नहीं होंगे। कुत्ता वफादार होता है और इस संस्कृति में कोई किसी के प्रति वफादार नहीं होता। तो क्या सूअर! नहीं, माना कि सूअर मैला खाता है, पर वह किसी का नुकसान नहीं

करता, वह बाल और चर्बी भी तो देता है।

तो फिर हम इस जनता-संस्कृति से कौन-सा जानवर हो जाएँगे? मुझे तो कोई जानवर इतना पतित नहीं मालूम होता।

◆

हरि अनंत, हरि कथा अनंता

अभी तक तो ऐसा होता था कि लिखने बैठे तो गणेश का स्मरण करके श्रीगणेशाय नमः लिखकर आगे अपने विषय पर लिखने लगते थे। पर अब गणेश का स्मरण नहीं होता, 'वन्देवाणी विनायकौ' भी भूल गए। अब कलम उठाते ही मोरारजी भाई का पवित्र स्मरण हो आता है। मोरारजी ने विघ्नेश गणेश का पोर्टफोलियो भी ले लिया।

लिखने बैठा तो अखबार की एक खबर पर ध्यान चला गया। लिखा है कि राजनारायण का कहना है कि मोरारजी दिन में 10 बार झूठ बोलते हैं। यह सरासर गलत है। मोरारजी दिन में 10 बार नहीं, सिर्फ 7-8 बार झूठ बोलते हैं। झूठ का उनका औसत सवा सात होता है। राजनारायण के पास आँकड़े ठीक नहीं हैं। फिर परिभाषा में फर्क है। जिसे हम पापी, नारकीय, कीड़े, असत्य कहते हैं, वह परम पवित्र तपोनिष्ठ मोरारजी के लिए सत्य है। गांधी की स्टाइल पर वे 'मेरे असत्य के प्रयोग' भी लिख रहे हैं। वे सत्य आचरण भी करते हैं। इस सत्य को परखिए—लोकसभा में वे भूतपूर्व प्रधानमंत्री को अपने बेटे के घोटाले को दबाने के आरोप में सजा दिला रहे थे और उसी समय उसी संसद में वर्तमान प्रधानमंत्री के बेटे के घोटालों पर प्रश्न भी नहीं पूछने दे रहे थे। घोटालों की बात छोड़िए, कोई कांतिभाई के स्वास्थ्य के बारे में भी प्रश्न नहीं कर सकता था। बेचारे कांतिभाई को संजय की तरह पूर्ण यश पाने के लिए पिता के पदत्याग या निष्कासन तक इंतजार करना पड़ेगा।

यह कांतिभाईवाला मामला असल में इंद्र का षड्यंत्र है। मोरारजी के तप से इंद्रासन डोल उठा। इंद्र थर-थर काँप रहा था। इसी समय नारद आ गए। इंद्र ने हाथ जोड़कर कहा—मुनिवर, मेरा सिंहासन अब जा रहा है। मोरारजी भाई अपने तप से मुझे निकालकर मेरे सिंहासन पर बैठ जाएँगे। कोई उपाय बताइए, प्रभु!

नारद ने कहा—इंद्र, तुम क्या तप भंग करने के उपाय जानते नहीं हो? जो करते आए हो, वही करो। ऐसा कहकर नारद ने एक आँख दबाकर भद्दा-सा इशारा किया। इंद्र ने कहा—मुनिश्रेष्ठ, वह उपाय कर चुका और फेल रहा। मैंने उर्वशी, मेनका, रंभा भेजी थीं, पर वे रोती हुई लौट आईं कि हमारे रूप का इतना अपमान कभी नहीं हुआ। मोरारजी ने हमें डाँटकर भगा दिया। नारद ने सोचकर कहा—देखो इंद्र, हर एक का तप 'काम' से भंग नहीं होता। किसी-किसी तपस्वी का तप 'अर्थ' से भंग होता है। जो तपस्वी एक भोजन

में 30-40 रुपए के फल-मेवे खाता है, वह 'अर्थ' से भ्रष्ट होगा। तू इस काम में कुबेर की सहायता ले। कुबेर से कह कि भरत-खंड में कोई कारखाने डाले, कारोबार करे और उसमें तपस्वी के पुत्र को उलझाए, तब तपस्वी का तप भंग होगा। अब इंद्र की नीच हरकत पर इंद्रसभा में प्रश्न होना चाहिए। भारत की राज्यसभा या लोकसभा में यह मामला उठ ही नहीं सकता। लीजिए, मोरारजी का स्मरण करके आगे लिखना चाहता था, पर लिखने लगा उनका पुराण। हरि अनंत, हरि कथा अनंता।

इन दिनों देश के वैज्ञानिक बड़े निराश हैं। वे शिकायत कर रहे हैं। वे कहते हैं कि यह सरकार वैज्ञानिक कार्य को प्रोत्साहन नहीं देती। हतोत्साह करती है। सरकार की दृष्टि विज्ञान-विरोधी है। हम लोग तो पिछले इतने सालों से देश को विज्ञान और तकनीक में अति आधुनिक और आत्म-निर्भर बनाना चाहते थे, पर यह सरकार हमें काम नहीं करने देती।

ये वैज्ञानिक ये नहीं सोचते कि हर काम किसी प्रयोजन से होता है। इस सरकार का प्रयोजन क्या है? विज्ञान से वह प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा। इस सरकार का प्रयोजन सरकार बने रहने में है, इसके सिवा कोई प्रयोजन नहीं है। इसे वैज्ञानिक नहीं, तांत्रिक सिद्ध कर सकते हैं, इसलिए तांत्रिक का महत्त्व है, वैज्ञानिक का नहीं। कोई वैज्ञानिक तंत्रविद्या से, अनुष्ठान से नेताओं के शत्रु का नाश कर सकता है, मूठ फेंक सकता है, चुड़ैल जगा सकता है, मारण अनुष्ठान कर सकता है, भूत को जगा सकता है, कर्णपिशाची सिद्ध कर सकता है जो सबके भेद दे, शव को जगाकर उससे शत्रुनाश करा सकता है।

नहीं कर सकता तो इस देश में वैज्ञानिक कार्य का क्या प्रयोजन? इसीलिए तो हर मंत्री, नेता वैज्ञानिक नहीं तांत्रिक और ज्योतिषी रखता है। वैज्ञानिक कोई ऐसी खोज करें जिससे इंदिरा गांधी को लकवा लग जाए, कोई ऐसा आविष्कार करें कि इस मतपेटी के वोट उस मतपेटी में चले जाएँ, कोई ऐसी चीज ईजाद करें जिसमें नारे लगाते ही आदमी की आँखों से आँसू निकलने लगें और कोई ऐसा आविष्कार करें जिससे झूठ में से सत्य की गंध आए।

जिस देश के प्रधानमंत्री को पता नहीं है कि दुनिया में साबुन बनने लगा है, जिस देश का स्वास्थ्य मंत्री 'हनुमान चालीसा' से 'एनिस्थीशिया' का काम लेना जानता है, जिस देश का किसान नेता ट्रैक्टर में बैल जोतना चाहता है, जिस देश की एक 'राष्ट्रीय' पार्टी गायत्री मंत्र से डीजल एंजिन चलाना चाहती है, उस देश में विज्ञान को प्रोत्साहन कोई क्यों देगा?

रही आत्मनिर्भरता की बात, तो यह सरकार ईमान तक में आत्मनिर्भर नहीं है। ईमान की कमी पड़ती है, तो वाशिंगटन से बुला लेती है। आत्मविश्वास कम पड़े तो नानी पालखीवाला एक पैकेट में भेज देते हैं। अक्ल की कमी पड़ती है तो अमरीकी राजदूत से पूछ लेते हैं कि यह केंप डेविड कहाँ है और वहाँ क्या काम होता है।

आत्मनिर्भरता की झंझट कौन मोल ले? दुनिया में इतना विज्ञान और तकनीक है

और वे देने को भी तैयार हैं, तो देश में इनके विकास की क्या जरूरत है?

जॉर्ज फर्नांडिस भारत में पश्चिमी जर्मनी के वाणिज्य दूत हैं। वे जर्मनी से बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ बुला रहे हैं, मय विज्ञान् और तकनीक के! इन संपूर्ण क्रांतिकारियों ने तो क्रांति का भी आयात कर लिया था। यह बात सैकड़ों बार कही जा चुकी है। अभी लिखा है बंगाल के मुख्यमंत्रियों के एक निजी सहायक चक्रवर्ती ने, कि मेरे पास फोन पर 'टेप' करके जो बातचीत का ब्यौरा आता था उससे मालूम होता था कि बहुत-से नेताओं और पत्रकारों के संबंध पश्चिमी देशों के एजेंटों से थे और उन्हें ये लोग जानकारी देते थे। पश्चिमी देश षड्यंत्र करके कुछ राज्य सरकारों और इंदिरा सरकार को गिराना चाहते थे।

संपूर्ण क्रांतिकारी, जो अब सरकार में हैं, हम कायरों को यह बता दें कि भारत-विरोधी पश्चिमी देशों के एजेंटों से मिलकर अपने देश की निर्वाचित सरकारों को गिराना क्या देशभक्ति है? तो फिर कृपाकर यह भी बता दें कि देशद्रोह क्या है?

वैज्ञानिक झंझट पैदा न करें। सबकुछ उनके बिना भी हो जाएगा। बीजू पटनायक ने 300 करोड़ का एक सौदा रूस से तोड़कर एक प्राइवेट कंपनी से कर लिया है। इस कंपनी का सहयोग एक पश्चिमी बहु-राष्ट्रीय कंपनी से है। इससे विज्ञान और तकनीक विदेश से आ जाएगी। बीजू भिलाई को भी नीलाम करके प्राइवेट कंपनी को दे देंगे। जनसंघ तब तक साइंस का विकास न होने देगा, जब तक 'हिंदू राष्ट्र' न हो जाए। अभी यह देश विदेशियों के हाथ में है। एक म्लेच्छ अहिंदू पारसी अणु विज्ञान का सर्वेसर्वा है। एक मुसलमान वायु सेनापति है। छीः, छीः शांतम् पापम्। पूर्ण हिंदू राष्ट्र होगा और जड़ बुद्धि 'शाखामृगों' का राज इस किष्किंधा पर होगा, तब विज्ञान का विकास करने दिया जाएगा।

अगर वैज्ञानिक कुछ काम करना ही चाहते हैं, तो एक काम करें। प्रदूषण को रोकने के उपाय करें। इन जनता नेताओं के शरीर से झूठ, फरेब, छल, कमीनापन की दुर्गंध निकलकर वातावरण में समा रही है। इसमें जहर है, बीमारी फैलेगी। वैज्ञानिक इस जनता-प्रदूषण को किसी तरह रोकें।

आत्मनिर्भरता और स्वाधीनता की चिंता छोड़ें। इस देश की राजधानी केलिफोर्निया में बन रही है।

प्रेमचंद की असलियत

किसी बड़े आदमी की जयंती करने से बहुत फायदे हैं। इससे करनेवाले की तंदुरुस्ती बढ़ती है और उम्र लंबी होती है। कायाकल्प होता है। नया जन्म होता है। जो तारा डूब रहा होता है, वह चमत्कार से एकदम ऊपर उठ आता है। अपने नाम के राम जो जन-उपेक्षा के कारण वनवास कर रहे होते हैं, यश की अयोध्या लौट आते हैं। जयंती मनाने से मनानेवाले की

सार्वजनिक पहचान अगर मिटती होती है, तो फिर बन जाती है। जैसे लोग यह भूल रहे थे कि जैनेंद्र कुमार कौन हैं, कहाँ हैं, क्या करते रहे हैं, क्या कर रहे हैं। लोगों से अब कह सकते हैं कि देख लो, पहचान लो, समझ लो—ये हैं वयोवृद्ध लेखक जैनेंद्रकुमार, जो प्रेमचंद के बारे में बोल और लिख रहे हैं। सुनो, पढ़ो, वे क्या कहते हैं। वे कहते हैं कि समाज में न कोई शिकारी है, न शिकार। सभी शिकारी भी हैं और शिकार भी। सबहिं नचावत राम गोसाईं। इसलिए शोषण से मुक्ति का संघर्ष व्यर्थ है। सार्थक यह है कि तुम भी किसी का शोषण करने लगो, और लिखने की सार्थकता है कि औरत को बिना कारण नंगा कराओ—जैसे जैनेंद्र ने बिना कारण नंगी कराई है।

मध्यम और छोटे स्तर पर भी सत्प्रयास हुए। एक शहर की बात मुझे बताई गई। कोई स्वतंत्रता-सेनानी हैं। धनवान हैं, खानदानी रईस हैं, झूठी कम आमदनी बताकर स्वतंत्रता-सेनानियों की पेंशन लेते हैं। हरिजन-उद्धार कर चुके हैं। सर्वोदय में अस्त हो चुके हैं। जीवन-भर साहित्य का काम भी करते रहे हैं। उनके बारे में यह बोध हो गया था कि वे या तो विदेश में बस गए हैं या संन्यास लेकर वन में अंतर्धान हो गए हैं। अब तो उनके अपने ही छपाए निमंत्रण-पत्रों से, अपने ही खर्च और प्रयासों से आयोजित जन्म-दिवस के सार्वजनिक भव्य समारोहों के समाचार भी नहीं छपते। एकाएक मालूम हुआ, वे हैं। यहीं हैं। सक्रिय हैं। छापे में भी हैं। यह कैसे मालूम हुआ? वे प्रेमचंद जयंती कर रहे थे। उन्होंने इसके लिए एक समिति बना ली थी। जयंती के बाद उनका दूसरे आयोजकों से अखबार में विवाद चला। जुलाई जयंती के यश में गुजरा। अगस्त जयंती के विवाद-यश में। इतने में 'हिंदी-दिवस' चौदह सितंबर आ गया। वे जन्म से हिंदी बोलनेवालों में जाकर भाषण देने लगे कि तुम्हें हिंदी बोलनी चाहिए।

जयंती के बहुत फायदे हैं। जातियों का गौरव बढ़ता है। मैथिलीशरण गुप्त की जयंती मनाने से यह प्रकट हो जाता है कि वे गहोई हैं। अग्रवालो, तुम उन्हें मत हथिया लेना। प्रेमचंद जयंती पर जो समिति बनी, उसमें ब्राह्मण का वर्चस्व हो गया। नगर के दो-तीन कायस्थ साहित्य-सेवियों की उपेक्षा हो गई। उन्होंने कायस्थों को इकट्ठा करके कहा—प्रेमचंद कायस्थ थे। इन ब्राह्मणों ने षड्यंत्र करके उन्हें हथिया लिया है और हम कायस्थों का बायकाट कर दिया है। चलो, समारोह में आनेवाले कायस्थ मंत्री से कहें कि वे न जाएँ। प्रेमचंद आखिर कायस्थ थे। वे श्रीवास्तव थे। सक्सेना उन पर अधिकार न करें।

जयंती करने से और भी फायदे हैं। सरकारी अनुदान और चंदा मिलता है, जिससे आत्मा का उन्नयन होता है।

जयंतियाँ ऐसी ही होती हैं। हम प्रेमचंद के लिए कुछ नहीं कर सकते। वे अपने और सबके लिए खुद ही कर गए। वे पढ़े जाते हैं और उनके लिखे पर विचार होता है। अगर वे पढ़े जाने वाले कथा-लेखक न होते और विचारणीय न होते, तो हजारों जयंती-समारोहों से भी उनका कुछ नहीं सधता। उनकी जीवनी उनके पुत्र ने लिख ही दी है। विश्वविद्यालयों में उन पर शोध लगातार हो रहा है। बाहर के लोग अगर प्रेमचंद पर ज्यादा सोच-विचार

करने लगें तो शोध करके प्रोफेसर होनेवाले के पेट पर लात लगेगी। प्रेमचंद के साहित्य को पढ़कर तो भारत सरकार किसानों की हालत सुधार नहीं देगी। जमीनें बेदखल होंगी ही। कुत्ते-बिल्ली के नाम से जमीन कराई ही जाएगी।

अब करने को रह क्या गया? ऐसा ही, जैसा कानपुर में हो गया। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने बताया कि वहाँ एक मीटिंग हुई। कहा गया कि प्रेमचंद को प्रेमचंद कानपुर ने बनाया। एक विद्वान ने बताया कि प्रेमचंद की रखैल थी। दूसरे दिन एक अखबार में बड़े टाइप में यही शीर्षक था—'प्रेमचंद की एक रखैल थी।' या कमलकिशोर गोयनका की तरह बता सकते हैं कि प्रेमचंद कंजूस थे। या प्रभाकर माचवे तकिये पर लोटते हुए कह सकते हैं कि प्रेमचंद गरीब हो सकते हैं, पर भूखे नहीं रहते थे। अब हमारी यह सिद्ध करने में कोई दिलचस्पी नहीं है कि प्रेमचंद भूखे रहते थे। अगर सिर्फ भूखे ही रहते तो कौन-सा बड़ा काम कर लेते। या भूखे मरने से ज्यादा आदरणीय कैसे बन जाते।

मगर जैसा 'दिनमान' में रघुवीर सहाय ने लिखा है—प्रेमचंद खतरनाक लेखक हैं। उन्होंने उन्हें दूसरे कारणों से खतरनाक बताया है। प्रेमचंद इस साल और कारणों से खतरनाक हो गए। प्रेमचंद ने इस साल जितनी खींचतान कराई, उतनी न रवींद्रनाथ ने कराई, न शरतचंद्र ने। खींचतान यह कि प्रेमचंद के विचार क्या थे? उनके विश्वास क्या थे? अमृतराय ने पहले तो कह दिया था कि गांधीजी और प्रेमचंद दोनों गुरुभाई थे। वे दोनों टालस्टाय और थोरो दोनों से सीखे थे। लोग खुश कि अमृतराय ने प्रेमचंद को मार्क्स से साफ बचा दिया है। अब टालस्टाय की बात तो सही है, मगर थोरो का असर दोनों पर नहीं है। थोरो के उस निबंध 'सिविल डिस-ओबीडियेन्स' का ही प्रभाव कहा जाता है, पर प्रेमचंद के साहित्य में कहीं भी सिविल नाफरमानी अथवा असहयोग नहीं है और गांधीजी ने खुद लिखा है कि थोरो को पढ़ने के पहले ही मैं अपना आंदोलन शुरू कर चुका था। उस निबंध को पढ़कर मेरे विचारों की पुष्टि हुई। यह मैं तथ्यपरकता के उद्देश्य से कह रहा हूँ।

मगर बखेड़ा [illegible] खड़ा हुआ जब विश्वशांति परिषद् ने प्रेमचंद जयंती मनाने की घोषणा की। दिल्ली मे एक समारोह आयोजित कर दिया जिसमें प्रेमचंद के सिवा जातीय संस्कृतियों की रक्षा पर सेमिनार थी। ऐसा आयोजन 'नाटो' की तरफ से होता तो कोई झंझट नहीं थी, मगर विश्वशांति परिषद् की दखलंदाजी नागवार थी बहुत लोगों को। इन्होंने हल्ला किया—देखो इन कम्युनिस्टों की गुस्ताखी, प्रेमचंद को, हिंदी माता और भारत माता के उस सपूत को अब मार्क्सवादी सिद्ध करेंगे। सावधान! ये लोग कौन हैं। फफूँदे हुए गांधीवादी और पुरातत्त्व संग्रहालय से पाई मानसिकतावाले जनसंघी रुझान के बुद्धिजीवी तथा प्रोफेसर। फफूँद से पेनिसिलिन बनता है जो रोगाणुओं को पास फटकने नहीं देता। फफूँदे हुए दिमागों में वैचारिक पेनिसिलिन बन जाता है, जिससे नए विचारों के रोगाणु उस पर असर नहीं करते। स्वस्थ दिमाग के इन लोगों ने प्रेमचंद की रक्षा करने का संकल्प कर डाला। अब निकले सेनापति खोजने। रास्ते में उन्हें खिसकती हुई चादर सँभालते जैनेंद्रकुमार

मिल गए।

उनसे प्रार्थना की गई तो वे प्रेमचंद की रक्षा करने को तैयार हो गए, और बहुत लोग आ गए सेना में। कहा जाने लगा कि प्रेमचंद तो शुद्ध गांधीवादी थे। गांधी संघियों को अब पंसद आने लगे हैं। इन्होंने कहा—अहा, प्रेमचंद भारतीय परंपरा और हिंदू संस्कृति के रक्षक थे और हिंदू संयुक्त परिवार को टूटने नहीं दिया। मगर अमृतराय ने इस पवित्र वातावरण में कहीं लिख दिया कि प्रेमचंद ने सन् 1920 में किसी दोस्त को लिखा था कि मेरा विश्वास बोल्शेविक सिद्धांतों में हो गया।

प्रेमचंद के अपने विकास पर ध्यान दिया नहीं जा रहा। 1917 के 'सेवा-सदन' में तो आश्रम में समस्या चली जाती है, तब उत्तर भारत में आर्य समाज के सिवा कोई आंदोलन नहीं था। गांधीजी के आंदोलन तब नहीं थे। महाराष्ट्र में उग्र राष्ट्रवादी तिलक थे जो गरीबों और मजदूरों और नीची जातियों में भी जाते थे, जिससे महाराष्ट्र के ब्राह्मण नेता उन्हें 'तेली-तंबोली' का नेता कहते थे। मगर प्रेमचंद बढ़े। जैसे पाठक प्रेमचंद को पढ़ता है तो अपने जमाने के यथार्थ को नंगा देखने लगता है, उसके वास्तविक अर्थ खोजता है, सही व्याख्या करता है। मैट्रिक पास करते-करते मैंने प्रेमचंद को पढ़ लिया था।

हमारी पाठ्य-पुस्तक में उनकी 'नमक का दारोगा' कहानी भी थी। मेरा मन गद्गद था इस कहानी को पढ़कर। वाह, दारोगाजी का कैसा हृदय-परिवर्तन होता है। फिर आगे यथार्थ को समझते-समझते मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बहुत लोगों के हृदय होता ही नहीं है। उनका हृदय कैसे बदलेगा, या बहुतों का हृदय तलुवे में होता है, जिसे वे कुचलते चलते हैं। इसी तरह प्रेमचंद ने समझ लिया था कि पूँजीवादी सभ्यता अमानवीयकरण करती है। महाजनी सभ्यता यही है। वह शोषक और शोषित—दोनों का अमानवीयकरण करती है। इससे शोषक क्रूरता से शोषण करता है और शोषित मानवी गरिमा को खोकर शोषण कराता जाता है। 'कफ़न' के घीसू और माधव का भी अमानवीयकरण हो चुका है।

प्रेमचंद जयंती लगभग पूरी हो चुकी है। जैनेंद्र ने चादर उतारकर बक्से में रख दी है। जतन से ओढ़ी थी और जस की तस धर दी। यह चदरिया वे प्रेमचंद को ओढ़ाना चाहते थे, मगर प्रेमचंद फुर्ती से खिसक गए।

महात्मा गांधी को चिट्ठी पहुँचे

यह चिट्ठी महात्मा मोहनदास कमरचंद गांधी को पहुँचे। महात्माजी, मैं न संसद-सदस्य हूँ, न विधायक, न मंत्री, न नेता। इनमें से कोई कलंक मेरे ऊपर नहीं है। मुझमें कोई ऐसा राजनीतिक ऐब नहीं है कि आपकी जय बोलूँ। मुझे कोई पद भी नहीं चाहिए कि राजघाट जाऊँ। मैंने आपकी समाधि पर शपथ भी नहीं ली।

आपका भी अब भरोसा नहीं रहा। पिछले मार्च में आपकी समाधि पर मोरारजी भाई ने भी शपथ ली थी और जगजीवन बाबू ने भी। मगर बाबूजी रह गए और मोरारजी प्रधानमंत्री हो गए। आखिर गुजराती ने गुजराती का साथ दिया!

जिन्होंने आपकी समाधि पर शपथ ली थी, उनका दस महीने में ही 'जिंदाबाद' से 'मुरदाबाद' हो गया। वे जनता से बचने के लिए बाथरूम में बिस्तर डलवाने लगे हैं। मुझे अपनी दुर्गति नहीं करानी। मैं कभी आपकी समाधि पर शपथ नहीं लूँगा। उसमें भी आप टाँग खींच सकते हैं।

आपके नाम पर सड़कें हैं—महात्मा गाँधी मार्ग, गाँधी पथ। इन पर हमारे नेता चलते हैं। कौन कह सकता है कि इन्होंने आपका मार्ग छोड़ दिया। वे तो रोज महात्मा गांधी रोड पर चलते हैं।

इधर आपको और तरह से अमर बनाने की कोशिश भी हो रही है। पिछली दीवाली पर दिल्ली के जनसंघी शासन ने सस्ती मोमबत्ती सप्लाई कराई थी। मोमबत्ती के पैकेट पर आपका फोटो था। फोटो में आप आर.एस.एस. के ध्वज को प्रणाम कर रहे हैं। पीछे डॉक्टर हेडगेवार खड़े हैं।

एक ही कमी रह गई। आगे पूरी हो जाएगी। अगली बार आपको हाफपैंट पहना दिया जाएगा और भगवा टोपी पहना दी जाएगी। आप मजे में आर.एस.एस. के स्वयंसेवक के रूप में अमर हो सकते हैं। आगे वही अमर होगा, जिसे जनसंघ करेगा।

कांग्रेसियों से आप उम्मीद मत कीजिए। यह नस्ल खत्म हो रही है। आगे गड़ाए जानेवाले कालपात्र में एक नमूना कांग्रेस का भी रखा जाएगा, जिससे आगे आनेवाले यह जान सकें कि पृथ्वी पर एक प्राणी ऐसा भी था। गेंडा तो अपना अस्तित्व कायम रखे है, पर कांग्रेसी नहीं रख सका।

मोरारजी भाई भी आपके लिए कुछ नहीं कर सकेंगे। वे सत्यवादी हैं। इसलिए वे अब यह नहीं कहते कि आपको मारनेवाला गोडसे आर.एस.एस. का था।

यह सभी जानते हैं कि गोडसे फाँसी पर चढ़ा, तब उसके हाथ में भगवा ध्वज था और होठों पर संघ की प्रार्थना—नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे। पर यही बात बतानेवाला गांधीवादी गाइड दामोदरन नौकरी से निकाल दिया गया है। उसे आपके मोरारजी भाई ने नहीं बचाया।

मोरारजी सत्य पर अटल रहते हैं। इस समय उनके लिए सत्य है प्रधानमंत्री बने रहना। इस सत्य की उन्हें रक्षा करनी है। इस सत्य की रक्षा के लिए जनसंघ का सहयोग जरूरी है। इसलिए वे यह झूठ नहीं कहेंगे कि गोडसे आर.एस.एस. का था। वे सत्यवादी हैं।

तो अब महात्माजी, जो कुछ उम्मीद है, बालासाहब देवरस से है। वे जो करेंगे, वही आपके लिए होगा। वैसे काम चालू हो गया है। गोडसे को भगतसिंह का दर्जा देने की कोशिश चल रही है। गोडसे ने हिंदू राष्ट्र के विरोधी गांधी को मारा था।

गोडसे जब भगतसिंह की तरह राष्ट्रीय हीरो हो जाएगा, तब तीस जनवरी का क्या होगा? अभी तक यह 'गांधी निर्वाण दिवस' है, आगे 'गोडसे गौरव दिवस' हो जाएगा। इस दिन कोई राजघाट नहीं जाएगा, फिर भी आपको याद जरूर किया जाएगा।

जब तीस जनवरी को गोडसे की जय-जयकार होगी, तब यह तो बताना ही पड़ेगा कि उसने कौन-सा महान कर्म किया था। बताया जाएगा कि इस दिन उस वीर ने गांधी को मार डाला था। तो आप गोडसे के बहाने याद किए जाएँगे। अभी तक गोडसे को आपके बहाने याद किया जाता था।

एक महान पुरुष के हाथ से मरने का कितना फायदा मिलेगा आपको? लोग पूछेंगे—यह गांधी कौन था? जवाब मिलेगा—वही, जिसे गोडसे ने मारा था।

एक संयोग और आपके लिए अच्छा है। 30 जनवरी 1977 को जनता पार्टी बनी थी। 30 जनवरी जनता पार्टी का जन्मदिन है। अब बताइए, जन्मदिन पर कोई आपके लिए रोएगा? वह तो खुशी का दिन होगा।

आगे चलकर जनता पार्टी पूरी तरह जनसंघ हो जाएगी। तब 30 जनवरी का यह महत्त्व होगा—इस दिन परमवीर राष्ट्रभक्त गोडसे ने गांधी को मारा। इस पुण्य के प्रताप से इसी दिन जनता पार्टी का जन्म हुआ, जिसने हिंदू राष्ट्र की स्थापना की।

आप चिंता न करें, महात्माजी! हमारे मोरारजी भाई को न कभी चिंता होती है, न वे कभी तनाव अनुभव करते हैं। चिंता क्यों हो उन्हें? किसकी चिंता हो? देश की? नहीं। उन्होंने तो ऐलान कर दिया है—राम की चिड़िया, राम के खेत! खाओ री चिड़िया, भर-भर पेट! तो चिड़िया खेत खा रही हैं और मोरारजी को कोई चिंता, कोई तनाव नहीं है।

बाकी भी ठीक चल रहा है। आप जो लाठी छोड़ गए थे, उसे चरणसिंह ने हथिया लिया है।

चौधरी साहब इस लाठी को लेकर जवाहरलाल नेहरू का पीछा कर रहे हैं। जहाँ नेहरू को पा जाते हैं, एक-दो हाथ दे देते हैं। जो भी नेहरू की नीतियों की वकालत करता है, उसे चौधरी आपकी लाठी से मार देते हैं।

उस दिन चंद्रशेखर ने कहीं कह दिया कि नेहरू की उद्योगीकरण की नीति सही थी और उससे देश को बहुत फायदा हुआ है।

चरणसिंह ने सुना तो नौकर से कहा—अरे, लाना गांधीजी की लाठी!

लाठी लेकर चौधरी चंद्रशेखर को मारने निकल पड़े। बेचारे बचने के लिए थाने गए तो थानेदार ने कह दिया—पुलिस चौधरी साहब की है। वे आपको मार रहे हैं, तो हम नहीं बचा सकते।

आप हरिजन वगैरह की चिंता मत कीजिए। हर साल कोटा तय रहता है कि इस साल गांधी जयंती तक इतने हरिजन मरेंगे। इस साल 'कोटा' थोड़ा बढ़ा दिया गया था, क्योंकि जनता पार्टी के नेताओं ने राजघाट पर शपथ ली थी।

उनकी सरकार बन गई। उन्हें शपथ की लाज रखनी थी। इसीलिए हरिजनों को

मारने का 'कोटा' थोड़ा बढ़ा दिया गया। खुशी है कि कोटे से कुछ ज्यादा ही हरिजन मारे गए।

आप बेफिक्र रहें, आपका यश किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रहेगा।

आपका
एक भक्त

असिस्टेंट लोकनायक

नानाजी देशमुख ने अपने-आपको असिस्टेंट लोकनायक नियुक्त कर लिया। वे पाँच सालों से जयप्रकाश नारायण के साथ हैं। पुलिस ने जब जयप्रकाश नारायण पर डंडा चलाया था, तब नानाजी ने उसे हाथ पर रोका था।

नानाजी को आशा थी कि लोकनायक खुद ही उन्हें असिस्टेंट लोकनायक नियुक्त कर देंगे। देर दिखी, तो नानाजी ने अपना नियुक्ति पत्र खुद टाइप कर लिया। उस पर लोकनायक के दस्तखत करके उसे जारी कर दिया। अब नानाजी संपूर्ण क्रांति करेंगे। संपूर्ण क्रांति के लिए उन्होंने माँग की है कि जो साठ साल से ऊपर के हैं, वे सत्ता से हट जाएँ, और युवकों को मौका दें।

क्रांति इस देश में भुनी हुई मूँगफली हो गई है। इसके खोमचे लगे हैं। जिसे देखो वही पचीस पैसे में क्रांति की मूँगफली का पुड़ा लेता है, और छीलकर खाने लगता है। कोई-कोई तो छिलके समेत खा जाते हैं—जैसे चरणसिंह ने अपने सामंती दल का नाम भारतीय क्रांति दल रख लिया था।

तो नानाजी देशमुख अब संपूर्ण क्रांति करेंगे। मुझे उम्मीद थी कि मोह-भंग की स्थिति से गुजरनेवाले लोकनायक नानाजी से कहेंगे—नानाजी, बाबाजी, फूफाजी, काकाजी, मैं हाथ जोड़ता हूँ, आप आगे क्रांति न करें। जितनी क्रांति हो गई है, उसी से मैं बहुत परेशान हूँ। जो नब्बे लाख रुपए मुझे संपूर्ण क्रांति के लिए मिले हैं, उनमें से पचास लाख मैं आपको दे देता हूँ, क्रांति न करने के लिए। इतनी पेमेंट में आप मान जाइए और क्रांति मत कीजिए। मेरी और दुर्गति मत कराइए।

पर जिनकी किस्मत में निराश होना ही लिखा है, ऐसे जयप्रकाश फिर निराश होने के लिए चक्कर में आ गए, और नानाजी को आशीर्वाद दे डाला।

कुछ लोगों का खयाल है कि नानाजी वे नब्बे लाख पूरे हड़पने की कोशिश में हैं। मैं ऐसा नहीं सोचता। नानाजी के संगठन रा.स्व.सं. को पैसे की कमी नहीं है। गुप्तदान और दक्षिणा का बेहिसाब पैसा है। फिर उनके तीन मुख्य तथा कई मंत्री हैं। ये चाहे जितना पैसा दिला देंगे।

नानाजी तो यह चाहते हैं कि संपूर्ण क्रांति का हेड ऑफिस कदमकुआँ पटना से उठकर झंडेवालान, नई दिल्ली में दीनदयाल उपाध्याय शोध संस्थान में आ जाए। वह आ रहा है।

नानाजी चतुर हैं। उन्हें जल्दी भी है। वे चाहते हैं, साठ साल के ऊपर के नेता सत्ता से हट जाएँ। जब उनसे पूछा गया कि क्या उनका मतलब मोरारजी, चरणसिंह और जगजीवनराम से है, तो नानाजी ने कहा—नहीं, मैंने उनका नाम नहीं लिया, ये तीनों नेता सत्तर से ऊपर के हैं। यानी नानाजी के शरीर-विज्ञान के मुताबिक साठ से ऊपर आदमी बूढ़ा हो जाता है, पर सत्तर के बाद फिर जवान हो जाता है।

संघ का विज्ञान अलग है, जैसे उसका इतिहास अलग है। डॉक्टर और वैज्ञानिक खून के 'टाइप' बताते हैं, मगर संघ मानता है—इन 'टाइप्स' के अलावा एक टाइप 'हिंदू' खून भी होता है।

संघवाले मानते हैं कि हिंदू पूर्वजों ने अंतरिक्ष यान बनाया था। अचरज इसी बात का है कि अंतरिक्ष यान बनानेवालों ने साइकिल क्यों न बना ली।

नानाजी का, यानी संघ का संपूर्ण क्रांति का अगला कदम है—जनता पार्टी और सरकारी पदों से गाँधी टोपी को हटाओ।

मोरारजी, चरणसिंह और जगजीवनराम गांधी टोपीवाले हैं। इनकी जगह काली टोपी आनी चाहिए। इटली के मुसोलिनी के अनुयायी काले कुरतेवाले थे, भारत में काली टोपीवाले हैं।

मैं नानाजी से सहमत हूँ। ये गांधी टोपीवाले संपूर्ण क्रांति के रास्ते में बाधक हैं। ये अब कुछ ही बचे हैं। ये गाँधीजी के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़े थे। इनमें साम्राज्यवाद-विरोध और राष्ट्रवाद के शक्तिशाली संस्कार हैं। नानाजी, उनका संगठन, उनके बुजुर्ग ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़े ही नहीं।

इनका राष्ट्रवाद मुस्लिम-विरोध पर टिका था, और टिका है। अब इसमें कम्युनिस्ट-विरोधी भी शामिल हैं। इन राष्ट्रप्रेमियों, राष्ट्रवादियों का उस ब्रिटिश साम्राज्यवाद से, जो भारत माता का शोषण करता रहा, कोई झगड़ा ही नहीं था। ये गांधी टोपीवाले अपने राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद-विरोध के कारण अमेरिका और पश्चिमी देशों को पसंद नहीं हैं।

इस गाँधी टोपी के कारण ही तो अमेरिका यूरेनियम नहीं दे रहा है। इन तीनों गांधी टोपियों की जगह काली टोपियाँ हो जाएँ, तो अमेरिका कल यूरेनियम दे देगा।

कुछ मामला जनता पार्टी पर और सरकार पर कब्जा करने का है। मकान पर कब्जा करना है। और मकान पर कब्जा करने का वही तरीका है। खिड़की से पेटी-बिस्तर मकान में डाल दिए, फिर बाहर से हल्ला किया कि हमारा सामान रखा है, मकान हमारा है। कब्जा हमें दो।

राजी-बाजी से कब्जा नहीं मिला तो लठैत बुला दरवाजा तोड़कर घुस गए।

संघ पेटी-बिस्तर, अटलबिहारी वाजपेयी और लालकृष्ण आडवाणी को खिड़की से,

मकान के अंदर डाल चुका है। अब नानाजी बाहर से दरवाजा खटखटा रहे हैं—अरे भैया, दरवाजा खोलो, हमारा मकान है। हमारा सामान रखा है। हमारे पेटी-बिस्तर पड़े हैं, नहीं खोलते तो हम लठैत बुलाकर जबरदस्ती कब्जा कर लेंगे।

इस मकान-कब्जा क्रांति की बड़ी प्यारी-प्यारी अदाएँ हैं। अटलबिहारी ने कहा कि तीन महीने में यदि जनता सरकार जनता का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकी, तो मैं मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दूँगा। धन्य हैं।

इस्तीफे की घोषणा मनानेवालों को ध्यान में रखकर की जाती है। जैसे आमरण-अनशन की घोषणा दूसरे दिन मुसम्मी का रस पिलानेवाले को ध्यान में रखकर की जाती है। इमेज बन रही है—देश का दर्द बस अटलबिहारी को ही है। त्यागी अटलबिहारी ही हैं। जनता सरकार के मालिक अटलबिहारी ही हैं।

और इमेज बन रही है। अटलबिहारी मोरारजी भाई से शिकायत करते हैं अपने ही संगठन के कट्टर संघी डॉक्टर स्वामी की—

यह स्वामी हमें छेड़ता है, कक्काजी! हम तो अच्छी हैं। हमारा चालचलन बढ़िया है। हम गंदी बातों में नहीं पड़तीं, पर यह शोहदा स्वामी हमारी गैल रोक लेता है। हमारी गगरिया में कंकड़ियाँ मारता है। अब बताओ—कैसे जाऊँ जमना के तीर। हम तो लाज से मरी जाती हैं।

सब जानते हैं, यह मिली-भगत है—अटलबिहारी की सर्वमान्य इमेज बनाने के लिए। संघ की योजना सुविचारित है। अटलबिहारी का हाल उस चंचल नारी-सरीखा है, जो चाहती है कि सारा शहर उस पर जान दे।

इसके लिए वह मुहल्ले के एक छोकरे को एक रुपया देकर कहती है कि तू मुझे सड़क पर छेड़ना। छोकरा छेड़ेगा तो हल्ला होगा, और शहर में बात फैलेगी कि हाँ यार, यहाँ कोई 'मारु' रहती है उस मुहल्ले में, गजब की है यारो!

सब हिसाब से हो रहा है। सब योजना से हो रहा है। काली टोपी की संपूर्ण क्रांति है यह।

चिरंतन क्रांतिकारी जॉर्ज फर्नांडिस अब कम बोलते हैं। उद्योगों के बोझ से कंधे झुक गए हैं। जॉर्ज को मालूम हो कि इधर मध्यप्रदेश में एक संघी मंत्री लोगों से कह रहा था—पता नहीं ये समाजवादी कब मरेंगे। 'समाजवादी' के पहले जो शुभ गालियाँ जोड़ी गई थीं, उनकी कल्पना जॉर्ज कर लें।

जॉर्ज ने एक नोट लिखा है कि जनता पार्टी के घटक एक-दूसरे को नष्ट करने में लगे हैं। मेरा कहना है इन घटकों को अधिकार है एक-दूसरे को नष्ट करने का। खो-खो खेलने से कोई किसी को नहीं रोक सकता।

पर जब वह स्टेज आए, जब इस खेल में घटकों का नहीं, देश का नाश होने लगे, तो जरा हमें पहले बता दिया जाए, ताकि जन साधारण खिलाड़ियों को कान पकड़कर मैदान से निकाल दे।

हस्ती मिटती नहीं हमारी

यह कुछ बात क्या है साहब, कि हमारी हस्ती मिटती नहीं। यह मत पूछिए कि जी कैसे रहे हैं। हमारी हस्ती तो नहीं मिटती। दौरे-जहां हमेशा हमारा दुश्मन रहा है। ज्ञानी कहते हैं—यह 'कुछ बात' जो हमारी हस्ती नहीं मिटने देती, हमारी संस्कृति है। यह सही हो सकता है।

मगर मुझे याद आता है, जब हम कस्बे में रहते थे तब हमारे मुहल्ले में एक 'पिटनी बहू' कहलाती थी। उसका पति उसे हर दो-तीन दिनों में पीटता था। वह रोती-चीखती थी। वह विरोध नहीं करती थी। पति पीटकर चल देता। पिटनी बहू मुँह धोती, माँग सुधारती, टीका फिर से लगाती और ढोलक लेकर मुहल्ले की औरतों के साथ गाने लगती।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

वह कुछ बात क्या है?

अभी देख रहा हूँ, मध्यवर्गीय पाठक बाबू झोला लिये कुर्सी पर बैठे हैं। बड़ी महँगाई है—वे कहते हैं—मुनाफाखोरों ने आफत कर रखी है। अभी व्यापारियों ने आठ दिन दूकानें बंद कर रखी थी। पाठक बाबू और कुछ नहीं कर सकते थे, तो दूकान के सामने बनियों के नाम पर थूक तो सकते थे। उन्होंने थूका भी नहीं। नवें दिन जब दूकान खुली तो वे झोला लिये बढ़ी हुई कीमत का सामान खरीदने खड़े थे। आज दीवाली है। वे कुर्सी पर बैठते हैं, फिर उठते हैं, फिर बैठते हैं। महँगाई ने कमर तोड़ दी है।

राष्ट्रपति का मुनाफाखोरी-विरोधी अध्यादेश एक सुर्रू पटाखा निकला। इस उम्मीद से पटाखे में माचिस लगाई थी कि यह बम की तरह फूटेगा, मगर वह 'फुस्स' करके रह गया। पाठकजी हिम्मत करके उठते हैं। दीवाली है। बरस-भर का त्योहार है। बाजार जाते हैं। महँगा खरीदते हैं। उधारी करते हैं। शाम को वही पाठकजी दीये जला रहे हैं। मिठाई खा रहे हैं। बच्चों के साथ पटाखे छोड़ रहे हैं।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

यह 'कुछ बात' क्या है जो पिटनी बहू और पाठक जी में है कि उनकी हस्ती मिटती नहीं। यह हमारी जाति अपने को दुनिया में महानतम मानती है। अपनी संस्कृति को श्रेष्ठतम मानती है। वेदों को ज्ञान-विज्ञान का भंडार मानती है। मगर इससे पूछो कि फिर औद्योगिक क्रांति इस पवित्र भूमि में न होकर यूरोप में शुरू क्यों हुई, तो वह कहती है कि वह तो तुच्छ 'भौतिकवाद' है। इस जाति में क्या है जो इसकी हस्ती नहीं मिटती? इसमें वही बात है, जो पिटनी बहू में है। इस जाति का आदमी पिट लेता है और फिर उत्सव मनाने लगता है। बाहर गड़बड़ हो तो घर के भीतर कोने में छिप जाता है। समुद्र में डर हो तो डबरे में पड़ा रहता है। पाँव फैलाने को जगह नहीं माँगता, बल्कि पाँव सिकोड़कर सीने से लगाए पड़ा रहता है। ऐसे आदमी की हस्ती कोई मिटा नहीं सकता। उसकी हस्ती कोई मिटाने की झंझट भी क्यों करेगा? और उसकी हस्ती की परवाह भी क्यों करेगा?

और इस कौम के रहनुमाओं का हाल देखिए। संघ के सरसंघ चालक देवरस हिंदू धर्म और जाति के एकमात्र रक्षक बनते हैं। अभी अमेरिकी पत्र में ही छपा है कि अमेरिकी दवाई कंपनियाँ वहाँ प्रतिबंधित दवाएँ भारत सहित कई देशों को भेजती हैं। ये दवाएँ अमेरिका में प्रतिबंधित हैं, क्योंकि ये घातक पाई गईं। इन्हें भारत के हिंदुओं को बेचकर खिलाया जाता है। इतना ही नहीं, जिन दवाओं की परीक्षा करनी होती है, वे भी भारत भेजी जाती हैं। इन्हें हिंदुओं पर 'टेस्ट' किया जाता है—जैसे चूहे, बंदर और सूअर पर 'टेस्ट' किया जाता है। बहुत लोग इसकी निंदा कर रहे हैं। पर बालासाहब देवरस या उनके किसी सिपहसलार के मुँह से एक शब्द नहीं निकल रहा। ये क्यों नहीं कहते—खबरदार, अमेरिकी कारखानेवालो, हम हिंदू को चूहे, बंदर, सूअर नहीं मान सकते। तुम्हें 'धिक्कार' है। ये दवाएँ यहाँ भेजना बंद करो। ऐसा ये लोग क्यों नहीं कहते? बात यह है कि मामला अमेरिका का है। वह धर्म की स्थापना भूतल पर कर रहा है। अमेरिकी पूँजीपति को हिंदू को चूहा और सूअर समझने का अधिकार है। भारतीय पूँजीपति को तो है ही। अमेरिकी सरकार को जंगी बेड़ा भेजकर हिंदुओं को उठाने का अधिकार है। हिंदू का कर्तव्य है कि वह अपने पर चूहे की तरह अमेरिकी दवा का प्रयोग कराए और अमेरिकी बेड़े से डरे। यही हिंदू गौरव है। यही हिंदू राष्ट्र की नीति है। यही हिंदू धर्म है। यही भारतीय संस्कृति है। धन्य है ये जाति, धर्म, संस्कृति के रक्षक!

क्या इसीलिए कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। महँगाई को रोएँगे, लेकिन दीवाली ठाठ से ही मनाएँगे। जैसे-जैसे महँगाई बढ़ती है, वैसे-वैसे उत्सव बढ़ते हैं। पिछले साल शहर में दो सौ पचास दुर्गा प्रतिमाएँ रखी गई थीं। इस साल और महँगाई बढ़ी तो तीन सौ प्रतिमाएँ हो गईं। पिछले साल भी दीवाली पर रोशनी और धूम-धड़ाका था, पर इस साल महँगाई बढ़ी तो ड्योढ़ा हो गया। बड़ी उत्सव-प्रेमी जाति है हमारी। बीच में जो कुछ भी हुआ हो, वैदिक आर्यों की वह मस्त 'स्पिरिट' अभी इस भारतीय जन में बाकी है। वैदिक आर्य उत्सव-प्रेमी था। मस्त था। खाता-पीता, नाचता था। गेहूँ पैदा करना उसे पहले नहीं आता था, पर उसने तब भी वह सोमलता खोज ली थी, जिससे सोमरस निकलता था। यानी घर में रोटी का ठिकाना नहीं है पर दारू की भट्ठी जरूर खोले बैठे हैं। वह आर्य देवों को भी यज्ञ में बुलाता था—तुम भी पीओ। खाओ। हमें बल दो। अन्न दो। गायें दो। शत्रुनाश करो। वे ऋषि कुछ ज्यादा पी गए होंगे जिन्होंने सोम की स्तुति में कई श्लोक कहे। यह आर्य देव के सामने गिड़गिड़ाता नहीं था। तू दयालु-दीन है, तू दानी है, भिखारी ··· या मो सम कौन कुटिल खल-कामी ··· या अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल, काम-क्रोध को पहर चोलना कंठ विषय की माल—वह यह कुछ नहीं कहता था। वह स्वाभाविक रूप से काम और क्रोध में उड़कर लिप्त होता था। यह दीनता, हीनता, नकार, गिड़गिड़ाहट बाद में आई, पर वह वैदिक आर्य की उत्सव-प्रियता अभी थोड़ी है।

आगे उपनिषदों से ब्रह्म प्रकट हुए। जगत् मिथ्या हुआ। माया हुआ। मोक्ष-प्राप्ति जीवन का उद्देश्य हो गया। जीवन को नकारने का धर्म आया स्मृतियों तक तो यह हो गया

कि ब्रह्म को मानो चाहे न मानो, मूर्तिभंजक हो या मूर्तिपूजक, भक्तिमार्गी हो या ज्ञानमार्गी, शैव हो, वैष्णव हो, आस्तिक हो, नास्तिक हो—कोई बात नहीं। ब्रह्म को मारो गोली। ईश्वर को भाड़ में जाने दो। पर खबरदार, जो वर्ण-व्यवस्था है, उसे मानना पड़ेगा। केवल यही धर्म है। वर्ण धर्म। सामाजिक-आर्थिक शोषण की जो यह व्यवस्था है, इसे मानना ही धर्म है। माना कि तुम नीचे वर्णों के लोगों को दुख है, पर यह तो पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। इस जन्म में पुण्य करो तो अगले जन्म में ब्राह्मण भी बन सकते हो। इस जन्म में तो तुम्हारे लिए कुछ हो नहीं सकता। पुण्य क्या है? ऊँचे वर्णों की सेवा करो और फल की चाह मत करो, चूँ-चपड़ मत करो, अगले जन्म में तुम्हें सुख मिलेगा।

वैदिक युग में जो कारीगर देवता के बराबर माना जाता था वह स्मृतियों में शूद्र हो गया। पतन है। अभी मेरे पास एक युवक आया था। वह ब्राह्मण है। उसने एम.ए. किया है। उसने अपने साथ पढ़नेवाली कायस्थ लड़की से शादी कर ली, अब लड़की के माता-पिता उसे भेजते नहीं पति के पास। इधर इस युवक ने मुकदमा दायर कर रखा है। वह कह रहा था—मेरे ससुर कहते हैं कि तुम ब्राह्मण हो। पूज्य हो। हम तुम्हारे चरणों की पूजा करते हैं, पर तुम्हारे इस विवाह से जो संतान होगी, वह 'वर्णसंकर' होगी। यह अधर्म है। यह पाप हम नहीं कर सकते।

इसी कारण हमारी हस्ती तो नहीं मिटती, पर हम जिंदा भी नहीं रहते। महँगाई का इतना रोना रोते हैं, मगर उधर देखो—कीमती साड़ियों की दूकानों पर, आभूषणों की दूकानों पर, महँगे कपड़ों की दूकानों पर, कॉस्मेटिक्स की दूकानों पर भीड़ लगी है। कहाँ बढ़ी है गरीबी? किनके लिए बढ़ी है? वे कौन हैं जिनके लिए महँगाई उनकी समृद्धि का कारण है। हजारों दीनहीन जन रोशनी देखते सड़क से गुजरते हैं, इन्हें गुस्सा नहीं आता कि एक-दो दूकानों को लूट लें, आग लगा दें।

ऐसा 'प्रोटेस्ट' नहीं करते। इसलिए इनकी हस्ती तो नहीं मिटती, पर ये जिंदा भी नहीं रहते।

ये मिट्टी के दीये जलाकर लक्ष्मी की पूजा कर लेते हैं, पर ऐसे लक्ष्मी नहीं मिलती। लक्ष्मी की उत्पत्ति की कल्पना अद्भुत है। वह समुद्र-मंथन से अन्य रत्नों के साथ निकली थी। समुद्र-मंथन अकेले देवों ने नहीं किया था। उसके लिए दानवों का सहयोग लिया था। जब रत्न निकले तो दानवों को तो मदिरा पिला दी और लक्ष्मी को विष्णु ले उड़े।

यानी बिना 'दानवत्व' के इस व्यवस्था में लक्ष्मी नहीं मिलती। दानवत्व ग्रहण करो। पूजा से कुछ नहीं होता। यह लक्ष्मी कमल के फूल पर बैठती है, कितनी फूहड़ता है ! यह क्या फूल कोई कुर्सी या दरी है? यह फूल पर बैठने का फूहड़पन हमारे नवधनाढ्य वर्ग में आ गया है। समृद्धि 'वल्गर' बना दी गई है।

और हस्ती हमारी मिटती नहीं है। मगर हम जीते भी नहीं हैं। पूरी कौम ही 'पिटनी बहू' हो गई है।

☯

इस्लाम के कोड़े

रावलपिंडी में एक मैदान में आठ-दस हजार की भीड़ है। पाकिस्तान में सभा हो नहीं सकती, जुलूस निकाले नहीं जा सकते। दस-बारह आदमी कहीं इकट्ठे हों तो फौरन वहाँ पुलिस या मिलिटरी का जवान आ जाता है। फौजी तानाशाह इन्सानों से डरता है। अलग-अलग इन्सानों से कम डरता है, पर इकट्ठे इन्सानों से बहुत डरता है। तानाशाह एक डरपोक आदमी होता है। अगर पाँच गधे भी साथ-साथ घास खा रहे हों, तो तानाशाह को डर पैदा होता है कि गधे भी मेरे खिलाफ साजिश कर रहे हैं। (हालाँकि गधे अपनी बिरादरीवाले के खिलाफ साजिश नहीं करते।)

फिर यह आठ-दस हजार की भीड़ कैसी है? न मेला है, न ईद का बाजार, न क्रिकेट टेस्ट।

यह जनरल जिया के इस्लामी उत्सव की भीड़ है। इस्लामी अदालत ने कुछ आदमियों को कोड़ों की सजा दी है। वे टिकटिकी से बाँधे गए हैं। बदन नंगा है। हत्या के अपराध में जेल भुगत रहे खूँखार कैदियों को महीने-भर से बढ़िया खाना खिलाकर तगड़ा किया गया है और कोड़े मारने का अभ्यास कराया गया है। अपराधी को कोड़े पड़ते हैं, खून का झरना फूटता है, मांस का लोथड़ा निकलता है, वह चीखता है। इधर पाँच-दस हजार लोग, जो मनुष्य हैं, हैरान नहीं हैं, जो सुसंस्कृत हैं, खुदा पर यकीन रखते हैं, ताली बजाते हैं, खुशी मनाते हैं। बीच-बीच में 'अल्ला हो अकबर' की आवाज गूँजती है।

आदमी स्वभाव से क्रूरता पसंद नहीं करता है। क्रूरता से आदमी नफरत करता है। वह क्रूरता की तरफ से मुँह फेर लेता है, मगर यहाँ लोग तमाशा देख रहे हैं, ताली बजा रहे हैं, खुश हो रहे हैं।

यह क्या है? यह उन्माद है, जिसे तानाशाह जिया और मुल्ला लोगों ने पैदा किया है। इसी उन्माद के भरोसे वे लोकतंत्र को दबाए रखना चाहते हैं। इसी उन्माद के दम पर तानाशाह अपने को सत्ता में रखना चाहते हैं। इसी उन्माद से जनता के अधिकारों की माँग को दबाया जा रहा है। यह इस्लाम का उन्माद है, जो पाकिस्तान और ईरान में उखाड़ा जा रहा है। कोई कल्पना नहीं कर सकता कि चौबीस घंटे खुदा के करीब रहनेवाले, लोगों को नमाज पढ़ानेवाले परम धार्मिक मुल्ला इतने क्रूर होते हैं।

मजहब इन्सान को सुसंस्कृत न बनाकर बर्बर बना दे, तो मजहब को क्यों गले में लटकाए रखा जाता है। फौजी तानाशाह कभी लोकप्रिय नहीं होता, वह हैवानी ताकत से सत्ता पर कब्जा करता है—बंदूक और टैंक की ताकत से। अब जनता को भ्रम में रखने के लिए उसे मजहबी हैवान चाहिए जो अज्ञान और अंधविश्वास को ही सच्चा धर्म बताए। ऐसे हैवान उसे मुल्ला, पंडित, पादरी के रूप में मिल जाते हैं। ये आम लोगों को सिखाते हैं, इस्लाम क्या है? इस्लाम कोड़े लगाना, हाथ काटना, आँखें निकाल लेना है। इस्लाम बुर्का है। देखो, कोड़े लग रहे हैं सरेआम!

जनरल जिया ने इस्लामी हुकूमत कायम कर दी। इस्लाम जिंदाबाद! जनरल जिया जिंदाबाद! अब कोई जरूरत नहीं है आर्थिक सुधार की, बेकारी मिटाने की, मजदूरी बढ़ाने की। कोई जरूरत नहीं है, नागरिक अधिकार बहाल करने और चुनाव कराने की। सब कुछ अल्ला मियाँ जन्नत में देंगे। इधर मत माँगो, यह रहस्य है इस दृश्य का कि कोड़े लग रहे हैं और हजारों लोग ताली बजा रहे हैं। मगर जिया जानते हैं कि यह तरकीब भी कारगर नहीं होगी। वह कहीं भागेंगे। पर कहाँ भागें? सुना है उनके बीवी-बच्चे अमेरिका में हैं और वहाँ उन्होंने प्रॉपर्टी खरीद ली है। मगर अब अमेरिका में भी जालिम शाह और तानाशाह सुरक्षित नहीं हैं।

ईरानी छात्रों ने अमेरिकी दूतावास में साठ अमेरिकी बंधक रखकर अमेरिका की सरकार को मजबूर कर दिया कि वह शाह को अमेरिका से भगा दे। जनरल जिया जमाअते इस्लामी के अपने सलाहकार इमाम से पूछते होंगे—हमें कहाँ पनाह मिलेगी? जिस देश जाएँगे वहीं के दूतावास को ये लड़के घेर लेंगे और मुझे वहाँ से निकलवा देंगे। मुल्ला अपनी सीमित अक्ल के हिसाब से कहता होगा—कोई फिक्र नहीं। कोई जगह नहीं मिले, तो एक जगह है, जहाँ आप मजे में रह सकते हैं। वह जगह है जहन्नुम!

उधर ईरान में भी जनता ने जानें देकर जो इंकलाब किया, उसे अयातुल्ला, मुल्ला और इमाम खत्म कर रहे हैं। इस समय वहाँ यह हाल है कि कोई भी भीड़, जिसे किसी मुल्ला का समर्थन प्राप्त है, कोई भी बेवकूफी, दुस्साहस या जुल्म करे, वह क्रांति माना जाता है। सरकार 'एक कल तक थी, मगर अदालतें मस्जिद में लगती हैं।' फौज को और पुलिस को मुल्ला हुकुम देते हैं। मुल्ला लोग भीड़ को इस्लाम के नाम पर चाहे जिस पर छोड़ देते हैं। इन्साफ शरीअत के मुताबिक हो रहा है। मुल्ला काजी है। अब्बू मियाँ ने मुल्ला की बकरी को पत्ती नहीं खाने दी, तो अब्बू मियाँ ने इस्लाम के हिसाब से जुर्म किया है। उन्हें पाँच कोड़े लगाए जाएँ। इब्राहीम ने मुल्लाजी के घर कल मुफ्त गोश्त नहीं भेजा तो इस्लाम खतरे में पड़ गया है। इब्राहीम को दस दिन की जेल की सजा दी जाती है।

इन अयातुल्लाओं को आर्थिक-सामाजिक स्थितियों की न कोई जानकारी है, न वे उसे सुधारना चाहते हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का भी सीमित ज्ञान है। धार्मिक नेताओं की फासिस्ट सत्ता कायम करने के लिए ये लोकतांत्रिक और जनवादी ताकतों को खत्म करने पर तुले हैं। तूदेह पार्टी, फदायीन और मुजाहदीन शाह के विरोध के आंदोलन में सबसे आगे रहे हैं। ये कट्टर साम्राज्यवादी-विरोधी हैं। मगर मुल्ला लोग अब इनकी मौत माँग रहे हैं, धार्मिक नेता इस्लाम के नाम पर ईरानियों का अमानवीयकरण करने में लगे हैं। रेडियो पर संगीत बंद कर दिया गया है। टेलीविजन पर स्त्री दिखाने का सवाल ही नहीं है। कविता भी मारी जाएगी। संस्कृति का नाश होगा—धर्मांधों के हाथ। ईरानी क्रांतिकारी स्त्री के हाथ में राइफल होती है और चेहरे पर चादर।

अभी एक स्टंट और हो रहा है। तीन वेश्याओं को गोली मार दी गई। धर्म में सीधे सवाल के सीधे जवाब होते हैं और ये धर्मांध बेवकूफों को संतुष्ट भी करते हैं। ये औरतें

वेश्या क्यों हुईं? शौक के लिए हुईं। बदचलन हैं। ठीक। गोली मार दो। इस आदमी ने रोटी क्यों चुराई? बेईमान है। ठीक, जेल भेज दो।

अयातुल्ला का दिमाग यह समझाने के काबिल नहीं है कि आर्थिक सुधार नहीं हुए तो घर-घर में रंडियाँ हो जाएँगी। औरत भूख के कारण वेश्या होती है। और जरा उन मुल्ला लोगों से पूछा जाए, जो तीन बीवियाँ रखे हैं। जनाब, एक बीवी तो काफी हुई आपके साथ सोने, रोटी बनाने और बच्चा पैदा करने के लिए, फिर ये बाद की दो बीवियाँ किसलिए ? ये तो रंडियाँ ही हुईं न, जिन्हें आपने रोटी-कपड़े पर रख छोड़ा है, आपके जिस्म की ख्वाहिश पूरी करने के लिए, या आप खुद 'मर्द' वेश्या हैं जो तीन औरतों की जरूरत पूरी कर रहे हैं। अब शरीअत के मुताबिक या तो आप गोली खाइए या इन औरतों को गोली मारिए।

धार्मिक उन्माद पैदा करना, अंधविश्वास फैलाना, लोगों को अज्ञानी और क्रूर बनाना राजसत्ता, धर्मसत्ता और पुरुषसत्ता का पुराना हथकंडा है। हिंदू पीछे नहीं हैं मुसलमानों से। बालासाहब देवरस खुश होंगे कि हमारे कौटिल्य ने स्पष्ट आदेश दिया है कि राजा को प्रजा में अज्ञान और अंधविश्वास का प्रचार करना चाहिए। यह राजा का कर्तव्य है, निष्कंटक राज करने के लिए। जिया और खोमैनी हमारे कौटिल्य का आदेश ही मान रहे हैं। देखा, हिंदू धर्म और संस्कृति का जोर! हमारे स्मृतियों, विधानों में भी ऐसे दंड देने का आदेश है, जिनके नाम से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उन्माद पैदा करके लोगों को क्रूर बनाने, हैवान बनाने में भी हम किसी से कम नहीं हैं। अभी तीन माह पहले एक बीस साल की लड़की को मृत पति की चिता में डालकर 'सती' कर दिया गया। उसे जिंदा जलाया गया।

हमारे सामान्य नर-नारी किसी की कटी अँगुली भी नहीं देख सकते। पर वही हजारों दयालु नर-नारी उस चिता के आसपास खड़े लड़की को जलते देख रहे थे। उसकी चीख को 'सती मैया की जय' में डुबा रहे थे। इन दयालु स्त्री-पुरुषों को क्या हो गया था? इन्हें भी धार्मिक और परंपरागत उन्माद से हैवान बना दिया गया था। और अब हजारों स्त्रियाँ साल-भर तक सती की चिता में नारियल चढ़ाएँगी। इनमें बदचलन जरूर आगे रहेंगी—सती की पूजा में। कबीरदास ने कहा है—'चली कुल-बोरनी गंगा नहाय कै।' कुल-बोरनी ज्यादा गंगा नहाती है।

हम दूसरी जातियों पर थूकें तो वह अपने ही ऊपर गिरेगा। हमारा सौभाग्य यह है कि हमारे शंकराचार्य उन्माद पैदा नहीं कर सकते, जैसा कि अयातुल्ला और इमाम कर सकते हैं। शंकराचार्यों की इस अक्षमता ने हमें बहुत बचाया। पर उन्माद बालासाहब देवरस तो पैदा कर सकते हैं। उनमें अयातुल्ला भी हैं और जनरल जिया भी हैं। अगर उनकी कल्पना का हिंदू राष्ट्र हो गया तो यहाँ हिंदुओं की वही दुर्गति होगी जो ईरान और पाकिस्तान में मुसलमानों की हो रही है। यहाँ भी हिंदुओं को सरेआम कोड़े पड़ेंगे, उनके हाथ काटे जाएँगे, उन्हें बैल की तरह गाड़ी में जोता जाएगा।

◆

राजनैतिक स्लो-पॉयजनिंग

लोग हैरत में हैं कि आखिर यह जनता पार्टी इतनी जल्दी क्यों टूट रही है? आत्महत्या करने पर क्यों उतारू है? रोज या तो धतूरा खाती है, या टिक्-ट्वेंटी खा लेती है या काँच निगल लेती है। कभी कुएँ के कगार पर कूदने जाती है, कभी रेललाइन पर लेटती है।

असल में जनता पार्टी को अपनी जिंदगी का कोई भरोसा नहीं है, इसलिए वह जल्दी में है। कांग्रेस तो यह सोचती थी, विश्वास करती थी कि हमें अनंतकाल तक राज करना है, इसलिए उसे जल्दी नहीं थी। न टूटने की जल्दी, न मरने की। मगर जनता पार्टी को यह विश्वास भी नहीं है कि पाँच साल जिंदा रहेगी, इसलिए हरेक को जल्दी है।

अगर किसी आदमी से कह दिया जाए कि तुम सिर्फ एक साल जिंदा रहोगे, तो वह सोचेगा—एक साल तो कुल जिंदगी है। आगे तो जीना नहीं है। इसलिए जब तक जिंदगी है, मौज-मजा कर लो। वह शराब पीएगा-खाएगा, रंडीबाजी करेगा और कुल छह महीने में मर जाएगा। ऐसे आदमी को जयप्रकाश नारायण और कृपलानी समझाएँगे कि अरे भाई, यह क्या करते हो? कुछ अपने स्वास्थ्य का तो खयाल रखो। तो वह जवाब देगा—कैसा स्वास्थ्य? अरे, जब एक ही साल जीना है तो मौज-मजा क्यों न कर लें।

जनता पार्टी एक ऐसा प्राणी है जिसे प्रकृति वैचित्र्य कहते हैं। इसका आकार मनुष्य का है, सिर बारहसिंघा का है, दिमाग बंदर का है, मुँह भालू का, दिल खरगोश का, पैर हाथी का, पाँव घोड़े का। बारह सींगों से यह दल हमला करना चाहता है, तो खरगोश का दिल रोक देता है। घोड़ों के पाँवों से दौड़ना चाहता है तो बंदर का दिमाग वहीं कौतुक कराने लगता है। भालू खाऊँ-खाऊँ करता है और हाथी का पेट भरता ही नहीं है।

जनसंघ का रोल सियार का है, वह इस जानवर में होकर भी इसमें नहीं है। जनता पार्टी के इस जंगल में जनसंघ सियार है। सबको बुद्धू बनाता है। शेर के पास जाकर कहता है—वह हाथी आपको जंगल का राजा नहीं मानता। उस टुच्चे की इतनी हिम्मत ! फिर हाथी के पास जाकर कहता है—आपका इतना डील-डौल और वह पिद्दी शेर अपने को जंगल का राजा कहता है।

इससे भी मीठी बात और उससे भी मीठी बात। सामने कुछ, पीछे कुछ। पिंजारा कंधे पर पींजन और हाथ में मुठिया लिये जा रहा था रुई धुनकने। किनारे पर बैठे सियार श्रेष्ठ धूप ले रहे थे। सियार ने कहा—

काँधे धनुष हाथ में बाना,
कहाँ चले दिल्ली सुलताना?

पिंजारा फूलकर कुप्पा हो गए। जवाब दिया—

जंगल का राजा, फलों का खाना,
बड़े की बात बड़े पहचाना!

पिंजारा जरा आगे निकला तो सियार चिल्लाए—

काँधे पींजन हाथ में मुठिया,
कहाँ चले रे बैना दुखिया?

पिंजारा गुस्से से मुड़ा तो सियार भाग चुके थे।

मगर इतिहास बनाने का हरेक को हक है। तपेदिक के मरीज को इतिहास बनाने का हक है, तो जनता पार्टी को भी है। वह बना रही है। पश्चिम में नंगों के क्लब हैं। वे लोग नग्नता का दर्शन बनाए हुए हैं। ये जनता नेता भारतीय संस्कृति से अपने को ऐसे ढाँके हैं जैसे 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' में जीनत अमान कपड़े से अपने को ढाँकती है।

हर नेता दूसरे की धोती खींचता है। कुछ तो शुरू से ही सिर्फ चड्डी पहने हैं। ये नाड़ा खींचते ही नंगे हो जाते हैं। चरणसिंह तो कांतिभाई का नाड़ा खींचकर मोरारजी को नंगा रह रहे हैं। अभी मधुलिमये ने भी नाड़ा खींचा। उनका कहना है—कांतिभाई ने अस्सी लाख रुपया जनता पार्टी के चुनाव कोष के लिए इकट्ठा किया। यह क्यों किया ? किस हैसियत से किया ? तो नंगई के पुराने उस्ताद चंद्रभानु गुप्त ने मधुलिमये की चड्डी का नाड़ा खींच दिया। कहा—कांतिभाई तो चुनाव फंड समिति का सदस्य है। उसने मेरे आदेश से पैसा इकट्ठा किया।

पर मधुलिमये और नानाजी देशमुख तथा उनके लोगों ने जो पैसा इकट्ठा किया था वह जमा क्यों नहीं किया? वह कहाँ है? वह तो उन्होंने अपने ही गुटवालों को बाँट दिया था।

हजार साल बाद इतिहास का विद्यार्थी पढ़ेगा—12 अगस्त, 1978 को एक बर्बर कबीले ने दिल्ली पर हमला किया। इस कबीले का सरदार चरणसिंह नाम का एक दुस्साहसिक योद्धा था। यह तूफानी दस्ता लाठी और पत्थर से लैस था। ये आक्रमणकारी नारा लगा रहे थे—लाठी-गोली खाएँगे, चरणसिंह को बचाएँगे। इन्होंने राजा मोरारजी देसाई के किले पर हमला कर दिया।

राजा के रक्षक दल और हमलावरों में जमकर युद्ध हुआ। हमलावर कबीलेवाले खदेड़ दिए गए। किला फतह होते-होते बच गया। कबीले का सरदार और बड़ी फौज लेकर हमले की तैयारी करने लगा। इस हमले से महमूद गजनवी और चंगेजखाँ के हमलों की याद ताजा हो गई। सरदार चरणसिंह जब किले पर अपना झंडा चढ़ाने के लिए पहुँचे तो उन्हें युद्धस्थल पर ईंटें, पत्थर और घायल योद्धा पड़े दीखे।

यों मरीज असंयम करके जल्दी मरने की कोशिश कर रहा है, पर उसे बार-बार समझौते की ऑक्सीजन दे दी जाती है।

फिर एक समझौते की ऑक्सीजन दी जाएगी।

इन जनता नेताओं की अपनी नावें डूब चुकी थीं। इन्हें एक बड़ा पटिया तैरता मिल गया और उस पर ये बैठ गए। परस्पर दुश्मन, इन्होंने यह तय किया कि हम एक-दूसरे पर थूकेंगे, गाली देंगे, पर इतना धक्कम-धक्का नहीं करेंगे कि सब डूब जाएँ।

मगर लहरें तेज उठ रही हैं।

गांधीवादी के असत्य के प्रयोग

आज 28 जुलाई है। दोपहर बाद चरणसिंह प्रधानमंत्री पद की शपथ ले लेंगे। मोरारजी आखिरी बार गांधीवादी सत्य का झटका देकर राजनीति से संन्यास ले चुके। आखिरी 'सत्य' यह था कि राष्ट्रपति को धोखा देने की कोशिश की। अपने समर्थकों की लिस्ट में कांग्रेस के सदस्यों के नाम दे दिए। यह झूठ था। पर इतना झूठ गांधीवादियों के लिए पवित्र है। सोचा यह था कि इस झूठी लिस्ट पर धाँधली में राष्ट्रपति से मंत्रिमंडल बनाने का निमंत्रण ले लेंगे। फिर सरकार बनाने के बाद दबाव और लोभ से बहुमत कर ही लेंगे। पर यह धोखा नहीं चला।

मोरारजी संन्यास लेंगे। दो फायदे हैं। वे कहते रहे हैं कि मैं ईश्वर और सत्य की खोज में लगा हूँ, जबकि वे हमेशा पदों की खोज में रहे। अब शायद उन्हें यह सत्य पकड़ में आया हो कि पद ईश्वर नहीं है। वे अब सच्चे ईश्वर की खोज कर सकते हैं। दूसरा फायदा भी है। कांतिभाई को बचाने का एक ही तरीका है कि संन्यासी हो जाएँ। इस देश की भावना यह है कि साधु-संन्यासी के बेटों को माफ कर दिया जाता है। लोग कहते हैं—"कुछ भी हो भैया, आखिर उसका बाप साधु है। छोड़ो उसे, नहीं तो साधु की आत्मा कलपेगी।" मगर मोरारजी के संन्यास का भी क्या भरोसा? घर में चोरी हो जाने पर कोई-कोई कहते हैं—"अब तो दुनिया से मन ऊब गया। सब माया है।" निराशा की नैतिकता भी स्थायी नहीं होती।

पर लोकनायक दुःखी हैं। कहते हैं—"मेरा लगाया बाग उजड़ रहा है।" बहुत अच्छा हो रहा है। उन्होंने बाग में कोई गुलाब और आम नहीं लगाए थे, जो फूल और फल देते। उन्होंने बबूल और भटकटैया लगाए थे, जिनके काँटे चुभने लगे थे। बाग नहीं उजड़ता तो काँटे-ही-काँटे बिछ जाते और राह चलना मुश्किल हो जाता।

अभी मेरे पास दो-तीन मित्र बैठे थे। एक ने कहा—ये लोग इतिहास की कूड़ेदानी में जाएँगे।

दूसरे ने कहा—नहीं जाएँगे। इतिहास की कूड़ेदानी में सीमित जगह है। इतने सबको वहाँ कैसे भरेगा इतिहास? कुछ खास-खास को ही इतिहास की कूड़ेदानी में जगह मिलेगी। बाकी सब इतिहास के रास्ते में धूल की तरह पड़े रहेंगे और कुचले जाएँगे।

राजनारायण की जय चरणसिंह से ज्यादा हो रही है। अब कोई राजनारायण को जोकर नहीं कहता। राजनारायण ने महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक लड़ाई लड़ी है। वे अब किसी तीर्थ में दाढ़ी मुड़ाने जाएँगे। इंदिरा गांधी को हराने के बाद राजनारायण ने विन्ध्यवासिनी देवी की शरण में मुंडन कराया था। आठ-दस दिन बाद अखबारों में समाचार छपा कि देवी के गहने चोरी चले गए। यह है राजनारायण का पराक्रम। पता नहीं इस बार किस देवी-देवता की शामत आई है।

मुझे अपने 'बाबूजी' की बड़ी चिंता थी। इनका बंगला और तनखा गई। बाबूजी का बंगला और तनखा जाने लगती है तो उनकी तबीयत खराब हो जाती है। पर देखो, बाबूजी

जनता संसदीय दल के नेता हो गए। उनका बंगला भी रह गया और तनखा भी। बाबूजी को दरबार में पड़े रहना आता है—वह दरबार नेहरू का हो, नंदा का हो, शास्त्रीजी का हो, इंदिरा गांधी का हो या मोरारजी का। जनता पार्टी बालासाहब देवरस का दरबार है। यहाँ भी बाबूजी पड़े हैं। अगर चव्हाण या चरणसिंह के दरबान सहमत होते तो उस दरबार में भी बाबूजी घुस जाते। बाबूजी सब कहीं 'विनय पत्रिका' लिखते हैं—

'कबहुँक अम्ब अवसर पाइ
मेरि औ सुधि धाइबी कछु
करुण कथा चलाय।'

हे माता, प्रभु के सामने कुछ करुण कथा चलाना जिससे उनका दया का 'मूड' बने। फिर अवसर पाकर मेरी याद दिलाना कि एक बेचारा जगजीवनराम दीन-दुखी पड़ा है। उस पर कृपादृष्टि हो जाए, प्रभु तो वह प्रधानमंत्री हो जाए। बाबूजी ने यशवंतराव चव्हाण से कहा—अगर मुझे प्रधानमंत्री बनाते हो तो मैं भी अपने साथियों समेत बाहर आ जाता हूँ। चव्हाण ने ऐसा वादा नहीं किया तो बाबूजी ने नानाजी को फोन लगाकर कहा—नानाजी, इंदिरा गांधी की तानाशाही चरणसिंह के सहयोग से फिर जिंदा हो रही है। हमें जनता पार्टी को संगठित करके उससे लड़ना है।

फासिस्टवाद मगरमच्छ की तरह है। संघ का फासिस्टवाद भी मगरमच्छ है। वह एक-एक कर निगलता है। जनता पार्टी में यही सिलसिला चल रहा है। चंद्रशेखर निगल लिए गए। उनकी एक टाँग ही बाहर दिख रही है। टाँग को पकड़ कृष्णकांत भी मगर के मुँह में जा रहे हैं। जयप्रकाश में इतनी ताकत नहीं रही कि वे चंद्रशेखर की टाँग पकड़कर बाहर खींच लें। जनता सरकार संकट में आई तो चंद्रशेखर जयप्रकाश से सलाह लेने नहीं गए। वे बालासाहब देवरस से सरकार बचाने की प्रार्थना करने नागपुर गए। चंद्रशेखर की कोशिशों में कमी नहीं रही। अगर राष्ट्रपति दो-तीन दिन का समय और देते तो चंद्रशेखर चंबल की घाटी में डाकू गिरोहों के सरदारों से सलाह लेने आनेवाले थे।

बाबूजी का भला हो। रहे वे सिंडीकेटी कांग्रेसी जो 1969 में खत्म हो चुके थे। और वे प्रजा-समाजवादी जो लोहिया के उग्र कार्यक्रम से भाग खड़े हुए थे।

मुझे चरणसिंह की बातें सुनकर बड़ा मजा आ रहा है। वे पहले ही बयान में कहते हैं—हम वर्गविहीन समाज की स्थापना करेंगे। पता नहीं यह सुनकर भूपेश गुप्त और राममूर्ति से चाय पी गई या नहीं। चौधरी साहब समाजवाद का भी समर्थन करने लगे। सब दिनों का फेर है। पहले ऐसा था कि कोई चौधरी साहब के सामने 'समाजवाद' शब्द कहता तो वे नौकर से कहते थे—जरा मेरा डंडा उठाना। उनका एक ग्रंथ है—'सहकारी खेती की शवपरीक्षा'। मगर वास्तविकता आदमी को बहुत सिखा देती है।

चौधरी साहब को यह भ्रम शायद हो कि यह सारे संघर्ष मेरी महत्वाकांक्षा के लिए हुए हैं।

वे प्रधानमंत्री न बनते अगर राजनारायण ने खुले मैदान में और संगठनात्मक रूप

से संघर्ष न किया होता। मधुलिमये ने बहुत प्रभावशाली ढंग से इस हिंदू फासिस्टवाद का सही चरित्र उभारा और लोकतांत्रिक तथा वामपंथी शक्तियों की एकता का प्रयत्न किया। यह लोकतांत्रिक और वामपंथी एकता का नतीजा है कि वे प्रधानमंत्री हुए हैं। वे अपने को राजा सूरजमल जाट द्वितीय न समझने लगें।

इस समय सीधा बँटवारा है राजनैतिक शक्तियों का। लोकतांत्रिक, गैर-सांप्रदायिक और प्रगतिशील शक्तियाँ बनाम सांपद्रायिक, फासिस्ट शक्तियाँ। सीधी लड़ाई है। अभी संघ कई पैंतरे लेगा, घोषणाएँ करेगा, वादे करेगा। बाबूजी के साबुन को घिसकर उजला होने की कोशिश करेगा। जो उस पर विश्वास करेगा, उसे राजनीति छोड़कर मूँगफली बेचना चाहिए या सट्टा लिखना चाहिए।

इस वक्त राजनीतिज्ञों को दुश्मन नंबर एक तय करना होगा। राजनैतिक जड़ता बड़ी खराब चीज है। जो इंदिरा गांधी को दुश्मन नंबर एक अभी भी मानते हैं, उन्हें सोचना पड़ेगा। साम्यवादी दल और समाजवादियों ने और कांग्रेस ने यह सोचा है और दुश्मन नंबर एक संघ को मान लिया है। मार्क्सवादी अभी शास्त्र पलट रहे हैं। नंबूदरीपाद का स्कूल में गणित कमजोर रहा होगा। वे चरणसिंह से कहते हैं कि इंदिरा कांग्रेस के तिहत्तर छोड़ो तो हमारे बाईस तुम्हारा समर्थन करेंगे। ये बाईस क्या गुरु गोविंदसिंह के सिपाही हैं जो एक सवा लाख के बराबर होता है। इंदिरा कांग्रेस तो चरणसिंह क्रा समर्थन करती ही। बिना माँगे भी करती। इंदिरा ने कोई धर्मादा नहीं खोला है।

वे राजनीतिज्ञ हैं। जनता सरकार को गिराने में उनका हित है। उनके सिद्धांतों की जीत भी है। उनकी पार्टी लगातार संघ से लड़ रही है। सैद्धांतिक लड़ाई है यह फासिस्टवाद के खिलाफ। नदिया जिले में जो भयंकर सांप्रदायिक दंगा हुआ, उसके बाद भी मार्क्सवादियों को दुश्मन नंबर एक समझ में नहीं आता।

अतिक्रांतिकारी

मेरी एक अतिक्रांतिकारी से मुलाकात हो गई। एक बेचारा मामूली क्रांतिकारी होता है, जो क्षेत्र में काम करता है। भूखा रहता है। सूखी रोटी और प्याज झोले में लेकर चलता है, पिटता है, जेल जाता है। यह मामूली क्रांतिकारी है। एक अतिक्रांतिकारी होता है, विशिष्ट। यह दिन में दाढ़ी 'ट्रिन' कराता है, कॉफी हाउस में बैठकर कॉफी पीता है, बिटर कॉफी। क्रांति एक कड़वी चीज है। कॉफी में शक्कर डली हुई आई हो, तो चम्मच से उसे निकालकर टेबिल पर डाल देता है, जिस पर मक्खियाँ भिनकती हैं। सिगरेट के कुंदे को ऐश-ट्रे में नहीं, कॉफी के कप में डालता है। सिगरेट को ऐसे क्रोध से मरोड़कर बुझाता है, जैसे बुर्जुआ का गला घोंट रहा हो। दिन में यह क्रांतिकारी मार्क्स, लेनिन, माओ के जुमले याद करता है, रात को दोस्तों के साथ शराब पीता है और क्रांतिकारी जुमले दुहराता है। फिर मुर्गा इस

तरह खाता है, जैसे पूँजीवाद को चीथ रहा हो।

मेरी जिस क्रांतिकारी से भेंट हुई, वह दूसरे प्रकार का विशिष्ट था। दाढ़ी बड़ी मेहनत से सजाई हुई थी। बढ़िया कुरता-पाजामा। झोला भी उत्तम। सुनहरे फ्रेम का चश्मा। क्रांतिकारी के स्थानीय साथी ने परिचय दिया—सी.पी.आई. (एम.एल.) के उत्तर प्रदेश के सेक्रेटरी हैं। मैंने पूछा—एम.एल. के तो कई गुट हैं। एक से ज्यादा लाइनें हैं। आप किस गुट के हैं—सत्येंद्र नारायणसिंह के या खोकोन मजुमदार? या नेगी के साथ हैं ? लिन पियाओ लाइन अभी भी मानते हैं या डेंग सियाओ पिंग की कोई नई लाइन है? सी.पी.आई. (एम.एल.) का एक गुट तो सी.आई.ए. ने भी बना रखा है। क्रांति का इतना बड़ा कारोबार हो रहा हो और उसमें सी.आई.ए. का शेयर न लगा हो, तो यह असंभव है।

सवाल और रिमार्क मैंने एक साथ नहीं कर डाले, बातचीत में आते गए। उनका कहना था कि उनकी पार्टी इन सबसे अलग है। ये जितने गुट सी.पी.आई. (एम.एल.) के हैं, सब भ्रष्ट विचारधारा रखते हैं। हम लोग मार्क्सवाद-लेनिनवाद को उसके सही अर्थ में ग्रहण करते हैं। फिर उन्होंने वे मुहावरे मुख से निकाले और वे वक्तव्य दिए जिनसे हम लोग अच्छी तरह परिचित हैं—सामाजिक साम्राज्यवादी रूस और अमेरिकी साम्राज्यवादी में साठ-गाँठ है। दोनों मिलकर बाकी दुनिया पर कब्जा कर रहे हैं। इनमें अंतर्विरोध को बढ़ाएँगे। अफगानिस्तान के मामले में यही अंतर्विरोध प्रकट हो रहे हैं। सामाजिक साम्राज्यवादी रूस अफगानिस्तान पर कब्जा करना चाहता है। हम अमेरिका की मदद से इसका विरोध कर रहे हैं। रूसी साम्राज्यवादी पहला दुश्मन है—एनिमी नंबर वन! फिदेल कास्त्रो उधर रूसी साम्राज्यवादी का एजेंट है। उधर वियतनाम का फामवान डांग एजेंट है।

अच्छा कामरेड, अपने देश के बारे में भी तो कुछ सोचते होंगे? देश के बारे में क्या सोचना है? भारतीय एकाधिकार पूँजीपतियों और रूसी साम्राज्यवादियों ने मिलकर इंदिरा कांग्रेस की सरकार बनवा दी है। इस सरकार को हथियारबंद संघर्ष से गिराना है। आर्म्ड क्लास वार! ये अकाल-राहत कार्य क्या है? इंदिरा गांधी की इमेज बनाकर उसका शिकंजा मजबूत करने के लिए है। ज्योति बसु भी राहत कार्य खोलकर प्रतिक्रांतिकारियों का साथ दे रहा है। तो कामरेड, जो लोग प्यासे मर रहे हैं, उन्हें पानी पिलाने से क्या क्रांति पीछे हटती है? तो प्याऊ बंद कर देने से क्रांति नजदीक आ जाएगी? लोग भूख-प्यास से मर जाएँगे, तो क्या ठीक होगा? रेवोल्यूशन करना है तो आदमी के मरने की क्या चिंता? तो कामरेड, अगर पाँच लाख आदमी गंदा पानी पीकर हैजे से मर जाएँ तो क्या क्रांति हो जाएगी? क्या दस्त की बीमारी से भी क्रांति होती है?

ये बातें भी एक साथ नहीं हुईं, होती गईं। क्रांतिकारी ने कृषिशास्त्र में एम.एस-सी. तीन-चार साल पहले कर लिया था। पिता लोक-कर्म विभाग में अफसर थे। रिटायर हो गए हैं। उनके पास डेढ़ सौ एकड़ जमीन है। युवा क्रांतिकारी फॉर्म चलाते हैं। मैंने पूछा—कामरेड, आपके फार्म पर खेत-मजदूर तो होंगे। उन्हें मिनिमम वेज (न्यूनतम मजदूरी) आप क्या देते हैं? मुझे पता नहीं। हिसाब पिताजी देखते हैं। कामरेड, खेत-मजदूरों से काम आप लेते हैं

और मजदूरी पिता पर छोड़ देते हैं। आपके पिता न्यूनतम वेतन नहीं देते होंगे, यह पक्का है। और आप अपने पिता से न्यूनतम मजदूरी दिलाते नहीं हैं। तो मार्क्सवाद-लेनिनवाद के हिसाब से क्रांति के लिए हमेशा दूसरे के बाप की तलाश करना चाहिए। अपने बाप को खून चूसने की सुविधा दी जाती है क्रांति में। उस खून का एक हिस्सा क्रांतिकारी बेटा भी पीकर सर्वहारा का नेतृत्व करने बढ़ जाता है।

ये अतिक्रांतिकारी अपनी पार्टी के संगठन या प्रचार के काम से नहीं आए थे। कई साल पहले अमेरिकी सहयोग से खुले कृषि विश्वविद्यालय की मार्फत अमेरिका में 'फैलोशिप' प्राप्त करने की कोशिश के लिए आए थे।

क्रांतिकारी की यह नस्ल नई नहीं है, पहले भी थी। अब बढ़ गई है। कई सालों से देख रहा हूँ। अच्छी नौकरी लगने पर घूस खिलाकर पुलिस रिपोर्ट ठीक कराता है। अच्छा धंधा जमने पर मार्क्सवाद की जगह दो नंबरी दर्शन का अध्ययन करता है। जवानी में जैसे अच्छे कपड़े, अच्छे जूते, अच्छी टाई का शौक होता है, वैसे ही संपन्न घरों के कुछ युवकों को क्रांति का शौक हो जाता है। क्रांतिकारिता को वे एक और अच्छा सूट, एक और अच्छी टाई, एक और अच्छा जूता समझते हैं। इससे शोभा बढ़ती है, प्रतिष्ठा बढ़ती है। क्रांतिकारिता नया फैशन है। कुछ दिन ये क्रांतिकारी 'हीरो' बनकर उछल-कूद करते हैं। मैं कुछ क्रांतिकारियों को जानता हूँ जिनकी बाकी जिंदगी इस प्रचार को धोने में गुजरती है कि वे कम्युनिस्ट थे। क्रांतिकारिता, जिसे उन्होंने कभी द्वार पर रंगोली की तरह सजाया था, अब पाँवों में काँटे की तरह चुभती है। उसे वे नष्ट कर देना चाहते हैं। वे अखबारों में समय-समय पर बयान छपाते हैं कि यह 'दुष्प्रचार' है कि मैं कम्युनिस्ट हूँ। मैं कभी भी कम्युनिस्ट नहीं था। ऐसा वे नौकरी में सुरक्षा और तरक्की के लिए करते हैं।

एक विश्वविद्यालय है, जिसके बारे में प्रचार है कि वहाँ वामपंथी भरे हैं। वहाँ खूब आंदोलन होते हैं। कहते हैं, वहाँ उग्रवामपंथी भी बहुत हैं। खूब पोस्टर लगते हैं। प्रचार साहित्य बँटता है। बहसें होती हैं। मैंने एक वरिष्ठ अध्यापक से कहा—आपका विश्वविद्यालय तो वामपंथ का गढ़ है। वामपंथी दलों को बहुत कॉडर मिलता होगा आपके यहाँ से। उन्होंने कहा—"हाँ, सी.पी.आई., सी.पी.आई. (एम.) के भी बहुत हैं। अतिउग्रवादी वामपंथी भी हैं। पर वामपंथी दलों को बहुत कम कार्यकर्ता मिलते हैं। अधिकांश लड़के उच्चवर्ग के हैं, खाते-पीते घरों के। वामपंथी कहलानेवाला यह विश्वविद्यालय वास्तव में संपन्नों का है। बढ़िया खाते हैं, पीते हैं, पहनते हैं। बहस एय्याशी है। नारे मनोरंजन हैं। क्रांतिकारिता एक और स्कॉच की बोतल है। इनमें से जो खास क्रांतिकारी होते हैं, वे फैलोशिप लेकर अमेरिका चले जाते हैं या किसी मल्टीनेशनल में।

वामपंथी रूप धारण करके क्रांतिकारिता का नाटक करने से इन युवकों की कीमत बढ़ती है बाजार में। वे अपने खरीदार को जानते हैं। उसे माल की 'क्वालिटी' दिखाते हैं। क्रांतिकारिता के पानी में जो मछली ज्यादा उछलती और उतराती है, उसे अमेरिकी बगुला उतनी ही फुर्ती से पकड़ता है।

काशीनाथसिंह की एक बहुत अच्छी कहानी है ऐसे झूठे क्रांतिकारी पर। क्रांतिकारी कामरेड साथियों में बैठकर गुरिल्ला युद्ध की योजनाएँ बनाते हैं। फिदेल कास्त्रो, चेग्वेवारा, माओ, हो ची मिन्ह का नाम जपते हैं। कामरेड की शादी कर दी जाती है और वे कर लेते हैं। कार में अपनी दुल्हन को लेकर आ रहे हैं। सोच वे क्रांति ही रहे हैं। नारी उनके लिए अर्थहीन है। उन्होंने क्रांति का वरण किया है। रास्ते में पहाड़ी मिलती है। वे कहते हैं—गुरिल्ला युद्ध के लिए यह बढ़िया जगह है। कार को झटका लगता है। उनकी पत्नी सहारे के लिए कंधे पर हाथ रख देती है। क्रांतिकारी हाथ अलग करके कहते हैं—यह कंधा बंदूक के लिए है, स्त्री का हाथ रखने के लिए नहीं।

आगे क्रांतिकारी अपने चोर सामंतवादी ससुर से अपने राजनैतिक प्रभाव का उपयोग करके छोटे भाई को नौकरी दिलवाते हैं। बहन की ससुराल से भी लाभ लेते हैं। समझौते करते हैं। फायदे उठाते हैं। हू-हू करते हैं। मगर क्रांति के तेवर कायम रखे हैं। एक बार बहन की ससुराल गए हैं। वह भी सामंती परिवार है। वहाँ कोई उनसे कह देता है कि छोटे मालिक भी क्रांतिकारी हैं। रात को आँगन में वे और उनकी बहन का देवर सो रहे हैं। क्रांतिकारी उस युवा से क्रांति की बातें कर रहे हैं। वर्ग युद्ध की योजना पर चर्चा कर रहे हैं। गुरिल्ला युद्ध की रणनीति तय कर रहे हैं—बहुत रात हो जाती है, तो वह लड़का खीझकर कहता है—''भाई साहब, अब ज्यादा 'बोर' मत कीजिए। आप भी सोएँ और मुझे भी सोने दीजिए।''

ऊँची जातियों का आरक्षण

पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण-विरोधी आंदोलन के एक नेता मेरे पास आए थे। वे मेरा समर्थन चाहते थे। मैंने सोचा—ये या तो इस कारण आए हैं कि इन्हें पता लग गया है कि मैं ब्राह्मण कुल में जन्मा हूँ, या इसलिए कि इन्हें मेरी न्याय-बुद्धि पर भरोसा था। मेरे उपनाम 'परसाई' से मेरी जाति का पता नहीं लगता। लोग सोच सकते हैं कि 'पारसा' (फारसी) से बना है यह 'परसाई'। यह कोई मुसलमान है या पारसी है, मगर लगानेवाले पता लगा लेते हैं कि मैं ब्राह्मण हूँ। एक बार हमारे एक बंधु ने मुझे और एक दूसरे मित्र को जो उपनाम से घोषित ब्राह्मण हैं, भोजन के लिए बुलाया। हम उनकी बैठक में बैठे। भीतर कुछ पूजा हो रही थी। उन्होंने कहा—जरा देर और है। आज 'वाइफ' के व्रत पूरे हुए हैं न, पूजा के बाद ब्राह्मण-भोजन होगा। उन्हें मेरी जाति का पता लग गया था। हम समझे थे कि उसने हमें मित्र के नाते भोजन के लिए बुलाया है, मगर उसने हमें ब्राह्मण समझकर बुलाया था। मैंने प्रार्थना की—प्रभु, अगर ब्राह्मण को खिलाने से पुण्य-लाभ होता हो तो आज हमें चांडाल बना दे। इस दुष्ट के होथ पुण्य न लगे, जिसने हमें मात्र ब्राह्मण समझ रखा है।

मेरे उपनाम के साथ यही दिक्कत है—पांडे, मिश्र, शर्मा नहीं। न सक्सेना, श्रीवास्तव

है। न चौहान, अग्रवाल, माहेश्वरी। इधर इस विश्वविद्यालय में काम करने आ गया हूँ तो सब विभागों में शोध का विषय है—परसाई की जाति क्या है। पी-एच.डी. के लायक काम हो गया। शोध से पता चला कि ब्राह्मण हैं। डी.लिट्. या डी.एस-सी. के लिए कौन-सा ब्राह्मण है? कान्यकुब्ज, सरयूपारी या सनाढ्य? मैं विवश हूँ। कुछ नहीं कर सकता। इस समाज में ब्राह्मण धर्म परिवर्तन करके ईसाई या मुसलमान तो हो सकता है, मगर कायस्थ नहीं हो सकता। मैं कितनी भी घोषणा करूँ कि मैं चमार हो गया, पर माना जाऊँगा ब्राह्मण ही।

आरक्षण-विरोधी आंदोलन के नेता जिन्हें शर्माजी कहें, अपनी मान्यता के बारे में काफी आश्वस्त थे। कहने लगे—कैसा अन्याय है! कम नंबर हों तो भी हरिजन लड़के-लड़की को मेडिकल और इंजीनियर कॉलेज में भरती कर लिया जाता है। नौकरी में भी जगहें सुरक्षित हैं। फिर प्रमोशन की दस पोस्ट हों तो तीन उन्हें मिल जाती हैं। हम पढ़े-लिखे योग्य लोग क्या इसलिए वंचित हों कि हमने ऊँची जाति में जन्म लिया है?

मैं समझ गया—हजारों साल पहले ऊँची जातियों ने यह मान लिया था—जो कुछ भी समाज में उपलब्ध है, हमारा है। वंचित रहना नीची जातियों का धर्म है! मान, प्रतिष्ठा, धन—सब ऊँची जातियों का अधिकार है। स्कूल में मेरे साथ एक नाई का लड़का पढ़ता था। वह मुझसे ज्यादा होशियार था। मुझे गणित पढ़ाता था और नकल भी कराता था। वह आता तो कहता—हरिशंकर, नमस्ते। मेरे चाचा ने उसे डाँटा—तू नाई होकर नमस्ते करता है। पालागी किया कर। उन्हें क्या पता कि उन जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मण के भतीजे को वह नाई पढ़ाता और नकल कराता है।

मुझे एक इंजीनियर ने बताया—हमारे रेस्ट हाउस में एक दिन दो पड़ोसी जिलों के कलेक्टर ठहर गए। दोनों युवा आई.ए.एस.—एक ब्राह्मण और दूसरा हरिजन। मैंने ब्राह्मण कलेक्टर से कहा—सर, आप दोनों का खाना डाइनिंग रूम में लगवा दूँ? वे बोले—नहीं, हम अपने कमरे में खाएँगे। वैसे तो शराब और मुर्गे से जाति-भेद मिटता है, मगर इन ब्राह्मण कलेक्टर ने जाति बचाकर शराब पी और मुर्गा खाया। अगर हरिजन कमिश्नर या सेक्रेटरी होता तो खुद ब्राह्मण कलेक्टर उन्हें कमरे से खाने के लिए बुलाकर लाते। यह भेद एक पीढ़ी में तो नहीं मिटेगा। कम-से-कम तीन पीढ़ियाँ लगेंगी। इस कलेक्टर का लड़का इंजीनियर होगा और उसका लड़का डॉक्टर। रहन-सहन, जीवन-पद्धति बदलेगी। सांस्कृतिक स्तर बढ़ेगा। तीन पीढ़ी की उच्चवर्गीयता उसे मोची से ब्राह्मण बना देगी।

मैंने कहा—शर्माजी, सब कहीं रिजर्वेशन हो जाए तो कैसा रहे? ऊँची जातियों के लिए भी आरक्षण हो जाए।

बलात्कार हरिजन स्त्रियों से होते हैं। क्यों नहीं तीस फीसदी बलात्कार ऊँची जातियों के स्त्रियों से हों। आखिर उनका हक है। बलात्कार ऊँची जातियों के लोग ब्राह्मण, ठाकुर, राजपूत करते हैं। उनसे कहा जाए कि पहले तीस फीसदी अपनी जाति की स्त्रियों को निपटाओ, तब हरिजन स्त्रियों की तरफ बढ़ो।

शर्माजी की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। प्राचीन काल में इस विप्र-क्रोध से मैं भस्म

हो जाता, मगर इस कलियुग में नहीं हुआ। ब्राह्मण ने वह तेज खो दिया है, क्योंकि अब वह यज्ञ-कार्य छोड़कर बाटा शू की दूकान में नौकरी करता है और भंगी को भी अपने हाथ से जूते पहनाता है। मेरे शहर में एक जिलेटिन फैक्टरी है, जिसमें उत्पादन हड्डी से होता है। इसमें कायस्थ काम कर रहे हैं। धन की ताकत और उत्पादन की पद्धति से जाति टूट जाती है, पावित्र्य भावना खत्म हो जाती है। आदिम औजारों से सड़क पर जूते सीनेवाला चमार है। जूतों के कारखाने में चमार काम करे तो वह चमार नहीं, कारीगर होता है और ऊँची जाति के मध्यवर्गियों में बैठता है।

शर्माजी ने कहा—परसों यहाँ रेल-दुर्घटना हुई। दो गाड़ियाँ टकरा गईं। दोनों के ड्राइवर हरिजन थे और शराब पिए थे। बताइए भला ऐसा करते हैं ये लोग। मैंने कहा—शराब पीकर तो ब्राह्मण भी गाड़ी चलाते हैं। मैं जानता हूँ। आप भी जानते हैं। नियम है कि जब ड्राइवर इंजिन पर जाने लगता है तब उसकी साँस की परीक्षा की जाती है कि इसने अल्कोहल तो नहीं लिया है। ऐसी ही परीक्षा गाड़ी छोड़ने पर होनी चाहिए। पर यह नहीं होती। यानी प्रशासन ढीला है। हरिजन और ब्राह्मण दोनों पीकर चला लेते हैं।

शर्माजी को मैं कुछ भी नहीं समझा सका। ऐसे लोग अपने पक्ष के बारे में निश्चित होते हैं, मगर समाज के इस हिस्से के लिए आखिर क्या किया जाए? हजारों सालों से इन्हें ज्ञान-विज्ञान से वंचित रखा गया।

राम शंबूक का सिर काटते रहे और द्रोणाचार्य एकलव्य का अँगूठा कटवाते रहे। इन लोगों को अछूत रखा, गंदी सेवाएँ कराईं। जीवन-स्तर गटर में डाल दिया। आत्म-सम्मान छीना। पशुवत इनसे बुरा व्यवहार किया। इनके झोंपड़े जलाए। इनकी स्त्रियों से बलात्कार किया। सब ऊपर उठते गए और इन्हें लात मारकर ढकेलते गए। सदियों इनका शोषण हुआ है। इनके साथ अन्याय हुआ है। लोकतंत्र आया है तो इन्हें जीवन-सुधार की कुछ विशेष सुविधाएँ दी जा रही हैं। इस पर देशव्यापी झंझट खड़ी हो गई है। आरक्षण-विरोधी आंदोलन चल रहे हैं।

कहते हैं—नीची जाति के लोग बराबरी की स्पर्धा में अपना हक लें। ऐसा कहनेवाले सदियों से 'हैंडिकेप रेस' में अपने को आगे रखे हैं। आखिर ढिबरी और बिजली के बल्ब में बराबरी की स्पर्धा कैसे हो सकती है। हरिजन लड़का ढिबरी में पढ़ता है। ऊँची जाति का लड़का बिजली के प्रकाश में पढ़ता है। उसके पास पूरी किताबें नहीं होतीं। इसके पास खूब किताबें होती हैं। यह ट्यूशन लगा सकता है। इसके माँ-बाप पढ़े-लिखे हैं, उसके अपढ़-गँवार। यह प्रभाव या पैसे से नंबर बढ़वा सकता है। ढिबरी और बल्ब में बराबरी की स्पर्धा नहीं हो सकती है।

रवींद्रनाथ ने लिखा है—मेरे देशवासियो, तुमने अपने ही लोगों पर सदियों बहुत अत्याचार किए हैं। तुम्हें इस पाप का फल भोगना होगा। तो ब्राह्मणो, पाप का फल भोगो। चमार कलेक्टर के चरण छुओ।

बॉक्सर मोहम्मद अली

कार्टर ने मुक्का-वीर मोहम्मद अली को पकड़ा था। उसने जो छाले हाथ में दिए, उनसे कार्टर तड़प रहे हैं। कोई देश हो या कोई आदमी हो, अमेरिकी पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के खेल में वे ताश के पत्ते होते हैं।

चीन एक ताश का पत्ता है। अमेरिकी नेता कहते हैं—वी विल प्ले दी चाइना कार्ड।

पड़ोसी देशों को सबक सिखाने को आमादा अठारहवीं शताब्दी की पलीते की बंदूक लेकर वियतनाम में लड़ने जानेवाले चीनी वीरों को मालूम है कि उन्हें ताश का पत्ता समझा जा रहा है। शायद 'जोकर' समझा जा रहा है।

मोहम्मद अली भी 'कार्ड' है, दुनिया मानती रहे कि वह महान खिलाड़ी है। कार्टर को उसकी प्रतिष्ठा का उपयोग करना है। आदमी की हर योग्यता और मजबूरी का उपयोग करना है। वायलिन-वादक से जिमी कार्टर कहेंगे कि एशिया जाओ और वहाँ नफरत का राग बजाओ। गीत-गायक से जिमी कार्टर कहेंगे—दुनिया में घूमो और घृणा के गीत गाओ। कवि से कहेंगे—मानवता छोड़ो। मानवतावाद हमारे दुश्मन को मदद पहुँचाता है। मानवतावाद 'अन-अमेरिका एक्टिविटी' है। संहार का काव्य लिखो। उन्माद पैदा करो, घृणा पैदा करो।

धर्म-गुरुओं से जिमी कार्टर कहेंगे—जीसस ने यह गलत कहा था कि पिता उन्हें माफ कर, क्योंकि वे नहीं जानते वे क्या कर रहे हैं। रूसी जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। उन्हें कतई माफ मत करना। हाँ, हम नहीं जानते, हम क्या कर रहे हैं। आदमी के दुर्भाग्य का भी कार्टर को उपयोग करना है। दुर्भाग्य भी कार्ड है। अभागे कोढ़ी से कार्टर कहेंगे, कि तू तो भाग्यवान है। जा, दुनिया में प्रचार कर कि मुझे रूस ने गैसों के प्रयोग से कोढ़ दे दी। काने आदमी से कहेंगे कि प्रचार कर कि ब्रेझनेव ने मेरी इस आँख में अँगुली घुसेड़ दी जिससे मेरी आँख फूट गई।

पहलवान मोहम्मद अली को 'कार्ड' बनाकर अफ्रीका में खेला था। वह चक्कर में पड़ गया, जैसे चक्कर में सीधे-भोले पहलवान पड़ जाते हैं। मोहम्मद अली दुनिया का महानतम पहलवान है। पर है अपने लच्छू गुरु, हनीफ उस्ताद और पंचम पहलवान की तरह। मोहम्मद अली काला है। बहुत अच्छा है। मुसलमान है, यह और अच्छा है। तेल भी मुसलमान है। मुस्लिम-मुस्लिम भाई।

मोहम्मद अली को अफ्रीका भेजा कि कालों को यह काला समझा देगा कि रूस तुम्हारा शत्रु है, अमेरिका मित्र है। इसलिए मास्को ओलम्पिक का तुम बहिष्कार करो। पर अफ्रीकियों ने कहा—ब्लेक ब्रदर, रूस हमारा दोस्त रहा है। रूस इधर स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन करता है। अमेरिका अत्याचारी गोरी सरकारों का समर्थक है। ब्रदर, तू तो बिटर गया। तो मोहम्मद अली ने ऐलान किया—मुझे धोखा दिया गया। कार्टर ने मुझे सच बात नहीं बताई। मेरा गलत काम के लिए उपयोग किया जा रहा है। कार्टर का यह पत्ता कट गया। उधर अमेरिका में नीग्रो वोट भी चले गए।

ऐसे ही हमारे भले, भोले, सच्चे पहलवान लच्छू गुरु एक चक्कर में पड़ गए थे। चुनाव में एक आबकारी ठेकेदार खड़ा हो गया था। उसने लच्छू गुरु की चापलूसी करके उन्हें अपना चुनाव-प्रचार करने के लिए राजी कर लिया था। जब लच्छू गुरु प्रचार करने निकले तो लोगों ने कहा—गुरु, किस नीच जालिम का प्रचार कर रहे हो! तुम क्या उसे जानते नहीं? अरे दूध-बादाम के लिए पैसे कम पड़ते थे तो हमसे कहते। वह ठेकेदार क्या मुफ्त की दारू पिलाता है। लच्छू गुरु ने ठेकेदार को गालियाँ दीं और उसके खिलाफ प्रचार करने लगे। अभी लच्छू गुरु पूछ रहे थे—भैया, एक बात बताओ। यह जिमी कार्टर नाम का आदमी क्या दारू का ठेकेदार है?

दो साल पहले मोहम्मद अली रूस की यात्रा पर गया था। उसका यात्रा-वृत्तांत जो 'मास्को-न्यूज' में छपा था, उसी के आधार पर स्मृति से बताता हूँ। अली अपने साथ दो वकील भी ले गया था। जब उससे रूसी मेजबानों ने पूछा कि वकील साथ क्यों लाए हो तो उसने भोलेपन से जवाब दिया—हमें रूस के बारे में जो बताया गया है उसे ध्यान में रखकर मुझे वकील लाना जरूरी लगा। यहाँ कुछ भी हो सकता है। हो सकता है कि मुझे लौटने नहीं दिया जाय। तब वकील काम आ सकते हैं। यहाँ मुझे यह मजेदार खबर याद आ रही है, जो कभी पढ़ी थी। खबर यह थी कि मोलोटोव जब रूसी प्रतिनिधि मंडल लेकर पहली बार वाशिंगटन गए तो हवाई अड्डे पर बहुत-से अमेरिकी—ज्यादातर स्त्रियाँ, उत्सुकता से खड़े थे।

हवाई जहाज से जब रूसी उतरे तो उन्हें देखकर अमेरिकी निराश हुए। निराश क्यों हुए? इसलिए कि हवाई जहाज से आदमी उतरे। उन्हें प्रचार-माध्यमों से बताया गया था कि रूस में आदमी नहीं, भालू रहते हैं।

बहरहाल तीन-चार दिन रूस में रहने के बाद अली ने पत्रकार-वार्ता में कहा—हमें अपने देश में रूस के बारे में सब झूठ बताया गया। रूसी तो बहुत अच्छे लोग हैं। सुसंस्कृत हैं। वे शांति चाहते हैं। इस पर एक अमेरिकी पत्रकार ने कहा—तुम्हें शायद सिखा-पढ़ा दिया है। अली ने गुस्से से कहा—तुम जंगखोर हो। फिर धमकी दी घूँसा दिखाकर—बाद में मिलना, तुम्हें बताऊँगा।

इस अली को कार्टर ने खेल-कूटनीति करने भेजा और फेल हो गया। खेल-कूटनीति भी बड़ी बचकानी कूटनीति है। वह फेल भी हो गई। मास्को ओलम्पिक का बहिष्कार करने को न ओलम्पिक समिति तैयार है, न ज्यादातर देश। मगर यह भी क्या कूटनीति है। मुझे याद आता है, ऐसा तो हम बच्चे करते थे। हम खेलने निकलते थे। साथी से कहते थे—चल नंदू, खेलेंगे। नंदू कहता—मैं नहीं चलता। मैं इस चंदू के साथ खेलूँगा। इसने कल मुझे लत्ती मारी थी। मेरी इससे 'कट्टी' है। हम चंदू से पूछते कि तूने इसे लत्ती क्यों मारी। चंदू कहता—अरे, यह छुट्टी में मेरी डेस्क पर बैठ गया था।

अली ब्रेझनेव से मिला। ब्रेझनेव ने उसे गले से लगाया और गाल चूमा। बाद में अली ने पत्रकारों को बताया—ब्रेझनेव महान नेता हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि वे शांति चाहते हैं।

मैंने पहली बार दूसरे मनुष्य के सामने अपने को छोटा महसूस किया। उससे पत्रकार ने पूछा—तुमने उनसे अपने अगले मुक्केबाजी के मुकाबले के बारे में बात की होगी? अली ने पट से जवाब दिया—हमने छोटी चीजों पर बात नहीं की। विश्वशांति के बारे में बातें कीं।

इसी तरह की बचकानी आज की कूटनीति है। अमेरिका रूस को अनाज नहीं देगा। ऐसा ही हमारा नंदू कहता था। उसे अच्छा जेब-खर्च मिलता था। वह चिवड़ा खरीदता और थोड़ा-थोड़ा हम लोगों को देता। कहता—इस चंदू को नहीं दूँगा। इससे मेरी 'कट्टी' है। चंदू छीनकर न खा ले इसलिए नंदू चिवड़े के दोने में थूक लेता और चंदू को अँगूठा दिखाकर कहता—ले, अब कैसे खाएगा। मैंने थूक लिया।

मुझे जिमी कार्टर नंदू की तरह लगते हैं, जो चिवड़े के दोने में थूककर रूस को अँगूठा दिखा रहे हैं। अगर यह बचकानी कूटनीति नहीं है तो पतनशील कूटनीति है।

हम लोग क्या करें कार्टर की मदद के लिए? हमारी सरकार तो मान नहीं रही है। हाँ, हमारे यहाँ तांत्रिक हैं जो 'मारण' और 'उच्चाटन' अनुष्ठान करते हैं। 'मारण' मंत्र में आदमी मर जाता है। 'उच्चाटन' से भेद पड़ता है।

हमारे यहाँ जादू-टोनेवाले हैं, जो मंत्र पढ़कर 'मूठ' फेंकते हैं। इसे 'मूठ मारना' कहते हैं। मुट्ठी भर चने टोनिया फेंकता है। बंबई से तो चने जाकर छर्रे की तरह कलकत्ता में यजमान के दुश्मन को लगते हैं। ये जादुई मिसाइल हैं, जो न रडार पर दिखते हैं और न रोके जा सकते हैं। सी.आई.ए. इन जादू-टोनावालों की सेवा ले। भारत इतना ही योग दे सकता है, गर्म होते हुए शीत-युद्ध में।

लौह-पुरुष और मोम-पुरुष

देवराज अर्स के दाँत में भी दर्द था और वे दिल्ली में इंदिरा कांग्रेस की मीटिंग में नहीं आए थे। तोड़नेवाले के दाँत में दर्द होता है। अभी तक चरणसिंह की कमर में और पीठ में दर्द होता था। अगर सूरजकुंड-वास में दाँत का दर्द हो जाता तो तभी जनता पार्टी टूट जाती। पर तब चरणसिंह की पसलियों में दर्द था। इंतजार करते-करते अब चौधरी के दाँत में दर्द हुआ है। अब पार्टी टूटेगी।

मैं इतना आशावान नहीं हूँ। पता नहीं चरणसिंह का कौन-सा दाँत है, जिसमें दर्द है। लगाया हुआ दाँत तो नहीं है। फिर बहुत-से लौह-पुरुष लड़ाई के वक्त मोम-पुरुष हो जाते हैं। जोड़-तोड़ हो रहा है। धमकियाँ दी जा रही हैं। थैलियाँ खुल गई हैं। गरीबपरवर नोट लिये बैठे हैं। अपीलें हो रही हैं—जनता सरकार गिरी तो लोकतंत्र का क्या होगा ? (लोकतंत्र बचा हो तो उसका कुछ होगा?) हाय! अस्थिरता आ जाएगी।

जनता पार्टी और सरकार का जो रहा है, उसे खालिस जबलपुरिया अपने मुहावरे में कह

रहे हैं—'खटिया खड़ी हो रही है गुरु!' जिस राजनारायण को जोकर समझते थे, उसने असलेट दे दी। सरकार का गुड़ बँट रहा है। लकड़ी पहुँच गई। तुलसी लाओ। गंगाजल मुँह में डालो।

लोग बहुत खुश हैं। रविराय इस्तीफा देते हैं, तो मिठाई खाते हैं। बहुगुणा इस्तीफा देते हैं, तो रम की बोतल खुल जाती है।

यह क्या और कैसे हो रहा है। रावण सभा ने राजनारायण की पूँछ में आग लगाकर सोचा था कि वानर अब चीखता हुआ भाग जाएगा, मगर हनुमान लंका के महलों के कंगूरों पर चढ़ गया और—

उलट-पलट लंका सब जारी
कूद परेउ कपि सिन्धु मझारी।

यह सब जो हो रहा है, राजनारायण के वानरपन या जोकरपन के कारण नहीं हो रहा है। यह मजाक नहीं है। लोग बच्चे नहीं हैं जो बंदर-बंदरिया का नाच देखकर खुश हो रहे हों। असल में राजनारायण ने बुनियादी समस्या उठाई है। लोकतंत्र या फासिस्टवाद—देश को तय कर लेना है। यह बुनियादी प्रश्न न उठाते तो राजनारायण का साथ कोई नहीं देता।

यशवंतराव चव्हाण को अविश्वास का प्रस्ताव रखते समय क्या पता था कि मेरे हाथ से कोई ऐतिहासिक काम हो रहा था। वे समझते थे कि दो-तीन दिन बहस होगी और प्रस्ताव गिर जाएगा। मगर शाम को चव्हाण की समझ में आया कि मुझे इतिहास ने फिर उठा लिया। उन्होंने दुबारा दाढ़ी बनाई। शेरवानी बदली। चेहरे पर गरिमा ओढ़ी और इतिहास-पुरुष बनकर बंगले में बैठ गए।

इतिहास ने चव्हाण को बार-बार सोते से जगाकर उछाला है। 1962 में चीनी हमले के समय, भारतीय दक्षिणपंथियों ने जब कृष्ण मेनन से इस्तीफा दिलवाया था, तब प्रांतीय नेता चव्हाण को उठाया और दिल्ली में फेंककर उन्हें राष्ट्रीय नेता बना दिया। तब अखबारों में ऐसा छपा था, 'सह्याद्रि हिमालय की रक्षा के लिए चला!' शिवाजी फिर उत्तर भारत की ओर! तब संघी स्वयंसेवक कहते थे—चव्हाण परमपूज्य गुरुजी के पास गए और चरण छुए। गुरुजी ने बड़ी देर तक उपदेश दिया, आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी जय होगी।

छत्रपति शिवाजी को समर्थ रामदास का आशीर्वाद! उन्हीं परमपूज्य गुरुजी के चेले अटलबिहारी वाजपेयी, हमलावर चीन में अभी 'हें-हें' मुद्रा में माओ के सुभाषित माओवादियों को ही सुना रहे थे।

सब ठीक चल रहा था। नानाजी लोकनायक को लेकर वायुसेना के विमान से पटना जा रहे थे। साथ में चंद्रशेखर को भी ले लिया था। नानाजी ने कहा—लोकनायक जी, आप नागपुर में मत रुकिए। उस पवनारवाले बाबा को दर्शन मत दीजिए। उसकी क्या हैसियत है! इंदिरा गांधी ग्यारह साल प्रधानमंत्री रहीं, पर एक बार भी वायुसेना के विमान से नहीं घुमाया। देखिए, आपकी सेवा में जनता सरकार ने पूरी वायुसेना रख दी है। उस पवनार की गाय को नीचे से रँभाने दो और राजा परीक्षित वायु-मार्ग से निकल जाए।

पटना जाकर नानाजी ने कहा—लोकनायकजी, अब आप पटना में आराम कीजिए।

वहाँ बंबई में खाने-पीने का बंधन था। यहाँ आप कबाब खाइए, कीमा खाइए, मुर्ग-मसल्लम खाइए। चिंता बिलकुल मत कीजिए।

लोकनायक ने कहा—पर नानाजी, देश की चिंता तो होती ही है।

नानाजी ने कहा—जब देश आपने मुझे सौंप दिया है, तब अब क्या चिंता! मैं सब ठीक कर लूँगा। यह देखिए, इस हाथ पर मैंने पुलिस की लाठी झेलकर आपको बचाया था।

नानाजी ने चंद्रशेखर से कहा—चलो बच्चा, घर चलें। अच्छे लड़के यहाँ-वहाँ अकेले नहीं घूमते। दुनिया बहुत खराब है। बहकानेवाले घेरने को घूमते हैं।

दिल्ली जाकर नानाजी ने कहा—बच्चा चंद्रशेखर, अब सो जाओ, मैं लोरी गा दूँ—लल्ला-लल्ला लोरी, दूध की कटोरी।

लोकनायक ने कहा—जरा चंद्रशेखर का खयाल रखिए।

नानाजी ने कहा—आप निश्िंचत रहिए। मैं चंद्रशेखर को बिगड़ने नहीं दूँगा।

सुबह सोकर उठे, तो देखा खटिया उठ रही है। जो भी जनता पार्टी से निकले हैं और निकल रहे हैं, वे सब एक ही बात कह रहे हैं—आर.एस.एस. वालों के साथ हम नहीं बैठ सकते। दोनों कांग्रेस, दोनों कम्युनिस्ट पार्टियाँ, दूसरे गुट और व्यक्ति एक ही बात कह रहे हैं—संघ को निकालो। अब 'दोहरी सदस्यता' का मामला नहीं रहा। इस मुहावरे को छोड़ देना चाहिए। अब सीधा-सीधा विभाजन है—हिंदू राष्ट्र के नाम पर संघ या लोकतंत्र।

अभी भी जनता पार्टी में कुछ लोग कहते हैं—दोहरी सदस्यता का मामला हल हो जाए, तो पार्टी और सरकार अभी भी बच सकती है। यह छल है। संघ के राजनेता तैयार हो जाएँगे कि लो, हम लिखकर देते हैं कि हमने संघ छोड़ दिया, पर क्या वे सचमुच छोड़ देंगे? वे नहीं छोड़ेंगे, वे फिर पार्टी पर कब्जा करने की कोशिश करेंगे। जो लोकतांत्रिक लोग हैं, वे अपने को और देशवासियों को धोखा देते हैं? एक फार्मूला और चल रहा है—नेतृत्व बदल दो। यानी मोरारजी की जगह कोई दूसरा 'बँधुआ' प्रधानमंत्री बन जाए और सरकार बच जाए।

इसी वक्त दिल्ली में पानी की व्यवस्था चौपट हो गई। यहाँ लोग कहते हैं कि जनता पार्टीवालों ने ही यह तोड़-फोड़ की है।

संसद-सदस्य प्यासे मरेंगे तो अपने-अपने घर भाग जाएँगे और अविश्वास पास ही नहीं होगा। दिल्ली के जानकार कहते हैं कि यह संकट इसलिए आया है कि दिल्ली का संघी शासन अपनी संघी भारतीय मजदूर संघ की यूनियन को थोपना चाहता है, जिसके सदस्य ही नहीं हैं। पिछले महीने बृजलाल वर्मा ने अपने तीन सदस्योंवाले भारतीय मजदूर संघ के कारण जबलपुर में आर.एस.एस. की आठ-दस दिन की हड़ताल करवा दी और मुझे जून के दूसरे हफ्ते छोड़ी हुई डाक अब मिल रही है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जनता नेताओं ने लोकसभाध्यक्ष से कहा कि अविश्वास प्रस्ताव पर मतदान तारीख 32 जुलाई को कराइए। हेगड़े ने कहा—मगर 32 जुलाई तो होती ही नहीं है। नेताओं ने कहा—जी हाँ, इसलिए तो कहा—अविश्वास प्रस्ताव पर कभी मतदान ही नहीं होगा।

बाला साहब देवरस राष्ट्र के लिए सचमुच दुखी हैं। कहते हैं—इस राजनैतिक विवाद में संघ का नाम व्यर्थ घसीटा जा रहा है—अरे, हम साधु-संत हैं। भगवान का भजन कर रहे हैं। हमें क्यों छेड़ते हो, बच्चा!

हरिजन को पीटने का यज्ञ

दो समाचार अखबारों में पिछले दिनों छपे। दोनों घटनाएँ इंदौर के आसपास की हैं। दोनों घटनाएँ महान हैं। दोनों हमारे गौरव को बढ़ाती हैं। इंदौर के पास एक करोड़ की लागत से एक यज्ञ हुआ। धन्य है! उसी के आसपास एक हरिजन दूल्हा घोड़े पर सवार होकर निकला तो सवर्णों ने उसे और बारातियों को पीटा। यह भी धन्य है! एक ही क्षेत्र में दो पवित्र कर्म हो गए। हरिजन को पीटना खुद एक यज्ञ है। घुड़सवार दूल्हे को पीटना तो अश्वमेध यज्ञ है। हरिजनों की बस्ती में आग लगाना राजसूय यज्ञ है।

मैं इन दोनों यज्ञों से खुश हूँ। यों कुछ दुष्ट लोग यज्ञ का विरोध भी कर रहे थे। युवा जनता ने तो घोषणा की थी कि वे यज्ञ रोकने के लिए सत्याग्रह करेंगे, पर फिर उन्हें समाजवाद से फुरसत नहीं मिली होगी। या शायद संघ से उनका समझौता हो गया हो कि तुम यज्ञ में सहायक बनो और हम दूर कहीं नारे लगाएँगे। मंत्रोच्चार में नारों से कोई बाधा नहीं पहुँचेगी। समाजवाद की प्रगतिशीलता और यज्ञ वगैरह की जड़ता का सह-अस्तित्व हो सकता है। लोगों का एतराज था कि एक करोड़ का अन्न, शक्कर, घी आदि आग में झोंक दिए जाएँगे।

देश में जब करोड़ों आदमियों को अन्न खाने को नहीं मिलता, तब ये धार्मिक पाखंडी उसे आग में झोंकेंगे। मेरे खयाल से यह यज्ञ करानेवाले समय-समय पर परीक्षा करते रहते हैं कि देश का अविवेक और पौरुषहीनता अभी बरकरार है कि नहीं। लोग देखते रहे कि हमारा अन्न, घी, शक्कर आग के हवाले किया जा रहा है और वे जय बोलते हैं। यानी लोग अभी अविवेकी और कायर हैं। इन लोगों से डरने की अभी कोई जरूरत नहीं है। इन्हें लंबे समय तक शोषित रखा जा सकता है। यज्ञ में वास्तव में अन्न, घी, शक्कर नहीं जलते—विवेक स्वाहा! बुद्धि स्वाहा! तर्क स्वाहा! विज्ञान स्वाहा !

जो यज्ञ करते हैं वे जानते हैं कि यज्ञ से कोई देवता प्रसन्न नहीं होता। जिन मंत्रों का उच्चारण किया जाता है, वे अगर संस्कृत से हिंदी में कर दिए जाएँ तो प्राइमरी स्कूल की किताब के लायक हैं। पुजारी जानता है, भगवान चाहे कहीं और हों मगर मंदिर में तो कतई नहीं हैं। मुसलमान जानता है कि खुदा कहीं होगा तो मस्जिद के बाहर होगा, यहाँ तो नहीं है। मगर अपना धंधा इसी में सुरक्षित है कि लोगों को विश्वास दिलाएँ कि यज्ञ से उनका कल्याण होगा। मंदिर और मस्जिद में की गई पुकार भगवान एकदम सुनता है। सीधी 'हॉट लाइन' है।

मैंने जब पढ़ा कि यज्ञ और हरिजन दूल्हे की पिटाई एक साथ हुई तो मुझे लगा कि अगर भगवान होता और वह न्यायी होता, तो वह यज्ञ-कुंड में यज्ञ करनेवालों को ही डाल देता। यज्ञ करनेवाले ही स्वाहा हो जाते, यह सबसे ऊँचा नरमेध यज्ञ होता। मगर भगवान भी इस सरकार की तरह विफल गति कायर है, जो नरमेध यज्ञ जमशेदपुर, अलीगढ़ या हरिजन बस्तियों में कराता है। क्या यज्ञ में और हरिजन दूल्हे के पिटने में कोई संबंध है? क्या यज्ञ के प्रताप से ही हरिजन दूल्हा पिटा? दोनों में संबंध है। यज्ञ करने और करानेवाले ऊँची जाति के लोग होते हैं। वैदिक युग में ब्राह्मण ने यज्ञ की तकनीक पर एकाधिकार कर लिया था। तकनीक का मामला है। तब क्षत्रियों ने तत्त्व-चिंतन से ब्राह्मणों को पीटा। मगर ब्राह्मण उस्ताद हैं। उसने फिर कर्मकांड फैलाया और सारे समाज को जकड़ लिया।

बच्चा जब माँ के पेट में आता है तभी से पोथी-पत्री और पूजा शुरू हो जाते हैं। आदमी पैदा हुआ तो ब्राह्मण तैयार बैठा है। फिर चालू होता है लंबा सिलसिला—छठी, नामकरण, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ, विवाह—सब में है ब्राह्मण! आदमी मर जाए तो तेरहवें दिन ब्राह्मण भोजन करके दक्षिणा ले जाएँगे। आगे जब तक उसका वंश चलेगा, हर साल पितृपक्ष में ब्राह्मण भोजन करेगा उसी के नाम से और दक्षिणा ले लेगा। हरिजन दूल्हा यज्ञ के कारण ही पिटा। यज्ञ तथा इस तरह की दूसरों चीजें इसीलिए कराई जाती हैं कि समाज उन्हीं पुरानी परंपराओं में जकड़ा रहे। उसी भेदभाव को माने, जाति-भेद माने, ऊँच-नीच माने, अंधविश्वास में जकड़ा रहे। यज्ञ करने और करानेवालों का यही उद्देश्य है कि वही पिछड़ी हुई रुग्ण मानसिकता बनी रहे, जिससे वर्ण और वर्ग-भेद बने रहें। वही मानसिकता बनी रहे कि हरिजन दूल्हा घोड़े पर बैठे तो ऊँची जाति के लोग भड़ककर कहें—देखो इसे 'चमरे' की हिम्मत, हमारे सामने घोड़े पर बैठता है।

कुछ चतुर लोग बड़े काइयाँपन से इस सबको सही बताने की कोशिश करते हैं। एक सज्जन मुझसे कह रहे थे—यज्ञ से विश्व-कल्याण होगा। मैंने कहा—महाराज, विश्व-कल्याण होगा अमेरिका और रूस में निःशस्त्रीकरण संधि से। विश्व-कल्याण होगा चीन की आक्रामकता रोकने से। विश्व-कल्याण होगा शोषण के खत्म होने से। क्या इस यज्ञ का असर जिमी कार्टर और डेंग सियाओ पिंग पर पड़ेगा?

वे कहने लगे—यज्ञ-धूम से वातावरण शुद्ध होता है। मैंने कहा—आपको पता नहीं है कि कारखानों की चिमनियों से निकलनेवाले धुएँ ने यज्ञ-भूमि को दबा दिया है। इंदौर की मिलों के धुएँ के सामने आपके इस यज्ञ के धुएँ की क्या बिसात है। मथुरा में जो तेल-शोधक कारखाना खुल रहा है, उसके वायु-प्रदूषण की रोक के लिए आसपास कितने हजार यज्ञ-वेदियाँ बनेंगी? उत्तरप्रदेश का सारा घी तो ये यज्ञ-वेदियाँ भस्म कर देंगी।

इन दिनों यज्ञों की बाढ़ आई है, नए-नए भगवान और देवियाँ अवतार ले रहे हैं। चमत्कार का दावा करनेवाले लोग प्रकट हो रहे हैं। यह अनायास नहीं है। इसके पीछे योजना है। इस योजना का उद्देश्य है जनता को पिछड़ा हुआ रखना, उसकी समझ को वैज्ञानिक न होने देना, उसे अंधविश्वासी या दकियानूस रखना, उसे भाग्यवादी और संघर्षहीन बनाना।

कुछ उद्देश्य है कि लोग परिवर्तनकामी न हों, वे सड़ी-गली व्यवस्था से विद्रोह न करें। शोषक-वर्ग सामान्य जन का बेखटके शोषण करता रहे। यह एक देशव्यापी षड्यंत्र है, जिसमें राजनीतिज्ञ, सरमायेदार, बुद्धिजीवी आदि शामिल हैं।

हर कहीं तो देवी-देवता प्रकट हो जाते हैं। गोरखपुर के आसपास के किसी गाँव में पार्वती प्रकट हो गई थीं। सोलह-सत्तरह साल की एक लड़की, जिसके बालों का जूड़ा फिल्मी पार्वती की तरह बना दिया गया था, हल्ला कर दिया गया कि यह तो साक्षात् पार्वती है। सोती नहीं है। रात-दिन शंकर का नाम लेती रहती है। खाना नहीं खाती। पानी नहीं पीती। मगर स्वस्थ है। चमत्कार है। श्रद्धालु उमड़ने लगे। पूजा होने लगी। भेंट चढ़ने लगी। खासा पैसा इकट्ठा होने लगा।

अब विज्ञान की आँखें। मेडिकल कॉलेज के तीन डॉक्टर पहुँचे और कहा कि हम उस लड़की की जाँच करना चाहते हैं। श्रद्धालुओं ने आँखें निकालकर कहा—तुम देवी की जाँच करोगे? साक्षात् पार्वती की जाँच करनेवाले तुम कौन? डॉक्टरों ने कहा—हमने सुना है कि देवी कुछ खाती-पीती नहीं है, पर टट्टी-पेशाब तो करती होगी। हम उसकी टट्टी-पेशाब की जाँच करना चाहते हैं। अब देवी का धंधा करनेवालों ने समझ लिया कि पोल खुलेगी। उन्होंने हाँका लगाया भक्तों को कि अरे देखो, ये पापी डॉक्टर देवी की टट्टी-पेशाब की जाँच करना चाहते हैं, मारो सालों को! आखिर विज्ञान वहाँ से दुम दबाकर भागा।

यह एक योजनाबद्ध षड्यंत्र है, जिसे यथास्थितिवादी और पुरातनपंथी इस देश में चला रहे हैं। पर मुझे यह समझ में नहीं आता कि मेरी बाद की पीढ़ी के लोग और कॉलेज के पढ़े तरुण इस चक्कर में क्यों पड़ रहे हैं? ये तरुण जिन्हें मुझसे अधिक वैज्ञानिक और प्रगतिशील होना चाहिए, जिन्हें परिवर्तन के संघर्ष का नेतृत्व करना चाहिए, जिन्हें विद्रोही की भूमिका निभाना चाहिए वे क्यों अपने बाप के बाप की पीढ़ी के हो रहे हैं। अपनी भ्रामकता और निराशा में कोई रास्ता न दिखने के कारण ही तो ये इस भाग्यवादिता के चक्कर में नहीं पड़ रहे हैं।

एक मध्यवर्गीय कुत्ता

मेरे मित्र की कार बँगले में घुसी तो उतरते हुए मैंने पूछा, "इनके यहाँ कुत्ता तो नहीं है ?"

मित्र ने कहा, "तुम कुत्ते से बहुत डरते हो!"

मैंने कहा, "आदमी की शक्ल में कुत्ते से नहीं डरता। उनसे निपट लेता हूँ। पर सच्चे कुत्ते से बहुत डरता हूँ।"

कुत्तेवाले घर मुझे अच्छे नहीं लगते। वहाँ जाओ तो मेजबान के पहले कुत्ता भौंककर स्वागत करता है। अपने स्नेही से 'नमस्ते' हुई ही नहीं कि कुत्ते ने गाली दे दी—'क्यों यहाँ आया बे? तेरे बाप का घर है? भाग यहाँ से!'

फिर कुत्ते के काटने का डर नहीं लगता—चार बार काट ले। डर लगता है उन चौदह बड़े-बड़े इंजेक्शनों का जो डॉक्टर पेट में घुसेड़ता है। यूँ कुछ आदमी कुत्ते से अधिक जहरीले होते हैं। एक परिचित को कुत्ते ने काट लिया था। मैंने कहा, "इन्हें कुछ नहीं होगा। हालचाल उस कुत्ते के देखो और इंजेक्शन उसे लगाओ।"

एक नए परिचित ने मुझे घर पर चाय के लिए बुलाया। मैं उनके बँगले पर पहुँचा तो फाटक पर तख्ती टँगी दिखी—'कुत्ते से सावधान!' मैं फौरन लौट गया। कुछ दिनों बाद वे मिले तो शिकायत की, "आप उस दिन चाय पीने नहीं आए।"

मैंने कहा, "माफ करें। मैं बँगले तक गया था। वहाँ तख्ती लटकी थी—'कुत्ते से सावधान।' मेरा ख़याल था, उस बँगले में आदमी रहते हैं। पर नेमप्लेट कुत्ते की टँगी दिखी।"

यूँ कोई-कोई आदमी कुत्ते से बदतर होता है। मार्क ट्वेन ने लिखा है—"यदि आप भूखे मरते कुत्ते को रोटी खिला दें, तो वह आपको नहीं काटेगा। कुत्ते में और आदमी में यही मूल अंतर है।"

बँगले में हमारे स्नेही थे। हमें वहाँ तीन दिन ठहरना था। मेरे मित्र ने घंटी बजाई तो जाली के अंदर से वही 'भौं-भौं' की आवाज आयी। मैं दो कदम पीछे हट गया। हमारे मेजबान आए। कुत्ते को डाँटा—'टाइगर! टाइगर!' उनका मतलब था—'शेर, ये लोग कोई चोर-डाकू नहीं हैं। तू इतना वफादार मत बन।'

कुत्ता जंजीर से बँधा था। उसने देख भी लिया था कि हमें उसके मालिक खुद भीतर ला रहे हैं पर वह भौंके जा रहा था। मैं उससे काफी दूर से लगभग दौड़ता हुआ भीतर गया।

मैं समझा, यह उच्चवर्गीय कुत्ता है। लगता ऐसा ही है। मैं उच्चवर्गीय का बड़ा अदब करता हूँ। चाहे वह कुत्ता ही क्यों न हो। उस बँगले में मेरी अजब स्थिति थी। मैं हीनभावना से ग्रस्त था—इसी अहाते में एक उच्चवर्गीय कुत्ता और इसी में मैं! वह मुझे हिकारत की नजर से देखता।

शाम को हम लोग लॉन में बैठे थे। नौकर कुत्ते को अहाते में घुमा रहा था।

मैंने देखा, फाटक पर आकर दो 'सड़किया' आवारा कुत्ते खड़े हो गए। वे सर्वहारा कुत्ते थे। वे इस कुत्ते को बड़े गौर से देखते। फिर यहाँ-वहाँ घूमकर लौट आते और इस कुत्ते को देखते रहते। पर यह बँगलेवाला उन पर भौंकता था। वे सहम जाते और यहाँ-वहाँ हो जाते। पर फिर आकर इस कुत्ते को देखने लगते।

मेजबान ने कहा, "यह हमेशा का सिलसिला है। जब भी यह अपना कुत्ता बाहर आता है, वे दोनों कुत्ते इसे देखते रहते हैं।"

मैंने कहा, "पर इसे उन पर भौंकना नहीं चाहिए। यह पट्टे और जंजीरवाला है। सुविधाभोगी है। वे कुत्ते भुखमरे और आवारा हैं। इसकी और उनकी बराबरी नहीं है। फिर यह क्यों चुनौती देता है!"

रात को हम बाहर ही सोए। जंजीर से बँधा कुत्ता भी पास ही अपने तखत पर सो रहा था। अब हुआ यह कि आसपास जब भी वे कुत्ते भौंकते, यह कुत्ता भी भौंकता। आखिर

यह उनके साथ क्यों भौंकता है? यह तो उन पर भौंकता है। जब वे मुहल्ले में भौंकते हैं तो यह भी उनकी आवाज में आवाज मिलाने लगता है, जैसे उन्हें आश्वासन देता हो कि 'मैं यहाँ हूँ, तुम्हारे साथ हूँ।'

मुझे इसके वर्ग पर शक होने लगा है। यह उच्चवर्गीय कुत्ता नहीं है। मेरे पड़ोस में ही एक साहब के पास थे दो कुत्ते। उनका रोब ही निराला! मैंने उन्हें कभी भौंकते नहीं सुना। आसपास कुत्ते भौंकते रहते, पर वे ध्यान नहीं देते थे। लोग निकलते, पर वे झपटते भी नहीं थे। कभी मैंने उनकी एक धीमी गुर्राहट ही सुनी होगी। वे बैठे रहते या घूमते रहते। फाटक खुला होता, तो भी बाहर नहीं निकलते थे। बड़े रोबीले, अहंकारी और आत्मतुष्ट।

यह कुत्ता उन सर्वहारा कुत्तों पर भौंकता भी है और उनकी आवाज में आवाज भी मिलाता है। कहता है–'मैं तुममें शामिल हूँ।' उच्चवर्गीय झूठा रोब भी और संकट के आभास पर सर्वहारा के साथ भी–यह चरित्र है इस कुत्ते का। यह मध्यवर्गीय चरित्र है। यह मध्यवर्गीय कुत्ता है। उच्चवर्गीय होने का ढोंग भी करता है और सर्वहारा के साथ मिलकर भौंकता भी है।

122608

तीसरे दिन रात को हम लौटे तो देखा, कुत्ता त्रस्त पड़ा है। हमारी आहट पर वह भौंका नहीं, थोड़ा-सा मरी आवाज में गुर्राया। आसपास के आवारा कुत्ते भौंक रहे थे, पर यह उनके साथ भौंका नहीं। थोड़ा गुर्राया और फिर निढाल पड़ गया।

मैंने मेजबान से कहा, ''आज तुम्हारा कुत्ता बहुत शांत है।''

मेजबान ने बताया, ''आज यह बुरी हालत में है। हुआ यह कि नौकर की गफलत के कारण यह फाटक के बाहर निकल गया। वे दोनों कुत्ते तो घात में थे ही। दोनों ने इसे घेर लिया। इसे रगेदा। दोनों इस पर चढ़ बैठे। इसे काटा। हालत खराब हो गई। नौकर इसे बचाकर लाया। तभी से यह सुस्त पड़ा है और घाव सहला रहा है। डॉक्टर श्रीवास्तव से कल इसे इंजेक्शन दिलाऊँगा।''

मैंने कुत्ते की तरफ देखा। दीन भाव से पड़ा था। मैंने अंदाजा लगाया। हुआ यों होगा :

यह अकड़ से फाटक के बाहर निकला होगा। उन कुत्तों पर भौंका होगा। उन कुत्तों ने कहा होगा–'अबे, अपना वर्ग नहीं पहचानता। ढोंग रचता है। ये पट्टा और जंजीर लगाए है। मुफ्त का खाता है। लॉन पर टहलता है। हमें ठसक दिखाता है। पर रात को जब किसी आसन्न संकट पर हम भौंकते हैं, तो तू भी हमारे साथ हो जाता है। संकट में हमारे साथ है, मगर यों हम पर भौंकेगा। हममें से है तो निकल बाहर। छोड़ यह पट्टा और जंजीर। छोड़ यह आराम। घूरे पर पड़ा अन्न खा या चुराकर रोटी खा। धूल में लोट।'

यह फिर भौंका होगा। इस पर वे कुत्ते झपटे होंगे। यह कहकर–'अच्छा ढोंगी, दगाबाज, अभी तेरे झूठे वर्ग का अहंकार नष्ट किए देते हैं।'

इसे रगेदा, पटका, काटा और धूल खिलाई।

कुत्ता चुपचाप पड़ा अपने सही वर्ग के बारे में चिंतन कर रहा है।

* * *

201200

Acc. 30.3.02
Class 22-6-02
Cat 11.6.2002
Tag 11
Filing 11
11.6.2002

Compiled
2002–2003

Recommended By.......... Dr. V.D. Rakesh

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12